

श्री कतह-प्रस्ताप गुरुवेच स्मृति पुष्पः आगम-अनुयोग ग्रन्थ माला पुष्प : ५

च र णा नु यो ग

[द्वितीय खण्ड परिशिष्ट सहित]

[जैन आगमों में आचारधर्म-विषयक सामग्री का प्रामाणिक संकलन]

प्रधान-सम्पादक

अनुयोग प्रवर्तक

मुनिश्री कन्हैयालाल जी "कमल"

संयोजक

श्री विनयमुनिजी "वाणीश"

सम्पादिका

महासती श्री मुक्तिप्रभाजी
एम. ए., पी-एच. डी.

महासती श्री दिव्यप्रभाजी
एम. ए., पी-एच. डी.

सह सम्पादिका

महासती श्री अनुपमाजी
एम. ए.

महासती श्री भव्यसाधनाजी

महासती श्री विरतिसाधनाजी
बी. ए.

प्रधान परामर्शक

पंडित श्री दलसुखभाई मालवणिया

आगम अनुयोग ट्रस्ट

अहमदाबाद-३८० ०१३

प्रकाशकीय

भारतीय संस्कृति का सर्वमान्य सूत्र है—आचारः प्रथमो धर्मः—आचार प्रथम धर्म है। जैन परम्परा में 'आचारः प्रथमो धर्मः'—आचार प्रथम धर्म है। अंग का अर्थ धर्मशास्त्र तो है ही, किन्तु व्यापक अर्थ में लेंगे तो—जीवन का मुख्य अंग भी है। भारतीय आगमों में मानवता का जिसना महत्व कहा है उससे भी कहीं अधिक महत्व साधक जीवन में आचार धर्म का कहा है।

प्राचीन जैन परम्परा में 'आचार' के लिए 'चरण' शब्द का प्रयोग होता था। चरण याने चारित्र्य। मनुष्य के आचार धर्म की मर्यादा, संयम-साधना का व्यवस्थित मार्ग—चरण है।

जैन श्रुत ज्ञान—शास्त्रों को चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है—(१) चरणानुयोग, (२) धर्मकथानुयोग, (३) गणितानुयोग एवं (४) द्रव्यानुयोग। इनमें धर्मकथानुयोग तथा गणितानुयोग का प्रकाशन हम कर चुके हैं। चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं विशाल ग्रन्थ हैं। चरणानुयोग का विषय बहुत विस्तृत है अतः पाठकों की सुविधा के लिए दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। द्रव्यानुयोग मूल पाठ का सम्पादन कार्य भी पूज्य गुरुदेव श्री कन्हैयालालजी महाराज सा. 'कमल' सम्पन्न कर चुके हैं। अब उसका अनुवाद एवं परिशिष्ट आदि कार्य शेष है।

चरणानुयोग का प्रथम भाग पाठकों की सेवा में पहुँच चुका है। अब द्वितीय भाग (सम्पूर्ण चरणानुयोग) प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है, साथ ही हम अपने लक्ष्य को अब बहुत शीघ्र सम्पन्न कर सकेंगे इसका विश्वास पाठकों को दिलाता हूँ।

अनुयोग सम्पादन-प्रकाशन कार्य में गुरुदेव श्री कन्हैयालाल जी सा. 'कमल' ने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया है। ऐसे जीवन-दानी श्रुत उपासक सन्त के प्रति आभार व्यक्त करना मात्र एक औपचारिकता होगी, आने वाली पीढ़ियाँ युग-युग तक उनका उपकार स्मरण कर श्रुत का बहुमान करेंगी यही उनके प्रति सच्ची कृतज्ञता होगी।

स्थानकवासी जैन समाज के प्रख्यात तत्त्वचिन्तक आत्माश्री डा० मोहनलालजी सा. डा०, विदुषी सुशिक्षा जिनशासन चन्द्रिका महासती उज्ज्वल कुमारीजी की सुशिक्षा डा० महासतीजी मुक्तिप्रभाजी, डा० महासतीजी दिव्यप्रभाजी तथा उनकी श्रुताभ्यासी शिष्याओं की सेवायें इस कार्य में समर्पित हैं—यह हम सब का अहोभाग्य है। उनकी अनवरत श्रुत सेवा से यह विशाल कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सका है।

जैन दर्शन के विख्यात विद्वान श्री दलसुख भाई मालवणिया भारतीय प्राच्य विद्याओं के प्रतिनिधि विद्वान हैं, उनका आत्मीय सहयोग अनुयोग प्रकाशन कार्य में प्रारम्भ से ही रहा है। उन्होंने अत्यधिक उदारता व निःस्वार्थ भावना से इस कार्य में मार्गदर्शन किया, सहयोग दिया, समय-समय पर अपना मूल्यवान परामर्श भी दिया अतः उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना हमारा कर्तव्य है।

इसी के साथ एक भूल का संशोधन भी कर देना चाहते हैं, गणितानुयोग के प्रकाशन के समय जैन गणित शास्त्र सम्बन्धी अनेक दुर्लभ चित्र व आकृतियाँ हमें पूज्य आचार्यश्री विजयपशोदेव सूरि जी महाराज की कृपा से प्राप्त हुई थीं। आचार्यश्री ने अपने गम्भीर आगम ज्ञान व चित्रकला सम्बन्धी तलस्पर्शी अनुभव ज्ञान के आधार पर आगमगत विषयों को स्पष्ट करने हेतु वे महत्वपूर्ण चित्र तैयार करवाये थे तथा हमारी माँग पर बड़ी ही उदारता व सहभावना के साथ प्रकाशन हेतु हमें प्रदान किये। यद्यपि उन चित्रों में से बहुत कम चित्र हमने उपयोग में लिये, तथा वे भी गुजराती में होने के कारण हिन्दी भाषी जनता के लिए हिन्दी में उनके रेखाचित्र तैयार करवाकर प्रकाशित किये। हिन्दी रेखा चित्रकार उनमें अंकित नाम संकेत को स्पष्ट करना भूल गये तथा आचार्यश्री का आदरपूर्वक स्मरण उल्लेख नहीं कर सके, इसके लिए हम आचार्यश्री से क्षमा चाहते हैं। अस्तु, हम आचार्यश्री की इस उदारता व सहभावना के प्रति हार्दिक रूप से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं एवं भविष्य में उनके स्नेह-सौजन्य सहकार की भावना रखते हैं।

जैनधर्म, दर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० भागरमलजी जैन ने सर्वथा निस्पृह भावना पूर्वक ग्रन्थ की महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिख कर अनुमोदित किया है, हम उनके आभारी रहेंगे ।

दुरूह आगम कार्य को प्रेस की दृष्टि से व्यवस्थित कर सुन्दर शुद्ध मुद्रण के लिए जैन दर्शन के अनुभवी विद्वान् श्रीचन्द्र जी सुराना 'सरस' के हम आभारी हैं जिन्होंने पूर्व दोनों अनुयोगों की भाँति इस ग्रन्थ के मुद्रण में भी पूर्ण सहभावना के साथ सहयोग किया है ।

ट्रस्ट के सहयोगी सदस्य मण्डल के भी हम आभारी हैं जिनके आर्थिक अनुदान से इतना विशाल व्यवसायिक कार्य हम सम्पन्न करने में समर्थ हुए हैं ।

इस प्रसंग पर हम आगम अनुयोग प्रकाशन परिषद् साँडेराव के मान्य कार्यकर्ताओं का भी साभार स्मरण करते हैं जिन्होंने इस अति दुरूह कार्य के प्रारम्भ में अति उत्साहपूर्वक कदम बढ़ाया और हमारे लिए कार्यशैली का मार्ग प्रशस्त किया ।

आगम अनुयोग ट्रस्ट अहमदाबाद को उनका सहयोग बराबर मिलता रहा है और भविष्य में भी मिलता रहेगा ऐसा विश्वास है । आगम कार्य के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् जिनमंडी सम्प्रदाय के श्री भास्कर भुतिजी म० ने प्रकाशित अनुयोग ग्रन्थों के प्रचार-प्रसार में विशेष अभिरुचिपूर्वक जो सहयोग प्रदान किया है, वह एक आदर्श और अनुकरणीय—स्मरणीय रहेगा ।

प्रेस कापी करने का विशाल कार्य श्री राजेन्द्र मेहता शाहपुरा वाले ने श्रद्धा भक्ति एवं विवेकपूर्वक किया है इसलिए ट्रस्ट की ओर से उनका हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं ।

हमारे ट्रस्ट के मन्त्री अनुभवी एवं सेवाभावी श्री हिम्मत भाई शामलदास साहू अब काफी बृद्ध हो गये हैं, फिर भी समय-समय पर वे अपने अनुभव आदि का लाभ दे रहे हैं । हमारे कार्य कुशल सहयोगी श्री जयन्ती भाई चन्दुलाल संधवी एवं अन्य सभी सहयोगी जनों का स्मरण करते हुए भावना करते हैं—श्रुत ज्ञान की अमर ज्योति गव्वेके जीवन को प्रकाशमय करे ।

विनीत

बलदेवभाई डोसाभाई पटेल

अध्यक्ष

आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद



सम्पादकीय

—मुनिश्री कन्हैयालाल 'कमल'

“चरण” प्रवृत्ति एवं पुरुषार्थ का प्रतीक है। “चरण” में मर्यादा एवं सम्यक् विवेक का योग होने पर वह आचरण (आङ्—मर्यादायां) कहलाता है। आचरण अर्थात् आचार-धर्म।

चरणानुयोग का अर्थ होता है आचार धर्म सम्बन्धी नियमावली, मर्यादा आदि की व्याख्या एवं संग्रह।

परंतु चरणानुयोग धर्म अर्थों इसी अभिधाय में सार्थक है।

जैन साहित्य में “अनुयोग” के दो रूप मिलते हैं।

१. अनुयोग-व्याख्या

२. अनुयोग वर्गीकरण

किसी भी पद आदि की व्याख्या करने, उसका हार्द समझने/समझाने के लिए १. उपक्रम, २. निक्षेप ३. अनुगम और ४. नय—इन चार शैलियों का आश्रय लिया जाता है। अनुयोजनमनुयोग—(अणुजोअणमणुओगो) सूत्र का अर्थ के साथ सम्बन्ध जोड़कर उसकी उपयुक्त व्याख्या करना इसका नाम है—अनुयोग व्याख्या (जम्बू वृत्ति)

अनुयोग-वर्गीकरण का अर्थ है—अभिधेय (विषय) की दृष्टि से शास्त्रों का वर्गीकरण करना। जैसे अमुक-अमुक आगम, अमुक अध्ययन, अमुक गाथा—अमुक विषय की है। इस प्रकार विषय-वस्तु की दृष्टि से वर्गीकरण करके आगमों का गम्भीर अर्थ समझने की शैली—अनुयोग वर्गीकरण पद्धति है।

प्राचीन आचार्यों ने आगमों के गम्भीर अर्थ को सरलता पूर्वक समझाने के लिए आगमों का चार अनुयोगों में वर्गीकरण किया है।

१—चरणानुयोग—आचार सम्बन्धी आगम

२—धर्मकथानुयोग—उपदेशप्रद कथा एवं दृष्टान्त सम्बन्धी आगम

३—गणितानुयोग—चन्द्र-सूर्य-अन्तरिक्ष विज्ञान तथा

भू-ज्ञान के गणित विषयक आगम।

४—द्रव्यानुयोग—जीव, अजीव आदि नव तत्त्वों की व्याख्या करने वाले आगम।

अनुयोग वर्गीकरण के लाभ

यद्यपि अनुयोग वर्गीकरण पद्धति आगमों के उत्तर-कालीन चिन्तक आचार्यों की देन है, किन्तु यह आगम पाठी, श्रुताभ्यासी मुमुक्षु के लिए बहुत उपयोगी है। आज के युग में तो इस पद्धति की अत्यधिक उपयोगिता है।

विशाल आगम साहित्य का अध्ययन कर पाना सामान्य व्यक्ति के लिए बहुत कठिन है। इसलिए जब जिस विषय का अनुसन्धान करना हो, तब तद्विषयक आगम पाठ का अनुशीलन करके जिज्ञासा का समाधान करना—यह तभी सम्भव है, जब अनुयोग पद्धति से सम्पादित आगमों का शुद्ध संस्करण उपलब्ध हो।

अनुयोग पद्धति से आगमों का स्वाध्याय करने पर अनेक जटिल विषय स्वयं समाहित हो जाते हैं, जैसे—

१. आगमों का किस प्रकार विस्तार हुआ है—यह स्पष्ट हो जाता है।

२. कौन-सा पाठ आगम संकलन काल के पश्चात् प्रविष्ट हुआ है ?

३. आगम पाठों में आगम लेखन से पूर्व तथा पश्चात् वाचता भेद के कारण तथा देश-काल के व्यवधान के कारण लिपिक काल में क्या अन्तर पड़ा है ?

४. कौन-सा आगम पाठ स्व-मत का है, कौन-सा परमत की मान्यता वाला है ? तथा आतिवश परमत मान्यता वाला कौन-सा पाठ आगम में संकलित हो गया है।

इस प्रकार अनेक प्रश्नों के समाधान इस शैली से प्राप्त हो जाते हैं जिनका आधुनिक शोध छात्रों/प्राच्य

विद्या के अनुसन्धाना विद्वानों के लिए बहुत महत्व है।

अनुयोग कार्य का प्रारम्भ

लगभग आज से १० वर्ष पूर्व मेरे मन में अनुयोग-वर्गीकरण पद्धति से आगमों का संकलन करने की भावना जगी थी। श्री दलसुख भाई मालवणिया ने उस समय मुझे मार्ग दर्शन किया, प्रेरणा दी और निःस्वार्थ/निस्पृह भाव से आत्मिक सहयोग दिया। उनकी प्रेरणा व सहयोग का सम्बल पाकर मेरा संकल्प दृढ़ होता गया और मैं इस श्रुत-सेवा में जुट गया। आज के अनुयोग ग्रन्थ उसी बीज के मधुर फल हैं।

सर्वप्रथम गणितानुयोग का कार्य स्वर्गीय गुरुदेव श्री फतेहचन्दजी म. सा. के सान्निध्य में प्रारम्भ किया था। किन्तु उसका प्रकाशन उनके स्वर्गवास के बाद हुआ।

कुछ समय बाद धर्मकथानुयोग का सम्पादन प्रारम्भ किया। वह दो भागों में परिपूर्ण हुआ। तब तक गणितानुयोग का पूर्व संस्करण समाप्त हो चुका था तथा अनेक स्थानों से माँग आती रहती थी। इस कारण धर्मकथानुयोग के बाद पुनः गणितानुयोग का संशोधन प्रारम्भ किया, संशोधन क्या, लगभग १० प्रतिशत नया सम्पादन ही हो गया। उसका प्रकाशन पूर्ण होने के बाद चरणानुयोग का यह संकलन प्रस्तुत है।

कहावत है “श्रेयसि बहु विघ्नानि” शुभ व उत्तम कार्य में अनेक विघ्न आते हैं। विघ्न-बाधाएँ हमारी दृढ़ता व धीरता, संकल्प शक्ति व कार्य के प्रति निष्ठा की परीक्षा हैं। मेरे जीवन में भी ऐसी परीक्षाएँ अनेक बार हुई हैं। अनेक बार शरीर अस्वस्थ हुआ, कठिन बीमारियाँ आईं। सहयोगी भी कभी मिले, कभी नहीं, किन्तु मैं अपने कार्य में जुटा रहा।

सम्पादन में सेवाभावी विनय मुनि “वागीश” भी मेरे साथ सहयोगी बने, वे आज भी शारीरिक सेवा के साथ-साथ मानसिक दृष्टि से भी मुझे परम साता पहुँचा रहे हैं और अनुयोग सम्पादन में भी सम्पूर्ण जागरूकता के साथ सहयोग कर रहे हैं।

खम्भात सम्प्रदाय के आचार्य प्रवर श्री कांति ऋषि जी म. ने मुझ पर अनुग्रह करके व्याकरणाचार्य श्रीमहेन्द्र ऋषि जी म. को श्रुत-सेवा में सहयोग करने के लिए भेजा था अतः मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

सम्पादकीय सहयोग—

सौभाग्य से इस श्रमसाध्य महाकार्य में आगमज्ञ श्री तिलोक मुनिजी का अप्रत्याशित सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है।

इनकी अतन्मय श्रुत भक्ति और संयम साधना देखकर ऐसा कौन होगा जो प्रभावित न हो, श्रमण जीवन की वास्तविक श्रमनिष्ठा आपकी रग-रग में समाहित है। आपका चिन्तन और आपके सुझाव मौलिक होते हैं।

गत सात वर्षों से विदुषी महासती डा० मुक्तिप्रभाजी, डा० दिव्यप्रभाजी एवं उनकी साक्षर शिष्या परिवार का ऐसा अनुपम सुयोग मिला कि अनुयोग का कार्य आगे बढ़ता गया। मुझे अतीव प्रसन्नता है कि महासती मुक्तिप्रभाजी आदि विदुषी श्रमणियों ने इस कार्य में तन्मय होकर जो सहयोग किया है उसका उपकार आगम अभ्यासी अतः युग-युग तक स्मरण करेंगे। इनकी रत्न-त्रय साधना सर्वदा सफल हो, यही मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

अनुयोग सम्पादन कार्य में प्रारम्भ में तो अनेक बाधाएँ आईं। जैसे आगम के शुद्ध संस्करण की प्रतियों का अभाव, प्राप्त पाठों में क्रम भंग और विशेषकर “जाव” शब्द का अनपेक्षित/अनावश्यक प्रयोग। फिर भी धीरे-धीरे जैसे आगम सम्पादन कार्य में प्रगति हुई वैसे-वैसे कठिनाइयाँ भी दूर हुईं। महावीर जैन विद्यालय बम्बई, जैन विश्व भारती लाडनू तथा आगम प्रकाशन समिति ब्यावर आदि आगम प्रकाशन संस्थाओं का यह उपकार ही मानना चाहिए कि आज आगमों के सुन्दर उपयोगी संस्करण उपलब्ध हैं, और अधिकांश पूर्वापेक्षा शुद्ध मुसम्मादित हैं। यद्यपि आज भी उक्त संस्थाओं के निदेशकों की आगम सम्पादन शैली पूर्ण वैज्ञानिक या जैसी चाहिए वैसी नहीं है। लिपि दोष, लेखक के मति-भ्रम व वाचनता भेद आदि कारणों से आगमों के पाठों में अनेक स्थानों पर व्युत्क्रम दिखाई देते हैं। पाठ-भेद तो है ही, “जाव” शब्द कहीं अनावश्यक जोड़ दिया है जिससे अर्थ वंपरीत्य भी हो जाता है, कहीं लगाया नहीं है और कहीं पूरा पाठ देकर भी “जाव” लगा दिया गया है। प्राचीन प्रतियों में इस प्रकार के लेखन-दोष रह गये हैं जिससे आगम का उपयुक्त अर्थ करने व प्राचीन पाठ परम्परा का बोध कराने में कठिनाई होती है। विद्वान सम्पादकों को इस ओर ध्यान देना चाहिए था। प्राचीन प्रतियों में उपलब्ध पाठ ज्यों का त्यों रख देना—अडिग श्रुत श्रद्धा का रूप नहीं है, हमारी श्रुत-भक्ति श्रुत को व्यवस्थित एवं शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने में है। कभी-कभी एक पाठ का मिलान करने व उपयुक्त-पाठ निर्धारण करने में कई दिन व कई सप्ताह भी लग जाते हैं किन्तु विद्वान अनुसन्धाता उसको उपयुक्त रूप में ही प्रस्तुत करता है, बावजूद इस प्रकार के आगम सम्पादन की आव-

शक्यता है। अस्तु,

मैं अपनी शारीरिक अस्वस्थता के कारण, विद्वान सहयोगी की कमी के कारण, तथा परिपूर्ण साहित्य की अनुपलब्धि तथा समय के अभाव के कारण जैसा संशोधित शुद्ध पाठ देना चाहता था वह नहीं दे सका, फिर भी मैंने प्रयास किया है कि पाठ शुद्ध रहे, लम्बे-लम्बे समास पद जिनका उच्चारण दुर्लभ होता है, तथा उच्चारण करते समय अनेक आगम पाठी भी उच्चारण-दोष से ग्रस्त हो जाते हैं। वैसे दुर्लभ पाठों को सुगम रूप में प्रस्तुत कर छोटे-छोटे पद बनाकर दिया जाये व ठीक उनके सामने ही उनका अर्थ दिया जाय जिससे अर्थबोध सुगम हो। यद्यपि जिस संस्करण का मूल पाठ लिया है हिन्दी अनुवाद भी प्रायः उन्हीं का लिया है फिर भी अपनी जागरूकता बरती है। अनेक स्थानों पर उचित संशोधन भी किया है। उपर्युक्त तीन संस्थानों के अलावा आगमोदय समिति रत्नलाम तथा सुत्तागमे (पुष्पभिवलु जी) के पाठ भी उपयोगी हुए हैं। पूज्य अमोलक ऋषि जी म० एवं आचार्य श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित अनूदित आगमों का भी यथावश्यक उपयोग किया है।

मैं उक्त आगमों के सम्पादक विद्वानों व श्रद्धेय मुनि-वरों के प्रति आभारी हूँ। प्रकाशन संस्थाएँ भी उपकारक हैं। उनका सहयोग कृतज्ञ भाव से स्वीकारना हमारा कर्तव्य है।

अब प्रस्तुत ग्रन्थ चरणानुयोग के विषय में भी कुछ कहना चाहता हूँ।

चरणानुयोग—

आगमों का सार आचार है—अंगण कि सारो ? आचारो ! —आचारांग आगम तो अंगों का सारभूत आगम है ही, किन्तु आचार—अर्थात् “चारित्र” यह आगम का, श्रुत का सार है। ज्ञानस्य फलं विरतिः ज्ञान का फल विरति है। श्रुत का सार चारित्र है। अतः चारित्र सम्बन्धी विवरण आगमों में यत्र-तत्र बहुत अधिक मात्रा में मिलता है। यों भी कहा जा सकता है कि “चारित्र” का विषय सबसे विशाल तथा व्यापक है। धर्मकथानुयोग के समान चरणानुयोग भी वर्णन की दृष्टि से विस्तृत है। अतः इसकी सामग्री अनुमान से अधिक हो गई है। इसलिए इसे दो भागों में विभक्त किया गया है।

“आचार” के प्रमुख पाँच विभाग हैं - १. ज्ञानाचार, २. दर्शनाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपाचार, ५. वीर्या-

चार। वर्णन की दृष्टि से चारित्राचार सबसे विशाल है। प्रस्तुत भाग में ज्ञानाचार एवं दर्शनाचार का वर्णन तो २०४ पृष्ठों में ही आ गया है। चारित्राचार का वर्णन प्रथम भाग के ५१० पृष्ठ तथा द्वितीय भाग के २५६ पृष्ठ यों सब ७६६ पृष्ठ में आया है। तपाचार का विषय ११४ पृष्ठों में समाया है किन्तु वीर्याचार का विषय ६२ पृष्ठों में ही सम्पादित हो गया है।

मैंने इस बात का भी ध्यान रखा है कि जो विषय आगमों में अनेक स्थानों पर आया है, वहाँ एक आगम का पाठ मूल में देकर बाकी आगम पाठ तुलना के लिए टिप्पणियों में दिये जायें। जिससे तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ने वालों को उपयोगी हों। अनेक पाठों के अर्थ में भ्रान्ति होती है, वहाँ टीका, भाष्य आदि का सहारा लेकर पाठ का अर्थ भी स्पष्ट किया गया है, व्याख्या का अन्तर भी दर्शाया है। कुछ पाठों की पूर्ति के लिए श्रुति, स्मृति, भाष्य आदि का भी उपयोग किया है।

इस प्रकार पूरी सावधानी बरती है कि जो विषय जहाँ है, वह अपने आप में परिपूर्ण हो, इसलिए उसके समान, पूरक तथा भाव स्पष्ट करने वाले अन्य आगमों के पाठ भी अंकित किये हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आगम ज्ञान के प्रति रुचि, श्रद्धा व भक्ति रखने वाले पाठकों को यह चरणानुयोग, उनकी जिज्ञासा को तृप्त करेगा, ज्ञान की वृद्धि करेगा तथा श्रुत भक्ति को और अधिक सुदृढ़ बनायेगा।

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की विस्तृत प्रस्तावना लिखने का दायित्व जैन समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० सागरमल जी जैन ने सर्वथा निस्पृह भावना के साथ वहन किया है। वे जैन आचार शास्त्र के मर्मज्ञ हैं और बहुश्रुत हैं। प्रस्तावना में उन्होंने सभी विषयों पर तुलनात्मक दृष्टि से उनके विचार किया है जो पाठकों के लिए उपयोगी होगा। मैं प्रति कृतज्ञता का भाव रखता हूँ।

दोनों भाग की शब्द सूची तथा विषय सूची बनाने का श्रेय सम्पादन कला निष्णात श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना ‘सरस’ ने किया है। उनका सहयोग उल्लेखनीय रहेगा। ग्रन्थ के सुन्दर व शुद्ध मुद्रण में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

अन्त में इस महान कार्य में प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग देने वाले सभी सहयोगी जनों के प्रति हादिक भाव के कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।



सदाचरण : एक बौद्धिक विमर्श

—प्रो० सागरमल जैन

मानव प्रकृति

मनुष्य विश्व में श्रेष्ठतम प्राणी है, उससे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है। फिर भी मानव-अस्तित्व जटिल (Complex), विरोधाभासपूर्ण (Paradoxical) और बहु-आयामी (Multi-dimensional) है। मनुष्य मात्र जैविक संरचना नहीं है, उसमें विवेकात्मक चेतना भी है। शरीर और चेतना यह हमारे अस्तित्व के मुख्य दो पक्ष हैं। शरीर से वासना और चेतना से विवेक का प्रभुत्व होता है। मनुष्य की यह विचित्रता है कि उसे वासना और विवेक के इन दो स्तरों पर जीवन जीना होता है। उसके सामने शरीर अपनी मांग प्रस्तुत करता है, तो विवेक अपनी मांग प्रस्तुत करता है। एक ओर उसे दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है, तो दूसरी ओर विवेक द्वारा निर्धारित जीवन जीने के कुछ आदर्शों का परिपालन भी करना होता है। वासना और विवेक के संघर्ष को झेलना यही मानव की नियति है। यद्यपि जीवन जीने के लिए शारीरिक मार्गों को पूर्णतः ठुकराया नहीं जा सकता है, किन्तु एक विवेकशील प्राणी के रूप में मनुष्य का यह दायित्व बनता है कि वह अन्ध वासनाचालित जीवन से ऊपर उठे। वासनात्मक आवेगों से मुक्ति पाना, यही मानव जीवन का लक्ष्य है। जहाँ पशु का जीवन-व्यवहार पूर्णतः जैविक-वासनाओं से नियन्त्रित होता है, वहाँ मनुष्य की यह विशेषता है कि वह विवेक तत्व के द्वारा अपने वासनात्मक जीवन पर भी नियन्त्रण कर सकता है और इसी में माणवीय आत्मा में अनुस्यूत स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है। पशु का जीवन व्यवहार पूर्णतः प्रकृति के अन्धयान्त्रिक नियमों से चालित होता है, अतः वह परतन्त्र है; जबकि मनुष्य प्रकृति के यान्त्रिक नियमों से ऊपर उठकर जीवन जीने की क्षमता रखता है, अतः उसमें स्वतन्त्रता या मुक्त होने की सम्भावना भी है। यही कारण है कि जहाँ पशु जीवन में विकास और पतन की सम्भावनाएँ अत्यन्त सीमित होती हैं, वहीं मनुष्य में विकास और पतन की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। वह विकास की दिशा में आगे बढ़े तो देवत्व से ऊपर उठ सकता है और पतन की दिशा में नीचे गिरे तो पशु से भी नीचे गिर सकता है। इसे जैन धर्म की भाषा में कहें तो मनुष्य ही त्रिणव में गणा प्राणी है, जो एक ओर आध्यात्मिक पतन के द्वारा नारकीय जीवन

के निम्नतम स्तर (सप्तम तरक) को प्राप्त कर सकता है, तो दूसरी ओर आध्यात्मिक विकास के द्वारा मुक्ति के परम साध्य को प्राप्त कर सकता है। मनुष्य की इस आध्यात्मिक विकास यात्रा को धर्म के नाम से अभिहित किया जाता है।

मानव की विकास यात्रा का सोपान : धर्म

सामान्यतया आचार और व्यवहार के कुछ विधि-विधानों के परिपालन को धर्म कहा जाता है। धर्म हमें यह बताना है कि यह करो और यह मत करो; किन्तु आचार के इन बाह्य नियमों के परिपालन मात्र को धर्म मान लेना भी एक भ्रान्त ही है। आचार और व्यवहार के बाह्य नियम धर्म का शरीर तो अवश्य है, किन्तु वे धर्म की आत्मा नहीं हैं। धर्म की आत्मा तो उस विवेकपूर्ण जीवन-दृष्टि अथवा समसारूपी साध्य की उपलब्धि में निहित होती है, जो आचार और व्यवहार के इन स्थूल नियमों का मूल हार्द है। यही विवेकपूर्ण जीवन-दृष्टि ही आचार-व्यवहार की उन मर्यादाओं एवं विधि-नियमों की भूजक है, जो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समता और शान्ति के संस्थापक है और जिन्हें सामान्यतया धर्म या सदाचार के नाम से जाना जाता है।

वैदिक एवं श्रमण धर्म-परम्पराएँ और उनका वैशिष्ट्य

भारतीय धर्मों को मुख्य रूप से वैदिक और श्रमण इन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। इस विभाजन का मूल आधार उनकी प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक जीवन दृष्टियाँ हैं, जो क्रमशः वासना और भावावेग जनित जैविक मूल्यों एवं विवेक-जनित आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित हैं। सामान्यतया वैदिक धर्म को प्रवृत्तिमूलक और श्रमण धर्मों को निवृत्तिमूलक कहा जाता है। यद्यपि आज वैदिक और श्रमण धर्मों की विविध जीवित परम्पराओं के बीच प्रवृत्ति और निवृत्ति के इन आधारों पर कोई विभाजक रेखा खींच पाना कठिन है क्योंकि आज किसी भी धर्म-परम्परा या धर्म-सम्प्रदाय को पूर्ण रूप से प्रवृत्तिमूलक या निवृत्तिमूलक नहीं कहा जा सकता है। जहाँ एक ओर वैदिक धर्म में औपनिषदिक चिन्तन के काल से ही निवृत्तिमूलक तत्त्व प्रविष्ट होने लगे और वैदिक कर्म-काण्ड, इहलोकिकवाद एवं भोगवादी जीवनदृष्टि गमालोचना का विषय बनीं; वहीं दूसरी ओर श्रमण परम्पराओं में भी धर्म-संघों की स्थापना के साथ ही गंध और

समाज व्यवस्था के रूप में कुछ प्रवृत्तिमूलक अवधारणाओं को स्वीकार किया गया और इस प्रकार लोककल्याण के पारवर्त उद्देश्य को लेकर दोनों परम्पराएँ एक-दूसरे के निकट आ गयीं।

जैन-जीवन-दृष्टि

जैन धर्म की आचार परम्परा में यद्यपि निवृत्तिमूलक जीवन-दृष्टि प्रधान रही है, परन्तु उसमें सामाजिक और ऐहिक जीवन-मूल्यों की पूर्ण उपेक्षा की गई हो, यह नहीं कहा जा सकता। उसमें भी जैविक एवं सामाजिक जीवन-मूल्यों को समुचित स्थान मिला है। फिर भी इतना निश्चित है कि जैन धर्म में जो प्रवृत्ति-मूलक तत्त्व प्रबिष्ट हुए हैं, उनके पीछे भी मूल लक्ष्य तो निवृत्ति या संन्यास ही है। निवृत्तिमूलक धर्म से यहाँ हमारा तात्पर्य उस धर्म से है जो सांसारिक जीवन और ऐन्द्रिक विषय-भोगों को गृहणीय मानता है और जीवन के चरम लक्ष्य के रूपा में संन्यास और निर्वाण को स्वीकृत करता है। आज भी ये श्रमण परम्पराएँ निर्वाण को ही परमसाध्य स्वीकृत करती हैं। आज संन्यास और निर्वाण को जीवन का साध्य मानने वाले श्रमण धर्मों में मुख्य रूप से जैन और बौद्ध धर्म ही जीवित हैं। यद्यपि आजीवक आदि कुछ अन्य श्रमण परम्पराएँ भी थीं, जो या तो काल के गर्भ में समाहित हो गयी हैं या बृहद् हिन्दू धर्म का ही एक अंग बन गयी हैं। अब उनका पृथक् अस्तित्व नहीं पाया जाता है।

जहाँ तक जैन धर्म का प्रश्न है, परम्परागत दृष्टि से यह इस कालचक्र में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित माना जाता है। ऋषभदेव प्राग् ऐतिहासिक काल के तीर्थंकर हैं। दुर्भाग्य से आज हमारे पास उनके सम्बन्ध में बहुत अधिक ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। वैदिक साहित्य में उल्लिखित ऋषभ की कुछ स्तुतियों और वातरसना मुनियों के उल्लेख से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक युग में भी कोई श्रमण या संन्यास-मार्गी परम्परा प्रचलित थी जो सांसारिक विषय-भोगों से निवृत्ति पर और तप तथा ध्यान साधना की पद्धति पर बल देती थी। इसी निवृत्तिमार्गी परम्परा का अग्रिम विकास एक ओर वैदिक धारा के साथ समन्वय एवं समायोजन करते हुए ओपनिषदिक धारा के रूप में तथा दूसरी ओर स्वतन्त्र रूप में यात्रा करते हुए जैन (निग्रन्थ), बौद्ध एवं आजीवक आदि अन्य श्रमण परम्पराओं के रूप में हुआ।

आज यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि कोई भी धर्म-परम्परा पूर्ण रूप से निवृत्तिप्रधान या प्रवृत्तिप्रधान होकर जीवित रह सकती है। वस्तुतः निवृत्ति और प्रवृत्ति के सम्बन्ध में ऐकान्तिक दृष्टिकोण न तो व्यावहारिक है और न मनोवैज्ञानिक। मनुष्य जब तक मनुष्य है, मानवीय आत्मा जब तक शरीर के साथ योजित होकर जीवन जीती है, तब तक ऐकान्त प्रवृत्ति और

ऐकान्त निवृत्ति की बात करना समुचित नहीं है। यद्यपि जैन परम्परा को हम निवृत्तिमार्गी परम्परा कहते हैं, किन्तु उसे भी ऐकान्त रूप से निवृत्ति-प्रधान मानना, एक भ्रान्ति ही होगी। यद्यपि जैन धर्म के आचार ग्रन्थों में प्रमुख रूप से निवृत्ति मार्ग की चर्चा देखी जाती है, किन्तु उनमें भी अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं जहाँ निवृत्ति और प्रवृत्ति के बीच एक सन्तुलन बनाने का प्रयास किया गया है। अतः जो विचारक जैन धर्म को ऐकान्त रूप से निवृत्तिपरक मानकर उसके धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध सामाजिक और व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा करते हैं, वे वस्तुतः अज्ञान में ही जीते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि जैन आचार्यों ने तप और त्याग पर अधिक बल दिया है, किन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि व्यक्ति अपनी वासनाओं से ऊपर उठे। जैन-आचार्यों ने जितना भी उपदेशात्मक और वैराग्य-प्रधान साहित्य निर्मित किया है, उसका लक्ष्य मनुष्य को वासनात्मक जीवन से ऊपर उठाकर उसका आध्यात्मिक विकास करना है। उनकी दृष्टि में धर्म और साधना व्यक्ति के आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिए है और अध्यात्म का अर्थ है वासनाओं पर विवेक का शासन। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई धर्म या साधना-पद्धति जैविक और सामाजिक जीवन-मूल्यों की पूर्णतः उपेक्षा नहीं कर सकती है, क्योंकि यही वह आधारभूमि है जहाँ से आध्यात्मिक विकास यात्रा आरम्भ की जा सकती है। जैनों के अनुसार धर्म और अध्यात्म का कल्पवृक्ष समाज और जीवन के वांगन में ही विकसित होता है। धार्मिक होने के लिए सामाजिक होना आवश्यक है। जैन धर्म में जिनकल्प और शश्विरकल्प के रूप में जिन दो आचार मार्गों का प्रतिपादन है, उनमें स्थविर-कल्प, जो जन-साधारण के लिए है, समाज-जीवन या संघीय-जीवन में रहकर ही साधना करने की अनुशंगा करता है।

वस्तुतः समाज-जीवन या संघीय-जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुमेल है। समाज-जीवन भी त्याग के बल पर ही खड़ा होता है। जब व्यापक हितों के लिये क्षुद्र स्वार्थों के विसर्जन की भावना बलवती होती है, तभी समाज खड़ा होता है। अतः समाज-जीवन या संघीय-जीवन में सर्जन और विसर्जन तथा राग और विराग का सुन्दर समन्वय है। जिसे आज हम “धर्म” कहते हैं वह भी पूर्णतः निजी या वैयक्तिक साधना नहीं है। उसमें व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ स्वस्थ समाज का निर्माण भी अनुस्यूत है।

जैन आगमों में धर्म का स्वरूप

धर्म की विभिन्न व्याख्याएँ और परिभाषाएँ दी गई हैं। पूर्व-पश्चिम के विद्वानों ने धर्म को विविध रूपों में देखने और समझने का प्रयत्न किया है। सामान्यतया आचार और विचार की एक विशिष्ट प्रणाली को धर्म कहा जाता है, किन्तु जहाँ तक जैन-परम्परा का प्रश्न है, उसमें धर्म को एक स्व-स्वरूप की उपलब्धि

के अथवा आध्यात्मिक विकास के साधन के रूप में माना गया है। जैनान्चार्यों ने धर्म की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं, उनमें एक परिभाषा "वस्तुसहायो धम्मो" के रूप में की है।^१ जब हम यह कहते हैं कि आग का धर्म उष्णता और जल का धर्म शीतलता है तो यहाँ धर्म से तात्पर्य उनके स्वभाव से ही होता है। यद्यपि वस्तु-स्वभाव के रूप में धर्म की यह परिभाषा सत्य और प्रामाणिक है, किन्तु इससे धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट दिशा निर्देश नहीं मिलता है। वस्तुतः जब हम धर्म की व्याख्या वस्तु-स्वभाव के रूप में करते हैं, तो हमारे सामने मूल प्रश्न मनुष्य के मूल स्वभाव के सम्बन्ध में ही उत्पन्न होता है। मनुष्य एक चेतन प्राणी है और एक चेतन प्राणी के रूप में उसका धर्म या स्वभाव चैतन्य-समत्व की उपलब्धि है। यहाँ चैतन्य-समत्व का तात्पर्य विभिन्न अनुकूल एवं प्रतिकूल अनुभूतियों में चेतना के स्तर पर अविवर्तित रहना है। दूसरे शब्दों में समत्व का अर्थ जाता-दृष्टा भाव में स्थित रहना है। वस्तुतः यह राग और द्वेष के तत्व हमारी चेतना के समत्व को विचलित करते हैं अतः राग-द्वेषजन्य विक्षोभों से रहित चेतना की समभाव में अवस्थिति ही उसका स्व-स्वभाव है और यही धर्म है।

वैयक्तिक धर्म : समता

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में आत्म स्वभाव की चर्चा करते हुए यह प्रश्न उठाया गया है कि आत्मा क्या है और उसका लक्ष्य या लक्ष्य क्या है? जैन आचार्यों ने इस सम्बन्ध में अपने उत्तर में कहा है कि आत्मा समत्व रूप है और उस समत्व को प्राप्त करना यही उसका लक्ष्य है।^२ आचारांग सूत्र में इसी दृष्टिकोण के आधार पर धर्म को समता के रूप में परिभाषित किया गया है। उसमें कहा गया है कि "आर्यजनों ने समभाव में धर्म कहा है।"^३ वस्तुतः समभाव के रूप में धर्म की यह परिभाषा धर्म की स्वभाव-परक परिभाषा से भिन्न नहीं है। मानवीय एवं प्राणी प्रकृति यही है कि वह सदैव ही तनावों से रहित समत्व की स्थिति को पाना चाहता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वे सभी तथ्य, जो चेतना के इस समत्व को भंग करते हैं, विकार, विभाव या अधर्म

हैं, इसके विपरीत जीवन व्यवहार के वे सब तत्व जिनसे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समता की स्थापना होती है धर्म कहे जा सकते हैं। जब हम धर्म को वैयक्तिक दृष्टि से परिभाषित करना चाहते हैं तब उसे निश्चय ही समभाव के रूप में परिभाषित करना होगा। संक्षेप में कहें तो समता धर्म है और ममता अधर्म या पाप है, क्योंकि ममता के द्वारा आत्मा समाधि या शान्ति की स्थिति में होती है यही उसकी अविकारी अवस्था या स्वभाव दशा है जबकि ममता के कारण वह तनाव एवं मानसिक असन्तुलन से ग्रस्त होती है, अतः ममता विकारी अवस्था या विभाव-दशा है।

सामाजिक धर्म : अहिंसा

वैयक्तिक ममता के ये तत्व, जब बाह्य रूप में अभिव्यक्त होकर हमारे सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं, तो वे हिंसा और संघर्ष को जन्म देते हैं। ममता के कारण आधिपत्य, संग्रह और शोषण की वृत्तियों का उदय होता है। व्यक्ति अपने और पराये की दीवारें खींचता है जिससे परिणामतः समाज-जीवन में संघर्ष और हिंसा का जन्म होता है और इन्हीं संघर्षों और हिंसक व्यवहारों के कारण सामाजिक जीवन का समत्व या सामाजिक शान्ति भंग हो जाती है। आचारांग सूत्र में इसी सामाजिक जीवन-व्यवहार के दृष्टिकोण के आधार पर धर्म की एक दूसरी परिभाषा भी दी गई है, उसमें कहा गया है कि "भूतकाल में जो अर्हत् हुए हैं, वर्तमान में हैं अथवा भविष्य में होंगे वे सब यह प्रज्ञापित करते हैं, व्याख्यापित करते हैं कि किसी प्राण, भूत, जीव या सत्व को पीड़ा नहीं देनी चाहिए, उनका घात नहीं करना चाहिए, उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। यही शाश्वत, शुद्ध एवं नित्य धर्म है।"^४

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैन आचार शास्त्रीय ग्रन्थों में वैयक्तिक दृष्टि से समता और सामाजिक दृष्टि से अहिंसा को धर्म कहा गया है।

धर्म संवाचार या सद्गुण के रूप में

प्रकारान्तर से अर्धमागधी और शौरसेनी जैन आगम में समता, सरलता, निर्लोभता, सत्यता, संयम आदि को भी धर्म के रूप में

१ धम्मो वत्थु सहायो, सभाविभावो य दसविहो धम्मो ।

रणयत्तयं च धम्मो, जीवाणां रक्षणं धम्मो ॥

२ आया सामादए, आया सामादयस्स अट्ठे ।

३ समयाए धम्मे आरिएहि पवेइए ।

४ से वेमि—जे य असीता जे य पङ्कपणा जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं मारुंति, एव पणवेंति, एव पक्खेंति—सव्वे पाणा जाय सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परित्तावेयव्वा, ण उद्देवेयव्वा, एस धम्मो धुवे गितिए सासते, समेच्च लोणं खेतन्नेहि पवेविते ।

—बारस्स अणुवेक्खा (कार्तिकेय) ४७८

—व्याख्याप्रज्ञप्ति १/६

—आचारांग १/५/३/१५७ (च०, पृ. ३०)

—आचारांग १/४/१/१३१-१३२ (च०, पृ. ३३)

—सूत्रकुतांग २/१/६८० (च० पृ. २१६)

परिभाषित किया गया है।

(१) आचारांग में क्षमा आदि सद्गुणों को धर्म कहा गया है।^१

(२) स्थानांग में क्षमा, अलोभ, सरलता, मृदुलता, लघुत्व, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्यवास आदि जो धर्म के दस रूप प्रतिपादित किये गये हैं।^२

(३) कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी क्षमादि दस सद्गुणों को दसविध धर्म के रूप में परिभाषित किया गया है।^३

वस्तुतः यह धर्म की सद्गुणपरक या नैतिक परिभाषा है। वे सभी सद्गुण जो सामाजिक समता को बनाए रखते हैं सामाजिक समरत्व के संस्थापन की दृष्टि से धर्म कहे गये हैं। क्षमादि इन सद्गुणों की विशेषता यह कि ये वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही जीवन में समरत्व या शान्ति-संस्थापन करते हैं।

वस्तुतः धर्म की इस व्याख्या को संक्षेप में हम यह कहकर प्रकट कर सकते हैं कि सद्गुण का आचरण या सदाचरण ही धर्म है और दुर्गुण का आचरण या दुराचरण ही अधर्म है। इस प्रकार जैन आचार्यों ने धर्म और नीति अथवा धर्म और सद्गुण में तादात्म्य स्थापित किया है, उनके अनुसार धर्म और अनैतिक जीवन-सहगामी नहीं हो सकते। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले के अनुसार भी वह धर्म जो अनैतिकता का सहगामी है, वस्तुतः धर्म नहीं, अधर्म ही है।

धर्म : जिनाशा का पालन

आचारांग में धर्म की एक अन्य परिभाषा हमें इस रूप में मिलती है कि आज्ञा पालन में धर्म है। तीर्थंकर या वीतराग पुरुषों के आदेशों का पालन ही धर्म है। आचारांग में महावीर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मानवों के लिये मेरा निर्देश है कि मेरी आज्ञा का पालन करना ही धर्म है।^४ यहाँ आज्ञा पालन का तात्पर्य सद्गुणों को जीवन में अपनाना है। यही धर्म का व्याव-

हारिक पक्ष है। आचारांग में उपलब्ध धर्म की यह परिभाषा हमें मीमांसा दर्शन में उपलब्ध धर्म की उस परिभाषा की स्मृति दिला देती है जहाँ धर्म को बोधना (प्रेरणा) लक्षण कहकर परिभाषित किया गया है^५ और जिसके अनुसार वेद-विहित विधानों के पालन को धर्म कहा गया है।

धर्म : सामाजिक-दायित्व का निर्वहन

स्थानांग सूत्र में धर्म की व्याख्या के एक अन्य सन्दर्भ में राष्ट्र-धर्म, ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, कुल-धर्म, गणधर्म आदि का भी उल्लेख हुआ है।^६

यहाँ धर्म का तात्पर्य राष्ट्र, ग्राम, नगर, कुल, गण आदि के प्रति हमारे जो कर्तव्य या दायित्व हैं, उनके परिपालन से है। इन धर्मों के प्रतिपादन का उद्देश्य व्यक्ति को अच्छा नागरिक बनाना है, ताकि सामाजिक और पारिवारिक जीवन के संघर्षों और तनावों को कम किया जा सके तथा वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी शान्ति और समता की स्थापना की जा सके।

धर्म की विविध परिभाषाओं में पारस्परिक सामंजस्य

जैन परम्परा में उपलब्ध धर्म की इन विविध परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन आचार्यों ने धर्म को कभी भी रुढ़ि या विशिष्ट प्रकार के कर्म-काण्डों के परिपालन के रूप में नहीं देखा है। उनकी दृष्टि में धार्मिक साधना का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के चैत्तिक जीवन में उपस्थित पाशविक वासनाओं एवं उन कषायजन्य आवेगों का परिशोधन कर उसकी आध्यात्मिक चेतना को समरत्व, शान्ति या समाधि की दिशा में अग्रसर करना है। यद्यपि जैन धर्म में साधना और उपासना की विशिष्ट पद्धतियाँ अनुशंसित हैं फिर भी उन सबका तात्पर्य व्यक्ति की प्रसुप्त चेतना को जागृत कर उसे अपनी आध्यात्मिक दुर्बलताओं का बोध कराना है तथा यह दिखाना है कि उसकी आवेगजन्य तनावपूर्ण

१ आचारांग, १/६१५।

२ दसविधे समण धम्मेष पणत्ते, तं जहा—

शान्ति, मुक्ति, अज्जवे, महवे, लाघवे, सक्खे, संजमे, तप्पे, चियाए, बंधचेरवासे।

—स्थानांग १०/७१२ (च. पृ. ११)

जातव्व है कि आचारांग १/६/५, समवायांग १०/१, बारस्त अणुवेक्खा, तत्त्वार्थ ६/६ आदि में भी इनका उल्लेख है यद्यपि आचारांग और स्थानांग की सूची में कुछ नाम भेद है। जैदिक परम्परा में मनुस्मृति १०/६३, ६/६२; महाभारत आदि-पर्व, ६५/५ में भी कुछ नामभेद के साथ इनके उल्लेख हैं। श्रीमद्भागवत (४/४६) में धर्म की पहियों एवं पुत्रों के रूप में इन सद्गुणों का उल्लेख है।

बारस्तअणुवेक्खा (कार्तिकेय) ४७८।

३ आजाए मामगं धम्म—एस उत्तरवावे इह माणवाणं वियाहिए।

—आचारांग १/६/२/१८५ (च. पृ. ६०)

४ मीमांसा सूत्र, १/१/२।

५ दसविधे धम्मेष पणत्ते, तं जहा—

ग्रामधम्मेषे, नगरधम्मेषे, रदुधम्मेषे, पासंढधम्मेषे, कुलधम्मेषे, गणधम्मेषे, सुयधम्मेषे, चरित्तधम्मेषे, अत्थिकायधम्मेषे।

—स्थानांग, १०/७६० (च. पृ. ३१)

चैतन्य स्थिति के कारण क्या हैं ? और उन कारणों का निराकरण कर किस प्रकार आध्यात्मिक शुद्ध स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है ? जब स्थानांग सूत्र में धर्म का धर्मा आदि सद्गुणों से जो तादात्म्य बनाया गया है, तो उसका तात्पर्य भी यही है कि व्यक्ति इन गुणों को अपने जीवन में अपनाकर चैतन्य भवत्व या शान्ति का अनुभव करता हुआ अपनी आध्यात्मिक विकास-यात्रा या स्व-स्वरूप की उपलब्धि की दिशा में आगे बढ़ सके ।

वस्तुतः इन सद्गुणों की साधना का तात्पर्य भी यही है कि व्यक्ति की वासनाएँ और मानसिक तनाव कम हों और वह अपनी शुद्ध स्वाभाविक तनावरहित एवं भ्रान्त आत्मदशा की अनुभूति कर सके । यदि हम संक्षेप में कहें तो जैन दृष्टि से धर्म विभाव से स्वभाव की ओर यात्रा है । कषाय और दुर्गुण या दुष्प्रवृत्तियाँ भ्रमद्वय की विभाव दशा अथवा पर-परिणति की सूचक हैं, क्योंकि ये पर के निमित्त से होती हैं । इनकी उपस्थिति में व्यक्ति मानसिक तनावों से मुक्त होकर जीवन जीता है तथा उसकी आध्यात्मिक शान्ति और आध्यात्मिक समता भंग हो जाती है । अतः कषायों के निराकरण के द्वारा व्यक्ति को खोई हुई आध्यात्मिक शक्ति को पुनः प्राप्त करना अथवा समत्व दशा या स्व-स्वभाव में स्थित होना यही धर्म का मूल उद्देश्य है । कोई भी धार्मिक साधना पद्धति या आराधना विधि यदि उसे विभाव से स्वभाव की ओर, समता से समता की ओर, मानसिक आवेगों और तनावों से आध्यात्मिक शान्ति की ओर ले जाती है तो वह सार्थक कहली जा सकती है, अन्यथा वह निरर्थक होती है । क्योंकि जो आचरण वैयक्तिक या सामाजिक समता को भंग करता है वह धर्म नहीं अधर्म ही है । इसके विपरीत जो आचरण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समता या शान्ति लाता है, वह धर्म है ।

जब हम धर्म को वीतराग प्रभु के प्रति अनन्य आस्था या उसके आदेशों के पालन के रूप में देखते हैं तो भी वह समत्व संस्थापन रूप अपने उस मूल स्वरूप से भिन्न नहीं होता है । वस्तुतः वे सभी साधक जो बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अग्रिम कक्षाओं में स्थित नहीं हैं, अथवा जिनको धर्म और अधर्म की सम्यक् समझ नहीं है, उनके लिए उपादेय यही है कि वे उन लोगों के जीवन और उपदेशों का अनुसरण करें, जिन्होंने मानसिक आवेगों, वासनाओं और कषायों से अर्थात् विभाव दशा से ऊपर उठकर आध्यात्मिक समता अथवा वीतराग दशा का अनुभव किया है । जिस प्रकार ईहक विकृतियों से छुटकारा पाने के लिये वंश के आदेशों और निर्देशों का पालन उपयोगी है, उसी प्रकार आध्यात्मिक कमियों से छुटकारा पाने के लिए वीतराग प्रभु के आदेशों और जीवनादर्शों का अनुसरण

करना आवश्यक है, क्योंकि धर्म साधना भी चैतन्य विकृतियों की चिकित्सा ही है । यदि व्यक्ति स्वयं इतना समर्थ है कि वह अपनी विकृति (रोग) को स्वयं जानकर चिकित्सा द्वारा उसे विकृति का उपशमन या निरसन कर सकता है, तो उसे अधिकार है कि वह अपना मार्ग स्वयं बनाये और उस पर चले, उसे गुरु, मार्गदर्शक या धर्मोपदेष्टा की आवश्यकता नहीं है, उसके लिए यह जरूरी नहीं है कि वह दूसरे के उपदेशों और आदेशों का पालन करे । ऐसा साधक स्वयं-सम्बुद्ध या प्रत्येक-बुद्ध होता है । किन्तु सभी व्यक्तियों में ऐसी सामर्थ्य नहीं होती है कि वे अपनी आध्यात्मिक विकृतियों को स्वयं जानकर उनके कारणों का निदान और निराकरण कर सकें । ऐसे साधकों के लिए गुरु, तीर्थंकर अथवा वीतराग पुरुष के आदेश और निर्देश का पालन आवश्यक है । ऐसे ही लोगों को लक्ष्य में रखकर आगम में यह कहा गया है कि तीर्थंकर के आदेशों का पालन ही धर्म है ।

यद्यपि जैन धर्म इस अर्थ में अनीश्वरवादी धर्म है क्योंकि वह विश्व के सृष्टा और नियन्ता के अर्थ में ईश्वर को स्वीकार नहीं करता है । अतः उसकी आस्था का केन्द्र और मार्ग निर्देशक विष्णु-नियन्ता ईश्वर नहीं, अपितु वह वीतराग परमात्मा है, जिसने अपनी साधना के द्वारा राग-द्वेषजन्य आवेगों एवं आत्म-विकारों पर विजय प्राप्त कर समभावयुक्त शुद्धात्म-दशा, परम-शान्ति या समाधि को उपलब्ध कर लिया है । जैनधर्म में तीर्थंकर के आदेशों का पालन या उसके प्रति श्रद्धा या भक्ति का प्रदर्शन इसलिये नहीं किया जाता है कि वह प्रसन्न होकर हमें दुःख या अपूर्णता से मुक्ति दिलायेगा अथवा संकट की घड़ी में हमारी सहायता के लिए दौड़ा हुआ चला आवेगा, अपितु इसलिए किया जाता है कि उसके भाध्यम से हम अपने शुद्ध स्वरूप का बोध कर सकें । उसके आदेशों का पालन इसलिए करना है कि सुयोग्य चिकित्सक की भाँति उसके निर्देशों का पालन करने से या उसके जीवनादर्शों का अनुसरण करने से हम आत्म-विकारों का उपशमन कर शुद्धात्मदशा को प्राप्त कर सकेंगे ।

(अतः धर्म को चाहे वस्तु-स्वभाव के रूप में परिभाषित किया जाये, चाहे समता या अहिंसा के रूप में परिभाषित किया जाये, चाहे हम उसे जिन-भाजान्पालन के रूप में व्याख्यायित करें, उसका मूल हार्द यही है कि वह विभाव से स्वभाव की ओर यात्रा है । वह आत्मशुद्धि अर्थात् वासना परिष्कार की दिशा में सम्यक् संचरण है । अतः धर्म और सदाचरण भिन्न नहीं है । यही कारण है कि स्थानांग की टीका में आचार्य अक्षयदेव ने और प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र्य को भी धर्म का लक्षण माना है ।)

जैनाचार्यों ने आगम साहित्य की विषय वस्तु का जिन चार

अनुयोगों में विभाजन किया है, उनमें चरणकरणानुयोग ही ऐसा है जिसका सीधा सम्बन्ध धर्म साधना से है। धर्म मात्र ज्ञान नहीं है अपितु जीवन शैली है। वह जानने की नहीं जीने की वस्तु है। धर्म वह है जो जिया जाता है। अतः धर्म सदाचरण या सम्यक्चारित्र्य का पालन है।

धर्म : रत्नत्रय की साधना

सामान्यतया जैन परम्परा में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को रत्नत्रय के नाम से अभिहित किया गया है।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य कार्तिकेय ने अपने ग्रन्थ 'वारस अणुवेक्खा' (४७८) में रत्नत्रय की साधना को धर्म कहा है। वस्तुतः रत्नत्रय की साधना से भिन्न धर्म कुछ नहीं है। मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से हमारे अस्तित्व का मूल केन्द्र चेतना है और चेतना के तीन पक्ष हैं—ज्ञान, भाव (अनुभूति) और स्वल्प। वस्तुतः रत्नत्रय की साधना अन्य कुछ नहीं, अपितु चेतना के इन तीनों पक्षों का परिशोधन है। क्योंकि सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य क्रमशः वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध कराकर ज्ञेय के प्रति हमारी आसक्ति या राग भाव को जुड़ने नहीं देता है और हमें ज्ञाता-द्रष्टा भाव या समभाव में स्थित रखता है। इस प्रकार हमारी चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष के परिशोधन का उपाय सम्यक्ज्ञान, भावात्मक पक्ष के परिशोधन का उपाय सम्यक्दर्शन और संकल्पात्मक पक्ष के परिशोधन का उपाय सम्यक्चारित्र्य है। अतः रत्नत्रय की साधना भी अपने ही शुद्ध स्वरूप की साधना है, क्योंकि यह स्व-स्वरूप में अवस्थिति के द्वारा समभाव और वीतराग की उपलब्धि का कारण है।

जैन साधना का लक्ष्य : मोक्ष

सामान्यतया यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि व्यक्ति धर्म या सदाचार का पालन क्यों करे? पाश्चात्य नीतिशास्त्र में इस प्रश्न का उत्तर मात्र सामाजिक व्यवस्था के आधार पर दिया जाता है। लेकिन जैन परम्परा सदाचार और दुराचार के परिणामों को केवल इहलौकिक सामाजिक कल्याण या अकल्याण तक सीमित नहीं मानती है। यद्यपि इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि जैन धर्म में धर्म साधना या नैतिक जीवन का सम्बन्ध मात्र पारलौकिक जीवन से माना गया है। जैन धर्म के अनुसार धर्म साधना न तो इहलौकिक जीवन के लिए होती है और न पारलौकिक जीवन के लिए होती है, अपितु वह व्यक्ति की विकृतियों या दुष्प्रवृत्तियों के परिशोधन के द्वारा आध्यात्मिक विकास के लिए होती है। सामान्यतया जैन आगमों में धार्मिक और नैतिक जीवन का सार सर्व दुःखों का अन्त और भव-परम्परा की समाप्ति माना गया है और इसलिये कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि जैन धर्म में धार्मिक और नैतिक साधना के लक्ष्य

मोक्ष का सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से है। लेकिन यह एक भ्रान्त धारणा ही होगी। मोक्ष दुःख-विमुक्ति और आत्मोपलब्धि है जो इसी जीवन में प्राप्तव्य है।

मोक्ष : समत्व का संस्थापन

जैनों की यह स्पष्ट मान्यता है कि दुःख-विमुक्ति पारलौकिक जीवन का तथ्य न होकर ऐहिक जीवन का ही तथ्य है। वस्तुतः धर्म साधना और सदाचरण का लक्ष्य जीवन में तनावरहित, समत्वपूर्ण, शान्त आत्मदशा को प्राप्त करना है। जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के अनुसार समत्व या समभाव की प्राप्ति ही आत्मा का लक्ष्य है।

वस्तुतः मनुष्य का जीवन अन्तर्द्वन्द्वों से युक्त है। मानव जीवन में हम तीन प्रकार के संघर्ष पाते हैं—प्रथम मनोवृत्तियों का आन्तरिक संघर्ष। यह संघर्ष दो वासनाओं के मध्य अथवा वासना और आदिक आदर्शों के बीच होता है। आधुनिक मनो-विज्ञान इसे वासनात्मक अहं (id) और आदर्शात्मक अहं (Super ego) का संघर्ष कहता है। जिसे हम वासना और नैतिक आध्यात्मिक आदर्शों का संघर्ष भी कह सकते हैं। वस्तुतः यही संघर्ष व्यक्ति की आन्तरिक शान्ति को भंग कर तनाव उत्पन्न करता है। दूसरे प्रकार का संघर्ष व्यक्ति की आन्तरिक आकांक्षाओं (इच्छाओं) और बाह्य परिस्थितियों के बीच होता है। आन्तरिक आकांक्षाएँ और उनकी पूर्ति के बाह्य साधनों के मध्य यह संघर्ष चलता है। यह संघर्ष, व्यक्ति और उसके भौतिक परिवेश, व्यक्ति और व्यक्ति अथवा व्यक्ति और समाज के मध्य होता है। आकांक्षाएँ या वासनाएँ जहाँ व्यक्ति की आन्तरिक शान्ति को भंग करती हैं वहीं उनकी पूर्ति के प्रयत्न बाह्य सामाजिक जीवन की शान्ति को भंग करते हैं। इस प्रकार यह संघर्ष अन्तर और बाह्य दोनों ही प्रकार की शान्ति को भंग करता है। तीसरे प्रकार का संघर्ष बाह्य परिवेश में होने वाला संघर्ष है, जो विविध समाजों और राष्ट्रों के मध्य होता है। प्रत्येक समाज और राष्ट्र अपनी अस्मिता के लिए इस प्रकार के संघर्ष को जन्म देता है। यद्यपि यह संघर्ष बाह्य होते हुए भी व्यक्ति से जुड़ा हुआ ही है, क्योंकि व्यक्ति किसी न किसी स्तर पर समाज से जुड़ा हुआ ही होता है। इन संघर्षों को समाप्त करके वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समत्व और शान्ति की स्थापना करना ही धर्म का लक्ष्य रहा है।

यहाँ हमें यह समझ लेना चाहिये कि संघर्ष या समत्व के विचलन जीवन में घटित होते रहते हैं, फिर भी वे हमारा स्वभाव नहीं हैं। अस्तित्व के लिए भी संघर्ष करना होता है किन्तु जीवन का लक्ष्य संघर्ष या तनाव नहीं, अपितु संघर्ष या तनाव (Tension) का निराकरण है। अतः संघर्ष व्यक्ति और समाज की वैभाविक-दशा (विकृत दशा) के सूचक है, जबकि

विभाव से स्वभाव की ओर, संघर्ष से शान्ति की ओर, तनाव से समाधि (तनाव-मुक्ति) की ओर अथवा समत्व से सगर्व की ओर यात्रा करना यही धार्मिक साधना और नैतिक आचरण का लक्ष्य है।

मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है और विवेकशील प्राणी के रूप में उसका आचरण सदैव ही लक्ष्योन्मुख होता है। समाधि, शान्ति अथवा समत्व को लक्ष्य बनाकर जो आचरण किया जाता है वही आचरण नैतिक और धार्मिक जीवन का सूचक होता है। जैन परम्परा में जो मोक्ष को दुःखों के आत्यन्तिक अभाव की धारणा रही है, उसका तात्पर्य यही है कि व्यक्ति तनावों से मुक्त हो, क्योंकि तनाव या चैतन्यिक अशान्ति ही वास्तविक दुःख है। वस्तुतः सामाजिक जीवन में जो अशान्ति और संघर्ष देखे जाते हैं उनका भी मूलभूत कारण व्यक्ति की आंतरिक वासनाएँ और आकांक्षाएँ ही होती हैं। जिनकी पूर्ति के लिये व्यक्ति न केवल अपने को दुःखी बनाता है अपितु अपने सन्धिधियों को अथवा सामाजिक जीवन को भी दुःखी या तनाव-युक्त बनाता है। अतः मोक्ष जिसे सामान्यतया वैयक्तिक साधना का लक्ष्य माना जाता है वह सामाजिक शान्ति का भी आधार होता है। स्थितप्रज्ञ या वीतराग पुरुषों का जीवन वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर संघर्ष की स्थिति में नहीं होता है। अतः जो लोग धर्म साधना या नैतिकता के लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण को मात्र वैयक्तिक मानते हैं, उनकी यह धारणा उचित नहीं है। धर्म और नैतिकता वैयक्तिक होने के साथ-साथ सामाजिक भी है। अतः धार्मिक और नैतिक साधना का लक्ष्य वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर समत्व का संस्थापन करना है। अतः जैन धर्म में हमें धर्म की जो परिभाषाएँ समत्व और अहिंसा के रूप में मिलती हैं वे मात्र वैयक्तिक जीवन एवं साधना से सम्बन्धित नहीं हैं। जब हम समता को धर्म कहते हैं तो वह समत्व व्यक्ति और समाज दोनों का है। वैयक्तिक समता के बिना सामाजिक समता सम्भव नहीं है। व्यक्ति और समाज एक दुगरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि उन्हें चाहे अलग-अलग देखें और जानें, किन्तु उन्हें कभी भी अलग-अलग किया नहीं जा सकता।

मोक्ष : आत्म पूर्णता

नैतिक जीवन का साध्य केवल समत्व का संस्थापन ही नहीं है, वरन् इससे भी अधिक है, और वह है आत्मपूर्णता की दिशा में प्रगति। क्योंकि जब तक अपूर्णता है, समत्व के विचलन की सम्भावनाएँ भी हैं। अपूर्णता की अवस्था में सदैव ही चाह (Want) उपस्थित रहती है और जब तक कोई भी चाह बनी हुई है, समत्व नहीं हो सकता। कामना, वासना और चाह सभी असन्तुलन की सूचक हैं, उनकी उपस्थिति में समत्व सम्भव नहीं होता। समत्व तो पूर्ण निष्काम एवं अतारक्य जीवन में सम्भव

है। जब तक अपूर्णता है, कामना है; और जब तक कामना है, समत्व नहीं है। अतः पूर्ण समत्व के लिए आत्मपूर्णता आवश्यक है। हमारे व्यावहारिक जीवन में भी हमारा प्रयत्न चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक पक्षों के विकास के निमित्त होता है। अन्तर्चेतना सदैव ही इस दिशा में प्रयत्नशील रहती है कि हम अपनी ही चेतना के इन तीनों पक्षों की देश-कालगत सीमाओं का अतिक्रमण कर सकें। व्यक्ति अपनी ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक क्षमताओं की पूर्णता चाहता है। सीमितता और अपूर्णता का बोध व्यक्ति के मन की एक कसक है और वह सदैव ही इस कसक से छुटकारा पाना चाहता है। उसकी सीमितता और अपूर्णता जीवन की यह प्यास है, जो पूर्णता के जल से परिणाम होना चाहती है। जब तक आत्मपूर्णता को प्राप्त नहीं कर लिया जाता, तब तक पूर्ण समत्व नहीं होता; और जब तक पूर्ण समत्व नहीं होता, आध्यात्मिक पूर्णता भी सम्भव नहीं होती। आध्यात्मिक पूर्णता, आत्मपूर्णता और पूर्ण समत्व एक दूसरे के पर्यायवाची ही हैं। काण्ट ने नैतिक विकास की दृष्टि से आत्मा की अमरता को अनिवार्य माना है। नैतिक पूर्णता भी आत्मपूर्णता की अवस्था में ही सम्भव है। यह पूर्णता या अनन्त तक प्रगति, केवल इस मान्यता पर निर्भर है कि व्यक्तित्व में उस पूर्णता को प्राप्त करने की क्षमता है और उस अनन्तता या पूर्णता तक पहुँचने के लिए उसकी स्थिरता भी अनन्त है। दूसरे शब्दों में आत्मा अमर है। काण्ट ने अनन्त की दिशा में नैतिक प्रगति के लिए आत्मा की अमरता पर बल दिया, लेकिन अरबन ने प्रगति को भी नैतिकता की एक स्वतन्त्र मान्यता कहा है। यदि नैतिक प्रगति की सम्भावना को स्वीकार नहीं किया जायेगा, तो नैतिक जीवन का महान उद्देश्य समाप्त हो जायेगा और नैतिकता पारस्परिक सम्बन्धों की एक कहानी मात्र रहेगी।

पाश्चात्य जगत में नैतिक प्रगति का तात्पर्य मात्र सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक जीवन की प्रगति है; जबकि भारतीय दर्शन में नैतिक प्रगति से तात्पर्य, व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास है। मोक्ष, निर्वाण या परमात्मा की उपलब्धि के रूप में नैतिक पूर्णता की प्राप्ति को सम्भव मानना नैतिक जीवन की दृष्टि से अति आवश्यक है। यदि आत्मपूर्णता या परमश्रेय की प्राप्ति सम्भव नहीं है, तो सदाचरण, नैतिक जीवन और नैतिक प्रगति का कोई अर्थ नहीं रहेगा। नैतिक प्रगति के अन्तिम चरण के रूप में आध्यात्मिक पूर्णता या आत्मपूर्णता आवश्यक है।

वस्तुतः हमारी चेतना में अपनी अपूर्णता का जो बोध है, वह स्वयं ही हमारे अन्तर्मुख में निहित पूर्णता का संकेत है। हमें अपनी अपूर्णता का स्पष्ट बोध है, लेकिन यह अपूर्णता का स्पष्ट बोध बिना पूर्णता के या बिना प्रत्यय के सम्भव नहीं। यदि

हमारी चेतना या आत्मा, अनन्त या पूर्ण न हो तो हमें अपनी अपूर्णता का बोध भी नहीं हो सकता। ब्रेडले का कथन है कि चेतना अनन्त है, क्योंकि वह अनुभव करती है कि उसका क्षमताएँ सांत एवं सीमित हैं। लेकिन सीमा या अपूर्णता को जानने के लिए असीम एवं पूर्ण होना आवश्यक है। जब हमारी चेतना यह ज्ञान रखती है कि वह सांत सीमित या अपूर्ण है तो उसका यह सीमित होने का ज्ञान स्वयं इस सीमा को पार कर जाता है। इस प्रकार ब्रेडले भी आत्मा (Self) में निहित पूर्णता का संकेत करते हैं।^१ आत्मा पूर्ण है, यह बात भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए नयी नहीं है। लेकिन इस आत्मपूर्णता का अर्थ यह नहीं कि हम पूर्ण हैं। पूर्णता हमारी क्षमता (Capacity) है, योग्यता (Ablity) नहीं। पूर्णता के प्रकाश में हमें अपनी अपूर्णता का बोध होता है। अपूर्णता का बोध पूर्णता की उपस्थिति का संकेत अवश्य है, लेकिन वह पूर्णता की उपलब्धि नहीं है। जैसे दूध में प्रतीत होने वाली स्थिरता उसमें निहित मक्खन की सूचक अवश्य है, लेकिन मक्खन की उपलब्धि नहीं है। जैसे दूध में निहित मक्खन को पाने के लिए प्रयत्न आवश्यक है वैसे आत्मा (Self) में निहित पूर्णता की उपलब्धि के लिए प्रयत्न आवश्यक है। नैतिकता या सदाचरण उसी सम्यक् प्रयत्न का सूचक है, जिसके माध्यम से हम उस पूर्णता को उपलब्ध कर सकते हैं। हैडफील्ड लिखते हैं कि “हम जो कुछ हैं वही हमारा ‘स्व’ (Self) नहीं है, यरन हमारा ‘स्व’ वह है जो कि हम हो सकते हैं।”^२ हमारी सम्भावनाओं में ही हमारी सत्ता अभिव्यक्त होती है और इसी अर्थ में आत्मपूर्णता हमारा साध्य भी है। जैसे एक बालक में निहित समग्र क्षमताएँ जहाँ एक ओर उसकी सत्ता में निहित हैं वहीं दूसरी ओर उसका साध्य है। ठीक इसी प्रकार आत्मपूर्णता हमारा साध्य है। यदि हम आत्मपूर्णता को नैतिक जीवन या धर्म साधना का परम साध्य मानते हैं, तो हमें यह भी स्पष्ट करना होगा कि आत्मपूर्णता का तात्पर्य क्या है? आत्मपूर्णता का तात्पर्य आत्मोपलब्धि ही है, वह स्व में ‘स्व’ को पाना है। लेकिन जिस आत्मा या ‘स्व’ को उपलब्ध करना है वह सीमित या अपूर्ण आत्मा नहीं, वरन् ऐसी आत्मा है जो समग्र वासनाओं, संकल्पों एवं संघर्षों से ऊपर है, विशुद्ध दृष्टि एवं साक्षी स्वरूप है। हमारी शुद्ध सत्ता हमारे ज्ञान, भाव और संकल्प सभी का आधार होते हुए भी सभी से ऊपर एक निर्विकल्प, वीतराग, साक्षी आत्म-सत्ता की स्थिति है। इसी स्थिति की उपलब्धि को पूर्णात्मा का साक्षात्कार, परम

आत्मा की उपलब्धि कहा जाता है। पाश्चात्य दर्शन में पूर्णता के दो अर्थ रहे हैं—एक अर्थ में वह चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्प के मध्य सांग सन्तुलन है तो दूसरी ओर वह वैयक्तिक सीमाओं और सीमितताओं से ऊपर उठना है, ताकि समाज के अन्य बटकों और हमारे बीच का द्वैत समाप्त हो सके और व्यक्ति एक महापुरुष के रूप में समाज का मार्गदर्शन कर सके। ब्रेडले का कथन है कि “मैं अपने को नैतिक रूप से अभिव्यक्त तभी करता हूँ, जब मेरी आत्मा मेरी निजी आत्मा नहीं रह जाती, जब मेरा संकल्प अन्य लोगों के संकल्प से भिन्न नहीं रह जाता और जब मैं दूसरों के संसार में केवल अपने को पाता हूँ। आत्मानुभूति का अर्थ है। असीम व अनन्त हो जाना, अपने व पराये के अन्तर को मिटा देना।”^३ यह है परासीतिक स्तर पर आत्मानुभूति का अर्थ। मौलैज्ञानिक स्तर पर आत्मानुभूति का अर्थ होगा हमारी सम्पूर्ण बौद्धिक, नैतिक एवं कलात्मक योग्यताओं तथा क्षमताओं की अभिव्यक्ति। यदि हम अपनी कामनाओं एवं उद्देश्यों को एक साथ रखकर देखें तो सभी विशेष उद्देश्य कुछ सामान्य और व्यापक उद्देश्यों के अन्तर्गत आ जाते हैं जो परस्पर मिलकर एक समन्वयात्मक समुच्चय बन जाते हैं। इसी समन्वयात्मक समुच्चय में हमारी आत्मा पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होती है।^४

भारतीय परम्परा में पूर्णता का अर्थ थोड़ा भिन्न है। पाश्चात्य परम्परा में आत्मा (Self) का अर्थ व्यक्तित्व है और जब हम पाश्चात्य परम्परा में आत्मपूर्णता की बात कहते हैं तो उसका तात्पर्य है व्यक्तित्व की पूर्णता। व्यक्तित्व का तात्पर्य है शरीर और चेतना। लेकिन अधिकांश भारतीय दर्शन आत्मा को तात्त्विक ‘सत्’ के रूप में लेते हैं। अतः भारतीय चिन्तन के अनुसार आत्मपूर्णता का अर्थ अपनी तात्त्विक सत्यता की व्ययवा परमार्थ की उपलब्धि है। यों भारतीय परम्परा में आत्मपूर्णता का अर्थ आत्मा की ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक शक्तियों की पूर्णता भी मान्य है। भारतीय चिन्तन और विशेष रूप से जैन चिन्तन के अनुसार मनुष्य के ज्ञान, भाव और संकल्प का अनन्त ज्ञान, अनन्त सौख्य (आनन्द) और अनन्त शक्ति के रूप में अभिव्यक्त हो जाना ही आत्मपूर्णता है। यही वह अवस्था है जिसमें आत्मा परमात्मा बन जाता है। आत्मा की शक्तियों का अनावरण एवं पूर्ण अभिव्यक्ति, यही परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति है, और यही आत्मपूर्णता है।

१ देखें Ethical Studies, chapter II

उद्धृत जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृ. ४१२।

२ Psychology and Morals, p. 183.

३ Ethical Studies p. 11

४ Ibid p. 11

मोक्ष : आत्म-साक्षात्कार

आत्म पूर्णता "पर" या पूर्व-अनुपस्थित वस्तु की उपलब्धि नहीं वरन् आत्मोपलब्धि ही है। यह एक ऐसी उपलब्धि है, जिसमें पाना कुछ भी नहीं, वरन् सब कुछ खो देना है। यह पूर्ण रिक्तता एवं शून्यता है। सब कुछ खो देने पर सब कुछ पा लिया जाता है। पूर्ण रिक्तता पूर्णता बनकर प्रकट हो जाती है। भौतिक स्तर पर "पर" को पाकर "स्व" को खोते हैं लेकिन आध्यात्मिक जीवन में "पर" को खोकर "स्व" को पा जाते हैं। जैन दर्शन में इसे यह कहकर प्रकट किया गया है कि जितनी पर-परिणति या पृथगल-परिणति है उतना ही आत्म विस्मरण है, "स्व" को खोना है और जितना पर-परिणति या पृथगल-परिणति का अभाव है उतना ही आत्मरमण या "स्व" की उपलब्धि है। हमारी जितनी "पर" में आसक्ति होती है, उतने ही हम "स्व" से दूर होते हैं। इसके विपरीत "पर" में आसक्ति का जितना अभाव होता है, उतना ही हम "स्व" या आत्मा के समीप होते हैं। जितनी मात्रा में वासनाएँ, अहंकार और चित्त-विकल्प कम होते हैं, उतनी ही मात्रा में हमें आत्मोपलब्धि या आत्मसाक्षात्कार होता है। जब चेतना में इनका पूर्ण अभाव हो जाता है, तो आत्मसाक्षात्कार आत्मपूर्णता के रूप में प्रकट हो जाता है।

जैन नैतिकता का साध्य भी आत्मोपलब्धि या आत्म-साक्षात्कार ही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि "मोक्षकामी को आत्मा को जानना चाहिए, आत्मा पर ही श्रद्धा करना चाहिए और आत्मा की ही अनुभूति (अनुचरितव्य) करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, प्रत्याख्यान (त्याग), संवर (संयम) और योग सब अपने आपको पाने के साधन हैं। क्योंकि यही आत्मा ज्ञान में है, दर्शन में है, चारित्र्य में है, त्याग में है, संवर में है और योग में है।"^१ आचार्य कुन्दकुन्द के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक क्रियाएँ आत्मोपलब्धि ही हैं। व्यवहारमय से जिन्हें ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य कहा गया है, निश्चयनय से वह आत्मा ही है। इस प्रकार नैतिक जीवन का लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार या आत्मलाभ है।

साध्य, साधक और साधना का पारस्परिक सम्बन्ध

जैन धर्म में साध्य और साधक में अभेद माना गया है। समयसार टीका में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं कि परद्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि ही सिद्धि है।^२ आचार्य हेमचन्द्र साध्य और साधक में अभेद बताते हुए लिखते हैं

कि कषायों और इन्द्रियों से पराजित आत्मा ही संसार है और उनको विजित करने वाला आत्मा ही प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मोक्ष कहा जाता है।^३ अध्यात्मतत्त्वालोक में मुनि न्यायविजयजी कहते हैं कि आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है। जहाँ तक आत्मा कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत है, संसार है, और उनको ही जब अपने वशीभूत कर लेता है मोक्ष कहा जाता है।^४ इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म का साध्य अर्थात् मोक्ष और साधक दोनों ही आत्मा की दो अवस्थाएँ (पर्याय) हैं। दोनों में मौलिक अन्तर यही है कि आत्मा जब तक विषय और कषायों के वशीभूत होता है तब तक बन्धन में होता है और जब उन का विजय प्राप्त कर लेता है तब वही मुक्त बन जाता है। आत्मा की वासनाओं के मल से युक्त अवस्था ही उसका बन्धन कही जाती है और विशुद्ध आत्म तत्त्व की अवस्था ही मुक्ति कही जाती है। इसी प्रकार आसक्ति को बन्धन और अनासक्ति को मुक्ति मानना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।

जैन धर्म में साध्य और साधक दोनों में अन्तर केवल इस बात को लेकर है कि आत्मा की विभाव दशा ही साधक की अवस्था है और आत्मा की स्वभाव दशा ही सिद्धावस्था है। जैन साधना का लक्ष्य अथवा आदर्श कोई बाह्य तत्त्व नहीं, वह तो साधक का अपना ही निजरूप है। उसकी ही अपनी पूर्णता की अवस्था है। साधक का आदर्श उसके बाहर नहीं वरन् उसके अन्दर ही है। साधक को उसे पाना भी नहीं है, क्योंकि पाया तो वह जाता है जो व्यक्ति में अपने में नहीं हो अथवा अपने से बाह्य हो। धर्म साधना का साध्य बाह्य उपलब्धि नहीं, आन्तरिक उपलब्धि है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह अपना ही अनावरण है, अपने आपको उघाड़ना है, अपने निज गुणों का पूर्ण प्रकटन है। यहाँ भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा के निज गुण या स्व लक्षण तो सदैव ही उसमें उपस्थित हैं, साधक को केवल उन्हें प्रकटित करना है। हमारी क्षमताएँ साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था में वही हैं। साधक और सिद्ध अवस्था में अन्तर क्षमताओं का नहीं, वरन् क्षमताओं को योग्यताओं में बदल देने का है। जैसे बीज वृक्ष के रूप में विकसित होता है वैसे ही मुक्तावस्था में आत्मा के निज गुण पूर्ण रूप में प्रकटित हो जाते हैं। साधक आत्मा के ज्ञान, भाव (अनुभूति) और संकल्प के तत्त्व ही मोक्ष की अवस्था में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति के रूप में प्रकट हो जाते हैं। वह आत्मा जो

१ समयसार १५-१८ एवं उसकी आत्मरूपाति टीका।

२ समयसार, आत्मरूपाति टीका ३०५।

३ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) ४/५।

४ अध्यात्मतत्त्वालोक, ४/६।

कषाय और राग-द्वेष से युक्त है और इनसे युक्त होने के कारण बद्ध, संश्लिष्ट और अपूर्ण है, वही आत्मतत्त्व अन्तर्गत है, अन्तर्गत दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति को प्रकट कर मुक्त एवं पूर्ण बन जाता है। उपाध्याय अमर मुनिजी के शब्दों में जैन साधना के स्व में स्व को उपलब्ध करना है, निज में निज की शोध करना है, अन्तर्गत में पूर्णरूपेण रममाण होना है—आत्मा के बाहर एक कण में भी साधक की उन्मुखता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन विचारणा में तात्त्विक दृष्टि से माध्य और साधक दोनों एक ही हैं। यद्यपि पर्यायाधिक दृष्टि या व्यवहारणय से उसमें भेद माना गया है। आत्मा की स्वभाव पर्याय या स्वभाव की ओर आना यही साधना है।

साधना पथ और साध्य

जिस प्रकार साधक और साध्य में अभेद माना गया है, उसी प्रकार साधना मार्ग और साध्य में भी अभेद है। जीवात्मा अपने ज्ञान, अनुभूति और संकल्प के रूप में साधक कहा जाता है, उसके यही ज्ञान, अनुभूति और संकल्प सम्यक् दिशा में नियोजित होने पर साधना पथ बन जाते हैं और वे ही जब अपनी पूर्णता को प्रकट कर लेते हैं तो सिद्ध बन जाते हैं। जैन धर्म के अनुसार सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र्य और सम्यक्-तप क्रमशः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति की उपलब्धि कर लेते हैं तो यही अवस्था सिद्धि बन जाती है। आत्मा का ज्ञानात्मक पक्ष सम्यक् ज्ञान की साधना के द्वारा अनन्त ज्ञान को प्रकट कर लेता है, आत्मा का अनुभूत्यात्मक पक्ष सम्यक्-दर्शन की साधना के द्वारा अनन्त-दर्शन की उपलब्धि कर लेता है, आत्मा का संकल्पात्मक पक्ष सम्यक्-चारित्र्य की साधना के द्वारा अनन्त सौख्य की उपलब्धि कर लेता है और आत्मा की क्रियाशक्ति सम्यक्-तप की साधना के द्वारा अनन्त शक्ति की उपलब्धि कर लेती है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि जो साधक चेतना का स्वरूप है वही सम्यक् बन कर साधना पथ बन जाता है और उसी की पूर्णता साध्य होती है। इस प्रकार साधक, साधना पथ और साध्य सभी आत्मा की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

आत्मा की विभाव दशा अर्थात् उसकी विषय-वासनाओं में आसक्ति या रागभाव उसका बन्धन है, अपने इस रागभाव, आसक्ति या ममता को तोड़ने का जो प्रयास है, वही साधना है और उस आसक्ति, ममत्व या रागभाव का टूट जाना ही मुक्ति है। यही आत्मा का परमात्मा बन जाना है। जैन साधकों ने आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी हैं—

- (१) बहिरात्मा,
- (२) अन्तरात्मा, और
- (३) परमात्मा।

सन्त आनन्दधन जी कहते हैं—

त्रिविध सकल तनुधर गत आत्मा,

बहिरात्म अघरूप मुज्ञानी।

बीजो अन्तर आत्मा तीसरो,

परमात्म अविच्छेद मुज्ञानी॥

विषय-भोगों में उलझा हुआ आत्मा बहिरात्मा है। संसार के विषय-भोगों में उदासीन साधक अन्तरात्मा है और जिसने अपनी विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है, जो विषय-विकार से रहित अन्तर्गत चतुष्टय से युक्त होकर ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित है, वह परमात्मा है।

आत्मा और परमात्मा में सम्बन्ध

जैन धर्म में आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर कहा गया है—

“अप्या सो परमप्या”।

आत्मा ही परमात्मा है।

प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक चेतनसत्ता परमात्मस्वरूप है।

मोह और ममता और तदजनित कर्मवर्गणों के कोहरे में हमारा वह परमात्म-स्वरूप छुप गया है। जैसे बादलों के आवरण में सूर्य का प्रकाशपूज छिप जाता है और अन्धकार घिर जाता है, उसी प्रकार मोह-ममता और राग-द्वेषरूपी कर्मवर्गणों के आवरण से आत्मा का अनन्त आनन्द स्वरूप तिरोहित हो जाता है और जीव दुःख और पीड़ा से भर जाता है।

आत्मा और परमात्मा में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। धान और चावल एक ही है, अन्तर मात्र इतना है कि एक आवरण (छिलके) सहित है और दूसरा निरावरण (छिलके-रहित)। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा एक ही है, फर्क केवल कर्म रूप आवरण का है।

जिस प्रकार धान के सुमधुर भात का आस्वादन तभी प्राप्त हो सकता है जब उसका छिलका उतार दिया जावे; उसी प्रकार अपने ही परमात्म स्वरूप की अनुभूति तभी सम्भव है जब हम अपनी चेतना से मोह-ममता और राग-द्वेष की खोल को उतार फेंके। छिलके-सहित धान के समान मोह-ममता की खोल में जकड़ी हुई चेतना आत्मा है और छिलके-रहित शुद्ध शुभ्र चावल के रूप में निरावरण शुद्ध चेतना परमात्मा है। कहा है—

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोय सिद्ध होय।

कर्म मल का ओतरा, ब्रह्मे बिरसा कोय॥

मोह-ममता रूपी परदे को हटाकर उस पार रहे हुए अपने ही परमात्मस्वरूप का दर्शन सम्भव है। हमें प्रयत्न परमात्मा को पाने का नहीं, इस परदे को हटाने का करना है, परमात्मा तो उपस्थित है ही। हमारी गलती यही है कि हम परमात्म स्वरूप को प्राप्त करना तो चाहते हैं, किन्तु इस आवरण को हटाने का प्रयास नहीं करते। हमारे प्रयत्नों की दिशा यदि सही हो तो

अपने में ही निहित परमात्मा दर्शन दूर नहीं है। हमारा दुर्भाग्य तो यही है कि आज स्वामी का दास बना हुआ है। हमें अपनी हस्ती का अहसास ही नहीं है। किसी उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है—

इन्सा की खदबस्ती अन्दाज से बाहर है।

कमबस्त खुदा होकर बंदा नजर आता है ॥

जैनदर्शन में वीतराग का जीवनादर्श

जैन-दर्शन में नैतिक जीवन या साधना का परमसाध्य वीतरागता की प्राप्ति रहा है। जैन-दर्शन में वीतराग एवं अरिहन्त (अर्हत्) इसी जीवनादर्श के प्रतीक हैं। वीतराग की जीवन-शैली क्या होती है, इसका वर्णन जैनागमों में यत्र-तत्र बिखरा हुआ है। संक्षेप में उन आधारों पर उसे इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। जैनागमों में आदर्श पुरुष के लक्षण बताते हुए कहा गया है “जो ममत्व एवं अहंकार से रहित है, जिसके चित्त में कोई आसक्ति नहीं है और जिसने अभिमान का त्याग कर दिया है, जो प्राणिमात्र के प्रति समभाव रखता है। जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, मान-अपमान और निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखता है। जिसे न इस लोक की और न परलोक की कोई अपेक्षा है, किसी के द्वारा चन्दन का लेप करने पर और किसी के द्वारा वसूले के छीलने पर, जिनके मन में लेप करने वाले पर राग-भाव और वसूले के छीलने वाले पर द्वेष-भाव नहीं होता, जो खाने में और अनशन व्रत करने में समभाव रखता है, वही महापुरुष है।” जिस प्रकार अग्नि से शुद्ध किया हुआ सोना निर्मल होता है, उसी प्रकार जो राग-द्वेष और भय आदि से रहित है, वह निर्मल है। जिस प्रकार कमल कीचड़ एवं पानी में उत्पन्न होकर भी उसमें लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जो संसार के काम-भोगों में लिप्त नहीं होता, भाव से सदैव ही विरत रहता है। उस विरतात्मा, अनासक्त पुरुष को इन्द्रियों के शब्दादि विषय भी मन में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं करते। जो विषय रागी व्यक्तियों को दुःख देते हैं, वे वीतरागी के लिए दुःख के कारण नहीं होते हैं। वह राग, द्वेष और मोह के अध्यवसायों की दोष-रूप जानकर सदैव उनके प्रति जाग्रत रहता हुआ माध्यस्थ्यभाव रखता है। किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प नहीं करता हुआ तृष्णा का प्रहाण कर देता है। वीतराग पुरुष राग-द्वेष और मोह का प्रहाण कर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का क्षय कर कृतकृत्य हो जाता है। इस प्रकार मोह, अन्तराय और व्यास्रवों से रहित वीतराग सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होता है। वह शुक्ल-ध्यान और सुसमाधि सहित होता है और आयु का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।^{१२}

धर्मसाधना का स्वरूप

धर्म के स्वरूप एवं साध्य की इस चर्चा के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम इस प्रश्न पर भी विचार करें कि धर्म साधना क्या है? धर्म को जीवन में किस प्रकार जीया जा सकता है? क्योंकि धर्म साधना का तात्पर्य धर्म को जीवन में जीना है। धर्म जीवन जीने की एक कला है और उससे अलग होकर उसका ग तो कोई अर्थ है और न कोई मूल्य ही। धर्म के स्वरूप की चर्चा में हमने जो कुछ निष्कर्ष रूप में पाया था वह यह कि “समता धर्म है और समता अधर्म है।” इसके साथ हमने यह भी देखा कि मनुष्य की व्यक्तिगत या सामाजिक जो भी पीड़ाएँ हैं, दुःख हैं वे सब उसकी समत्वबुद्धि, रागभाव और आसक्ति के परिणाम हैं। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि “समता दुःख का मूल है और समता सुख का मूल”। जीवन में समता जितनी छूटेगी और समता जितनी प्रकटित होगी, उतना ही दुःख कम होगा और व्यक्ति आनन्द का अनुभव करेगा। समता और तृष्णा को छोड़ने से ही जीवन में समता और सुख को पाया जा सकता है और दूसरे शब्दों में कहें तो धर्म को जीवन में जीया जा सकता है। किन्तु समता या राग-भाव का छूटना या छोड़ना अत्यन्त दुर्लभ या कठिन कार्य है। जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के कारण हमारे जीवन में समता और तृष्णा के तत्व इतनी गहराई तक पैठे हुए हैं कि उन्हें निकाल पाना सहज नहीं है। वीतराग, अनासक्ति या वीततृष्ण होने की बात कही तो बड़ी सरलता से जा सकती है, किन्तु जीवन में उसकी साधना करना अत्यन्त कठिन है। अनेक बार यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि कोई व्यक्ति वीतराग, वीततृष्ण या अनासक्त होकर कैसे जीवन जी सकेगा? जब जीवन में समता नहीं होगी, अपनेपन का बोध नहीं होगा, चाह नहीं होगी तो व्यक्ति को जीवन जीने का कौन सा आकर्षण रह जायेगा। समता और चाह (तृष्णा) वस्तुतः हमारे जीवन व्यवहार के प्रेरक तत्व हैं। व्यक्ति किसी के लिए भी जो कुछ करता है, वह अपने ममत्व या रागभाव के कारण करता है, चाहे वह राग प्रशस्त हो या अप्रशस्त अथवा वह फिर अपनी किसी इच्छा (तृष्णा) की पूर्ति के लिए करता है। यदि राग और तृष्णा के ये दोनों तत्व जीवन से निकल जायें तो जीवन नीरस और निष्क्रिय हो जायेगा क्योंकि राग या समता के कारण जीवन में रस है और चाह के कारण सश्रियता। किन्तु यह दृष्टिकोण पूर्णतः सत्य नहीं है। आसक्ति, ममत्व या तृष्णा के अभाव में भी कर्तव्य भाव और विवेक-युक्त कर्तव्य के आधार पर जीवन जिया जा सकता है। यह सत्य है कि अनासक्त होकर मात्र कर्तव्यबोध या

निष्काम भाव से जीवन जीना कुछ बिरले लोगों के लिए सम्भव हो सकता है, जनसामान्य के लिए यह सम्भव नहीं है। किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि ममता, आसक्ति या तृष्णा ही सभी दुःखों की जड़ है, संसार के सारे संघर्षों का कारण है। उसे छोड़े या उस पर नियन्त्रण किये बिना न तो व्यक्तिगत जीवन में और न सामाजिक जीवन में सुख-शान्ति आ सकती है। यही मानव-जीवन का विरोधाभास है। एक ओर ममत्व और कामना (चाह) सरस एवं सक्रिय जीवन के अनिवार्य तत्व हैं तो दूसरी ओर वे ही दुःख और संघर्ष के कारण भी हैं। जैन और बौद्ध परम्पराओं में जीवन को जो दुःखमय कहा गया है उसका कारण यही है। ममत्व और कामना (तृष्णा) के बिना जीवन चलता नहीं है और जब तक वे उपस्थित हैं जीवन में सुख-शान्ति सम्भव नहीं है।

चाहे एक बार हम इस बात को मान भी लें कि जीवन में पूर्णतया अनासक्ति या निर्भमत्व लावा नहीं जा सकता, किन्तु साथ ही हमें यह भी मानना ही होगा कि यदि हम अपने जीवन को और मानव समाज को दुःख और पीड़ाओं से ऊपर उठाना चाहते हैं, तो ममता और कामना के त्याग अथवा उन पर नियन्त्रण के अतिरिक्त, अन्य कोई विकल्प भी नहीं है। जीवन में जब तक ममता की गाँठ टूटती नहीं है, आसक्ति छूटती नहीं है, कामना (तृष्णा) समाप्त नहीं होती है, तब तक आत्मिक शान्ति और सुख सम्भव नहीं है। यदि हमें सुख और शान्ति की अपेक्षा है, तो निश्चित रूप से आसक्ति और ममता की गाँठ को खोलना होगा और जीवन में समभाव और अनासक्ति (निष्कामता) को लावा होगा।

कर्मकाण्ड धर्मसाधना का लक्ष्य नहीं

सामान्यतया धर्म-साधना का सम्बन्ध कुछ विधि-विधानों, क्रियाकाण्डों, आचार-व्यवहार के विधि-निषेधों के साथ जोड़ा जाता है। हमसे कहा जाता है—'यह करो, और यह मत करो'। किन्तु हमें यह स्मरण रखना है कि ये बाह्य कर्मकाण्ड धार्मिक साधना के मूल तत्व नहीं हैं। यद्यपि मेरे कहने का यह तात्पर्य भी नहीं है कि धार्मिक जीवन में इनकी कोई उपयोगिता या सार्थकता नहीं है। आचार, व्यवहार या कर्मकाण्ड धार्मिक जीवन के सदैव से ही आवश्यक अंग रहे हैं और सदैव रहेंगे। किन्तु हमें एक बात का स्मरण रखना होगा कि यदि हमारे इन धार्मिक कहे जाने वाले क्रियाकाण्डों, विधि-विधानों या आचार-नियमों से हमारी आसक्ति या ममता छूटती नहीं है, चाह और चिन्ता में कमी होती नहीं है, जीवन में विवेक एवं आनन्द का प्रस्फुटन नहीं होता

है; तो ये सब निरर्थक हैं, उनका कोई मूल्य नहीं है। इनकी कोई उपादेयता नहीं। ये क्रियाकाण्ड साधन हैं, और साधनों का मूल्य तभी तक है जब तक वे साध्य की उपलब्धि में सहायक होते हैं। आइये, परखें और देखें कि जैन धर्म में धर्म साधना के उपाय कौन से हैं और इनकी मूल्यवत्ता क्या है?

त्रिविध साधना-मार्ग

जैन दर्शन मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधना मार्ग प्रस्तुत करता है। तत्त्वार्थ सूत्र के प्रारम्भ में ही कहा है सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य मोक्ष का मार्ग है।^१ उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र्य और सम्यक्-तप ऐसे चतुर्विध मोक्ष मार्ग का भी विधान है।^२ परवर्ती जैन आचार्यों ने तप का अन्तर्भाव चारित्र्य में किया है और इसलिए परवर्ती साहित्य में इसी त्रिविध साधना मार्ग का विधान मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार एवं नियमसार में, आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में त्रिविध साधना पथ का विधान किया है।

त्रिविध साधना मार्ग ही क्यों?

यह प्रश्न उठ सकता है कि त्रिविध साधना मार्ग का ही विधान क्यों किया गया है? वस्तुतः त्रिविध साधना मार्ग के विधान में पूर्ववर्ती ऋषियों एवं आचार्यों की गहन मनोवैज्ञानिक सूझ रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पक्ष माने गये हैं—ज्ञान, भाव और संकल्प। जीवन का साध्य चेतना के इन तीनों पक्षों के परिष्कार में माना गया है। अतः यह आवश्यक ही था कि इन तीनों पक्षों के परिष्कार के लिए त्रिविध साधना पथ का विधान किया जाये। चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यक् बनाने के लिए एवं उसके सही विकास के लिए सम्यग्दर्शन या श्रद्धा (भाव) की साधना का विधान किया गया। इसी प्रकार ज्ञानात्मक पक्ष के लिए ज्ञान का और संकल्पात्मक पक्ष के लिए सम्यक् चारित्र्य का विधान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिविध साधना-पथ के विधान के पीछे जैनों की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि रही है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं—बौद्ध दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में और गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग के रूप में भी त्रिविध साधना मार्ग के उल्लेख हैं।

पाश्चात्य चिन्तन में त्रिविध साधना-पथ

पाश्चात्य परम्परा^३ में तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं—

- (१) स्वयं को जानो
- (२) स्वयं को स्वीकार करो

१ तत्त्वार्थसूत्र, १/१।

२ साङ्कोसजी एण्ड मारत्स, पृ० १८०।

३ उत्तराध्ययन सूत्र २८/२।

(३) स्वयं ही बन जाओ

पाश्चात्य चिन्तन के ये तीन नैतिक आदेश जैन परम्परा के सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के त्रिविध साधनामार्ग के सम-कक्ष ही हैं। आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्व, आत्म-स्वीकृति में श्रद्धा का तत्व और आत्म-निर्माण में चारित्र्य का तत्व स्वीकृत ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिविध साधना-मार्ग के विधान में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परायें ही नहीं, पाश्चात्य विचारक भी एकमत हैं। तुलनात्मक रूप में उन्हें निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

जैन-दर्शन	बौद्ध-दर्शन	गीता	उपनिषद	पाश्चात्य दर्शन
सम्यग्ज्ञान	श्रद्धा, चित्त, समाधि	ज्ञान, परिप्रक्ष	मनन	Know thyself
सम्यग्दर्शन	प्रज्ञा	श्रद्धा, प्रणिपात	यवण	Accept thyself
सम्यक्चारित्र्य	शील, वीर्य	कर्म, सेवा	निदिध्यासन	Be thyself

साधना-श्रय परस्पर सम्बन्ध

जैन आचार्यों ने नैतिक साधना के लिए इन तीनों साधना-मार्गों को एक साथ स्वीकार किया है। उनके अनुसार नैतिक साधना की पूर्णता त्रिविध साधनापथ के समग्र परिपालन में ही सम्भव है। जैन विचारक तीनों के समवेत से ही मुक्ति मानते हैं। उनके अनुसार न अकेला ज्ञान, न अकेला कर्म और न अकेली भक्ति मुक्ति देने में समर्थ है जबकि कुछ भारतीय विचारकों ने इनमें से किसी एक को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर केवल ज्ञान से और रामानुज केवल भक्ति से मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं, लेकिन जैन-दार्शनिक ऐसी किसी एकान्तवादिता में नहीं पड़ते हैं। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना में ही मोक्ष सिद्धि सम्भव है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष या समस्वरूपी साध्य की प्राप्ति सम्भव नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं है उसका आचरण सम्यक् नहीं होता और सम्यक् आचरण के अभाव में आसक्ति से मुक्त नहीं हुआ जाता है और जो आसक्ति से मुक्त नहीं उसका निर्वाण या मोक्ष नहीं होता।^१ इस प्रकार शास्त्रकार यह स्पष्ट कर देता है कि निर्वाण या आत्मपूर्णता की प्राप्ति के लिए इन तीनों की समवेत रूप में

आवश्यकता है। वस्तुतः साध्य के रूप में जिस पूर्णता को स्वीकार किया गया है वह अंततः के किसी एक पक्ष की पूर्णता नहीं बरन् तीनों पक्षों की पूर्णता है और इसके लिए साधना के तीनों पक्ष आवश्यक हैं।

यद्यपि धर्म-साधना के लिए सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य या शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा श्रद्धा, ज्ञान और कर्म तीनों आवश्यक हैं, लेकिन साधना की दृष्टि से इनमें एक पूर्वापरता का क्रम भी है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का पूर्वापर सम्बन्ध

ज्ञान और दर्शन की पूर्वापरता को लेकर ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से जैन विचारणा में काफी विवाद रहा है। कुछ आचार्य दर्शन को प्राथमिक मानते हैं तो कुछ ज्ञान को, कुछ ने दोनों का योगपत्य (समानान्तरता) स्वीकार किया है। यद्यपि आचार्य-मीमांसा की दृष्टि से दर्शन की प्राथमिकता ही प्रबल रही है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता।^२ इस प्रकार ज्ञान की अपेक्षा दर्शन को प्राथमिकता दी गयी है। तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति ने भी अपने ग्रन्थ में दर्शन को ज्ञान और चारित्र्य के पहले स्थान दिया है।^३ आचार्य कुन्दकुन्द दर्शन-पाहुड़ में कहते हैं कि धर्म (साधनामार्ग) दर्शन-प्रधान है।^४

लेकिन दूसरी ओर कुछ सन्दर्भ ऐसे भी हैं जिनमें ज्ञान को प्रथम माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में, उसी अध्याय में मोक्ष मार्ग की विवेचना में जो क्रम है उसमें ज्ञान का स्थान प्रथम है।^५ वस्तुतः साधनात्मक जीवन की दृष्टि से भी ज्ञान और दर्शन में किसे प्राथमिक माना जाय, यह निर्णय करना सहज नहीं है। इस विवाद के मूल में यह तथ्य है कि श्रद्धावादी दृष्टिकोण सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान देता है, जबकि ज्ञानवादी दृष्टिकोण श्रद्धा के सम्यक् होने के लिए ज्ञान की प्राथमिकता को स्वीकार करता है। वस्तुतः इस विवाद में कोई ऐकान्तिक निर्णय लेना अनुचित ही होगा। यहाँ समन्वयवादी दृष्टिकोण ही संगत होगा। नवतत्त्वप्रकरण में ऐसा ही समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है जहाँ दोनों को एक दूसरे का पूर्वापर बताया है। कहा है कि जो जीवादि नव पदार्थों को यथार्थ रूप से जानता है उसे सम्यक्त्व होता है। इस प्रकार ज्ञान को दर्शन के पूर्व बताया गया है, लेकिन अगली पंक्ति में ही ज्ञानाभाव में केवल श्रद्धा से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति मान ली गई है और कहा गया है कि जो वस्तुतत्त्व को स्वतः नहीं जानता हुआ भी उसके प्रति भाव से श्रद्धा करता है उसे सम्यक्त्व ही जाता है।^६

१ उत्तराध्ययन, २८/३०।

२ तत्त्वार्थ. १/१।

३ उत्तराध्ययन, २८/२।

४ नवतत्त्वप्रकरण, संक्षुप्त आत्म-साधना संग्रह (मोतीलाल साह्योत) पृ. १५१।

५ उत्तराध्ययन, २८/३०।

६ दर्शनपाहुड़ २।

हम अपने दृष्टिकोण से इनमें से किसे प्रथम स्थान दें, इसका निर्णय करने के पूर्व दर्शन शब्द के अर्थ का निश्चय कर लेना जरूरी है। दर्शन शब्द के तीन अर्थ हैं—(१) यथार्थ दृष्टिकोण, (२) श्रद्धा और (३) अनुभूति। इसमें अनुभूतिपरक अर्थ का सम्बन्ध तो ज्ञानमीमांसा है और उस सम्बन्ध में वह ज्ञान का पूर्ववर्ती है। यदि हम दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ लेते हैं तो साधना-मार्ग की दृष्टि से उसे प्रथम स्थान देना चाहिए। क्योंकि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही भ्रम्य है, अथार्थ है तो न तो उसका ज्ञान सम्यक् (यथार्थ) होगा और न चारित्र्य ही। यथार्थ दृष्टि के अभाव में यदि ज्ञान और चारित्र्य सम्यक् प्रतीत भी हों, तो भी वे सम्यक् नहीं कहे जा सकते। वह तो सांयोगिक प्रसंग मात्र है। ऐसा साधक दिग्भ्रान्त भी हो सकता है। जिसकी दृष्टि ही दुषित है, वह क्या सत्य को जानेगा और क्या उसका आचरण करेगा? दूसरी ओर यदि हम सम्यग्दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ लेते हैं तो उसका स्थान ज्ञान के पश्चात् ही होगा। क्योंकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के बाद ही उत्पन्न हो सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ करते समय उसे ज्ञान के बाद ही स्थान दिया गया है, उसमें कहा गया है कि ज्ञान से पदार्थ (तत्त्व) स्वरूप को जाने और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करे।^१ व्यक्ति के स्वानुभव (ज्ञान) के पश्चात् ही जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसमें जो स्थायित्व होता है वह ज्ञानाभाव में प्राप्त हुई श्रद्धा से नहीं हो सकता। ज्ञानाभाव में जो श्रद्धा होती है, उसमें संशय होने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नहीं वरन् अन्धश्रद्धा ही हो सकती है। जिन-प्रणीत तत्वों में भी यथार्थ श्रद्धा तो उनके स्वानुभव एवं तार्किक परीक्षण के पश्चात् ही हो सकती है। यद्यपि साधना के लिए, आचरण के लिए श्रद्धा अविचार्य तत्व है, लेकिन वह ज्ञानप्रसूत होनी चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है कि धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करे, तत्त्वों से तत्त्व का विश्लेषण करे।^२ इस प्रकार मेरी मान्यता के अनुसार यथार्थ दृष्टिपरक अर्थ में सम्यग्दर्शन को ज्ञान के पूर्व लेना चाहिए, जबकि श्रद्धापरक अर्थ में उसे ज्ञान के पश्चात् स्थान देना चाहिए।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य का पूर्वापर सम्बन्ध

चारित्र्य और ज्ञान दर्शन के पूर्वापर सम्बन्ध को लेकर जैन-विचारणा में कोई विवाद नहीं है। चारित्र्य की अपेक्षा ज्ञान और

दर्शन की प्राथमिकता प्रदान की गई है। चारित्र्य साधना मार्ग में गति है, जब ज्ञान साधना पथ का बोध है और दर्शन यह विश्वास जाग्रत करता है कि वह पथ उसे अपने लक्ष्य की ओर ले जाने वाला है। सामान्य पथिक भी यदि पथ के ज्ञान एवं इस दृढ़ विश्वास के अभाव में कि वह पथ उनके वांछित लक्ष्य को जाता है, अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता तो फिर आध्यात्मिक साधना मार्ग का पथिक बिना ज्ञान और आस्था (श्रद्धा) के कैसे आगे बढ़ सकता है? उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ज्ञान से (यथार्थ साधना मार्ग को) जाने, दर्शन के द्वारा उस पर विश्वास करे और चारित्र्य से उस साधना मार्ग पर आचरण करता हुआ तप से अपनी आत्मा का परिशोधन करे।^३

यद्यपि लक्ष्य को पाने के लिए चारित्र्य रूप प्रयास आवश्यक है, लेकिन प्रवास को लक्ष्योन्मुख और सम्यक् होना चाहिए। मात्र अन्धे प्रयासों से लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ नहीं है तो ज्ञान यथार्थ नहीं होगा और ज्ञान के यथार्थ नहीं होने पर चारित्र्य या आचरण भी यथार्थ नहीं होगा। इसलिए जैन आगमों में चारित्र्य से दर्शन (श्रद्धा) की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्चारित्र्य नहीं होता।^४

भक्त परिज्ञा में कहा गया है कि दर्शन से भ्रष्ट (पतित) ही वास्तविक भ्रष्ट है, चारित्र्य से भ्रष्ट भ्रष्ट नहीं है, क्योंकि जो दर्शन से युक्त है वह संसार में अधिक परिभ्रमण नहीं करता जबकि दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होता। कदाचित् चारित्र्य से रहित सिद्ध भी हो जावे, लेकिन दर्शन से रहित कभी भी मुक्त नहीं होता।^५

वस्तुतः दृष्टिकोण या श्रद्धा ही एक ऐसा तत्व है जो व्यक्ति के ज्ञान और आचरण का सही दिशा-निर्देश करता है। आचार्य भद्रबाहु आचारांगनिर्युक्ति में कहते हैं कि सम्यक्दृष्टि से ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होते हैं।^६ सन्त आनन्दघन दर्शन की महत्ता को सिद्ध करते हुए अनन्तजिन के स्तवन में कहते हैं—

शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी,

छार (राख) पर लीपणु तेह जाणो रे।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की पूर्वापरता

जैन विचारकों ने चारित्र्य को ज्ञान के बाद ही रखा है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि जो जीव और जीव के स्वरूप को नहीं जानता, ऐसा जीव और अजीव के विषय में

१ उद्धृत, आत्मसाधना संग्रह, पृ. १५१।

२ उत्तराध्ययन, २८/३५।

३ भक्तपरिज्ञा, ६५-६६।

४ उत्तराध्ययन, २६/२५।

५ वही, २८/२६।

६ आचारांगनिर्युक्ति, २२१।

अज्ञानी साधक क्या धर्म (संयम) का आचरण करेगा ?^१ उत्तराध्ययनसूत्र में भी यही कहा है कि सम्यग्ज्ञान के अभाव में सदाचरण नहीं होता।^२ इस प्रकार जैन दर्शन ज्ञान को चारित्र्य से पूर्व मानता है। जैन दार्शनिक यह तो स्वीकार करते हैं कि सम्यक् आचरण के पूर्व सम्यक् ज्ञान का होना आवश्यक है, फिर भी वे यह स्वीकार नहीं करते हैं कि अकेला ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। ज्ञान आचरण का पूर्ववर्ती अवश्य है, यह भी स्वीकार किया गया है कि ज्ञान के अभाव में चरित्र सम्यक् नहीं हो सकता।^३ लेकिन यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या ज्ञान ही मोक्ष का मूल हेतु है ?

साधना त्रय में ज्ञान का स्थान

जैन-आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ज्ञान की चारित्र्य से पूर्वता को सिद्ध करते हुए एक चरम सीमा स्पर्श कर लेते हैं। वे अपनी समयसार टीका में लिखते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि ज्ञान का अभाव होने से अज्ञानियों में अन्तरंग व्रत, नियम, सदाचरण और तपस्या आदि की उपस्थिति होते हुए भी मोक्ष का अभाव है। क्योंकि अज्ञान तो बन्ध का हेतु है, जबकि ज्ञानी में अज्ञान का सद्भाव न होने से ब्रह्म व्रत, नियम, सदाचरण, तप आदि की अनुपस्थिति होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।^४ आचार्य शंकर भी यह मानते हैं कि एक ही कार्य ज्ञान के अभाव में बन्धन का हेतु और ज्ञान की उपस्थिति में मोक्ष का हेतु होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि कम नहीं ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है।^५ आचार्य अमृतचन्द्र भी ज्ञान को त्रिविध साधनों में प्रमुख मानते हैं। उनकी दृष्टि में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य भी ज्ञान के ही रूप हैं। वे लिखते हैं कि मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य हैं। जीवादि तत्वों के यथार्थ श्रद्धान रूप से तो जो ज्ञान है वह तो सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञान-स्वभाव में ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि के त्याग-स्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक्चारित्र्य है। इस प्रकार ज्ञान ही परमार्थतः मोक्ष का कारण है।^६

यहाँ पर आचार्य दर्शन और चारित्र्य को ज्ञान के अन्य दो पक्षों के रूप में सिद्ध कर मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु सिद्ध करते हैं। उनके दृष्टिकोण के अनुसार दर्शन और चारित्र्य भी ज्ञानात्मक हैं, ज्ञान की ये पर्यायें हैं। यद्यपि यहाँ हमें यह स्मरण

रखना चाहिए कि आचार्य मात्र ज्ञान की उपस्थिति में मोक्ष के सद्भाव की कल्पना करते हैं, फिर भी वे अन्तरंग चारित्र्य की उपस्थिति से इन्कार नहीं करते हैं। अन्तरंग चारित्र्य तो कषाय आदि के क्षय के रूप में सभी साधकों में उपस्थित होता है। साधक और साध्य विवेचन में हम देखते हैं कि साधक आत्मा परमाधिक दृष्टि से ज्ञानमय ही है और वही ज्ञानमय आत्मा उसका साध्य है। इस प्रकार ज्ञानस्वभावमय आत्मा ही मोक्ष का उपादान कारण है। क्योंकि जो ज्ञान है, वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञान है।^७ अतः मोक्ष का हेतु ज्ञान ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार जैन-आचार्यों ने साधना त्रय में ज्ञान को अत्यधिक महत्त्व दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र का उपर्युक्त दृष्टिकोण तो जैनदर्शन को शंकर के निकट खड़ा कर देता है। फिर भी यह मानना कि जैन-दृष्टि में ज्ञान ही मात्र मुक्ति का साधन है, जैन विचारणा के मौलिक मन्तव्य से दूर होना है। यद्यपि जैन साधना में ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति का प्राथमिक एवं अनिवार्य कारण है, फिर भी वह एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता। ज्ञान-भाव में मुक्ति सम्भव नहीं है, किन्तु मात्र ज्ञान से भी मुक्ति सम्भव नहीं है। जैन-आचार्यों ने ज्ञान को मुक्ति का अनिवार्य कारण स्वीकार करते हुए यह बताया कि श्रद्धा और चारित्र्य का आदर्शोन्मुख एवं सम्यक् होने के लिए ज्ञान महत्त्वपूर्ण तथ्य है, सम्यग्ज्ञान के अभाव में श्रद्धा अन्धश्रद्धा होगी और चारित्र्य या सदाचरण एक ऐसी कागजी मुद्रा के समान होगा, जिसका चाहे बाह्य मूल्य हो, लेकिन आन्तरिक मूल्य शून्य ही है। आचार्य कुन्दकुन्द, जो ज्ञानवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे भी स्पष्ट कहते हैं कि कोरे ज्ञान से निर्वाण नहीं होता यदि श्रद्धा न हो और केवल श्रद्धा से भी निर्वाण नहीं होता यदि संयम (सदाचरण) न हो।^८

जैन-दार्शनिक शंकर के समान न तो यह स्वीकार करते हैं कि मात्र ज्ञान से मुक्ति हो सकती है, न रामानुज प्रभृति भक्ति मार्ग के आचार्यों के समान यह स्वीकार करते हैं कि मात्र भक्ति से मुक्ति होती है। उन्हें भीमांसा दर्शन की यह मान्यता भी ग्राह्य नहीं है कि मात्र कर्म से मुक्ति हो सकती है। वे तो श्रद्धा-समन्वित ज्ञान और कर्म दोनों से मुक्ति की सम्भावना स्वीकार करते हैं।

१ दशवैकालिक, ४/१२।

२ व्यवहारभाष्य, ७/२१७।

३ गीता (शर्.०) अ. ५ पीठिका।

४ आचारांग, जे आया से विज्ञाया, जे विज्ञाया से आया।

जेण धियाणइ से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए। १/५/५

५ प्रवचनसार, चारित्र्याधिकार, ३।

२ उत्तराध्ययन, २८/३०।

४ समयसार टीका, १५३।

६ समयसार टीका, १५५।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य का पूर्वापर सम्बन्ध भी ऐकान्तिक नहीं—जैन विचारणा के अनुसार साधन-त्रय में एक क्रम तो माना गया है यद्यपि इस क्रम को भी ऐकान्तिक रूप में स्वीकार करना उसकी स्याद्वाद की धारणा का अतिक्रमण ही होगा। क्योंकि जहाँ आचरण के सम्यक् होने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन आवश्यक हैं वहीं दूसरी ओर सम्यग्ज्ञान एवं दर्शन की उपलब्धि के पूर्व भी आचरण का सम्यक् होना आवश्यक है। जैनदर्शन के अनुसार जब तक तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) क्रोध, मान, माया और लोभ चार कषायों समाप्त नहीं होतीं, तब तक सम्यक्-दर्शन और ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता। आचार्य शंकर ने भी ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व वैराग्य का होना आवश्यक माना है। इस प्रकार सदाचरण और संयम के तत्त्व सम्यक्-दर्शन और ज्ञान की उपलब्धि के पूर्ववर्ती भी सिद्ध होते हैं। दूसरे, इस क्रम या पूर्वापरता के आधार पर भी साधन त्रय में किसी एक को श्रेष्ठ मानना और दूसरे को गौण मानना जैनदर्शन को स्वीकृत नहीं है। वस्तुतः साधन-त्रय मानवीय चेतना के तीन पक्षों के रूप में ही साधना-मार्ग का निर्माण करते हैं। धार्मिक चेतना के इन तीन पक्षों में जैसी पारस्परिक प्रभावकता और अवियोज्य सम्बन्ध रहा है, वैसी ही पारस्परिक प्रभावकता और अवियोज्य सम्बन्ध मानवीय तीनों पक्षों में है।

ज्ञान और क्रिया के सहयोग से मुक्ति

साधना-मार्ग में ज्ञान और क्रिया (विहित आचरण) के श्रेष्ठत्व को लेकर विवाद चला आ रहा है। वैदिक युग में जहाँ विहित आचरण की प्रधानता रही है वहाँ औपनिषदिक युग में ज्ञान पर बल दिया जाने लगा। भारतीय चिन्तकों के समक्ष प्राचीन समय से ही यह समस्या रही है कि ज्ञान और क्रिया के बीच साधना का यथार्थ तत्त्व क्या है? जैन-परम्परा ने प्रारम्भ से ही साधना-मार्ग में ज्ञान और क्रिया का समन्वय किया है। पाश्चान्ताय के पूर्ववर्ती युग में जब श्रमण परम्परा देहदण्डन-परक तप-साधना में और वैदिक परम्परा यज्ञयागपरक क्रिया-काण्डों में ही साधना की इतिश्री मानकर साधना के मात्र आचरणात्मक पक्ष पर बल देने लगी थी, तो उन्होंने उसे ज्ञान से समन्वित करने का प्रयास किया था। महावीर और उनके बाद जैन-विचारकों ने भी ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित साधना-पथ का उपदेश दिया। जैन-विचारकों का यह स्पष्ट निर्देश था कि मुक्ति न तो मात्र ज्ञान से प्राप्त हो सकती है और न केवल सदाचरण से। ज्ञानमार्गी औपनिषदिक एवं सांख्य परम्पराओं की समीक्षा करते

हुए उत्तराख्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा गया कि कुछ विचारक मानते हैं कि पाप का त्याग किए बिना ही मात्र आर्यतत्त्व (यथार्थता) को जानकर ही आत्मा सभी दुःखों से छूट जाती है—लेकिन बन्धन और मुक्ति के सिद्धांत में विश्वास करने वाले ये विचारक संयम का आचरण नहीं करते हुए केवल वचनों से ही आत्मा को आश्वासन देते हैं।^१ सूत्रकृतांग में कहा है कि मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्षुक हो, अनेक शास्त्रों का जानकार हो अथवा अपने को धार्मिक प्रकट करता हो यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है तो वह अपने कर्मों के कारण दुःखी ही होगा।^२ अनेक भाषाओं एवं शास्त्रों का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नहीं होता। मन्त्रादि विद्या भी उसे कैसे बचा सकती है? असद् आचरण में अनुरक्त अपने आप को पण्डित मानने वाले लोग वस्तुतः मूर्ख ही हैं।^३ आवश्यकनिर्युक्ति में ज्ञान और चारित्र्य के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन विस्तृत रूप में है। उसके कुछ अंश इस समस्या का हल खोजने में हमारे सहायक हो सकेंगे। निर्युक्ति-कार आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि “आचरणविहीन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसार-समुद्र से पार नहीं होते। मात्र शास्त्रीय ज्ञान से, बिना आचरण के कोई मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार निपुण नालक भी वायु या गति की क्रिया के अभाव में जहाज को इच्छित किनारे पर नहीं पहुँचा सकता वैसे ही ज्ञानी आत्मा भी तप-संयम रूप सदाचरण के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।”^४ मात्र ज्ञान लेने से कार्य-सिद्धि नहीं होती। तैरना जानते हुए भी कोई कावचेष्टा नहीं करे तो डूब जाता है, वैसे ही शास्त्रों को जानते हुए भी जो धर्म का आचरण नहीं करता, वह डूब जाता है।^५ जैसे चन्दन ढोने वाला चन्दन से लाभान्वित नहीं होता, मात्र भार-वाहक ही बना रहता है वैसे ही आचरण से हीन ज्ञानी ज्ञान के भार का वाहक मात्र है, इससे उसे कोई लाभ नहीं होता।^६ ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक-प्रसिद्ध अंध-पंगु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जैसे वन में बावानल लगने पर पंगु उसे देखते हुए भी गति के अभाव में जल मरता है और अन्धा सम्यग् मार्ग न खोज पाने के कारण जल मरता है वैसे ही आचरणविहीन ज्ञान पंगु के समान है और ज्ञानचक्षुविहीन आचरण अन्धे के समान है। आचरणविहीन ज्ञान और ज्ञान-विहीन आचरण दोनों निरर्थक हैं और संसार रूपी दावानल से साधक को बचाने में असमर्थ हैं। जिस प्रकार एक पक्ष से रख नहीं चलता, अकेला अन्धा तथा अकेला पंगु इच्छित साध्य तक

१ उत्तराख्ययन, ६/६-१०।

२ उत्तराख्ययन, ६/११।

३ वही, ११५१-५४।

४ सूत्रकृतांग, २/१/७।

५ आवश्यकनिर्युक्ति, ६५-६७।

६ आवश्यकनिर्युक्ति, १००।

नहीं पहुँचते, वैसे ही मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया से मुक्ति नहीं होती, वरन् दोनों के सहयोग से मुक्ति होती है।^१ व्याख्या प्रज्ञप्ति में ज्ञान और क्रिया में से किसी एक को स्वीकार करने की विचारणा को मिथ्या विचारणा कहा गया है।^२ महावीर ने साधक की दृष्टि से ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध की एक चतुर्भुजी का कथन इसी सन्दर्भ में किया है—

(१) कुछ व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न हैं, लेकिन चारित्र्य-सम्पन्न नहीं हैं।

(२) कुछ व्यक्ति चारित्र्य सम्पन्न हैं, लेकिन ज्ञान-सम्पन्न नहीं हैं।

(३) कुछ व्यक्ति न ज्ञान सम्पन्न हैं, न चारित्र्य सम्पन्न हैं।

(४) कुछ व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न भी हैं और चारित्र्य-सम्पन्न भी हैं।

महावीर ने इनमें से सच्चा साधक उसे ही कहा जो ज्ञान और क्रिया, अत और शील दोनों से सम्पन्न है। इसी को स्पष्ट करने के लिए निम्न रूपक भी दिया जाता है।

(१) कुछ मुद्राएँ ऐसी होती हैं जिनमें धातु भी खोटी है मुद्रांकन भी ठीक नहीं है।

(२) कुछ मुद्राएँ ऐसी होती हैं जिनमें धातु तो शुद्ध है लेकिन मुद्रांकन ठीक नहीं है।

(३) कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं जिनमें धातु अशुद्ध है लेकिन मुद्रांकन ठीक है।

(४) कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं जिनमें धातु भी शुद्ध है और मुद्रांकन भी ठीक है।

बाजार में वही मुद्रा ग्राह्य होती है जिसमें धातु भी शुद्ध होती है और मुद्रांकन भी ठीक होता है। इसी प्रकार सच्चा साधक वही होता है जो ज्ञान-सम्पन्न भी हो और चारित्र्य सम्पन्न भी हो। इस प्रकार जैन-विचारणा यह बताती है कि ज्ञान और क्रिया दोनों ही नैतिक साधना के लिए आवश्यक हैं। ज्ञान और चारित्र्य दोनों की समवेत साधना से ही दुःख का क्षय होता है। क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों ही एकान्त हैं और एकान्त होने के कारण जैन दर्शन की अनेकान्तवादी विचारणा के अनुकूल नहीं हैं।

सुलनात्मक दृष्टि से विचार

जैन परम्परा में साधन-त्रय के समवेत में ही मोक्ष की निष्पत्ति मानी गई है जबकि वैदिक परम्परा में ज्ञान-निष्ठा, कर्मनिष्ठा और भक्तिमार्ग ये तीनों ही अलग-अलग मोक्ष के साधन माने जाते रहे हैं और इन आधारों पर वैदिक परम्परा में स्वतन्त्र सम्प्रदायों का उदय भी हुआ है। वैदिक परम्परा में

प्रारम्भ से ही कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग की धाराएँ अलग-अलग रूप में प्रवाहित होती रही हैं। भागवत सम्प्रदाय के उदय के साथ भक्तिमार्ग एक नई निष्ठा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार वेदों का कर्ममार्ग, उपनिषदों का ज्ञान-मार्ग और भागवत सम्प्रदाय का भक्तिमार्ग तथा इनके साथ-साथ ही योग सम्प्रदाय का ध्यान-मार्ग सभी एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप में मोक्ष मार्ग समझे जाते रहे हैं। सम्भवतः गीता एक ऐसी रचना अवश्य है जो इन सभी साधना विधियों को स्वीकार करती है। यद्यपि गीताकार ने इन विभिन्न धाराओं को समेटने का प्रयत्न तो किया, लेकिन वह उनको समन्वित नहीं कर पाया। यही कारण था कि परवर्ती टीकाकारों ने अपने पूर्व-संस्कारों के कारण गीता को इनमें से किसी एक साधना-मार्ग का प्रतिपादन बताने का प्रयास किया और गीता में निर्देशित साधना के दूसरे मार्गों को गौण बताया। शंकर ने ज्ञान को, रामानुज ने भक्ति को, तिलक ने कर्म को गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय माना।

लेकिन जैन-विचारकों ने इस त्रिविध साधना-पथ को समवेत रूप में ही मोक्ष का कारण माना और यह बताया कि ये तीनों एक-दूसरे से अलग होकर नहीं, वरन् समवेत रूप में ही मोक्ष को प्राप्त करा सकते हैं। उसने तीनों को समान माना और उनमें से किसी को भी एक के अधीन बनाने का प्रयास नहीं किया। हमें इस भ्रांति से बचना होगा कि श्रद्धा, ज्ञान और आधरण ये स्वतन्त्र रूप में नैतिक पूर्णता के मार्ग हो सकते हैं। मानवीय व्यक्तित्व और नैतिक साध्य एक पूर्णता है और उसे समवेत रूप में ही पाया जा सकता है।

बौद्ध परम्परा और जैन परम्परा दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण नहीं रखते हैं। बौद्ध-परम्परा में शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा प्रज्ञा, श्रद्धा और वीर्य को समवेत रूप में ही निर्वाण का कारण माना गया है। हम प्रकार बौद्ध और जैन परम्पराएँ न केवल अपने साधन-मार्ग के प्रतिपादन में, वरन् साधन-त्रय के अलाबल के विषय से भी समान दृष्टिकोण रखती हैं।

वस्तुतः नैतिक साध्य का स्वरूप और मानवीय प्रकृति, दोनों ही यह बताते हैं कि त्रिविध साधना-मार्ग अपने समवेत रूप में ही नैतिक पूर्णता की प्राप्ति करा सकता है। यहाँ इस त्रिविध साधना-पथ का मानवीय प्रकृति और नैतिक साध्य से क्या सम्बन्ध है इसे स्पष्ट कर लेना उपयुक्त होगा।

मानवीय प्रकृति और त्रिविध साधना-पथ

मानवीय चेतना के तीन कार्य हैं—(१) जानना, (२) अनुभव करना और (३) संकल्प करना। हमारी चेतना का ज्ञानात्मक पक्ष न केवल जानना चाहता है, वरन् वह सत्य को ही जानना

चाहता है। ज्ञानात्मक चेतना निरन्तर सत्य की खोज में रहती है। अतः जिस विधि से हमारी ज्ञानात्मक चेतना सत्य को उपलब्ध कर सके उसे ही सम्यक् ज्ञान कहा गया है। सम्यक् ज्ञान चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को सत्य की उपलब्धि की दिशा में ले जाता है। चेतना का दूसरा पक्ष अनुभूति के रूप में आनन्द की खोज करता है। सम्यग्दर्शन चेतना में राग-द्वेषात्मक जो तनाव है, उन्हें समाप्त कर उसे आनन्द प्रदान करता है। चेतना का तीसरा संकल्पात्मक पक्ष शक्ति की उपलब्धि और कल्याण की क्रियान्विति चाहता है। सम्यक्चारित्र्य संकल्प को कल्याण के मार्ग में नियोजित कर शिव की उपलब्धि करता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का यह त्रिविध साधना-पथ चेतना के तीनों पक्षों को सही दिशा में निर्देशित कर उनके वांछित लक्ष्य सत्, सुन्दर और शिव अथवा अनन्त ज्ञान, आनन्द और शक्ति की उपलब्धि कराता है। वस्तुतः जीवन के साध्य को उपलब्ध करा देना ही इस त्रिविध साधना-पथ का कार्य है। जीवन का साध्य अनन्त एवं पूर्ण ज्ञान, अक्षय आनन्द और अनन्त शक्ति की उपलब्धि है, जिसे त्रिविध साधना-पथ के तीनों अंगों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को सम्यक्-ज्ञान की दिशा में नियोजित कर ज्ञान की पूर्णता को, चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यग्दर्शन में नियोजित कर अक्षय आनन्द की और चेतना के संकल्पात्मक पक्ष को सम्यक्चारित्र्य में नियोजित कर अनन्त शक्ति की उपलब्धि की जा सकती है। वस्तुतः जैन आचार दर्शन में साध्य, साधक और साधना पथ तीनों में अभेद माना गया है। ज्ञान, अनुभूति और संकल्पमय चेतना साधक है और यही चेतना के तीनों पक्ष सम्यक् दिशा में नियोजित होने पर साधना-पथ कहलाते हैं और इन तीनों पक्षों की पूर्णता ही साध्य है। साधक, साध्य और साधना-पथ भिन्न-भिन्न नहीं, वरन् चेतना की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। उनमें अभेद माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में और आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में इस अभेद को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में स्पष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं कि यह आत्मा ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य है।^१ आचार्य हेमचन्द्र इसी अभेद को स्पष्ट करते हुए योगशास्त्र में कहते हैं कि आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य है, क्योंकि आत्मा इसी रूप में शरीर में स्थित है।^२ आचार्य ने यह कहकर कि आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के रूप में शरीर में स्थित है, मानवीय मनोवैज्ञानिक प्रकृति को ही स्पष्ट किया है। ज्ञान, चेतना और संकल्प तीनों सम्यक् होकर साधना-पथ का निर्माण कर देते हैं और यही पूर्ण होकर साध्य बन जाते हैं। इस प्रकार

जैन आचार-दर्शन में साधक, साधना-पथ और साध्य में अभेद है।
सम्यग्दर्शन का स्वरूप

धर्म साधना के तीन मुख्य अंग हैं—भक्ति, ज्ञान और कर्म। जैन परम्परा में इन्हें ही क्रमशः सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र्य कहा गया है। इनमें सबसे पहले हम सम्यक्-दर्शन के स्वरूप पर विचार करेंगे। वस्तुतः सम्यक्-दर्शन शब्द सम्यक् और दर्शन इन दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका सीधा और सरल अर्थ है सही ढंग से या अच्छी प्रकार से देखना। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि अच्छी प्रकार से देखने का क्या तात्पर्य है? अच्छी प्रकार से देखने का एक तात्पर्य तो यह है कि विकार रहित दृष्टि से देखना। आँख की विकृति हमारी चक्षु इन्द्रिय के बोध को विकृत कर देती है यथा—पीलिया का रोगी सफेद वस्तु को भी पीली देखता है, ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में राग-द्वेष हमारी दृष्टि को विकृत कर देते हैं, उनकी उपस्थिति के कारण हम सत्य का उसके यथार्थ रूप में दर्शन नहीं कर पाते हैं, जिस पर हमारा राग होता है उसके दोष नहीं दिखाई देते हैं और जिससे द्वेष होता है, उसके गुण दिखाई नहीं देते हैं। राग-द्वेष आँख पर चढ़े रंगीन चश्मों के समान हैं जो सत्य को विकृत करके प्रस्तुत करते हैं। अतः सामान्य रूप से सम्यक् दर्शन का अर्थ है—राग और द्वेष अर्थात् पूर्वाग्रह के घेरे से ऊपर उठकर सत्य का दर्शन करना। राग और द्वेष के कारण ही आग्रह और मतान्धता पनपती है और वही हमारे सत्य के बोध को रंगीन या दूषित बना देती है। अतः आग्रह और मतान्धता से रहित दृष्टि ही सम्यक्-दृष्टि है। सत्य के पास उन्मुक्त भाव से जाना होता है तभी सत्य के दर्शन होते हैं। जब तक हम राग-द्वेष, मतान्धता, आग्रह आदि से ऊपर उठकर सत्य को देखने का प्रयत्न नहीं करते हैं तब तक सत्य का यथार्थ स्वरूप हमारे सामने प्रकट नहीं होता है। अतः आग्रह और पक्षपात से रहित दृष्टि ही सम्यक्दर्शन है।

जैन परम्परा में सम्यक्दर्शन शब्द तत्त्व श्रद्धा तथा देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा के अर्थ में भी रूढ़ है। लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि जब तक दृष्टि दूषित है तब तक श्रद्धा सम्यक् नहीं हो सकती है। दृष्टि के निर्दोष और निर्विकार होने पर सत्य का यथार्थ रूप में दर्शन होगा और उस यथार्थ बोध पर जो श्रद्धा या आस्था होगी वही सम्यक् श्रद्धा होगी।

सम्यक् दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ उसका परवर्ती अर्थ है और भक्ति मार्ग के प्रभाव से जैन धर्म में आया है। मूल अर्थ तो दृष्टिपरक ही है। लेकिन श्रद्धापरक अर्थ भी साधना के लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है। यथार्थतः आत्म-बोध और अपनी विकृ-

तियों को समझने के दो ही रास्ते हैं। या तो हम स्वयं आग्रह, मतान्धता और राग-द्वेष के घेरे से ऊपर उठकर तटस्थ भाव से उनके द्रष्टा बनें, स्वयं अपने में आँके और अपने को देखें अथवा फिर जिसने वीतराग दृष्टि से सत्य को देखा है उसके वचनों पर विश्वास करें। वीतराग के वचनों पर विश्वास या श्रद्धा—यह सम्यक् दर्शन का दूसरा अर्थ है। जिस प्रकार हमें अपनी बीमारी को समझने के लिए दो ही मार्ग होते हैं, एक तो जीवन के पूर्वा-पर अनुभवों की तुलना के द्वारा स्वयं यह निश्चय करें कि हमारे स्वास्थ्य में कोई विकृति है या फिर जो डाक्टर या विशेषज्ञ है उनकी बात पर विश्वास करें। उसी प्रकार जीवन के सत्य का या तो स्वयं अनुभव करें या फिर जिन्होंने उसे जाना है उनके वचनों पर विश्वास करें। अतः सम्यक् दर्शन का यह दूसरा अर्थ हमें यह बताता है कि यदि हम स्वयं जीवन के सत्य को और अपनी विकृतियों को समझने में सक्षम नहीं हैं तो हमें वीतराग के वचनों पर श्रद्धा रखकर उन्हें जान लेना चाहिए। क्योंकि एक अति निश्चित है कि जो रोग को रोग के रूप में जान लेता है वही रोग की चिकित्सा करवाता है, और वही रोग से मुक्त होका है।

वस्तुतः आध्यात्मिक विकृतियों को जानने के लिए हमें तटस्थ भाव से अपने अन्दर झाँकना होता है, अपनी वृत्तियों को देखना होता है यही सम्यक् दर्शन है। वस्तुतः कोई व्यक्ति सम्यक् दृष्टि है या नहीं—इसकी पहचान उसका बाह्य जीवन नहीं है अपितु इसकी पहचान है कि वह अपनी विकृतियों को, अपनी कषायों को और अपनी राग-द्वेष की वृत्तियों को कितना और किस रूप में जान पाया है। वस्तुतः अपनी वृत्तियों का द्रष्टा ही सम्यक् दृष्टि है। सम्यक् दर्शन अपने आपका दर्शन है। अपनी वृत्तियों का और अपनी भावनाओं का दर्शन है। वह अपने आपको पढ़ना और देखना है। वस्तुतः मैं सम्यक् दृष्टि हूँ या नहीं—इसकी पहचान इतनी ही है कि मैं अपनी मनोवृत्तियों को और कमियों को कहाँ तक और कितना जान पाया हूँ। क्या मैं यह देख पाया हूँ कि मुझमें क्रोध, मान, माया और लोभ के तत्व अथवा राग-द्वेष के भाव कहाँ तक छिपे बैठे हैं?

वस्तुतः द्रष्टा या साक्षी भाव ही एक ऐसी अवस्था है जो हमें आध्यात्मिक विकृतियों से मुक्त कर सकती है। सम्यक्-दर्शन को साधना का मूल आधार कहने का तात्पर्य यही है कि जब तक व्यक्ति को अपनी वासनाओं और विकारों का बोध नहीं होगा तब तक उनके प्रति उसके हृदय में एक ग्लानि उत्पन्न नहीं

होगी और तब तक उनसे छुटकारा भी सम्भव नहीं है। क्योंकि मनो-विकृतियाँ तभी पनपती हैं जबकि हम उनके द्रष्टा नहीं बनते हैं। आचारंग सूत्र में कहा गया है कि 'सम्यक् द्रष्टा कोई पाप नहीं करता।'^१ किन्तु यह बात हमारे सामने कुछ उलझन भी पैदा कर देती है, क्योंकि शारत्रों में अविरत सम्यक् दृष्टि का भी उल्लेख है। अविरत सम्यक् दृष्टि वह है जो अपने विषय वासनाओं या मनोविकृतियों को जानकर भी उनसे अपने को मुक्त नहीं कर पाता है। वैसे यह एक अनुभाविक तथ्य भी है कि सत्य को जानकर भी अनेक बार उसका आचरण सम्भव नहीं होता। महाभारत में दुर्योधन कहता है—“मैं धर्म को जानता हूँ किन्तु उसका आचरण नहीं कर पाता हूँ, मैं अधर्म को भी जानता हूँ किन्तु उससे छुटकारा नहीं पा सकता हूँ।”^२ किन्तु यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा जानना केवल औप-चारिक जानना है। क्या कोई विषय को विषय के रूप में जानते हुए भी उसका भक्षण कर सकता है? वस्तुतः बुराई को बुराई के रूप में जानते हुए भी उसमें लिप्त रहना, कम से कम उसका सही रूप में जानना तो नहीं कहा जा सकता, वह उस सत्य के प्रति हमारी निष्ठा का सूचक तो किसी भी स्थिति में नहीं माना जा सकता। यदि हम सत्य के प्रति निष्ठावान हैं, तो उसे हमारे जीवन व्यवहार में अभिव्यक्त होना ही चाहिए।

वैसे जो आगम में यह कहा गया है कि सम्यक् दृष्टि कोई पाप नहीं करता—उसका भी अपना एक अर्थ है। देखना और करना—ये दोनों ही मन की ही प्रवृत्तियाँ हैं और दोनों एक साथ सम्भव नहीं हैं। जिस समय मैं अपनी दुष्प्रवृत्तियों या अपने विषय-विकारों या वासनाओं का द्रष्टा होता हूँ, उसी समय मैं उनका कर्ता नहीं रह सकता हूँ। इस बात को एक सामान्य उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। मान लीजिए, हम क्रोधित हैं। यदि उसी समय हम उस क्रोध के भाव को देखने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दें, उसके कारणों का विश्लेषण करना प्रारम्भ कर दें, तो निश्चित ही हमारा क्रोध समाप्त हो जायेगा। क्रोध को देखना और क्रोध करना, यह एक साथ सम्भव नहीं है। जब भी व्यक्ति अपने मनोभावों का द्रष्टा बनता है उस समय वह उनका कर्ता नहीं रह जाता है। जब भी हम वासनाओं में होते हैं, आवेश में होते हैं तब हम द्रष्टा भाव में नहीं होते हैं, अप्रमत्त नहीं होते हैं, आत्मचेतन नहीं होते हैं, और जब आत्म-चेतन होते हैं, द्रष्टा होते हैं, तो क्रोधदि विकारों के कर्ता नहीं होते। आत्मचेतन होना, द्रष्टा होना, अप्रमत्त होना, निष्पाप

१ सम्यक्सर्वसो न करेह पापं—आचारंग १/३/२।

२ जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रभुप्राप्त सिंहात्वं को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार साधक तीर्थंकर के गुण-कीर्तन या स्तवन के द्वारा निज में जिनत्वं का बोध कर लेता है, स्वयं में निहित परमात्मशक्ति को प्रकट कर लेता है।

जैन साधना यह स्वीकार करती है कि भगवान की स्तुति हमारी प्रभुप्राप्त अन्तश्चेतना को जागृत करती है और हमारे सामने साधना के आदर्श का एक जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। मात्र यही नहीं, वह हमें उस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरणा भी देती है। जैन विचारकों ने स्वीकार किया है कि भगवान की स्तुति के माध्यम से व्यक्ति अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। यद्यपि इसमें प्रयत्न व्यक्ति का ही होता है लेकिन साधना के आदर्श उन महापुरुषों का जीवन उसकी प्रेरणा का निमित्त आवश्यक होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि स्तवन से व्यक्ति की दर्शनविशुद्धि होती है। उसका दृष्टिकोण सम्यक् बनता है और परिणामस्वरूप वह आध्यात्मिक विकास की दिशा में आगे बढ़ सकता है।^१ यद्यपि जैन धर्म में यह माना गया है कि भगवद्भक्ति के फलस्वरूप पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है, तथापि इसका कारण परमात्मा की कृपा नहीं बल्कि व्यक्ति के दृष्टिकोण की विशुद्धि ही है। आवश्यकनियुक्ति में जैनाचार्य भद्रबाहु ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि भगवान के नामस्मरण से पाप क्षीण होते हैं।^२ आचार्य दिनचन्द्र भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं—

पाप-पराल को पुंज बन्यो अति, मानो मेरु आकारो।

ते तुम नाम हुताशन सेती, सहज हो प्रबलत सारो ॥

हे प्रभु आपकी नामरूपी अभि में इतनी शक्ति है कि उससे मेरु समान पाप समूह भी क्षीण हो नष्ट हो जाता है। किन्तु यह प्रभाव प्रभु के नाम का नहीं अपितु साधक की आत्मिक शक्ति का है। जैसे मालिक के जागने पर चोर भाग जाते हैं, उसी प्रकार प्रभु के स्वरूप के ध्यान से आत्म-चेतना या स्वशक्ति का भान होता है और पाप रुपी चोर भाग जाते हैं।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप एवं स्थान

बन्धन या दुःख के कारणों की विवेचना में लगभग सभी विचारकों ने अज्ञान को एक प्रमुख तत्त्व माना है और इसलिए दुःख विमुक्ति के उपायों में ज्ञान को प्रमुखता दी गई है। बन्धन या दुःख के कारण इस अज्ञान को मोह के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। वस्तुतः अज्ञान के कारण अनात्म या पर में आत्म-बुद्धि या अपनेपन का भाव उत्पन्न होता है, राग या ममता का सृजन होता है और यही समस्त दुःखों एवं बुराइयों की जड़

है अतः आसक्ति, राग या अनात्म में आत्म-बुद्धि को समाप्त करने के लिए ज्ञान आवश्यक है। जैन परम्परा में ऐसे ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और ऐसे ज्ञान की प्रक्रिया को भेद-विज्ञान कहा गया है। वस्तुतः भेद विज्ञान वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा साधक आत्म और अनात्म में या स्व वा पर में भेद स्थापित करता है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने समयसार की टीका में कहा है कि जो कोई भी सिद्ध हुए हैं वे सभी इसी भेद विज्ञान से हुए हैं और जो कोई बन्धन में हैं वे सभी इसी भेद-विज्ञान में अभाव के कारण हैं।^३ आत्मज्ञान भारतीय और पाश्चात्य सभी चिंतकों का मूलभूत उद्देश्य रहा है। अपने और पराये या स्व और पर में भेद स्थापित कर लेना यही आसक्ति और ममत्व को तोड़ने का एकमात्र उपाय है। यद्यपि यह कहना तो सहज है कि "स्व" को स्व के रूप में और पर के रूप में जानो; किन्तु यही साधना की सबसे कठिन प्रक्रिया भी है।

स्व को जानना तो अपने आप में एक दार्शनिक समस्या है, क्योंकि जो भी जाना जायेगा वह तो पर ही होगा। जानना हमेशा पर का ही हो सकता है। स्व तो वह है जो जानता है, ज्ञाता है। जो जानने वाला या ज्ञाता है वह ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। जिस प्रकार बाँख समस्त विश्व को देख सकती है, लेकिन स्वयं अपने आपको नहीं देख पाती है, नट स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ पाता है, उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा स्वयं को नहीं जान सकता। ज्ञाता जिसे भी जानेगा वह तो ज्ञान का विषय होने से उससे भिन्न होगा। इसीलिए उपनिषद् में ऋषि की कहना पड़ा था कि "जिज्ञाता को कैसे जाना जावेगा, जिससे सब कुछ जाना जाता है उसे कैसे जाना जाये।"^४ वास्तविकता तो यह है कि जो सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है, जो स्वयं जानने वाला है उसे कैसे जाना जा सकता है। मैं जिस भाँति पर को जान सकता हूँ उसी भाँति स्वयं को नहीं जान सकता। इसीलिए आत्मज्ञान जैसी सहज वटना भी दुर्लभ होती है। वस्तुतः आत्मज्ञान वह ज्ञान नहीं है जिससे हम परिचित हैं। सामान्यज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का जानने वाला और जो कुछ जाना जाता है उसका भेद बना रहता है जबकि आत्मज्ञान में वह भेद सम्भव ही नहीं। उसमें जो जानता है और जिसको जाना जाता है वे दोनों अलग-अलग नहीं होते। वस्तुतः आत्मज्ञान की प्रक्रिया एक निषेधात्मक प्रक्रिया है उसमें हम इस बात से प्रारम्भ करते हैं कि मैं क्या नहीं हूँ। 'पर' से या जो ज्ञान का विषय है उससे अपनी भिन्नता स्थापित करते जाना यही आत्मज्ञान की प्रक्रिया है। इसे ही भेद-विज्ञान कहा गया है।

१ उत्तराध्ययन सूत्र, २६/६।

२ समयसार टीका १३१।

३ आसक्त्यनियुक्ति १०७६।

४ बृहदारण्यक २/४/१४।

अन्य दर्शनों में इसे आत्म-अनात्म विवेक के नाम से जाना जा सकता है ।

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में इस भेद-विज्ञान की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— रूप आत्मा नहीं है क्योंकि वह कुछ नहीं जानता अतः रूप अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं ।

वर्ण आत्मा नहीं है क्योंकि वह कुछ नहीं जानता अतः वर्ण अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं ।

गन्ध आत्मा नहीं है क्योंकि वह कुछ नहीं जानता अतः गन्ध अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं ।

रस आत्मा नहीं है क्योंकि वह कुछ नहीं जानता अतः रस अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं ।

स्पर्श आत्मा नहीं है क्योंकि वह कुछ नहीं जानता अतः स्पर्श अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं ।

कर्म आत्मा नहीं है, क्योंकि कर्म कुछ नहीं जानते अतः कर्म अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं ।

अध्यवसाय आत्मा नहीं है, क्योंकि अध्यवसाय कुछ नहीं जानते (मनोभाव भी किसी ज्ञायक के द्वारा जाने जाते हैं वे स्वतः कुछ नहीं जानते, यथा— क्रोध के भाव को जानने वाला ज्ञायक उससे भिन्न है) अतः अध्यवसाय अन्य है और आत्मा अन्य है ।

अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप की दृष्टि से आत्मा न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है । अपने शुद्ध स्वरूप में वह इनका कारण और कर्ता भी नहीं है ।^१

वस्तुतः आत्मा जब अपने शुद्ध ज्ञाता स्वरूप में अवस्थित होता है, तो संसार के समस्त पदार्थ ही नहीं, वरन् उसकी अपनी चित्तवृत्तियाँ और मनोभाव भी उसे 'पर' (स्व से भिन्न) प्रतीत होते हैं । जब वह 'पर' को पर के रूप में जान लेता है और उनसे अपनी पृथक्ता का बोध कर लेता है तब उसकी ममता या रागभाव समाप्त हो जाता है और वह अपने शुद्ध ज्ञायक स्व रूप को जानकर उसमें अवस्थित हो जाता है, यही वह अवसर होता है जब मुक्ति का द्वार उद्घाटित होता है, क्योंकि जिसने पर को पर के रूप में जान लिया है तो उसके लिए ममत्व या राग के लिए कोई स्थान नहीं रहता है । राग के गिर जाने पर भीतरागता का प्रकटन होता है और मुक्ति का द्वार खुल जाता है ।

भेदविज्ञान की इस प्रक्रिया में आत्मा सबसे पहले वस्तुओं

एवं पदार्थों से अपनी भिन्नता का बोध करता है । चाहे अनुभूति के स्तर पर इनसे भिन्नता स्थापित कर पाना कठिन हो किन्तु ज्ञान के स्तर पर यह कार्य कठिन नहीं है । क्योंकि यहाँ तादात्म्य नहीं रहता है अतः पृथक्ता का बोध सुस्पष्ट रूप से होता है । किन्तु इसके बाद क्रमशः उसे शरीर से, मनोवृत्तियों से एवं स्वयं के रागादिक भावों से अपनी भिन्नता का बोध करना होता है, जो अपेक्षाकृत रूप से कठिन और कठिनतर है, क्योंकि यहाँ इनके और हमारे बीच तादात्म्य का बोध बना रहता है फिर भी हमें यह जान लेना होगा कि जो कुछ पर के निमित्त से है वह हमारा स्वरूप नहीं है । हमारे रागादि भाव भी पर के निमित्त से हो हैं । अतः वे हममें होते हुए भी हमारा निजस्वरूप नहीं हो सकते हैं । यद्यपि वे आत्मा में होते हैं फिर भी आत्मा से भिन्न हैं, क्योंकि उसका निजस्वरूप नहीं है । जैसे गरम पानी में रही हुई उष्णता, उसमें रहते हुए भी उसका स्वरूप नहीं है, क्योंकि वह अग्नि के संयोग के कारण है वैसे ही रागादि भाव आत्मा में होते हुए भी उसका अपना स्वरूप नहीं हैं । यह स्व-स्वरूप का बोध ही जैन साधना का सार है जिसकी विधि है भेदविज्ञान अर्थात् जो स्व से भिन्न है उसे (पर) के रूप में जानकर उसमें रही हुई तादात्म्यता के बोध को तोड़ देना । ममता बन्धन मिथिल हो जाता है । वस्तुतः जब साधक इस भेदविज्ञान के द्वारा यह जान लेता है कि पर क्या है तो उस पर के प्रति उसका अपनेपन का भाव भी समाप्त हो जाता है । वस्तुतः जो कुछ भी पर है, अपने से भिन्न है वह सब सांयोगिक है अर्थात् संयोगवश हो हमें मिला है । जो संयोगवश मिला है, उसका वियोग भी अनिवार्य है, जिसका वियोग होना है वह हमारे लिए दुःख का कारण ही है । इसीलिए बौद्ध परम्परा में भी कहा गया है जो अनात्म है अर्थात् पराया है वह अनित्य है, अर्थात् उसका वियोग या नाश अपरिहार्य है और जिसका वियोग या नाश अपरिहार्य है वह दुःख रूप ही है ।^२ वस्तुतः हमारा बन्धन और दुःख इसीलिए है कि हम पहले अनात्म में आत्मबुद्धि स्थापित करते हैं फिर उसके वियोग या नाश से अथवा नाश की सम्भावना से दुःखी होते हैं । जैसाकि हम पूर्व में भी स्पष्ट कर चुके हैं दुःख या पीड़ा वहीं तक है जहाँ तक पर में आत्मभाव है । हमारे जीवन का एक सामान्य अनुभव है कि हम प्रतिदिन अनेकों को मरता हुआ देखते हैं वा सुनते हैं, किन्तु उनकी मृत्यु हमारे हृदय को विचलित नहीं करती, हम सामान्यतया दुःखी नहीं होते, क्योंकि उन पर हमारा कोई राग-भाव या ममत्व बुद्धि नहीं है, किन्तु जहाँ भी राग भाव जुड़

१ समयसार, ३६२-४०३, नियमसार ७८-८१ ।

२ देखें—संयुक्तनिकाय, ३४/१/१/१; ३४/१/१/४; ३४/१/१/१२ ।

जाता है, समत्वबुद्धि स्थापित हो जाती है, हम किसी को अपना मानने लगते हैं वहीं पर उसकी मृत्यु या वियोग हमें सताता है। अतः दुःख की निवृत्ति का कोई उपाय हो सकता है तो वह यही कि संसार की वस्तुओं या व्यक्तियों के प्रति हमारा रागभाव समाप्त हो और यह राग-भाव समाप्त हो सकता है, जबकि हम सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्म-अनात्म के विवेक को प्राप्त कर सकते हैं। सम्यग्ज्ञान क्या है इसे स्पष्ट करते हुए जेनागर्गों में कहा गया है—

एगो मे सासओ अण्णा जाणदंसण संजुओ।

सेसा मे बहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

अर्थात् मैं जाताद्रष्टारूप अकेला आत्मा हूँ। शेष सभी मुझसे भिन्न हैं और सांयोगिक हैं।^१

हमें यह स्मरण रखना होगा कि हमारी जो भी सांसारिक उपलब्धियाँ हैं, चाहे वह धनसम्पदा के रूप में हों या पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि परिवार के रूप में हो वह सभी केवल संयोगजन्य उपलब्धियाँ हैं। व्यक्ति के लिए पत्नी सबसे निकट होती है, अन्यतमा होती है, किन्तु हम जानते हैं कि वह केवल एक सांयोगिक उपलब्धि है। दो प्राणी कहीं किसी परिस्थिति के कारण या संयोग के वश एक दूसरे के निकट आ जाते हैं, और एक दूसरे को अपना मान लेते हैं, वहीं अनापन का भ्रम है। संसार है जो उसे बन्धन, दुःख तथा दुश्चिन्ताओं से जकड़ लेता है, वह उसके लिए अच्छा-बुरा क्या-क्या नहीं करता। वस्तुतः सम्यग्ज्ञान का अर्थ है जीवन और जगत के यथार्थ स्वरूप को पहचानना। वस्तुतः हम सम्यग्ज्ञान के अभाव में अन्त्य को नित्य मान बैठते हैं, पराये को अपना मान बैठते हैं और इसी कारण फिर दुःखी होते हैं। हमारे यहाँ सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी की एक स्पष्ट पहचान बतायी गई है; कहा गया है कि—

सम्यग्दृष्टि जीवद्वा, करे कृदुम्ब प्रतिपास।

अन्तरसू न्यारा रहे, ज्यों घाय खिलावे बाल ॥

हम सब यह अच्छी तरह जानते हैं कि एक कर्तव्यनिष्ठ नर्स किसी बच्चे का लालन-पालन उसकी माँ की अपेक्षा भी बहुत अच्छी प्रकार से करती है, एक कर्तव्यनिष्ठ डाक्टर किसी व्यक्ति के जीवन को बचाने के लिए उसके पारिवारिक जनों की अपेक्षा अच्छी प्रकार से उस रोगी की परिचर्या करता है किन्तु नर्स और डाक्टर दोनों ही क्रमशः बालक और रोगी की पीड़ा और मृत्यु से उतने विचलित नहीं होते, जितने कि उनके पारिवारिक जन होते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण स्पष्ट है, पारिवारिकजनों के प्रति हमारे मन में एक ममस्वभाव होता है, एक अपनापन होता है, रागात्मकता होती है जबकि नर्स और

डाक्टर के मन में निरपेक्षता का भाव होता है। वे जो कुछ भी करते हैं कर्तव्यबुद्धि से करते हैं। एक ही काम एक व्यक्ति कर्तव्य-बुद्धि से करता है, एक ममत्वबुद्धि से। जो ममत्वबुद्धि से करता है, वह विचलित होता है, दुःखी होता है किन्तु जो कर्तव्यबुद्धि से करता है वह निरपेक्ष बना रहता है, तटस्थ बना रहता है। वस्तुतः सम्यग्ज्ञान का मतलब है कि हम संसार में जो कुछ भी करें, जैसा भी जीयें, वह सब कर्तव्यबुद्धि से करें और जीयें, ममत्वबुद्धि से नहीं, जो सांसारिक उपलब्धियाँ हैं और जो सांसारिक पीड़ाएँ और दुःख हैं, उनके प्रति हमारा निरपेक्षभाव रहे, हम उन्हें मात्र परिस्थिति जन्य समझें। सुख-दुःख, संयोग-वियोग मान-अपमान, प्रशंसा और निन्दा—ये सब सांसारिक जीवन के अनिवार्य तत्व हैं। कोई भी इनसे बच नहीं पाता, ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के ही जीवन में सब तरह की परिस्थितियाँ आती हैं, अन्तर यही है कि ज्ञानी उन्हें जीवन की यथार्थता मानकर समान से अर्थात् अपने चित्त की समता को नहीं खोते हुए उनका वेदन करता है, जबकि अज्ञानी उनमें विचलित हो जाता है, उनके कारण दुःखी होता है। कहा भी है—

सुख दुःख आपद सम्पदा, सब काहू को होय।

ज्ञानी भुगते ज्ञान से, मूर्ख भुगते रोय ॥

वस्तुतः सम्यग्ज्ञान का अर्थ है जीवन की अनुकूल एवं प्रतिकूल स्थितियों में अविचलित भाव से या समभाव से जीना। जब ज्ञान के द्वारा जीवन और जगत के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है तो अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में मन का समभाव साधता है। ज्ञान के द्वारा मन में निराकुलता जगे, मन तनावों से मुक्त हो यही साधना के क्षेत्र में ज्ञान की उपयोगिता है।

सम्यक्चारित्र्य का स्वरूप

निश्चय दृष्टि से चारित्र्य का सच्चा अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है। मानसिक या चैतनसिक जीवन में, समत्व की उपलब्धि चारित्र्य का पारमाथिक या नैश्वयिक पक्ष है। वस्तुतः चारित्र्य का यह पक्ष आत्म-रमण की स्थिति है। नैश्वयिक चारित्र्य का प्रादुर्भाव केवल अप्रमत्त अवस्था में ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होने वाले सभी कार्य शुद्ध ही माने गये हैं। चेतना में जब राग, द्वेष, कषाय और वासनाओं की अग्नि पूरी तरह शांत हो जाती, तभी सच्चे नैतिक एवं धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और ऐसा ही सदाचार मोक्ष का कारण होता है। अप्रमत्त चेतना जो कि नैश्वयिक चारित्र्य का आधार है, राग, द्वेष, कषाय, विषय वासना, आलस्य और निद्रा से रहित अवस्था है। साधक जब जीवन की प्रत्येक क्रिया

के सम्पादन में आत्मजाग्रत होता है तब उसका आचरण बाह्य आवेगों और वासनाओं से चलित नहीं होता और तभी वह सच्चे अर्थों में नैतिक चरित्र का पालनकर्ता माना जाता है। वस्तुतः शांता-द्रष्टा बनकर जीवन जीना ही निश्चय सम्यक्चरित्र है।

व्यावहारिक सम्यक्-चरित्र का अर्थ आत्मनियन्त्रण या संयम है। पूर्व में मानव प्रकृति की चर्चा करते हुए हमने इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था कि मनुष्य और पशु में यदि कोई अन्तर है तो वह यह कि मनुष्य में आत्मनियन्त्रण या संयम की सामर्थ्य होती है, जबकि पशु में उस सामर्थ्य का अभाव होता है। पशु विशुद्ध रूप से एक प्राकृतिक जीवन जीता है, उसका समस्त व्यवहार प्रकृति के नियमों के अनुसार संचालित होता है। भूखा होने पर वह खाद्य सामग्री को प्राप्त करता है और उसका उपभोग करता है, किन्तु भूख के अभाव में वह उपलब्ध खाद्य सामग्री को छूना तक नहीं है। इसके विपरीत मनुष्य ने प्रकृति से विमुख होकर जीवन जीने की एक शैली विकसित कर ली है। भूख से पीड़ित होकर एवं खाद्य सामग्री के उपलब्ध होने पर भी वह खाने से इन्कार कर सकता है, तो दूसरी ओर वह पेट भरा होने पर भी अपनी प्रिय खाद्य सामग्री के लिए व्याकुल हो सकता है वह उसका उपभोग कर लेता है। मनुष्य में एक ओर वासना की तीव्रता है तो दूसरी ओर संयम की क्षमता भी है। वस्तुतः यह संयम उसकी साधना का मूल तत्व है। यह संयम ही उसे पशुत्व से ऊपर उठाकर देवत्व तक पहुँचाता है जबकि संयम के अभाव में पशु से भी नीचे उतर जाता है एक दरिद्र या राक्षस बन जाता है। यह संयम साधना ही जैन धर्म और जनाचार का मूल तत्व है। सदाचार या सम्यक्-चरित्र के स्वरूप की विस्तृत चर्चा के पूर्व हमें सदाचार या दुराचार के मूलभूत दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा करनी होगी।

जैन आचार शास्त्र की प्रमुख समस्याएँ

जैन आचार के प्रमुख प्रश्नों में सबसे प्रथम प्रश्न यह है कि जैनधर्म में सदाचार-दुराचार का आधार क्या है। वह कौनसा मानदण्ड है, जिसके आधार पर किसी कर्म को सदाचार या दुराचार की संज्ञा देते हैं। इसके साथ आचारशास्त्र की दूसरी समस्या यह कि क्या कोई भी कर्म या आचार निरपेक्ष रूप से सदाचार या दुराचार बना रहा है अथवा देश, काल और परिस्थिति के आधार पर उसमें परिवर्तन होता है। तीसरा इसी से जुड़ा हुआ उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग का प्रश्न है। आगे हम इन्हीं प्रश्नों पर चर्चा करेंगे।

जैन धर्म में नैतिक प्रतिमानों का अनेकान्तवाद^१

वस्तुतः मनुष्यों की नीति-सम्बन्धी अवधारणाओं मापदण्डों या प्रतिमानों की विविधता ही नैतिक निर्णयों की भिन्नता का कारण मानी जा सकती है। जब भी हम किसी आचरण का नैतिक मूल्यांकन करते हैं तो हमारे सामने नीति सम्बन्धी कोई मानदण्ड, प्रतिमान या मूल्य (Standard) अवश्य होता है, जिसके आधार पर हम व्यक्ति के चरित्र, आचरण अथवा कर्म का नैतिक मूल्यांकन (Moral valuation) करते हैं। विभिन्न देश, काल, समाज और संस्कृतियों में ये नैतिक मापदण्ड या प्रतिमान अलग-अलग रहे हैं और समय-समय पर इनमें परिवर्तन होते रहे हैं। प्राचीन ग्रीक संस्कृति में जहाँ साहस और न्याय को नैतिकता का प्रतिमान माना जाता था, वहीं परवर्ती ईसाई संस्कृति में सहनशीलता और त्याग को नैतिकता का प्रतिमान माना जाने लगा। यह एक वास्तविकता है कि नैतिक प्रतिमान या नैतिकता के मापदण्ड अनेक रहे हैं तथा विभिन्न व्यक्ति और विभिन्न समाज अलग-अलग नैतिक प्रतिमानों का उपयोग करते रहे हैं। मात्र यही नहीं, एक ही व्यक्ति अपने जीवन में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न नैतिक प्रतिमानों का उपयोग करता है। नैतिक प्रतिमान के इस प्रश्न पर न केवल जनसाधारण में अपितु नीतिवेत्ताओं में भी गहन मतभेद हैं।

नैतिक प्रतिमानों (Moral Standards) की इस विविधता और परिवर्तनशीलता को लेकर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। क्या कोई ऐसा सार्वभौम नैतिक प्रतिमान सम्भव है, जिसे सार्व-लौकिक और सार्वकालिक मान्यता प्राप्त हो? यद्यपि अनेक नीतिवेत्ताओं ने अपने नैतिक प्रतिमान को सार्वलौकिक, सार्व-कालीन एवं सार्वजनीन सिद्ध करने का दावा अवश्य किया है, किन्तु जब वे ही आपस में एकमत नहीं हैं तो फिर उनके इस दावे को कैसे मान्य किया जा सकता है? नीतिशास्त्र के इतिहास की नियमवादी परम्परा में कबीले के बाह्य नियमों की अवधारणा से लेकर अन्तरात्मा के आदेश तक तथा साध्यवादी परम्परा में स्थूल स्वार्थमूलक मुखवाद से प्रारम्भ करके बुद्धिवाद, पूर्णतावाद और मूल्यवाद तक अनेक नैतिक प्रतिमान प्रस्तुत किये गये हैं।

यदि हम नैतिक मूल्यांकन का आधार नैतिक आवेगों (Moral Sentiments) को स्वीकार करते हैं तो नैतिक मूल्यांकन में एकरूपता सम्भव नहीं होगी, क्योंकि व्यक्तिनिष्ठ नैतिक आवेगों में विविधता स्वाभाविक है। नैतिक आवेगों की इस विविधता को समकालीन विचारक एडवर्ड वैस्टरमार्क ने स्वयं

१ विस्तृत विवेचन के लिए देखें—जैन, बौद्ध और गीता के आचार धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन भाग १, अध्याय ५, पृ. ११६-१७४।

स्वीकार किया है। उनके अनुसार इस विविधता का कारण व्यक्तियों के परिवेश, धर्म और विश्वासों में पायी जाने वाली भिन्नता है। जो विचारक कर्म के नैतिक औचित्य एवं अनौचित्य के निर्धारण के लिए विधानवादी प्रतिमान अपनाते हैं और जाति, समाज, राज्य या धर्म द्वारा प्रस्तुत विधि-निषेध (यह करो और यह मत करो) की नियमावलियों को नैतिक प्रतिमान स्वीकार करते हैं, उनमें भी प्रथम तो इस प्रश्न को लेकर ही मतभेद है कि जाति (समाज), राज्य शासन और धर्मग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत अनेक नियमावलियों में से किसे स्वीकार किया जाये? पुनः प्रत्येक जाति, राज्य और धर्मग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत ये नियमावलियाँ भी अलग-अलग हैं। इस प्रकार बाह्य विधानवाद नैतिक प्रतिमान का कोई एक सिद्धांत प्रस्तुत कर पाने में असमर्थ है। समकालीन अनुमोदनात्मक सिद्धांत (Approbative Theories) जो नैतिक प्रतिमान को वैयक्तिक, रुचि-सापेक्ष अथवा सामाजिक एवं धार्मिक अनुमोदन पर निर्भर मानते हैं, किसी एक सार्वभौम नैतिक प्रतिमान का दावा करने में असमर्थ हैं। व्यक्तियों का रुचिवैविध्य और सामाजिक आदर्शों में पायी जाने वाली भिन्नताएँ सुस्पष्ट ही हैं। धार्मिक अनुशंसा भी अलग-अलग होती है। एक धर्म जिन कर्मों का अनुमोदन करता है और उन्हें नैतिक ठहराता है, दूसरा धर्म उन्हीं कर्मों को निषिद्ध और अनैतिक ठहराता है। वैदिक धर्म और इस्लाम जहाँ पशुबलि को वैध मानते हैं, वहीं जैन, वैष्णव और बौद्ध धर्म उसे अनैतिक और अवैध मानते हैं। निष्कर्ष यही है कि वे सभी सिद्धांत किसी एक सार्वभौम नैतिक प्रतिमान का दावा करने में असमर्थ हैं, जो नैतिकता की कसौटी, वैयक्तिक रुचि, सामाजिक अनुमोदन अथवा धर्मशास्त्र की अनुशंसा को मानते हैं।

अन्तःप्रज्ञावाद अथवा सरल शब्दों में कहें तो अन्तरात्मा के अनुमोदन का सिद्धांत भी किसी एक नैतिक प्रतिमान को दे पाने में असमर्थ है। यद्यपि यह कहा जाता है कि अन्तरात्मा के निर्णय सरल, सहज और अपरोक्ष होते हैं, फिर भी अनुभव यही बताता है कि अन्तरात्मा के निर्णयों में एकरूपता नहीं होती। प्रथम तो स्वयं अन्तःप्रज्ञावादी ही इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं कि इस अन्तःप्रज्ञा की प्रकृति क्या है, यह बौद्धिक है या भावना-परक। पुनः यह मानना कि सभी की अन्तरात्मा एक-सी है, ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तरात्मा की संरचना और उसके निर्णय भी व्यक्ति के संस्कारों पर आधारित होते हैं। पशुबलि के सम्बन्ध में मुस्लिम एवं जैन परिवारों में संस्कारित व्यक्तियों के अन्तरात्मा के निर्णय एक समान नहीं होंगे। अन्तरात्मा कोई सरल तथ्य नहीं है, जैसाकि अन्तःप्रज्ञावाद मानता है, अपितु यह विवेकात्मक चेतना के विकास, पारिवारिक एवं सामाजिक संस्कारों तथा परिवेशजन्य तथ्यों द्वारा निर्मित एक जटिल रचना है और वे

तीनों बातें हमारी अन्तरात्मा को और उसके निर्णयों को प्रभावित करती हैं।

इसी प्रकार साध्यवादी सिद्धांत भी किसी सार्वभौम नैतिक मानदण्ड का दावा नहीं कर सके हैं। सर्वप्रथम तो उनमें इस प्रश्न को लेकर ही मतभेद है कि मानव जीवन का साध्य क्या हो सकता है? मानवतावादी विचारक, जो मानवीय गुण के विकास को ही नैतिकता की कसौटी मानते हैं इस बात पर परस्पर सहमत नहीं हैं कि आत्म-चेतना, विवेकशीलता और संयम में किसे सर्वोच्च मानवीय गुण माना जाए। समकालीन मानवतावादियों में जहाँ वारनर फिटे आत्मचेतनता को प्रमुख मानते हैं, वहाँ सी० बी० गर्नेट और इस्ताइल लेविन विवेकशीलता को तथा इरविंग बविट आत्मसंयम को प्रमुख नैतिक गुण मानते हैं। साध्यवादी परम्परा के सामने यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण रहा है कि मानवीय चेतना के ज्ञातात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक पक्ष में से किसकी सन्तुष्टि को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाए। इस सन्दर्भ में सुखवाद और बुद्धिवाद का विवाद तो सुप्रसिद्ध ही है। सुखवाद जहाँ मनुष्य के अनुभूत्यात्मक (वासना-त्मक पक्ष की सन्तुष्टि को मानव-जीवन का साध्य घोषित करता है; वहाँ बुद्धिवाद भावना निरपेक्ष बुद्धि के आदेशों के परिपालन में ही नैतिक कर्तव्य की पूर्णता देखता है। इस प्रकार सुखवाद और बुद्धिवाद के नैतिक प्रतिमान एक दूसरे से भिन्न हैं। इसका मूल कारण दोनों की मूल्यदृष्टि की भिन्नता है, एक भोगवाद का समर्थक है, तो दूसरा वैराग्यवाद का। भाव यही नहीं, सुखवादी विचारक भी "कौन-सा सुख साध्य है?" इस प्रश्न पर एकमत नहीं है? कोई वैयक्तिक सुख को साध्य बताता है तो कोई समष्टि सुख को अथवा अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख को। पुनः यह सुख, ऐन्द्रिक सुख ही या मानसिक सुख हो अथवा आध्यात्मिक आनन्द हो, इस प्रश्न पर भी मतभेद है। वैराग्यवादी परम्पराएँ भी सुख को साध्य मानती हैं, किन्तु वे जिस सुख की बात करती हैं वह सुख वस्तुगत नहीं है, वह इच्छा, आसक्ति या तृष्णा के समाप्त होने पर चेतना की निर्द्वन्द्व, तनावरहित, समाधिपूर्ण अवस्था है। इस प्रकार सुख को साध्य मानने के प्रश्न पर उनमें आम सहमति होते हुए भी उनके नैतिक प्रतिमान भिन्न-भिन्न ही होंगे, क्योंकि सुख की प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

यद्यपि पूर्णतावाद आत्मोपलब्धि को साध्य मानकर सुखवाद और बुद्धिवाद के बीच समन्वय साधने का प्रयत्न अवश्य करता है, किन्तु वह इस प्रयास में सफल हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। पुनः वह भी किसी एक सार्वभौम नैतिक प्रतिमान को प्रस्तुत कर सकता है, यह मानना भ्रांतिपूर्ण है; क्योंकि व्यक्तियों के हित न केवल भिन्न-भिन्न हैं, अपितु परस्पर विरोधी भी हैं।

श्रेणी का कल्याण और बाकूटर का कल्याण एक नहीं है, भूमिक का कल्याण उसके स्वामी के कल्याण से पृथक् ही है, किसी आर्वाभौम शुभ (Universal good) की बात कितनी ही आकर्षक क्यों न हो, वह झानि ही है। वैयक्तिक हितों के योग के अतिरिक्त सामान्य हित (Common good) मात्र अमूर्त कल्पना है। न केवल व्यक्तियों के हित या शुभ अलग-अलग होंगे अपितु दो भिन्न परिस्थितियों में एक व्यक्ति के हित भी पृथक्-पृथक् होंगे। एक ही व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न स्थितियों में दाता और ग्राहक दोनों हो सकता है, किन्तु क्या दोनों स्थितियों में उसका हित समान होगा? समाज में एक का हित दूसरे के हित का बाधक हो सकता है। मात्र यही नहीं, हमारा एक हित हमारे ही दूसरे हित में बाधक हो सकता है। रसनेन्द्रिय या यौन कामना मनुष्य के हित और स्वास्थ्य-सम्बन्धी हित (Good) सामान्य हों, यह आवश्यक नहीं है। यस्तुतः यह धारणा कि मनुष्य का या मनुष्यों का कोई सामान्य शुभ है अपने आपमें यथार्थ है, जिसे हम सामान्य शुभ कहना चाहते हैं वह विभिन्न शुभों का एक ऐसा स्तम्भ है, जिसमें न केवल भिन्न-भिन्न शुभों की पृथक्-पृथक् सत्ता है, अपितु वे एक दूसरे के विरोध में भी खड़े हुए हैं। शुभ एक नहीं, अनेक हैं और उनमें पारस्परिक विरोध भी है। क्या आत्मलाभ और आत्मत्याग के बीच कोई विरोध नहीं है? यदि पूर्णतावादी निम्न आत्मा (Lower Self) के त्याग द्वारा उच्चात्मा (Higher Self) के लाभ की बात कहते हैं तो वे जीवन के इन दो पक्षों में विरोध स्वीकार करते हैं। पुनः निम्नात्मा भी हमारी आत्मा है और यदि हम उसके विषेध की बात स्वीकार करते हैं तो हमें पूर्णतावाद के सिद्धांत को छोड़कर प्रकारान्तर से बुद्धिवाद या वैराग्यवाद को ही स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार वैयक्तिक आत्मा और सामाजिक आत्मा का अथवा स्वार्थ और परार्थ का अन्तर्विरोध, भी समाप्त नहीं किया जा सकता है, इसीलिए मूल्यवाद किसी एक मूल्य की बात न कहकर "मूल्यों" या "मूल्य-विश्व" की बात करता है। मूल्यों की विपुलता के इस सिद्धांत में नैतिक प्रतिमान की विविधता स्वभावतया ही होगी, क्योंकि प्रत्येक मूल्य का मूल्यार्थान किसी दृष्टि विशेष के आधार पर ही होगा। चूंकि मनुष्यों की जीवन दृष्टियाँ या मूल्यदृष्टियाँ विविध हैं, अतः उन पर आधारित नैतिक प्रतिमान भी विविध ही होंगे। पुनः, मूल्यवाद में मूल्यों के तारतम्य को लेकर सदैव ही विवाद रहा है। एक दृष्टि से जो सर्वोच्च मूल्य लगता है, वही दूसरी दृष्टि से निम्न मूल्य हो सकता है। मनुष्य की जीवनदृष्टि या मूल्यदृष्टि का निर्माण भी स्वयं उसके संस्कारों एवं परिवेशजन्य तथ्यों से प्रभावित होता है, अतः मूल्यवाद नैतिक प्रतिमान के सन्दर्भ में विविधता की धारणा को ही पुष्ट करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिक प्रतिमान के प्रथम पर न केवल विविध दृष्टिकोणों से विचार हुआ है, अपितु उसका प्रत्येक सिद्धांत स्वयं भी इनने अन्तर्विरोधों से युक्त है कि वह एक सर्व-भौम नैतिक मानदण्ड होने का दावा करने में असमर्थ है। आज भी इस सम्बन्ध में किसी सर्वमान्य सिद्धांत का अभाव है।

यस्तुतः नैतिक मानदण्डों की यह विविधता स्वाभाविक ही है और जो लोग किसी एक सर्वमान्य नैतिक प्रतिमान की बात करते हैं वे कल्पनालोक में ही विचरण करते हैं। नैतिक प्रतिमानों की इस विविधता के कई कारण हैं। सर्वप्रथम तो नैतिकता और अनैतिकता का यह प्रश्न उस मनुष्य के मन्दर्भ में है जिसकी प्रकृति बहुआयामी (Multi dimensional) और अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण है। मनुष्य केवल चेतनसत्ता नहीं है, अपितु चेतनायुक्त शरीर है, वह केवल व्यक्ति नहीं है, अपितु समाज में जीने वाला व्यक्ति है। उसके अस्तित्व में वासना और विवेक तथा वैयक्तिकता और सामाजिकता के तत्त्व समाहित हैं। वही हमें यह भी समझ लेना है कि वासना और विवेक में तथा व्यक्ति और समाज में स्वभावतः संगति (Harmony) नहीं है। वे स्वभावतः एक-दूसरे के विरोध में हैं। मनोवैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि "इड" (वासना-तत्त्व) और "सुपर-ईगो" (आदर्श तत्त्व) मानवीय चेतना के समक्ष प्रतिपक्षी के रूप में ही उत्पन्न होते हैं। उसमें समर्पण और शासन की दो विरोधी मूल प्रवृत्तियाँ एक साथ काम करती हैं। एक ओर वह अपनी अस्मिता को बचाये रखना चाहता है तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व को व्यापक बनाना चाहता है, समाज के साथ जुड़ना चाहता है। ऐसे बहुआयामी एवं अन्तर्विरोधों से युक्त सत्ता के शुभ या हित एक नहीं, अनेक होंगे और जब मनुष्य के शुभ या हित (good) ही विविध हैं तो फिर नैतिक प्रतिमान भी विविध ही होंगे। किसी परम शुभ (Ultimate good) की कल्पना परम सत्ता (Ultimate reality) के प्रसंग में चाहे सही भी हो, किन्तु मानवीय अस्तित्व के प्रसंग में सही नहीं है। मनुष्य को मनुष्य मानकर चलना होगा — ईश्वर मानकर नहीं, और एक मनुष्य के रूप में उसके हित या साध्य विविध ही होंगे। मात्र ही हितों या साध्यों की यह विविधता नैतिक प्रतिमानों की अनेकता को ही सूचित करेगी।

नैतिक प्रतिमान का आधार व्यक्ति की जीवन-दृष्टि या मूल्य-दृष्टि होगी, किन्तु व्यक्ति की मूल्य-दृष्टि या जीवन-दृष्टि व्यक्तियों के बौद्धिक विकास, संस्कार एवं पर्यावरण के आधार पर ही निर्मित होती है। व्यक्तियों के बौद्धिक विकास, पर्यावरण और संस्कारों में भिन्नताएँ स्वाभाविक हैं, अतः उनकी मूल्य-दृष्टियाँ अलग-अलग होंगी और यदि मूल्य-दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न होंगी तो नैतिक प्रतिमान भी विविध होंगे। यह एक आनुभविक तथ्य है कि विविध दृष्टिकोणों के आधार पर एक ही घटना का

नैतिक मूल्यांकन अलग-अलग होता है। उदाहरण के रूप में, परिवार-नियोजन की धारणा जनसंख्या के बाहुल्य वाले देशों की दृष्टि से चाहे उचित हो, किन्तु अल्प जनसंख्या वाले देशों एवं जातियों की दृष्टियों से अनुचित होगी। राष्ट्रवाद अपनी प्रजाति की अस्मिता की दृष्टि से चाहे अच्छा हो, किन्तु सम्पूर्ण मानवता की दृष्टि से अनुचित है। इस प्रकार की एक ओर जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद को कोसते हैं तो दूसरी ओर भारतीयता के नाम पर अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। क्या हम यहाँ दोहरे मापदण्ड का उपयोग नहीं कर रहे हैं? स्वतन्त्रता की बात को ही लें। क्या स्वतन्त्रता और सामाजिक अनुशासन सहगामी होकर चल सकते हैं? आपातकाल को ही जीजिये, वैयक्तिक स्वतन्त्रता के हनन की दृष्टि से या नौकरशाही के हावी होने की दृष्टि से हम उसकी आलोचना कर सकते हैं किन्तु अनुशासन बनाये रखने और अराजकता को समाप्त करने की दृष्टि से उसे उचित ठहराया जा सकता है। वस्तुतः उचितता और अनुचितता का मूल्यांकन किसी एक दृष्टिकोण के आधार पर न होकर विविध दृष्टिकोणों के आधार पर होता है, जो एक दृष्टिकोण या अपेक्षा से नैतिक हो सकता है, वही दूसरे दृष्टिकोण या अपेक्षा से अनुचित हो सकता है; जो एक परिस्थिति में उचित हो सकता है, वही दूसरी परिस्थिति में अनुचित हो सकता है। जो एक व्यक्ति के लिए उचित है, वही दूसरे के लिए अनुचित हो सकता है। एक स्थूल शरीर वाले व्यक्ति के लिए स्निग्ध पदार्थों का सेवन अनुचित है, किन्तु कृशकाय व्यक्ति के लिए उचित है। अतः हम कह सकते हैं कि नैतिक मूल्यांकन के विविध दृष्टिकोण हैं और इन विविध दृष्टिकोणों के आधार पर विविध नैतिक प्रतिमान बनते हैं, जो एक ही घटना का अलग-अलग नैतिक मूल्यांकन करते हैं।

नैतिक मूल्यांकन परिस्थिति-सापेक्ष एवं दृष्टि-सापेक्ष मूल्यांकन हैं; अतः उनकी सार्वभौम सत्यता का दावा करना भी व्यर्थ है। किसी दृष्टि-विशेष या अपेक्षा-विशेष के आधार पर ही वे सत्य होते हैं। संक्षेप में, सभी नैतिक प्रतिमान मूल्य-दृष्टि-सापेक्ष हैं और मूल्य-दृष्टि स्वयं व्यक्तियों के बौद्धिक विकास, संस्कार तथा सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भौतिक पर्यावरण पर निर्भर करती है और चूँकि व्यक्तियों के बौद्धिक विकास, संस्कार तथा सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भौतिक पर्यावरण में विविधता और परिवर्तनशीलता है, अतः नैतिक प्रतिमानों में विविधता या अनेकता स्वाभाविक ही है।

वैयक्तिक शुभ की दृष्टि से प्रस्तुत नैतिक प्रतिमान सामाजिक शुभ की दृष्टि से प्रस्तुत नैतिक प्रतिमान से भिन्न होगा। इसी प्रकार वासना पर आधारित नैतिक प्रतिमान विवेक पर आधारित नैतिक प्रतिमान से अलग होगा। राष्ट्रवाद से प्रभावित

व्यक्ति की नैतिक कसौटी अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थक व्यक्ति की नैतिक कसौटी से पृथक् होगी। पूँजीवाद और साम्यवाद के नैतिक मानदण्ड भिन्न-भिन्न ही रहेंगे। अतः हमें नैतिक मानदण्डों की अनेकता को स्वीकार करते हुए यह मानना होगा कि प्रत्येक नैतिक मानदण्ड अपने उग दृष्टिकोण के आधार पर ही सत्य है।

कुछ लोग यहाँ किसी परम शुभ की अवधारणा के आधार पर किसी एक नैतिक प्रतिमान का दावा कर सकते हैं; किन्तु वह परम शुभ या तो इन विभिन्न शुभों या हितों को अपने में अन्तर्निहित करेगा, या इनसे पृथक् होगा, यदि वह इन भिन्न-भिन्न मानवीय शुभों को अपने में अन्तर्निहित करेगा तो वह भी नैतिक प्रतिमानों की अनेकता को स्वीकार करेगा, और यदि वह इन मानवीय शुभों से पृथक् होगा तो नीतिशास्त्र के लिए व्यर्थ ही होगा; क्योंकि नीतिशास्त्र का पूरा सन्दर्भ मानव-सन्दर्भ है। नैतिक प्रतिमान का प्रश्न तभी तक महत्वपूर्ण है जब तक मनुष्य मनुष्य है, यदि मनुष्य मनुष्य के स्तर से ऊपर उठकर देवत्व को प्राप्त कर लेता है या मनुष्य के स्तर से नीचे उतरकर पशु बन जाता है तो उसके लिए नैतिकता या अनैतिकता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है और ऐसे यथार्थ मनुष्य के लिए नैतिकता के प्रतिमान अनेक ही होंगे। नैतिक प्रतिमानों के सन्दर्भ में यही अनेकान्तदृष्टि सम्यग्दृष्टि होगी। इसे हम नैतिक प्रतिमानों का अनेकान्तवाद कह सकते हैं।

जैन दर्शन में सदाचार का मानदण्ड

फिर भी मूल प्रश्न यह है कि जैन दर्शन का चरम साध्य क्या है? जैन दर्शन अपने चरम साध्य के बारे में स्पष्ट है। उसके अनुसार व्यक्ति का चरम साध्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति है, वह यह मानता है कि जो आचरण निर्वाण या मोक्ष की दिशा में जाता है वही सदाचार की कोटि में आता है। दूसरे शब्दों में जो आचरण मुक्ति का कारण है वह सदाचार है, और जो आचरण बन्धन का कारण है, वह दुराचार है। किन्तु यहाँ पर हमें यह भी स्पष्ट करना होगा कि उसका मोक्ष अथवा निर्वाण से क्या तात्पर्य है। जैन धर्म के अनुसार निर्वाण या मोक्ष स्वभाव-दशा एवं आत्मपूर्णता की प्राप्ति है। वस्तुतः हमारा जो निज स्वरूप है उसे प्राप्त कर लेना अथवा हमारी बीजरूप क्षमताओं को विकसित कर आत्मपूर्णता की प्राप्ति ही मोक्ष है। उसकी पारम्परिक शब्दावली में परमाव से हटकर स्वभाव में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। यही कारण था कि जैन दार्शनिकों ने धर्म की एक विलक्षण एवं महत्वपूर्ण परिभाषा दी है। उनके अनुसार धर्म वह है जो वस्तु का निज स्वभाव है (वस्तुसहस्रो धर्मो)। व्यक्ति का धर्म या साध्य वही हो सस्ता है जो उसकी चेतना या आत्मा का निज स्वभाव है और जो हमारा निज स्वभाव है उसी को पा लेना ही मुक्ति है। अतः उस स्वभाव

दशा की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचरण कहा जा सकता है।

पुनः प्रश्न यह उठता है कि हमारा स्वभाव क्या है? व्याख्याप्रज्ञप्ति में गौतम ने भगवान महावीर के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित किया था। वे पूछते हैं, "भन्ते! आत्मा का निज स्वरूप क्या है और आत्मा का साध्य क्या है?" महावीर ने उनके इन प्रश्नों का जो उत्तर दिया था वही आज भी समस्त जैन आचारदर्शन में किसी कर्म के नैतिक मूल्यांकन का आधार है। महावीर ने कहा था, "आत्मा समत्व स्वरूप है और उस समत्व स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है।" दूसरे शब्दों में समता स्वभाव है और विषमता विभाव है। और जो विभाव से स्वभाव की दिशा में अथवा विषमता से समता की दिशा में ले जाता है वही धर्म है, नैतिकता है, सदाचार है। अर्थात् विषमता से समता की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचार है। संक्षेप में जैन धर्म के अनुसार सदाचार या दुराचार के मानदण्ड समता एवं विषमता अथवा स्वभाव एवं विभाव के तत्त्व हैं। स्वभाव से फलित होने वाला आचरण सदाचार है और विभाव या परभाव से फलित होने वाला आचरण दुराचार है।

यहाँ हमें समता के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। यद्यपि द्रव्याधिक नय की दृष्टि से समता का अर्थ परभाव से हटकर शुद्ध स्वभाव दशा में स्थित हो जाना है, किन्तु अपनी विविध अभिव्यक्तियों की दृष्टि से विभिन्न स्थितियों में इसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से समता या स्वभाव का अर्थ राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागता या अनासक्त भाव की उपलब्धि है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक समत्व का अर्थ है—समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं से रहित मन की शांत एवं विक्षोभ (तनाव) रहित अवस्था। यही समत्व जब हमारे सामुदायिक या सामाजिक जीवन में फलित होता है तो इसे हम अहिंसा के नाम से अभिहित करते हैं। वैचारिक दृष्टि से इसे हम अनाग्रह या अनेकान्त दृष्टि कहते हैं। जब हम इसी समत्व के आर्थिक पक्ष से विचार करते हैं तो अपरिग्रह के नाम से जानते हैं। साम्यवाद एवं न्यासी-सिद्धांत इसी अपरिग्रह वृत्ति की आधुनिक अभिव्यक्तियाँ हैं। यह समत्व ही मानसिक क्षेत्र में अनासक्ति या वीतरागता के रूप में, सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा के रूप में, वैचारिकता के क्षेत्र में अनाग्रह या अनेकान्त के रूप में और आर्थिक क्षेत्र में अपरिग्रह के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः जैन धर्म के अनुसार समत्व निर्विवाद रूप से सदाचार का मानदण्ड स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु "समत्व" को सदाचार का मानदण्ड स्वीकार करते हुए भी हमें उसके विविध पहलुओं पर विचार तो करना ही होगा क्योंकि सदाचार का सम्बन्ध अपने साध्य के साथ-साथ उन साधनों से भी होता है

जिसके द्वारा हम उसे पाना चाहते हैं और जिस रूप में वह हमारे व्यवहार में और सामुदायिक जीवन में प्रकट होता है।

जहाँ तक व्यक्ति के भौतिक या आन्तरिक समत्व का प्रश्न है हमें उसे वीतराग मनोदशा या अनासक्त चित्तवृत्ति की साधना मान सकते हैं। फिर भी समत्व की साधना का यह रूप हमारे वैयक्तिक एवं आन्तरिक जीवन से अधिक सम्बन्धित है। यह व्यक्ति की मनोदशा का परिचायक है। यह ठीक है कि व्यक्ति की मनोदशा का प्रभाव उसके आचरण पर भी होता है और हम व्यक्ति के आचरण का मूल्यांकन करते समय उसके इस आन्तरिक पक्ष पर विचार भी करते हैं किन्तु फिर भी यह सदाचार या दुराचार का प्रश्न हमारे व्यवहार के बाह्य पक्ष एवं सामुदायिक के साथ अधिक जुड़ा है। जब भी हम सदाचार एवं दुराचार के किसी मानदण्ड की बात करते हैं, तो हमारी दृष्टि व्यक्ति के आचरण के बाह्य पक्ष पर अथवा उस आचरण का दूसरों पर क्या प्रभाव या परिणाम होता है, इस बात पर अधिक होती है। सदाचार या दुराचार का प्रश्न केवल कर्ता के आन्तरिक मनोभावों या वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित नहीं है वह आचरण के बाह्य प्रारूप तथा हमारे सामाजिक जीवन में इसके आचरण परिणामों पर विचार करता है। यहाँ हमें सदाचार और दुराचार की व्याख्या के लिए कोई ऐसी कसौटी खोजनी होगी जो आचार के बाह्य पक्ष अथवा हमारे व्यवहार के सामाजिक पक्ष को भी अपने में समेट सके। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में इस सम्बन्ध में एक सर्वमान्य दृष्टिकोण यह है कि परोपकार ही पुण्य है और परपीड़ा ही पाप है। तुलसीदास ने इसे निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

"परहित सरिस धरम नहि भारी,
पर-पीड़ा सम नहि बधमाई।"

अर्थात् वह आचरण जो दूसरों के लिए कल्याणकारी या हितकारी है सदाचार है, पुण्य है; और जो दूसरों के लिए अकल्याणकारी है, अहितकर है, वही पाप है, दुराचार है। जैन धर्म में सदाचार के एक ऐसे ही मानदण्ड की चर्चा हमें आचारांग सूत्र में उपलब्ध होती है। वहाँ कहा गया है "भूतकाल में जितने अहंत् हो गये हैं वर्तमान काल में जितने अहंत् हैं और भविष्य में जितने अहंत् होंगे वे सभी यह उपदेश करते हैं कि सभी प्राणों सभी भूतों, सभी जीवों और सभी सत्त्वों को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध नित्य और शाश्वत धर्म है।" किन्तु मात्र दूसरे की हिंसा नहीं करने के अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष का या दूसरों के हित साधन को ही सदाचार की कसौटी नहीं माना जा सकता है। ऐसी अवस्थाएँ सम्भव हैं कि जब मेरे असत्य सम्भाषण एवं अनैतिक आचरण के द्वारा दूसरों का हित-

साधन होता हो, अथवा कम से कम हिंसा का अहित न होना हो, किन्तु क्या ऐसे आचरण को सदाचार कहने का साहस कर सकेंगे? क्या वैष्णवों के माध्यम से अपार धनराशि को एकत्रित कर उसे लोकहित के लिए व्यय करने मात्र से कोई स्त्री सदाचारी की कोटि में आ सकेगी? अथवा गौतम वामना की सन्तुष्टि के वे रूप जिसमें किसी भी दूसरे प्राणी की हिंसा नहीं होती है, दुराचार की कोटि में नहीं आयेंगे? सूत्रकृतांग में सदाचारिता का एक ऐसा ही दावा अन्यतीर्थियों द्वारा प्रस्तुत भी किया गया था, जिसे महावीर ने अमान्य कर दिया था। क्या हम उस व्यक्ति को जो डाके डालकर उस सम्पत्ति को गरीबों में वितरित कर देता है, सदाचारी मान सकेंगे। एक चोर और एक सन्त दोनों ही व्यक्ति को सम्पत्ति के पाश से मुक्त करते हैं फिर भी दोनों समान कोटि के नहीं माने जाते। वस्तुतः सदाचार या दुराचार का निर्णय केवल एक ही आधार पर नहीं होता है। उसमें आचरण का प्रेरक आन्तरिक पक्ष अर्थात् उसकी मनोदशा और आचरण का बाह्य परिणाम अर्थात् सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव दोनों ही विचारणीय हैं। आचार की शुभाशुभता विचार पर, और विचार या मनोभावों की शुभाशुभता स्वयं व्यवहार पर निर्भर करती है। सदाचार या दुराचार का मानदण्ड तो ऐसा होना चाहिए जो इन दोनों को समाविष्ट कर सके।

साधारणतया जैन धर्म सदाचार का मानदण्ड अहिंसा को स्वीकार करता है, किन्तु यहाँ हमें यह विचार करना होगा कि क्या केवल किसी को दुःख या पीड़ा नहीं देना या किसी की हत्या नहीं करना मात्र ही अहिंसा है? यदि अहिंसा की मात्र इतनी ही व्याख्या है तो फिर यह सदाचार और दुराचार का मानदण्ड नहीं बन सकती। जबकि जैन आचार्यों ने सदैव ही उसे सदाचार का एकमात्र आधार प्रस्तुत किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि अनृतवचन, स्तेय, मैथुन, परिग्रह आदि पापों के जो भिन्न-भिन्न नाम दिये गये वे तो केवल शिष्यबोध के लिए हैं। मूलतः तो वे सब हिंसा ही हैं। वस्तुतः जैन आचार्यों ने अहिंसा को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचारा है। वह आन्तरिक भी है और बाह्य भी। उसके सम्बन्ध व्यक्ति से भी है और समाज से भी। इसे जैन परम्परा में स्व की हिंसा और पर की हिंसा ऐसे दो भागों में बांटा गया है। जब वह हमारे स्व-स्वरूप या स्वभाव दशा का घात करती है तो स्व-हिंसा है और जब वह दूसरों के हितों को चोट पहुँचाती है, वह पर की हिंसा है। स्व की हिंसा के रूप में वह आन्तरिक पाप है तो पर

की हिंसा के रूप में वह सामाजिक पाप। किन्तु उसके ये दोनों रूप दुराचार की कोटि में ही आते हैं। अतः अपने इस व्यापक अर्थ में हिंसा को दुराचार की और अहिंसा को सदाचार की कसौटी माना जा सकता है।

जैन दर्शन में सदाचार और दुराचार की सापेक्षता और निरपेक्षता का प्रश्न

पश्चिम की तरह भारत में भी नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष पक्षों पर काफी गहन विचार हुआ है। नैतिक कर्मों को अपवादात्मकता और निरपवादिता की चर्चा के स्वर वेदों, स्मृति ग्रन्थों और पौराणिक साहित्य में काफी जोरों से सुनाई देते हैं।^१ जैन विचारणा के अनुसार, नैतिकता को एकात्मिक रूप से न तो सापेक्ष कहा जा सकता है और न निरपेक्ष। यदि वह सापेक्ष है तो इसीलिए कि वह निरपेक्ष भी है।^२ निरपेक्ष के अभाव में सापेक्ष सच्चा नहीं है। वह निरपेक्ष इसलिए है कि वह सापेक्षता से ऊपर भी है। नैतिकता की सापेक्षता एवं निरपेक्षता के प्रश्न का एकात्मिक हल जैन विचारणा प्रस्तुत नहीं करती। वह नैतिकता को सापेक्ष मानते हुए भी उसमें निरपेक्षता के सामान्य तत्व की अवधारणा करती है। वह सापेक्षिक नैतिकता की उस कमजोरी को स्पष्ट रूप से जानती थी कि उसमें नैतिक आदर्श के रूप में जिस सामान्य तत्व की आवश्यकता होती है, उसका अभाव होता है। सापेक्ष नैतिकता आचरण के तथ्यों को प्रस्तुत करती है, लेकिन आचरण के आदर्श को नहीं। यही कारण है कि जैन विचारणा ने भी इस समस्या के निराकरण के लिए वही समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया था, जिसे स्पेन्सर और डिवी ने अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि के नवीन सन्दर्भों में वर्तमान युग में प्रस्तुत किया है।

इस प्रश्न पर गहराई से विचार करना आवश्यक है कि जैन नैतिकता किस अर्थ में सापेक्ष है और किस अर्थ में निरपेक्ष है। जैन तत्व ज्ञान अनेकान्त-सिद्धांत को आधार मानकर चलता है। उसके अनुसार, सत् अनन्त धर्मात्मक है, अतः सत् सम्बन्धी प्राप्त मारा ज्ञान आंशिक ही होगा, पूर्ण नहीं होगा। हम सब जो नैतिकता के क्षेत्र में आते हैं अथवा जो उसके आचरण में लगे हुए हैं, पूर्ण नहीं हैं। हमें अपनी अपूर्णता का स्पष्ट बोध है। अतः हम जो भी जानेंगे वह अपूर्ण ही होगा, सान्त होगा, समझ होगा, और इसलिए आंशिक एवं सापेक्ष होगा। और यदि ज्ञान ही सापेक्ष होगा तो हमारे नैतिक निर्णय भी, जो हम अपने प्राप्त ज्ञान के आधार पर देते हैं, सापेक्ष ही होंगे। इस प्रकार अनेकान्त की धारणा से नैतिक निर्णयों की सापेक्षता निष्पन्न होती है।

१ देखिए, गौतमसूत्र, अध्याय २, कर्मजिज्ञासा।

२ स्वयम्भूस्तोत्र, १०३।

आचरण के जिन तथ्यों को हम शुभ-अशुभ अथवा पुण्य-पाप के नाम से सम्बोधित करते हैं, उनके सन्दर्भ में साधारण व्यक्ति द्वारा दिये गये निर्णय सापेक्ष ही हो सकते हैं। हमारे निर्णयों के देने में कम से कम कर्ता के प्रयोजन एवं कर्म के परिणाम के पक्ष तो उपस्थित होते ही हैं। दूसरे व्यक्ति के आचरण के सम्बन्ध में दिये गये हमारे अधिकांश निर्णय परिणाम-सापेक्ष होते हैं। जबकि हमारे अपने आचरण सम्बन्धी निर्णय प्रयोजन-सापेक्ष होते हैं। किसी भी व्यक्ति को न तो पूर्णतया यह ज्ञान होता है कि कर्ता का प्रयोजन क्या था और न यह ज्ञान होता है कि उसके कर्मों का हमारे पर क्या परिणाम होगा। अतः जनसाधारण के नैतिक निर्णय हमेशा अपूर्ण ही होंगे।

दूसरी ओर यह सारा जगत ही अपेक्षाओं से युक्त है, क्योंकि जगत की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। ऐसे जगत में आचरित नैतिकता निरपेक्ष नहीं हो सकती। सभी कर्म देश, काल अथवा व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए निरपेक्ष नहीं हो सकते। बाह्य जागतिक परिस्थितियाँ और कर्म के पीछे वैयक्तिक प्रयोजन भी आचरण को सापेक्ष बना देते हैं।

जैन दृष्टिकोण

एक ही प्रकार से आचरित कर्म एक स्थिति में नैतिक होता है और भिन्न स्थिति में अनैतिक हो जाता है। एक ही कर्म एक के लिए नैतिक हो सकता है, दूसरे के लिए अनैतिक। जैन विचारधारा आचरित कर्मों की नैतिक सापेक्षता को स्वीकार करती है। प्राचीनतम जैन आगम आचारंग सूत्र में कहा गया है कि जो आचरित कर्म आस्रव या बन्धन के कारण हैं वे भी मोक्ष के हेतु हो जाते हैं और जो मोक्ष के हेतु हैं, वे भी बन्धन के हेतु हो जाते हैं।^१ इस प्रकार कोई भी अनैतिक कर्म विशेष परिस्थिति में नैतिक बन जाता है और कोई भी नैतिक कर्म विशेष परिस्थिति में अनैतिक बन सकता है।

न केवल साधक की मनःस्थिति, जिसे जैन परिभाषा में "भाव" कहते हैं, आचरण के कर्मों का मूल्यांकन करती है, और उसके साथ-साथ जैन विचारकों ने द्रव्य, क्षेत्र और काल को भी कर्मों की नैतिकता और अनैतिकता का निर्धारक तत्त्व स्वीकार किया है। उत्तराख्ययन चूर्ण में कहा है, "तीर्थंकर देश और काल के अनुरूप धर्म का उपदेश करते हैं।"^२ आचार्य आत्माराम

जी महाराज लिखते हैं कि बन्ध और निर्जरा (कर्मों की अनैतिकता और नैतिकता) में भावों की प्रमुखता है, परन्तु भावों के साथ स्थान और क्रिया का भी मूल्य है।^३ आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ 'अष्टकप्रकरण' की टीका में आचार्य जिनेश्वर ने चरक-संहिता का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसका आशय यह है कि देश, काल और रोगादि के कारण मानव जीवन में कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है जब अकार्य कार्य बन जाता है। विधान निषेध की कोटि में चला जाता है और निषेध विधान की कोटि में चला जाता है। इस प्रकार जैन नैतिकता में स्थान (देश), समय (काल), मनःस्थिति (भाव) और व्यक्ति इन चार अपेक्षिकताओं का नैतिक मूल्यों के निर्धारण में प्रमुख महत्व है। आचरण के कर्म इन्हीं चारों के आधार पर नैतिक और अनैतिक बनते रहते हैं। संक्षेप में, एकान्त रूप से न तो कोई आचरण, कर्म या क्रिया नैतिक है और न अनैतिक, वरन् देशकालगत बाह्य परिस्थितियाँ और द्रव्य तथा भावगत परिस्थितियाँ उन्हें वैसा बना देती हैं। इस प्रकार जैन नैतिकता व्यक्ति के कर्तव्यों के सम्बन्ध में अनेकान्तवादी या सापेक्ष दृष्टिकोण अपनाती है। वह यह भी स्वीकार करती है कि सामान्य स्थिति में कुल देवों का पूजा अथवा दानादि कार्य, जो एक गृहस्थ के नैतिक कर्तव्य हैं, वे ही एक साधू या संन्यासी के लिए अवर्तव्य होते हैं—अनैतिक एवं अनाचरणीय होते हैं। कर्तव्याकर्तव्य सीमांशा में जैन विचारणा किसी भी ऐकान्तिक दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करती। आचार्य हरिभद्र लिखते हैं कि सर्वज्ञ तीर्थंकर देवों ने न किसी बात के लिए एकान्त विधान किया है और न एकान्त निषेध ही किया है, उनका एक ही आदेश है कि जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो उसे सत्यभूत होकर करो, उसे पूरी प्रामाणिकता के साथ करते रहो।^४ आचार्य उमास्वाति का कथन है, "नैतिक, अनैतिक, विधि (कर्तव्य), निषेध (अकर्तव्य), अथवा आचरणीय (कल्प), अनाचरणीय (अकल्प) एकान्त रूप से नियत नहीं हैं। देश, काल, व्यक्ति, अवस्था उपघात और विषुद्ध मनःस्थिति के आधार पर अनाचरणीय आचरणीय बन जाता है और आचरणीय अनाचरणीय।"^५

उपाध्याय अमरमुनिजी जैन दर्शन की अनेकान्तदृष्टि के आधार पर जैन नैतिकता के सापेक्षित दृष्टिकोण को स्पष्ट करते

१ आचारंग, १/४/२/१३०; देखिए—श्री अमर भारती, मई १९६४, पृ. १५।

२ उत्तराख्ययनचूर्ण, २३।

३ आचारंग, हिन्दी टीका, पृ. ३७८।

४ उपवेशपद; ७७९।

५ प्रशमरति-प्रकरण (उमास्वाति), १४६; तुलना कीजिए—श्रद्धामुत्र (शां०), ३/१/२५; गीता (शां०) ३/३५ तथा १८/४७-४८।

हुए लिखते हैं कि विभूवनोदर विधरवर्ती समस्त असंख्येय भाव अपने आपमें न तो मोक्ष का कारण हैं और न संसार का कारण हैं, साधक की अपनी अन्तःस्थिति ही उन्हें अच्छे और बुरे का रूप दे देती है।^१ अतः एकान्त रूप में न कोई आचरण शुभ होता है और न कोई अशुभ। इसे स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं कि 'कुछ विचारक जीवन में उत्सर्ग (नैतिकता की निरपेक्ष या निरपवाद स्थिति) को गढ़कर बतला चाहते हैं, जीवन में अपवाद का सर्वथा अपलाप करते हैं। उनकी दृष्टि में अपवाद (नैतिकता का सापेक्षित दृष्टिकोण) धर्म नहीं, अपितु एक महत्तर पाप है। दूसरी ओर, कुछ साधक वे हैं जो उत्सर्ग को भूलकर केवल अपवाद का सहारा लेकर ही चलना चाहते हैं। ये दोनों विचार एकांगी होने से उपादेय की कोटि में नहीं आ सकते। जैन धर्म की साधना एकान्त की नहीं, अनेकान्त की स्वस्थ और सुन्दर साधना है।^२ उसके दर्शन कक्ष में मोक्ष के हेतुओं की कोई बंधी-बंधायी नियत रूपरेखा नहीं है, कोई दृष्टा नहीं है।^३ अतः यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन को अनेकान्तवादी विचारपद्धति के आधार पर सापेक्षिक नैतिकता की धारणा मान्य है। यद्यपि उसका यह सापेक्ष दृष्टिकोण निरपेक्ष दृष्टिकोण का विरोधी नहीं है। जैन नैतिकता में एक पक्ष निरपेक्ष नैतिकता का भी है, जिस पर आगे विचार किया जायेगा।

वस्तुतः नीति की सापेक्षता और निरपेक्षता का यह प्रश्न अति प्राचीनकाल से एक विवादास्पद विषय रहा है। महाभारत, स्मृति ग्रन्थ एवं ग्रीक दार्शनिक साहित्य में इस सम्बन्ध में पर्याप्त चिन्तन हुआ है और आज तक विचारक इस प्रश्न को गूँलजाने में लगे हुए हैं। वर्तमान युग में समाज-वैज्ञानिक सापेक्षतावाद, जनोर्वैज्ञानिक सापेक्षतावाद और तार्किक भाववादी सापेक्षतावाद आदि चिन्तन धाराएँ नीति को सापेक्ष मानती हैं। उनके अनुसार, नैतिक मानदण्ड और नैतिक मूल्यांकन सापेक्ष हैं। वे यह मानते हैं कि किसी कर्म की नैतिकता देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति के परिवर्तित होने से परिवर्तित हो सकती है, अर्थात् जो कर्म एक देश में नैतिक माना जाता है वही दूसरे देश में अनैतिक माना जा सकता है, जो आचार किसी युग में नैतिक माना जाता था वही दूसरे युग में अनैतिक माना जा सकता है, इसी प्रकार जो कर्म एक व्यक्ति के लिए एक परिस्थिति में नैतिक हो सकता है वही दूसरी परिस्थिति में अनैतिक हो सकता है। दूसरे शब्दों में, नैतिक नियम, नैतिक मूल्यांकन और नैतिक निर्णय सापेक्ष हैं। देश, काल, समाज, व्यक्ति और परिस्थिति के

तन्मय उन्हें प्रभावित करते हैं। चाहे हम नैतिक मानदण्ड और नैतिक निर्णय को समाज-सापेक्ष माने या उन्हें वैयक्तिक मनोभावों की अभिव्यक्ति कहें, उनकी सापेक्षिकता में कोई अन्तर नहीं होता है। संक्षेप में, सापेक्षतावादियों के अनुसार नैतिक नियम सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनिक नहीं हैं। जबकि निरपेक्षतावादियों का कहना है कि 'नैतिक मानक और नैतिक नियम अपरिवर्तनीय, सार्वकालिक, सार्वदेशिक, सार्वजनिक और अपरिवर्तनीय हैं, अर्थात् नैतिकता और अनैतिकता के बीच एक ऐसी कठोर विभाजक रेखा है जो अनुसलंघनीय है, नैतिक कभी भी अनैतिक नहीं हो सकता और अनैतिक कभी भी नैतिक नहीं हो सकता। नैतिक नियम देश, काल, समाज, व्यक्ति और परिस्थिति से निरपेक्ष हैं। वे शाश्वत सत्य हैं। नैतिक जीवन में अपवाद और आपद्धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है।'

वस्तुतः नीति के सन्दर्भ में एकान्त सापेक्षवाद और एकान्त निरपेक्षवाद दोनों ही उचित नहीं हैं। वे आंशिक सत्य तो हैं लेकिन नीति के सम्पूर्ण स्वरूप को स्पष्ट कर पाने में समर्थ नहीं हैं। दोनों की अपनी कुछ कमियाँ हैं।

नीति में सापेक्षता और निरपेक्षता दोनों का क्या और किस रूप में स्थान है, यह जानने के लिए हमें नीति के विविध पक्षों को समझ लेना होगा। सर्वप्रथम नीति का एक बाह्य पक्ष होता है और दूसरा आंतरिक पक्ष होता है, अर्थात् एक ओर आचरण होता है तो दूसरी ओर आचरण की प्रेरक और निर्देशक चेतना होती है। एक ओर नैतिक आदर्श या साध्य होता है और दूसरी ओर उस साध्य की प्राप्ति के साधन या नियम होते हैं। इसी प्रकार हमारे नैतिक निर्णय भी दो प्रकार के होते हैं - एक वे जिन्हें हम स्वयं के सन्दर्भ में देते हैं, दूसरे वे जिन्हें हम दूसरों के सम्बन्ध में देते हैं। साथ ही ऐसे अनेक सिद्धांत होते हैं जिनके आधार पर नैतिक निर्णय दिये जाते हैं।

जहाँ तक नैतिकता के बाह्य पक्ष, अर्थात् आचरण या कर्म का सम्बन्ध है, वह निरपेक्ष नहीं हो सकता; सर्वप्रथम तो व्यक्ति जिस विश्व में आचरण करता है वह आपेक्षिकता से युक्त है। जो कर्म हम करते हैं और उसके जो परिणाम निष्पन्न होते हैं वे मुख्यतः हमारे संकल्प पर निर्भर न होकर उन परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं जिनमें हम जीवन जीते हैं। बाह्य जगत पर व्यक्ति की इच्छाएँ नहीं अपितु परिस्थितियाँ शासन करती हैं। पुनः चाहे मानवीय संकल्प को स्वतन्त्र मान भी लिया जाये किन्तु मानवीय आचरण को स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता है, वह

१ श्री अमरभारती, मई १९६४, पृ. १५।

२ श्री अमरभारती, फरवरी १९६५, पृ. ५।

३ वही, मार्च १९६५, पृ. २८।

आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर होता है। अतः मानवीय कर्म का सम्पादन और उनके निष्पन्न परिणाम दोनों ही देश, काल और परिस्थिति पर निर्भर होंगे। कोई भी कर्म देश, काल, व्यक्ति, समाज और परिस्थिति से निरपेक्ष नहीं होगा। हमने देखा कि भारतीय चिन्तन की जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करती हैं कि कर्म की नैतिकता निरपेक्ष नहीं है। पुनः नैतिक मूल्यांकन और नैतिक निर्णय उन सिद्धांतों और परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं जिनमें वे दिये जाते हैं। सर्वप्रथम तो नैतिक मूल्यांकन व्यक्ति और परिस्थिति से निरपेक्ष होकर नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यक्ति जिस समाज में जीवन जीता है वह विविधताओं से युक्त है। समाज में व्यक्ति की अपनी योग्यताओं एवं क्षमताओं के आधार पर एक निश्चित स्थिति होती है, उसी स्थिति के अनुसार उसके कर्तव्य एवं दायित्व होते हैं, अतः वैयक्तिक दायित्वों और कर्तव्यों में विविधता होती है। गीता का वर्णाश्रम धर्म का सिद्धांत और ब्रेडबे का 'मेरा स्थान और उसके कर्तव्य' का सिद्धांत एक सापेक्षित नैतिकता की धारणा को प्रस्तुत करते हैं। अतः हमें सामाजिक सन्दर्भ में आचरण का मूल्यांकन सापेक्ष रूप में ही करना होगा। विश्व में ऐसा कोई एक सर्वमान्य सिद्धांत नहीं है जो हमारे निर्णयों का आधार बन सके। कुछ प्रसंगों में हम अपने नैतिक निर्णय निष्पन्न कर्म-परिणाम पर देते हैं, तो कुछ प्रसंगों में कर्म के वांछित या अप्राप्तलोकित परिणाम पर, और कभी कर्म के प्रेरक के आधार पर भी नैतिक निर्णय दिये जाते हैं। अतः कर्म के बाह्य स्वरूप और उसके सन्दर्भ में होने वाले नैतिक मूल्यांकन तथा नैतिक निर्णय निरपेक्ष नहीं हो सकते, उन्हें सापेक्ष ही मानना होगा। पुनः कर्म या आचरण किसी आदर्श या लक्ष्य का साधन होता है और साधन अनेक हो सकते हैं। लक्ष्य या आदर्श एक होने पर भी उसकी प्राप्ति के लिए साधनों को अपनी स्थिति के अनुसार अनेक मार्ग सुझाये जा सकते हैं। अतः आचरण की विविधता एक स्वाभाविक तथ्य है। दो भिन्न सन्दर्भों में परस्पर विपरीत दिखाई देने वाले मार्ग भी अपने लक्ष्य की अपेक्षा से उचित माने जा सकते हैं। पुनः, जब हम दूसरे व्यक्तियों के आचरण पर कोई नैतिक निर्णय देते हैं तो हमारे सामने कर्म का बाह्य स्वरूप ही होता है। अतः दूसरे व्यक्तियों के आचरण के सम्बन्ध में हमारे मूल्यांकन और निर्णय सापेक्ष ही हो सकते हैं। हम उसके मनोभावों के प्रत्यक्ष दृष्टा नहीं होते हैं और इसलिए उसके आचरण के मूल्यांकन में हमको निरपेक्ष निर्णय देने का कोई अधिकार ही नहीं होता है, क्योंकि हमारा निर्णय केवल घटित परिणामों पर ही होता है। अतः यह निश्चय ही सत्य है कि कर्म के बाह्य पक्ष या व्यावहारिक पक्ष की नैतिकता और उसके सन्दर्भ में दिये जाने वाले

नैतिक निर्णय दोनों ही सापेक्ष होंगे। नीति और नैतिक आचरण को परिस्थिति निरपेक्ष मानने वाले नैतिक सिद्धांत शून्य में विचरण करते हैं और नीति के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट कर पाने में समर्थ नहीं होते हैं।

किन्तु नीति को एकान्त रूप से सापेक्ष मानना भी खतरे से खाली नहीं है। (१) सर्वप्रथम, नैतिक सापेक्षतावाद व्यक्ति और समाज की विविधता पर तो दृष्टि डालता है किन्तु उस विविधता में अनुस्यूत एकता की उपेक्षा करता है। वह देशिक, कालिक, सामाजिक और वैयक्तिक असमानता को ही एकमात्र सत्य मानता है।

(२) दूसरे, वह साध्य या आदर्श की अपेक्षा साधनों पर अधिक बल देता है, जबकि साधनों का मूल्य स्वयं उस साध्य पर आश्रित होता है, जिसके वे साधन हैं।

(३) तीसरे, सापेक्षतावाद कर्म के बाह्य स्वरूप को ही उसका सर्वस्व मान लेता है, उनके आन्तरिक पक्ष या कर्म के मानस-पक्ष की उपेक्षा करता है जबकि कर्म की प्रेरक भावना का भी नैतिक दृष्टि से समान मूल्य है।

(४) चौथे, नैतिक सापेक्षतावाद संकल्पस्वातन्त्र्य के सिद्धांत के विरोध में जाता है। यदि नीति के निर्धारक तत्व बाह्य हैं तो फिर हमारी संकल्प की स्वतन्त्रता का कोई अधिक महत्व नहीं रहता है। सापेक्षतावाद के अनुसार नीति का नियामक तत्व देशकालभूत परिस्थितियाँ एवं सामाजिक तथ्य है, वैयक्तिक चेतना नहीं। किन्तु ऐसी स्थिति में संकल्पस्वातन्त्र्य का क्या अर्थ रह जायेगा, यह विचारणीय है। संकल्प की सापेक्ष मानने का अर्थ उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करना है।

(५) पाँचवें, नीति के सन्दर्भ में सापेक्षतावाद हमें अनिवार्यतः आत्मनिष्ठावाद की ओर ले जाता है। लेकिन आत्मनिष्ठावाद में आकर नैतिक नियम अपना समस्त स्थायित्व और वस्तुगत आधार खो देते हैं। नैतिक जीवन में समरूपता और वस्तुनिष्ठता का अभाव होता है तथा नैतिकता का ढांचा अस्तव्यस्त हो जाता है।

(६) छठे, हम यह भी कह सकते हैं कि सापेक्षतावाद में नैतिकता का शरीर तो बका रहता है किन्तु प्राण चले जाते हैं, उसमें विषय सामग्री तो रहती है किन्तु आकार नहीं होता है, क्योंकि निरपेक्षता नैतिकता की आत्मा है।

(७) सापेक्षतावाद में नैतिक मानक की एकरूपता समाप्त हो जाती है, एक सार्वभौम मानदण्ड का अभाव होता है अतः नैतिक निर्णय देने में व्यक्ति को वंसी ही कठिनाई अनुभव होती है जैसी उस ग्राहक को होती है जिसे प्रत्येक दुकान पर भिन्न-भिन्न माप मिलते हों। पुनः, नैतिक परिस्थिति स्वयं एक ऐसा जटिल तथ्य है जिसमें जनसाधारण के लिए बिना किसी स्पष्ट सार्वभौम निर्देशक सिद्धांत के यह तय कर पाना कठिन है कि

उस परिस्थिति में क्या नैतिक है और क्या अनैतिक ? अतः नीति में किसी निरपेक्ष तत्व की अवधारणा करना भी आवश्यक है। इस सन्दर्भ में जान डिवी का दृष्टिकोण अधिक संगतपूर्ण जान पड़ता है।¹ वे परिस्थितियाँ जिनमें नैतिक आदर्शों की सिद्धि की जाती है, सदैव परिवर्तनशील हैं और नैतिक नियमों, नैतिक कर्तव्यों और नैतिक मूल्यों/कर्मों के लिए इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक होता है। किन्तु यह मान लेना भ्रूखतापूर्ण ही होगा कि नैतिक सिद्धांत इतने सापेक्षिक हैं कि किसी सामाजिक स्थिति में उनमें कोई नियामक शक्ति ही नहीं होती। शुभ की विषयवस्तु बदल सकती है किन्तु शुभ का आकार नहीं; दूसरे शब्दों में, नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील है किन्तु नैतिकता की आत्मा नहीं। नैतिकता का विशेष स्वरूप समय समय पर वैसे-वैसे बदलता रहता है जैसे-जैसे सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर पर अन्य परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, किन्तु नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थिर रहता है। नैतिक नियमों में अपवाद या आपद्धर्म का निश्चित ही स्थान है और अनेक स्थितियों में अपवाद-मार्ग का आचरण ही नैतिक होता है। फिर भी हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि अपवाद कभी भी सामान्य नियम का स्थान नहीं ले पाते हैं। निरपेक्षतावाद के सन्दर्भ में यह एक झ्रांति है कि वह सभी नैतिक नियमों को निरपेक्ष मानता है। निरपेक्षतावाद भी सभी नियमों की सार्वभौमिकता सिद्ध नहीं करता, वह केवल मौलिक नियमों की सार्वभौमिकता ही सिद्ध करता है।

वस्तुतः नीति की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए निरपेक्षतावाद और सापेक्षतावाद दोनों ही अपेक्षित हैं। नीति का कौन सा पक्ष सापेक्ष होता है और कौन सा पक्ष निरपेक्ष इसे निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है। (१) संकल्प की नैतिकता निरपेक्ष होती है और आचरण की नैतिकता सापेक्ष होती है। हिंसा का संकल्प कभी नैतिक नहीं होता यद्यपि हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं। नीति में जब संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर हमें यह कहने का अधिकार नहीं रहता कि संकल्प सापेक्ष है, अतः संकल्प की नैतिकता सापेक्ष नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, कर्म का जो मानसिक पक्ष है, बौद्धिक पक्ष है, वह निरपेक्ष हो सकता है किन्तु कर्म का जो व्यावहारिक पक्ष है, आचरणात्मक पक्ष है, वह सापेक्ष है। अर्थात् मनोमूलक नीति निरपेक्ष होगी और आचरणमूलक नीति सापेक्ष होगी। संकल्प का क्षेत्र, प्रज्ञा का क्षेत्र, एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ चेतना या प्रज्ञा ही सर्वोच्च शासक है। अन्तस् में व्यक्ति स्वयं अपना शासक है, वहाँ परि-

स्थितियों या समाज का शासन नहीं है, अतः इस क्षेत्र में नीति की निरपेक्षता सम्भव है। अनासक्त कर्म का दर्शन इसी सिद्धांत पर स्थित है क्योंकि अनेक स्थितियों में कर्म का बाह्यात्मक रूप कर्ता के मनोभावों का यथार्थ परिचायक नहीं होता अतः यह माना जा सकता है कि मनोवृत्त्यात्मक या भावनारमक नीति निरपेक्ष होगी किन्तु आचरणात्मक या व्यवहारात्मक नीति सापेक्ष होगी। यही कारण है कि जैन दर्शन में नैश्चयिक नैतिकता को निरपेक्ष और व्यावहारिक नैतिकता को सापेक्ष माना गया है। (२) दूसरे, साध्यात्मक नीति या नैतिक आदर्श निरपेक्ष होता है किन्तु साधनापरक नीति सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दों में, जो सर्वोच्च शुभ है वह निरपेक्ष है किन्तु उस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के जो नियम या मार्ग हैं वे सापेक्ष हैं। क्योंकि एक ही साध्य की प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं। पुनः, वैयक्तिक रुचियों, क्षमताओं और स्थितियों की भिन्नता के आधार पर सभी के लिए समान नियमों का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अतः साधमपरक नीति को या नैतिक साध्य को निरपेक्ष और साधनापरक नीति को सापेक्ष मानना ही एक यथार्थ दृष्टिकोण हो सकता है। (३) तीसरे, नैतिक नियमों में कुछ नियम मौलिक होते हैं और कुछ नियम उन मौलिक नियमों के सहायक होते हैं, उदाहरणार्थ, भारतीय परम्परा में सामान्य धर्म और विशेष धर्म (वर्णाश्रम धर्म) ऐसा वर्गीकरण हमें मिलता है। जैन परम्परा में भी एक ऐसा ही वर्गीकरण मूलगुण और उत्तरगुण नाम से है। यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि साधारणतया सामान्य या मूलभूत नियम ही निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम तो सापेक्ष एवं परिवर्तनीय ही होते हैं। यद्यपि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अनेक स्थितियों में सामान्य नियमों के भी अपवाद हो सकते हैं और वे नैतिक भी हो सकते हैं, फिर भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपवाद को कभी नियम का स्थान नहीं दिया जा सकता। यहाँ एक बात जो विचारणीय है वह यह कि मौलिक नियमों की निरपेक्षता भी उनकी अपरिवर्तनशीलता या उनके स्थायित्व के आधार पर ही है, साध्य की अपेक्षा से तो वे भी सापेक्ष हो सकते हैं।

जो नैतिक विचारधाराएँ मात्र निरपेक्षतावाद को स्वीकार करती हैं वे यथार्थ की भूमिका को भूलकर मात्र आदर्शों की ओर देखती हैं। वे नैतिक आदर्शों को तो प्रस्तुत कर देती हैं किन्तु उस मार्ग का निर्धारण करने में सफल नहीं हो पाती जो उस साध्य एवं आदर्श तक ले जाता है, क्योंकि, नैतिक आचरण एवं व्यवहार तो परिस्थिति सापेक्ष होता है। नैतिकता एक लक्ष्योन्मुख गति है। लेकिन यदि उस गति में व्यक्ति की दृष्टि मात्र

उस पथार्थ भूमिका तक हो, जिसमें वह खड़ा है, सीमित है तो वह कभी भी लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता, वह पथभ्रष्ट हो सकता है। दूसरी ओर वह व्यक्ति, जो गन्तव्य की ओर तो देख रहा है किन्तु उस मार्ग को नहीं देख रहा है जिसमें वह गति कर रहा है, मार्ग में वह ठोकर खाता है और कण्टकों से अपने को पद विद्ध कर लेता है। जिस प्रकार चलने के उपक्रम में हमारा काम न तो मात्र सामने देखने से चलता है और न मात्र नीचे देखने से ही, उभी प्रकार नैतिक प्रगति में हमारा काम न तो मात्र निरपेक्ष दृष्टि से चलता है और न मात्र सापेक्ष दृष्टि से चलता है। निरपेक्षतावाद उस स्थिति की उपेक्षा कर देता है जिसमें व्यक्ति खड़ा है, जबकि सापेक्षतावाद उस आदर्श या साध्य की उपेक्षा करता है जो कि गन्तव्य है। इसी प्रकार निरपेक्षतावाद सामाजिक नीति की उपेक्षा कर मात्र वैयक्तिक नीति पर बल देता है, किन्तु व्यक्ति समाजनिरपेक्ष होकर नहीं जी सकता। पुनः निरपेक्षवादी नीति में साध्य की सिद्धि ही प्रमुख होती है, किन्तु वह साधन उपेक्षित बना रहता है जिसके बिना साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। अतः सम्यक् नैतिक जीवन के लिए नीति में सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों तत्वों की अवधारणा को स्वीकार करना आवश्यक है।^१

उत्सर्ग और अपवाद की समस्या^२

जैन नैतिक विचारणा में नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों रूप स्वीकृत हैं। लेकिन उसमें भी निरपेक्षता दो भिन्न अर्थों में प्रयुक्त है। प्रथम प्रकार की निरपेक्षता वह है जिसमें आचार के सामान्य या मौलिक नियमों को निरपेक्ष माना जाता है और विशेष नियमों को सापेक्ष माना जाता है, जैसे अहिंसा सामान्य या सार्वभौम नियम है, लेकिन फलाहार विशेष नियम है। जैन परिभाषा में कहें तो श्रमण के मूलगुण सामान्य नियम हैं और इस प्रकार निरपेक्ष है, जबकि उत्तरगुण विशेष नियम हैं, सापेक्ष हैं। आचार के सामान्य नियम देशकालगत विभेद में भी अपनी मूलभूत दृष्टि के आधार पर निरपेक्ष प्रतीत होते हैं। लेकिन इस प्रकार की निरपेक्षता वस्तुतः सापेक्ष ही है। आचरण के जिन नियमों का विधि और निषेध जिस सामान्य दशा में किया गया है, उसकी अपेक्षा से आचरण के वे नियम उसी रूप में आचरणीय हैं। व्यक्ति सामान्य स्थिति में उन नियमों के परिपालन में किसी अपवाद या छूट की अपेक्षा नहीं कर सकता। यहाँ पर भी सामान्य दशा का विचार व्यक्ति एवं उसकी देशकालगत बाह्य परिस्थितियों के शन्दर्भ में किया गया

है, अर्थात् यदि व्यक्ति स्वस्थ है और देशकालगत परिस्थितियाँ भी वे ही हैं जिनको ध्यान में रखकर विधि या निषेध किया गया है, तो व्यक्ति को उन नियमों तथा कर्तव्यों का पालन भी तदनु रूप करना होगा। जैन परिभाषा में इसे "उत्सर्ग-मार्ग" कहा जाता है, जिसमें साधक को नैतिक आचरण शास्त्रों में प्रतिपादित रूप में ही करना होता है। उत्सर्ग नैतिक विधि-निषेधों का सामान्य कथन है। जैसे मन, वचन, काय से हिंसा न करना, न करवाना, न करने वाले का समर्थन करना। लेकिन जब इन्हीं सामान्य विधि-निषेधों को किन्हीं विशेष परिस्थितियों में शिथिल कर दिया जाता है, तब नैतिक आचरण की उस अवस्था को "अपवाद-मार्ग" कहा जाता है। उत्सर्ग मार्ग अपवाद-मार्ग की अपेक्षा से सापेक्ष है, लेकिन जिस परिस्थितिगत सामान्यता के तत्त्व को स्वीकार कर उत्सर्ग-मार्ग का निरूपण किया जाता है, उस सामान्यता के तत्त्व की दृष्टि से निरपेक्ष ही होता है। अपवाद की अवस्था में सामान्य नियम का भंग हो जाने से उसकी मान्यता खण्डित नहीं हो जाती, उसकी सामान्यता या सार्वभौमिकता समाप्त नहीं हो जाती। मान लीजिए, हम किसी निरपराध प्राणी की जान बचाने के लिए असह्य बोलते हैं, इससे सत्य बोलने का सामान्य नियम खण्डित नहीं हो जाता। अपवाद न तो कभी मौलिक नियम बन सकता है, न अपवाद के कारण उत्सर्ग की सामान्यता या सार्वभौमिकता ही खण्डित होती है। उत्सर्ग-मार्ग को निरपेक्ष कहने का प्रयोजन यही होता है कि वह मौलिक होता है, यद्यपि उन मौलिक नियमों पर आधारित बहुत से विशेष नियम हो सकते हैं। उत्सर्ग-मार्ग अपवाद-मार्ग का बाध नहीं करता है, वह तो मात्र इतना ही बताता है कि अपवाद सामान्य नियम नहीं बन सकता। डा० श्रीचन्द के शब्दों में, "निरपेक्षवाद (उत्सर्ग-मार्ग) सभी नियमों की सार्वभौमिकता सिद्ध नहीं करना चाहता, परन्तु केवल सभी मौलिक नियमों की सार्वभौमिकता सिद्ध करना चाहता है।"^३ उत्सर्ग की निरपेक्षता देश, काल एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों के अन्दर ही होती है, उससे बाहर नहीं। उत्सर्ग और अपवाद नैतिक आचरण की विशेष पद्धतियाँ हैं। लेकिन दोनों ही किसी एक नैतिक लक्ष्य के लिए हैं, इसलिए दोनों नैतिक हैं। जैसे, दो मार्ग यदि एक ही नगर तक पहुँचाते हों, तो दोनों ही मार्ग होंगे, अमार्ग नहीं; वैसे ही अपवादात्मक नैतिकता का सापेक्ष स्वरूप और उत्सर्गात्मक नैतिकता का निरपेक्ष स्वरूप दोनों ही नैतिकता के स्वरूप हैं और कोई भी अनैतिक नहीं है।

१ देखें—जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृ. ७७-७८।

२ वही पृ. ६७-६८।

३ नीतिशास्त्र का परिचय, डा. श्रीबल्लभ, पृ. १२२।

लेकिन नैतिक निरपेक्षता का एक रूप और है, जिसमें वह सदैव ही देश, काल एवं व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठी होती है। नैतिकता का वह निरपेक्ष रूप अन्य कुछ नहीं, स्वयं 'नैतिक आदर्श' ही है। नैतिकता का लक्ष्य एक ऐसा निरपेक्ष तथ्य है जो सारे नैतिक आचरणों के सूर्यांकन का आधार है। नैतिक आचरण की शुभाशुभता का अंकन इसी पर आधारित है। कोई भी आचरण, चाहे वह उत्सर्ग-मार्ग से हो या अपवाद-मार्ग से, हमें उस लक्ष्य की ओर ले जाता है जो शुभ है। इसके विपरीत जो भी आचरण इस नैतिक आदर्श से विमुख करता है, वह अशुभ है, अनैतिक है। नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद नामक दोनों मार्ग इसी की अपेक्षा से सापेक्ष हैं और दोनों के मार्ग होने से निरपेक्ष भी, क्योंकि मार्ग के रूप में किसी स्थिति तक इससे अभिन्न भी होते हैं और यही अभिन्नता उनको निरपेक्षता का यथार्थ तत्त्व प्रदान करती है। लक्ष्यरूपी नैतिक चेतना के सामान्य तत्त्व के आधार पर ही नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद, दोनों मार्गों का विधान है। लक्ष्यात्मक नैतिक चेतना ही उनका निरपेक्ष तत्त्व है, जबकि आचरण का साधनात्मक मार्ग सापेक्ष तथ्य है। लक्ष्य या नैतिक आदर्श नैतिकता की आत्मा है और बाह्य आचरण उसका शरीर है। अपनी आत्मा के रूप में नैतिकता निरपेक्ष है, लेकिन अपने शरीर के रूप में वह सदैव सापेक्ष है। इस प्रकार जैन दर्शन में नैतिकता के दोनों ही पक्ष स्वीकृत हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की सम्यक् प्रगति के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। जैसे लक्ष्य पर पहुँचने के लिए यात्रा और पड़ाव दोनों आवश्यक हैं वैसे ही नैतिक जीवन के लिए भी दोनों पक्ष आवश्यक हैं। कोई भी एक दृष्टिकोण समुचित और सर्वांगीण नहीं कहा जा सकता। समकालीन नैतिक चिन्तन में भी जैन दर्शन के इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है।

सवाचार और बुराचार का निर्धारण कैसे हो ?

(अ) गीतार्थ का आदेश

सापेक्ष नैतिकता में जनसाधारण के द्वारा कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करना सरल नहीं है। अतः जैन नैतिकता में सामान्य व्यक्ति के मार्गदर्शन के रूप में "गीतार्थ" की योजना की गई है। गीतार्थ वह आदर्श व्यक्ति है जिसका आचरण जनसाधारण के लिए प्रमाण होता है। गीता के आचारदर्शन में भी जनसाधारण के लिए मार्गदर्शन के रूप में श्रेष्ठजन के आचार को ही प्रमाण माना गया है। गीता स्पष्ट रूप में कहती है कि श्रेष्ठ

या आत्मजानो पुरुष जिस प्रकार आचरण करता है, साधारण मनुष्य भी उसी के अनुरूप आचरण करते हैं। वह आचरण के जिस प्रारूप को प्रामाणिक मानकर अंगीकार करता है लोग भी उसी का अनुकरण करते हैं।^१ महाभारत में भी कहा है कि महाजन जिन मार्ग से गये हों वही धर्म मार्ग है।^२ यही बात जैन-गम उत्तराख्ययन में इस प्रकार कही गई है, "बुद्धिमान आचार्यों (आर्यजन) के द्वारा जिस धार्मिक व्यवहार का आचरण किया गया है उसे ही प्रामाणिक मानकर तदनु रूप आचरण करने वाला व्यक्ति कभी भी निन्वित नहीं होता है।"^३ पाश्चात्य विचारक ब्रैडले के अनुसार भी नैतिक आचार की शुभाशुभता का निश्चय आचार्य व्यक्ति के चरित्र के आधार पर किया जा सकता है।^४

उपाध्याय अमर मुनि^५ के अनुसार जैन विचारणा नैतिक मर्यादाओं को न तो इतनी कठोर ही बनाती है कि व्यक्ति उनके अन्दर स्वतन्त्रतापूर्वक विवरण न कर सके, न ही इतनी अधिक सखीली कि व्यक्ति इच्छानुसार उन्हें मोड़ दे। जैन विचारणा में नैतिक मर्यादाएँ दुर्ग के खण्डहर जैसी नहीं हैं जिसमें विचरण की पूर्ण स्वतन्त्रता तो होती है, लेकिन शत्रु के प्रविष्ट होने का सदा भय बना रहता है। वह तो सुदृढ़ चार दीवारियों से युक्त उस दुर्ग के समान है जिसके अन्दर व्यक्ति को विचरण की स्वतन्त्रता है और विशेष परिस्थितियों में वह उससे बाहर भी आ-जा सकता है लेकिन शर्त यही है कि ऐसी प्रत्येक स्थिति में उसे दुर्ग के द्वारपाल की अनुज्ञा लेनी होगी। जैन विचारणा के अनुसार नैतिकता के इस दुर्ग का द्वारपाल वह "गीतार्थ" है जो देश, काल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों को समुचित रूप में समझकर सामान्य व्यक्ति को अपवाद के क्षेत्र में प्रविष्ट होने की अनुज्ञा देता है। अपवाद की अवस्था के सम्बन्ध में निर्णय देने का एवं यथा-परिस्थिति अपवाद मार्ग में आचरण करने अथवा दूसरे को कराने का समस्त उत्तरदायित्व "गीतार्थ" पर ही रहता है। गीतार्थ वह व्यक्ति होता है जो नैतिक विधि-निषेध के आचारगादि आधारसंहिता का तथा निशीथ आदि छेदसूत्रों का भर्मज्ञ हो एवं स्व-ब्रजा से देश, काल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों को समझने में समर्थ हो। गीतार्थ वह है जिसे कर्तव्य और अकर्तव्य के लक्षणों का यथार्थ ज्ञान है,^६ जो आय-व्यय, कारण-अकारण, अनाद (रोग, वृद्ध) अनागाद, वस्तु-अवस्तु, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यत्ना-अयत्ना का सम्यग्ज्ञान रखता है, साथ ही समस्त कर्तव्य कर्म के परिणामों को भी जानता है,

१ गीता, ३/२१।

२ उत्तराख्ययन, १/४२।

३ देखें— श्री अमर भारती १६६४ में कर्मशः प्रकाशित उत्सर्ग और अपवाद पर उपाध्याय अमरमुनिजी के लेख।

४ अभिधानराशेन्द्रकोश, खण्ड ३, पृ. ६०२।

५ महाभारत, वनपर्व, ३१२/११५।

६ एथिकल स्टडीज, पृ. १६६, २२६।

वही विधिवान गीतार्थ है ।^१

(ब) मार्गदर्शक रूप में शास्त्र

यद्यपि जैन विचारणा के अनुसार परिस्थिति विशेष में कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण “गीतार्थ” करता है, तथापि गीतार्थ भी व्यक्ति है, अतः उसके निर्णयों में भी मनपरतावाद की सम्भावना रहती है। उसके निर्णयों को वस्तुनिष्ठता प्रदान करने के लिए उसके मार्ग-निर्देशक के रूप में शास्त्र है। सापेक्ष नैतिकता को वस्तुगत आधार देने के लिए ही शास्त्र को भी स्थान दिया गया। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि कार्य-अकार्य की व्यवस्था देने में शास्त्र प्रमाण है।^२ लेकिन यदि शास्त्र को ही कर्तव्याकर्तव्य के निश्चय का आधार बनाया गया, तो नैतिक सापेक्षता पूरी तरह सुरक्षित नहीं रह सकती। परिस्थितियाँ इतनी भिन्न भिन्न होती हैं कि उन सभी परिस्थितियों के मन्दर्भों सहित आचार-नियमों का विधान शास्त्र में उपलब्ध नहीं हो सकता। परिस्थितियाँ सतत परिवर्तनशील हैं, जबकि शास्त्र अपरिवर्तनशील होता है। अतः शास्त्र को भी सभी परिस्थितियों के कर्तव्याकर्तव्य का निर्णायक या आधार नहीं बनाया जा सकता। फिर शास्त्र (श्रुतियाँ) भी भिन्न-भिन्न हैं और परस्पर भिन्न नियम भी प्रस्तुत करते हैं, अतः वे भी प्रामाणिक नहीं हो सकते।^३ इस प्रकार सापेक्ष नैतिकता में कर्तव्याकर्तव्य के निश्चय की समस्या रहती है, शास्त्र के आधार पर उसका पूर्ण समाधान सम्भव नहीं है।

(स) निष्पक्ष बौद्धिक प्रज्ञा ही अन्तिम निर्णायक

इस समस्या के समाधान में हमें जैन दृष्टिकोण की एक विशेषता देखने को मिलती है। वह न तो एकान्त रूप में शास्त्र को ही सारे विधि-निषेध का आधार बनाता है, न व्यक्ति को ही, उसके अनुसार शास्त्र मार्गदर्शक है, लेकिन अन्तिम निर्णायक नहीं। अन्तिम निर्णायक व्यक्ति का राग और वासनाओं से रहित निष्पक्ष विवेक ही है। किसी परिस्थिति विशेष में व्यक्ति का क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, इसका निर्णय शास्त्र को मार्गदर्शक मानकर स्वयं व्यक्ति को ही लेना होता है।

आचारशास्त्र का कार्य है व्यक्ति के सम्मुख सामान्य और अपवादात्मक स्थितियों में आचार का स्वरूप प्रस्तुत करना। लेकिन परिस्थिति का निश्चय तो व्यक्ति को ही करना होता है। शास्त्र आदेश नहीं, निर्देश देता है। यही दृष्टिकोण गीता का भी है।^४ गीतोक्त शास्त्रप्रामाण्य भी इस तत्त्व का पोषक

है। लेकिन शास्त्र का प्रमाण मात्र जानने की वस्तु है, जिसके द्वारा निर्णय लिया जा सकता है। निर्णय करने का अधिकार तो व्यक्ति के पास ही सुरक्षित है। प्रस्तुत श्लोक का “आत्मा” शब्द स्वयं ही इस तथ्य को स्पष्ट करता है। पाश्चात्य आचार-दर्शन में भी यह दृष्टिकोण स्वीकृत रहा है। पाश्चात्य पलवादी विचारक जान डिकी लिखते हैं कि नैतिक सिद्धांतों का उपयोग आदेश के रूप में नहीं है, वरन् उस साधन के रूप में है जिसके आधार पर विशेष परिस्थिति में कर्तव्य का विश्लेषण किया जा सके। नैतिक सिद्धांतों का कार्य उन दृष्टिकोणों और पद्धतियों को प्रस्तुत कर देना है जो व्यक्ति को इस योग्य बना सकें कि जिस विशेष परिस्थिति में वह है, उसमें शुभ और अशुभ का विश्लेषण कर सके।^५ इस प्रकार अन्तिम रूप में तो व्यक्ति की निष्पक्ष प्रज्ञा ही कर्तव्याकर्तव्य के निर्धारण में आधार बनती है। जहाँ तक सापेक्ष नैतिकता को मनपरतावाद के ऐकांतिक दोषों से बचाने का प्रश्न है, जैन दार्शनिकों ने उसके लिए “गीतार्थ” (आदर्श व्यक्ति) एवं “शास्त्र” के वस्तुनिष्ठ आधार भी प्रस्तुत किये हैं, यद्यपि इनका अन्तिम स्रोत निष्पक्ष प्रज्ञा ही मानी गयी।

आचार-प्रज्ञप्ति

जैन आचार्यों ने सदाचरण या सम्मक् चारित्र्य का विवेचन एवं वर्गीकरण विविध आधारों पर किया है। चूँकि प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राचीन परम्परा के अनुसार आचार का विवेचन—(१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चारित्र्याचार, (४) तपाचार और (५) वीर्याचार के रूप में हुआ है (स्थानांग ५/२/४३३)। अतः हमने भी इसे उसी रूप में उनका विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यहाँ ज्ञान, दर्शन आदि का अन्तर्भाव आचार में इस-लिए किया गया है कि ज्ञान और दर्शन मात्र जानने तथा आस्था रखने के विषय नहीं हैं। वे जीवन में जीने के लिए हैं। उनका आचरण करना होता है। ज्ञान, दर्शन आदि का यही आचरणात्मक पक्ष ज्ञानाचार, दर्शनाचार कहा जाता है। इसी प्रकार आराधना की चर्चा के प्रसंग में भी ज्ञान आराधना, दर्शन आराधना और चारित्र्य आराधना की चर्चा हुई है। इसी प्रकार तपा-राधना का उल्लेख भी जैन साहित्य में हुआ है। इसका तात्पर्य भी यही है कि उनकी साधना की जाती चाहिए। यह साधना की प्रक्रिया ही आचार कही जाती है इसे हम ज्ञान, दर्शन आदि का व्यवहार पक्ष भी कह सकते हैं।

१ बृहत्कल्पसाग्व्य, ६५१।

२ महाभारत, अनपर्व, ३१२/११५।

३ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्ये व्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुं निहार्हसि॥

४ कन्देम्बरारि एषिकस्य श्वोरीज, पृ. १६३।

२ गीता, १६/२४।

ज्ञान और ज्ञानाचार

आगम साहित्य में पाँच प्रकार के आचारों की चर्चा के प्रसंग में सर्वप्रथम ज्ञानाचार का विवेचन हुआ है। ज्ञानाचार शब्द ज्ञान + आचार से मिलकर बना है। ज्ञान के साथ आचार शब्द का प्रयोग सामान्यतया विचित्र सा लगता है। जब हम विविध साधना मार्ग में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य को अलग-अलग करते हैं तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से खड़ा हो जाता है कि यदि ज्ञान चारित्र्य से भिन्न है तो ज्ञान को आचार कैसे माना जाये। सामान्यतया जानना और करना दो भिन्न स्थितियाँ हैं अतः इन्हें अलग-अलग ही मानना चाहिये। मेरी दृष्टि में ज्ञानाचार्य जब ज्ञानाचार की चर्चा करते हैं तो उनका तात्पर्य ज्ञान से न होकर ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया से होता है। ज्ञान प्राप्त कैसे किया जाये यह तथा मुख्यतया आचार पक्ष से सम्बन्धित है और इसी आधार पर ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया (Process) को ज्ञानाचार कहा गया है।

ज्ञान-प्राप्ति का उद्देश्य

ज्ञानाचार्यों ने सर्वप्रथम ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य को स्पष्ट किया है। ज्ञान-प्राप्ति के चार उद्देश्य बताये गये हैं—(१) मुझे श्रुत (आगम-ज्ञान) प्राप्त होगा इसलिए अध्ययन करना चाहिए, (२) मैं एकाग्रचित्त होऊँगा इसलिए अध्ययन करना चाहिए, और (३) मैं धर्म में स्थित होऊँगा इसलिए अध्ययन करना चाहिए, और (४) मैं धर्म में स्थित होकर दूसरों को उसमें स्थिर करूँगा इसलिए अध्ययन करना चाहिए।^१ वस्तुतः इस प्रसंग में “ज्ञान ज्ञान के लिए” (Knowledge for Knowledge's sake) इस सिद्धांत को न मानकर ज्ञान को चित्तविशुद्धि और सदाचरण या धर्म मार्ग में स्थिरता प्राप्त करने के एक साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार ज्ञान स्वयं साध्य न होकर एक साधन है। जानी होने का उद्देश्य है चित्तसमाधि को प्राप्त करना और धर्म मार्ग और सदाचार में स्थित होना। इस प्रकार ज्ञान का भी एक प्रायोगिक पक्ष है। ज्ञान का यह प्रायोगिक पक्ष ही ज्ञानाचार है।

ज्ञानाचार की विषयवस्तु

इस चरणानुयोग नामक प्रस्तुत संकलनात्मक ग्रन्थ में ज्ञानाचार की चर्चा करते हुए उसे पूर्वोक्त आठ ज्ञान आचारों में विभक्त किया गया है। सर्वप्रथम हम इस ग्रन्थ में ज्ञानाचार के अन्तर्गत किन-किन मुख्य विषयों का संकलन हुआ है, इसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना चाहेंगे। इस ग्रन्थ में प्रथम काल ज्ञानाचार के अन्तर्गत स्वाध्याय या ज्ञान साधना के लिए उपयुक्त और अनुपयुक्त काल की चर्चा की गई है और यह बताया गया

है कि साधक को किस समय अध्ययन करना चाहिए और किस समय नहीं। इसके साथ ही दैहिक एवं कालिक उन विशेष परिस्थितियों का चिन्तन किया गया है जिनके उपस्थित हो जाने पर अध्ययन या स्वाध्याय करने का वर्जन किया गया है।

इसी प्रकार द्वितीय विनय ज्ञानाचार के अन्तर्गत ज्ञान-प्राप्ति के लिए विनय की क्या आवश्यकता है, अविनय के क्या दुष्परिणाम होते हैं, इसकी चर्चा की गई है। साथ ही यह बताया गया है कि आचार्य और शिष्य के पारस्परिक कर्तव्य क्या हैं? इसी के अन्तर्गत आचार्य की विनय प्रतिपत्ति और शिष्य की विनय प्रतिपत्ति का विवेचन किया गया है। इसके साथ ही विनय के स्वरूप और उसके भेद प्रभेदों का विस्तृत चित्रण किया गया है। ज्ञानाचार की इस चर्चा के प्रसंग में विनय-ज्ञानाचार पर प्रस्तुत ग्रंथ में सर्वाधिक चर्चा उपलब्ध होती है। कारण यह है कि आगम साहित्य में इस विषय पर विवाद विवरण उपलब्ध होता है। गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा के बाद इसमें विनय के प्रकार, उसके स्वरूप, उसकी उपमाएँ, अविनीत और सुविनीत का अन्तर आदि की चर्चा हुई है। साथ ही यह भी बताया गया है कि अविनीत और सुविनीत आचार-व्यवहार का स्वयं उस पर तथा संघ पर क्या प्रभाव होता है? इसी प्रसंग में शिक्षा प्राप्ति के अयोग्य व्यक्तियों और शिक्षा प्राप्ति में बाधक कारणों की चर्चा की गई है। अन्त में गुरु आचार्य और वरिष्ठ मुनि (रास्निक) की अवहेलना (आशातना) या उपेक्षा का क्या परिणाम होता है इसकी चर्चा की गई है तथा आचार्य आदि के अविनय या अवहेलना (आशातना) करने पर निश्चित प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है।

तृतीय बहुमान ज्ञानाचार के अन्तर्गत आचार्य की महिमा, आचार्य की सेवा या फल और आचार्यों के विविध प्रकारों का विस्तार से उल्लेख हुआ है। उसके पश्चात् आचार्य अथवा गुरु की उपासना कैसे करनी चाहिए, उसकी सेवा-शुश्रूषा का क्या फल होता है यह बताया गया है। इसी के प्रसंग में गुरु के सांनिध्य में रहने अर्थात् गुरुकुल में निवास करने के महत्त्व की चर्चा की गई है। उसके पश्चात् शिष्य द्वारा गुरु से प्रश्न करने और गुरु के द्वारा उनके उत्तर देने की विधि का उल्लेख हुआ है। इसी प्रसंग में यह भी बताया गया है कि उत्तर देते समय गुरु को शिष्य से सत्य को नहीं छिपाना चाहिए। इसी चर्चा के प्रसंग में बहुश्रुत (ज्ञानी) के प्रकारों की चर्चा की गई है। बहुश्रुत की यह चर्चा उत्तराध्यायन ११वें अध्याय में भी विस्तार से उपलब्ध है, जिसका यहाँ संकलन किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ में कालाचार, विनयाचार, बहुमानाचार का विस्तृत

विवरण संकलन किया गया है। लेकिन ज्ञानाचार के शेष उप-
धानाचार, अनिन्दवाचार, व्यंजन ज्ञानाचार, अर्थज्ञानाचार, तदु-
भय ज्ञानाचार की संक्षिप्त चर्चा उपलब्ध होती है। यद्यपि इन
विषयों की भी विस्तृत चर्चा आगमिक व्याख्या साहित्य में उप-
लब्ध हो जाती है। चूंकि प्रस्तुत ग्रंथ में आगमों से ही विषयों
का संकलन किया गया है अतः आगमों में ही उनका विस्तृत
विवेचन उपलब्ध नहीं होने से अनुयोग के कर्ता ने इनका यहाँ
संक्षेप में ही उल्लेख किया है। आगे हम इन सबकी चर्चा
करेंगे।

आचारांग की टीका में श्रीलोक ने आठ प्रकार के ज्ञानाचारों
का उल्लेख किया है—(१) कालाचार, (२) विनयाचार,
(३) बहुमानाचार, (४) उपधानाचार, (५) अनिन्दवाचार,
(६) व्यंजनाचार, (७) अर्थाचार और (८) उभयाचार।
वस्तुतः इन आठ ज्ञानाचारों में मुख्य रूप से ज्ञान प्राप्ति की
प्रक्रिया का ही विवेचन किया गया है।

(१) कालाचार^१

कालाचार में ज्ञान-प्राप्ति के उपयुक्त समय का विचार
किया गया है। जैन परम्परा यह मानती है कि प्रथम वय से
लेकर अन्तिम वय तक अर्थात् बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था
तक ज्ञान की साधना की जा सकती है। दूसरे शब्दों में ज्ञान-
प्राप्ति की साधना जीवन पर्यन्त चल सकती है। जैन आचार्यों
ने इस सम्बन्ध में भी विस्तार से चर्चा की है कि स्वाध्याय और
ज्ञानार्जन के लिए उपयुक्त समय कौन-सा है? सामान्यतया तो सभी
कालों को ज्ञान-प्राप्ति के योग्य माना गया है, फिर भी मुख्य
रूप से दिवस और रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहरों को स्वा-
ध्याय के लिए अधिक उपयुक्त काल माना गया है। इन्हें क्रमशः
पूर्वाह्न, अपराह्न, प्रदीप और प्रत्युष कहा गया है। स्वाध्याय के
या ज्ञानार्जन के लिए निषिद्ध समय की चर्चा करते हुए यह
बताया गया है कि सूर्योदय का काल, सूर्यास्त का काल, मध्याह्न
और अर्ध रात्रि का काल, ये चार काल अथवा चार संध्याएँ
स्वाध्याय के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इसी प्रकार से स्थानांग में
भी उन सभी स्थितियों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है
जिनमें स्वाध्याय नहीं की जानी चाहिए। इसी प्रकार जैन
आचार्यों ने इस सम्बन्ध में भी विस्तार से चर्चा की है कितनी
दीक्षा-पर्याय वाले व्यक्ति को किस आगम का अध्ययन कराया
जाना चाहिये। अध्ययन के लिए उपयुक्त वय, समय और साध-
नात्मक परिपक्वता का विचार ही कालाचार है।

(२) विनयाचार^२

विनयाचार में इस तथ्य की विस्तार से चर्चा की गई है कि
गुरु शिष्य का सम्बन्ध कैसा होना चाहिये और शिष्य को गुरु
या आचार्य के प्रति कैसे व्यवहार करना चाहिए। दुर्भाग्य से
आज जब शिक्षा एक व्यवसाय बन गया है उसमें विनय का
स्थान भोग हो गया है। आज तो ज्ञान के लिए गुरु का होना
भी बहुत महत्वपूर्ण नहीं रह गया है। किन्तु जब ज्ञान गुरु-मुख
से ही उपलब्ध होता था तब यह अपरिहार्य था कि शिष्य का
गुरु के प्रति आदर या श्रद्धा भाव रहे क्योंकि आचार्य या गुरु
की प्रसन्नता पर ही ज्ञान की उपलब्धि सम्भव थी। इस चर्चा
के प्रसंग में जैन आगमों में आचार्य का स्वरूप और उसके
विभिन्न भेद विस्तार से उल्लिखित हैं। इसी प्रसंग में यह भी
बताया गया है कि आचार्य, उपाध्याय, गुरु और सहयोगी
साधकों की सेवा का क्या फल मिलता है। उसमें यह बताया
गया है कि तथारूप अर्थात् गुण सम्पन्न आचार्य की पर्युपासना
करने से धर्म श्रवण का लाभ मिलता है। धर्म श्रवण से ज्ञान
प्राप्त होता है। ज्ञान से विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान प्राप्त
होता है, विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होने पर व्यक्ति हेय का परित्याग
करता है उसके फलस्वरूप शनाश्रव की प्राप्ति होती है। अना-
श्रव से तप का विकास होता है, तप से निर्जरा या कर्म नाश
होता है और जिससे अन्त में अयोग अवस्था या मुक्ति की प्राप्ति
होती है। इसी प्रसंग में यह भी बताया गया है कि साधक के
लिए गुरुकुलवास अर्थात् गुरु के सान्निध्य में रहने की क्या उप-
योगिता है। यह स्पष्ट है कि गुरु के सान्निध्य में रहने से एक
ओर व्यक्ति का हृदय शंकाओं से आक्रांत नहीं होता है, क्योंकि
शंका होने पर उसके समाधान के लिए गुरु का सान्निध्य बना
रहता है। दूसरी ओर उसके चारित्र्य का भी अनुरक्षण होता है
क्योंकि गुरु का सान्निध्य होने पर वह सहज रूप से चारित्र्य के
दोषों को सेवन में अग्रसर नहीं हो पाता है। इसी प्रसंग में इस
तथ्य की चर्चा भी उपलब्ध होती है कि गुरु को शिष्य से सत्य
को नहीं छिपाना चाहिए। अपसिद्धांत का आश्रय लेकर आगम-
पाठ को तोड़-मरोड़ कर व्याख्या नहीं करनी चाहिए और न
स्वयं अपने ज्ञान का अहंकार प्रदर्शित करना चाहिए। उसे प्राज्ञ
और साधक प्रश्नकर्ता या श्रोता की उपेक्षा या परिहास भी नहीं
करनी चाहिए। इस प्रकार से आचार्य को शिष्य की शंकाओं
का किस प्रकार समाधान करना चाहिए, इसकी भी विस्तार से
चर्चा की गई है। दूसरे शब्दों में शिष्य के साथ-साथ गुरु के

१ आचारांग टीका, १/१/७, (च. पृ. ५५)।

२ च. पृ. ७०-६६।

२ च. पृ. ६२-६८।

दायित्व बोध को भी स्पष्ट किया गया है। इसी प्रसंग में उत्तराध्ययन ११वें अध्याय के आधार पर कौन व्यक्ति श्रद्धा के योग्य बहुश्रुत हो सकता है, इसकी विवेचना की गई है। उत्तराध्ययन के प्रथम एवं ग्यारहवें अध्याय में तथा दशवैकालिक के नवें अध्याय में विनीत-अविनीत लक्षणों की विस्तृत चर्चा है। इसी प्रकार सुयोग्य शिष्य को कैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए, इस प्रसंग में दशाश्रुतस्कन्ध में ३३ आशतनाओं का उल्लेख है। अनुयोगकर्ता ने इन सभी तथ्यों को प्रस्तुत कृति में संकलित कर दिया है।

उपधानाचार

जैन परम्परा में ज्ञान साधना को तप साधना के साथ जोड़ा गया है, जिसे उनकी पारम्परिक भाषा में उपधान कहा जाता है। प्राचीन काल से ही हमें इस तथ्य के संकेत उपलब्ध होते हैं कि किस आगम का अध्ययन करते समय शिष्य को किस प्रकार का तप करना चाहिए। इस प्रकार जहाँ एक ओर जैनाचार्यों ने ज्ञान-साधना और तप-साधना को परस्पर जोड़ा है वहाँ आगम साहित्य में ऐसे भी प्रसंग हैं जहाँ नवदीक्षित एवं अध्ययनशील शिष्य के लिए कठोर एवं दीर्घकालिक तपों का निषेध किया गया है।

अनिह्वाचार

अनिह्वाचार का सामान्य अर्थ है कि सत्य सिद्धांत और अपने विद्या-गुरु के नाम को छिपाना नहीं चाहिये। सामान्यतया व्यक्ति अपने आप को बहुश्रुत या विद्वान सिद्ध करने के लिए अपने ज्ञानदाता गुरुजनों की उपासना करता है और उनका नामादि नहीं बताता है। यह प्रसंग विशेष रूप से उस समय उपस्थित होता है जब शिष्य और गुरु में मतभेद उपस्थित हो जाता है और वह अपने गुरु से पृथक् होकर और स्वयं अपने ही नाग से सिद्धांत का प्रचार करता है। निह्वा शब्द का अर्थ सत्य को छिपाना है। अनेक बार व्यक्ति सत्य को जानते हुए भी अपनी चारित्रिक कमजोरियों के कारण या अपनी सुविधा के लिए उसे तोड़-मरोड़कर व्याख्यायित करता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति सामान्यतया सुविधावाद शिथिलाचारी व्यक्तियों में पायी जाती है। वस्तुतः अनिह्वाचार का तात्पर्य यही है कि व्यक्ति को अपने अहंकार के पोषण के लिये अथवा अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिये सत्य को विकृत नहीं करना चाहिये। वस्तुतः यह एक प्रकार से ज्ञान के क्षेत्र में प्रामाणिक बने रहने की शिक्षा है। जैनधर्म में आगम-पाठों को अपनी सुविधा के लिए तोड़-मरोड़ कर व्याख्या करना समीचीन नहीं माना गया है।

अर्थजनाचार, अर्थाचार और उभयाचार

व्यञ्जनाचार का तात्पर्य शब्दों के उच्चारण की शुद्धता को बनावे रखना है। यह पाठ-शुद्धि की साधना है। आगम ग्रन्थों में

आये हुए स्वर और व्यञ्जन का अन्यथा उच्चारण नहीं करना यही अर्थजनाचार है, क्योंकि उच्चारणभेद से पाठभेद और पाठ-भेद होने से अर्थभेद होने की सम्भावना बनी रहती है। अतः उस युग में जब सम्पूर्ण ज्ञान श्रुत-परम्परा से संचित रहता था तब व्यञ्जनाचार का अपने आप में महत्वपूर्ण स्थान था। वस्तुतः यह ग्रन्थ के मूलपाठ को यथावत् सुरक्षित रखने की एक शैक्षिक प्रणाली थी, जो कि आगम पाठों को यथावत् एवं प्रामाणिक बनावे रखने के लिए आवश्यक थी।

इसी प्रकार आगम में आये हुए प्रत्येक शब्द का उसके सन्दर्भ के अनुकूल सही अर्थ करना अर्थाचार है। सामान्यतया प्रत्येक भाषा में और विशेष रूप से प्राकृत भाषा में एक ही शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे—“सुह” शब्द “सुख” और “शुभ” दोनों का वाचक है या “सत्य” शब्द शास्त्र और शस्त्र दोनों का वाचक है। अतः आगमिक पाठों के अर्थ निर्धारण करने में प्रामाणिकता को बनावे रखने के लिए यह आवश्यक माना गया कि अध्ययन में शुद्ध उच्चारण और सम्यक् अर्थ का प्रतिपादन आवश्यक है। शब्द के उच्चारण और अर्थ निर्धारण की संयुक्त प्रक्रिया तदुभयाचार कही जाती है।

ज्ञानार्जन के क्षेत्र में और उसके प्रतिपादन के क्षेत्र में किस प्रकार की सावधानी अपेक्षित है इसकी चर्चा सूत्रकृतांग में उपलब्ध होती है। उसमें कहा गया है कि शास्त्रा के प्रति श्रद्धा रखते हुये श्रमण को न तो आगम का अन्यथा उच्चारण करना चाहिये और न आगम के अर्थ को छिपाना या दूषित करना चाहिये। गुरु से जिस प्रकार सूत्रार्थ की व्याख्या सुनी है उसे गुरु के निर्देशपूर्वक यथावत् प्रतिपादन करना चाहिए। क्योंकि सूत्र के अशुद्ध उच्चारण से अर्थभेद होता है। अर्थभेद से क्रिया भेद होता है, क्रियाभेद से सम्भक् आचार के अभाव में निर्जरा नहीं होती और निर्जरा के नहीं होने से मोक्ष भी नहीं होता। इस प्रकार आगम-पाठ की उच्चारण-शुद्धता और उनके प्रसंगा-नुसार सम्यक् अर्थ का प्रतिपादन ज्ञानार्जन प्रक्रिया की एक आवश्यक शर्त है।

स्वाध्याय

जैन परम्परा में स्वाध्याय को ज्ञान-साधना का अनिवार्य अंग माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में मुनि की दैनिक चर्चा या विवेचन करते हुये दिन और रात्रि के आठ पहरो में चार प्रहर स्वाध्याय के लिए, दो प्रहर ध्यान के लिए एक प्रहर शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और एक प्रहर निद्रा के लिए निश्चित किया गया है। इससे जैन साधना के क्षेत्र में ज्ञान की उपासना का कितना महत्वपूर्ण स्थान है, यह स्पष्ट हो जाता है। जैन आगमों में और परवर्ती ग्रन्थों में स्वाध्याय के लिए अनुपयुक्त काल और स्थान की भी चर्चा की गई है, जिसका

विस्तृत उल्लेख प्रस्तुत करणानुयोग ग्रन्थ में हुआ है। अतः इस भूमिका में हम इसकी विशेष चर्चा नहीं करेंगे। जहाँ तक स्वाध्याय के स्वरूप का प्रश्न है यह एक विचारणीय प्रश्न है। सामान्यतया स्वाध्याय के निम्न पाँच अंग माने गये हैं—

(१) वाचना—मूल ग्रन्थ एवं उसके अर्थ का पठन-पाठन।

(२) पृच्छना—ग्रन्थ के पठन में उपस्थित शंकाओं का समाधान प्राप्त करना।

(३) परिवर्तनो—पठित ग्रन्थों की आवृत्ति करना या उनका पुनः पठन करना।

(४) अनुप्रेक्षा—पठित विषयों के सम्बन्ध में विशेष रूप से चिन्तन करना। स्वाध्याय का यह पक्ष चिन्तन या विमर्श की महत्ता को स्पष्ट करता है।

(५) धर्मकथा—प्रवचन करना या उपदेश देना। वस्तुतः स्वाध्याय का यह अंग इस बात का संकेत करता है कि प्राप्त ज्ञान का वितरण भी ज्ञान-साधना का एक आवश्यक अंग है।

किन्तु मेरी दृष्टि में यह सब स्वाध्याय का एक बाह्य रूप ही है। जैनो की पारम्परिक शब्दावली में ऐसे द्रव्य-स्वाध्याय भी कह सकते हैं। स्वाध्याय का वास्तविक अर्थ क्या है? वह स्वयं तो उस शब्द की व्युत्पत्ति में ही छिपा हुआ है। स्वाध्याय शब्द स्व + अध्याय से बना है। अध्याय शब्द अध्ययन, पठन एवं समन का वाचक है। यदि हम दृष्टि से हम इसका अर्थ करें तो इसका एक अर्थ होगा 'स्व' अर्थात् स्वयं का अध्ययन। यही यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि स्वयं के अध्ययन से क्या तात्पर्य और साधना के क्षेत्र में इसकी क्या उपयोगिता है? "आत्मानं विद्धि" यह उपनिषदों का महत्वपूर्ण उद्घोष है। जैन परम्परा में आचारांग आत्मज्ञान की प्राथमिकता को प्रतिपादित करता है। "के अहं आसी" "मैं कौन हूँ" यह उपनिषदों और जैन आगमों का मूल हार्द है, किन्तु हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि वह अमूर्त आत्म तत्त्व जो समस्त ज्ञान प्रक्रिया का आधार है, वह ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता, जो ज्ञान का विषय बन सकती है वे हैं व्यक्ति की अनुभूतियाँ और भावनाएँ। व्यक्ति अपनी अनुभूतियों, वृत्तियों, वासनाओं और मनोदशाओं का ज्ञाता ही सकता है। इनका ज्ञाता होना या इनको जानने का प्रयत्न करना ही स्वाध्याय का मूल अर्थ है। स्वाध्याय का तात्पर्य है अपने अन्दर झाँकना, स्व की वृत्तियों और वासनाओं को देखना, अपनी मनोदशाओं को पढ़ना। जहाँ तक जैन साधना का प्रश्न है आचारांग में साधक को बार-बार यह कहा जाता है कि तू देख या दृष्टा बन। निश्चित रूप से आध्यात्मिक विकास के लिए यह बहुत आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी वासनाओं, मनोवृत्तियों और मनोभावों को जाने क्योंकि दुर्वासनाओं और दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों का

निराकरण तभी सम्भव है, जबकि व्यक्ति उन्हें उस रूप में जाने। जो व्यक्ति अपनी बीमारी और विकृति को जानता है वही चिकित्सा के माध्यम से उसका निवारण कर सकता है। अतः स्व के अध्ययन का तात्पर्य है व्यक्ति अपनी मनोदशाओं और वृत्तियों को जानकर उनका निराकरण करे। जैन आगमों में इस आत्मा के अध्ययन को स्वाध्याय नहीं कह कर ध्याना कहा गया है जो स्वाध्याय के बाद की अवस्था है। स्वाध्याय को आत्मज्ञान, चित्त की एकाग्रता (ध्यान) आदि का साधन माना है और आत्मनुभूति की प्रक्रिया को ध्यान कहा है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि चाहे शास्त्र का अध्ययन हो या अपनी वृत्तियों और वासनाओं का अध्ययन। सभी का लक्ष्य हमारे मनोविकारों और वासनाओं का परिशोधन है और आत्म-शोधन की इस प्रक्रिया में ज्ञान मात्र "ज्ञान" न रहकर 'ज्ञानाचार' बन जाता है।

जैन आगमों ने इन तथ्यों की विस्तारपूर्वक चर्चा की है कि कौन व्यक्ति शिक्षा प्रदान करने के अयोग्य है। बृहत् कल्पसूत्र (४/६) में नर्पुंसक (पण्डक), कामुक (वातिक) और क्लीय (हीन भावना से ग्रसित व्यक्ति) को शिक्षा प्रदान करने के अयोग्य कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र (११/५) में उन कारणों का भी विश्लेषण किया गया है जिनकी उपस्थिति में ज्ञान प्राप्ति सम्भव नहीं है। वे कारण पाँच माने गये हैं—(१) मान (अहंकार), (२) क्रोध, (३) प्रमाद (अनुत्साह), (४) रोग और (५) आलस्य। इस प्रकार जैन आगमों में ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया के रूप में ज्ञानाचार का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। ज्ञानाचार वस्तुतः, ज्ञान का प्रयोगात्मक या व्यावहारिक पक्ष है। वह ज्ञानोपलब्धि की प्रक्रिया है।

दर्शनाचार

जिस प्रकार ज्ञान को एक आचार अर्थात् साधना की एक विशेष प्रक्रिया माना गया है उसी प्रकार दर्शन को भी साधना की एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। जैसा कि हम पूर्व में संकेत कर चुके हैं जैन परम्परा में दर्शन शब्द ऐन्द्रिक अनुभूति, आध्यात्मिक अनुभूति, आत्ममात्रास्कार, दृष्टिकोण-विशेष, दार्शनिक-सिद्धांत-विशेष, दार्शनिक अवस्था तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं के प्रति आस्था, तथा देव, गुरु, धर्म के प्रति आस्था, इन विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु जब हम दर्शन शब्द का प्रयोग दर्शनाचार के रूप में करते हैं तो यहाँ हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया विशेष या साधना विशेष से होता है जिसके द्वारा व्यक्ति सम्यक्-दृष्टिकोण को प्राप्त करता है। अतः हमें दर्शनाचार की विवेचना करते हुए सर्वप्रथम उन तथ्यों पर विचार करना होगा, जिनके द्वारा व्यक्ति का दृष्टिकोण दूषित होता है और फिर उन तथ्यों पर विचार करना होगा, जिससे

व्यक्ति की दृष्टि या श्रद्धा सम्यक् बनती है। क्योंकि दर्शनाचार का तात्पर्य है, व्यक्ति को मिथ्या मान्यताओं से छुटकारा दिलाकर सम्यक् मान्यताओं के प्रति सुस्थिर करना।

जैन परम्परा में अथर्वार्थ मान्यताओं के रूप में मिथ्या दर्शन की चर्चा करते हुए विपरीत मान्यताओं के साथ-साथ आग्रह, अभिनिवेश, एकांत आदि को भी मिथ्यात्व की कोटि में माना गया है। वस्तुतः जैनदर्शन सत्य को अपने सम्पूर्ण रूप में देखने का प्रयत्न करता है। यद्यपि वह यह मानता है कि “अनंत-धर्मात्मक वस्तु” के सम्पूर्ण पक्षों का बोध सीमित मानवीय ज्ञान के द्वारा सम्भव नहीं है। अतः अपने ज्ञान की सीमाओं को जानते हुए, दूसरे दृष्टिकोणों या सम्भावनाओं को पूर्णतः असत्य कहकर नहीं नकारना; यथार्थ या सम्यक् दृष्टिकोण का आवश्यक अंग माना गया है। यह स्पष्ट है कि ऐकांतिक दृष्टिकोण या हमारे पूर्वाग्रह अथवा दुरभिनिवेश, सत्य को समझने में बाधक होते हैं अतः सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के लिये आवश्यक यह है कि व्यक्ति अपने को दुरभिनिवेश और पूर्वाग्रहों से मुक्त रखे। पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त ने भी इस तथ्य की विशेष रूप से चर्चा की है। क्योंकि जब तक व्यक्ति दुराग्रहों से और पूर्वाभिनिवेश से मुक्त नहीं होता तब तक दृष्टि निर्मल नहीं होती और जब तक दृष्टि निर्मल नहीं होती तब तक वह सत्य को यथार्थ रूप में नहीं समझ पाता। जब तक व्यक्ति की दृष्टि पर राग और द्वेष रूपी रंगीन चश्मा चढ़ा हुआ है, वह पूर्वाग्रह और दुरभिनिवेशों से मुक्त नहीं है, तब तक उसके लिये सत्य का दर्शन सम्भव नहीं है। अतः दर्शन-विशुद्धि के लिए अपने पूर्वाग्रह और दुरभिनिवेश को छोड़ना होगा।

जैनगमों और विशेष रूप से सूत्रकृतांग में उन ऐकांतिक मिथ्या धारणाओं का उल्लेख है जिन्हें मुख्यतः क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और चिन्मयवाद से वर्गीकृत किया गया है किन्तु इसके अतिरिक्त ईश्वरकर्तृत्ववाद, एकत्ववाद, अण्डे से सृष्टि की उत्पत्ति, नियतिवाद, भौतिकवाद या भोगवाद आदि का भी उल्लेख एवं खण्डन जैनगमों में देखा जाता है। सम्यक्-दर्शन के जिन पाँच लक्षणों की चर्चा हमें जैन आगम साहित्य में मिलती है उनमें समत्व का स्थान पहला है। समभाव, अनासक्ति, पाप-कर्मों के प्रति भय, दूसरे प्राणियों को आत्मवत् समझकर उनके प्रति वैसा ही व्यवहार करना जैसा कि अपने प्रति चाहते हैं और आस्तिक्य या श्रद्धा ये पाँच सम्यक् दर्शन के लक्षण माने गये हैं। इनमें भी समत्व और अनासक्ति प्रमुख तत्व हैं, समत्व से प्राणियों को आत्मवत् मानने का बोध उत्पन्न होता है, जो अनुकम्पा का कारण बनता है, साथ ही समत्व की साधना से सौत्तारिक अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में चिन्त की अविषसता बनी रहती है। यही वास्तविक रूप में दृष्टिकोण को

विशुद्धि का आधार है। पुनः अनासक्ति का तत्व वैराग्य और पापकर्म से विरति का कारण बनता है, क्योंकि आसक्ति या राग का तत्व ही हमें संसार से जोड़ता है और अशुभानरण का कारण होता है।

किन्तु इन सबके अतिरिक्त जैन चिन्तकों ने सम्यक् दर्शन की उपलब्धि के लिये श्रोध, अहंकार (मात), कण्टवृत्ति (माया) और लोभ के तीव्रतम आवेगों अर्थात् अनस्तानुबन्धी कथायों का उपशमन आवश्यक माना है। जब तक इन तीव्रतम कथायों का उपशमन नहीं होता है तब तक सम्यक्-दर्शन की उपलब्धि और उसका टिकाव सम्भव नहीं होता है।

अतः दर्शनाचार की साधना का अर्थ है सदैव ही यह प्रयत्न करना या सजगता रखना कि कथायों या वासनाओं के आवेश हमारी अन्तरात्मा की आवाज या आत्मानुभूति को दबा न लें। किन्तु प्रत्येक साधक के लिए यह सम्भव नहीं होता है कि वह अपने दृष्टिकोण को पूर्वाग्रहों, राग-द्वेषजन्य दुरभिनिवेशों एवं कथायों के तीव्रतम आवेगों से मुक्त कर सके। जैन धर्म में साधना का मुख्य लक्ष्य वीतराग-दशा या समत्व (सामायिक) की उपलब्धि माना गया है। अतः यदि हम सम्यक् दर्शन का अर्थ रागद्वेष से ऊपर उठकर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए वीतराग दृष्टि की प्राप्ति को माने तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसी वीतराग दृष्टि का निर्माण तो साधना के अन्त में होता है। जबकि सम्यक् दर्शन की साधना का प्रारम्भिक एवं आवश्यक चरण माना गया है। इस समस्या के समाधान के लिए जैन आचार्यों ने यह व्यवस्था दी कि जब तक व्यक्ति स्वयं दुराग्रहों और दुरभिनिवेश से मुक्त होकर वीतराग जीवन-दृष्टि को उपलब्ध नहीं कर पाया है तब तक उसके लिये यही उचित है कि वह वीतराग के बन्धनों के प्रति आस्तिक्य-बुद्धि या श्रद्धाभाव रखे। रोगी को रोग से मुक्त होने के लिए दो ही विकल्प होते हैं, या तो वह स्वयं अपनी बीमारी को समझ कर और उसके निराकरण का प्रयत्न करे। किन्तु यदि वह स्वयं इस क्षेत्र में अपने को असमर्थ अनुभव करता है तो उसके लिए वैद्य का सहारा लेना, उसके आदेशों को मानना और तदनुसार व्यवहार करना अत्यावश्यक होता है। यही बात आध्यात्मिक सन्दर्भ में भी है। या तो व्यक्ति स्वयं अपनी आध्यात्मिक विकृतियों को या अपूर्णताओं को समझे और उन्हें स्वयं ही दूर करने का प्रयत्न करे। आध्यात्मिक विकृति से यहाँ हमारा तात्पर्य राग-द्वेष और कथायों से मुक्त होना है। यदि व्यक्ति इतना समर्थ नहीं है कि वह सजग होकर अपनी वासनात्मक वृत्तियों या चित्त की विकृतियों को देख सके और उनसे ऊपर उठ सके, तो उसके लिए दूसरा उपाय यही है कि प्रबुद्ध-आत्माओं के उपदेशों को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करके तदनुसार साधना करे।

यही साधना के क्षेत्र में श्रद्धा या आस्तित्व-बुद्धि का स्थान होता है। यही दर्शनाचार है।

तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यक्-दर्शन के दो रूप माने गये हैं (१) निसर्गरुचि और (२) अभिगमज।^१ इसी को उत्तराध्ययन सूत्र में निसर्गरुचि-सम्यक्त्व और उपदेशरुचि-सम्यक्त्व कहकर व्याख्यायित किया गया है।^२ निसर्गरुचि सम्यक्त्व का मतलब है कि बिना परोपदेश के स्वयं ही अपनी कषायों और वासनाओं की मन्दता के कारण सत्य का यथार्थ रूप में दर्शन कर लेना। व्यक्तिक जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर उपलब्ध हो जाते हैं जब स्वाभाविक रूप से ही उसकी कषायों और वासनाओं का आवेग कम हो जाता है और व्यक्ति सत्य का दर्शन या अनुभूति करने लगता है। वह अपनी कषायों की तरतमता के आधार पर निश्चित रूप से अपनी आदिम विकृतियों या कमजोरियों को जान लेता है। इसे एक अन्य उदाहरण से इस प्रकार समझा जा सकता है एक पाण्डुरोग से ग्रस्त व्यक्ति रक्त में पीलेपन की मात्रा के तरतमता के कारण जब वह जान लेता है कि उसकी दृष्टि में कहीं दोष है, तो वह उसकी चिकित्सा या निवारण का प्रयत्न करता है। किन्तु सभी लोगों में इतनी वैचारिक परिपक्वता नहीं होती है कि वे अपनी विकृतियों को सम्यक् प्रकार से जान भी नहीं पाते हैं। उनके लिए यही उचित होता है कि वे चिकित्सक की सलाह मानें और तदनुरूप अपनी बीमारी को दूर करने का प्रयत्न करें।

उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक्त्व के प्रकारों के सन्दर्भ में दस प्रकार की सम्यक्त्व रुचि का विवरण मिलता है।^३ हमने यहाँ उनमें से केवल दो निसर्गरुचि और उपदेश रुचि का विवेचन किया है। उपदेश रुचि का तात्पर्य है दूसरों के माध्यम से सत्य के स्वरूप को सुनकर आस्था या विश्वास रखना। इन रुचियों में आज्ञारुचि, क्रियारुचि भी महत्वपूर्ण है। बरिष्ठजनों की अथवा वीतराग की आज्ञा के पालन को ही धर्म साधना का सर्वस्व समझना यही आज्ञा-रुचि-सम्यक्त्व है। इसी प्रकार अभिगम-रुचि सम्यक्त्व का तात्पर्य है बुद्धि पूर्वक सत्य को समझकर उस पर श्रद्धा करना।

इसी प्रकार जिस व्यक्ति की रुचि और आस्था का केन्द्र धार्मिक विधि-विधानों या धार्मिक क्रिया-काण्डों का सम्पादन होता है उसे क्रियारुचि सम्यक्त्व कहा जाता है। इनमें हम देखते हैं कि जहाँ निसर्गरुचि और अभिगम-रुचि में समझपूर्वक आस्था होती है वहीं उपदेशरुचि, आज्ञारुचि और क्रियारुचि में विवेक के स्थान पर आस्था का पक्ष अधिक महत्वपूर्ण होता है। दर्शना-

चार की चर्चा के प्रसंग में उसके विविध रूपों की विस्तृत चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। फिर भी हम यदि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से विचार करें तो जैन धर्म में सम्यक्-दर्शन शब्द के अर्थ का जो विकास हुआ है उसमें आगे चलकर सत्य की अनुभूति अथवा पूर्वाग्रहों से मुक्त दृष्टि की अपेक्षा क्रमशः आस्था और श्रद्धा का तत्त्व प्रधान होता गया और अन्त में वह देव, गुरु और धर्म या शास्त्र के प्रति श्रद्धा का वाचक बन गया, किन्तु प्रारम्भ में वह स्थिति नहीं थी, दर्शन शब्द आत्मानुभूति या द्रष्टाभाव का वाचक था। उसके पश्चात् भी सम्यक् दर्शन में श्रद्धा का स्थान होते हुए भी वह श्रद्धा तात्त्विक मान्यताओं के सन्दर्भ में थी; व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं।

प्राचीन ग्रन्थों में आत्मा के अस्तित्व, आत्मा की नित्यता, आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व, आत्मा की मुक्ति की सम्भावना और मुक्ति के मार्ग को स्वीकार करना ही सम्यक्-दर्शन माना गया; किन्तु जब हम आगमों में सम्यक्-दर्शन के आठ अंगों और पाँच अतिचारों की चर्चा को देखते हैं तो निश्चित ही हमें धार्मिक आस्थाओं के प्रति श्रद्धा को दृढ़ करने के प्रयत्न दिखाई देते हैं। इसी प्रसंग में उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक्त्व के आठ प्रभावना अंगों की चर्चा हुई है। यहाँ प्रभावना का तात्पर्य लोगों को जिन धर्म के प्रति आकर्षित करना और उसमें उनकी श्रद्धा को दृढ़ बनाना है। यह आठ प्रभावना अंग निम्न हैं—

(१) जिन प्रवचन के प्रति सन्देह से रहित होना।

(२) फलाकांक्षा अथवा अन्य धर्म और दर्शन की आकांक्षा से रहित होना।

(३) जिनधर्म के प्रति आलोचक दृष्टि का अभाव।

(४) सूक्ष्मापूर्ण अन्ध विश्वासों से मुक्ति।

(५) अपनी श्रद्धा को सबल बनाने का प्रयत्न।

(६) धर्म मार्ग से विचलित लोगों को पुनः स्थिर करना।

(७) स्वधर्मी बन्धुओं के प्रति वात्सल्य भाव अर्थात् उनके सुख-दुःख में सहभागी बनना।

(८) जिनधर्म की प्रभावना या प्रसार का प्रयत्न करना।

इस प्रकार यहाँ हम स्पष्ट रूप से यह देखते हैं कि जहाँ सम्यक्-दर्शन के मूल में पूर्वाग्रहों से रहित और समभाव से युक्त होने या साक्षी भाव में स्थित रहने की बात मुख्य थी। वहीं आगे चलकर धार्मिक अभिनिवेश और आस्था की पुष्टि के प्रयत्न प्रमुख होते गये। दर्शन आत्म-दर्शन से तत्त्वदर्शन और फिर श्रद्धाभाव बन गया।

इन्हीं प्रकार जब दर्शन के पाँच अतिचारों की चर्चा हुई तो

१ तत्त्वार्थ. १/३।

२ उत्तराध्ययन २८, गा. १६-२७।

३ उत्तराध्ययन २८/१६, स्यातांग २/१/५६।

४ उत्तराध्ययन २८/३१।

उसमें भी जिनवचन के प्रति शंका करने, अन्य मत की आकांक्षा या इच्छा करने, अन्य धर्मवैलम्बियों के साथ सम्पर्क रखने और उनकी प्रशंसा करने का निषेध कर दिया गया। क्योंकि ये ही ऐसे आधार थे जिनके द्वारा किसी व्यक्ति की जिनधर्म के प्रति आस्था को सुरक्षित रखा जा सकता था। यद्यपि ये तथ्य सम्यक्-दर्शन के मूल अर्थ के साथ संगति नहीं रखते हैं। क्योंकि सम्यक्-दर्शन का मूल तात्पर्य तो सत्य-निष्ठा या निष्पक्ष दृष्टि से सत्यान्वेषण का प्रयास करना है। जहाँ सम्यक्-दर्शन के अति-चारों की चर्चा के प्रसंग में संशय को एक अतिचार माना गया है और उसकी गणना 'हेय' तत्त्व में की गई है। वहीं आचारांग में संशय को ज्ञान का आवश्यक साधन माना गया है। उसमें कहा गया है कि "जो संशय का परिज्ञाता होता है, वह संसार का परिज्ञाता होता है।"^१ वस्तुतः यहाँ संशय की ज्ञान की प्राप्ति में बाधक न मानकर, ज्ञान के विकास का कारण माना गया है। यहाँ संशय व्यक्ति की जिज्ञासावृत्ति का सूचक है। क्योंकि जिज्ञासावृत्ति के अभाव में ज्ञान का विकास नहीं होता है। इसी प्रकार जहाँ सम्यक्-दर्शन के अतिचारों के रूप में अन्य मत की प्रशंसा करना और उनके अनुयायियों के साथ सम्पर्क रखना अनुचित माना गया है, वहीं सूत्रकृतांग में उन व्यक्तियों की आलोचना की गई है, जो अपने मत की प्रशंसा और दूसरे के मत की निन्दा करते हैं^२। मात्र यही नहीं सूत्रकृतांग में तो असितकेवल, नमि, रामपुत्र, बाहुक, पाराशर, द्वैपायन आदि को जिन-प्रवचन सम्मत माना गया है।^३ उत्तराध्ययन में भी अन्यलिङ्ग सिद्धों का उल्लेख है ही। ऋषिभाषित में नारद, याज्ञवल्क्य, आरुलि, उद्दालक, संक्षलिगोसाल संजय (मियद्विपुट) सारिपुत्र महाकाश्यप आदि को अर्हंतमहर्षि का सम्मानित पद दिया गया है।^४ इस प्रकार इन दोनों दृष्टिकोणों में एक महत्वपूर्ण अन्तर है और जो इस बात का भी सूचक है जो सम्यक्-दर्शन शब्द किसी युग में आग्रहमुक्त दृष्टि से सत्यान्वेषण या आत्मानुभूति का परिचायक था, वही आगे चलकर एक परम्परा विशेष की मान्यताओं से बद्धमूल होने लगा। यद्यपि सूत्रकृतांग में भी हमें अन्य मतों की समालोचना उपलब्ध होती है किन्तु वे समालोचनाएँ मूलतः या तो एकांतिक और अयुक्तिसंगत मान्यताओं के प्रति हैं, या फिर मिथिलाचारी या स्वच्छद प्रवृत्ति के लिए हैं। जहाँ सूत्रकृतांग में मुख्यतया पंचमहाभूतवादी, ईश्वर-कर्तृत्ववादी, आत्माद्वैतवादी, नियतिवादी आदि अवधारणाओं की समालोचना प्रस्तुत की गई है, वहीं आचारांग में आत्मवाद,

लोकवाद, क्रियावाद और कर्मवाद की स्थापना की गई है। वस्तुतः, प्रारम्भ में जैन परम्परा में सम्यक्-दर्शन वा तात्पर्य आत्मानुभूति या गाक्षीभाव था। उसके पश्चात् आत्मा और लोक के अस्तित्व को स्वीकार कर आत्मा को अपने कर्मानुसार फल प्राप्ति के रूप में विविध वोनियों में जन्म लेने वाला स्वीकार करना माना गया। षट्द्रव्यों और नौ तत्त्वों के प्रति आस्था को सम्यक् दर्शन कहा गया है, फिर जिन और जिन आगमों के प्रति आस्था को ही सम्यक् दर्शन कहा गया है। यही आगे चलकर देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा वाचक बना। इस समस्त चर्चा से यह भी सिद्ध होता है कि दर्शन शब्द मात्र विश्वास का प्रतीक न होकर विश्वास के अनुरूप जीवन जीने का सूचक है और इसी अर्थ में वह दर्शनाचार बन जाता है।

दर्शनाचार प्रस्तुत कृति में

दर्शनाचार का प्रारम्भ दर्शन के स्वरूप की चर्चा से किया गया है। इसमें सम्यक्-दर्शन के लक्षण एवं प्रकार, सम्यक्-दर्शन का फल, उसकी प्राप्ति के लिए अनुकूल आयु, काल एवं दिशाएँ जैसी महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा के साथ-साथ सम्यक्त्व की प्रभावना के आठ अंग, रुचि के आधार पर सम्यक्त्व के दस प्रकारों की चर्चा भी प्रसंगानुसार मिलती है, जिनका संकेत हम पूर्व में कर चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में इन महत्वपूर्ण चर्चाओं के अतिरिक्त बोधि की सुलभता एवं दुर्लभता के पाँच कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसी प्रसंग में तीन प्रकार के दुर्बोध्य तथा तीन प्रकार के सुबोध्य जीवों का वर्णन करते हुए सुलभबोधि और दुर्लभबोधि के लक्षणों एवं उनके अन्तर को स्पष्ट किया गया है। साथ ही बोधिलाभ में बाधक एवं साधक हेतुओं का विस्तृत विवरण भी उपलब्ध होता है। श्रद्धालु और अश्रद्धालु के अन्तर को स्पष्ट करते हुए अंत में यह बताया गया है कि सम्यक्-दृष्टि का समस्त ज्ञान एवं आचार भी सम्यक् रूप में परिणत हो जाता है।

इसी प्रसंग में सम्यग्दर्शी धमण के परीषहजय अर्थात् साधना मार्ग में सफलता तथा असम्यग्दर्शी धमण के परीषह-पराजय अर्थात् साधना के श्रेय में विफलता की चर्चा की गई है। पुनः सम्यक्त्व-पराक्रम अर्थात् सम्यक्त्व साधना के अंगों की उत्तराध्ययन सूत्र के २१वें अध्याय के आधार पर चर्चा की गई है। इसके साथ ही संवेग, निर्वेद आदि की चर्चा भी की गई है। इसमें चार प्रकार की श्रद्धा और सम्यक्त्व के पाँच अतिचारों का भी विशद विवेचन उपलब्ध है। इसी प्रसंग में अनुस्रोत और

१ आचारांग १/५/१/१४६।

२ वही १/३/४/१-४

३ सूत्रकृतांग १/१/२/२३।

४ ऋषिभाषितः एक अध्ययन (डा. सागरमत जैन) पृ. १७-१८

प्रतिज्ञात जैसे महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा के साथ-साथ अस्थि-रात्मा कैसा होता है, यह भी विभिन्न उपमाओं से बताया गया है। साधुता से पतित श्रमण की दशा का वर्णन करते हुए संयम साधना में रत रहने वालों को सुखी तथा उससे पतित होने वालों को दुःखी कहा गया है तथा श्रमणों को संयम में स्थिर रहने का संदेश दिया गया है। मिथ्यादर्शन पर विजय पाने से क्या लाभ होता है इस पर भी प्रकाश डाला गया है। चार अन्यतीथियों की श्रद्धा का निरसन करते हुए क्रमशः भूतजीवः तत्शरीरवाद, पंच महाभूतवाद, ईश्वरकारणिकवाद तथा नियतिवाद की समा-लोचना की गई है। मिथ्यादृष्टियों की इस चर्चा के प्रसंग में सूत्रकृतांग में उल्लेखित सृष्टि की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांतों, आत्म अकर्तावाद, एकात्मवाद, आत्मषष्ठवाद और पंचमहाभूत के अतिरिक्त अवतारवाद, लोकवाद एवं पंच-स्कन्धवाद की भी समीक्षा की गई है। किन्तु इसके साथ-साथ सूत्रकृतांग में वह भी बताया गया है कि जो अपने मत की प्रशंसा एवं अन्य मत की निन्दा करते हैं वे संसार में परिभ्रमण करते हैं। इस भाषा में हमें जैन दर्शन की अनेकान्तवादी या सहिष्णुवादी दृष्टि के दर्शन होते हैं। मिथ्यात्व की इस चर्चा के प्रसंग में मिथ्यादर्शन के भेद-प्रभेदों की चर्चा के साथ-साथ मोहमूढ़ या मिथ्यादृष्टि की दुर्रक्षा पर भी चर्चा की गई है। उसमें ही प्रसंगानुसार विवाद या शास्त्रार्थ के छह प्रकारों तथा विपरीत प्रवृत्तियों के प्रायश्चित्त का विधान भी उपलब्ध होता है। अन्यतीथियों के चार सिद्धांतों यथा—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद तथा अज्ञानवाद की विस्तृत चर्चा भी हम जैनग्रंथों में पाते हैं। यहाँ सूत्रकृतांग के आधार पर इन चारों ही प्रकार के सिद्धांतों के स्वरूप की चर्चा की गई है और इनके एकांतवादी रूपों को समझाने का भी प्रयास किया गया है। इसी चर्चा में श्वेतकमल को पाने में सफल निःस्पृह भिक्षु का उल्लेख किया गया है एवं एकांत दृष्टि के निषेध पर बल दिया गया है। साथ ही पार्श्व-पत्न्यों अर्थात् शिथिलाचारियों की प्रशंसा, उनसे संसर्ग आदि के प्रायश्चित्त की क्या अवस्था है इसका उल्लेख हुआ है।

अन्य तीथियों की मोक्ष अवधारणा और उन अवधारणाओं के परित्याग पर विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। चर्चा के इस प्रसंग में निर्वाण ही साध्य है, ऐसा बताया गया है। मोक्ष मार्ग में अशमत्त भाव से गमन करने के उपदेश के साथ यह भी कहा गया है कि निर्वाण का मूल सम्यक्दर्शन है। प्रधान मोक्ष-मार्ग की चर्चा करते हुए गुरु और वृद्धों की सेवा, स्वाध्याय, एकांतवास आदि उसके महत्वपूर्ण उपाय बताये गये हैं। अन्त में इसमें सन्मार्ग और उन्मार्ग के स्वरूप का चित्रण किया गया है।

चारित्र्याचार—चारित्र्याचार के अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्न विषयों का संकलन किया गया है—

१. वेत्से—सूत्रकृतांग १/३/४/१-४।

सर्वप्रथम चरणविधि के महत्व का प्रतिपादन किया है। इसके पश्चात् संवर की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति कब, किस वय में और किस प्रकार होती है इसकी चर्चा की गई है। तदनन्तर आश्रय और संवर के स्वरूप का कथन किया गया है। पाँच संवर द्वारों पर प्रकाश डालते हुए यह बताया गया है कि अभिरति और विरति से जीव किस प्रकार गुरुता और लघुता को प्राप्त होता है। उसी क्रम में दस प्रकार के असंवर दस प्रकार के संवर की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि संवर करने वाला ही महाव्रत का कर्ता है। इसके पश्चात् दस प्रकार की असमाधि और दस प्रकार की समाधि तथा असंवृत और संवृत अणुगार के संसार परिभ्रमण की चर्चा के साथ-साथ चारित्र्य सम्पन्नता के फल की भी चर्चा की गयी है। तदनन्तर चारित्र्याचार में पाँच महाव्रतों की विस्तृत विवेचना उपलब्ध होती है।

प्रथम महाव्रत के रूप में अहिंसा के स्वरूप और उसकी आराधना का वर्णन किया गया है। प्रसंगानुसार प्रथम महाव्रत की प्रतिज्ञा का स्वरूप, अहिंसा के साठ नाम, भगवती अहिंसा की आठ उपमाएँ एवं अहिंसा के स्वरूप के प्ररूपक और पालक विभिन्न प्रकार के साधकों की चर्चा है। इसके पश्चात् अहिंसा के आधार के रूप में आत्मवत् दृष्टि जैसे महत्वपूर्ण विषय का विवेचन मिलता है।

हिंसा के निषेध के लिये प्रथमतः छह जीवनिकायों का विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् इन जीवनिकायों की हिंसा नहीं करने की प्रतिज्ञा पर बल डाला गया है। षड्जीवनिकाय में प्रथम पृथ्वीकाय, जीवों की चर्चा करते हुये पृथ्वीकाय जीवों की वेदना को मनुष्य की वेदना के समान बताकर उनकी हिंसा का निषेध किया गया है।

इसी तरह का विवरण अप्कायिक जीवों, तेजसकायिक जीवों, वायुकायिक जीवों, वनस्पतिकायिक जीवों तथा जलकायिक जीवों के सम्बन्ध में भी दिया गया है। इसी प्रसंग में आर्य-अनार्य वचनों के स्वरूप, बालजीवों का पुनः-पुनः मरण प्राप्त करना, अयतना का निषेध तथा छः जीवनिकाय की हिंसा के परिणामों पर भी प्रकाश डाला गया है। चारित्र्याचार के इसी सन्दर्भ में षड्जीवनिकाय की हिंसा के प्रायश्चित्त पर भी व्यापक चर्चा मिलती है। इसमें सचित्त (हरे) वृक्ष के मूल में भलभूत्र आदि का विसर्जन करना, सचित्त वृक्ष पर चढ़ना, प्राणियों को बाधना आदि के प्रायश्चित्तों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। प्रायश्चित्त विधान को लेकर हमने इसी भूमिका में अन्यत्र विचार किया है।

सदोष चिकित्सा का निषेध करने के क्रम में गृहस्थ से नख, दांत, ओष्ठ आदि रंगवाना, फोड़े, व्रण आदि की शल्य चिकित्सा करवाना, वैयाचृत्य (सेवा) करवाना, गृहस्थकृत चिकित्सा की

अनुमोदना, लीख, कुमि आदि निकालने की-अनुमोदना का निषेध किया गया है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनी द्वारा परस्पर चिकित्सा करने सम्बन्धी प्रायश्चित्त की चर्चा प्रसंग में निम्न बातों पर प्रायश्चित्त करने का विधान किया गया है। जैसे निर्ग्रन्थ द्वारा निर्ग्रन्थी के पैरों आदि की साज-सज्जा, निर्ग्रन्थी द्वारा निर्ग्रन्थ के पैरों आदि की साज-सज्जा (परिकर्म), निर्ग्रन्थ द्वारा निर्ग्रन्थी के व्रणों एवं गण्डादि की चिकित्सा करना, निर्ग्रन्थी द्वारा निर्ग्रन्थ के व्रणों एवं गण्डादि की चिकित्सा, निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी द्वारा परस्पर एक दूसरे के कुमि निकालना आदि के प्रायश्चित्त का विधान जैना-मतों में उपलब्ध है। इसी तरह के प्रायश्चित्त अन्यतीर्थिक या गृहस्थ द्वारा चिकित्सा करवाने तथा उनकी चिकित्सा करने के सम्बन्ध में भी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अहिंसा नामक प्रथम महाव्रत के परिशिष्टांक के अन्तर्गत प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाएँ, आरम्भ-सारम्भ-समारम्भ तथा अनारम्भ-असारम्भ और असमारम्भ के सात-सात प्रकारों, प्राण सूक्ष्म, पनक सूक्ष्म, बीज सूक्ष्म, हरित सूक्ष्म, पुष्प सूक्ष्म, अण्ड सूक्ष्म, लयन सूक्ष्म (बिल) तथा स्नेह सूक्ष्म आदि आठ सूक्ष्मों की चर्चा और उनकी हिंसा का निषेध, दस प्रकार के अहिंसक व्रत दस प्रकार के अहिंसक विचारों का निषेध, साथ ही पाप-श्रमण का स्वरूप, अन्यतीर्थिकों का स्थविरों के साथ पृथ्वीकायिक हिंसा विषयक विवाद जैसे महत्वपूर्ण विषय का भी संकलन किया गया है।

द्वितीय सत्य महाव्रत की चर्चा करते हुए मृषावाद विरमण महाव्रत की प्रतिज्ञा एवं उसकी पाँच भावनाओं की चर्चा है। तदनन्तर सत्य वचन की महिमा, सत्य वचन की छः उपमाएँ, अवक्तव्य तथा वक्तव्य सत्य, सत्य वचन का फल और मृषावाद के प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है। इसी प्रसंग में नहीं बोलने योग्य छः प्रकार के वचनों का निषेध किया गया है।

तृतीय अस्तेय महाव्रत का प्रतिपादन करते हुए उसकी प्रतिज्ञा, उसकी पाँच भावनाएँ, दत्त अनुज्ञात संवर के आराधक, दत्त अनुज्ञात संवर के फल, अन्य भी साधना के उपकरण एवं स्थान का उपयोग हेतु ग्रहण के विधि-निषेध की चर्चा है। इसके पश्चात् यह कहा गया है कि राज्य परिवर्तन या राजा के वंश विच्छेद या पराजित होने पर परिवर्तन की स्थिति में नये राजा की अनुमति पूर्वक ही वहाँ विहार एवं स्थान (अवग्रह) आदि का उपयोग कल्पनीय होता है। अन्त में अदत्तादान के प्रायश्चित्त का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। इसमें किसी अन्य श्रमण के शिष्य या आचार्य के अपहरण का भी प्रायश्चित्त बताया गया है।

परिशिष्ट में तृतीय अदत्तादान महाव्रत की पाँच भावनाओं

की चर्चा के साथ अन्यतीर्थिकों के अदत्तादान सम्बन्धी आक्षेपों का निराकरण किया गया है।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत की चर्चा में ब्रह्मचर्य का स्वरूप, उसकी प्रतिज्ञा, मैथुन विरमणव्रत की पाँच भावनाएँ, ब्रह्मचर्य महिमा, उसकी सैतीस उपमाएँ, उसके खण्डित होने पर सभी महाव्रतों का खण्डित हो जाना, ब्रह्मचर्य साधना की अनुकूल एवं प्रतिकूल स्थितियाँ, ब्रह्मचर्य की आराधना का फल, ब्रह्मचर्य की साधना के अनुकूल वय, प्रहर, जैसे विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ब्रह्मचर्य की निषिद्ध साधना सम्बन्धी निर्देशों के साथ विविक्त भयनासन के सेवन का सुपरिणाम तथा स्त्री के साथ आसन पर बैठने, उसकी इन्द्रियों के अवलोकन करने तथा वासनाजन्य शब्दों के उच्चारण का निषेध किया गया है। इसी प्रकार पूर्व अनुभूत भोगों के स्मरण का निषेध, विकारवर्धक आहार करने का निषेध, अधिक आहार करने का निषेध, विभूषा का निषेध, ण्डादि विषयों में आसक्ति का निषेध तथा वेश्याओं के निवास सम्बन्धी मार्ग में आवागमन का निषेध किया गया है। इसी चर्चा में ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकारों का निरूपण भी स्पष्ट रूप से किया गया है। ब्रह्मचर्य का पालन क्यों किया जाये, इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि यह अधर्म का मूल है तथा इसके पालन से स्त्रियों के सम्पर्क से होने वाले भव-भ्रमण जन्य रोग नहीं होते हैं। ब्रह्मचर्य की इसी चर्चा में शारीरिक साज-सज्जा, काय-क्रिया आदि का निषेध किया गया है।

भिक्षु-भिक्षुणी का परस्पर अथवा किसी गृहस्थ से चिकित्सा करवाना या दान, गण्डादि की चिकित्सा करवाना एवं कुमि निकालने जैसे चिकित्सा के उपायों का सहारा लेने पर उनके प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

परिकर्मकरण (साज-सज्जा) की चर्चा के प्रसंग में शरीर-परिकर्म, पाद-परिकर्म, नख-परिकर्म, जंघा-परिकर्म, ओष्ठ-परिकर्म, उत्तरीष्ठ-रोम-राजि (दाढ़ी) परिकर्म, दन्त-परिकर्म, चक्षु-परिकर्म, अक्षिपत्र-परिकर्म, रोम-परिकर्म, केश-परिकर्म आदि की चर्चा है। इसी प्रसंग में स्वयं परिकर्म करने अथवा परस्पर अन्यतीर्थिकों एवं गृहस्थों से परिकर्म कराने सम्बन्धी प्रायश्चित्तों पर भी प्रकाश डाला गया है।

आगमिक सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि जैन परम्परा में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इसलिए मैथुन के संकल्प से अपने भिक्षुलिङ्गों के स्पर्श और स्पर्शसुख के आस्वादन का निषेध किया गया है। इसी प्रकार मैथुन सेवन के संकल्प से गुह्य अंगों के प्रक्षालन आदि का भी निषेध किया गया। इसी प्रकार मैथुन सेवन के लिए प्रार्थना करने, वस्त्र हटाने, वासना सम्बन्धी अंगों का संचालन करने, उन्हें सजाने सँवारने, हस्तकर्म से दीर्घपात करने आदि का न केवल निषेध

किया गया बल्कि इनके लिए चातुर्मासिक परिहारस्थान आदि कठोर प्रायश्चित्त की व्यवस्था भी की गई है। इसी प्रकार किसी भिक्षु, भिक्षुणी अथवा स्त्री-पुरुष को आकर्षित करने अथवा उसे मैथुन सेवन के लिये सहमत करने हेतु वस्त्र पात्र आदि भिक्षु-जीवन के उपकरणों अथवा आभूषण, माला आदि को रखने पर भी जैन आचार्यों ने प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। इसी प्रकार मैथुन-सेवन के उद्देश्य से कलह करके अपने साथियों को अलग कर देना, पत्र लिखना, पत्र लिखवाना, अथवा पत्र लिखने के उद्देश्य से बाहर जाना भी प्रायश्चित्त योग्य अपराध माना गया है। इसी सन्दर्भ में वर्गीकरण, पौष्टिक आहार का सेवन आदि को भी निषिद्ध और प्रायश्चित्त योग्य अपराध माना गया है।

पंच महाश्रतों की चर्चा करते समय पंचम अपरिग्रह महाव्रत सम्बन्धी विवेचन का प्रारम्भ अपरिग्रह महाव्रत की प्रतिज्ञा से होता है। इसके पश्चात् अपरिग्रह महाव्रत की पांच भावनाओं का वर्णन कर पाँचों इन्द्रियों के संयम का विवरण प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः परिग्रह का मूल कारण इन्द्रियों की अपने विषयों की भोगाकांक्षा ही है। अतः इस भोगाकांक्षा पर विजय पाने में ही अपरिग्रह की साधना सम्भव है। साधुओं को किन वस्तुओं का संचय कल्प्य नहीं है इसकी चर्चा के प्रसंग में प्राचीन काल के कुछ भिक्षुओं का भी उल्लेख हुआ है, विशेष रूप में सशकुलि (तिलपापड़ी) वेडिम (वेष्टिम अल्लेवी) का उल्लेख है। इसी प्रसंग में अपरिग्रही श्रमण की उपमा कमल पत्र से दी गई है, जिस प्रकार कमल पत्र जल में रहकर भी इससे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार श्रमण को भी, देह रक्षण के निमित्त जो आहारादि किया जाता है, उसमें निर्लिप्त भाव से रहना चाहिये। इसी प्रसंग में यह भी बताया गया है कि हिंसा का मूल कारण आसक्ति या परिग्रह ही है। जो परिग्रह में आसक्त होता है वही हिंसक होता है और वही बाल या मूर्ख कहा गया है। वस्तुतः अनासक्ति ही साधना का मूलतत्त्व है और वही मुक्ति का आधार भी है। इसी प्रसंग में प्रस्तुत चरणानुयोग नामक कृति में आसक्ति के निषेध पर विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। यद्यपि जब तक इन्द्रियाँ हैं, उनके विषयों का ग्रहण होगा ही, यह सम्भव नहीं है कि इन्द्रियाँ अपने विषयों की अनुभूति न करें, आँख की उपस्थिति में रूप दिखाई देगा ही, श्रवणेन्द्रिय की उपस्थिति में शब्द सुनाई देगा ही। आवश्यकता इस बात की है कि साधक उन ऐन्द्रिक अनुभूतियों में अपनी आसक्ति को न जोड़े और मन के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही प्रकार की अनुभूतियों में साक्षी भाव से रहे।

इस चर्चा के अन्त में यह उल्लेख है कि जो भिक्षु आसक्त होकर इन्द्रियों के विषयों के पीछे भागता है, वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

परिग्रह की चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत कृति में रात्रि भोजन निषेध और उसमें होने वाले दोषों का विवरण है। इसी सन्दर्भ में रात्रि में अशनादि ग्रहण करने, उनका भोग करने या उन्हें संचित करके रखने में विविध प्रायश्चित्तों के विधान की चर्चा है।

चारित्र्याचार की इस विवेचना के अन्त में पंच समितियों और तीन गुप्तियों का वर्णन है। जहाँ समितियाँ आचार के विधि-पक्ष को प्रस्तुत करती हैं, वहीं गुप्तियाँ निषेध पक्ष को प्रस्तुत करती हैं। समिति यह बताती है कि साधक को अपना जीवन व्यवहार किस प्रकार संचालित करना चाहिये, जिसके फलस्वरूप वह अपने आपको कर्म-बन्धन से मुक्त रख सके, जबकि गुप्तियों का मुख्य उद्देश्य मन-बाणी की प्रवृत्तियों का नियन्त्रण या संयम करना है।

प्रस्तुत कृति में मुख्य रूप से एषणा समिति अर्थात् भिक्षा ग्रहण करने सम्बन्धी नियमों का विस्तार से विवेचन है। यह सत्य है कि जैन परम्परा में आहार-शुद्धि के सन्दर्भ में विशेष सतर्कता रखी गयी है। इसमें दो ही दृष्टियाँ प्रमुख हैं—प्रथम भिक्षु-भिक्षुणियों का जीवन समाज पर भाररूप न हो। दूसरे यह कि वे हिंसा के दोष के भागी न बनें। इस सम्बन्ध में अश्वि-कांश धिञ्चि-निषेध इन्हीं दोनों सिद्धांतों के आधार पर हुए हैं। यद्यपि इस संकलन में एषणा समिति का विवेचन अधिक विस्तार से हुआ है, किन्तु अन्य समितियों की उपेक्षा भी नहीं हुई है। आवश्यकजनक तथ्य यह है कि स्थानांग एवं उत्तराध्ययन में पंच समितियों और तीन गुप्तियों को मिलाकर आठों का समितियों के रूप में उल्लेख हुआ है अर्थात् गुप्तियों को भी समिति के अन्तर्गत ही वर्गीकृत कर लिया गया है, जबकि समवायांग में इनका उल्लेख अष्ट प्रवचनमाता के रूप में हुआ है। विस्तार भय से हम इस सबकी चर्चा में नहीं जाना चाहते हैं। विस्तार से जानने के इच्छुक विद्वान इन्हें प्रस्तुत कृति से अथवा मेरे ग्रन्थ "जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन" भाग २ के "श्रमणाचार" नामक अध्ययन में देख सकते हैं।

ईर्या समिति

ईर्या समिति के वर्णन में उसके स्वरूप और भेदों का कथन है। भगवती सूत्र में वर्णित प्रासुक विहार का तात्पर्य बताया गया है गमनागमन से सांपरायिक क्रिया और इरियावही क्रिया का सम्बन्ध संयुक्त-असंयुक्त अणुभार से किया गया है।

विषम मार्ग में एवं प्राणियों आदि से अवरुद्ध मार्ग में न जाना, रात्रि में विहार न करना, अनार्य क्षेत्रों में नहीं विचरना आदि धिष्यों का वर्णन है। अकारण अनार्य क्षेत्र में विचरने का प्रायश्चित्त विधान करके साथ ही चोर आदि के उपद्रव होने का विशेष वर्णन किया गया है।

गृहस्थ से उपवि नहीं उठवाना, रास्ते में चलते समय वाती-

लाप न करना, किसी के मार्ग पूछने पर या पशु-पक्षी आदि के विषय में पूछने पर मौन रहना, आम-वास के दर्शनीय स्थल देखने में चित्त न लगाना आदि मार्ग सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विश्लेषण हैं। मार्ग में छोटी या बड़ी नदियों को पैदल या नाव द्वारा विवेक से पार करने का भी निर्देश किया गया है।

भाषा समिति

जैनाचार्यों ने समितियों में भाषा समिति का पालन अति कठिन कहा है अतः इसके पालन में धिवेक की अत्यधिक आवश्यकता है। आचारांग और दशवैकालिक सूत्र के आधार से यह समझाया गया है कि कब वचन प्रयोग करना और कब न करना, किस प्रकार करना और किस प्रकार न करना।

इस प्रकरण के प्रारम्भ में भाषा के प्रकारों का कथन करके उनका स्वरूप प्रज्ञापना सूत्र के आधार से बताया गया है। सावद्य भाषा, निश्चय भाषा आदि भाषाओं का निषेध एवं प्रज्ञापक आदि भाषाओं का विधान किया है।

दास सम्बन्धी भाषा के सावद्य निर्वेद्य की चर्चा एवं उसमें साधु की तटस्थ रहने का विवेक कर्मबन्ध से वचने के लिए अधिकरणी भाषा का विवेक, संसड़ी एवं नदी आदि को देखकर बोलने का विवेक बताकर भाषा सम्बन्धी अनेक प्रायश्चित्तों का विधान किया है।

एषणा समिति

इस प्रकरण के अन्दर (१) पिडेष्णा, (२) पाणेष्णा, (३) शय्येषणा, (४) वस्त्रेषणा, (५) पार्श्वेषणा, (६) शोहर-णेषणा एवं (७) पादशोष्णेषणा आदि विभाग हैं।

(१) पिडेष्णा में मधुकरी वृत्ति, मृगक्षर्या, कापोतवृत्ति, अदीनवृत्ति आदि से एषणाओं का महत्व और उपमायुक्त चर्चा-गिया है।

आहार, विषय, एषणा, भिक्षा, गोचरचर्या आदि के भेदों का निरूपण है। तदनन्तर गवेषण विधि और गवेषण की योग्यता का कथन करके पारिवारिक जनों के यहाँ भिक्षार्थ जाने या न जाने का स्पष्टीकरण किया गया है।

भिक्षाचर्या के घरों का, उनमें प्रवेश करने का तथा अन्य विधानों का सूचन, उद्गम, उत्पादना एवं एषणा दोषों का अलग-अलग विस्तृत वर्णन, निर्दोष आहार ग्रहण करने का विवेक एवं निर्दोष विधि से उसे खाना इत्यादि एषणा समिति के महत्वपूर्ण अंगों का कथन है। पूर्वार्थों ने बताया है कि समुद्र को पार करने के समान गवेषणा है और कीचड़ आदि से युक्त किनारे को पार करने के समान परिमोषणा है। आहार करने के ६ कारण और नहीं करने के ६ कारणों को ध्यान में रखते हुए राग द्वेष रहित होकर उचित विधि से विवेक पूर्वक उदर-पूर्ति के लिए आहार किया जाता है।

एषणा के प्रमुख ४७ दोषों के स्पष्टीकरण के साथ शय्यातर पिड, राजपिड आदि की विस्तृत चर्चा हुई है।

(२) पाणेष्णा के वर्णन में अनेक प्रकार के अचित्त जलों का वर्णन है। आगमों में अचित्त जलों की संख्या निश्चित नहीं की गई है किन्तु कुछ नाम उदाहरण के रूप में कहकर अन्य अनेक अचित्त जलों के होने की एवं ग्रहण करने की सूचना की गई है। आगमों में आये जलों के नामों का स्पष्टार्थ करके कल्पनीय-अकल्पनीय जलों को विभाजित किया गया है, साथ ही साथ शुद्धोदक और गर्म जल की चर्चा कर उनका अन्तर भी स्पष्ट किया है।

ठाणंग सूत्र और पर्युषणा कल्प सूत्र के आधार से तपस्या में भी विविध प्रकार के (धोवन) जलों की श्रद्धा कहा है। दाता की अनुज्ञा से स्वयं के हाथों से जल ग्रहण करने की विधि भी कही है। अन्त में तत्काल बने हुए धोवन पानी के लेने का प्रायश्चित्त विधान है। अर्थात् धोवन जलों के निष्पन्न होने के कुछ समय (बड़ी अद्वैतमूर्त) बाद ही उन्हें ग्रहण करना कल्पता है।

(३) आहार पानी की गवेषणा के साथ-साथ मकान की गवेषणा का भी महत्व है। संयम, शरीर, स्वाध्याय एवं परि-ष्ठापन आदि की सुविधायों से युक्त होने के साथ-साथ चित्त की एकाग्रता के योग्य उपाश्रय होना भी आवश्यक है। धान्य, खाद्य, पदार्थ, जल, अग्नि, स्त्री आदि से युक्त उपाश्रय का निषेध और साथ ही कुछ आपवादिक विधान है।

औद्देशिक आदि दोष एवं अनेक प्रकार के परिकर्म दोष युक्त मकानों की चर्चा करते हुए एषणीय अनेषणीय उपाश्रय का वर्णन है।

गृहस्थ के घरों में ठहरने पर होने वाले दोषों की सम्भावना व्यक्त की गई है।

भित्ति से असुरक्षित ऊँचे स्थानों पर, जल युक्त नदी आदि के किनारे, कम ऊँचाई वाले वास के झूँपड़ों में ठहरने का निषेध है।

चातुर्मासिकाल के निकट आने पर कैसे ग्राम आदि में ठहरना, इस विषय का स्पष्टीकरण है, साथ ही एकाकी बहुयुत भिक्षु के ठहरने के स्थान की चर्चा भी है। तदनन्तर पाँच प्रकार के अव-ग्रहों का कथन एवं अनेक प्रकार के अवग्रहों का उल्लेख किया है साथ ही संस्तारक का ग्रहण, अनुज्ञा, प्रत्यर्पण आदि की विधियों का उल्लेख हुआ है। संयम साधना काल में प्राप्त मनोनुकूल या प्रतिकूल शय्या में गमभाव रखने का उपदेश है। इसके पश्चात् अंत में संस्तारक एवं उपाश्रय सम्बन्धी विविध प्रायश्चित्तों की चर्चा है।

(४-५) वस्त्र-वर्णन पार्श्व-वर्णन

शरीर के संरक्षण हेतु रखे जाने वाले वस्त्रों की एवं कल्पनीय पात्रों की जाति का उल्लेख करके यह कहा है कि तद्वत् स्वस्थ मुनि इनमें से एक-एक जाति के वस्त्र या पात्र ही धारण करे। इस विषय में अर्थ भ्रम से संख्या की अपेक्षा एक ही वस्त्र या एक ही पात्र के नियम की कल्पना की जाती है, जो गौतम स्वामी के पात्र वर्णन या अन्य सूत्रों के पात्र वर्णन से मेल नहीं खाता है।

वस्त्रों की और पात्रों की विविध गवेषणा विधियों का उल्लेख करने के साथ यह भी बताया गया है कि कभी दाता बाद में आने का संकेत करे या आधाकर्मी आहार पानी मुक्त पात्र दे तो नहीं लेना। पूर्ण निर्दोष वस्त्र पात्र भी लेते समय अच्छी तरह प्रतिलेखन करके लेना। यहाँ दोनों प्रकरण में चार-चार विशिष्ट प्रतिज्ञाएँ वस्त्र पात्र के गवेषणा एवं धारण सम्बन्ध में कही हैं। अनावश्यक परिकर एवं विभूषा कृत्यों का निषेध किया है। ठाण्णसूत्र में वस्त्र धारण करने के कारण कहे हैं और व्यवहार सूत्र आदि में मर्यादा से अधिक वस्त्र, पात्र आदि देने के और रखने के आपवादिक विधान हैं तथा उनके प्रायश्चित्तों का कथन है। आचारांग में वर्णित एक-दो या तीन वस्त्र धारण करने की विशेष प्रतिज्ञा का उल्लेख करते हुए अचेल साधना का भी महत्वपूर्ण वर्णन किया गया है।

साधु के उपयोगी वस्त्र ग्रहणादि के उल्लेख भी अलग सूचित किये गये हैं। अकारण वस्त्र प्रसारण आदि का निषेध करके सकारण धोए गये वस्त्रों को सुखाने के स्थलों की विचारणा की गई है। बहुमूल्य वस्त्र पात्रों का निषेध एवं प्रायश्चित्त के साथ, जर्म धारण सम्बन्धी आपवादिक विधानों की चर्चा भी हुई है।

जीव रक्षा आदि हेतुओं से वस्त्र की चिलमिलिका—मच्छर-दानी रखने का उल्लेख है। अन्त में अनेक प्रायश्चित्तों का संकलन है।

(६-७) आगमो में पादप्रोक्षण और रजोहरण ये दो अलग-अलग उपकरण कहे हैं। उनके विभिन्न उपयोगों का विधान है। फिर भी कभी कहीं सूत्रों में प्रयुक्त पादप्रोक्षण का अर्थ रजोहरण करने का भ्रम उत्पन्न होता है जिसमें लिपि प्रमाद आदि का कारण ही प्रमुख है।

निशीथ सूत्र में भी दोनों उपकरणों के भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त कहे गये हैं और प्रश्नव्याकरण सूत्र में साधु के उपकरणों का संकलित कथन है उसमें भी दोनों नाम अलग-अलग हैं और टीकाकार ने उन्हें अलग-अलग गिन कर उपकरणों की निश्चित संख्या सूचित की है।

पाद प्रोक्षण एक वस्त्र खण्ड होता है जो कभी पाँव पोछने में

या कभी मलोत्सर्ग करते समय उपयोग में लिया जाता है अथवा कभी उसको डंडे में बाँधकर भवन के ऊँचे विभागों का शोधन किया जाता है इसे औपग्रहिक उपकरण कहा गया है।

किन्तु रजोहरण साधु साधु के लिए अत्यावश्यक उपकरण है। उसके रखने का मुख्य हेतु जीव रक्षा एवं मुनि का चिन्ह है जिनकल्पी अचेल साधुओं के लिए भी रजोहरण एक आवश्यक उपकरण है।

प्रस्तुत प्रकरण में पाँच प्रकार के रजोहरणों का वर्णन करके तत्सम्बन्धी अनेक विधानों को प्रायश्चित्त कथन के माध्यम से स्पष्ट किया गया है जिसमें रजोहरण के परिमाण का, उस पर बैठने सोने आदि के निषेध का, अविधि से बाँधने का तथा सदा अपने पास रखने का इत्यादि महत्वपूर्ण विषयों का प्ररूपण हुआ है।

आधान निक्षेप समिति

इस प्रकरण में औषिक उपधि की संख्या और औपग्रहिक उपकरणों के अनेक नाम सूचित कर उन उपकरणों को विहार गीचरी आदि में साथ रखने का कहा गया है।

स्थविरों के दण्ड छत्र उपानह आदि उपकरणों की चर्चा भी यहाँ है। गिनती एवं माप से अमर्यादित उपकरण रखने का प्रायश्चित्त कहा है।

प्रतिलेखन का वर्णन करते हुए उसकी विधि एवं अनेक प्रमाद जनित दोषों का वर्णन किया गया है साथ ही प्रतिलेखन न करने वाले को प्रायश्चित्त का पात्र बताया है।

अन्त में ऊणोदगी आदि तप की अपेक्षा उपकरण के प्रत्याख्यान का फल बताया है। साथ ही किसी साधु का खोया हुआ उपकरण मार्ग में किसी साधु को मिल जाय तो क्या करना चाहिए इसका विवेक कहा गया है।

उच्चार-प्रवृत्त समिति

यहाँ परठने योग्य पदार्थों का, परठने योग्य सदोष निर्दोष स्थानों का और स्थंडिल के दस गुणों का कथन किया गया है साथ ही उच्चारादि परठने की भूमि से सम्पन्न भवन में ठहरने का विधान किया है।

आचारांग में इस विषय का स्वतन्त्र अध्ययन है उसके आधार से एवं निशीथ सूत्र के तीसरे, चौथे आदि उद्देश्यों के आधार से अनेक अकल्पनीय स्थलों का वर्णन करने के साथ यह भी बताया गया है कि किस विधि से मलोत्सर्ग करना तथा मल द्वार की शुद्धि करना।

आचारांग एवं निशीथ के सूत्रों से उच्चार मात्रक में मलोत्सर्ग करने की विधि भी बताई गई है। अन्त में उनके अनेक प्रायश्चित्तों का विधान है।

गुप्ति

तीन गुप्तियों का स्वरूप एवं भेदों का कथन करके यह भी बताया गया है कि सम्पूर्ण अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्त होना ही गुप्ति है। समाधि युक्त साधु के लक्षण बताते हुए उसे हाथ पांव आदि से संयत एवं गुप्त होना कहा गया है।

उत्तराध्ययन २३ के अनुसार मन के निग्रह को कठिन कह कर उसे नियन्त्रित करने के उपाय भी कहे गये हैं। दस चित्त-समाधि स्थानों का विस्तृत वर्णन करके दस प्रकार की समाधि और असमाधि का वर्णन किया है। अन्त में मन गुप्ति का परिणाम कहकर वचन गुप्ति का प्ररूपण करते हुए उसके चार प्रकार एवं फल बताया गया है।

कायगुप्ति के वर्णन में उसके प्रकार, महत्त्व एवं फल बता कर पाँचों इन्द्रियों के निग्रह का अलग-अलग फल बताया गया है।

अप्रमत्त मुनि के अध्यवसायों का दिग्दर्शन करके उपयोग-शून्य एवं चंचल आसन वाले को पापी श्रमण कहा गया है।

दीक्षा

आत्म कल्याण के कर्तव्यों में द्रव्य एवं भाव से संयम स्वीकार करना भी साधक का एक प्रमुख कर्तव्य है। संयम, दीक्षा, प्रव्रज्या, अणगार धर्म, आदि एकार्थक शब्द हैं। इसे स्वीकार करने वाला संयमी, दीक्षित, साधु, मुनि, अणगार या भिक्षु आदि कहा जाता है।

यद्यपि महाव्रत समिति गुप्ति के वर्णन से चारित्र्याचार का वर्णन सम्पन्न हो जाता है फिर भी आगमों में स्थित अनेक प्रकीर्णक विषयों को इस विशिष्ट वर्गीकरण में विभाजित करने पर अनेक विषय महाव्रत समिति एवं गुप्ति के प्रकरण के बाद भी अवशेष रह जाते हैं। उसे अष्ट प्रवचन माता के वर्णन रूप प्रथम भाग के अनन्तर द्वितीय भाग में (१) दीक्षा, (२) संयमी जीवन, (३) समाचारी, (४) प्रतिक्रमण, (५) गृहस्थ धर्म, (६) आराधक विराधक, (७) अनाचार, (८) संव्यवस्था आदि में वर्गीकरण किया गया है।

दीक्षा प्रकरण में सर्व प्रथम यह कहा गया है कि जिसके धर्मान्तराय कर्म का क्षयोपशम हुआ है वही किसी से धर्म सुनकर या बिना सुने ही संयम ग्रहण करता है।

तदनन्तर दीक्षित होने वाले के वैराग्य की विभिन्न अवस्थाओं का, वय का, निश्चा का, उपकरणों का वर्णन करके नपुंसक और असमर्थ को दीक्षा देने का निषेध किया गया है।

ठाणंग सूत्र से उद्धृत चीर्भंगियों द्वारा विविध प्रकार की प्रव्रज्याओं का वर्णन करते हुए दस प्रकार के मुंडन कहे गये हैं।

छेदोपस्थापनीय चारित्र (बड़ी दीक्षा) देने की सम्पूर्ण विधि, उसके काल मान की चर्चा एवं उसके योग्यायोग्य की चर्चा की

गई है। अन्त में अयोग्य को दीक्षा देने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त का विधान किया है।

संयमी जीवन

इस प्रकरण में संयम का स्वरूप, उसका महत्त्व एवं सामाजिक आदि पाँच चारित्र, छह प्रकार की कल्पस्थिति का वर्णन करके संयम के भेदों प्रभेदों के कथन के बाद सतरह प्रकार के संयम का कथन किया गया है।

संयमी के लक्षणों का वर्णन करके अणगार के अनेक गुणों का आदर्शों का और शिक्षित जीवन का दिग्दर्शन भी प्रस्तुत किया गया है। जिसमें आचारांग, सूयगङ्गांग, दशवैकालिक उत्तराध्ययन के अध्ययनों को समाविष्ट किया गया है।

आत्मार्थी अनात्मार्थी के लाभालाभ की चर्चा करते हुए अणगार के सत्तावीस गुणों का स्पष्टीकरण करके निर्ग्रन्थों के अनेक प्रशस्त लक्षण कहे गये हैं। उसके बाद संयमी की अनेक उपमाओं का संग्रह किया गया है।

साधक के अपने ही हायमान एवं वद्धमान परिणामों से संयम सुखद और दुःखद प्रतीत होता है। इसे दुःखसम्या और सुखसम्या के नाम से निर्दिष्ट किया है।

तदनन्तर संयम के प्रेरणात्मक उपदेशी विषय, विनय, निवेक, संयम की शुद्ध आराधना का स्वरूप, पूजा-प्रशंसा की चाहना का निषेध, परीपह विजेता होने की प्रेरणा, एवं सदा जागृत रहने का सूचन आदि संयमोन्मत्ति के अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का संकलन किया गया है। प्रतिदिन करने योग्य साधुओं के तीन मनोरथ भी बताये गये हैं।

संयम पोषक अतीस योग संग्रह का और अहिंसा आदि अठारह प्रमुख आचरण के स्थानों का विस्तार से वर्णन है एवं तत्सम्बन्धी अनेक अपवाद एवं प्रायश्चित्त भी साथ में कहे हैं।

अन्त में संयम धर्म आराधना का फल बताते हुए सुधमणों की संसार से मुक्ति एवं कुधमणों की दुर्गति का कथन किया है एवं मद्यसेवी की अवधति एवं दुर्दशा भी कही गई है।

समाचारी

इस प्रकरण में भिक्षु की दस प्रकार की समाचारी, दिवस एवं रात्रि के प्रहरों से सम्बन्धित दिनचर्या का विधान किया है, जिसमें स्वाध्याय, वैवावृत्य, प्रतिलेखन, भिक्षाचर्या, प्रतिक्रमण, निद्रा, ध्यान आदि आवश्यक कर्तव्यों की विचारणा हुई है।

इसके साथ ही पोरिसी परिमाण का विज्ञान, तिषिक्षय, प्रतिलेखन विधि एवं उसके दोषों का कथन भी है।

वर्षावास समाचारी का विस्तृत वर्णन है इसमें श्रेष्ठ की सीमा बताकर अनेक आपवादिक कारणों से चातुर्मास में विहार करने की चर्चा करके अकारण विहार करने का प्रायश्चित्त कहा गया है। फिर भिक्षाचर्या सम्बन्धी वर्णन करते हुए आठ प्रकार

के सूक्ष्मों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

विशिष्ट तपस्याओं का संलेखना का कथन करते हुए उसमें ग्रहण करने योग्य धो-धो पानी और गर्म पानी की चर्चा है। अन्त में पयुषणा एवं चातुर्मास सम्बन्धी अनेक कर्तव्यों की सूचना की गई है।

प्रतिक्रमण

इस प्रकरण में सर्व प्रथम "आवश्यक" की अनुयोग पद्धति से व्याख्या की गई है। जिसमें द्रव्य भाव आवश्यक एवं नय दृष्टि की चर्चा भी हुई है।

तदनन्तर प्रतिक्रमण के प्रकार, अतिक्रम आदि के प्रकार और उनकी विभुद्धि की चर्चा की गई है फिर प्रतिक्रमण की विधि एवं उसमें उपयुक्त पाठों का अर्थ स्पष्ट किया गया है। दस प्रकार के पञ्चवक्त्राणों और उनके आगारों का स्पष्टीकरण भी है। अन्त में पञ्चवक्त्राण पूर्ण होने पर उसको पारने की विधि का सूत्र भी दिया गया है।

पञ्चवक्त्राणों के विविध स्वरूप के साथ मूलगुण पञ्चवक्त्राण और उत्तरगुण पञ्चवक्त्राणों की विस्तृत चर्चा करते हुए दुःपञ्च-क्त्राणी एवं सुपञ्चवक्त्राणी का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। फिर प्रतिक्रमण एवं अनेक प्रकार के पञ्चवक्त्राणों के फल बताये गये हैं।

गृहस्थ धर्म

इस प्रकरण में श्रमणोपासकों के प्रकार उपमा द्वारा बता कर चार प्रकार की विश्रान्ति का उपमा द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। तदनन्तर अल्पायु-दीर्घायु बंध की चर्चा भी की गई है।

सम्यक्त्व सहित श्रावक के बारह व्रतों का स्वरूप और उसके अनिवारों का विश्लेषण किया गया है।

चारिवाचार में संयमी जीवन का तो महत्वपूर्ण स्थान है ही साथ ही श्रावक धर्म का भी प्रमुख स्थान है। वह किसी अपेक्षा से साधु से कम है तो किसी अपेक्षा से समान है और किसी अपेक्षा से अधिक भी है यथा—(१) महाव्रत की अपेक्षा उनके अणुव्रत कहे गये हैं अतः कम है। (२) दोनों धर्मों की आराधना करने वाले उत्कृष्ट १५ भव से मुक्त हो जाते हैं अतः समान है। (३) "संति एगेहि भिक्खुहि मारुत्था संजमुत्तरा" इस कथन के द्वारा साधुओं के संयम से गृहस्थ के संयम को श्रेष्ठ कहा गया है।

सामान्यतया कोई श्रावक भी एकमवावतारी हो सकता है और कोई साधु १५ भव या विराधक हो तो अनन्त भव भी कर सकता है।

साधु जीवन स्वीकार करने वाले को नियमतः पाँच महाव्रत, पाँच समिति आदि स्वीकार करके उनका जीवन पर्यन्त पालन करना होता है। इसमें ऐच्छिक नहीं है, किन्तु गृहस्थ जीवन में

श्रद्धा प्ररूपणा के सिवाय किसी भी व्रत पञ्चवक्त्राण की अनिवार्यता नहीं है वह चाहे एक व्रत धारण करे या बारह व्रत अथवा श्रावक प्रतिमा धारण करे सभी ऐच्छिक हैं। एक या अनेक व्रतों को भी वह पूर्ण या अपूर्ण तथा अनेक आगारों सहित भी धारण कर सकता है अर्थात् "जैसी शक्ति वैसा धारे, पर प्रमाद को दूर निवारे" इस कथन को ध्यान में रखना आवश्यक है। श्रावक के भी तीन मनोरथ हैं जिसका सदा चिंतन मनन कर उसे आत्मविकास करना चाहिए।

श्रावक के बारह व्रतों में सामाजिक के विषय की एवं श्रमणों को शुद्ध आहारादि देने के विषय की विस्तृत विचारणा की गई है एवं उसका फल बताया गया है।

श्रावक की बारह प्रतिमाओं का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। इन प्रतिमाओं की यह विशेषता है कि इसमें आगार रहित नियमों का पालन किया जाता है। प्रतिमा के वर्णन में पाँचवीं, छठी प्रतिमा के स्वरूप सम्बन्धी पाठ में कुछ भिन्नता है उसे सुधार कर व्यवस्थित भी किया गया है।

तदनन्तर श्रावक के व्रत पञ्चवक्त्राण का रहस्य बताते हुए व्रत धारण करने के ४६ अंगों का विश्लेषण किया गया है। अन्त में गृहस्थ धर्म का फल बताते हुए आजीविक श्रमणोपासक की मर्यादाओं का कथन कर श्रमणोपासक को अपना आदर्श जीवन बनाने की प्रेरणा की गई है।

आराधक विराधक

जिस प्रकार वर्ष भर की पढ़ाई का परिणाम परीक्षा में होता है उसी प्रकार संयम जीवन एवं गृहस्थ जीवन का परिणाम आराधक विराधक की परीक्षा में निहित है।

आराधना प्रकरण के प्रारम्भ में जित वचनों के श्रद्धा की दृढ़ता का कथन है तदनन्तर आलोचना के भावों की विस्तृत विचारणा की गई है। साथ ही आलोचना न करने वाले के परिणामों की चर्चा करते हुए उसे "मार्ई" कहा है।

आराधना विराधना के विषय को "दावदव" वृक्षों की उपमा देकर कहा गया है कि मुनि को आभ्यन्तर परिषद् और बाह्य परिषद् के वचन आदि समभाव से सहन करना चाहिए।

इसके बाद शील एवं श्रुत की भीमंभी एवं आराधना विराधना की अनेक भीमंभियां कही हैं। अन्त में आद्याकर्म आदि दूषित आहार के सम्बन्ध से आराधना विराधना की चर्चा की गई है।

आराधना के विविध प्रकारों की चर्चा करते हुए ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य इन तीनों आराधनाओं का परस्पर सम्बन्ध भी बताया है।

तदनन्तर उन्नवाई सूत्र में वर्णित आराधक विराधक साधु, श्रमणोपासक, अन्य तापस, परिव्राजक एवं तिर्यंच आदि का

विस्तृत वर्णन करके उनकी देवगति में उत्पत्ति का विशद वर्णन किया गया है।

जैन मुनि के कान्दर्पिक किल्बिषिक आदि भावों से संयम का दूषित होना बताकर उनकी दुर्गति होने का निर्देश किया गया है और उन अभियोगिक किल्बिषिक अवस्थाओं के प्राप्त होने के कारण भी बताये गये हैं।

इसके बाद ६ निदानों की विस्तृत विचारणा कर अनिदान संयम जीवन की प्रेरणा एवं उसका मुक्तिफल प्रदर्शित किया गया है।

आराधना विराधना का अन्तिम निर्णय भरण समय से होता है अतः यहाँ बालमरण आदि का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है जिसमें १७ प्रकार के मरण, १२ या २० प्रकार के बालमरणों का स्वरूप बताकर दो मरण (फांसी और गृद्ध स्पृष्ट मरण) ब्रह्मचर्य रक्षा हेतु स्वीकार करना प्रशस्त कहा गया है।

फिर उत्तराध्ययन अ. ५ के आधार से दोनों मरणों का विस्तृत कथन है। अन्त में बालमरणों की प्रशंसा करने का भी प्रोत्साही प्रायश्चित्त बताया गया है।

अनाचार

संयम स्वीकार कर लेने पर भी सभी साधक आराधक ही होते हैं, यह जरूरी नहीं है। विराधक होने वाले अपने वैराग्य एवं लक्ष्य के परिवर्तित हो जाने के कारण अनेक अनाचरणीय कृत्य करते हैं। इस प्रकरण में ऐसे अनेक अनाचारों का वर्णन है। यद्यपि प्रचलित भाषा में बावन अनाचार भी कहे जाते हैं किन्तु सूत्रों में अनेक जगह अनेक अनाचरणीय विभिन्न अपेक्षाओं से कहे हैं किन्तु बावन की संख्या कहीं भी नहीं कही है।

सर्वप्रथम अनाचार एवं मूच्छा भाव का निषेध करते हुए सूत्रकृतांग में वर्णित अनाचारों का स्वरूप बताकर स्वच्छन्द और पापी भ्रमण की प्रवृत्ति का दिग्दर्शन किया है। फिर प्रमत्त-अप्रमत्त भाव एवं अवस्था का स्वरूप बताकर अप्रमत्त होने की प्रेरणा की गई है।

धर्म में विघ्न करने वाले, धर्मघातक, प्रमाद और अठारह पाप आदि भेदों का विश्लेषण करते हुए १० प्रकार से विशुद्धि होनी भी बताई है।

तदनन्तर दशवर्कालिक सूत्र वर्णित अनाचार कहे गये हैं साथ ही २० असमाधिस्थान, ३० महामोह बन्ध के कारण, १२ क्रियास्थानों का स्वरूप बताया गया है।

निमित्त कथन का निषेध, कषाय का निषेध एवं कषाय को अग्नि की उपमा, आठ मद, आदि विषयों का वर्णन करके क्रोधादि विजय का फल बताया गया है।

अन्त में विविध अनाचारों के प्रायश्चित्तों का संकलन किया गया है।

संघ-व्यवस्था

इस प्रकरण के प्रारम्भ में तीर्थ, संघ आदि का स्वरूप, जिनशासन का प्रवर्तन काल एवं केवली, जिन, स्थविर, रत्नाधिक आदि के प्रकारों का वर्णन है।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन से बीच के तीर्थंकरों के शासन का महाव्रत सम्बन्धी अन्तर आदि कथन है। पांच प्रकार के व्यवहारों के उपयोग करने का स्पष्टीकरण किया गया है। तीन प्रकार के आत्मरक्षक कहकर आचार्य एवं शिष्यों के प्रकारों का चोर्भागियों द्वारा कथन किया गया है।

आचार्य एवं गणावच्छेदक के आचार सम्बन्धी अतिशय बता कर आचार्य की आठ संपदा का वर्णन करके अनेक कर्तव्याकर्तव्य की चर्चा की गई है।

आचार्य उपाध्याय गणावच्छेदक आदि पदों की व्यवस्था का वर्णन करते हुए दीक्षापर्याय श्रुतज्ञान एवं अन्य गुण सम्पन्न होने की चर्चा की गई है। आचार्य के दिवंगत होने के बाद किसे आचार्य बनाना या हटाना इसकी विशद चर्चा हुई है।

ब्रह्मचर्य, असत्य एवं मायाचरण करने वालों को उनके पदों से मुक्त करने का दण्ड विधान किया गया है एवं पुनः तीन वर्ष या जीवन पर्यन्त भी उन्हें पद नहीं देने का निर्देश किया गया है।

संघाड़ा प्रमुख या गण धारण करने वाले के ६ प्रमुख गुणों की चर्चा की गई है साथ ही गण धारण कर स्वतन्त्र विचरण करने के लिए आज्ञा लेने की विधि बताई गई है एवं योग्यता बिना या आज्ञा बिना जाने वाले को प्रायश्चित्त कहा है।

६वें १०वें प्रायश्चित्त विधान की एवं तद्वर्ण साधुओं को आचार्य उपाध्याय नियुक्ति रहित गच्छों में नहीं रहने की विचारणा की गई है।

विचरण करते हुए संघाड़ा प्रमुख के काल करने पर शेष साधुओं के कर्तव्याकर्तव्य का विवेक बताया गया है।

इसी प्रकार साधियों के प्रवर्तिनी गणावच्छेदिनी आदि पदों की चर्चा की गई है, जिसमें ६० वर्ष की दीक्षा पर्याय वाली साधियों को भी आचार्य की निष्ठा करके ही विचरने का आदेश दिया गया है।

तदनन्तर साधु साध्वी को आचारांग-निशीथसूत्र कंठस्थ धारण करने की आवश्यकता कही है और भूल जाने पर कठोर दण्ड व्यवस्था का भी निर्देश दिया गया है।

इसके बाद साधु साधिव्यों के विनय व्यवहार सम्बन्धी आवश्यक कर्तव्यों की चर्चा की गई है।

अध्ययन-अध्यापन व्यवस्था का वर्णन करते हुए दीक्षा पर्याय के साथ सम्बन्ध बताया गया है।

विचरण व्यवस्था के वर्णन में आचार्य उपाध्याय प्रवर्तिनी

आदि के साथ साधु साध्वियों की संस्था बताई गई है तथा आचार्य उपाध्याय प्रवर्तिनी एवं गणावच्छेदक गणावच्छेदिका को एकाकी विचरने का स्पष्ट निषेध किया गया है। विचरण काल एवं विचरण क्षेत्र की चर्चा करके रात्रि में गमनागमन का निषेध किया गया है।

साधु-साध्वी के पारस्परिक व्यवहारों की चर्चा करते हुए उनके आलाप-संलाप, आवास-संवास, वैयावृत्य एवं काल धर्म प्राप्त साधु से सम्बन्धित कृश्यों के उत्सर्ग-अपवाद की चर्चा की गई है। अन्त में विशेष कारण के बिना परस्पर सेवा करने, करवाने का या आलोचना करने का निषेध किया गया है।

सामाजिक (व्यावहारिक) व्यवस्था में १२ संभोगों (पारस्परिक व्यवहारों) का कथन करके विसंभोग करने की अर्थात् संभोग सम्बन्ध को पृथक् कर देने के कारणों की चर्चा की गई है एवं उसकी विधि भी बताई गई है।

संभोग (व्यवहार) पञ्चकलाण करने को एक विशिष्ट साधना रूप में कहकर उसका अनुपम फल प्रदर्शित किया गया है।

गृहस्थों के साथ पारस्परिक व्यवहार की चर्चा एवं प्रायश्चित्त का कथन किया गया है।

गणापक्रमण (गच्छ त्याग) के कारणों की विषय चर्चा करते हुए श्रुत ग्रहण के लिए अन्य गच्छ में जाने की विचारणा की गई है। साथ ही संभोग व्यवहार परिवर्तन हेतु और अन्य को अध्यापन हेतु भी गच्छ परिवर्तन या उपसंपदा परिवर्तन की विचारणा की गई है। इस विचारणा में आचार्य आदि पदवीधरों को अपना पद त्याग कर अन्य को नियुक्त कर के ही जाने की विधि बताई गई है।

सातिचार संयम वाले पार्श्वस्थ आदि का गणापक्रमण एवं पुनः आने पर उन्हें गच्छ में रखने सम्बन्धी चर्चा विचारणा की गई है।

तदनन्तर एकल विहार चर्चा का वर्णन, एकल विहारी के आठ गुण, उसके ठहरने के उपाध्यय ग्राम आदि की चर्चा भी की गई है। अव्यक्त भिक्षु के एकाकी विचरण का निषेध एवं अनिष्ट फल बताया गया है।

योग्य भिक्षु को परिस्थितिबध एकाकी विहार करने की आज्ञा दी गई है साथ ही अनेक सावधानियां रखने की सूचना भी की गई है। एवं प्रशस्त एकाकी विहारी की संयम चर्चा का वर्णन किया है। बाद में क्रोधी, मानी आदि अप्रशस्त एकल विहारी का वर्णन भी किया है। असमर्थ एकाकी विहारी के गण

में पुनरागमन सम्बन्धी विचारणा भी की है।

अन्त में सूयगङ्गा सूत्र के आधार से संयमरत तपस्वी सकारण एकाकी विहारी भिक्षु के निर्वाण प्राप्ति का कथन है।

पार्श्वस्थ आदि शिथिल संयम साधकों के व्यवहार सम्बन्धी चर्चा में उनके साथ आहार, वस्त्र, पात्र, आदान, प्रदान, वंदन व्यवहार एवं साधुओं का आदान प्रदान आदि के प्रायश्चित्त भी कहे गए हैं तथा इनके पुनः गण में आने पर यथायोग्य परीक्षण एवं प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्धि करके गण में लेने की चर्चा भी है। टिप्पण में इनके स्वरूप को सरल संक्षिप्त भाषा में कहा है। इन वर्णनों में शिथिलाचारियों के १० प्रकार हैं अर्थात् संयम-च्युत साधकों के दस विभाग किए गये हैं।

संव व्यवस्था के अन्तिम प्रकरण में कलह की उत्पत्ति के कारण, गणच्युद्ग्रह के कारण, कलह उपशम का उपदेश कर अनुपशांत की विराधना का निर्देश किया है। विवाद उत्पत्ति एवं उसके निवारण के उपाय भी बताये गए हैं। अन्त में क्षमापना के अनुपम फल की चर्चा करते हुए कलह सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का कथन किया गया है।

तपाचार

प्रस्तुत कृति में चारित्र्याचार के बाद तपाचार का उल्लेख हुआ है। उत्तराध्ययन^१ और कुन्दकुन्द के दर्शनप्राप्त^२ में त्रिविध साधना मार्ग के स्थान पर चतुर्विध साधना-मार्ग का उल्लेख मिलता है। साधना के इस चतुर्थ अंग को तप कहा गया है। तप की साधना ही तपाचार है। उत्तराध्ययन में पूर्व कर्म संस्कारों को दग्ध करने के लिए अथवा पूर्व कर्मों की निर्जरा के लिये तप को साधना का एक आवश्यक अंग कहा गया है। तप जैन साधना का प्राण है। तप के अभाव में साधना बिना नीच के प्रासाद के समान है। श्री० भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों में भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त एवं महत्वपूर्ण तत्व है, वह सब तपस्या से ही संभूत है। तपस्या ही इस राष्ट्र का बल है।^३

जैन परम्परा में तप शब्द का प्रयोग सामान्यतया तितिक्षा या कष्टसहिष्णुता के अर्थ में हुआ है। वस्तुतः जीवन जीने में उपस्थित अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को समभावपूर्वक सहन करना ही तप है। यद्यपि हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि तप का अर्थ केवल अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों को समभाव पूर्वक सहन करना ही नहीं है, बल्कि यह स्वेच्छापूर्वक कष्ट को निमन्त्रण देना भी है। जैन परम्परा में परीषह और तप में अन्तर किया गया है। परीषह में जो कुछ घटित होता

१ उत्तराध्ययन २६/२, ३, ३५।

२ दर्शन प्राप्त (कुन्दकुन्द) ३२।

३ बौद्धदर्शन एवं अन्य भारतीय दर्शन पृ. ७१-७२ (भरतसिंह उपाध्याय)।

है उसे सहा जाता है परन्तु तप में स्वेच्छा से कष्टमय जीवन को अपनाया जाता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि तप का अर्थ मात्र देह-दण्डन नहीं है। जैन परम्परा में तप में देह-दण्डन तो है, किन्तु यह मात्र देहदण्डन के लिए नहीं है, अपितु अहिंसा की और संयम की साधना के लिये है। जैन धर्म में तप साधना के दो चरण हैं—(१) अहिंसा की साधना और (२) संयम की साधना। इन दोनों पर वह प्रतिष्ठित है।

पण्डित सुखलाल संघवी ने भारतीय परम्परा में तप साधना के विभिन्न रूपों के विकास का एक चित्र प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि 'ऐसा ज्ञात होता है कि तप का स्वरूप क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकसित होता गया। तपोमार्ग का विकास होता गया और उसके स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि अनेक प्रकार साधकों ने अपनाए। यह तपोमार्ग अपने विकास में चार भागों में बांटा जा सकता है। (१) अवधूत साधना, (२) तापस साधना, (३) तपस्वी साधना, (४) योग साधना। निम्न क्रमशः तप के सूक्ष्म प्रकारों का उपयोग होता गया, तप का स्वरूप बाह्य से आभ्यन्तर बनता गया। साधना देह-दमन से चित्तवृत्ति के निरोध की ओर बढ़ती गई।'^१ जैन साधना तपस्वी जीवन एवं योग साधना का समन्वित रूप में प्रतिनिधित्व करती है, जबकि बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शन मुख्यतः योग-साधना का प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर भी वे सभी अपने विकास के मूल केन्द्र से पूर्ण अलग नहीं हैं।

जैन आगम आचारंग सूत्र का धूत अध्ययन, बौद्ध ग्रन्थ विमुद्धिमग्ग का धूतगनिदेश और हिन्दू साधना की अवधूत गीता इन आचार-दर्शनों के किसी एक ही मूल केन्द्र की ओर इंगित करते हैं। जैन-साधना का तपस्वी मार्ग ही अहिंसक संस्करण है।^२

जैन साधना में तप का प्रयोजन

तप यदि नैतिक जीवन की एक अनिवार्य प्रक्रिया है तो उसे किसी लक्ष्य के निमित्त होना चाहिए। अतः यह निश्चय करना भी आवश्यक है कि तप का उद्देश्य और प्रयोजन क्या है?

जैन साधना का लक्ष्य शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि या आत्मा का शुद्धिकरण है। लेकिन यह शुद्धिकरण क्या है? जैन दर्शन यह मानता है कि प्राणी कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं के माध्यम से कर्म वर्गणाओं के पुद्गल को अपनी ओर आकर्षित करता है। आकर्षित कर्मवर्गणाओं के पुद्गल राग-द्वेष

या कषाय वृत्ति के कारण आत्मतत्त्व से एकीभूत होकर उसकी शुद्ध सत्ता, शक्ति एवं ज्ञान ज्योति को अवतरित कर देते हैं। यह जड़ तत्त्व एवं चैतन तत्त्व का संयोग ही विकृति है।

अतः शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिये आत्मा की स्वशक्ति को आवरित करने वाले कर्म पुद्गलों का विलगाव आवश्यक है। कर्म पुद्गलों के पृथक् करने की इस क्रिया को निर्जरा कहते हैं जो दो रूपों में सम्पन्न होती है। जब कर्म पुद्गल अपनी निश्चित अवधि के पश्चात् अपना फल देकर स्वतः अलग हो जाते हैं, वह सविपाक निर्जरा है, लेकिन यह तप साधना का उद्देश्य नहीं है। तप साधना तो सप्रयास है। प्रयास-पूर्वक कर्म-पुद्गलों को आत्मा से अलग करने की क्रिया को अविपाक निर्जरा कहते हैं और तप ही वह क्रिया है जिसके द्वारा अविपाक निर्जरा होती है।

तप का प्रयोजन है प्रयासपूर्वक कर्म-पुद्गलों को आत्मा से अलग कर आत्मा की स्वशक्ति को प्रकट करना। यही शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि है। यही आत्मा का विशुद्धिकरण है और यही तप साधना का लक्ष्य है। उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् महावीर तप के विषय में कहते हैं कि 'तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है।'^३ आकट्ट कर्मों के क्षय करने की पद्धति है।^४ तप के द्वारा ही सहविषण पूर्व पापकर्मों को नष्ट करते हैं।^५ तप राग द्वेष जन्य पाप-कर्मों के बन्धन को क्षीण करने का मार्ग है।^६

इस तरह जैन साधना में तप का उद्देश्य या प्रयोजन पूर्व-बद्ध कर्म-पुद्गलों का आत्म-तत्त्व से पृथक्करण, आत्म-परिशोधन और शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि है।

जैन साधना में तप का वर्गीकरण

जैन आचार-प्रणाली में तप के बाह्य (शारीरिक) और आभ्यन्तर (मानसिक) ऐसे दो भेद हैं।^७ इन दोनों के भी छह-छह भेद हैं।

(१) बाह्य तप—(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) जिह्वा-चर्मा, (४) रस-परित्याग, (५) कायक्लेश और (६) संलीनता।

(२) आभ्यन्तर तप—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) धैर्यावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग। शारीरिक या बाह्य तप के भेदः

(१) अनशन—आहार के त्याग को अनशन कहते हैं। यह दो प्रकार का है—एक निश्चित समय-वधि के लिये किया

१ संमदर्शो हरिमत्र पृ. ६७।

२ उत्तराध्ययन, २८/३५।

३ वही २८/३६, ३०/६।

४ वही ३०/७।

२ वही पृ. ६७।

४ वही २९/२७।

६ वही ३०/१।

८ वही २०/८-२८।

हुआ आहार-त्याग, यह एक मुहूर्त से लगाकर छह मास तक का होता है। दूसरा जीवन-पर्यन्त के लिये किया हुआ आहार-त्याग। जीवन पर्यन्त के लिए आहार त्याग की अनिवार्य शर्त यह है कि उस अवधि में मृत्यु की आकांक्षा नहीं होनी चाहिए। आचार्य पूष्यपाद के अनुसार आहार त्याग का उद्देश्य आत्म-संयम, आसक्ति में कमी, ध्यान, ज्ञानार्जन और कर्मों की निर्जरा है, न कि भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति।^१ अन्तर्जन्म में मात्र देह-दण्ड नहीं है, वरन् आध्यात्मिक गुणों की उपलब्धि का उद्देश्य निहित है। स्थानांग सूत्र में आहार ग्रहण करने के और आहार त्याग के छह छह कारण बताये गये हैं। उसमें भूख की पीड़ा से निवृत्ति, सेवा, ईर्ष्या, संयमनिर्वाहार्य, धर्मचिन्तार्थ और प्राण-रक्षार्थ ही आहार ग्रहण करने की अनुमति है।

(२) ऊनोदरी (अवमौदर्य) — इस तप में आहार विषयक कुछ स्थितियाँ या शर्तें निश्चित की जाती हैं। इसके चार प्रकार हैं।

(१) आहार की मात्रा कुछ कम खाना, यह द्रव्य-ऊनोदरी तप है। (२) भिक्षा के लिए, आहार के लिए कोई स्थान निश्चित कर वहीं से मिली भिक्षा खाना, वह क्षेत्र ऊनोदरी तप है। (३) किसी निश्चित समय पर आहार लेना यह काल ऊनोदरी तप है। (४) भिक्षा प्राप्ति के लिए आहारार्थ किसी शर्त (अभिग्रह) का निश्चय करना यह भाव ऊनोदरी तप है। संक्षेप में ऊनोदरी तप वह है जिसमें किसी विशेष समय एवं स्थान पर, विशेष प्रकार से उपलब्ध आहार को अपनी आहार की मात्रा से कम मात्रा में ग्रहण किया जाता है। मूलाचार के अनुसार ऊनोदरी तप की आवश्यकता निद्रा एवं इन्द्रियों के संयम के लिए तथा तप एवं तप आवश्यकों के पालन के लिये है।^२

(३) रस परित्याग — भोजन में दूध, दही, घृत, तैल, मिष्ठान आदि सबका या उनमें से किसी एक का ग्रहण न करना रस-परित्याग है। रस-परित्याग स्वाद-जय है। नैतिक जीवन की साधना के लिए स्वाद-जय आवश्यक है। महात्मा गाँधी ने स्यारह व्रतों का विधान किया, उसमें अस्वाद भी एक व्रत है। रस परित्याग का तात्पर्य यह है कि साधक स्वाद के लिए नहीं, वरन् शरीर-निर्वाह अथवा साधना के लिए आहार करता है।

(४) भिक्षाचर्या — भिक्षा विषयक विभिन्न विधि-नियमों का पालन करते हुए भिक्षाश्त्र पर जीवन यापन करना भिक्षाचर्या तप है। इसे वृत्ति परिसंख्यान भी कहा गया है। इसका बहुत कुछ सम्बन्ध भिक्षुक जीवन से है। भिक्षा के सम्बन्ध में पूर्व निश्चय कर लेना और तदनुकूल ही भिक्षा ग्रहण करना वृत्ति-परिसंख्यान है। इसे अभिग्रह तप भी कहा गया है।

(५) कायक्लेश — बीरासन, गोदुहासन आदि विभिन्न आसन करना, शीत या उष्णता सहन करने का अभ्यास करना काय-क्लेश तप है। कायक्लेश तप चार प्रकार का है—(१) आसन, (२) आतापना — सूर्य की किरणों का ताप लेना, शीत को सहन करना, अल्प वस्त्र अथवा निर्वास्य रहना। (३) विभूषा का त्याग (४) परिकर्म — शरीर की साज-सज्जा का त्याग।

(६) संलीनता — संलीनता चार प्रकार की है—(१) इन्द्रिय संलीनता — इन्द्रियों के विषयों से बचना, (२) कषाय-संलीनता — क्रोध, मान, माया और लोभ से बचना, (३) योग संलीनता — मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों से बचना, (४) विविक्त वाचनासन — एकांत स्थान पर सोना-बैठना। सामान्य रूप से यह माना गया है कि कषाय एवं राग-द्वेष के बाह्य निमित्तों से बचने के लिए साधक को शमशान, शून्यागार और वन के एकांत स्थानों में रहना चाहिए।

तात्पर्यन्तर तप के भेद

आभ्यन्तर तप, तप का वह रूप है जो बाह्य रूप से तो तप के रूप में प्रतीत नहीं होता किन्तु आत्मविशुद्धि का कारण होने से जैन परम्परा में उसे तप ही कहा गया है। बाह्य तप स्थूल है जबकि आभ्यन्तर तप सूक्ष्म है। उत्तराध्ययन आदि सभी जैन ग्रन्थों में आभ्यन्तर तप के निम्न छः भेद माने गये हैं—

(१) प्रायश्चित्त — अपने द्वारा हुए व्रतभंग दुराचरण के प्रति ग्लानि प्रकट करना, उसे वरिष्ठ गुरुजनों के समक्ष प्रकट करके उसके शुद्धिकरण हेतु योग्य दण्ड की याचना करना एवं उनके द्वारा दिये गये योग्य दण्ड को स्वीकार करना, प्रायश्चित्त तप है जो वस्तुतः आत्मशोधन की एक प्रक्रिया है। वासनाओं एवं कषायों से उद्धेलित होना मनुष्य का सहज स्वभाव है। प्रायश्चित्त के स्वरूपादि के सन्दर्भ में हमने आगे विस्तार से चर्चा की है। अतः पाठकों को वहीं देख लेने की अनुशंसा करता हूँ।

(२) विनय — आत्मशुद्धि बिना विनय सम्भव नहीं है। विनय व्यक्ति को अहंकार से मुक्त करता है और यह स्पष्ट है कि आत्मगत दोषों में अहंकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्राचीन जैन ग्रन्थों में विनय शब्द का तात्पर्य है आचार के नियम। अतः आचार के नियमों का सम्यक् रूप में परिपालन ही विनय है। दूसरे अर्थ में विनय विनम्रता का सूचक है। इस दूसरे अर्थ में विनय का तात्पर्य है, वरिष्ठ एवं गुरुजनों का सम्मान करते हुए उनकी आज्ञाओं का पालन करना अथवा उन्हें आदर प्रदान करना। विनय के सात भेद हैं—(१) ज्ञान विनय, (२) दर्शन विनय, (३) चारित्र्य विनय, (४) मनोविनय, (५) वचनविनय, (६) काय विनय और (७) लोकोपचार विनय। शिष्टाचार के

रूप में किये गये बाह्योपचार को लोकोपचार विनय कहा जाता है ।

(३) वैयावृत्य—वैयावृत्य का अर्थ सेवा-शुश्रूषा करना है । भिक्षु-संघ में दस प्रकार के साधकों की सेवा करना भिक्षु का कर्तव्य है—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) तपस्वी, (४) गुरु, (५) रोगी, (६) वृद्ध भुनि, (७) सहपाठी, (८) अपने भिक्षु संघ का सदस्य, (९) दीक्षा स्थविर और (१०) लोक सम्मानित भिक्षु । इन दस की सेवा करना वैयावृत्य तप है । इसके अतिरिक्त संघ (समाज) की सेवा भी भिक्षु का कर्तव्य है ।

(४) स्वाध्याय—स्वाध्याय शब्द का सामान्य अर्थ आध्यात्मिक साहित्य का पठन-पाठन एवं मनन आदि है । स्वाध्याय के पाँच भेद हैं—

(क) वाचना—सङ्ग्रहों का पठन एवं अध्ययन करना ।

(ख) पृच्छना—उत्पन्न शंकाओं के निरसन के लिए एवं नवीन ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त विद्वज्जनों से प्रश्नोत्तर एवं वातालाप करना ।

(ग) परावर्तन—परावर्तन का अर्थ यादगारना है । अर्जित ज्ञान के स्थायित्व के लिये यह आवश्यक है ।

(घ) अनुप्रेक्षा—ज्ञान के विकास के लिए उसका चिन्तन करना एवं उस चिन्तन के द्वारा अर्जित ज्ञान को विशाल करना 'अनुप्रेक्षा' है ।

(ङ) धर्मकथा—धार्मिक उपदेश करना धर्मकथा है ।

(५) ध्यान—चित्त की अवस्थाओं का किसी विषय पर केन्द्रित होना ध्यान है । जैन परम्परा में ध्यान के चार प्रकार हैं—(१) आर्त-ध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान । आर्तध्यान और रौद्रध्यान चित्त की दूषित प्रवृत्तियाँ हैं अतः साधना एवं तप की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है, ये दोनों ध्यान त्याज्य हैं । आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों महत्वपूर्ण हैं । अतः इन पर थोड़ी विस्तृत चर्चा करना आवश्यक है ।

धर्मध्यान—इसका अर्थ है चित्त-विशुद्धि का प्रारम्भिक अभ्यास ।

धर्म-ध्यान के लिये ये चार बातें आवश्यक हैं—(१) आगम ज्ञान, (२) अनासक्ति, (३) आत्म-संयम और (४) मुमुक्षुभाव । धर्म ध्यान के चार प्रकार हैं—

(१) आज्ञा विचय—आगम के अनुसार तत्त्व स्वरूप एवं कर्तव्यों का चिन्तन करना ।

(२) अपाय-विचय—हेय क्या है, इसका विचार करना ।

(३) बिपाक-विचय—हेय के परिणामों का विचार करना ।

(४) रांस्थान-विचय—लोक या पदार्थों की आकृतियों, स्वरूपों का चिन्तन करना ।

रांस्थान-विचय धर्म-ध्यान पुनः चार उपविभागों में विभाजित है—(अ) पिण्डस्थ ध्यान—यह किसी तरव विशेष के स्वरूप के चिन्तन पर आधारित है । इसकी पार्थिवी, आग्नेयी, माहती, वायुणी और तत्त्वभू ये पाँच धारणाएँ मानी गई हैं । (ब) पदस्थ ध्यान—यह ध्यान पवित्र मंत्राक्षर आदि पदों का अवलम्बन करके किया जाता है । (स) रूपस्थ-ध्यान—राग, द्वेष, मोह आदि विकारों से रहित अहंन्त का ध्यान करना है । (द) रूपातीत-ध्यान—निराकार, चैतन्य-स्वरूप सिद्ध परमात्मा का ध्यान करना ।

शुक्ल ध्यान—यह धर्म-ध्यान के बाद की स्थिति है । शुक्ल ध्यान के द्वारा मन को शांत और निष्प्रकम्प किया जाता है । इसकी अन्तिम परिणति मन की समस्त प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध है । शुक्ल-ध्यान चार प्रकार का है—(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार—इस ध्यान में ध्याता कभी अर्थ का चिन्तन करते-करते शब्द का और शब्द का चिन्तन करते-करते अर्थ का चिन्तन करने लगता है । इस ध्यान में अर्थ, व्यंजन और योग का संक्रमण होते रहने पर भी द्योत द्रव्य एक ही रहता है । (२) एकत्व-वितर्क-अविचारी—अर्थ, व्यंजन और योग संक्रमण से रहित, एक पर्याय-विषयक ध्यान "एकत्व-श्रुत अविचार" ध्यान कहलाता है । (३) सूक्ष्म क्रिया-अप्रतिशती—मन, वचन और शरीर व्यापार का निरोध हो जाने एवं केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया के शेष रहने पर ध्यान की यह अवस्था प्राप्त होती है । (४) समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति—जब मन वचन और शरीर को समस्त प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और कोई भी सूक्ष्म क्रिया शेष नहीं रहती उस अवस्था को समुच्छिन्न क्रिया शुक्लध्यान कहते हैं । इस प्रकार शुक्लध्यान की प्रथम अवस्था से क्रमशः आगे बढ़ते हुए अन्तिम अवस्था में साधक कायिक, वाचिक और मानसिक सभी प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध कर अन्त में सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है जो कि नैतिक साधना और योग साधना का अन्तिम लक्ष्य है ।^१

(६) व्युत्सर्ग—व्युत्सर्ग का अर्थ त्यागना या छोड़ना है । व्युत्सर्ग के आभ्यन्तर और बाह्य दो भेद हैं । बाह्य व्युत्सर्ग के चार भेद हैं—

(१) कायोत्सर्ग—कुछ समय के लिए शरीर से समत्व को हटा देना ।

(२) गण-व्युत्सर्ग—साधना के निमित्त सामूहिक जीवन को छोड़कर एकांत में अकेले साधना करना ।

(३) तपस्वि-व्युत्सर्ग—वस्त्र, पात्र आदि मुनि-जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं का त्याग करना या उनमें कमी करना।

(४) भक्षपान व्युत्सर्ग—भोजन का परित्याग। यह अनशन का ही रूप है।

आभ्यन्तर व्युत्सर्ग तीन प्रकार का है—

(१) कषाय-व्युत्सर्ग—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का परित्याग करना।

(२) संसार-व्युत्सर्ग—प्राणीमात्र के प्रति राग-द्वेष की प्रवृत्तियों को छोड़कर सबके प्रति समत्वभाव रखना।

(३) कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा की मलिनता मन, वचन और शरीर की विविध प्रवृत्तियों को जन्म देती है। इस मलिनता के परित्याग के द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक प्रवृत्तियों का निरोध करना।

जैन धर्म में प्रायश्चित्त एवं दण्ड व्यवस्था

प्रायश्चित्त और दण्ड—जैन आचार्यों ने न केवल आचार के विधि-निषेधों का प्रतिपादन किया अपितु उनके भंग होने पर प्रायश्चित्त एवं दण्ड की व्यवस्था भी की। सामान्यतया जैन आगम ग्रन्थों में नियम-भंग या अपराध के लिए प्रायश्चित्त का ही विधान किया गया और दण्ड शब्द का प्रयोग सामान्यतया “हिंसा” के अर्थ में हुआ है। अतः जिसे हम दण्ड-व्यवस्था के रूप में जानते हैं, वह जैन परम्परा में प्रायश्चित्त व्यवस्था के रूप में ही मान्य है। सामान्यतया दण्ड और प्रायश्चित्त पर्यायवाची माने जाते हैं, किन्तु दोनों में सिद्धांततः अन्तर है। प्रायश्चित्त में अपराध-बोध की भावना से व्यक्ति में स्वतः ही उसके परिमार्जन की अन्तःप्रेरणा उत्पन्न होती है। प्रायश्चित्त अन्तःप्रेरणा से स्वयं ही किया जाता है, जबकि दण्ड अन्य व्यक्ति के द्वारा दिया जाता है। जैन परम्परा अपनी आध्यात्मिक-प्रकृति के कारण साधनात्मक जीवन में प्रायश्चित्त का ही विधान करती है। यद्यपि जब साधक अन्तःप्रेरित होकर आत्मशुद्धि के हेतु स्वयं प्रायश्चित्त की याचना नहीं करता है तो संघ व्यवस्था के लिए उसे दण्ड देना होता है।

यद्यपि हमें यह स्मरण रखना होगा कि दण्ड देने से साधक की आत्मशुद्धि नहीं होती। चाहे सामाजिक या संघ-व्यवस्था के लिए दण्ड आवश्यक हो किन्तु जब तक उसे अन्तःप्रेरणा से स्वीकृत नहीं किया जाता तब तक वह आत्मशुद्धि करने में सहायक नहीं होता। जैन प्रायश्चित्त व्यवस्था में परिहार, छेद,

मूल, पारांचिक आदि बाह्यतः तो दण्डरूप है, किन्तु उनकी आत्म-शुद्धि की क्षमता को लक्ष्य में रखकर ही वे प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ

प्रायश्चित्त शब्द की आगमिक व्याख्या साहित्य में विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं। जीतकल्प भाष्य के अनुसार जो पाप का छेदन करता है, वह प्रायश्चित्त है।^१ यही “प्रायः” शब्द को पाप के रूप में तथा “चित्त” शब्द को शोधक के रूप में परिभाषित किया गया है। हरिभद्र ने पंचाशक में प्रायश्चित्त के दोनों ही अर्थ मान्य किये हैं। वे मूलतः “पापच्छित्त” शब्द की व्याख्या उसके प्राकृत रूप के आधार पर ही करते हैं। वे लिखते हैं कि जिसके द्वारा पाप का छेदन होता है, वह प्रायश्चित्त है।^२ इसके साथ ही वे दूसरे अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिसके द्वारा पाप से चित्त का शोधन होता है, वह प्रायश्चित्त है।^३ प्रायश्चित्त शब्द के संस्कृत रूप के आधार पर “प्रायः” शब्द को प्रकर्ष के अर्थ में लेते हुए यह भी कहा गया है कि जिसके द्वारा चित्त प्रकर्षता अर्थात् उच्चता को प्राप्त होता है वह प्रायश्चित्त है।^४

दिगम्बर टीकाकारों ने “प्रायः” शब्द का अर्थ अपराध और चित्त शब्द का अर्थ शोधन करे यह माना है कि जिस क्रिया के करने से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है।^५ एक अन्य व्याख्या में “प्रायः” शब्द का अर्थ “लोक” भी किया गया है। इस दृष्टि से यह माना गया है कि जिस कर्म से साधुजनों का चित्त प्रसन्न होता है वह प्रायश्चित्त है।^६ मूलाचार में कहा गया है कि प्रायश्चित्त वह तप है जिसके द्वारा पूर्वकृत पापों की विशुद्धि की जाती है।^७ इसी ग्रन्थ में प्रायश्चित्त के पर्यायवाची नामों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जिसके द्वारा पूर्वकृत कर्मों का क्षपण, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुच्छण अर्थात् निराकरण, उत्क्षेपण एवं छेदन होता है, वह प्रायश्चित्त है।^८

प्रायश्चित्त के प्रकार

ध्वेताम्बर परम्परा में विविध प्रायश्चित्तों का उल्लेख स्थानांग, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, जीतकल्प आदि ग्रन्थों में मिलता है। किन्तु जहाँ समवायों में प्रायश्चित्तों के प्रकारों का मात्र नामोल्लेख है वहाँ निशीथ आदि ग्रन्थों में प्रायश्चित्त योग्य अपराधों का भी विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। प्रायश्चित्त

१ जीतकल्पभाष्य ५।

२ वही।

३ तत्त्वार्थ वातिक ६/२२/१, पृ. ६२०।

४ मूलाचार ५/१६४।

२ पंचाशक (हरिभद्र) १६/३ (प्रायश्चित्तपंचाशक)।

४ अभिधान राजेश्वर कीर्ति।

६ वही।

८ वही ५/१६६।

सम्बन्धी विविध सिद्धांतों और समस्याओं का स्पष्टतापूर्वक विवेचन बृहत्कल्प भाष्य, निषीथभाष्य, व्यवहारभाष्य, निषीथ-चूर्ण, जीतकल्पभाष्य एवं जीतकल्पचूर्ण में उपलब्ध होता है। जहाँ तक प्रायश्चित्त के प्रकारों का प्रश्न है, इन प्रकारों का उल्लेख श्वेताम्बर आगम स्थानांग, बृहत्कल्प, निषीथ और जीत कल्प में, यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में, दिगम्बर ग्रन्थ जयध्वला में तथा तत्त्वार्थ सूत्र एवं उसकी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों की टीकाओं में मिलता है।

स्थानांग सूत्र में प्रायश्चित्त के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख हुआ है, उसके तृतीय स्थान में ज्ञान प्रायश्चित्त, दर्शन प्रायश्चित्त और चारित्र्य-प्रायश्चित्त ऐसे तीन प्रायश्चित्तों का उल्लेख हुआ है।^१ इसी तृतीय स्थान में धन्यत्र आलोचना, प्रतिक्रमण और तदुभय ऐसे प्रायश्चित्त के तीन रूपों का भी उल्लेख हुआ है।^२ इसी आगम ग्रन्थ में अन्यत्र छः, आठ और नौ प्रायश्चित्तों का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु ये सभी प्रायश्चित्तों के प्रकार उसके दशम स्थान में जो दशविध प्रायश्चित्तों का विवरण दिया गया है उसमें समाहित हो जाते हैं।^३ अतः हम उनकी स्वतन्त्र रूप से चर्चा न करके उसमें उपलब्ध दशविध प्रायश्चित्त की चर्चा करेंगे—

स्थानांग, जीतकल्प और ध्वला में प्रायश्चित्त के निम्न दस प्रकार माने गये हैं—

(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) उभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य और (१०) पारांचिक।^४ यदि हम इन दस नामों की तुलना यापनीय ग्रन्थ मूलाचार^५ और तत्त्वार्थ सूत्र^६ से करते हैं तो मूलाचार में प्रथम आठ नाम तो जीतकल्प के समान ही हैं किन्तु जीतकल्प के अनवस्थाप्य के स्थान पर परिहार और पारांचिक के स्थान पर श्रद्धान का उल्लेख हुआ है। मूलाचार श्वेताम्बर परम्परा से भिन्न होकर तप और परिहार को अलग-अलग मानता है। तत्त्वार्थ सूत्र में तो इनकी संख्या नौ मानी गई है। इसमें सात नाम तो जीतकल्प के समान ही हैं किन्तु मूल के स्थान पर उपस्थापन और अतपस्थाप्य के स्थान पर परिहार का उल्लेख हुआ है। पारांचिक का उल्लेख तत्त्वार्थ में नहीं है अतः वह नौ प्रायश्चित्त ही मानता है। श्वेताम्बर आचार्यों ने तप और परिहार को एक माना है, किन्तु तत्त्वार्थ में तप और परिहार दोनों स्वतन्त्र प्रायश्चित्त माने गये हैं, अतः तत्त्वार्थ में भी परि-

हार का अर्थ अनवस्थाप्य ही हो सकता है। इस प्रकार तत्त्वार्थ और मूलाचार दोनों तप और परिहार को अलग-अलग मानते हैं और दोनों में उसका अर्थ अनवस्थाप्य के समान है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ ध्वला १७ में स्थानांग और जीतकल्प के समान ही १० प्रायश्चित्तों का वर्णन है और उनके नाम भी वे ही हैं। इस प्रकार जहाँ ध्वला श्वेताम्बर परम्परा से संगति रखती है, वहाँ मूलाचार और तत्त्वार्थ कुछ भिन्न हैं। सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि जीतकल्प सूत्र के उल्लेखानुसार जब अनवस्थाप्य और पारांचिक इन दोनों प्रायश्चित्तों को भद्रबाहु के बाद व्यवच्छिन्न मान लिया गया या दूसरे शब्दों में इन प्रायश्चित्तों का प्रवचन बन्द कर दिया गया^७ तो इन अन्तिम दो प्रायश्चित्तों के स्वतन्त्र स्वरूप को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया और उनके नामों में अन्तर हो गया। मूलाचार के अन्त में परिहार का जो उल्लेख है वह अनवस्थाप्य से कोई भिन्न नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसमें श्रद्धान प्रायश्चित्त का क्या तात्पर्य है यह न तो मूल ग्रन्थ से और न उसकी टीका से ही स्पष्ट होता है। यह अन्तिम प्रायश्चित्त है, अतः कठोरतम होना चाहिये। इसका अर्थ यह माना जा सकता है कि ऐसा अपराधी व्यक्ति जो श्रद्धा से रहित मानकर संघ से पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाये किन्तु टीकाकार वसुनन्दी ने श्रद्धान का अर्थ तत्त्वचि एवं श्रोधादि त्याग किया है। इन प्रायश्चित्तों में जो क्रम है वह सहजता से कठोरता की ओर है अतः अन्त में श्रद्धा नामक सहज प्रायश्चित्त को रखने का कोई औचित्य नहीं है। वस्तुतः जिन प्रवचन के प्रति श्रद्धा का समाप्त हो जाना ही वह अपराध है, जिसका दण्ड मात्र बहिष्कार है। अतः ऐसे श्रमण की श्रद्धा जब तक सम्यक् नहीं है तब तक उसे संघ से बहिष्कृत रखना ही इस प्रायश्चित्त का तात्पर्य है।

प्रायश्चित्त का सर्वप्रथम रूप वह है जहाँ साधक को स्वयं ही अपने मन में अपराधबोध के परिणामस्वरूप आशमग्लानि का भाव उत्पन्न हो। वस्तुतः आलोचना का अर्थ है अपराध को अपराध के रूप में स्वीकार कर लेना। आलोचन शब्द का अर्थ देखना, अपराध को अपराध के रूप में देख लेना ही आलोचना है। सामान्यतया वे अपराध जो हमारे दैनन्दिन व्यवहार में असावधानी (प्रमाद) या बाध्यतावश घटित होते हैं, आलोचना नामक प्रायश्चित्त के विषय माने गये हैं। अपने द्वारा हुए अपराध या नियम भंग को आचार्य या गीतार्थ मुनि के समक्ष निवेदित

१ स्थानांग ३/४७०।

४ (अ) स्थानांग १०/७३, (ब) जीतकल्पसूत्र ४, (स) ध्वला १३/५, २६/६३/१।

५ मूलाचार ५/१६५।

७ जीतकल्पभाष्य २५८६, जीतकल्प १*२।

२ वही ३/४४८।

३ वही १०/७३।

६ तत्त्वार्थ ६/२२।

करके उनसे उसके प्रायश्चित्त की याचना करना ही आलोचना है। सामान्यतया आलोचना करते समय यह विचार आवश्यक है कि अपराध क्यों हुआ ? उसका प्रेरक तत्व क्या है ?

अपराध क्यों और कैसे ?

अपराध या व्रतभंग क्यों और किन परिस्थितियों में किया जाता है, इसका विवेचन हमें स्थानांग सूत्र के दशम स्थान में मिलता है, उसमें दस प्रकार की प्रतिसेवना का उल्लेख हुआ है। प्रतिसेवना का तात्पर्य है गृहीत व्रत के नियमों के विरुद्ध आचरण करना अथवा भोजन आदि ग्रहण करना। वस्तुतः प्रतिसेवना का सामान्य अर्थ व्रत या नियम के प्रतिकूल आचरण करना ही है। यह व्रतभंग क्यों, कब और किन परिस्थितियों में होता है इसे स्पष्ट करते हेतु ही स्थानांग में दस प्रतिसेवनाओं का उल्लेख है।^१

(१) **वर्ष-प्रतिसेवना**—आवेश अथवा अहंकार के वशीभूत होकर जो हिंसा आदि करके व्रत भंग किया जाता है वह वर्ष प्रतिसेवना है।

(२) **प्रमाद प्रतिसेवना**—प्रमाद एवं कषायों के वशीभूत होकर जो व्रत भंग किया जाता है, वह प्रमाद प्रतिसेवना है।

(३) **अनाभोग प्रतिसेवना**—स्मृति या सजगता के अभाव में अवश्य या नियम विरुद्ध वस्तु का ग्रहण करना अनाभोग प्रतिसेवना है।

(४) **आतुर प्रतिसेवना**—भूल-प्यास आदि से पीड़ित होकर किया जाने वाला व्रत-भंग आतुर प्रतिसेवना है।

(५) **आपात प्रतिसेवना**—किसी विशिष्ट परिस्थिति के उत्पन्न होने पर व्रत-भंग या नियम विरुद्ध आचरण करना आपात प्रतिसेवना है।

(६) **शंकित प्रतिसेवना**—शंका के वशीभूत होकर जो नियम भंग किया जाता है, उसे शंकित प्रतिसेवना कहते हैं, जैसे यह व्यक्ति हमारा अहित करेगा ऐसा मानकर उसकी हिंसा आदि कर देना।

(७) **सहसाकार प्रतिसेवना**—अकस्मात् होने वाले व्रत या नियम भंग को सहसाकार प्रतिसेवना कहते हैं।

(८) **भय प्रतिसेवना**—भय के कारण जो व्रत या नियम भंग किया जाता है वह भय प्रतिसेवना है।

(९) **प्रदोष प्रतिसेवना**—द्वेषवश किसी प्राणी की हिंसा अथवा उसका अहित करना प्रदोष प्रतिसेवना है।

(१०) **विमर्श प्रतिसेवना**—शिष्यों की क्षमता अथवा उनकी श्रद्धा आदि के परीक्षण के लिए व्रत या नियम का भंग करना विमर्श प्रतिसेवना है।

दूसरे शब्दों में किसी निश्चित उद्देश्य के लिये विचारपूर्वक

व्रतभंग करना या नियम के प्रतिकूल आचरण करना विमर्श प्रतिसेवना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति अपराध केवल स्वेच्छा से जानबूझकर ही नहीं करता अपितु परिस्थितिवश भी करता है। अतः उसे प्रायश्चित्त देने समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अपराध क्यों और किन परिस्थितियों में किया गया है।

आलोचना करने का अधिकारी कौन ?

आलोचना कौन व्यक्ति कर सकता है इस सम्बन्ध में भी स्थानांग सूत्र^२ में पर्वणि चिन्तन किया गया है। इसके अनुसार निम्न दस गुणों से युक्त व्यक्ति ही आलोचना करने के योग्य होता है—

(१) जाति सम्पन्न, (२) कुल सम्पन्न, (३) विनय सम्पन्न, (४) ज्ञान सम्पन्न, (५) दर्शन सम्पन्न, (६) चारित्र्य सम्पन्न, (७) क्षान्त (क्षमासम्पन्न) (८) दान्त (इन्द्रिय-जयी), (९) अमायावी (मायाचार रहित) और (१०) अपयचात्तापी (आलोचना करने के बाद उसका पश्चात्ताप न करने वाला)।

आलोचना किसके समक्ष की जाये ?

आलोचना किस व्यक्ति के समक्ष की जानी चाहिए यह भी एक विचारणीय प्रश्न है, योग्य और गम्भीर व्यक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष आलोचना करने का परिणाम यह होता है कि वह आलोचना करने वाले व्यक्ति की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचा सकता है तथा उसे अपयश का भागी बनना पड़ सकता है। अतः जैनाचार्यों ने माना कि आलोचना सदैव ऐसे व्यक्ति के समक्ष करनी चाहिये जो आलोचना सुनने योग्य हो, उसे गोपनीय रख सकता हो और उसका अनैतिक लाभ न ले। स्थानांग सूत्र^३ के अनुसार जिस व्यक्ति के सामने आलोचना की जाती है उसे निम्नलिखित दस गुणों से युक्त होना चाहिए।

(१) **आचारवान**—सदाचारी होना आलोचना देने वाला व्यक्ति का प्रथम गुण है, क्योंकि जो स्वयं दुराचारी है वह दूसरों के अपराधों की आलोचना सुनने का अधिकारी नहीं है। जो अपने ही दोषों को शुद्ध नहीं कर सका वह दूसरों के दोषों को क्या दूर करेगा ?

(२) **आधारवान**—अर्थात् उसे अपराधों और उसके सम्बन्ध में नियत प्रायश्चित्तों का बोध होना चाहिए, उसे यह भी ज्ञान होना चाहिए कि किस अपराध के लिए किस प्रकार का प्रायश्चित्त नियत है।

(३) **व्यवहारवान**—उसे आगम, श्रुत, जिनाज्ञा, धारणा और जीत इन पाँच प्रकार के व्यवहारों को जानने वाला होना

१ स्थानांग १०/६६।

२ स्थानांग १०/७२।

३ स्थानांग १०/७१।

चाहिए क्योंकि सभी अपराधों एवं प्रायश्चित्तों की सूची आगमों में उपलब्ध नहीं है अतः आलोचना सुनने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिये जो स्वविवेक से ही आगमिक आधारों पर किसी कर्म के प्रायश्चित्त का अनुमान कर सके।

(४) अपव्रीडक—आलोचना सुनने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिए कि आलोचना करने वाले की लज्जा छुड़ाकर उसमें आत्म-आलोचना की शक्ति उत्पन्न कर सके।

(५) प्रकारी—आचार्य अथवा आलोचना सुनने वाले में यह सामर्थ्य होना चाहिए कि वह अपराध करने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व को रूपान्तरित कर सके।

(६) अपरिधायी—उसे आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रगट नहीं करना चाहिये, अन्यथा कोई भी व्यक्ति उसके सामने आलोचना करने में संकोच करेगा।

(७) निर्यापक—आलोचना सुनने वाला व्यक्ति ऐसा होना कि वह प्रायश्चित्त विधान इस प्रकार करे कि प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति घबराकर उसे आधे में ही न छोड़ दे। उसे प्रायश्चित्त करने वाले का सहयोगी बनना चाहिए।

(८) अपायदर्शी—अर्थात् उसे ऐसा होना चाहिए कि वह आलोचना करने अथवा न करने के गुण-दोषों की समीक्षा कर सके।

(९) प्रियधर्मा—अर्थात् आलोचना सुनने वाले व्यक्ति की धर्म मार्ग में अविचल निष्ठा होनी चाहिए।

(१०) दृढ़धर्मा—उसे ऐसा होना चाहिए कि वह कठिन से कठिन समय में भी धर्म मार्ग से विचलित न हो सके।

जिसके समक्ष आलोचना की जा सकती है उस व्यक्ति की इन सामान्य योग्यताओं का निर्धारण करने के साथ-साथ यह भी माना गया है कि किसी गीतार्थ, बहुश्रुत एवं आगमज्ञ के समक्ष ही आलोचना की जानी चाहिए। साथ ही इनके पदक्रम और बरीयता पर विचार करते हुए यह कहा गया है कि जहाँ आचार्य आदि उच्चाधिकारी उपस्थित हों, वहाँ सामान्य साधु या गृहस्थ के समक्ष आलोचना नहीं करनी चाहिए। आचार्य के उपस्थित होने पर उसी के समक्ष आलोचना की जानी चाहिए। आचार्य की अनुपस्थिति में उपाध्याय के समक्ष, उपाध्याय की अनुपस्थिति में सांभोगिक साधर्मिक साधु के समक्ष और उनकी अनुपस्थिति में अन्य सांभोगिक साधर्मिक साधु के समक्ष आलोचना करनी चाहिए। यदि अन्य सांभोगिक साधर्मिक साधु भी उपलब्ध न हो तो ऐसी स्थिति में बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ समान-वेश धारक साधु के समक्ष आलोचना करे। उसके उपलब्ध न होने पर यदि पूर्व में दीक्षा पर्याय को छोड़ा हुआ बहुश्रुत और आगमज्ञ श्रमणो-

पासक उपस्थित हो तो उसके समक्ष आलोचना करे। उसके अभाव में सम्यक्त्व भावित अंतःकरण वाले के समक्ष अर्थात् सम्यक्स्वी जीव के समक्ष आलोचना करे। यदि सम्यक्त्व भावी अंतःकरण वाला भी न हो तो ग्राम या नगर के बाहर जाकर पूर्व या उत्तर दिशा में अभिमुख होकर अरिहन्त और सिद्ध की साक्षीपूर्वक आलोचना करे।^१

आलोचना सम्बन्धी इस चर्चा के प्रसंग में यह भी तथ्य ध्यान देने योग्य है कि आलोचना दोषमुक्त हो। स्थानांग, मूलाचार, भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में आलोचना के दस दोषों का उल्लेख हुआ है।^२

(१) आकम्पित दोष—आचार्य आदि को उपकरण आदि देकर अपने अनुकूल बना लेना आकम्पित दोष है। कुछ विद्वानों के अनुसार आकम्पित दोष का अर्थ है कांपते हुए आलोचना करना, जिससे प्रायश्चित्तदाता काम से कम प्रायश्चित्त दे।

(२) अनुमानित दोष—अल्प प्रायश्चित्त या दण्ड मिले इस भय से अपने को दुर्बल, रोगग्रस्त आदि दिखाकर आलोचना करना अनुमानित दोष है।

(३) अद्रष्ट—गुरु अथवा अन्य किसी ने जो अपराध देख लिया हो उसकी आलोचना करना और अद्रष्ट दोषों की आलोचना न करना यह अद्रष्ट दोष है।

(४) बादर दोष—बड़े दोषों की आलोचना करना और छोटे दोषों की आलोचना न करना बादर दोष है।

(५) सूक्ष्म दोष—छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना और बड़े दोषों को छिपा लेना सूक्ष्म दोष है।

(६) छन्न दोष—आलोचना इस प्रकार से करना कि गुरु उसे पूरी तरह सुन ही न सके वह छन्न दोष है। कुछ विद्वानों के अनुसार आचार्य के समक्ष मैने यह दोष किया, यह न कहकर किसी बहाने से उस दोष का प्रायश्चित्त शात कर स्वयं ही उसका प्रायश्चित्त से लेना छन्न दोष है।

(७) शब्दाकुलित दोष—कोलाहलपूर्ण वातावरण में आलोचना करना जिसे आचार्य सम्यक् प्रकार से सुन न सके, यह शब्दाकुलित दोष है। दूसरे शब्दों में भीड़-भाड़ अथवा व्यस्तता के समय गुरु के सामने आलोचना करना दोषपूर्ण माना गया है।

(८) बहुजन दोष—एक ही दोष की अनेक लोगों के समक्ष आलोचना करना और उनमें से जो सबसे कम दण्ड या प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करना बहुजन दोष है।

(९) अव्यक्त दोष—दोषों को पूर्णरूप से स्पष्ट न कहते हुए उनकी आलोचना करना अव्यक्त दोष है।

१ व्यवहारसूत्र १/१/३३।

२ (अ) स्थानांग, १०/७०। (ब) मूलाचार, ११/१५।

(१०) तत्सेवी दोष—जो व्यक्ति स्वयं ही दोषों का सेवन करने वाले हैं उनके सामने दोषों की आलोचना करना तत्सेवी दोष है। क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं दोष का सेवन करने वाला है उसे दूसरे को प्रायश्चित्त देने का अधिकार नहीं है। दूसरे, ऐसा व्यक्ति उचित प्रायश्चित्त भी नहीं दे पाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने आलोचना के सन्दर्भ में उसके स्वरूप, आलोचना करने व सुनने की पात्रता और उसके दोषों पर गहराई से विचार किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा निशोथ आदि में पायी जाती है। पाठकों से उसे वहाँ देखने की अनुमति की जाती है।

आलोचना योग्य कार्य—जीतकल्प के अनुसार जो भी करणीय अर्थात् आवश्यक कार्य हैं, वे तीर्थंकरों द्वारा सम्पादित होने पर तो निर्दोष होते हैं, किन्तु छद्मस्थ भ्रमणों द्वारा इन कर्मों की शुद्धि केवल आलोचना से ही मानी गयी है। जीतकल्प में कहा गया है कि आहार आदि का ग्रहण, गमनागमन, मल-मूत्र विसर्जन, गुरुवन्दन आदि सभी क्रियाएँ आलोचना के योग्य हैं।^१ इन्हें आलोचना योग्य मानने का तात्पर्य यह है कि साधक इस बात का विचार करे कि उसने इन कार्यों का सम्पादन सजगतापूर्वक अप्रमत्त होकर किया है या नहीं। क्योंकि प्रमाद के कारण दोष लगना सम्भव है। इसी प्रकार आचार्य से सौ हाथ की दूरी पर रहकर जो भी कार्य किये जाते हैं, वे भी आलोचना के विषय माने गये हैं। इन कार्यों की गुरु के समक्ष आलोचना करने पर ही साधक को शुद्ध माना जाता है। इसका उद्देश्य यह है कि साधक गुरु को यह बताये कि उसने गुरु से दूर रहकर क्या-क्या कार्य किस प्रकार सम्पादित किये हैं। इसके साथ ही किसी कारणवश या अकारण ही स्वर्गण का परित्याग कर परगण में प्रवेश करने को अथवा उपसम्पदा, विहार आदि कार्यों को भी आलोचना का विषय माना गया है। ईर्ष्या आदि पाँच सभित्तियों और तीन गुण्तियों में लगे हुए दोष सामान्यतया आलोचना के विषय हैं। यद्यपि हमें स्मरण रखना चाहिए कि ये सभी दोष जो आलोचना के विषय हैं, वे देश-काल-परिस्थिति और व्यक्ति के आधार पर प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्तर्ग, तप, परिहार, छंद आदि प्रायश्चित्त के योग्य भी हो सकते हैं।

प्रतिक्रमण—प्रायश्चित्त का दूसरा प्रकार प्रतिक्रमण है। अपराध या नियम भंग को अपराध के रूप में स्वीकार कर पुनः उससे वापस लौट आना अर्थात् भविष्य में उसे नहीं करने की प्रतिज्ञा करना ही प्रतिक्रमण है। दूसरे शब्दों में अपराधिक स्थिति से अनपराधिक स्थिति में लौट आना ही प्रतिक्रमण है।

आलोचना और प्रतिक्रमण में अन्तर यह है कि आलोचना में अपराध को पुनः सेवन न करने का निश्चय नहीं होता, जबकि प्रतिक्रमण में ऐसा करना आवश्यक है।

मन, वचन और काय से जो अशुभ आचरण किया जाता है, अथवा दूसरों के द्वारा कराया जाता है और दूसरे लोगों के द्वारा आचरित पापाचरण का जो अनुमोदन किया जाता है, इन सबकी निवृत्ति के लिए कृत-पापों की समीक्षा करना और पुनः नहीं करने की प्रतिज्ञा करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र प्रतिक्रमण का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि शुभयोग से अशुभ योग की ओर गये हुए अपन आपको पुनः शुभयोग में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।^२ आचार्य हरिभद्र ने प्रतिक्रमण की व्याख्या में इन तीन अर्थों का निर्देश किया है—(१) प्रमादवश स्वस्थान से परस्थान (स्वधर्म से परस्थान, परधर्म) में गये हुए साधक का पुनः स्वस्थान पर लौट आना यह प्रतिक्रमण है। अप्रमत्त चेतना का स्व-चेतना केन्द्र में स्थित होना स्वस्थान है, जबकि चेतना का बहिर्मुख होकर पर-वस्तु पर केन्द्रित होना पर-स्थान है। इस प्रकार बाह्यदृष्टि से अन्तर्दृष्टि की ओर आना प्रतिक्रमण है। (२) क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौट आता है, तो यह भी प्रतिकूलगमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है। (३) अशुभ आचरण से निवृत्त होकर मोक्षफलदायक शुभ आचरण में निःशल्प भाव से प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।^३

आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिक्रमण के निम्न पर्यायवाची नाम दिये हैं (१) प्रतिक्रमण—पापाचरण के क्षेत्र से प्रतिगामी होकर आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौट आना। (२) प्रतिचरण—हिंसा असत्य आदि से निवृत्त होकर अहिंसा, सत्य एवं संयम के क्षेत्र में अग्रसर होना। (३) परिहृण—सब प्रकार से अशुभ प्रवृत्तियों एवं दुराचरणों का त्याग करना। (४) वारण—निषिद्ध आचरण की ओर प्रवृत्ति नहीं करना। बौद्ध धर्म में प्रतिक्रमण के समान की जाने वाली क्रिया को प्रवारणा कहा गया है। (५) निवृत्ति—अशुभ भावों से निवृत्त होना। (६) निन्दा—गुरुजन, वरिष्ठ-जन अथवा स्वयं अपनी ही आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ आचरणों को बुरा समझना तथा उसके लिये पश्चात्ताप करना। (७) गर्हा—अशुभ आचरण को गहित समझना, उससे घृणा करना। (८) शुद्धि—प्रतिक्रमण आलोचना, निन्दा आदि के द्वारा आत्मा पर लगे दोषों से आत्मा को शुद्ध बनाता है, इसलिये उसे शुद्धि कहा गया है।

१ जीतकल्प ६, देखें—जीतकल्पभाष्य माथा ७३१-१८१०।

२ योगशास्त्र स्वोपशमवृत्ति, ३।

३ आवश्यक टीका, उद्धृत भ्रमणसूत्र, पृ. ८७।

प्रतिक्रमण किसका

स्थानांग सूत्र में इत छह बातों के प्रतिक्रमण का निर्देश है—
 (१) उच्चारण प्रतिक्रमण—मल आदि का विसर्जन करने के बाद ईर्ष्या (आने-जाने में हुई जीवहिंसा) का प्रतिक्रमण करना उच्चारण प्रतिक्रमण है। (२) प्रसवण प्रतिक्रमण—पेशाब करने के बाद ईर्ष्या का प्रतिक्रमण करना प्रसवण प्रतिक्रमण है। (३) इस्वर प्रतिक्रमण—स्नानकालीन (दैवसिक रात्रिक आदि) प्रतिक्रमण करना इस्वर प्रतिक्रमण है। (४) यावत्कथिक प्रतिक्रमण—सम्पूर्ण जीवन के लिए पाप से निवृत्त होना यावत्कथिक प्रतिक्रमण है। (५) यत्किञ्चिन्मिथ्या प्रतिक्रमण—सावधानीपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी से किसी भी प्रकार का असंगमरूप आचरण हो जाने पर तत्काल उस भूल को स्वीकार कर लेना, 'मिच्छामि दुक्कडं' ऐसा उच्चारण करना और उसके प्रति पश्चात्ताप करना यत्किञ्चिन्मिथ्या प्रतिक्रमण है। (६) स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण—विकार-वासना रूप कुस्वप्न देखने पर उसके सम्बन्ध में पश्चात्ताप करना स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है।^१ यह विवेचना प्रमुखतः साधुओं की जीवनधर्या से सम्बन्धित है। आचार्य भद्रबाहु ने जिन-जिन तथ्यों का प्रतिक्रमण करना चाहिए इसका निर्देश आवश्यक नियुक्ति में किया है।^२ उनके अनुसार (१) मिथ्यात्व, (२) असंगम, (३) कषाय एवं (४) अप्रशस्त कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापारों का प्रतिक्रमण करना चाहिए। प्रकारान्तर से आचार्य ने निम्न बातों का प्रतिक्रमण करना भी अनिवार्य माना है— (१) गृहस्थ एवं श्रमण उपासक के लिए निषिद्ध कार्यों का आचरण कर लेने पर, (२) जिन कार्यों के करने का शास्त्र में विधान किया गया है उन विहित कार्यों का आचरण न करने पर, (३) अश्रद्धा एवं शंका के उपस्थित हो जाने पर और (४) असम्यक् एवं असत्य सिद्धांतों का प्रतिपादन करने पर अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए।

जैन परम्परा के अनुसार जिनका प्रतिक्रमण किया जाना चाहिए, उनका संक्षिप्त वर्गीकरण इस प्रकार है—

(अ) २५ मिथ्यात्वों, १४ ज्ञानातिचारों और १८ पापस्थानों का प्रतिक्रमण सभी को करना चाहिए।

(ब) पंच महाव्रतों, मन, वाणी और शरीर के असंगम तथा गमन, भाषण, याचना, ग्रहण-निक्षेप एवं मलमूत्र विसर्जन आदि से सम्बन्धित दोषों का प्रतिक्रमण श्रमण साधकों को करना चाहिए।

(स) पांच अणुव्रतों, ३ गुणव्रतों, ४ शिक्षाव्रतों में लगने वाले ७५ अतिचारों का प्रतिक्रमण व्रती श्रावकों को करना चाहिए।

(द) संलेखना के पांच अतिचारों का प्रतिक्रमण उन साधकों

के लिए है जिन्होंने संलेखना व्रत ग्रहण किया हो।

श्रमण प्रतिक्रमण सूत्र और श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र में सम्बन्धित सम्भावित दोषों की विवेचना विस्तार से की गई है। इसके पीछे मूल दृष्टि यह है कि उनका पाठ करते हुए आचरित सूक्ष्मतम दोष भी विचार-पथ से ओझल न हों।

प्रतिक्रमण के भेद—साधकों के आधार पर प्रतिक्रमण के दो भेद हैं—(१) श्रमण प्रतिक्रमण और (२) श्रावक प्रतिक्रमण। कालिक आधार पर प्रतिक्रमण के पांच भेद हैं—(१) दैवसिक—प्रतिदिन सायंकाल के समय पूरे दिवस में आचरित पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना दैवसिक प्रतिक्रमण है। (२) रात्रिक—प्रतिदिन प्रातःकाल के समय सम्पूर्ण रात्रि के आचरित पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। (३) पाक्षिक—पक्ष के अन्तिम दिन अर्थात् अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण पक्ष में आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है। (४) चातुर्मासिक—कात्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा एवं आषाढी पूर्णिमा को चार महीने के आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। (५) सांवत्सरिक—प्रत्येक वर्ष में संवत्सरी महापर्व (ऋषि पंचमी) के दिन वर्ष भर के पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

तदुभय—तदुभय प्रायश्चित्त वह है जिसमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों किये जाते हैं। अपराध या दोष को दोष के रूप में स्वीकार करके फिर उसे नहीं करने का निश्चय करना ही तदुभय प्रायश्चित्त है। जीतकल्प में निम्न प्रकार के अपराधों के लिए तदुभय प्रायश्चित्त का विधान किया गया है—(१) अम-वश किये गये कार्य, (२) भयवश किये गये कार्य, (३) अतुरता-वश किये गये कार्य, (४) सहसा किये गये कार्य, (५) परवशता में किये कार्य, (६) सभी व्रतों में लगे हुए अतिचार।

विवेक—विवेक शब्द का सामान्य अर्थ यह है कि किसी कर्म के औचित्य एवं अनौचित्य का सम्यक् निर्णय करना और अनुचित कर्म का परित्याग कर देना। मुनि जीवन में आहारादि के ग्राह्य और अग्राह्य अथवा शुद्ध और अशुद्ध का विचार करना ही विवेक है। यदि अज्ञात रूप से सबोष आहार आदि ग्रहण कर लिया हो तो उसका त्याग करना ही विवेक है। वस्तुतः सदोष क्रियाओं का त्याग ही विवेक है। मुख्य रूप से भोजन, वस्त्र, मुनि जीवन के अन्य उपकरण एवं स्थानादि प्राप्त करने में जो दोष लगते हैं उनकी शुद्धि विवेक प्रायश्चित्त द्वारा मानी गयी है।

व्युत्सर्ग—व्युत्सर्ग का तात्पर्य परित्याग या विसर्जन है। सामान्यतया इस प्रायश्चित्त के अन्तर्गत किसी भी सदोष आचरण के लिए शारीरिक व्यापारों का विरोध करके मन की एकाग्रता-पूर्वक देह के प्रति रहे हुए ममत्व का विसर्जन किया जाता है। जीतकल्प के अनुसार गमनागमन, विहार, श्रुत अध्ययन, सदोष स्नान, नाव आदि के द्वारा नदी को पार करना तथा भक्त-पान, शय्या-आसन, मलमूत्र विसर्जन, काल व्यतिक्रम, अर्हत एवं मुनि का अवितनय आदि दोषों के लिए व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जीतकल्प में इस तथ्य का भी उल्लेख किया गया है कि किस प्रकार के दोष के लिए कितने समय या एकादश-वास का कायोत्सर्ग किया जाना चाहिए। प्रायश्चित्त के प्रसंग में व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग परस्परालोच्य रूप में ही प्रस्तुत हुए हैं।

तप प्रायश्चित्त

सामान्य दोषों के अतिरिक्त विशिष्ट दोषों के लिए तप प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। किस प्रकार के दोष का सेवन करने पर किस प्रकार के तप का प्रायश्चित्त करना होता है उसका विस्तारपूर्वक विवेचन निम्नीथ, बृहत्कल्प और जीतकल्प में तथा उनके भाष्यों में मिलता है। निम्नीथ सूत्र में तप प्रायश्चित्त के योग्य अपराधों की विस्तृत सूची उपलब्ध है। उसमें तप प्रायश्चित्त के विविध प्रकारों की चर्चा करते हुए मासलघु, मासगुरु, चातुर्मासलघु, चातुर्मासगुरु से लेकर षट्मास लघु और षट्मासगुरु प्रायश्चित्तों का उल्लेख मिलता है। जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है मासगुरु या मासलघु आदि का क्या तात्पर्य है, यह इन ग्रन्थों के मूल में कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है किन्तु इन पर लिखे गये भाष्य-वृत्ति आदि में इनके अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। मात्र यही नहीं लघु की लघु, लघुतर और लघुतम तथा गुरु की गुरु, गुरुतर और गुरुतम ऐसी तीन-तीन कोटियाँ निर्धारित की गई हैं।

कहीं-कहीं गुरुक, लघुक और लघुष्वक ऐसे तीन भेद भी किये गये हैं और फिर इनमें से प्रत्येक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन-तीन भेद किये गये हैं। व्यवहारसूत्र की भूमिका में अनुयोगकर्त्ता भुवि श्री फन्हैयालालजी 'कमल' ने उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य प्रत्येक के भी तीन-तीन विभाग किये हैं। यथा—उत्कृष्ट के उत्कृष्ट, उत्कृष्टमध्यम और उत्कृष्टजघन्य तीन विभाग हैं। ऐसे ही मध्यम और जघन्य के भी तीन-तीन विभाग किये गये हैं। इस प्रकार तप प्रायश्चित्तों के ३ × ३ × ३ = २७ भेद हो जाते हैं। उन्होंने विशेष रूप से जानने के लिए व्यवहार भाष्य का संकेत किया है किन्तु व्यवहार भाष्य मुझे उपलब्ध न होने के कारण मैं इस चर्चा के प्रसंग में उनके व्यवहारसूत्र के सम्पादकीय का ही उपयोग कर रहा हूँ। उन्होंने इन सम्पूर्ण २७ भेदों और उनसे सम्बन्धित तपों का भी उल्लेख नहीं

किया है अतः इस सम्बन्ध में मुझे भी मौन रहना पड़ रहा है। इन प्रायश्चित्तों से सम्बन्धित मास, दिवस एवं तपों की संख्या का उल्लेख हमें बृहत्कल्प भाष्य गाथा ६०४१-६०४४ में मिलता है। उसी आधार पर निम्न विवरण प्रस्तुत है—

प्रायश्चित्त का नाम तथा का स्वरूप एवं काल

यथागुरु—छह मास तक निरन्तर पाँच पाँच उपवास

गुरुतर—चार मास तक निरन्तर चार-चार उपवास

गुरु—एक मास तक निरन्तर तीन-तीन उपवास (तेले)

लघु—१० बेले १० दिन पारणे (एक मास तक निरन्तर दो-दो उपवास)

लघुतर—२५ दिन तक निरन्तर एक दिन उपवास और एक दिन भोजन।

यथालघु—२० दिन निरन्तर आयम्बिल (रुखा-सूखा भोजन)

लघुष्वक—१५ दिन तक निरन्तर एकासन (एक समय भोजन)

लघुष्वकतर—१० दिन तक निरन्तर दो पोरसी अर्थात् १२ बजे के बाद भोजन ग्रहण।

यथालघुष्वक—पाँच दिन निरन्तर निर्विकृति (घी, दूध आदि रहित भोजन)

सधुमासिक के योग्य अपराध

दारुदण्ड का पादशौचन बनाना, पानी निकलने के लिए नाली बनाना, दानादि लेने के पूर्व अथवा पश्चात् दाता की प्रशंसा करना, निष्कारण परिचित घरों में दुवारा प्रवेश करना, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ की संगति करना, शय्यातर अथवा आवास देने वाले मकान मालिक के यहाँ का आहार-पानी ग्रहण करना आदि क्रियाएँ लघुमासिक प्रायश्चित्त के कारण हैं।

गुरुमासिक योग्य अपराध—अंगादान का मर्दन करना, अंगादान के ऊपर की त्वचा दूर करना, अंगादान को नली में डालना, पुष्पादि सूँघना, पात्र आदि दूसरों से साफ करवाना, सदोष आहार का उपभोग करना आदि क्रियाएँ गुरुमासिक प्रायश्चित्त के कारण हैं।

सधु चातुर्मासिक के योग्य अपराध—प्रत्याख्यान का बार-बार भंग करना, गृहस्थ के वस्त्र, शय्या आदि का उपयोग करना, प्रथम प्रहर में ग्रहण किया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक रखना, अर्धयोजन अर्थात् दो कोस से आगे जाकर आहार लाना, विरेचन लेना अथवा अकारण औषधि का सेवन करना, वाटिका आदि सार्वजनिक स्थानों में मल-मूत्र डालकर गन्दगी करना, गृहस्थ आदि को आहार-पानी देना, समान आचार वाले निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को स्थान आदि की सुविधा न देना, गीत गाना, वाद्य यन्त्र बजाना, नृत्य करना, अस्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करना अथवा स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय न करना, अयोग्य

को शास्त्र पढ़ाना, योग्य को शास्त्र न पढ़ना, मिथ्यात्व भावित अत्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को शास्त्र पढ़ाना अथवा उससे पढ़ना आदि क्रियाएँ लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त की कारण हैं।

गुरुचातुर्मासिक के पाँच अपराध—गुरुसंघ की हानि, या अनाचारों का सेवन करना, राजपिंड ग्रहण करना, आधाकमी आहार ग्रहण करना, रात्रि भोजन करना, रात्रि में आहारादि रखना, धर्म की निन्दा और अधर्म की प्रशंसा करना, अनन्तकाय युक्त आहार खाना, आचार्य की अवज्ञा करना, लाभालाभ का निमित्त बताना, किसी भ्रमण-श्रमणी को बड़काना, किसी दीक्षार्थी को भड़काना, अयोग्य को दीक्षा देना आदि क्रियाएँ गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

तप और परिहार का सम्बन्ध—जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है, तत्त्वार्थ और यापनीय परम्परा के ग्रन्थ मूलाचार में परिहार को स्वतन्त्र प्रायश्चित्त माना गया है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा के आगमिक ग्रन्थों में और ध्वला में इसे स्वतन्त्र प्रायश्चित्त न मानकर इसका सम्बन्ध तप के साथ जोड़ा गया है। परिहार शब्द का अर्थ बहिष्कृत करना अथवा त्याग करना होता है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि गृहीत अपराधों को करने पर भिक्षु या भिक्षुणी को न केवल तप रूप प्रायश्चित्त दिया जाता था अपितु उसे यह कहा जाता था कि वे भिक्षु संघ या भिक्षुणी संघ से पृथक् होकर निर्धारित तप पूर्ण करें। निर्धारित तप को पूर्ण करने पर उसे पुनः संघ में सम्मिलित कर लिया जाता था। इस प्रकार परिहार का तात्पर्य था कि प्रायश्चित्त रूप तप की निर्धारित अवधि के लिए संघ से भिक्षु का पृथक्करण। परिहार तप की अवधि में वह भिक्षु भिक्षुसंघ के साथ रहते हुए भी अपना आहार-पानी अलग करता था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि परिहार प्रायश्चित्त में तथा अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त में मूलभूत अन्तर था। अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त में जहाँ उसे गृहस्थ वेष धारण करवाकर के ही उपस्थापन किया जाता था, वहाँ परिहार में ऐसा कोई विधान न था। यह केवल प्रायश्चित्त की तपावधि के लिए मर्यादित पृथक्करण था। सम्भवतः प्राचीनकाल में तप नामक प्रायश्चित्त दो प्रकार से दिया जाता रहा होगा। परिहारपूर्वक और परिहाररहित। इसी आधार पर आगे चलकर जब अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्तों का प्रचलन समाप्त कर दिया गया तब प्रायश्चित्तों की इस संख्या को पूर्ण करने के लिए यापनीय परम्परा में तप और परिहार की गणना अलग-अलग की जाने लगी होगी। परिहार नामक प्रायश्चित्त की भी अधिकतम अवधि छः मास मानी गई है क्योंकि तप प्रायश्चित्त की अधिकतम अवधि छः मास ही है। परिहार का छेद प्रायश्चित्त से अन्तर यह है कि जहाँ छेद प्राय-

श्चित्त दिये जाने पर भिक्षुणी संघ में वरीयता बदल जाती थी वहाँ परिहार प्रायश्चित्त से उसकी वरीयता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। मूलाचार में परिहार को जो छेद और मूल के बाद स्थान दिया गया है, वह सूचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि कठोरता की दृष्टि से छेद और मूल की अपेक्षा परिहार प्रायश्चित्त कम कठोर था। वसुनन्दी की मूलाचार की टीका में परिहार की गण से पृथक् रहकर तप-अनुष्ठान करना ऐसी जो व्याख्या की गई है वह समुचित एवं श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप ही है। फिर भी यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा में मूलभूत अन्तर इतना तो अवश्य है कि श्वेताम्बर परम्परा परिहार को तप से पृथक् प्रायश्चित्त के रूप में स्वीकार नहीं करती है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दिगम्बर परम्परा यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम की ध्वला टीका परिहार को पृथक् प्रायश्चित्त नहीं मानती है। उसमें श्वेताम्बर परम्परा सम्मत दस प्रायश्चित्तों का उल्लेख हुआ है जिसमें परिहार का उल्लेख नहीं है।

छेद प्रायश्चित्त जो अपराधी पारौरिक दृष्टि से कठोर तप-साधना करने में असमर्थ हो अथवा समर्थ होते हुए भी तप के गर्व के उन्मत्त है और तप प्रायश्चित्त से उसके व्यवहार में सुधार सम्भव नहीं होता है और तप प्रायश्चित्त करके पुनः पुनः अपराध करता है, उसके लिए छेद प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। छेद प्रायश्चित्त का तात्पर्य है भिक्षु या भिक्षुणी के दीक्षा पर्याय को कम कर देना, जिसका परिणाम यह होता है कि अपराधी का श्रमण संघ में वरीयता की दृष्टि से जो स्थान है, वह अपेक्षाकृत निम्न हो जाता है, अर्थात् जो दीक्षा पर्याय में उससे लघु है वे उससे ऊपर हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में उसकी वरिष्ठता (सीनियरिटी) कम हो जाती है। और उसे इस आधार पर जो भिक्षु उससे कभी कनिष्ठ रहे हैं उनको उसे बन्दन आदि करना होता है। किस अपराध में कितने दिन का छेद प्रायश्चित्त आता है इसका स्पष्ट उल्लेख मुझे देखने को नहीं मिला। सम्भवतः यह परिहारपूर्वक तप प्रायश्चित्त का एक विकल्प है। अर्थात् जिस अपराध के लिए जितने मास या दिन के लिए तप निर्धारित हो, उस अपराध के करने पर कभी उतने दिन का दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त दिया जाता है। जैसे जो अपराध षण्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य होते हैं, उनके करने पर कभी उसे छह मास का छेद प्रायश्चित्त भी दिया जाता है। दूसरे शब्दों में उसकी वरीयता छह मास कम कर दी जाती है। अधिकतम तपावधि ऋषभदेव के समय में एक वर्ष, अन्य बार्षिक तीर्थंकरों के समय में आठ मास और महावीर के समय में छह मास मानी गई है अतः अधिकतम एक साथ छह मास का ही छेद प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। सामान्यतया पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और संसक्त भिक्षुओं को छेद प्रायश्चित्त दिये

जाने का विधान है।

मूल प्रायश्चित्त—मूल प्रायश्चित्त का अर्थ होता था, पूर्व की दीक्षा पर्याय को समाप्त कर नवीन दीक्षा प्रदान करना। इसके परिणामस्वरूप ऐसा भिक्षु उस भिक्षुसंघ में जिस दिन उसे यह प्रायश्चित्त दिया जाता था वह सबसे कनिष्ठ बन जाता था। मूल प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्तों से इस अर्थ में भिन्न था कि इसमें अपराधी भिक्षु को गृहस्थवेष धारण करना अनिवार्य न था। सामान्यतया पंचेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा एवं मैथुन सम्बन्धी अपराधों को मूल प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है। इसी प्रकार जो भिक्षु मृषावाद, अदत्तादान और परिग्रह सम्बन्धी दोषों का पुनः-पुनः सेवन करता है वह भी मूल प्रायश्चित्त का पात्र माना गया है। जीतकल्प भाष्य के अनुसार निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की विराधना होने पर मूल प्रायश्चित्त दिया जा सकता है, परन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञान और दर्शन की विराधना होने पर मूल प्रायश्चित्त दिया भी जा सकता है और नहीं भी दिया जा सकता है परन्तु चारित्र्य की विराधना होने पर तो मूल प्रायश्चित्त दिया ही जाता है। जो तप के गर्व से उन्मत्त हो अथवा जिस पर सामान्य प्रायश्चित्त या दण्ड का कोई प्रभाव ही न पड़ता हो, उनके लिए मूल प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

पारांचिक प्रायश्चित्त—वे अपराध जो अत्यन्त गह्रित हैं और जिनके सेवन से न केवल व्यक्ति अपितु सम्पूर्ण जैन संघ की व्यवस्था धूमिल होती है, वे पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य होते हैं। पारांचिक प्रायश्चित्त का अर्थ भी भिक्षु संघ से बहिष्कार ही है। जैसे जैन-आचार्यों ने यह माना है कि पारांचिक अपराध करने वाला भिक्षु यदि निर्धारित समय तक निर्धारित तप का अनुष्ठान पूर्ण कर लेता है तो उसे एक बार गृहस्थवेष धारण करवाकर पुनः संघ में प्रविष्ट किया जा सकता है। बौद्ध परम्परा में भी पारांचिक अपराधों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ऐसा अपराध करने वाला भिक्षु सदैव के लिए संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। जीतकल्प के अनुसार अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त भद्रबाहु के काल से बन्द कर दिया गया है। इसका प्रमुख कारण शारीरिक क्षमता की कमी हो जाना है। स्थानांग सूत्र में निम्न पांच अपराधों को पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य माना गया है।

- (१) जो कुल में परस्पर कलह करता हो।
- (२) जो गण में परस्पर कलह करता हो।
- (३) जो हिंसा प्रेमी हो अर्थात् कुल या गण के साधुओं का घात करना चाहता हो।
- (४) जो छिद्रप्रेमी हो अर्थात् जो छिद्रान्वेषण करता हो।
- (५) जो प्रश्न मांश्र का बार-बार प्रयोग करता हो।

स्थानांग सूत्र में ही अन्यत्र अन्योन्य मैथुनसेवी भिक्षुओं को पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य बताया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि जहाँ हिंसा करने वाले को, स्त्री से मैथुन सेवन करने वाले को मूल प्रायश्चित्त के योग्य बताया, वहाँ हिंसा की योजना बनाने वाले एवं परस्पर मैथुन सेवन करने वालों को पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य बताया। इसका कारण यह है कि जहाँ हिंसा एवं मैथुन सेवन करने वाले का अपराध व्यक्त होता है और उसका परिशोधन सम्भव होता है किन्तु इन दूसरे प्रकार के व्यक्तियों का अपराध बहुत समय तक बना रह सकता है और संघ के समस्त परिवेश को दूषित बना देता है। वस्तुतः जब अपराधी के सुधार की सभी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं तो उसे पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है। जीतकल्प के अनुसार तीर्थंकर के प्रवचन अर्थात् श्रुत, आचार्य और गणधर की आशातना करने वाले को भी पारांचिक प्रायश्चित्त का दोषी माना गया है। दूसरे शब्दों में जो जिन-प्रवचन का अवर्णवाद करता हो वह संघ में रहने के योग्य नहीं माना जाता। जीतकल्पभाष्य के अनुसार कथायदुष्ट, विषयदुष्ट, राजा के वध की इच्छा करने वाला, राजा की अग्रमहिषी से संभोग करने वाला भी पारांचिक प्रायश्चित्त का अपराधी माना गया है। जैसे परवर्ती आचार्यों के अनुसार पारांचिक अपराध का दोषी भी विशिष्ट तप-साधना के पश्चात् संघ में प्रवेश का अधिकारी मान लिया गया है। पारांचिक प्रायश्चित्त का कम से कम समय छह मास, मध्यम समय १२ मास और अधिकतम समय १२ वर्ष माना गया है। कहा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर को आगमों को संस्कृत भाषा में रूपान्तरित करने के प्रयत्न पर १२ वर्ष का पारांचिक प्रायश्चित्त दिया गया था। विभिन्न पारांचिक प्रायश्चित्त के अपराधों और उनके प्रायश्चित्तों का विवरण हमें जीतकल्प भाष्य की गाथा २५४० से २५८६ तक मिलता है। विशिष्ट विवरण के इच्छुक विद्वज्जनों को वहाँ उसे देख लेना चाहिए।

अनवस्थाप्य—अनवस्थाप्य का शाब्दिक अर्थ व्यक्ति को पद से च्युत कर देना है या अलग कर देना है। इस शब्द का दूसरा अर्थ है—जो संघ में स्थापना अर्थात् रखने योग्य नहीं है। वस्तुतः जो अपराधी ऐसे अपराध करता है जिसके कारण उसे संघ से बहिष्कृत कर देना आवश्यक होता है वह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है। यद्यपि परिहार में भी भिक्षु को संघ से पृथक् किया जाता है किन्तु वह एक सीमित रूप में होता है और उसका वेष परिवर्तन आवश्यक नहीं माना जाता। जबकि अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य भिक्षु को संघ से निश्चित अवधि के लिए बहिष्कृत कर दिया जाता है और उसे तब तक पुनः भिक्षु संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता है जब तक कि वह प्राय-

शिक्षित के रूप में निर्दिष्ट तप-साधना को पूर्ण नहीं कर लेता है। और संघ द्वारा तथ्य से आश्वस्त नहीं हो जाता है कि वह पुनः अपराध नहीं करेगा। जैन परम्परा में बार-बार अपराध करने वाले आपराधिक प्रवृत्ति के लोगों के लिए यह दण्ड प्रस्तावित किया गया है। स्थानांग सूत्र के अनुसार साधर्मियों की चोरी करने वाला, अन्यधर्मियों की चोरी करने वाला तथा डण्डे, लाठी आदि से दूसरे भिक्षुओं पर प्रहार करने वाला भिक्षु अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है।

प्रायश्चित्त देने का अधिकार - सामान्य प्रायश्चित्त देने का अधिकार आचार्य या गणि का माना गया है। सामान्य व्यवस्था के अनुसार अपराधी को अपने अपराध के लिए आचार्य के समक्ष अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाहिए और आचार्य को भी परिस्थिति और अपराध की गुरुता का विचार कर उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। इस प्रकार दण्ड या प्रायश्चित्त देने का सम्पूर्ण अधिकार आचार्य, गणि या प्रवर्तक को होता है। आचार्य या गणि की अनुपस्थिति में उपाध्याय, उपाध्याय की अनुपस्थिति में प्रवर्तक अथवा वह वरिष्ठ मुनि जो छेद सूत्रों का ज्ञाता हो, प्रायश्चित्त दे सकता है। स्व-गण के आचार्य आदि के अभाव में अन्य गण के स्वर्णिगी आचार्य आदि से भी प्रायश्चित्त लिया जा सकता है। किन्तु अन्य गण के आचार्य आदि तभी प्रायश्चित्त दे सकते हैं जब उनसे इस सम्बन्ध में निवेदन किया जाये। जीत-कल्प के अनुसार स्वर्णिगी अन्य गण के आचार्य या मुनि की अनुपस्थिति में छेदसूत्र का अध्येता गृहस्थ जिसने दीक्षा पर्याय छोड़ दिया हो वह भी प्रायश्चित्त दे सकता है। इन सब के अभाव में साधक स्वयं भी पापशोधन के लिए स्वविवेक से प्रायश्चित्त का निश्चय कर सकता है।

क्या प्रायश्चित्त सार्वजनिक रूप में दिया जाये ?

इस प्रश्न के उत्तर में जैन आचार्यों का दृष्टिकोण अन्य परम्पराओं से भिन्न है। वे प्रायश्चित्त या दण्ड को आत्मशुद्धि का साधन तो मानते हैं लेकिन प्रतिरोधात्मक सिद्धांत के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में दण्ड केवल इसलिए नहीं दिया जाता है कि उसे देखकर अन्य लोग अपराध करने से भयभीत हों, अतः जैन परम्परा सामूहिक रूप में, खुले रूप में दण्ड की विरोधी है, इसके विपरीत बौद्ध परम्परा में दण्ड या प्रायश्चित्त को संघ के सम्मुख सार्वजनिक रूप से देने की परम्परा है। बौद्ध परम्परा में प्रवारणा के समय साधक भिक्षु को संघ के सम्मुख अपने अपराध को प्रकट कर संघ प्रदत्त प्रायश्चित्त या दण्ड को स्वीकार करना होता है। वस्तुतः बुद्ध के निर्वाण के बाद किसी संघ प्रमुख की नियुक्ति को आवश्यक नहीं माना गया, अतः प्रायश्चित्त या दण्ड देने का दायित्व संघपद पर आ पड़ा। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सार्वजनिक रूप से दण्डित करने की यह प्रक्रिया उचित नहीं

है, क्योंकि इससे समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा गिरती है, तथा कभी-कभी सार्वजनिक रूप से दण्डित किये जाने पर व्यक्ति विद्रोही बन जाता है।

अपराध की समानता पर दण्ड की समानता का प्रश्न

प्रायश्चित्तों की चर्चा के प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि क्या जैन संघ में समान अपराधों के समान दण्ड की व्यवस्था है या एक ही समान अपराध के लिए दो व्यक्तियों को अलग-अलग दण्ड दिया जा सकता है। जैन विचारकों के अनुसार एक ही प्रकार के अपराध के लिए सभी प्रकार के व्यक्तियों को एक ही समान दण्ड नहीं दिया जा सकता। प्रायश्चित्त के कठोर और मृदु होने के लिए व्यक्ति की सामाजिक स्थिति एवं वह विशेष परिस्थिति भी विचारणीय है जिसमें कि वह अपराध किया गया है। उदाहरण के लिए एक ही समान प्रकार के अपराध के लिए जहाँ सामान्य भिक्षु या भिक्षुणी को अल्प दण्ड की व्यवस्था है वहीं श्रमण संघ के पदाधिकारियों को अर्थात् प्रवर्तनी, प्रवर्तक, गणि, आचार्य आदि को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था है। पुनः जैन आचार्य यह भी मानते हैं कि यदि कोई व्यक्ति स्वतः प्रेरित होकर कोई अपराध करता है और कोई व्यक्ति परिस्थितियों से बाध्य होकर अपराध करता है तो दोनों के लिए अलग-अलग प्रकार के प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। यदि हम मैथुन सम्बन्धी अपराध को लें तो जहाँ बलात्कार की स्थिति में भिक्षुणी के लिए किसी दण्ड की व्यवस्था नहीं है किन्तु उस स्थिति में भी यदि वह सम्भोग का आस्वादन लेती है तो उसके लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था है अतः एक ही प्रकार के अपराध हेतु दो भिन्न व्यक्तियों व परिस्थितियों में अलग-अलग प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। यही नहीं जैन आचार्यों ने यह भी विचार किया है कि अपराध किसके प्रति किया गया है। एक सामान्य साधु के प्रति किए गये अपराध की अपेक्षा आचार्य के प्रति किया गया अपराध अधिक दण्डनीय है। जहाँ सामान्य व्यक्ति के लिए किये गये अपराध को मृदु या अल्प दण्ड माना जाता है वहीं श्रमण संघ के किसी पदाधिकारी के प्रति किये गये अपराध को कठोर दण्ड के योग्य माना जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने प्रायश्चित्त विधान या दण्ड प्रक्रिया में व्यक्ति या परिस्थिति के महत्व को ओझल नहीं किया है और माना है कि व्यक्ति और परिस्थिति के आधार पर सामान्य और विशेष व्यक्तियों को अलग-अलग प्रायश्चित्त दिया जा सकता है जबकि सामान्यतया बौद्ध परम्परा में इस प्रकार के विचार का अभाव देखते हैं। हिन्दू परम्परा यद्यपि प्रायश्चित्त के सन्दर्भ में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन करती है किन्तु उसका दृष्टिकोण जैन परम्परा से बिल्कुल विपरीत दिखाई देता है। जहाँ जैन परम्परा उसी अपराध के लिए प्रतिष्ठित

व्यक्तियों एवं पदाधिकारियों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था करती है वहीं हिन्दू परम्परा आचार्यों, ब्राह्मणों आदि के लिए मृदु दण्ड व्यवस्था करती है। उसमें एक सामान्य अपराध करने पर भी एक शूद्र को कठोर दण्ड दिया जाता है वहीं एक ब्राह्मण को अत्यन्त मृदु दण्ड दिया जाता है। दोनों परम्पराओं का यह दृष्टिभेद विशेष रूप से द्रष्टव्य है। बृहत्कलत्रभाष्य की टीका में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि जो पद जितना उत्तर-दायित्वपूर्ण होता है उस पद के धारक व्यक्ति को उतना ही कठोर दण्ड दिया जाता था। उदाहरण के रूप में भिक्षुणियों का नदी-तालाब के किनारे ठहरना, वहाँ स्वाध्याय आदि करना निषिद्ध है। उस नियम का उल्लंघन करने पर जहाँ स्फविर को मात्र पटलघु, भिक्षुणी को षट्गुरु प्रायश्चित्त दिया जाता, वहाँ गणिनी को छेद और प्रवर्तिनी को मूल प्रायश्चित्त देने का विधान है। सामान्य साधु की अपेक्षा आचार्य के द्वारा वही अपराध किया जाता है तो आचार्य को कठोर दण्ड दिया जाता है।

बार-बार अपराध या दोष सेवन करने पर अधिक दण्ड

जैन परम्परा में प्रथम बार अपराध करने की अपेक्षा दूसरी बार या तीसरी बार उसी अपराध को करने पर कठोर प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। यदि कोई भिक्षु या भिक्षुणी एक नियम का बार-बार अतिक्रमण करता है तो उस नियम के अतिक्रमण की संख्या में जैसे-जैसे वृद्धि हो जाती है प्रायश्चित्त की कठोरता भी बढ़ती जाती है। जिससे उसी अपराध का प्रायश्चित्त मास-लघु से बढ़ता हुआ छेद एवं नई दीक्षा तक बढ़ जाता है।

प्रायश्चित्त देते समय व्यक्ति की परिस्थिति का विचार

जैन दण्ड या प्रायश्चित्त व्यवस्था में इस बात पर भी पर्याप्त रूप से विचार किया गया है कि कठोर अपराध को करने वाला व्यक्ति भी यदि रण्य हो, अतिवृद्ध हो, विक्षिप्त चित्त हो, उन्माद या उपसर्ग से पीड़ित हो, उसे भोजन-पानी आदि सुविधापूर्वक न मिलता हो अथवा मुनि जीवन के आवश्यक सामग्री से रहित हो तो ऐसे भिक्षुओं को तत्काल संघ से बहिष्कृत करना अथवा बहिष्कृत करके शुद्धि के लिए कठोर तप आदि की व्यवस्था देना समुचित नहीं है।

आधुनिक दण्ड सिद्धांत और जैन प्रायश्चित्त व्यवस्था

जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया है कि दण्ड और प्रायश्चित्त की अवधारणाओं में एक मौलिक अन्तर है। जहाँ प्रायश्चित्त अन्तःप्रेरणा से स्वतः लिया जाता है, वहाँ दण्ड व्यक्ति को बलात् दिया जाता है। अतः आत्मशुद्धि तो प्रायश्चित्त से ही सम्भव है, दण्ड से नहीं। दण्ड में तो प्रतिकोध, प्रतिकार या आपराधिक प्रवृत्ति के निरोध का दृष्टिकोण ही प्रमुख होता है।

पाश्चात्य विचारकों ने दण्ड के तीन सिद्धांत प्रतिपादित

किये हैं—

(१) प्रतिकारात्मक सिद्धांत, (२) निरोधात्मक सिद्धांत, (३) सुधारात्मक सिद्धांत। प्रथम प्रतिकारात्मक सिद्धांत यह मानकर चलता है कि दण्ड के द्वारा अपराध की प्रतिशर्त की जाती है अर्थात् अपराधी ने दूसरे की जो क्षति की है उसकी परिपूर्ति करना या उसका बदला लेना ही दण्ड का मुख्य उद्देश्य है। “आँख के बदले आँख” और “दाँत के बदले दाँत”, ही इस दण्ड सिद्धांत की मूलभूत अवधारणा है। इस प्रकार की दण्ड व्यवस्था से न तो समाज के अन्य लोग आपराधिक प्रवृत्तियों से भयभीत होते हैं और न उस व्यक्ति का जिसने अपराध किया है, कोई सुधार ही होता है।

अपराध का दूसरा निरोधात्मक सिद्धांत मूलतः यह मानकर चलता है कि अपराधी को दण्ड इसलिए नहीं दिया जाता है कि उसने अपराध किया है अपितु इसलिए दिया जाता है कि दूसरे लोग अपराध करने का साहस न करें। समाज में आपराधिक प्रवृत्ति को रोकना ही दण्ड का उद्देश्य है, इसमें छोटे अपराध के लिए भी कठोर दण्ड की व्यवस्था होती है। किन्तु इस सिद्धांत में अपराध करने वाले व्यक्ति को समाज के दूसरे व्यक्तियों को आपराधिक प्रवृत्ति से भयभीत करने के लिए साधन बनाया जाता है। अतः दण्ड का यह सिद्धांत न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। इसमें दण्ड का प्रयोग साध्य के रूप में नहीं अपितु साधन के रूप में किया जाता है।

दण्ड का तीसरा सिद्धांत सुधारात्मक सिद्धांत है, इस सिद्धांत के अनुसार अपराधी भी एक प्रकार का रोगी है अतः उसकी चिकित्सा अर्थात् उसे सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सिद्धांत के अनुसार दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति का सुधार होना चाहिए। वस्तुतः कारागृहों को सुधारगृहों के रूप में परिवर्तित किया जाना चाहिए ताकि अपराधी के हृदय को परिवर्तित कर उसे सभ्य नागरिक बनाया जा सके।

यदि हम इन सिद्धांतों की तुलना जैन प्रायश्चित्त व्यवस्था से करते हैं तो यह कहा जा सकता है कि जैन विचारक अपनी प्रायश्चित्त या दण्ड व्यवस्था में न तो प्रतिकारात्मक सिद्धांत को और न निरोधात्मक सिद्धांत अपनाते हैं अपितु सुधारात्मक सिद्धांत से सहमत होकर यह मानते हैं कि व्यक्ति में स्वतः ही अपराधबोध की भावना उत्पन्न कर सके एवं आपराधिक प्रवृत्तियों से दूर रहने को अनुशासित किया जाये। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि जब तक व्यक्ति में स्वतः ही अपराध के प्रति आत्म-रत्न उत्पन्न नहीं होगी तब तक वह आपराधिक प्रवृत्तियों से विमुक्त नहीं होगा। यद्यपि इस आत्मरत्न या अपराधबोध का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति जीवन भर इसी भावना से पीड़ित रहे अपितु वह अपराध या दोष को दोष के रूप में देखे और यह

समझे कि अपराध एक संयोगिक घटना है और उसका परिशोधन कर आध्यात्मिक विकास के पथ पर आगे बढ़ा जा सकता है।

तप का सामान्य स्वरूप : एक मूल्यांकन—तप शब्द अनेक अर्थों में भारतीय आचार दर्शन में प्रयुक्त हुआ है और जब तक उसकी सीमाएँ निर्धारित नहीं कर ली जाती, उसका मूल्यांकन करना कठिन है। “तप” शब्द एक अर्थ में त्याग-भावना को व्यक्त करता है। त्याग चाहे वह वैयक्तिक स्वार्थ एवं हितों का हो, चाहे वैयक्तिक सुखोपलब्धियों का हो, तप कहा जा सकता है। सम्भवतः यह तप की विस्तृत परिभाषा होगी, लेकिन यह तप के निषेधात्मक पक्ष को ही प्रस्तुत करती है। यहाँ तप, संयम इन्द्रिय नियंत्रण और देह-दण्डन बन कर रह जाता है। तप मात्र त्यागना ही नहीं है, उपलब्ध करना भी है। तप का केवल विसर्जनात्मक मूल्य मानना भ्रम होगा। भारतीय आचार-दर्शनों ने अहाँ तप के विसर्जनात्मक मूल्यों की गुण-गाथा गायी है, वहीं उसके सृजनात्मक मूल्य को भी स्वीकार किया है। वैदिक परम्परा में तप को लोक-कल्याण का विधान करने वाला कहा गया है। गीता की लोक-संग्रह की और जैन परम्परा की वैयावृत्य या संघ-सेवा की अवधारणाएँ तप के विधायक अर्थात् लोक-कल्याणकारी पक्ष को ही तो अभिव्यक्त करती हैं। बौद्ध परम्परा जब ‘बहुजन हिताय बहुजन सुखाय’ का उद्घोष देती है तब वह भी तप के विधायक मूल्य का ही विधान करती है।

सृजनात्मक पक्ष में तप आत्मोपलब्धि ही है, लेकिन यहाँ स्व-आत्मन इतना व्यापक होता है कि उसमें स्व या पर का भेद ही नहीं टिक पाता है और इसीलिए एक तपस्वी का आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण परस्पर विरोधी नहीं होकर एक रूप होते हैं। एक तपस्वी के आत्मकल्याण में लोककल्याण समाविष्ट रहता है और उसका लोककल्याण आत्मकल्याण ही होता है।

जिस प्रकार व्यायाम के रूप में किया हुआ शारीरिक कष्ट स्वास्थ्य रक्षा एवं शक्ति-संचय का कारण होकर जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में भी लाभप्रद होता है, वैसे ही तपस्या के रूप में देह दुःख का अभ्यास करने वाला अपने शरीर में कष्ट-सहिष्णु शक्ति विकसित कर लेता है, जो वासनाओं के संघर्ष में ही नहीं, जीवन की सामान्य स्थितियों में भी सहायक होती है। एक उपवास का अभ्यासी व्यक्ति यदि किसी परिस्थिति में भोजन प्राप्त नहीं कर पाता, तो इतना व्याकुल नहीं होगा जितना अनभ्यस्त व्यक्ति। कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक है। आध्यात्मिक दृष्टि के बिना शारीरिक यन्त्रणा अपने आप में कोई तप नहीं है, उसमें भी यदि इस शारीरिक यन्त्रणा के पीछे लौकिक या पारलौकिक स्वार्थ हैं तो फिर उसे तपस्या कहना महान् मूर्खता होगी। जैन-दार्शनिक भाषा में तपस्या में देह-दण्डन किया नहीं जाता, हो जाता है। तपस्या

का प्रयोजन आत्म-परिशोधन है, न कि देह-दण्डन। धृति की शुद्धि के लिए धृति को तपाना होता है न कि पात्र को। उसी प्रकार आत्मशुद्धि के लिए आत्म-विकारों को तपाया जाता है न कि शरीर को। शरीर तो आत्मा का भाजन पात्र होने से तप जाता है, तपाया नहीं जाता। जिस तप में मानसिक कष्ट हो, वेदना हो, पीड़ा हो, वह तप नहीं है। पीड़ा का होना एक बात है और पीड़ा की व्याकुलता की अनुभूति करना दूसरी बात है। तप में पीड़ा हो सकती है लेकिन पीड़ा की व्याकुलता की अनुभूति नहीं। पीड़ा शरीर का धर्म है, व्याकुलता की अनुभूति आत्मा का। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें इन दोनों को अलग-अलग देखा जा सकता है। जैन बालक जब उपवास करता है, तो उसे भूख की पीड़ा अवश्य होगी, लेकिन वह पीड़ा की व्याकुलता की अनुभूति नहीं करता। वह उपवास तप के रूप में करता है और तप तो आत्मा का आनन्द है। वह जीवन के सौष्ठव को नष्ट नहीं करता, बरन जीवन के आनन्द को परिष्कृत करता है।

अब जैन-परम्परा में स्वीकृत तप के भेदों के मूल्यांकन का किञ्चित् प्रयास किया जा रहा है।

अनशन में कितनी शक्ति हो सकती है, उसे आज गाँधी-युग का हर व्यक्ति जानता है। वह तो उसके प्रत्येक प्रयोग देख चुके हैं। सर्वोदय समाज-रचना तो उपवास के मूल्य को स्वीकार करती ही है, देश में उत्पन्न अन्न-संकट की समस्या ने भी इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इन सबके साथ आज चिकित्सिक एवं वैज्ञानिक भी इसकी उपादेयता को सिद्ध कर चुके हैं। प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली का तो मूल आधार ही उपवास है।

इसी प्रकार ऊनोदरी या भूख से कम भोजन, नियमित भोजन तथा रस-परित्याग का भी स्वास्थ्य की दृष्टि से पर्याप्त मूल्य है। साथ ही यह संयम एवं इन्द्रियजय में भी सहायक है। गाँधीजी ने तो इसी से प्रभावित हो ग्यारह व्रतों में अस्वाद व्रत का विधान किया था।

यद्यपि वर्तमान युग भिक्षा-वृत्ति को उचित नहीं मानता है, तथापि समाज-व्यवस्था की दृष्टि से इसका दूसरा पहलू भी है। जैन आचार-व्यवस्था में भिक्षावृत्ति के जो नियम प्रतिपादित हैं वे अपने आप में इतने सबल हैं कि भिक्षावृत्ति के सम्भावित दोषों का निराकरण स्वतः हो जात है। भिक्षावृत्ति के लिए अहं का त्याग आवश्यक है और नैतिक दृष्टि से उसका कम मूल्य नहीं है।

इसी प्रकार आसन-साधना और एकांतवास का योग-साधना की दृष्टि से मूल्य है। आसन योग-साधना का एक अनिवार्य अंग है।

तप के आभ्यन्तर भेदों में ध्यान और कायात्सर्ग का भी साधनात्मक मूल्य है। पुनः स्वाध्याय, जैमावृत्य (सेवा) एवं विनय (अनुशासन) का तो सामाजिक एवं वैयक्तिक दोनों दृष्टियों से बड़ा महत्व है। सेवाभाव और अनुशासित जीवन ये दोनों सभ्य समाज के आवश्यक गुण हैं। ईसाई धर्म में तो इस सेवा-भाव को काफी अधिक महत्व दिया गया है। आज उसके व्यापक प्रचार का एक मात्र कारण उसकी सेवाभावना ही तो है। मनुष्य के लिए सेवाभाव एक आवश्यक तत्त्व है जो अपने प्रारम्भिक क्षेत्र में परिवार से प्रारम्भ होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तक का विशाल आदर्श प्रस्तुत करता है।

स्वाध्याय का महत्व आध्यात्मिक विकास और ज्ञानात्मक विकास दोनों दृष्टियों से है। एक ओर वह स्व का अध्ययन है तो दूसरी ओर ज्ञान का अनुशीलन। ज्ञान और विज्ञान की सारी प्रगति के मूल में तो स्वाध्याय ही है।

प्रायश्चित्त एक प्रकार से अपराधी द्वारा स्वयंचिंत दण्ड है। यदि व्यक्ति में प्रायश्चित्त की भावना जागृत हो जाती है तो उसका जीवन ही बदल जाता है। जिस समाज में ऐसे लोग हों, वह समाज तो आदर्श ही होगा।

वास्तव में तो तप के इन विभिन्न अंगों के इतने अधिक पहलू हैं कि जिनका समुचित मूल्यांकन सहज नहीं।

तप आचरण में व्यक्त होता है। वह अप्रचरण ही है। उसे शब्दों में व्यक्त करना सम्भव नहीं है। तप आत्मा की ऊष्मा है, जिसे शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता।

यह किसी एक आचार-दर्शन की बपीती नहीं, वह तो प्रत्येक जागृत आत्मा की अनुभूति है। उसकी अनुभूति से ही मन के कलुष धुलने लगते हैं, वासनाएँ शिथिल हो जाती हैं, अहं गलने लगता है। तृष्णा और कषायों की अग्नि तप की ऊष्मा के प्रकट होते ही निःशेष हो जाती है। जड़ता क्षीण हो जाती है। चेतना और आनन्द का एक नया आयाम खुल जाता है, एक नवीन अनुभूति होती है। शब्द और भाषा मौन हो जाती है, आचरण की वाणी मुखरित होने लगती है।

तप का यही जीवन्त और जागृत शाश्वत स्वरूप है जो सार्वजनीन और सार्वकालिक है। सभी साधना-पद्धतियाँ इसे मानकर चलती हैं और देश काल के अनुसार इसके किसी एक द्वार से साधकों को तप के इस भव्य महल में लाने का प्रयास करती हैं, जहाँ साधक अपने परमात्म स्वरूप का दर्शन करता है, आत्मन् ब्रह्म या ईश्वर का साक्षात्कार करता है।

तप एक ऐसा प्रशस्त योग है जो आत्मा को परमात्मा से जोड़ देता है, आत्मा का परिष्कार कर उसे परमात्म-स्वरूप बना

देता है।

वीर्याचार—पाँच आचारों के इस विवेचन में अन्तिम आचार वीर्याचार है। जैन परम्परा में वीर्याचार का अर्थ पुरुषार्थ या प्रयत्न करना है। अभिधान राजेन्द्र कोश में योग, वीर्यक्षमता, उत्साह पराक्रम और चेष्टा को एकार्थक माना गया है। यदि हम चारित्र्याचार, तपाचार और वीर्याचार में कोई विभाजन रेखा खींचना चाहें तो वह इस प्रकार होगी। जहाँ चारित्र्याचार संयम अर्थात् मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण का सूचक है वहीं तपाचार कष्ट, तितिक्षा या सहनशीलता का परिचायक है। जबकि वीर्याचार साधना के क्षेत्र में स्वशक्ति का प्रकटन करता है। चारित्र्य संवर करता है, तप सहन करता है किन्तु वीर्य प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है। चारित्र्य और तप निषेध-परक हैं जबकि वीर्य विधिपरक है। यद्यपि तप किया जाता है फिर भी उसे करने में 'सहना' ही प्रधान होता है। प्रस्तुत कृति में वीर्याचार के अन्तर्गत किन-किन तथ्यों का संकलन किया गया है यह तत्सम्बन्धी मुद्रित पृष्ठों की अनुपलब्धि के कारण नहीं कह पा रहा हूँ। किन्तु आचारांग आदि प्राचीन आगम ग्रन्थों के देखने से यह स्पष्ट होता है कि उनमें साधक को बार-बार यह निर्देश दिया गया है कि वह पराक्रम या पुरुषार्थ करे और साधना के क्षेत्र में क्षिणिल न हो। यहाँ यह विचार स्वाभाविक ही है कि यह पुरुषार्थ किस रूप में किया जाये। वीर्य शब्द, पुरुषार्थ, प्रयत्न, पराक्रम या परिश्रम का सूचक है। जैन परम्परा में भिक्षु को श्रमण कहा गया है, जो श्रम करता है वह श्रमण है किन्तु यहाँ श्रम का तात्पर्य शारीरिक श्रम नहीं है, यहाँ श्रम से तात्पर्य है अपनी वृत्तियों या वासनाओं के परिशोधन हेतु सतत प्रयत्न करना। आचारांग में साधना को युद्ध का रूपक दिया गया है और साधक को वीर कहा गया है। वस्तुतः अपनी वासनाओं और वृत्तियों पर विजय प्राप्त करना ही वीरत्व का लक्षण है और इस वीरत्व का प्रदर्शन ही वीर्याचार है। जैनाग्रमों में कहा गया है कि सहस्रों योद्धाओं पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा अपनी आत्मा पर विजय पाना ही श्रेष्ठ है। जैनाग्रमों में अनेक स्थलों पर साधक को यह निर्देश दिया गया है कि वह अपनी शक्ति को छिपाये नहीं अपितु उसे प्रकट करे। किन्तु यहाँ शक्ति के प्रकटीकरण का तात्पर्य क्या है, यह विचारणीय है। सांसारिक सुखभोग और उनकी उपलब्धि के प्रयासों में तो अपनी शक्ति का प्रकटन जैन साधु के लिए निषिद्ध ही माना गया है अतः उसका शक्ति-प्रकटन केवल साधना के क्षेत्र में ही विहित माना जा सकता है। अतः आत्मविशुद्धि के लिए प्रयत्न करना वीर्याचार है। अपनी वासनाओं को नियन्त्रित

करना, उन पर काबू रखना और उन्हें सजगतापूर्वक आत्मा से बाहर निकाल फेंकना यही वीर्याचार है।

संक्षेप में कहें तो कषायों, वासनाओं और मनोविकारों पर विजय लाभ करने के लिए प्रयत्नशील होना ही वीर्याचार है।

आत्मा की वे शक्तियाँ जो कि कर्माविरण के कारण अनभि-व्यक्त हैं उन्हें अभिव्यक्त करना ही पुरुषार्थ है और यही वीर्य है। जैन परम्परा में आत्मा को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्य से युक्त माना गया है। आत्मा के उस अनन्तवीर्य को प्रकट कर लेना ही वीर्याचार है। आत्मा की शक्ति को आवृत या गोपित करने वाले कारणों के उन्मूलन करने में ही वीर्य या पुरुषार्थ निहित है। जिस प्रकार किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में कोई भौतिक वस्तु अपने यथार्थ गुण-धर्मों को प्रकट करने में समर्थ होती है। उसी प्रकार किसी वस्तु या व्यक्ति में निहित क्षमता या शक्ति को ही वीर्य कहा जाता है और उस क्षमता का यथार्थ रूप में प्रकटन कर लेना ही वीर्य पुरुषार्थ है। उदाहरण के रूप में एक उच्च बुद्धिलब्धि वाले बालक में स्नातकोत्तर अध्ययन की सामर्थ्य होती है किन्तु जब वह अध्ययन करता हुआ क्रमशः विकास करता है तब वह योग्यता में बदल जाती है। इसी प्रकार आत्मा में निहित सामर्थ्य को योग्यता में परिणत कर देना ही वीर्याचार है। वीर्य का वर्गीकरण अनेक रूपों में उपलब्ध होता है जैसे कायवीर्य (शारी-रिक सामर्थ्य), वाग्वीर्य (वाग्मिता), आध्यात्मिक वीर्य (आत्म-शोधन की सामर्थ्य)। अन्यत्र वीर्य का वर्गीकरण आगारवीर्य और अनगारवीर्य के रूप में भी हुआ है। यहाँ आगारवीर्य का सात्पर्य गृहस्थ जीवन के व्रतों के पालन की सामर्थ्य और अनगार या मुनिजीवन के व्रतों के पालन करने की सामर्थ्य। पुनः वीर्य के बालवीर्य, पंडितवीर्य और बालपंडितवीर्य, ऐसे विभाग भी किये गये हैं। सूक्ष्मों का पुरुषार्थ या प्रयत्न बालवीर्य है जबकि जानियों का पुरुषार्थ पंडितवीर्य है। पुनः प्रभादीजनों का पुरुषार्थ बाल-वीर्य और अप्रमत्त साधकों का पुरुषार्थ पंडितवीर्य है। बालवीर्य सकर्म अर्थात् बन्धनकारक होता है जबकि पण्डितवीर्य अकर्म अर्थात् मुक्ति का साधक होता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि जो सम्पक्वदृष्टि और वीर्य सम्पन्न है उनका पुरुषार्थ शुद्ध होता है और वह कर्मफल से युक्त नहीं होता। वीर्याचार के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा वीर्यप्रवाद नामक पूर्वग्रन्थ में थी, ऐसी सूचना ज्ञात होती है। सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्याय में तथा आचारांग में यत्र-तत्र वीर्याचार की चर्चा देखी जा सकती है। अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग ६, पृ० १३६७-१४०६) में भी वीर्याचार की चर्चा उपलब्ध होती है। इसमें कहा गया है कि अपने बल और वीर्य को न छिपाते हुए यथा-शक्ति पुरुषार्थ (पराक्रम) करना वीर्याचार है। वस्तुतः ज्ञान,

दर्शन, चारित्र और तप इन चारों में अपनी सामर्थ्य को न छिपाते हुए पुरुषार्थ करना ही वीर्याचार है, इस प्रकार वीर्याचार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के क्षेत्र में किया गया पुरुषार्थ है और इस दृष्टि से वह इन चारों आचारों में अनुस्यूत है किन्तु अनुस्यूत होते हुए भी उनका प्राण है क्योंकि बिना पुरुषार्थ और प्रयत्न के साधना सफल नहीं होती है।

उत्सर्ग और अपवाद - जैन आचार्यों ने आचार सम्बन्धी जो विभिन्न विधि-निषेध प्रस्तुत किये हैं वे निरपेक्ष नहीं हैं। देश-काल और व्यक्ति के आधार पर उनमें परिवर्तन सम्भव हो सकता है। आचार के जिन नियमों का विधि-निषेध जिस सामान्य स्थिति को ध्यान में रखकर किया गया है उसमें वे आचार के विधि निषेध यथावत् रूप में पालनीय माने गये हैं, किन्तु देश-काल, परिस्थिति अथवा वैयक्तिक परिस्थितियों की भिन्नता में उनमें परिवर्तन भी स्वीकार किया गया है। व्यक्ति और देश-कालगत सामान्य परिस्थितियों में जिन नियमों का पालन किया जाता है वे उत्सर्ग मार्ग कहे जाते हैं किन्तु जब देशकालगत और वैयक्तिक विशेष परिस्थितियों में उन सामान्य विधि-निषेधों को शिथिल कर दिया जाता है तो उसे अपवाद मार्ग कहा जाता है। वस्तुतः आचार के सामान्य नियम उत्सर्ग मार्ग कहे जाते हैं और विशिष्ट नियम अपवाद मार्ग कहे जाते हैं। यद्यपि दोनों की व्यावहारिकता परिस्थिति सापेक्ष होती है। जैन आचार्यों की मान्यता रही है कि सामान्य परिस्थितियों में उत्सर्ग मार्ग का अवलम्बन किया जाना चाहिए किन्तु देशकाल, परिस्थिति अथवा व्यक्ति के स्वास्थ्य एवं क्षमता में किसी विशेष परिवर्तन के आ जाने पर अपवाद मार्ग का अवलम्बन किया जा सकता है। यहाँ इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि अपवाद मार्ग का सम्बन्ध केवल आचरण सम्बन्धी बाह्य विधि-निषेधों से होता है और आपवादिक परिस्थिति में किये गये सामान्य नियम के खण्डन से न तो उस नियम का मूल्य कम होता है और न सामान्य रूप से उसके आचरणीय होने पर कोई प्रभाव पड़ता है। जहाँ तक आचार के आन्तरिक पक्ष का प्रश्न है, जैन आचार्यों ने उसे सर्वदा ही निरपेक्ष या उत्सर्ग के रूप में स्वीकार किया है। हिंसा का विचार या हिंसा की भावना किसी भी परिस्थिति में नैतिक या आचरणीय नहीं मानी जाती, जिस सम्बन्ध में अपवाद की चर्चा की जाती है वह अहिंसा के बाह्य विधि-निषेधों से सम्बन्धित होता है। मान लीजिए कि हम किसी निरपराध प्राणी का जीवन बचाने के लिए अथवा किसी स्त्री का शील सुश्रित रखने के लिए हिंसा अथवा असत्य का सहारा लेते हैं तो इससे अहिंसा या सत्य-सम्भाषण का सामान्य नैतिक आदर्श समाप्त नहीं हो जाता। अपवाद मार्ग न तो कभी मौलिक एवं सार्वभौमिक नियम बनता

है और न अपवाद के आचरण का कारण माना जाता है, उसी प्रकार अनुज्ञा के अनुसार अर्थात् अपवाद मार्ग पर चलने पर भी आचरण को विशुद्ध ही माना जाना चाहिए। यदि ऐसा न माना जाता तब तो एकमात्र उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना अति-वार्य हो जाता, फलस्वरूप अपवाद मार्ग का अवलम्बन करने के लिए कोई भी किसी भी परिस्थिति में तैयार ही न होता। परिणाम यह होता कि साधना मार्ग में केवल जिनकल्प को ही मानकर चलना पड़ता। किन्तु जब से साधकों के संघ एवं गच्छ बनने लगे, तब से केवल औत्सर्गिक मार्ग अर्थात् जिनकल्प संभव नहीं रहा। अतएव स्थविरकल्प में यह अनेकार्य हो गया कि जितना 'प्रतिषेध' का पालन आवश्यक है, उतना ही आवश्यक 'अनुज्ञा' का आचरण भी है। वस्तु परिस्थितिविशेष में "अनुज्ञा" के अनुसार आचरण नहीं करने पर प्रायश्चित्त का भी विधान करना पड़ा है। जिस प्रकार प्रतिषेध का भंग करने पर प्रायश्चित्त है उसी प्रकार अपवाद का आचरण नहीं करने पर भी प्रायश्चित्त है। अर्थात् "प्रतिषेध" और "अनुज्ञा" उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही समबल माने गये हैं। दोनों में ही विशुद्धि है। किन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उत्सर्ग राजमार्ग है, जिसका अवलम्बन साधक के लिए सहज है, किन्तु अपवाद, यद्यपि आचरण में सरल है, तथापि सहज नहीं है।^१

वस्तुतः जीवन में नियमों उपनियमों की जो सर्व सामान्य विधि होती है वह उत्सर्ग और जो विशेष विधि है वह अपवाद विधि है। उत्सर्ग सामान्य अवस्था में आचरणीय होता है और अपवाद विशेष संकटकालीन अवस्था में। यद्यपि दोनों का उद्देश्य एक ही होता है कि साधक का संयम सुरक्षित रहे। समर्थ साधक के द्वारा संयम रक्षा के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है वह उत्सर्ग है और असमर्थ साधक के द्वारा संयम की रक्षा के लिए ही उत्सर्ग से विपरीत जो अनुष्ठान किया जाता है वह अपवाद है। अनेक परिस्थितियों में यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि व्यक्ति उत्सर्ग मार्ग के प्रतिपालन के द्वारा संयम, ज्ञानादि गुणों सुरक्षा नहीं कर पाता तब उसे अपवाद मार्ग का ही सहारा लेना होता है। यद्यपि उत्सर्ग और अपवाद परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं किन्तु लक्ष्य की दृष्टि से विचार करने में उनमें वस्तुतः विरोध नहीं होता है। दोनों ही साधना की सिद्धि के लिए होते हैं। उसकी सामान्यता एवं सार्वभौमिकता खण्डित होती है। उत्सर्गमार्ग को सार्वभौम कहने का तात्पर्य भी यह नहीं है कि अपवाद का कोई स्थान नहीं है। उसे सार्वभौम कहने का तात्पर्य इतना ही है कि सामान्य परिस्थितियों में उसका ही

आचरण किया जाना चाहिए। उत्सर्ग और अपवाद दोनों की आचरणीयता परिस्थिति सापेक्ष है निरपेक्ष नहीं। यह उस परिस्थिति पर निर्भर होता है कि व्यक्ति उसमें उत्सर्ग का अवलम्बन से या अपवाद का। कोई भी आचार, परिस्थिति निरपेक्ष नहीं हो सकता अतः आचार के नियमों के परिपालन में परिस्थिति के विचार को सम्मिलित किया गया है फलतः अपवाद मार्ग की आवश्यकता स्वीकार की गई।

जैन संघ में अपवाद मार्ग का कैसे विकास हुआ इस सम्बन्ध में पं० दलसुख भाई मालवगिया का कथन है कि आचारांग में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी संघ के कर्तव्य और अकर्तव्य के मौलिक उपदेशों का संकलन है किन्तु देश काल अथवा क्षमता आदि के परिवर्तित होने से उत्सर्ग मार्ग पर चलना कठिन हो जाता है। अस्तु ऐसी स्थिति में आचारांग की ही निशीथ नामक सूत्रा में उन आचार नियमों के विषय में जो वितथकारी है उनका प्रायश्चित्त बताया गया है। अपवादों का मूल सूत्रों में कोई विशेष निर्देश नहीं है। किन्तु नियुक्ति, भाष्य, चूणि आदि में स्थान-स्थान पर विस्तृत वर्णन है। जब एक बार यह स्वीकार कर लिया जाता है कि आचार के नियमों की व्यवस्था के सन्दर्भ में विचारणा को अवकाश है तब परिस्थिति को देखकर मूलसूत्रों के विधानों में अपवादों की सृष्टि करना गीतार्थ आचार्यों के लिए सहज हो जाता है। उत्सर्ग और अपवाद के बलाबल के सम्बन्ध में विचार करते हुए पं० जी पुन. लिखते हैं कि "संयमी पुरुष के लिए जितने भी निषिद्ध कार्य न करने योग्य कहे गये हैं, वे सभी "प्रतिषेध" के अन्तर्गत आते हैं और जब परिस्थितिविशेष में उन्हीं निषिद्ध कार्यों को करने की "अनुज्ञा" दी जाती है, तब वे ही निषिद्ध कर्म "विधि" बन जाते हैं। परिस्थिति विशेष में अकर्तव्य भी कर्तव्य बन जाता है, किन्तु प्रतिषेध की विधि में परिणत कर देने वाली परिस्थिति का औचित्य और परीक्षण करना, साधारण साधक के लिये सम्भव नहीं है। अतएव ये "अपवाद" "अनुज्ञा" या "विधि" सब किसी को नहीं बताये जाते। यही कारण है कि "अपवाद" का दूसरा नाम "रहस्य" (नि० चू० गा० ४६५) पड़ा है। इससे यह भी फलित हो जाता है कि जिस प्रकार "प्रतिषेध" का पालन करने से आचरण विशुद्ध माना जाता है, उसी प्रकार अनुज्ञा के अनुसार अर्थात् अपवाद मार्ग पर चलने पर भी आचरण को विशुद्ध ही माना जाना चाहिए। (देखें निशीथ एक अध्ययन पृ० ५४) प्रशमरति में उमास्वति^२ स्पष्ट रूप से कहते हैं कि परिस्थितिविशेष में जो भोजन, शय्या, वस्त्र, पात्र एवं औषधि आदि ग्राह्य होती है

१ पं० दलसुख मालवगिया, निशीथ : एक अध्ययन, पृ. ५४।

२ प्रशमरति—उमास्वति, श्लोक १४५।

वही परिस्थिति विशेष में अग्राह्य हो जाती है और जो अग्राह्य होती है वही ग्राह्य हो जाती है। निशीथ भाष्य^१ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्थिति में जो द्रव्यादि निषिद्ध माने जाते हैं वे असमर्थ साधक के लिए आपवादिक स्थिति में ग्राह्य हो जाते हैं। सत्य यह है कि देश, काल, रोग आदि के कारण कभी-कभी जो अकार्य होता है वह कार्य बन जाता है और जो कार्य होता है वह अकार्य बन जाता है। उदाहरण के रूप में सामान्यतया ज्वर की स्थिति में भोजन निषिद्ध माना जाता है किन्तु वात, श्वेत, क्रोध, शोक और कामादि से उत्पन्न ज्वर में लंघन हानिकारक माना जाता है।

उत्सर्ग और अपवाद की इस चर्चा में स्पष्ट रूप से एक बात सबसे महत्वपूर्ण है वह यह कि दोनों ही परिस्थिति सापेक्ष हैं और इसलिए दोनों ही मार्ग हैं, अमार्ग कोई भी नहीं है। यद्यपि यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यह कैसे निर्णय किया जाये कि किस व्यक्ति को उत्सर्ग मार्ग पर चलना चाहिए और किसको अपवाद मार्ग पर। इस सम्बन्ध में जैनाचार्यों की दृष्टि यह रही है कि साधक को सामान्य स्थिति में उत्सर्ग का अवलम्बन करना चाहिए किन्तु यदि वह किसी विशिष्ट परिस्थिति में पँस गया है जहाँ उसके उत्सर्ग के आलम्बन से स्वयं उसका अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है तो उसे अपवाद मार्ग का सेवन करना चाहिए फिर भी यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि अपवाद का आलम्बन किसी परिस्थितिविशेष में ही किया जाता है और उस परिस्थितिविशेष की समाप्ति पर साधक को पुनः उत्सर्ग मार्ग का निर्धारण कर लेना चाहिए। परिस्थितिविशेष उत्पन्न होने पर जो अपवाद मार्ग का अनुसरण नहीं करता उसे जैन आचार्यों ने प्रायश्चित्त का भागी बताया किन्तु जिस परिस्थिति में अपवाद का अवलम्बन लिया गया था उसके समाप्त हो जाने पर भी यदि कोई साधक उस अपवाद मार्ग का परित्याग नहीं करता है तो वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है। कब उत्सर्ग का आचरण किया जाये और कब अपवाद का इसका निर्णय देश कालगत परिस्थितियों अथवा व्यक्ति के शरीर-सामर्थ्य पर निर्भर होता है। एक बीमार साधक के लिए अकल्प्य आहार एषणीय भाखा जा सकता है किन्तु उसके स्वस्थ हो जाने पर वही आहार उसके लिए अनैषणीय हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि साधक कब अपवाद मार्ग का अवलम्बन करे? और इसका निश्चय कौन करे? जैनाचार्यों ने इस सन्दर्भ में गीतार्थ की आवश्यकता अनुभव की और कहा कि गीतार्थ को ही यह अधिकार होता है कि वह साधक को उत्सर्ग या अपवाद किसका

अवलम्बन लेना है, निर्णय दे। जैन परम्परा में गीतार्थ उस आचार्य को कहा जाता है जो देश, काल और परिस्थिति को सम्यक् रूप से जानता हो और जिसने निशीथ, व्यवहार, कल्प आदि छेद सूत्रों का सम्यक् अध्ययन किया हो। साधक को उत्सर्ग और अपवाद में किसका अनुसरण करना है इसके निर्देश का अधिकार गीतार्थ को ही है।

जहाँ तक उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों में कौन श्रेय है और कौन अश्रेय अथवा कौन सबल है, कौन निर्बल है? इस समस्या के समाधान का प्रश्न है। जैनाचार्यों के अनुसार दोनों ही अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार श्रेय व सबल हैं। आपवादिक परिस्थिति में अपवाद को श्रेय और सबल माना गया है किन्तु सामान्य परिस्थिति में उत्सर्ग को श्रेय एवं सबल कहा गया है। बृहत्कल्पभाष्य^२ के अनुसार ये दोनों (उत्सर्ग और अपवाद) अपने-अपने स्थानों में श्रेय व सबल होते हैं। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए बृहत्कल्पभाष्य^१ की पीठिका में कहा गया है कि जो साधक स्वस्थ एवं समर्थ है उसके लिए उत्सर्ग स्वस्थान है और अपवाद परस्थान है। जो अस्वस्थ एवं असमर्थ है उसके लिए अपवाद स्वस्थान है और उत्सर्ग परस्थान है। वस्तुतः जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं यह सब व्यक्ति की सामर्थ्य एवं परिस्थितियों पर निर्भर करता है कि कभी आचरणीय अनाचरणीय एवं अनाचरणीय आचरणीय हो जाता है। कभी उत्सर्ग का पालन उचित होता है तो कभी अपवाद का। वस्तुतः उत्सर्ग और अपवाद की इस समस्या का समाधान उन परिस्थितियों में कार्य करने वाले व्यक्ति के स्वभाव का विश्लेषण कर किये गये निर्णय में निहित है। जैसे तो उत्सर्ग और अपवाद के सम्बन्ध में भी कोई सीमा रेखा निश्चित कर पाना कठिन है, फिर भी जैनाचार्यों ने कुछ आपवादिक परिस्थितियों का उल्लेख कर यह बताया है कि उनमें किस प्रकार का आचरण किया जाये।

सामान्यतया बहिःसा को जैन साधना का प्राण कहा जा सकता है। साधक के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा भी वर्जित मानी गई है। किन्तु जब कोई विरोधी व्यक्ति आचार्य या संघ के वध के लिए तत्पर हो, किसी साध्वी का बलपूर्वक अपहरण करना चाहता हो वह उपदेश से भी नहीं मानता हो ऐसी स्थिति में भिक्षु, आचार्य, संघ अथवा साध्वी की रक्षा के लिए पुलाकलब्धि का प्रयोग करता हुआ साधक भी संयमी माना गया है।

सामान्यतया श्रमण साधक के लिए वनस्पतिक जीवों अथवा अप्कायिक जीवों के स्पर्श का भी निषेध है किन्तु जीवन रक्षा के लिए इन नियमों के अपवाद स्वीकार किये गये हैं। जैसे

१ निशीथ भाष्य ५२४५।

२ वही गा. ३२३-३२४।

२ बृहत्कल्पभाष्य पीठिका गा. ३२२।

पर्वत से फिसलने प्रथम भिक्षु नृश की याद या सहायता को सहारा ले सकता है। जल में बहते हुए साधु-साध्वी की रक्षा के लिए नदी आदि में उतर सकता है।

इसी प्रकार उत्सर्ग मार्ग में स्वामी की आज्ञा बिना भिक्षु के लिए एक तिनका भी अग्राह्य है। दशवैकालिक^१ के अनुसार श्रमण अदत्तादान न स्वयं ग्रहण कर सकता है, न दूसरों से ग्रहण करवा सकता है और न अदत्त ग्रहण करने वाले का अनुमोदन ही कर सकता है। परन्तु परिस्थितिवश अपवाद मार्ग में भिक्षु के लिए अयाचित स्थान आदि ग्रहण के उल्लेख हैं। जैसे भिक्षु भयंकर शीतादि के कारण या हिंसक पशुओं का भय होने पर स्वामी की आज्ञा लिए बिना ही ठहरने योग्य स्थान पर ठहर जाए तत्पश्चात् स्वामी की आज्ञा प्राप्त करने का प्रयत्न करें।^२

जहाँ तक ब्रह्मचर्य सम्बन्धी अपवादों का प्रश्न है उस पर हमें दो दृष्टि से विचार करना है। जहाँ अहिंसा, सत्य आदि व्रतों में अपवाद मार्ग का सेवन करने पर बिना तप-प्रायश्चित्त के भी विशुद्धि सम्भव मानी गई है वहाँ ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में तप प्रायश्चित्त के बिना विशुद्धि की सम्भव नहीं माना गया है। ऐसा क्यों किया गया इस सम्बन्ध में जैनाचार्यों का तर्क है कि हिंसा आदि में राग-द्वेषपूर्वक और रागद्वेष रहित दोनों ही प्रकार की प्रतिसेवना सम्भव है और यदि प्रतिसेवना रागद्वेष से रहित है तो उसके लिए विशेष प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु मैथुन का सेवन राग के अभाव में नहीं होता अतः ब्रह्मचर्य व्रत की स्खलना में तप-प्रायश्चित्त अपरिहार्य है। जिस स्खलना पर तप प्रायश्चित्त विधान हो उसे अपवाद मार्ग नहीं कहा जा सकता। निशीथ भाष्य के आधार पर पं० दलसुख भाई मानवणिया का कथन^३ है कि यदि हिंसा आदि दोषों का सेवन संयम के रक्षण हेतु किया जाय तो तप प्रायश्चित्त नहीं होता किन्तु अब्रह्मचर्य सेवन के लिए तो तप या छेद प्रायश्चित्त आवश्यक है।

पणपि ब्रह्मचर्य व्रत की स्खलना पर प्रायश्चित्त विधान होने से ब्रह्मचर्य का कोई अपवाद स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जैनाचार्यों ने उन सब परिस्थितियों पर विचार नहीं किया है जिनमें कि जीवन की रक्षा अथवा संघ की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए शीलभंग हेतु विवश होना पड़े। निशीथ^४ और बृहत्कल्पभाष्य^५ में यह उल्लेख है कि यदि ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जहाँ शीलभंग और जीवन-रक्षण में से एक ही विकल्प हो तो ऐसी स्थिति में श्रेष्ठ तो यही है कि व्यक्ति मृत्यु को स्वीकार करे और शीलभंग न करे, किन्तु

औ मृत्यु स्वीकार करने में असमर्थ होने के कारण शीलभंग करे तो इस स्थिति में शीलभंग करने वाले भिक्षु के मनोभावों को लक्ष्य में रखकर ही प्रायश्चित्त का निर्धारण किया जाता है।

जैनाचार्यों ने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा पर सर्वाधिक बल दिया इसलिए उन्होंने न केवल मैथुन सेवन का निषेध किया अपितु भिक्षु के लिए नवजात कन्या का और भिक्षुणी के लिए नवजात शिशु का स्पर्श भी वर्जित कर दिया। आगमों में उल्लेख है कि भिक्षुणी को कोई भी पुरुष चाहे वह उसका पुत्र या पिता ही क्यों न हो, स्पर्श नहीं करे किन्तु अपवाद रूप में यह बात स्वीकार की गई कि नदी में डूबती हुई या विक्षिप्त चित्त भिक्षुणी को भिक्षु स्पर्श कर सकता है। इसी प्रकार सर्पदंश या काँटा लग जाने पर उसकी चिकित्सा का कोई अन्य उपाय न रह जाने पर भिक्षु या भिक्षुणी परस्पर एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त अपवाद ब्रह्मचर्य के खण्डन से सम्बन्धित न होकर स्त्री-पुरुष के परस्पर स्पर्श से सम्बन्धित है। निशीथ भाष्य और बृहत्कल्पभाष्य के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्यों ने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा पर कितनी गहराई से विचार किया। जैनाचार्यों ने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि एक ओर व्यक्ति शीलभंग नहीं करना चाहता किन्तु दूसरी ओर वासना का आवेग इतना तीव्र होता है कि वह अपने पर संयम नहीं रख पाता। ऐसी स्थिति में क्या किया जाये ?

ऐसी स्थिति में जैनाचार्यों ने सर्वनाश की अपेक्षा अर्द्ध विनाश की नीति को भी स्वीकार किया है। इसी प्रसंग में जैनाचार्यों ने यह उपाय भी बताया है कि ऐसे भिक्षु अथवा भिक्षुणी को अध्ययन, लेखन, वैद्यावृत्त्य आदि कार्यों में इतना व्यस्त कर दिया जाये कि उसके पास काम वासना जगने का समय ही न रहे। इस प्रकार उन्होंने काम वासना पर विजय प्राप्त करने के उपाय भी बताए।

सामान्यतया भिक्षु के लिए परियह के पूर्णतः त्याग का विधान है और इसी आधार पर अचेलता की प्रशंसा की गई है। सामान्यतः आचारांग आदि सूत्रों में भिक्षु के लिए अधिकतम तीन वस्त्र और अन्य परिभित उपकरण रखने की अनुमति है किन्तु यदि हम मध्यकालीन जैन साहित्य का और साधु जीवन का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट लगता है कि धीरे-धीरे भिक्षु जीवन में रखने योग्य वस्तुओं की संख्या बढ़ती गई है। अन्य भी

१ दशवैकालिक ६, १४।

२ निशीथ : एक अध्ययन, पृ. ६८।

३ बृहत्कल्पभाष्य गाथा ४६४६-४६४७।

४ निशीथ सूत्र उद्दे. ८।

५ निशीथ गाथा ३६६-७।

आचार सम्बन्धी कठोरतम नियम स्थिर नहीं रह सके हैं। अतः आपवादिक रूप में कई अकरणीय कार्यों का करना भी विहित मान लिया गया है जो सामान्यतया निन्दित माने जाते थे। अपवाद मार्ग के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा निशीथ भाष्य एवं निशीथ चूर्णि आदि में उपलब्ध है। साथ ही पं० दलसुखभाई भालवणिया ने अपने ग्रन्थ “निशीथ एक अध्ययन” में एवं उपाध्याय अमरमुनिजी ने निशीथ चूर्णि के तृतीय भाग की भूमिका में इसका विस्तार से विवेचन किया है। जिज्ञासु पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं। निशीथ सूत्र हिन्दी विवेचन में भी उत्सर्ग अपवाद का स्वरूप समझाया गया है।

“अनुयोग” विश्लेषण एवं प्रस्तुत कृति

शब्द दो प्रकार के होते हैं—(१) योगिक, (२) रू।

उनमें से कई शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं, भिन्न-भिन्न देश काल में भिन्न-भिन्न अर्थ प्रसंगानुसार प्रचलित रहते हैं। किन्तु प्रयोग कर्ता के आशय के अनुसार एक अर्थ प्रमुख रहता है।

तदनुसार अनुयोग शब्द के भी दो अर्थ अपेक्षित हैं—

(१) सूत्र के अनुकूल अर्थ का योग करना,

(२) एक-एक विषय के अनुरूप (सदृश) विषयों का योग करना अर्थात् वर्गीकृत संकलन करना।

प्रस्तुत संकलन में दूसरे अर्थ को अपेक्षित करके संकलन किया गया है जिसका आधार निम्न प्रयोग है—

(१) द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग।

(२) दृष्टिवाद का एक विभाग-अनुयोग।

(३) गणधर गणिकानुयोग, तपगणिकानुयोग आदि।

इन प्रयोगों से यह ज्ञात होता है कि जिसमें विवक्षित एक विषय का कथन हो या एक व्यक्ति का जीवन हो उसके नाम के साथ अनुयोग या गणिकानुयोग शब्द जोड़कर कहा जाता है।

आचारांग, उक्ताई आदि सूत्रों की टीका में कहे गये चार अनुयोगों को आधारभूत मानकर प्रस्तुत कृति में सम्पूर्ण आगमों को चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है।

अनुयोग शब्द की उपलब्ध व्याख्याएँ

अभिधान राजेन्द्र कोष के प्रथम भाग में अनुयोग शब्द के अनेक अर्थ एवं उनके प्रयोगों की विस्तृत व्याख्या पृ० ३४० से ३६० तक है।

कुछ अर्थ यहाँ दिये जाते हैं—

१. अणु-सूत्र, महान् अर्थः, ततो महतो अर्थस्य अणुना सूत्रेण योगो अनुयोगः। पृष्ठ ३४०/२

२. अनुयोगो-व्याख्यानम्। पृ. ३५४/१

३. अनुरूपो योगः अनुयोगः, सूत्रस्य अर्थेन सार्द्धं अनुरूपः सम्बन्धो, व्याख्यानमित्यर्थः। पृ. ३५५/२२

४. आर्य वज्राह यावत् अपृथक्त्वे सति “सूत्र व्याख्या रूपः” एकोप्यनुयोगः कियमाणः प्रतिपूत्रं चत्वारि द्वाराणि भाषतेः चरणकरणादौश्चतुरोऽपि अर्थात् प्रतिपादयति इत्यर्थः। पृथक्त्वानुयोगकरणादेव व्यवच्छिन्नः। ततः प्रभृति एक-एक चरणकरणादीनामन्यतरो अर्थः प्रतिपूत्रं व्याख्यायते, न चत्वारोऽपि इत्यर्थः।

५. अनुयोगो—अर्थ व्याख्यानम्। पृ. ३५८/२ पंक्ति १-२

६. अध्ययनार्थकथनविधिः अनुयोगः। “अनुयोग द्वार” पृ. ३५८

७. “हः”स्य द्वे आभाविषयस्य अनुयोगार्थं व्याख्यानाथं द्वाराणि इति अनुयोग द्वाराणि।

८. अनुयोगद्वाराहं, महापुरस्सेव तस्स चत्वारि।

अनुयोगो ति सदस्यो, वाराहं तस्स उ महाहं॥

“अनुयोगद्वार” पृ. ३५८/२

९. संहिताय पदं चैव, पयस्यो, पदविग्नहो।

चालना य पसिद्धो य, छविहं विद्धि लवसगं॥

पृ. ३५५/१६

१०. सं च अनुयोगो यद्यपि अनेक ग्रन्थ विषयः संभवति तथापि प्रतिशास्त्रं प्रति अध्ययनं, प्रति उद्देशकं, प्रति वाक्यं, प्रति पदं च उपकारित्वा पृ. १५६/१ अनुयोगद्वार टीका।

११. “अनुयोगिन” —अनुयोगो व्याख्यानम्, पक्षणा इति यावत्, स यत्र अस्ति। अनुयोगो—आचार्यः, अनुयोगी, लोगार्थं संसय नासओ बहं होति।

अनुयोगधर—अनुयोगिकः।

१२. अनुयोगपरः—सिद्धास्त व्याख्याननिष्ठः।

१३. नदी सूत्र, गाथा ३२ टीका—मलयगिरीया—

“कालिकभृतानुयोगिकान्”—कालिकभृतानुयोगे व्याख्याने नियुक्ताः कालिकभृतानुयोगिकाः, तान्। अथवा कालिकभृतानुयोग येषां विधत्ते इति कालिकभृतानुयोगिनः।

१४. अनुयोगे च नियोगी, भास विभाव य वस्ति यं चैव।

एए अनुयोगस्त उ नामः एगद्विधा एवं॥

बृहत्कल्प भाष्य। कोष पृ. ३४४

अनुयोगणं अनुयोगो, सुयस्स नियएण जमभित्तेएण।

वावारो वा जोगो, जो अणुसोओ अणुकूलो वा॥

पृ. ३४४

१ पं. दलसुखभाई भालवणिया —“निशीथ : एक अध्ययन” पृष्ठ ५३-७०।

२ निशीथ सूत्र चूर्णि—तृतीय भाग भूमिका पृष्ठ ७-२८।

३ छेव सूत्र—पृष्ठ ७४-७५ आगम प्रकाशन समिति धारावर।

सुसत्थो लसु पढसो, बीओ निज्जुत्ति मीसिओ भणिओ ।
तहओ य निरवसेसो, एस बिही ञ्णिम अणुओगे ॥

पृ. ३४५/१४

इन उपर्युक्त उद्धरणों में सूत्र के अर्थ को संक्षिप्त या विस्तृत कहने की पद्धति को अर्थात् व्याख्या करने की पद्धतियों को अनुयोग शब्द से परिलक्षित किया गया है ।

नन्दी सूत्र में अनुयोग शब्द के प्रयोग—

१. रयणकरणवगभूओ अणुओगे रक्खिओ जेहि ॥३२॥

२. अयलपुरा निवसंते कालियसुय अणुओगे धीरे ।

बंसदीवग-सीहे, वायग पयमुत्तमं पसे ॥३६॥

३. जेहि इमो अणुओगे प-एह अणुओगे अणुओगे अणुओगे ॥३७॥

॥३७॥

४. कालिय सुय अणुओगेस धारए, धारए य पुष्पाणं ।

हिमवत समासमणे वन्ने नागजुणावरिए ॥३९॥

५. गोविंदाणं पि जमो, अणुओगे विजल धारणिवाणं ॥४१॥

६. सीसगुण गदियाणं अणुओगे जुगप्पहाणाणं ॥४८॥

नन्दी सूत्र की इन गाथाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि कालिक सूत्र की जो संक्षिप्त या विस्तृत व्याख्या की जाती है उसकी एक विशिष्ट पद्धति होती है जो आगम काल से सूत्रों के साथ ही शिष्यों को समझाई जाती थी । उन व्याख्यानों सहित सूत्र विस्तृत हो जाते थे उन्हें कंठस्थ धारण करना क्रमशः कठिन होता गया । इसलिए अनुयोग पद्धति से की जाने वाली व्याख्या युक्त कालिक सूत्रों को धारण करने वाले बहुश्रुत आचार्यों को अनुयोगधर, अनुयोगरक्षक, अनुयोगिक, अनुयोग प्रधान आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है ।

यहाँ गाथा में प्रयुक्त अनुयोग (व्याख्या पद्धति) पहले से प्रचलित थी, जिसका रक्षण और धारण युग प्रधान आचार्यों ने किया था । अतः इन गाथाओं से अनुयोग के पृथक्करण या नवीनीकरण का कुछ भी संकेत समझना भ्रमपूर्ण है ।

गाथा ३७ के अनुसार (नन्दी रचना के समय) में जो सूत्रों की व्याख्यायें कंठस्थ परम्परा में उपलब्ध थीं वे सब स्कंदिलाचार्य द्वारा व्यवस्थित एवं निश्चित की गई थीं ।

अभिधान राजेन्द्र कोष से उद्धृत नं० ४ के अनुसार प्रत्येक अध्ययन के प्रत्येक सूत्र की व्याख्यायें चारों अनुयोगों के आधार से की जाती थी अर्थात् उस सूत्र में तत्त्व क्या कहा गया है ? उसका संयमाचरण से क्या सम्बन्ध है ? उसके लिए उदाहरण क्या है ? इत्यादि यथा सम्भव २-३ या ४ अनुयोगों में घटित करके समझाया जाता था ।

समान पाठों (विषयों) का अनुयोग—

सामान्यतया पाठक विषयानुसार वर्गीकरण को पढ़ने में विशेष रुचि रखता है । समझने में भी एक विषय का सम्पूर्ण

वर्णन एक साथ अत्यन्त सुविधाजनक होता है ।

स्वाध्यायशील पाठकों एवं अन्वेषक विद्यार्थियों के लिए तो वर्गीकृत विषयों का संकलन अत्यन्त उपयोगी होता है ।

अतः वर्गीकृत विषयों के संकलन की आवश्यकता एवं उपयोगिता सदा भाती गई है ।

आगमों में भी इस पद्धति का ही अधिकांशतः अवलम्बन लिया गया है ।

विषयों का विभाजन अनेक दृष्टिकोणों से किया जाता है । यह विभाजनकर्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर है । यथा—१. “जीव ज्ञेय के विषय का अलग विभाग करना किन्तु उसमें अन्य कोई क्रम, गति या दण्डक के विभाजन का लक्ष्य नहीं रखना, २. गतियों की अपेक्षा विभाजन करना किन्तु दण्डकों के क्रम या व्युत्क्रम का लक्ष्य न रखना, ३. दण्डकों के क्रम से विभाजन करना किन्तु उसमें १२ देवलोक ७ नरक या ५ तिर्थेच का क्रम न रखना इत्यादि स्थूल से सूक्ष्म या सूक्ष्मतर अपेक्षित विभाजन उपयोगितानुसार किये जा सकते हैं ।

अथवा—(१) प्रायश्चित्त विधानों को एक सूत्र में कहना, (२) लघु, मधु, मासिक, चौमासी इन विभागों के क्रम से करना, (३) इनमें भी पाँच महाव्रतों की अपेक्षा से विभाजित करना, (४) समिति, गुप्ति, दोषा, संघ व्यवस्था, स्वाध्याय आदि विभागों में विभाजन करना इत्यादि अनेक प्रकार से विभाजन किए जा सकते हैं ।

आगमों में की गई विभाजन पद्धति भी एक सापेक्ष पद्धति है यथा—

(१) आचारांग प्रथम धृतस्कन्ध में मध्यम के प्रेरक विषय है,

(२) आचारांग के द्वितीय धृत स्कन्ध में माधु के अत्यावश्यक आचारों से सम्बन्धित विषय है,

(३) सूत्रकृतांग के प्रथम धृत स्कन्ध में प्रथम अध्ययन को छोड़कर शेष सभी अध्ययनों में साध्वाचार का प्रतिपादन किया गया है ।

(४) दशवैकालिक में मुनि जीवन का पूर्ण मार्गदर्शन किया है ।

(५) ज्ञाता से विषाक पर्यन्त सूत्रों में विविध कर्मकथाएँ हैं ।

(६) प्रश्न व्याकरण में ५ आश्रव ५ संवर का विषय संकलित है ।

(७) नन्दी में ज्ञान का विस्तृत विषय है ।

(८) चार छेद सूत्रों में भी प्रमुख आचार सम्बन्धी विषयों का संकलन है । जिसमें निशीथ सूत्र तो पूरा प्रायश्चित्त विधानों का ही संकलन है ।

इसी प्रकार अन्य उपांग आदि कई सूत्र एक-एक विषय के संकलन युक्त हैं ।

ठाणांग समवायांग का संकलन संख्या प्रधान है किन्तु उसमें विषयों की विभिन्नता है।

भगवती सूत्र पूरा विविध विषयों के प्रश्नोत्तर का संकलन है।

उत्तराध्ययन सूत्र विभिन्न विषयों का गद्य-पद्यात्मक सूत्र है।

निष्कर्ष यह है कि इन आगमों की रचना पद्धति भी विषय संकलन में एक विशेष विवेका वाली है फिर भी विषयों के सूक्ष्म सूक्ष्मतर विभाजन की जिज्ञासा वालों को उनके अध्ययन में कठिनाई का अनुभव होना स्वाभाविक है। अतः प्रस्तुत अनुयोग विभाजन एक विशिष्ट विभाजन की पूर्ति के लिए किया गया है।

यद्यपि इस प्रकार के विभाजन की आवश्यकता प्राचीन समय में भी थी किन्तु ऐसा वर्गीकरण करने का साहस किसी ने भी नहीं किया। क्योंकि ऐसा करने से सूत्रों के अस्तित्व को नष्ट करने का भ्रमित वातावरण उपस्थित होने का भय था। किन्तु इसमें न तो सूत्रों का अस्तित्व नष्ट करना है और न आगमों के मूल्य का ह्रास करना है अपितु आगमों की उपयोगिता बढ़ाना है।

आगमों का स्वतन्त्र अस्तित्व भी अलग रह जाता है और विषयानुसार वर्गीकरण वाले चार अनुयोग रूप इन चार अनुपम ग्रन्थों का अलग महत्व भी स्पष्ट है।

इस साहस पूर्ण और श्रम पूर्ण कार्य को वर्तमान में पं० रतन भुनि श्री कन्हैयालालजी म. सा. "कमल" ने स्वेच्छा से

किया है और बत्तीस सूत्रों का विशिष्ट पद्धति से विषयानुसार वर्गीकरण करके संयमी जीवन के पचास वर्षों में श्रुत की अनुपम सेवा की है। आपका यह कार्य जैन धर्म और जैन साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आगमों के सन्दर्भ में यह ऐसा महान कार्य है जो विगत दो हजार वर्ष के जैन इतिहास में नहीं हो सका था। इस महान कार्य के लिए निश्चित ही सम्पूर्ण जैन समाज, मुनि श्री जी का आभारी है। मुनि श्री ने न केवल यह वर्गीकरण का महान कार्य किया अपितु उन्होंने इसके साथ-साथ शब्दानुसारी हिन्दी अनुवाद देकर उन लोगों का भी उपकार किया जो प्राकृत का ज्ञान न रखते हुए भी आगमों की विषयवस्तु को समझने के लिए उत्सुक हैं। मुनि श्री जी की यह ज्ञान साधना उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण रहेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

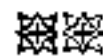
मैं स्वयं भी व्यक्तिगत रूप से मुनि श्री जी का कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इसकी भूमिका लिखने का निर्देश देकर मुझे आगमों के अध्ययन का एक और अवसर प्रदान किया। साथ ही उनसे इसलिए क्षमाप्रार्थी भी हूँ कि प्रस्तुत भूमिका के लिए मैंने उन्हें पर्याप्त रूप से प्रतीक्षा करवाई। यद्यपि इसमें मेरे प्रमाद की अपेक्षा मेरी व्यस्तता व मेरी बाह्य परिस्थितियाँ ही अधिक बाधक रहीं, जिनके कारण मैं इसे शीघ्र पूर्ण न कर सका। अन्त में पुनः सभी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनका इस भूमिका लेखन में प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग रहा है।

डा० सागरमल जैन

निदेशक

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम प्रोध संस्थान,

वाराणसी (उ० प्र०)



अनुक्रमणिका (चरणानुयोग भाग-2)

(१) दीक्षा

विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक
प्रव्रज्या ग्रहण : विधि-निषेध-१		
घर्मन्तिराय कर्मों के क्षयोपशम से प्रव्रज्या	१३३९	१
प्रव्रज्या-पालक की चौभंगी	१३४०	२
तीन प्रकार के संयम	४१	३
प्रव्रज्या योग्य जन	४२	३
प्रव्रज्या योग्य ग्रह	४३	३
प्रव्रज्या योग्य वय	४४	३
प्रव्रज्या योग्य दिशा	४५	४
प्रव्रजित करने आदि के विधि-निषेध	४६	४
बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा आदि का विधि-निषेध	४७	४
प्रव्रजित होने वाले के उपकरणों का प्ररूपण	४८	५
प्रव्रज्या के अयोग्य	४९	५
असंयम को प्रव्रजित करने का प्रायश्चित्तसूत्र	५०	५
प्रव्रज्या के प्रकार-२		
विविध प्रकार की प्रव्रज्या	५१	६
प्रव्रज्या को कृषि की उपमा	५२	७
प्रव्रज्या को घान्य की उपमा	५३	७
मुण्डन के प्रकार	५४	७
प्रव्रज्या के दस प्रकार	५५	७
दुःख का अंत करने वाली प्रव्रज्या	५६	८
उपस्थापना विधि-निषेध-३		
बड़ी दीक्षा देने का काल प्रमाण	५७	८
उपस्थापन के विधान	५८	८
बड़ी दीक्षा के योग्य	५९	९
बड़ी दीक्षा के अयोग्य	६०	१०
अयोग्य को बड़ी दीक्षा देने का प्रायश्चित्तसूत्र	६१	१०

(२) संयमी जीवन

संयम का स्वरूप-१		
संयम का स्वरूप	६२	११
संयम का महत्व	६३	११
संयम के प्रकार-२		
पांच प्रकार के चारित्र और उनकी परिभाषा	६४	११
छह प्रकार की कल्प स्थिति	६५	११
संयम के भेद-प्रभेद	६६	१२
संयम के प्रकार	६७	१४
असंयम के प्रकार	६८	१४
चारित्र के प्रकार	६९	१४

समारम्भ-असमारम्भ से संयम-असंयम के प्रकार	७०	१४
संयम योग्य जन	७१	१७
संयम योग्य ग्रह	७२	१७
संयम योग्य वय	७३	१७
यतनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से संयम	७४	१७
संयमी के लक्षण-४		
निर्ग्रन्थ के लक्षण	७५	१९
अणगार के लक्षण	७६	१९
संयती के लक्षण	७७	२०
माहण आदि के लक्षण	७८	२०
त्यागी-अत्यागी के लक्षण	७९	२१
सुसाधु के लक्षण	८०	२१
भिक्षु के लक्षण	८१	२२
महर्षि के लक्षण	८२	२६
मुनियों के लक्षण	८३	२६
अमुनि तथा मुनि का स्वरूप	८४	२८
अनात्मवान और आत्मवान	८५	२८
अणगार के गुण	८६	२९
मृतादि निर्ग्रन्थ का स्वरूप	८७	२९
निर्ग्रन्थों के प्रशस्त लक्षण	८८	३०
संयमी की विभिन्न उपमाएँ-५		
श्रमण की उपमाएँ	८९	३१
सूर्य सदृश्य महर्षि	९०	३४
पक्षी की तरह लघुभूत विहारी	९१	३४
पक्षीवत् अप्रतिबन्ध विहारी	९२	३४
हाथी के समान धैर्यवान	९३	३४
मेरु के समान अकम्पमान	९४	३४
वृषभ सम भवाटवी पारकर्ता	९५	३४
संयम का उपदेश तथा विशिष्ट चर्चाएँ-६		
निर्ग्रन्थ की दुःख शय्याएँ	९६	३५
निर्ग्रन्थ की सुख शय्याएँ	९७	३६
संयम ग्रहण का उपदेश	९८	३७
संयम से दुर्गति का निरोध	९९	३७
जन्म-मरण से विमुक्ति	१००	३८
संयती की विनय का उपदेश	१०१	३८
संयम की आराधना का उपदेश	१०२	३८
गृहस्थों की वैयावृत्य का तथा वन्दन पूजन की चाहना का निषेध	१०३	४२
अधिकरण विवर्जन	१०४	४२
कलहप्रिय-पापश्रमण	१०५	४२
परीयहजय का उपदेश	१०६	४२

नोट :

चरणानुयोग भाग २ में सूत्रांक १३३९ से प्रारंभ हुआ है । प्रेस की सुविधा के लिए आगे के नम्बर १३०० हटाकर सिर्फ ४१, ४२ आदि लिये हैं जो क्रमशः १३४१ आदि का बोधक मानना चाहिए ।

विषय	सूत्रक्र	पृष्ठक्र	(३) समाचारी		
अध्यात्म जागरण से मुक्ति	१०७	४३	दिवस रात्रिक समाचारी-१		
श्रमणों की तीन भावनायें	१०८	४४	समाचारी का महत्व	१४८	५७
श्रमणों के बत्तीस योग संग्रह	१०९	४४	दश प्रकार की समाचारी	१४९	५७
संयम योग में आत्मा की स्थापना	११०	४५	समाचारी का प्रवर्तन	१५०	५८
संयमी जीवन के अठारह स्थान-७			दिवस समाचारी	१५१	५८
संयम के अठारह स्थान	१११	४५	पौरुषी विज्ञान	१५२	५९
प्रथम 'अहिंसा' स्थान	११२	४५	छः क्षय तिथियाँ	१५३	५९
द्वितीय 'सत्य' स्थान	११३	४६	छः वृद्धि तिथियाँ	१५४	५९
तृतीय 'अस्तेय' स्थान	११४	४६	पात्र-प्रतिलेखना का काल	१५५	५९
चतुर्थ 'ब्रह्मचर्य' स्थान	११५	४६	प्रथम पौरुषी की समाचारी	१५६	६०
पंचम 'अपरिग्रह' स्थान	११६	४६	प्रतिलेखना की विधि	१५७	६०
छठा 'रात्रि भोजन विवर्जन' स्थान	११७	४७	प्रतिलेखना के दोष	१५८	६०
सातवें 'पृथ्वीकाय अनारम्भ' स्थान	११८	४७	अन्युनाधिक प्रतिलेखना	१५९	६१
आठवें 'अपकाय अनारम्भ' स्थान	११९	४७	प्रतिलेखना-प्रमत्त विराधक	१६०	६१
नवमा 'तेजस्काय अनारम्भ' स्थान	१२०	४७	प्रतिलेखना में उपयुक्त आराधक	१६१	६४
दसवें 'वायुकाय अनारम्भ' स्थान	१२१	४८	तृतीय पौरुषी समाचारी	१६२	६१
ग्यारहवें 'वनस्पतिकाय अनारम्भ' स्थान	१२२	४८	चतुर्थ पौरुषी समाचारी	१६३	६१
बारहवें 'त्रसकाय अनारम्भ' स्थान	१२३	४८	दैनिक प्रतिक्रमण समाचारी	१६४	६१
तेरहवें 'अकल्प्य आहारादि वर्जन' स्थान	१२४	४८	निद्राशील पापश्रमण	१६५	६२
चौदहवें 'गृहस्थ पात्र में भोजन निषेध' स्थान	१२५	४९	रात्रि-समाचारी	१६६	६२
गृहस्थ के पात्र में भोजन करने का			रात्रिपौरुषी विज्ञान	१६७	६२
प्रायश्चित्त सूत्र	१२६	४९	रात्रि के चतुर्थ प्रहर की समाचारी	१६८	६२
पन्द्रहवें 'पत्यंक निषेधा वर्जन' स्थान	१२७	४९	रात्रि प्रतिक्रमण समाचारी	१६९	६२
गृहस्थ की शय्या पर बैठने का प्रायश्चित्त सूत्र	१२८	४९	उपसंहार	१७०	६३
सोलहवें 'गृह निषेधा वर्जन' स्थान	१२९	५०	वर्षावास-समाचारी-२		
गृह निषेधा के अपवाद	१३०	५०	वर्षाकाल के आ जाने पर विहार का निषेध	१७१	६३
सत्रहवें 'अस्नान' स्थान	१३१	५१	वर्षावास के अयोग्य क्षेत्र	१७२	६३
अठारहवें 'अविभूषा' स्थान	१३२	५१	वर्षावास योग्य क्षेत्र	१७३	६४
संयमी जीवन का फल-८			वर्षावास के बाद विहार के अयोग्य काल	१७४	६४
सर्वगुण सम्पन्नता का फल	१३३	५१	वर्षावास के बाद विहार के योग्य काल	१७५	६४
सामायिक का फल	१३४	५२	वर्षावास के अवग्रह क्षेत्र का प्रमाण	१७६	६४
संयम की आराधना का फल	१३५	५२	वर्षावास में विहार करने का विधि-निषेध	१७७	६४
धर्माराधना का फल	१३६	५३	वर्षावास में ग्लान हेतु गमन का क्षेत्र प्रमाण	१७८	६५
संवृत भिक्षु का फल	१३७	५४	प्रथम-द्वितीय प्रावृट् में विहार करने के		
निर्ग्रन्थ की मुक्ति	१३८	५४	प्रायश्चित्त सूत्र	१७९	६५
सुश्रमण की समाधि और कुश्रमण की			वर्षावास आहार समाचारी-३		
असमाधि	१३९	५४	सर्वत्र आचार्यादि की आज्ञा से जाना, बिना		
अज्ञानी श्रमण की गति	१४०	५५	आज्ञा के नहीं जाना	१८०	६६
भिक्षु के अहिंसा का परिणाम	१४१	५५	भिक्षावर्या के लिए जाने योग्य क्षेत्र	१८१	६६
भिक्षु के हिंसानुमोदन का फल	१४२	५५	भिक्षावर्या की दिशा कहकर भिक्षार्थ जाने		
भोगासक्ति का परिणाम	१४३	५५	का विधान	१८२	६६
भुञ्जती साधु का संसार पार	१४४	५५	नित्यभोजी के गोचरी जाने का विधान	१८४	६७
कुश्रमण की दुर्गति और सुश्रमण की			नित्यभोजी के लिए सर्व पैय ग्रहण करने		
सद्गति	१४५	५६	का विधान	१८४	६७
मद्य सेवन का और विवर्जन का परिणाम	१४६	५६	श्रद्धालु घरों में अदृष्ट पदार्थ मांगने का निषेध	१८५	६७
मद्यादि सेवन का निषेध	१४७	५७			

विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक	सूक्ष्माष्टक की प्रतिलेखना का विधान		
आचार्य की आज्ञानुसार भक्त-पान ग्रहण करना और देना	१८६	६७	अकाल में पर्युषण करने का तथा काल में पर्युषण न करने के प्रायश्चित्त सूत्र	२१३	७७
ग्लान को पूछकर के ही आहार			सांवत्सरिक स्थविर कल्प की आराधना का फल	२१४	७७
पानी लाने का विधान	१८७	६८		२१५	७७
विकृति ग्रहण निषेध	१८८	६८	(४) प्रतिक्रमण		
आचार्य से पूछकर ही विकृति ग्रहण करने का विधान	१८९	६८	आवश्यक स्वरूप-१		
ग्लान के लिए विकृति ग्रहण करने का विधान	१९०	६९	चार प्रकार के आवश्यक	२१६	७८
वर्षा बरसने पर पूर्व गृहीत भक्त-पान के उपयोग की विधि	१९१	६९	छह प्रकार के आवश्यक	२१७	८२
वर्षा बरसने पर एक स्थान में निर्ग्रन्थ			प्रतिक्रमण के प्रकार-२		
निर्ग्रन्थियों के ठहरने की विधि	१९२	६९	पांच प्रकार के प्रतिक्रमण	२१८	८३
गीला शरीर हो तब तक आहार करने का निषेध	१९३	७०	छह प्रकार के प्रतिक्रमण	२१९	८३
वर्षावास-तप-संलेखना समाचारी-४			अतिक्रमादि के प्रकार	२२०	८३
आचार्यादि से पूछकर तप करने का विधान	१९४	७१	अतिक्रमादि की विशुद्धि	२२१	८४
उपवास करने वाले के पानी ग्रहण करने का विधान	१९५	७१	अमण प्रतिक्रमण-३		
दो उपवास करने वाले के पानी ग्रहण करने का विधान	१९६	७१	कायोत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा	२२२	८४
तीन उपवास करने वाले के पानी ग्रहण करने का विधान	१९७	७२	सामायिक सूत्र	२२३	८५
चार आदि उपवास करने वाले के गरम पानी ग्रहण करने का विधान	१९८	७२	गुरु बंदन सूत्र	२२४	८५
भक्त प्रत्याख्यान अनशन वाले के गरम पानी ग्रहण करने का विधान	१९९	७२	गुरु बंदन के बारह आवर्तन	२२५	८५
दत्ति की संख्याओं का विधान	२००	७२	समुच्चय अतिचारों का प्रतिक्रमण सूत्र	२२६	८६
पर्युषण में आहार करने का प्रायश्चित्तसूत्र	२०१	७२	ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण सूत्र	२२७	८६
आचार्यादि से पूछकर पादपोषगमन करने का विधान	२०२	७३	शय्या दोष निवृत्ति सूत्र	२२८	८७
वर्षावास सम्बन्धी प्रकीर्णक-समाचारी-५			गोचर चर्या दोष निवृत्ति सूत्र	२२९	८७
तीन उपश्रयों के ग्रहण का विधान	२०३	७३	स्वाध्याय तथा प्रतिलेखन सूत्र	२३०	८७
शय्या एवं आसन ग्रहण करने का विधान	२०४	७४	तेतीस प्रकार के स्थानों का प्रतिक्रमणसूत्र	२३१	८८
वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को तीन मात्रक ग्रहण करने कल्पते हैं;	२०५	७४	निर्ग्रन्थ धर्मातिचार शुद्धि सूत्र	२३२	९१
वर्षावास में पात्र और वस्त्र ग्रहण करने का प्रायश्चित्त सूत्र	२०६	७५	मारणान्तिक संलेखना के अतिचार	२३३	९३
वर्षावास में वस्त्र सुखाने के विधि-निषेध	२०७	७५	क्षमापना सूत्र	२३४	९३
उच्चार प्रसवण भूमि प्रतिलेखना	२०८	७५	उपसंहार सूत्र	२३५	९३
आचार्यादि से पूछकर चिकित्सा कराने का विधान	२०९	७६	कायोत्सर्ग-विधि सूत्र	२३६	९३
पर्युषणा के बाद केश रखने का निषेध	२१०	७६	वस पञ्चवक्त्राण-४		
पर्युषणा के बाद केश रखने का प्रायश्चित्त सूत्र	२११	७६	नीकारसी प्रत्याख्यान सूत्र	२३७	९४
पर्युषणा में कलह की क्षमायाचना करने का विधान	२१२	७६	पौरुषी प्रत्याख्यान सूत्र	२३८	९४
			दो पौरुषी प्रत्याख्यान सूत्र	२३९	९४
			एकाशन प्रत्याख्यान सूत्र	२४०	९५
			एक स्थान प्रत्याख्यान सूत्र	२४१	९५
			आर्यबिल प्रत्याख्यान सूत्र	२४२	९५
			उपवास प्रत्याख्यान सूत्र	२४३	९६
			दिवसचरिम प्रत्याख्यान सूत्र	२४४	९६
			भवचरिम प्रत्याख्यान सूत्र	२४५	९६
			अभिग्रह प्रत्याख्यान सूत्र	२४६	९६
			निर्विकृतिक (नीवी) प्रत्याख्यान सूत्र	२४७	९७
			सर्व प्रत्याख्यान पारण सूत्र	२४८	९८
			पञ्चवक्त्राण के प्रकार-५		
			प्रत्याख्यान के प्रकार	२४९	९९

विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक	अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत का स्वरूप और अतिचार	२८३	१११
प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेद	२५०	९९	सामायिक व्रत का स्वरूप और अतिचार	२८४	१११
सुप्रत्याख्यानी और दुष्प्रत्याख्यानी का स्वरूप	२५१	१०१	सामायिक किये हुए की क्रिया	२८५	११२
ज्ञान पूर्वक प्रत्याख्यान करने वाले	२५२	१०२	सामायिक किये हुए का ममत्व	२८६	११२
प्रतिक्रमण फल-६			सामायिक किये हुए का प्रेमबंधन	२८७	११३
प्रतिक्रमण का फल	२५३	१०२	देशावगासिक व्रत का स्वरूप और अतिचार	२८८	११३
पञ्चव्रत का फल-७			पौषघ व्रत का स्वरूप और अतिचार	२८९	११४
प्रत्याख्यान का फल	२५४	१०३	अतिथि-संविभाग-व्रत का स्वरूप और अतिचार	२९०	११४
संभोग प्रत्याख्यान का फल	२५५	१०३	श्रमण को शुद्ध आहार देने का फल	२९१	११५
उपधि प्रत्याख्यान का फल	२५६	१०३	असंयत को आहार देने का फल	२९२	११५
आहार प्रत्याख्यान का फल	२५७	१०३	आवक प्रतिमा-३		
कषाय-प्रत्याख्यान का फल	२५८	१०३	ग्यारह उपासक प्रतिमाये	२९३	११६
भोग-प्रत्याख्यान का फल	२५९	१०४	श्रमणोपासकों की तीन भावनाएं	२९४	११६
शरीर-प्रत्याख्यान का फल	२६०	१०४	आवक के प्रत्याख्यान-४		
सहाय-प्रत्याख्यान का फल	२६१	१०४	प्रत्याख्यान पालन का रहस्य	२९५	११६
भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) का फल	२६२	१०४	प्रत्याख्यान का स्वरूप व उसके		
सद्भाव-प्रत्याख्यान का फल	२६३	१०४	करण योगों के भंग	२९६	११६
प्रत्याख्यान भंग का प्रायश्चित्त सूत्र	२६४	१०५	गृहस्थ धर्म का फल-५		
गृहस्थ-धर्म			शीलरहित और शीलसहित श्रमणोपासक		
गृहस्थ धर्म-१			के प्रशस्त-अप्रशस्त	२९७	११६
श्रमणोपासकों के प्रकार	२६५	१०५	सुव्रती गृहस्थ व उसकी देवगति	२९८	११६
श्रमणोपासक के चार विश्रान्ति स्थान	२६६	१०५	असंयत की गति	२९९	११६
सामान्य रूप से अतिचारों का विपुलिकरण	२६७	१०६	आजीविक श्रमणोपासकों के नाम, कर्मादान		
अल्पायु बंध के कारण	२६८	१०६	और गति	३००	११६
दीर्घायु बंध के कारण	२६९	१०६	आराधक-विराधक		
अशुभ दीर्घायु बंध के कारण	२७०	१०६	आराधक विराधक का स्वरूप-१		
शुभ दीर्घायु बंध के कारण	२७१	१०७	आराधक का स्वरूप	३०१	११७
समकित सहित बारह व्रत-२			विराधक का स्वरूप	३०२	११८
सम्यक्त्व का स्वरूप और अतिचार	२७२	१०७	आराधक-निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी	३०३	११८
सम्यक्त्व की प्रधानता	२७३	१०७	भिक्षु की आराधना-विराधना	३०४	११८
आवक धर्म के प्रकार	२७४	१०८	दृष्टान्त द्वारा आराधक-विराधक का स्वरूप	३०५	११९
स्थूल-प्राणातिपात-विरमण-व्रत का स्वरूप			श्रुत और शील से आराधक-विराधक का स्वरूप	३०६	११९
और अतिचार	२७५	१०८	आराधक-अनाराधक निर्ग्रन्थ आदि के भंग	३०७	११९
स्थूल-मूषावाद-विरमण-व्रत का स्वरूप और			आध्यात्म आदि की विपरीत प्ररूपणा	३०८	११९
अतिचार	२७६	१०९	आराधना विराधना के प्रकार-२		
स्थूल-अदत्तादानविरमण-व्रत का स्वरूप और			आराधना के प्रकार	३०९	११९
अतिचार	२७७	१०९	जघन्य-उत्कृष्ट आराधना	३१०	११९
स्थूल-मैथुन-विरमण-व्रत का स्वरूप और			विराधना के प्रकार	३११	११९
अतिचार	२७८	१०९	आराधक विराधक की गति-३		
परिग्रह-परिमाणव्रत का स्वरूप और अतिचार	२७९	११०	आराधक-अणारम्भ-अणगार	३१२	११९
दिशाव्रत का स्वरूप और अतिचार	२८०	११०	आराधक अल्पारम्भी श्रमणोपासक	३१३	११८
उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत का स्वरूप			आराधक सन्निपचेन्द्रिय तिर्यज्योनिक	३१४	११८
और अतिचार	२८१	११०	विराधक एकान्त बाल	३१५	११८
पन्द्रह कर्मादान	२८२	१११	विराधक अकाम निर्जरा करने वाले	३१६	११८

विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक	मूल्यांक और अविरति का निषेध	३५१	१७४
विराधक अकाम कष्ट भोगने वाले	३१७	१४२	अनाचार परिहार उपदेश-२		
विराधक भद्र प्रकृति मनुष्य	३१८	१४३	भिक्षु के विविध अनाचरणीय स्थान	३५२	१७५
विराधक स्त्रियों	३१९	१४४	छः उन्माद स्थान	३५३	१७६
विराधक बाल तपस्वी	३२०	१४५	सामुदायिक गवेषणा नहीं करने वाला		
विराधक वानप्रस्थ	३२१	१४५	पापश्रमण	३५४	१७६
विराधक कादर्यिक श्रमण	३२२	१४७	स्वच्छन्द विहारी पापश्रमण	३५५	१७६
विराधक परिह्राजक	३२३	१४७	श्रुतज्ञान की उपेक्षा	३५६	१७६
विराधक प्रत्यनीक श्रमण	३२४	१५१	असविभागी पापश्रमण	३५७	१७७
विराधक आजीविक	३२५	१५१	आरम्भ-जीवी को पापासक्ति	३५८	१७७
विराधक आत्मोत्कर्षक श्रमण	३२६	१५१	बार-बार आहार करने वाला पापश्रमण	३५९	१७७
विराधक निह्व	३२७	१५२	प्रमाद निषेध-३		
कादर्यिक आदि विराधक श्रमण	३२८	१५३	प्रमाद निषेध	३६०	१७७
विराधकों के संश्रम का विनाश	३२९	१५४	अप्रमत्त होकर आचरण करने का उपदेश	३६१	१७९
निवान-अनिवान से आराधना-विराधना-४			प्रमाद के प्रकार-४		
(१) निर्ग्रन्थ का मनुष्य सम्बन्धी भोगों के लिए निदान करना	३३०	१५५	छः कल्प के विघ्न करने वाले स्थान	३६२	१८०
(२) निर्ग्रन्थी का मनुष्य सम्बन्धी भोगों के लिए निदान करना	३३१	१५७	छः प्रकार के प्रमाद	३६३	१८०
(३) निर्ग्रन्थ का स्त्रीत्व के लिए निदान करना	३३२	१५८	दस धर्म के घातक	३६४	१८०
(४) निर्ग्रन्थी का पुरुषत्व के लिए निदान करना	३३३	१५९	दस धर्मविशोधि	३६५	१८१
(५) निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी द्वारा पर-देवी परिचारणा का निदान करना	३३४	१६०	अठारह प्रकार के पापस्थान	३६६	१८१
(६) निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी द्वारा स्व-देवी परिचारणा का निदान करना	३३५	१६१	अद्वैतिकादि अनाचार-५		
(७) निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के द्वारा सहज दिव्य भोग का निदान करना	३३६	१६३	अद्वैतिकादि अनाचार	३६७	१८१
(८) श्रमणोपासक होने के लिए निदान करना	३३७	१६४	शबल दोष-६		
(९) श्रमण होने के लिए निदान करना	३३८	१६६	इकबीस शबल दोष	३६८	१८१
निदान रहित की मुक्ति	३३९	१६७	असमाधि स्थान-७		
तप की फलाकांक्षा का निषेध	३४०	१६८	बीस असमाधि स्थान	३६९	१८५
बाल-पवित्र मरण से आराधना-विराधना-५			मोहनीय स्थान-८		
अनेक प्रकार के मरण	३४१	१६९	तीस महामोहनीय स्थान	३७०	१८५
बालमरण के प्रकार	३४२	१६९	क्रिया स्थान-९		
मरण के प्रकार	३४३	१७०	तेरह क्रियास्थान	३७१	१८९
अज्ञानियों के बालमरण	३४४	१७१	निमित्त कथन-१०		
बालमरण का स्वरूप	३४५	१७१	आठ प्रकार के महानिमित्त	३७२	१९०
पण्डितमरण का स्वरूप	३४६	१७२	निमित्त कथन निषेध	३७३	१९०
बालमरण और पण्डितमरण का फल	३४७	१७२	निमित्त का प्रयोक्ता पापश्रमण	३७४	१९०
वीतराग सम्मत बेहानस बालमरण	३४८	१७३	कषाय निषेध-११		
बालमरण की प्रशंसा के प्रायश्चित्त सूत्र	३४९	१७३	कषाय निषेध	३७५	१९०
अनाचार			कषायों को अग्नि की उपमा	३७६	१९१
अनाचार निषेध-१			आठ प्रकार के मद	३७७	१९१
अनाचार का निषेध	३५०	१७४	मद निषेध	३७८	१९२
			रूपमद निषेध	३७९	१९२
			लज्जा निषेध	३८०	१९२
			कषाय और गर्व का निषेध	३८१	१९२
			साम्प्रदायिक कर्मों का त्रिकरण निषेध	३८२	१९२

विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक	समनुज्ञा के प्रकार	४१८	२०१
क्रोधविजय का फल	३८३	१९३	उपसम्पदा के प्रकार	४१९	२०१
मान-विजय का फल	३८४	१९३	पद त्याग के प्रकार	४२०	२०२
माया-विजय का फल	३८५	१९३	तीन प्रकार से आत्म-रक्षा	४२१	२०२
लोभ-विजय का फल	३८६	१९३	जलाशय जैसे आचार्य	४२२	२०२
अनाचार प्रायश्चित्त-१२			आचार्य के प्रकार	४२३	२०२
अधिक हँसने का प्रायश्चित्त सूत्र	३८७	१९४	शिव्य के प्रकार	४२४	२०३
शिल्पकलादि सिखाने का प्रायश्चित्त सूत्र	३८८	१९४	विविध प्रकार के गण की दयावृत्त्य करने वाले	४२५	२०३
अपशब्द और कठोर वचन के प्रायश्चित्त सूत्र	३८९	१९४	आचार्य के अतिशय-२		
आशातना का प्रायश्चित्त सूत्र	३९०	१९४	आचार्य आदि के अतिशय	४२६	२०५
सचित्त गद्य सँधने का प्रायश्चित्त सूत्र	३९१	१९५	ऋद्धि के प्रकार	४२७	२०५
कौतुक कर्म का प्रायश्चित्त सूत्र	३९२	१९५	गणि-सम्पदा	४२८	२०६
भूति कर्म करने का प्रायश्चित्त सूत्र	३९३	१९५	आचार-सम्पदा	४२९	२०६
प्रश्नादि कहने के प्रायश्चित्त सूत्र	३९४	१९५	श्रुत-सम्पदा	४३०	२०६
लक्षण-व्यंजन स्वप्नफल कहने के प्रायश्चित्त सूत्र	३९५	१९५	शरीर-सम्पदा	४३१	२०६
विद्यादि का प्रयोग करने के प्रायश्चित्त सूत्र	३९६	१९६	वचन-सम्पदा	४३२	२०७
मार्गादि बताने का प्रायश्चित्त सूत्र	३९७	१९६	वाचना-सम्पदा	४३३	२०७
धातु और निधि बताने के प्रायश्चित्त सूत्र	३९८	१९६	मति-सम्पदा	४३४	२०७
अपने आपको आचार्य के लक्षण गत्त कहने का प्रायश्चित्त सूत्र	३९९	१९६	प्रयोग-सम्पदा	४३५	२०८
निमित्त कथन के प्रायश्चित्त सूत्र	४००	१९७	संग्रह-परिज्ञा सम्पदा	४३६	२०८
भयभीत करने के प्रायश्चित्त सूत्र	४०१	१९७	सात संग्रह-असंग्रह स्थान	४३७	२०८
विस्मित करने के प्रायश्चित्त सूत्र	४०२	१९७	निर्ग्रन्थ पद व्यवस्था-४		
विपर्यासकरण प्रायश्चित्त	४०३	१९७	आचार्य उपाध्याय पद योग्य निर्ग्रन्थ	४३८	२०९
अन्यतीर्थिकों की प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त सूत्र	४०४	१९७	आचार्य उपाध्याय पद के अयोग्य निर्ग्रन्थ	४३९	२१०
स्वच्छन्द्याचारी की प्रशंसा एवं वंदना करने के प्रायश्चित्त सूत्र	४०५	१९८	एक पक्षीय भिक्षु को पद देने का विधान	४४०	२११
			ग्लान आचार्यादि के द्वारा पद देने का निर्देश	४४१	२११
			संयम त्याग कर जाने वाले आचार्यादि के द्वारा पद देने का निर्देश	४४२	२१२
			पापजीवी बहुश्रुतों को पद देने का निषेध	४४३	२१२
			आचार प्रकल्प विस्मृत को पद देने का विधि-निषेध	४४४	२१३
			अश्वहासेवी को पद देने के विधि-निषेध	४४५	२१४
			संयम त्याग कर जाने वालों को पद देने का विधि-निषेध	४४६	२१५
			उपाध्याय पद देने के विधि-निषेध	४४७	२१५
			अनवस्थाप्य और पाराधिक भिक्षु की उपस्थापना	४४८	२१६
			आचार्य के नेतृत्व के बिना विचरने का निषेध	४४९	२१६
			गणधारण करने योग्य अणगार	४५०	२१६
			गणधारण करने का विधि-निषेध	४५१	२१६
			अग्रणी के काल करने पर भिक्षु का कर्तव्य	४५२	२१७
			निर्ग्रन्थी पद व्यवस्था-४		

संघ व्यवस्था

संघ व्यवस्था-१

तीर्थ का स्वरूप	४०६	१९८
तीर्थ प्रवर्तन का काल	४०७	१९८
जिन के प्रकार	४०८	१९९
केवली के प्रकार	४०९	१९९
अरिहन्त के प्रकार	४१०	१९९
रात्रिक पुरुषों के प्रकार	४११	१९९
रात्रिक इन्द्रों के प्रकार	४१२	१९९
स्थविर के प्रकार	४१३	१९९
महाव्रत धर्म के प्ररूपक	४१४	२००
दुर्गम-सुगम स्थान	४१५	२००
पौंच प्रकार के व्यवहार	४१६	२००
अनुज्ञा के प्रकार	४१७	२०१

विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के सामूहिक साधर्मिक		
ग्लान प्रवर्तनी के द्वारा पद देने का निर्देश	४५३	२१८	अन्य कर्म	४७७	२२९
संयम परित्याग करने वाली प्रवर्तिनी			निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के परस्पर सेवा करने के		
द्वारा पद देने का निर्देश	४५४	२१८	विधान	४७८	२२९
निर्ग्रन्थी के लिए आचार्य उपाध्याय पद			परस्पर सेवा करने का विधि-निषेध	४७९	२३०
योग्य निर्ग्रन्थ	४५५	२१९	परस्पर आलोचना करने के विधि-निषेध	४८०	२३०
आचार प्रकल्प विस्मृत निर्ग्रन्थी को पद			परस्पर प्रसन्नता ग्रहण करने का		
देने का विधि-निषेध	४५६	२१९	विधि-निषेध	४८१	२३०
आचार्यादि के नेतृत्व के बिना निर्ग्रन्थी			सांभोगिक संबंध व्यवस्था-९		
के रहने का निषेध	४५७	२२०	श्रमणों के पारस्परिक व्यवहार	४८२	२३१
अग्रणी साध्वी के काल करने पर साध्वी			सम्बन्ध विच्छेद करने के कारण	४८३	२३१
का कर्तव्य	४५८	२२०	सम्बन्ध विच्छेद करने का विधि-निषेध	४८४	२३२
विनय-व्यवहार-५			समनोज्ञ-असमनोज्ञों के व्यवहार	४८५	२३३
प्रव्रज्या पर्याय के अनुक्रम से वन्दना का			सदृश आचारवान को स्थान न देने के		
विधान	४५९	२२१	प्रायश्चित्त सूत्र	४८६	२३३
शैल और रत्नाधिक का व्यवहार	४६०	२२१	संभोग प्रत्याख्यान का फल	४८७	२३३
रत्नाधिक को अग्रणी मानकर विचरने			गृहस्थ के साथ व्यवहार-१०		
का विधान	४६१	२२१	सर्पदंश चिकित्सा के विधि-निषेध	४८८	२३४
अध्यापन व्यवस्था-६			गृहस्थ आदि के साथ भिक्षार्थ जाने का		
श्रमण का अध्ययन क्रम	४६२	२२३	निषेध	४८९	२३४
आचार प्रकल्प के अध्ययन योग्य वय का			गृहस्थ आदि के साथ भिक्षार्थ जाने का		
विधि-निषेध	४६३	२२४	प्रायश्चित्त सूत्र	४९०	२३४
विचारण-व्यवस्था-७			गृहस्थ आदि को अशनादि देने का निषेध	४९१	२३४
आचार्यादि के साथ रहने वाले निर्ग्रन्थियों			मांग-मौग कर याचना करने के		
की संख्या	४६४	२२४	प्रायश्चित्त सूत्र	४९२	२३५
प्रवर्तिनी आदि के साथ विचरने वाली			गृहस्थ से उपधि वहन कराने के		
निर्ग्रन्थियों की संख्या	४६५	२२५	प्रायश्चित्त सूत्र	४९३	२३६
अकेली निर्ग्रन्थी को जाने का निषेध	४६६	२२५	गृहस्थ को आहार देने का प्रायश्चित्त सूत्र	४९४	२३६
निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के विचारण क्षेत्र की			गृहस्थों के साथ आहार करने के		
मर्यादा	४६७	२२५	प्रायश्चित्त सूत्र	४९५	२३६
निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के विहार करने का			गन्तापक्रम-११		
विधि-निषेध	४६८	२२६	भिक्षु द्वारा गण-परित्याग	४९६	२३७
विकट क्षेत्र में जाने का विधि-निषेध	४६९	२२६	आचार्य-उपाध्याय द्वारा गण परित्याग	४९७	२३७
रात्रि में उपाश्रय से बाहर जाने का			श्रुत ग्रहण के लिए अन्य गण में जाने का		
विधि-निषेध	४७०	२२६	विधि-निषेध	४९८	२३८
अन्तःपुर में प्रवेश के कारण	४७२	२२७	सांभोगिक व्यवहार के लिए अन्य गण		
निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के सामूहिक व्यवहार-८			में जाने का विधि-निषेध	४९९	२३९
साधु-साध्वी के वार्तालाप करने के कारण	४७३	२२७	सांभोगिक व्यवहार के लिए गणसंक्रमण		
साधु-साध्वी के एक स्थान पर ठहरने के			का प्रायश्चित्त सूत्र	५००	२४१
कारण	४७४	२२७	आचार्य आदि को वाचना देने के लिए		
अचेलक के सचेलिका के साथ रहने के			अन्य गण में जाने का विधि-निषेध	५०१	२४१
कारण	४७५	२२८	अन्य गण से आये हुएों को गण में		
निर्ग्रन्थी को अवलम्बन देने के कारण	४७६	२२९	सम्मिलित करने के विधि-निषेध	५०२	२४२

विषय	सूचक	पृष्ठांक	आगम के अनुसार प्रायश्चित्त देने व ग्रहण करने का विधान		
एकल विहार चर्या-१२			तपाचार	५३७	२५६
एकल विहारी के आठ गुण	५०३	२४४	तप का स्वरूप एवं प्रकार-१		
अकेले भिक्षु के रहने का विधि-निषेध	५०४	२४४	तप का लक्षण	५३८	२५७
अपरिपक्व एकाकी भिक्षु के दोष	५०५	२४४	तप के प्रकार	५३९	२५८
अपवाद में एकाकी विहार का विधान	५०६	२४५	आजीविक तप के प्रकार	५४०	२५८
एकाकी भिक्षु की प्रशस्त विहार चर्या	५०७	२४५	अनशन तप-२		
एकाकी भिक्षु की अप्रशस्त विहार चर्या	५०८	२४६	अनशन के प्रकार	५४१	२५८
एकाकी विहारी का गण में पुनरागमन	५०९	२४६	इत्वरिक तप के भेद	५४२	२५८
एकाकी विहारी की समाधि	५१०	२४६	तपस्वी भिक्षु के कल्याणीय पानी	५४३	२५९
पार्श्वस्थ आदि के साथ व्यवहार व्यवस्था-१३			आजीवन अनशन	५४४	२६०
पारिवारिक के साथ भिक्षार्थ जाने का प्रायश्चित्त सूत्र	५११	२४७	संलेखना का काल क्रम	५४५	२६०
पार्श्वस्थ के साथ देन-लेन करने के प्रायश्चित्त सूत्र	५१२	२४७	पण्डित मरण का स्वरूप	५४६	२६०
अवसन्न के साथ देन-लेन करने के प्रायश्चित्त सूत्र	५१३	२४७	पण्डित मरण के प्रकार	५४७	२६१
कुशील के साथ देन-लेन करने के प्रायश्चित्त सूत्र	५१४	२४८	भक्त-प्रत्याख्यान अनशन	५४८	२६२
संसक्त के साथ देन-लेन करने के प्रायश्चित्त सूत्र	५१५	२४८	भक्त प्रत्याख्यात अणगार का परभद्र में आहार	५४९	२६२
नित्यक को देने-लेने के प्रायश्चित्त सूत्र	५१६	२४९	इगिनिमरण अनशन ग्रहण विधि	५५०	२६३
पार्श्वस्थ विहारी का गण में पुनरागमन	५१७	२५१	पादपोगमन अनशन ग्रहण विधि	५५१	२६४
यथाच्छन्द विहारी का गण में पुनरागमन	५१८	२५१	पादपोगमन अनशन	५५२	२६५
कुशील विहारी का गण में पुनरागमन	५१९	२५१	अनशन ग्रहण करने की दिशाएँ	५५३	२६५
अवसन्न विहारी का गण में पुनरागमन	५२०	२५१	अनशन का फल	५५४	२६५
संसक्त विहारी का गण में पुनरागमन	५२१	२५१	अवमोदरिका-३		
अन्य लिङ्ग ग्रहण के बाद गण में पुनरागमन	५२२	२५२	अवमोदरिका के भेद	५५५	२६६
कलह और उसकी उपशान्ति-१४			द्रव्य अवमोदरिका का स्वरूप	५५६	२६६
क्लेश के प्रकार	५२३	२५२	द्रव्य अवमोदरिका के भेद-प्रभेद	५५७	२६६
असंक्लेश के प्रकार	५२४	२५२	क्षेत्र अवमोदरिका	५५८	२६७
अहित करने वाले स्थान	५२५	२५३	काल अवमोदरिका	५५९	२६७
हित करने वाले स्थान	५२६	२५३	भाव अवमोदरिका	५६०	२६८
गण विग्रह के कारण	५२७	२५३	पर्यव अवमोदरिका	५६१	२६८
गण में विग्रह न होने के कारण	५२८	२५३	भिक्षाचर्या-४		
कलह उपशमन के विधि-निषेध	५२९	२५४	भिक्षाचर्या का स्वरूप	५६२	२६८
अन्य के अनुपशान्त रहने पर भी स्वयं को उपशान्त होने का निर्देश	५३०	२५४	भिक्षाचर्या के प्रकार	५६३	२६९
अनुपशान्त भिक्षु को पुनः स्वर्गण में भेजना	५३१	२५५	रस परित्याग-५		
समापना का फल	५३२	२५५	रस परित्याग का स्वरूप	५६४	२७२
कलह करने का प्रायश्चित्त सूत्र	५३३	२५५	रस परित्याग के प्रकार	५६५	२७२
एकाकी आगन्तुक भिक्षु को बिना निर्णय रखने का प्रायश्चित्त सूत्र	५३४	२५५	काय-क्लेश-६		
कलह करने वालों के साथ आहार करने का प्रायश्चित्त सूत्र	५३५	२५५	काय-क्लेश का स्वरूप	५६६	२७३
कदाप्राही के साथ लेन देन करने के प्रायश्चित्त सूत्र	५३६	२५६	काय-क्लेश के प्रकार	५६७	२७३
			निर्ग्रन्थियों के लिए आतापना का विधि-निषेध	५६८	२७४
			निर्ग्रन्थियों के लिए निषिद्ध काय-क्लेश	५६९	२७५
			प्रतिसंतीनता-७		

विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक	विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक
प्रतिसंलीनता के भेद	५७०	२७५	द्वितीय सप्त अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा	६०६	२८६
इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के भेद	५७१	२७६	तृतीय सप्त अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा	६०७	२८६
कषाय प्रतिसंलीनता के भेद	५७२	२७६	अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा	६०८	२८७
योग प्रति संलीनता के भेद	५७३	२७७	एक रात्रिकी भिक्षु प्रतिमा	६०९	२८७
एकान्त शयनासन के सेवन का स्वरूप	५७४	२७८	प्रतिमा ग्रहण करने से भुक्ति	६१०	२८८
विविक्त शयनासन के सेवन का फल	५७५	२७८	एषणा प्रतिमाएँ—८ (३)		
अनेक प्रकार के अप्रतिसंलीन प्रतिमाये-८(१)	५७६	२७८	आहार लेने की सात प्रतिमाएँ	६११	२८८
अनेक प्रकार की प्रतिमायें	५७७	२७९	पानी लेने की सात प्रतिमायें	६१२	२९०
भिक्षु प्रतिमाये-८(२)			प्रतिमा धारण करने वाले का वचन विवेक	६१३	२९१
भिक्षु प्रतिमाये	५७८	२७९	संस्तारक लेने की चार प्रतिमाये	६१४	२९२
प्रतिमा आराधन काल में उपसर्ग	५७९	२८०	वस्त्र लेने की चार प्रतिमाएँ	६१५	२९३
मासिकी भिक्षु प्रतिमा	५८०	२८१	पात्र लेने की चार प्रतिमाएँ	६१६	२९४
प्रतिमाधारी के भिक्षा काल	५८१	२८१	बड़े रहकर कायोत्सर्ग करने की चार प्रतिमाएँ	६१७	२९५
प्रतिमाधारी की गोचर चर्या	५८२	२८१	अवग्रह लेने की सात प्रतिमाएँ	६१८	२९५
प्रतिमाधारी का वसतिवास काल	५८३	२८२	दत्ति-प्रतिमाएँ-८(४)		
प्रतिमाधारी की कल्पनीय भाषाये	५८४	२८२	सप्तसप्तमिका भिक्षु प्रतिमा	६१९	२९६
प्रतिमाधारी के कल्पनीय उपाश्रय	५८५	२८२	अष्ट-अष्टमिका भिक्षु प्रतिमा	६२०	२९७
प्रतिमाधारी के कल्पनीय संस्तारक	५८६	२८२	नव-नवमिका भिक्षु प्रतिमा	६२१	२९७
प्रतिमाधारी को स्त्री-पुरुष का उपसर्ग	५८७	२८३	दश-दशमिका भिक्षु प्रतिमा	६२२	२९७
प्रतिमाधारी को अग्नि का उपसर्ग	५८८	२८३	दो प्रकार की चन्द्र प्रतिमाये	६२३	२९७
प्रतिमाधारी को ढूँठा आदि निकालने का निषेध	५८९	२८३	मन्त्रमध्य चन्द्र प्रतिमा	६२४	२९७
प्रतिमाधारी को प्राणी आदि निकालने का निषेध	५९०	२८३	वज्र मध्य चन्द्र प्रतिमा	६२५	३०१
सूर्यास्त होने पर विहार का निषेध	५९१	२८३	दत्ति प्रमाण निरूपण	६२६	३०५
सन्निभ पृथ्वी के निकट निद्रा लेने का निषेध	५९२	२८३	मोक प्रतिमा-विघात	६२७	३०५
मलावरोध का निषेध	५९३	२८४	प्रतिमा संग्रह—८ (५)		
सचित्त रजसुक्त शरीर से गोचरी जाने का निषेध	५९४	२८४	प्रतिमाओं का संग्रह	६२८	३०७
हस्तादि छोने का निषेध	५९५	२८४	विनय वैयावृत्य की प्रतिमाएँ	६२९	३०८
दुष्ट अश्वदि का उपद्रव होने पर भयभीत होने का निषेध	५९६	२८४	१० प्रायश्चित्त (क) (आभ्यन्तर तप) (१)		
सर्दी और गर्मी सहन करने का विधान	५९७	२८५	आभ्यन्तर तप का प्ररूपण	६३०	३०९
भिक्षु प्रतिमाओं का सम्यग् आराधन	५९८	२८५	आभ्यन्तर तप के भेद	६३१	३०९
द्वि मासिकी भिक्षु प्रतिमा	५९९	२८५	प्रायश्चित्त योग्य चारित्र	६३२	३०९
त्रैमासिकी भिक्षु प्रतिमा	६००	२८५	प्रायश्चित्त योग्य प्रतिसेवना के प्रकार	६३३	३०९
चातुर्मासिकी भिक्षु प्रतिमा	६०१	२८५	प्रायश्चित्त का स्वरूप	६३४	३१०
पंचमासिकी भिक्षु प्रतिमा	६०२	२८५	प्रायश्चित्त के प्रकार	६३५	३१०
षण्मासिकी भिक्षु प्रतिमा	६०३	२८५	आरोपणा—१ (ख)		
सप्तमासिकी भिक्षु प्रतिमा	६०४	२८६	आरोपणा के पौच प्रकार	६३६	३११
प्रथम सप्त अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा	६०५	२८६	आरोपणा के अट्ठाइस प्रकार	६३७	३१२
			दो मास प्रायश्चित्त की स्थापिता आरोपणा	६३८	३१२
			दो मास प्रायश्चित्त की प्रस्थापिता आरोपणा वृद्धि	६३९	३१३
			एक मास प्रायश्चित्त की स्थापिता आरोपणा	६४०	३१४
			एक मास प्रायश्चित्त की प्रस्थापिता आरोपणा वृद्धि	६४१	३१५
			मासिक और दो मासिक प्रायश्चित्त की प्रस्थापिता आरोपणा वृद्धि	६४२	३१६

विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक	विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक
आलोचना-१ (ग)			वैयावृत्य-विधान	६७६	३३८
आलोचना के कारण	६४३	३१८	ग्लान के निमित्त भेजे गये आहार		
आलोचना के दोष	६४४	३१८	का विधि-निषेध	६७७	३३८
आलोचना करने का क्रम	६४५	३१९	विशिष्ट चर्या में सेवा करने के संकल्प	६७८	३३९
आलोचना श्रवण के योग्य	६४६	३२०	वैयावृत्य का फल	६७९	३४०
आलोचना करने के योग्य	६४७	३२०	वैयावृत्य न करने आदि का प्रायश्चित्त सूत्र	६८०	३४१
साधर्मिकों की आलोचना तथा प्रस्थापनाविधि	६४८	३२०	ग्लान से सेवा करने का प्रायश्चित्त सूत्र	६८१	३४१
आलोचना न करने वाले का आर्तध्यान	६४९	३२१	विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक
आलोचना करने के कारण	६५०	३२१	स्वाध्याय-३		
आलोचना न करने के कारण	६५१	३२२	स्वाध्याय के भेद	६८२	३४२
आलोचना न करने का फल	६५२	३२३	सूत्र सीखने के हेतु	६८३	३४२
आलोचना करने का फल	६५३	३२३	स्वाध्याय का फल	६८४	३४२
आलोचना का फल	६५४	३२४	अन्यतीर्थिकादि के साथ स्वाध्याय भूमि गमन		
कपट साहेत तथा कपट रहित आलोचक			प्रायश्चित्त सूत्र	६८५	३४३
को प्रायश्चित्त देने की विधि	६५५	३२४	निन्दित कुल में स्वाध्याय देने का प्रायश्चित्त सूत्र	६८६	३४३
प्रस्थापना में प्रतिसेवना करने पर आरोपणा	६५६	३२७	सूत्र वाचना के हेतु	६८७	३४३
आलोचना और प्रायश्चित्त-१ (घ)			सूत्र वाचना के योग्य	६८८	३४३
आक्षेप लगाने वालों को प्रायश्चित्त	६५७	३३०	सूत्र वाचना के अयोग्य	६८९	३४४
अनुद्धातिक प्रायश्चित्त के योग्य	६५८	३३०	सूत्र वाचना का फल	६९०	३४४
अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य	६५९	३३०	घृणित कुल में वाचना देने लेने के		
अनवस्थाप्य ग्लान भिक्षु को लघु प्रायश्चित्त देने			प्रायश्चित्त सूत्र	६९१	३४४
का विधान	६६०	३३१	अविधि से वाचना देने के प्रायश्चित्त सूत्र	६९२	३४४
छेदोपस्थापनीय प्रायश्चित्त के योग्य	६६१	३३१	पार्श्वस्थादि की वाचना देने के प्रायश्चित्त सूत्र	६९३	३४५
पारायिक प्रायश्चित्त के योग्य	६६२	३३१	प्रतिप्रश्न का फल	६९४	३४६
पारायित ग्लान भिक्षु को लघु प्रायश्चित्त देने का			पुनरावृत्ति का फल	६९५	३४६
विधान	६६३	३३२	अनुप्रेक्षा का फल	६९६	३४६
लघु प्रायश्चित्त के योग्य	६६४	३३२	कथा के भेद	६९७	३४६
प्रायश्चित्त का फल	६६५	३३३	प्रवचन का स्वरूप	६९८	३४८
आत्मनिंदा का फल	६६६	३३३	धर्म कथा के विधि-निषेध	६९९	३४८
अनेक प्रकार की गृहा	६६७	३३३	धर्मकथा विवेक	७००	३४८
आत्मगृहा का फल	६६८	३३४	धर्मकथा का प्रभाव	७०१	३५०
परिहारिक तप-१ (ङ)			धर्मकथा का फल	७०२	३५१
परिहारिक और अपरिहारिकों का निषद्यादि			स्त्री परिषद में रात्रि धर्म कथा करने का		
व्यवहार	६६९	३३४	प्रायश्चित्त सूत्र	७०३	३५१
परिहारिक और अपरिहारिकों के परस्पर			ध्यान-४		
आहार सम्बन्धी व्यवहार	६७०	३३५	निषिद्ध ध्यान और विहित ध्यान	७०४	३५१
परिहारकल्पस्थित रुग्ण भिक्षु को अल्प			ध्यान के भेद	७०५	३५१
प्रायश्चित्त देने का विधान	६७१	३३६	आर्तध्यान के भेद	७०६	३५१
परिहार कल्पस्थित भिक्षु की वैयावृत्य	६७२	३३७	आर्तध्यान के लक्षण	७०७	३५२
वैयावृत्य-२			रौद्रध्यान के भेद	७०८	३५२
वैयावृत्य स्वरूप	६७३	३३७	रौद्रध्यान के लक्षण	७०९	३५२
वैयावृत्य करने वालों की चौभगी	६७४	३३७	धर्मध्यान के भेद	७१०	३५२
वैयावृत्य के प्रकार	६७५	३३७	धर्मध्यान के लक्षण	७११	३५३
			धर्मध्यान के आलम्बन	७१२	३५३

विषय	सूचक	पृष्ठांक			
धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएं	७१३	३५३	(१०) निपीधिका परीषह	७४९	३७४
शुक्ल ध्यान के भेद	७१४	३५३	(११) शय्या परीषह	७५०	३७४
शुक्ल ध्यान के लक्षण	७१५	३५४	(१२) आज्ञाश परीषह	७५१	३७५
शुक्ल ध्यान के अवलम्बन	७१६	३५४	(१३) वध परीषह	७५२	३७६
शुक्ल ध्यान की अनुप्रेक्षाएँ	७१७	३५४	(१४) याचना परीषह	७५३	३७६
कायोत्सर्ग—५			(१५) अलाभ परीषह	७५४	३७७
व्युत्सर्ग का स्वरूप	७१८	३५५	(१६) रोग परीषह	७५५	३७७
व्युत्सर्ग के भेद प्रभेद	७१९	३५५	(१७) तृण स्पर्श परीषह	७५६	३७७
कायोत्सर्ग का फल	७२०	३५६	(१८) जल परीषह	७५७	३७७
तपसमाधि एवं फल—६			(१९) सत्कार पुरस्कार परीषह	७५८	३७७
तपाचरण का उद्देश्य	७२१	३५७	(२०) प्रज्ञा परीषह	७५९	३७७
तपाचरण का फल	७२२	३५७	(२१) अज्ञान-परीषह	७६०	३७८
तपादि के चोरो की दुर्गति	७२३	३५८	(२२) दर्शन-परीषह	७६१	३७८
तपस्वियों और नैरयिकों के कर्म			सभी परीषह जीतने का निर्देश	७६२	३७८
निर्जरा की तुलना	७२४	३५८	परीषहों से अपराजित मुनि	७६३	३७८
तप से प्राप्त चारणलब्धि का वर्णन	७२५	३६०	परीषहों से पराजित मुनि	७६४	३७९
			परीषह सहन करने वाला भिक्षु	७६५	३७९
			परीषहजय का फल	७६६	३८०
			उपसर्ग—अप-३		
			अनेक प्रकार के उपसर्ग	७६७	३८०
			देवकृत उपसर्ग	७६८	३८०
			मानवकृत उपसर्ग	७६९	३८०
			तिर्यक्कृत उपसर्ग	७७०	३८१
			अविषेकोन्मूत उपसर्ग	७७१	३८१
			प्रतिकूल उपसर्ग	७७२	३८१
			मोह संग सम्बन्धी उपसर्ग	७७३	३८१
			उपसर्गों से अपीड़ित मुनि	७७४	३८३
			पूर्व पुरुषों के दृष्टान्त से संयम शिथिल मुनि	७७५	३८४
			परीषह सहने का निर्देश	७७६	३८५
			परीषह सहने का फल	७७७	३८५
			पञ्चेन्द्रिय विरतिकरण—४		
			शब्द की आसक्ति का निषेध	७७८	३८५
			रूप की आसक्ति का निषेध	७७९	३८६
			गंध की आसक्ति का निषेध	७८०	३८८
			रस की आसक्ति का निषेध	७८१	३८९
			स्पर्श की आसक्ति का निषेध	७८२	३९०
			वीर्य-शक्ति—५		
			समत्व बुद्धि से आत्म-शक्ति का समुत्थान	७८३	३९२
			आत्म-वीर्य में चार अंग दुर्लभ	७८४	३९२
			आत्म-बल से कर्म क्षय	७८५	३९२
			मुनित्व से कर्म क्षय	७८६	३९२
			अप्रमत्त भावना से करणीय कृत्य	७८७	३९३
			आज्ञानुसार आचरण करने का उपदेश	७८८	३९३
			प्रमाद परित्याग का उपदेश	७८९	३९४

विषय	सूत्रांक	पृष्ठांक			
तीन प्रकार की धर्म जागरणा	७९०	३९४	कषायों को कृश करने का पराक्रम	८०७	४०३
एकत्वं अन्यत्वं भावना	७९१	३९४	बंधन से मुक्त होने का पराक्रम	८०८	४०३
अनित्य- भावना	७९२	३९५	लोकज्ञ ही आत्मज्ञ	८०९	४०४
अशरण भावना	७९३	३९५	आत्मवादी का सम्यक् पराक्रम	८१०	४०४
मैत्री भावना	७९४	३९६	जानादि से मुक्त भुनि का पराक्रम	८११	४०४
संवर भावना	७९५	३९६	समाधि के इच्छुक श्रमण का पराक्रम	८१२	४०४
संयम में पराक्रम-६			संयम में पराक्रम करने वाले की मुक्ति	८१३	४०५
प्रज्ञावानों का पराक्रम	७९६	३९६	धर्म में पराक्रम के लिए एलक का दृष्टि	८१४	४०६
पण्डित का पराक्रम	७९७	३९७	धर्म में पराक्रम के लिए काकिणी और आम्र का दृष्टांत	८१५	४०७
समत्वदर्शी का पराक्रम	७९८	३९७	धर्म में पराक्रम के लिए वणिक का दृष्टांत	८१६	४०७
मुक्तात्मा का स्वरूप	७९९	३९७	धर्म में पराक्रम के लिए दिव्य-मानुषिक भोग की तुलना	८१७	४०८
वीर पुरुष का पराक्रम	८००	३९७	धर्म में पराक्रम के लिए उपदेश	८१८	४०८
भिक्षु का पराक्रम	८०१	३९९	धर्म में पराक्रम का समय	८१९	४०८
आत्मगुप्त भिक्षु का पराक्रम	८०२	३९९	वीतराग-भाव-७		
मेधावी मुनि का पराक्रम	८०३	४००	वीतराग भाव की प्ररूपणा	८२०	४०९
महर्षि का पराक्रम	८०४	४०२	कर्म-निर्जरा का फल	८२१	४११
परिग्रह के परित्याग में अप्रमत्त का पराक्रम	८०५	४०२	वीतरागता का फल	८२२	४११
कर्म भेदन में पराक्रम	८०६	४०२	उपसंहार	८२३	४११



संकेत स्पष्टीकरण

प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्धृत आगमों के संक्षिप्त संकेतों का स्पष्टीकरण

आ. सु. अ. उ. सु.	आधारांग, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक, सूत्र
आ. अ.	आवश्यक सूत्र, अध्ययन
उ. अ. गा.	उत्तराध्ययन, अध्ययन, गाथा
उव. सु.	उववाइ (औपपातिक) सूत्र
उवा. अ.	उवासगदशा (उपासकदशा) अध्ययन
कल्प. उ. सु.	कल्पदशा (बृहत्कल्प सूत्र) उद्देशक, सूत्र
ठाण. अ. उ. सु.	ठाणांग, अध्ययन (स्थान) उद्देशक, सूत्र
णाया. अ.	णायाधम्मकहा (ज्ञाता धर्मकथा) अध्ययन
दस. अ. गा.	दशवैकालिक, अध्ययन, गाथा
दसा. द.	दशाश्रुतस्कन्ध-दशा, सूत्र
नि. उ.	निशीथ सूत्र, उद्देशक, सूत्र
पण्ह. (प.) सु अ. सु.	पण्हावागरण (प्रश्न व्याकरण) श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, सूत्र
धव. उ.	व्यवहार सूत्र उद्देशक
वि. (विया) स. उ.	विवाह प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) शतक, उद्देशक
सम. स.	समवायांग, समवाय सूत्र
सूय. अ. उ. गा.	सूयगडांग (सूत्रकृतांग) श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, गाथा

चरणानुयोग

[द्वितीय भाग]



चारित्राचार

[प्रथम भाग से आगे क्रमशः]

(१) दीक्षा

प्रव्रज्या ग्रहण : विधि-निषेध—१

धम्मन्तराय कम्मलओवसमेणं पव्वएज्जा—

* १३३६. प०—असोच्चा णं भंते ! केवलस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा केवलं मुंढे भविता अगाराओ अण-गारियं पव्वएज्जा ?

उ०—गोयमा ! असोच्चा णं केवलस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा अत्थेगत्तिए केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, अत्थेगत्तिए केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं नो पव्वएज्जा ।

प०—से केणह्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—

असोच्चा णं केवलस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा अत्थेगत्तिए केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, अत्थेगत्तिए केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं नो पव्वएज्जा ?

उ०—गोयमा ! जस्स णं धम्मन्तराइयाणं कम्माणं लओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ।

जस्स णं धम्मन्तराइयाणं कम्माणं लओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं नो पव्वएज्जा ।

से तेणह्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—

असोच्चा णं केवलस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए अत्थेगइए केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा अत्थेगइए केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं नो पव्वएज्जा ।

—वि. ग. ६, उ. ३१, सु. ४

धम्मन्तराय कर्मों के क्षयोपशम से प्रव्रज्या—

१३३६. प्र०—भन्ते ! केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से बिना सुने कोई जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित हो सकता है ?

उ०—गौतम ! केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुने बिना कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित हो सकता है और कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित नहीं हो सकता है ।

प्र०—भन्ते ! किस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है ?

केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुने बिना कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित हो सकता है और कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास छोड़कर प्रव्रजित नहीं हो सकता है ?

उ०—गौतम ! जिसके धम्मन्तराय कर्मों का क्षयोपशम हुआ है वह केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुने बिना मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित हो सकता है ।

जिसके धम्मन्तराय कर्मों का क्षयोपशम नहीं हुआ है वह केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुने बिना मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित नहीं हो सकता है ।

गौतम ! इस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—

केवलि से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुने बिना कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित हो सकता है । और कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित नहीं हो सकता है ।

* यह सूत्रांक भाग १ से आगे चालू है । प्रथम भाग में १३३८ तक सूत्र हैं ।

१ (क) अनगार धर्म की प्राप्ति में चारित्र्यमोहनीय कर्म अन्तराय करता है अतः धम्मन्तराय कर्म, चारित्र्यमोहनीय कर्म ही है—उसके क्षयोपशम से प्रव्रज्या ग्रहण की जा सकती है, ऐसा समझना चाहिए ।

(ख) वि. स. ६, उ. ३१, सु. १३ ।

प०—सोच्चा णं भन्ते ! केवलस्स वा-जाव-तप्पवित्थयउवा-
सियाए वा केवलं मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगारियं
पव्वएज्जा ?

उ०—गोयमा ! सोच्चा णं केवलस्स वा-जाव-तप्पवित्थय-
उवासियाए वा अत्थेगतिए केवलमुंढे भवित्ता
अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, अत्थेगतिए केवलं
मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगारियं नो पव्वएज्जा ।

प०—से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुक्खई—
सोच्चा णं केवलस्स वा जाव तप्पवित्थयउवासियाए
वा अत्थेगतिए केवलं मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगा-
रियं पव्वएज्जा, अत्थेगतिए केवलं मुंढे भवित्ता अगा-
राओ अणगारियं नो पव्वएज्जा ?

उ०—गोयमा ! जस्स णं धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवससे
कडे भवइ से णं सोच्चा केवलस्स वा-जाव-तप्पवित्थय-
उवासियाए वा केवलं मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगा-
रियं पव्वएज्जा ।

जस्स णं धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवससे नो कडे
भवइ, से णं सोच्चा केवलस्स वा-जाव-तप्पवित्थय-
उवासियाए वा केवलं मुंढे भवित्ता अगाराओ अण-
गारियं नो पव्वएज्जा ।

से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं वुक्खई—
सोच्चा केवलस्स वा-जाव-तप्पवित्थयउवासियाए वा
अत्थेगइए केवलं मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगारियं
पव्वएज्जा । अत्थेगइए केवलं मुंढे भवित्ता अगाराओ
अणगारियं नो पव्वएज्जा ।

—वि. स. ६, उ. ३१, सु. ३२

पव्वएज्जा पालगस्स चउभंगी—

१३४०. चत्तारि पुरिसजाया पणत्ता, तं जहा—

(१) सीहत्ताए णाममेगे णिक्खंते सीहत्ताए विहरइ,

(२) सीहत्ताए णाममेगे णिक्खंते सीयालत्ताए विहरइ,

(३) सीयालत्ताए णाममेगे णिक्खंते सीहत्ताए विहरइ,

(४) सीयालत्ताए णाममेगे णिक्खंते सीयालत्ताए विहरइ ।

—ठाणं. अ. ४, उ. ३, सु. ३२६

प्र०—भन्ते ! केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपा-
सिका से सुनकर कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को
छोड़कर प्रव्रजित हो सकता है ?

उ०—गौतम ! केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपा-
सिका से सुनकर कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को
छोड़कर प्रव्रजित हो सकता है और कोई एक जीव मुण्डित होकर
गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित नहीं हो सकता है ।

प्र०—भन्ते ! किस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है—

केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुनकर
कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित
हो सकता है और कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को
छोड़कर प्रव्रजित नहीं हो सकता है ?

उ०—गौतम ! जिसके धर्मान्तराय कर्मों का अवोपशम
हुआ है वह केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से
सुनकर मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित हो
सकता है ।

जिसके धर्मान्तराय कर्मों का अवोपशम नहीं हुआ है वह
केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुनकर मुण्डित
होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित नहीं हो सकता है ।

गौतम ! इस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—

केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुनकर
कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित
हो सकता है । कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को
छोड़कर प्रव्रजित नहीं हो सकता है ।

प्रव्रज्या-पालक की चौभंगी—

१३४०. पुरुष चार प्रकार के कहे गये हैं । जैसे—

(१) कोई पुरुष सिंहवृत्ति से प्रव्रजित होता है और सिंह
वृत्ति से ही विचरता है अर्थात् संयम का दृढ़ता से पालन
करता है ।

(२) कोई पुरुष सिंहवृत्ति से प्रव्रजित होता है किन्तु शृगाल
वृत्ति से विचरता है, अर्थात् दीनवृत्ति से संयम का पालन
करता है ।

(३) कोई पुरुष शृगालवृत्ति से प्रव्रजित होता है, किन्तु
सिंहवृत्ति से विचरता है,

(४) कोई पुरुष शृगालवृत्ति से प्रव्रजित होता है और
शृगालवृत्ति से ही विचरता है ।

तिविहा संज्ञया—

*४१. (१) जे पुष्पद्वारं गो पच्छाणिवातो,

(२) जे पुष्पद्वारं, पच्छाणिवातो,

(३) जे गो पुष्पद्वारं गो पच्छाणिवातो ।

से वि तारिसए सिधा जे परिणाय लोगमण्येसथंति ।

एयं निवाय मुणिणा पवेदितं—इह आणाकंलो पंडिते अणिहे पुष्पावररायं जयमाणे सया सीलं संपेहाए सुणिया भवे अकामे अमंजे ।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. ३, सु. १५८

पव्वज्जा जोग्गाजणा—

४२. वो ठाणाइं अपरियाइत्ता आया गो केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा,

तं जहा—आरंभे चेव, परिगहे चेव ।

दो ठाणाइं परिगइत्ता आया केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा,

तं जहा—आरंभे चेव, परिगहे चेव ।

—ठाणं. अ. २, उ. १, सु. ५४-५५

पव्वज्जा जोग्गा जामा—

४३. तओ जामा पणत्ता, तं जहा—

पढमे जामे, मज्झिमे जामे, पच्छिमे जामे ।

तिहि जामेहि आया केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा, तं जहा—

पढमे जामे, मज्झिमे जामे, पच्छिमे जामे ।

—ठाणं. अ. ३, उ. २, सु. १६३

पव्वज्जा जोग्गा वया—

४४. तओ वया पणत्ता, तं जहा—

पढमे वए, मज्झिमे वए, पच्छिमे वए ।

तिहि वएहि आया केवलं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा । तं जहा—

तीन प्रकार के संयत—

४१. (१) जो पहले प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं और उसी पिठा से उसका पालन करते हैं वे साधना पथ से च्युत नहीं होते हैं ।

(२) जो पहले प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं किन्तु बाद में उससे च्युत हो जाते हैं ।

(३) जो न तो पहले प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं और न ही बाद में च्युत होते हैं ।

जो साधक लोक को परिज्ञा से जानकर उसका त्याग कर पुनः लोकैषणा में संलग्न हो जाता है वह भी गृहस्थ जैसा ही हो जाता है ।

यह केवलज्ञान से जानकर तीर्थंकरों ने कहा है—पंडित भुनि आज्ञा में रुचि रखे, स्नेह न करे । रात्रि के प्रथम और अन्तिम भाग में (स्वाध्याय और ध्यान) करे । सदा शील का अनुपालन करे । परमतरु को सुनकर काम और कलह से मुक्त हो जाय ।

प्रव्रज्या योग्य जन—

४२. आरम्भ और परिग्रह—इन दो स्थानों को जाने और छोड़े बिना आत्मा मुण्ड होकर, घर को छोड़कर सम्पूर्ण अनगरिता को नहीं पाता ।

आरम्भ और परिग्रह—इन दो स्थानों को जानकर और छोड़कर आत्मा मुण्ड होकर घर छोड़कर सम्पूर्ण अनगरिता को पाता है ।

प्रव्रज्या योग्य प्रहर—

४३. तीन प्रकार के याम (प्रहर) कहे गये हैं यथा—

(१) प्रथम याम, (२) मध्यम याम, (३) अन्तिम याम ।

तीनों ही यामों में आत्मा मुण्डित होकर गृहवास का परित्याग कर प्रव्रजित होता है । यथा—

(१) प्रथम याम, (२) मध्यम याम, (३) अन्तिम याम ।

प्रव्रज्या योग्य वय—

४४. तीन प्रकार के वय कहे गये हैं । यथा—

(१) प्रथम वय, (२) मध्यम वय, (३) अन्तिम वय ।

तीनों ही वयों में आत्मा मुण्डित होकर गृहवास का परित्याग कर प्रव्रजित होता है । यथा—

* सूत्रांक ४१ में १३०० जोड़कर पढ़ें । आगे प्रेस की सुविधा व स्थान अधिक खाली न रहे अतः १३०० कम करके ४१ का अंक ही रखा गया है ।

१ (क) जामा तिणिण उदाहिंया जेसु इमे आगरिया संबुज्जमाणा समुट्ठिया ।

(ख) मज्झिमेणं वयसा वि एगे संबुज्जमाणा समुट्ठिता सोच्चा मेधादी वयणं पंडियाणं णिसामिया ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. १, सु. २०२

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ३, सु. २०६ (क)

पहमे वए, मज्झिमे वए, पच्छिमे वए ।

—ठाणं. आ ३, उ. २, सु. १६३

पव्वज्जा जोग्गा विसा—

४५. दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा पक्खावित्तए-पार्हणं चेव, उदीणं चेव ।

दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, मुंढावित्तए सिक्खावित्तए उवट्ठावित्तए संभुजित्तए संब-
सित्तए सज्जायमुद्दिसित्तए सज्जायं समुद्दिसित्तए सज्जाधमणु-
जाणित्तए आलोदित्तए पडिक्कमित्तए निदित्तए गरहित्तए
विउट्ठित्तए विसोहित्तए अकरणयाए अबुद्धित्तए अहारिहं
पायचिच्छत्तं तवोकम्भं पडिवज्जित्तए—

पार्हणं चेव, उदीणं चेव ।

—ठाणं. अ. २, उ. १, सु. ६६ (क)

पक्खावणार्हणं विहि-णिसेहो—

४६. नो कप्पह्म निग्गंथाणं निग्गंथि अप्पणो अट्ठाए पक्खावेत्तए वा,
मुंढावेत्तए वा, सेहावेत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संबासित्तए
वा, संभुजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

कप्पह्म निग्गंथाणं निग्गंथि अन्नेसि अट्ठाए पक्खावेत्तए वा
-जाव-संभुजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

नो कप्पह्म निग्गंथीणं निग्गंथं अप्पणो अट्ठाए पक्खावेत्तए वा
-जाव-संभुजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा
उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

कप्पह्म निग्गंथीणं निग्गंथं अण्णेसि अट्ठाए पक्खावेत्तए वा-जाव-
संभुजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दि-
सित्तए वा धारेत्तए वा । —वव. उ. ७, सु. ६-६

खुड्डगस्स खुड्डियाए वा उवट्ठावण विहि-णिसेहो—

४७. नो कप्पह्म निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा
अणट्ठावासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुजित्तए वा ।

कप्पह्म निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा
साइरेगअट्ठावासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुजित्तए वा ।

—वव. उ. १०, सु. २०-२१

(१) प्रथम वय में, (२) मध्यम वय में, (३) अन्तिम
वय में ।

प्रव्रज्या योग्य दिशा—

४५. निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों पूर्व और उत्तर इन दो दिशाओं
की ओर मुंह कर प्रव्रजित करें ।

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों पूर्व और उत्तर इन दो दिशाओं
की ओर मुंह कर मुण्डित करें, शिक्षा दें, महाव्रतों में आरोपित
करें, भोजन-मण्डली में सम्मिलित करें, संस्तारक मण्डली में
सम्मिलित करें, स्वाध्याय का उद्देश दें, स्वाध्याय का समुद्देश
दें, स्वाध्याय की अनुज्ञा दें, आलोचना करें, प्रतिक्रमण करें,
निन्दा करें, गद्दी करें, पश्चात्ताप करें, विशोधि करें, सावद्ध-
प्रवृत्ति न करने के लिए उठें, यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म
स्वीकार करें ।

प्रव्रजित करने आदि के विधि-निषेध—

४६. निर्ग्रन्थियों को अपनी शिष्या बनाने के लिए प्रव्रजित
करना, मुण्डित करना, शिक्षित करना, चारित्र्य में पुनः उपस्था-
पित करना, उसके साथ रहना और साथ बैठकर भोजन करना
निर्ग्रन्थ को नहीं कल्पता है तथा अल्पकाल या यावज्जीवन के
लिए पद देना या उसे धारण करना नहीं कल्पता है ।

अन्य की शिष्या बनाने के लिए किसी निर्ग्रन्थी को प्रव्र-
जित करना—यावत्—साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश
देना निर्ग्रन्थ को कल्पता है तथा अल्पकाल या यावज्जीवन के
लिए पद देना या उसे धारण करना कल्पता है ।

निर्ग्रन्थ को अपने लिए प्रव्रजित करना—यावत्—साथ
बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थी को नहीं
कल्पता है तथा अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए पद देना या
उसे धारण करना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थ को अन्य (आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक) के
लिए प्रव्रजित करना—यावत्—साथ बैठकर भोजन करने के
लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थी को कल्पता है तथा अल्पकाल या
यावज्जीवन के लिए पद देना या उसे धारण करने के लिए
अनुज्ञा देना कल्पता है ।

बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा आदि का विधि-निषेध—

४७. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आठ वर्ष से कम उम्र वाले बालक-
बालिका को बड़ी दीक्षा देना और उनके साथ आहार करना
नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आठ वर्ष से अधिक उम्र वाले बालक
बालिका को बड़ी दीक्षा देना और उनके साथ आहार करना
कल्पता है ।

पञ्चयमाणस्त उवगरणपरुचणा—

४८. निगंधस्त तप्यद्वमयाए संपञ्चयमाणस्त कप्यइ रयहरण-
गोच्छग-पडिगह-मायाए तिहि कसिणेहि वत्थेहि आयाए संपञ्चइत्तए ।

से य पुण्णोवट्टिए सिया, एवं से नो कप्यइ रयहरण-गोच्छग-
पडिगहमायाए तिहि कसिणेहि वत्थेहि आयाए संपञ्चइत्तए ।

कप्यइ से अहापरिगहियाइ वत्थाइ गहाय-आयाए संपञ्च-
इत्तए ।

निगंधीए णं तप्यद्वमयाए संपञ्चयमाणीए कप्यइ रयहरण-
गोच्छग-पडिगहमायाए चउहि कसिणेहि आयाए संपञ्च-
इत्तए ।

सा य पुण्णोवट्टिया सिया एवं से नो कप्यइ रयहरण-गोच्छग
पडिगहमायाए चउहि कसिणेहि वत्थेहि आयाए संपञ्च-
इत्तए ।

कप्यइ से अहापरिगहियाइ वत्थाइ गहाय-आयाए संपञ्च-
इत्तए ।

—कप्य. उ. ३, सु. १४-१५

पञ्चज्जा अजोग्गा—

४९. तओ णो कप्पंति पक्खावेत्तए सं जहा—

(१) पंडए, (२) वातिए, (३) कीबे ।

तओ णो कप्पंति मुंजावित्तए, सिक्खावित्तए, उवट्ठावित्तए,
संभुजित्तए संवासित्तए, तं जहा—

पंडए, वातिए, कीबे । —ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २०४

असमत्थपक्खावण-पायच्छित्तसुत्तं—

५०. जे भिक्खू णायगं वा, अणायगं वा, उवासगं वा, अनुवासगं
वा, अणत्तं पक्खावेत्त पक्खावेत्तं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आक्खजइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अनुग्याइयं ।

—नि. उ. ११, सु. ८४

प्रव्रजित होने वाले के उपकरणों का प्ररूपण —

४८. गृहवास त्यागकर सर्वप्रथम प्रव्रजित होने वाले निर्ग्रन्थ को
रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र अपने साथ
लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है ।

यदि वह पहले दीक्षित हो चुका हो तो उसे रजोहरण,
गोच्छक, पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नहीं
कल्पता है ।

किन्तु पूर्व गृहीत वस्त्रों को लेकर आत्मभाव से प्रव्रजित
होना कल्पता है ।

गृहवास त्यागकर सर्वप्रथम प्रव्रजित होने वाली निर्ग्रन्थी
को रजोहरण गोच्छक पात्र तथा चार अखण्ड वस्त्र अपने साथ
लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है ।

यदि वह पहले दीक्षित हो चुकी हो तो उसे रजोहरण,
गोच्छक, पात्र तथा चार अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नहीं
कल्पता है ।

किन्तु पूर्व गृहीत वस्त्रों को लेकर आत्मभाव से प्रव्रजित
होना कल्पता है ।

प्रव्रज्या के अयोग्य—

४९. तीन को प्रव्रजित करना नहीं कल्पता है, यथा—

(१) नपुंसक, (२) वातिक, (३) और क्लीब ।

तीन को मुण्डित करना, शिक्षा देना महायत्नों में आरोपित
करना, उनके साथ आहार आदि का सम्बन्ध रखना और उनके
साथ रहना या उसे साथ रखना नहीं कल्पता है । यथा—

नपुंसक, वातिक और क्लीब^१ ।

असमर्थ को प्रव्रजित करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

५०. जो भिक्षु अयोग्य स्वजन को, परिजन को, उपासक को,
और अनुपासक को प्रव्रजित करता है, करवाता है, करने वाले
का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुद्वातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।



१ कप्य. उ. ४, सु. ४-६ ।

२ प्रथम सामान्य नपुंसक है, द्वितीय-तृतीय विशेष प्रकार के नपुंसक हैं ।

प्रव्रज्या के प्रकार—२

।विविधविहा पञ्चज्या —

५१. चउविहः पञ्चज्या पणत्ता, तं जहा—

- (१) इहलोगपञ्चिबद्धा,
- (२) परलोगपञ्चिबद्धा,
- (३) बुहओलोगपञ्चिबद्धा,^१
- (४) अप्पञ्चिबद्धा ।

चउविहः पञ्चज्या पणत्ता, तं जहा—

- (१) पुरओ पञ्चिबद्धा,
- (२) मग्गओ पञ्चिबद्धा,
- (३) बुहओ पञ्चिबद्धा,^२
- (४) अप्पञ्चिबद्धा ।

चउविहः पञ्चज्या पणत्ता, तं जहा—

- (१) ओवाय-पञ्चज्या,
- (२) अक्खत्त-पञ्चज्या,
- (३) संगार-पञ्चज्या,^३
- (४) विगह-गह-पञ्चज्या ।

चउविहः पञ्चज्या पणत्ता, तं जहा—

- (१) तुयावइत्ता,
- (२) पुयावइत्ता,
- (३) बुआवइत्ता,^४
- (४) परिपुयावइत्ता ।

चउविहः पञ्चज्या पणत्ता, तं जहा—

- (१) गडसइया,
- (२) भडसइया,
- (३) सीहसइया,

विविध प्रकार का प्रव्रज्या—

५१. प्रव्रज्या (निर्ग्रन्थ दीक्षा) चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) इस लोक की सुख-कामना से ली जाने वाली प्रव्रज्या ।
- (२) परलोक की सुख-कामना से ली जाने वाली प्रव्रज्या ।
- (३) दोनों लोकों की सुख-कामना से ली जाने वाली प्रव्रज्या ।

(४) किसी भी प्रकार की कामना से रहित होकर ली जाने वाली प्रव्रज्या ।

पुनः प्रव्रज्या चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

(१) मनोज्ञ आहारादि की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली प्रव्रज्या ।

(२) परिवार की प्रतिष्ठा बढ़ाने की कामना से ली जाने वाली प्रव्रज्या ।

(३) उपरोक्त दोनों प्रकार की कामना से ली जाने वाली प्रव्रज्या ।

(४) उक्त दोनों प्रकार की कामनाओं से रहित होकर ली जाने वाली प्रव्रज्या ।

पुनः प्रव्रज्या चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) सद्-गुरुओं की सेवा से प्राप्त होने वाली दीक्षा ।
- (२) दूसरों के कहने से ली जाने वाली दीक्षा ।
- (३) परस्पर प्रतिष्ठाबद्ध होने से ली जाने वाली दीक्षा ।
- (४) परिवारादि से अलग होकर देशान्तर में जाकर ली जाने वाली दीक्षा ।

पुनः प्रव्रज्या चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) कष्ट देकर दी जाने वाली दीक्षा ।
- (२) अन्यत्र ले जाकर दी जाने वाली दीक्षा ।
- (३) बातचीत करके दी जाने वाली दीक्षा ।
- (४) स्निग्ध, मिष्ट भोजन कराकर दी जाने वाली दीक्षा ।

पुनः प्रव्रज्या चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

(१) नट की तरह धर्मकथा कहकर आजीविका की जाने वाली प्रव्रज्या ।

(२) सुभट के समान खल प्रदर्शन कर आजीविका की जाने वाली प्रव्रज्या ।

(३) सिंह के समान दूसरों को भयभीत कर आजीविका की जाने वाली प्रव्रज्या ।

(४) सियालखइया ।

— ठाणं. अ. ४, उ. ४, सु. ३५२

पव्वज्जाए किसी-उपमा—

५२. चउखिहा किसी पणत्ता, तं जहा—

- (१) वाविमा,
- (२) परिवाविमा,
- (३) णिविता,
- (४) परिणिदिता ।

एवामेव चउखिहा पव्वज्जा पणत्ता, तं जहा—

- (१) वाविता,
- (२) परिवाविता,
- (३) णिविता,
- (४) परिणिदिता ।

— ठाणं. अ. ४, उ. ४, सु. ३५५

पव्वज्जाए धणोवमा—

५३. चउखिहा पव्वज्जा पणत्ता, तं जहा—

- (१) धणपुजितसमाणा,
- (२) धणखिरलितसमाणा,
- (३) धणविखितसमाणा,
- (४) धण संकडित समाणा ।

— ठाणं. अ. ४, उ. ४, सु. ३५५

मुण्डणस्सपगारा—

५४. पंच मुंडा पणत्ता, तं जहा—

- (१) सोत्तिदियमुंडे (२) चक्खियमुंडे, (३) घाणियमुंडे,
- (४) जिह्वियमुंडे, (५) कांसियमुंडे ।

पंच मुंडा पणत्ता, तं जहा—

- (१) कोहमुंडे, (२) माणमुंडे, (३) मायामुंडे,
- (४) लोभमुंडे, (५) शिरमुंडे ।

— ठाणं. अ. ५, उ. ३, सु. ४४३ (२-३)

दस पव्वज्जा पगारा—

५५. दसविधा पव्वज्जा पणत्ता, तं जहा—

- (१) छंवा, (२) रोसा, (३) परिजुणा,
- (४) मुविणा, (५) पडिमुता चेव, (६) सारणिया

(४) सियाल के समान दीन-वृत्ति से आजीविका की जाने

वाली प्रव्रज्या ;

प्रव्रज्या को कृषि की उपमा—

५२. कृषि (खेती) चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) एक बार बोयी गई कृषि ।
- (२) उगे हुए धान्य को उखाड़कर रोपण की जाने वाली कृषि ।
- (३) घास को निकालकर तैयार की जाने वाली कृषि ।
- (४) घास को अनेक बार निवारण करने पर होने वाली कृषि ।

इसी प्रकार प्रव्रज्या भी चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) सामायिक चारित्र में आरोपित करना (छोटी दीक्षा)
- (२) महाव्रतों में आरोपित करना (बड़ी दीक्षा)
- (३) एक बार आलोचना से आने वाली दीक्षा ।
- (४) बार-बार आलोचना से आने वाली दीक्षा ।

प्रव्रज्या को धान्य की उपमा—

५३. प्रव्रज्या चार प्रकार की कही गई है, जैसे—

- (१) खलिहान में साफ करके रखे गए धान्यपुंज के समान निर्दोष प्रव्रज्या ।
- (२) साफ किये गये किन्तु खलिहान में बिखरे हुए धान्य के समान अल्प-अतिचार वाली प्रव्रज्या ।
- (३) खलिहान में बैलों आदि के द्वारा कुचले गये धान्य के समान बहु-अतिचार वाली प्रव्रज्या ।
- (४) खेत से काटकर खलिहान में लाए गये धान्य-फूलों के समान बहुततर अतिचार वाली प्रव्रज्या ।

मुण्डन के प्रकार—

५४. मुण्ड (जयी) पाँच प्रकार के होते हैं—

- (१) श्रोत्रेन्द्रिय मुण्ड, (२) चक्षुरिन्द्रिय मुण्ड, (३) घ्राणेन्द्रिय मुण्ड, (४) जिह्वेन्द्रिय मुण्ड, (५) स्पर्शेन्द्रिय मुण्ड ।

मुण्ड पाँच प्रकार के होते हैं—

- (१) क्रोध मुण्ड, (२) मान मुण्ड, (३) माया मुण्ड,
- (४) लोभ मुण्ड, (५) शिरो मुण्ड ।

प्रव्रज्या के दस प्रकार—

५५. दस प्रकार से प्रव्रज्या ली जाती है, जैसे—

- (१) अगनी इच्छा से, (२) रोष से, (३) दरिद्रता से,
- (४) स्वप्न के निमित्त से, (५) पहने की हुई प्रतिज्ञा के कारण,

(७) रोगिणिया, (८) अणाहिता, (९) वेवसणत्ती,
(१०) वल्लणुबन्धिया । —ठाणं अ. १०, सु. ७१२

(६) पूर्व जन्म स्मरण से, (७) रोग के निमित्त से, (८) अनादर होने पर, (९) देव द्वारा बोध पाने पर, (१०) दीक्षित होते हुए पुत्र के निमित्त से ली जाने वाली दीक्षा ।

बुद्धांतकरी पव्वज्जा—

५६. सुणेह से एगग्गमणा, मग्गं बुद्धेहि वेसियं ।
जमायरत्तो भिक्खू बुद्धाणन्तकरो मग्गे ॥

गिहवासं परिच्यज्ज पव्वज्जा मासिओ मुणी ।
इमे संगे विपाणिज्जा ओहि सज्जन्ति गाणवा ॥१

—उत्त. अ. ३५, गा. १-२

दुःख का अन्त करने वाली प्रव्रज्या—

५६. तुम एकाग्र मन होकर (तीर्थकरों) के द्वारा उपदिष्ट मार्ग को मुझ से सुनो जिसका आचरण करता हुआ भिक्षु दुःखों का अन्त कर देता है ।

जो मुनि गृहवास को छोड़कर प्रव्रज्या को अंगीकार कर चुका है वह इन कर्मबन्ध के स्थानों को जाने जिनमें कि मनुष्य बासक्त होते हैं ।



उपस्थापना—विधि-निषेध—३

उवट्ठावणं कालमाणं—

५७. तओ सेहधूमिओ एणत्ताओ, तं जहा—

१. सत्त-राइविया, २. चाउम्मासिया,
३. छम्मासिया ।
छम्मासिया उवकोसिया ।
चाउम्मासिया मज्झमिया ।
सत्त-राइविया जहन्निया ।^१ —वव. उ. १०, सु. १६

बड़ी दीक्षा देने का काल प्रमाण—

५७. नवदीक्षित शिष्य की तीन शीक्ष भूमियाँ कही गई हैं ।
जैसे—

(१) सप्तरात्रि-देवसिक, (२) चातुर्मासिक और
(३) षाण्मासिक ।

उत्कृष्ट छह मास से महाव्रत आरोपण करना ।

मध्यम चार मास से महाव्रत आरोपण करना ।

जघन्य सातवें दिन महाव्रत आरोपण करना ।

उवट्ठावणं विहाणाइं—

५८. आयरिय-उवज्जाए सरमाणे परं चउराय पंचरायाओ कप्पागं
भिक्खु नो उवट्ठावेइ, कप्पाए, अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे
कप्पाए, तत्थि से केइ छेए वा, परिहारे वा ।

अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए, से सन्तरां छेए वा
परिहारे वा ।

उपस्थापन के विधान—

५८. आचार्य या उपाध्याय को स्मरण होते हुए भी बड़ी दीक्षा के योग्य भिक्षु को चार पाँच रात के बाद भी बड़ी दीक्षा में उपस्थापित न करे । उस समय यदि उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की बड़ी दीक्षा होने में देर हो तो उन्हें दीक्षा छेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है ।

यदि उस नवदीक्षित के बड़ी दीक्षा लेने योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हें उस चार पाँच रात्रि उत्सर्जन करने का छेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है ।

१ इन गाथाओं से आगे की गाथायें प्रत्येक महाव्रत के साथ संकलित की गई हैं अतः मानव की वासक्ति के हेतु "संग" के प्रकार वहाँ से जान लें ।

२ ठाणं. अ. ३, उ. २, सु. १६७ (१) ।

आयरिय-उवञ्जाए असरमाणे परं चउरायाओ पंचरायाओ वा कप्पागं भिक्षु तो उवट्ठावेइ, कप्पाए, अत्थियाइं से केइ भाणणिज्जे कप्पाए, नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा,

नत्थियाइं से केइ भाणणिज्जे कप्पाए, से संतरा छेए वा परिहारे वा ।

आयरिय-उवञ्जाए सरमाणे वा असरमाणे वा परं वसराय कप्पाओ कप्पागं भिक्षु तो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थियाइं से केइ भाणणिज्जे कप्पाए, नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा ।

नत्थियाइं से केइ भाणणिज्जे कप्पाए, संवच्छरं तस्स तप्प-
त्थियं तो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिस्सिए ।
—धव. ज. ४, सु. १५-१७

उवट्ठावण जोग्गो-

५९ पुठविककाइए जीवे, सदहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अभिगयपुण्ण-पाओ, सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥

आउवकाइए जीवे, सदहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अभिगयपुण्ण-पाओ, सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥

तेउवकाइए जीवे, सदहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अभिगयपुण्ण-पाओ, सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥

वाउवकाइए जीवे, सदहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अभिगयपुण्ण-पाओ, सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥

वणस्सइकाइए जीवे, सदहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अभिगयपुण्ण-पाओ, सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥

तसकाइए जीवे, सदहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अभिगयपुण्ण-पाओ, सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥^१

—दम. अ. ४, गा. ७-१२

आचार्य या उपाध्याय को स्मृति में न रहने से बड़ी दीक्षा के योग्य भिक्षु को चार पाँच रात के बाद भी बड़ी दीक्षा में उपस्थापित न करे । उस समय यदि वहाँ उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की बड़ी दीक्षा होने में देर हो तो उन्हें दीक्षाच्छेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है ।

यदि उस नवदीक्षित के बड़ी दीक्षा लेने योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हें उस चार पाँच रात्रि उल्लंघन करने का छेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है ।

आचार्य या उपाध्याय को स्मृति में रहते हुए या स्मृति में न रहते हुए बड़ी दीक्षा के योग्य भिक्षु को दस दिन के बाद भी बड़ी दीक्षा में उपस्थापित न करे । उस समय यदि उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की बड़ी दीक्षा होने में देर हो तो उन्हें दीक्षा छेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है ।

यदि उस नवदीक्षित के बड़ी दीक्षा के योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हें उस दश रात्रि उल्लंघन करने के कारण एक वर्ष तक आचार्य—यावत्—रणावच्छेदक पद पर रहना नहीं कल्पता है ।

बड़ी दीक्षा के योग्य—

५९. जो जिन-प्रज्ञप्त पृथ्विकायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एवं पाप को जानता है, वह बड़ी दीक्षा के योग्य है ।

जो जिन-प्रज्ञप्त अपृथ्विकायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एवं पाप को जानता है, वह बड़ी दीक्षा के योग्य है ।

जो जिन-प्रज्ञप्त तेजस्कायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एवं पाप को जानता है, वह बड़ी दीक्षा के योग्य है ।

जो जिन-प्रज्ञप्त वायुकायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एवं पाप को जानता है, वह बड़ी दीक्षा के योग्य है ।

जो जिन-प्रज्ञप्त वनस्पतिकायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एवं पाप को जानता है, वह बड़ी दीक्षा के योग्य है ।

जो जिन-प्रज्ञप्त असकायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एवं पाप को जानता है, वह बड़ी दीक्षा के योग्य है ।

उवट्टावणा अजोगा—

६०. पुट्टिकाइए जीवे, ण सहहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्टावणा जोगो ॥

आउक्काइए जीवे, ण सहहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्टावणा जोगो ॥

तेउक्काइए जीवे, ण सहहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्टावणा जोगो ॥

वाउक्काइए जीवे, ण सहहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्टावणा जोगो ॥

वणसइकाइए जीवे, ण सहहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्टावणा जोगो ॥

तसकाइए जीवे, ण सहहइ जो जिणेहि पणत्ते ।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्टावणा जोगो ॥

—दस. अ. ४, गा. १-६

अजोगस्स उवट्टावणपायच्छित्तसुत्तं—

६१. जे भिक्षू णायगं वा, अणायगं वा, उवासगं वा, अनुवासगं
वा अणलं उवट्टावेइ उवट्टावेत्तं वा साहज्जइ ।

तं सेवमाणे आधज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं ३. णुभाइयं ।

—नि. उ. ११, सु. ८५

बड़ी दीक्षा के अयोग्य—

६०. जो जिन-प्रज्ञप्त पृथ्वीकायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नहीं रखता है और पुण्य एवं पाप को नहीं जानता है वह बड़ी दीक्षा के अयोग्य है ।

जो जिन-प्रज्ञप्त अपृथ्वीकायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नहीं रखता है और पुण्य एवं पाप को नहीं जानता है वह बड़ी दीक्षा के अयोग्य है ।

जो जिन-प्रज्ञप्त तेजस्कायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नहीं रखता है और पुण्य एवं पाप को नहीं जानता है वह बड़ी दीक्षा के अयोग्य है ।

जो जिन-प्रज्ञप्त वायुकायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नहीं रखता है और पुण्य एवं पाप को नहीं जानता है वह बड़ी दीक्षा के अयोग्य है ।

जो जिन-प्रज्ञप्त वनस्पतिकायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नहीं रखता है और पुण्य एवं पाप को नहीं जानता है वह बड़ी दीक्षा के अयोग्य है ।

जो जिन-प्रज्ञप्त त्रसकायिक जीवों में (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नहीं रखता है और पुण्य एवं पाप को नहीं जानता है वह बड़ी दीक्षा के अयोग्य है ।

अयोग्य को बड़ी दीक्षा देने का प्रायश्चित्त सूत्र —

६१. जो भिक्षु अयोग्य स्वजन को, परिजन को, उपासक को और अनुपासक को बड़ी दीक्षा देता है, दिलाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।



(२) संयमी जीवन

संयम का स्वरूप—१

संजम सर्व्व—

६२. एगमो विरहं कुञ्जा, एगओ य पवत्तणं ।
असंजमे निर्वाति च, संजमे य पवत्तणं ॥

—उत्त. अ. ३१, गा. २

संजमस्स महत्तं—

६३. मासे मासे तु जो बालो, कुस्सग्गेणं तु मुंजए ।
न सो सुअवखायवम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसि ॥

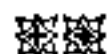
—उत्त. अ. ६, गा. ४४

संयम का स्वरूप—

६२. भिक्षु को एक स्थान से निवृत्ति और एक स्थान में प्रवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

संयम का महत्त्व—

६३. अज्ञानी जीव एक-एक मास की तपश्चर्या के पारणे में कुशाग्र जितना आहार करे तो भी सर्वज्ञ-प्ररूपित चारित्रधर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता ।



संयम के प्रकार—२

पाँच चरित्ता, चरित्त-परिभासा य—

६४. सामाहयस्य पवर्मे, छेओवट्ठावणं भवे शीयं ।
परिहारविमुत्थीयं, सुहृत्तं तह संपरायं च ॥
अकसायं अहवखायं छउमत्थस्स जिणस्स वा ।

एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं ॥

—उत्त. अ. २८, गा. ३२-३३

छव्विहा कप्पट्ठित्ती—

६५. छव्विहा कप्पट्ठित्ती पणत्ता, तं जहा—

(१) सामाहयसंजयकप्पट्ठित्ती,

(२) छेओवट्ठावणिसंजयकप्पट्ठित्ती,

(३) निविस्समाण कप्पट्ठित्ती,

(४) निविट्ठकाइय कप्पट्ठित्ती,

(५) जिणकप्पट्ठित्ती,

(६) वेरकप्पट्ठित्ती ॥

—कप्प. उ. ६, सु. २०

पाँच प्रकार के चारित्र और उनकी परिभाषा—

६४. (चारित्र पाँच प्रकार के हैं)

१. पहला—सामायिक, २. दूसरा—छेदोपस्थापनीय

३. तीसरा—परिहार-विशुद्धि, ४. चौथा—सूक्ष्म-संपराय,

५. पाँचवाँ—यथाख्यात-चारित्र-कषाय रहित होता है । वह

छद्मस्थ और केवली दोनों को होता है ।

ये सभी चारित्र कर्म संचय को रित्त (खाली) करते हैं, इस-

लिए ये चारित्र कहे जाते हैं ।

छह प्रकार की कल्पस्थिति—

६५. कल्प की स्थिति छह प्रकार की कही गई है । जैसे—

१. सामायिक चारित्र की मर्यादाएँ ।

२. छेदोपस्थापनीय चारित्र (बड़ी दीक्षा के बाद) की मर्यादाएँ ।

३. परिहारविशुद्धि चारित्र में तप वहन करने वालों की मर्यादाएँ ।

४. परिहारविशुद्धि चारित्र में गुरुकल्प तथा अनुपरिहारिक भिक्षुओं की मर्यादाएँ ।

५. मच्छ निर्गत विशिष्ट तपस्वी जीवन बिताने वाले जिन-कल्पो भिक्षुओं की मर्यादाएँ ।

६. स्वविर-कल्पी अर्थात् मच्छवासी भिक्षुओं की मर्यादाएँ ।

संयमभेदप्रभेदा—

६६. बुद्धिहे संजमे पणत्तो, तं जहा—

(१) सरागसंजमे चेव, (२) वीयरगसंजमे चेव ।

सरागसंजमे बुद्धिहे पणत्तो, तं जहा—

(१) सुद्धमसंपरायसरागसंजमे चेव, (२) बादरसंपरायसरागसंजमे चेव ।

सुद्धमसंपरायसरागसंजमे बुद्धिहे पणत्तो, तं जहा—

(१) पढम-समय सुद्धम-संपराय-सराग-संजमे चेव,

(२) अपढम-समय सुद्धम-संपराय-सराग-संजमे चेव ।

अहवा चरमसमयसुद्धमसंपरायसरागसंजमे चेव अचरिमसमय-सुद्धमसंपरायसराग संजमे चेव ।

अहवा सुद्धमसंपरायसरागसंजमे बुद्धिहे पणत्तो, तं जहा—

संकिलेसमाणए चेव, विसुद्धसमाणए चेव ।

बादरसंपरायसरागसंजमे बुद्धिहे पणत्तो, तं जहा—

पढमसमय बादरसंपरायसरागसंजमे चेव, अपढमसमयबादर-संपरायसरागसंजमे चेव ।

अहवा चरिम-समयबादर-संपराय-सराग-संजमे चेव, अचरिम-समय बादर-संपराय-सराग-संजमे चेव ।

अहवा बादरसंपरायसरागसंजमे बुद्धिहे पणत्तो, तं जहा—

पडिवाति चेव, अपडिवाति चेव ।

वीयरगसंजमे बुद्धिहे पणत्तो, तं जहा—

उवसंतकसाय वीयरगसंजमे चेव, क्षीणकसायवीयरगसंजमे चेव ।

उवसंतकसायवीयरगसंजमे बुद्धिहे पणत्तो, तं जहा—

पढमसमयउवसंतकसायवीयरगसंजमे चेव, अपढमसमयउव-संतकसायवीयरगसंजमे चेव ।

अहवा चरिमसमयउवसंतकसायवीयरगसंजमे चेव, अचरिमसमय उवसंतकसायवीयरगसंजमे चेव ।

क्षीणकसायवीयरगसंजमे बुद्धिहे पणत्तो, तं जहा—

छउमत्थक्षीणकसायवीयरगसंजमे चेव, केवलिक्षीणकसायवीयरगसंजमे चेव ।

छउमत्थ-क्षीण-कसाय-वीयरग-संजमे बुद्धिहे पणत्तो, तं जहा—

सर्वबुद्धछउमत्थक्षीणकसायवीयरगसंजमे चेव, बुद्धबोधित-छउमत्थक्षीणकसाय-वीयरगसंजमे चेव ।

संयम के भेद-प्रभेद—

६६. संयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

सरागसंयम और वीतरागसंयम ।

सरागसंयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

सूक्ष्मसम्पराय सराग संयम और बादरसम्पराय सराग संयम ।

सूक्ष्मसम्पराय सरागसंयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

प्रथमसमय सूक्ष्मसम्पराय सरागसंयम और

अप्रथमसमय सूक्ष्मसम्पराय सरागसंयम ।

अथवा चरमसमय सूक्ष्मसम्पराय सरागसंयम और अचरम-समय सूक्ष्मसम्पराय सरागसंयम ।

अथवा सूक्ष्मसम्पराय सरागसंयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

संकलितमान सूक्ष्मसम्पराय सरागसंयम और विशुद्धमान सूक्ष्मसम्पराय सरागसंयम ।

बादरसम्पराय सरागसंयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

प्रथमसमय—बादरसम्पराय सरागसंयम और अप्रथमसमय—बादरसम्पराय सरागसंयम ।

अथवा चरमसमय बादरसम्पराय सरागसंयम और अचरम-समय बादरसम्पराय सरागसंयम ।

अथवा बादरसम्पराय सरागसंयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

प्रतिपाती बादरसम्पराय सरागसंयम और अतिपाती बादर-सम्पराय सरागसंयम ।

वीतराग संयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

उपशान्तकषाय वीतरागसंयम और क्षीणकषाय वीतराग-संयम ।

उपशान्तकषाय वीतरागसंयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

प्रथमसमय उपशान्तकषाय वीतरागसंयम और अप्रथमसमय उपशान्तकषाय वीतरागसंयम ।

अथवा चरमसमय उपशान्तकषाय वीतरागसंयम और अचरम-समय उपशान्तकषाय वीतरागसंयम ।

क्षीणकषाय वीतरागसंयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

छद्मस्थ क्षीणकषाय वीतरागसंयम और केवलीक्षीणकषाय वीतरागसंयम ।

छद्मस्थ क्षीणकषाय वीतरागसंयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

स्वयंबुद्ध छद्मस्थक्षीणकषायवीतरागसंयम और बुद्धबोधित छद्मस्थ—क्षीणकषाय वीतरागसंयम ।

स्वयंबुद्धछउमत्थस्त्रीणकसायवीयरगसंजमे बुविहे पण्णत्ते, तं जहा—

पढमसमयस्वयंबुद्धछउमत्थस्त्रीणकसायवीतरागसंजमे चेव,
अपढमसमयस्वयंबुद्धछउमत्थस्त्रीणकसायवीतरागसंजमे चेव ।

अहवा—चरिमसमयस्वयंबुद्धछउमत्थस्त्रीणकसायवीतरागसंजमे
चेव, अचरिमसमयस्वयंबुद्धछउमत्थस्त्रीणकसायवीतरागसंजमे
चेव ।

बुद्धबोहियछउमत्थस्त्रीणकसायवीतरागसंजमे बुविहे पण्णत्ते,
तं जहा—

पढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थस्त्रीणकसायवीतरागसंजमे चेव,
अपढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थस्त्रीणकसायवीतरागसंजमे चेव ।

अहवा—चरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थस्त्रीणकसायवीयरग-
संजमे चेव, अचरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थस्त्रीणकसायवीयर-
रागसंजमे चेव ।

केवलस्त्रीणकसायवीतरागसंजमे बुविहे पण्णत्ते, तं जहा—

सजोगिकेवलस्त्रीणकसायवीतरागसंजमे चेव, असजोगिकेवल-
स्त्रीणकसायवीतरागसंजमे चेव ।

सजोगिकेवलस्त्रीणकसायवीयरगसंजमे बुविहे पण्णत्ते, तं
जहा—

पढमसमयसजोगिकेवलस्त्रीणकसायवीयरगसंजमे चेव, अपढ-
मसमयसजोगिकेवलस्त्रीणकसायवीयरगसंजमे चेव ।

अहवा—चरिमसमयसजोगिकेवलस्त्रीणकसायवीयरग संजमे
चेव, अचरिमसमयसजोगिकेवलस्त्रीणकसायवीयरग संजमे
चेव ।

असजोगिकेवलस्त्रीणकसायवीयरगसंजमे बुविहे पण्णत्ते, तं
जहा—

पढमसमयअसजोगिकेवलस्त्रीणकसायवीयरगसंजमे चेव, अपढ-
मसमयअसजोगिकेवलस्त्रीणकसायवीयरगसंजमे चेव ।

अहवा—चरिमसमयअसजोगिकेवलस्त्रीणकसायवीयरगसंजमे
चेव, अचरिमसमयअसजोगिकेवलस्त्रीणकसायवीयरगसंजमे
चेव ।

—ठाणां, अ. २, उ. १, सु. ६२

खडविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) मणसंजमे, (२) बहसंजमे,
(३) कायसंजमे, (४) उवगरणसंजमे ।

खडविहे चियाए पण्णत्ते, तं जहा—

(१) मणचियाए, (२) बहचियाए,
(३) कायचियाए, (४) उवगरणचियाए ।

खडविहा ओक्कचणता पण्णत्ता, तं जहा—

(१) मणअकिच्चणता, (२) बहअकिच्चणता,

स्वयंबुद्ध छउमत्थस्त्रीणकसाय वीतराग संयम दो प्रकार का
कहा गया है, यथा—

प्रथमसमयस्वयंबुद्ध छउमत्थस्त्रीणकसाय वीतराग संयम और
अप्रथमसमय-स्वयंबुद्ध—छउमत्थस्त्रीणकसाय वीतरागसंयम ।

अथवा चरमसमय स्वयंबुद्ध छउमत्थ स्त्रीणकसाय वीतराग
संयम और अचरमसमय स्वयंबुद्ध-छउमत्थस्त्रीणकसाय वीतराग-
संयम ।

बुद्धबोधितछउमत्थस्त्रीणकसायवीतरागसंयम दो प्रकार का
कहा गया है, यथा—

प्रथमसमय बुद्धबोधित छउमत्थस्त्रीणकसायवीतरागसंयम और
अप्रथमसमय बुद्धबोधित छउमत्थ स्त्रीणकसाय वीतराग संयम ।

अथवा चरमसमय बुद्धबोधित छउमत्थस्त्रीणकसायवीतराग
संयम और अचरमसमय बुद्धबोधित छउमत्थस्त्रीणकसाय वीतराग
संयम ।

केवली—स्त्रीणकसाय वीतरागसंयम दो प्रकार का कहा गया
है, यथा—

सयोगीकेवली—स्त्रीणकसाय वीतरागसंयम और अयोगी-
केवली—स्त्रीणकसाय वीतराग संयम ।

सयोगीकेवली स्त्रीणकसाय वीतराग संयम दो प्रकार का कह
गया है, यथा—

प्रथम समय सयोगीकेवली स्त्रीणकसाय वीतराग संयम और
अप्रथम समय सयोगीकेवली स्त्रीणकसाय वीतरागसंयम ।

अथवा चरमसमय सयोगीकेवली स्त्रीणकसाय वीतरागसंयम
और अचरमसमय सयोगीकेवली स्त्रीणकसाय वीतरागसंयम ।

अयोगीकेवली स्त्रीणकसाय वीतरागसंयम दो प्रकार का कहा
गया है, यथा—

प्रथमसमय अयोगीकेवली स्त्रीणकसाय वीतरागसंयम और
अप्रथमसमय अयोगीकेवली स्त्रीणकसाय वीतरागसंयम ।

अथवा चरमसमय अयोगीकेवली स्त्रीणकसाय वीतरागसंयम
और अचरम समय अयोगीकेवली स्त्रीणकसाय वीतरागसंयम ।

संयम के चार प्रकार हैं—

१. मन-संयम, २. वाक्-संयम,
३. काय-संयम, ४. उपकरण-संयम ।

त्याग के चार प्रकार हैं—

१. मन-त्याग, २. वाक्-त्याग,
३. काय-त्याग, ४. उपकरण-त्याग ।

अकिच्चनता के चार प्रकार हैं—

१. मन-अकिच्चनता, २. वाक्-अकिच्चनता,

- (३) कायअकिञ्चनता, (४) उपकरणअकिञ्चनता ।
—ठाणो. अ. ४, उ. २, सु. ३१० (१-३)

संयमप्यगारा—

६७. सत्तरसविहे संजमे पणत्ते, तं जहा—

(१) पृथ्वीकायसंजमे,	(२) आउकायसंजमे,
(३) तेजकायसंजमे,	(४) वाउकायसंजमे,
(५) वणस्सइकायसंजमे,	(६) वेइदियसंजमे,
(७) तेइदियसंजमे,	(८) चउरिदियसंजमे,
(९) पंचिदियसंजमे,	(१०) अजीवकायसंजमे,
(११) पेहासंजमे,	
(१२) उपेहासंजमे,	
(१३) अवहट्टुसंजमे,	
(१४) पमज्जणासंजमे,	(१५) मनसंजमे,
(१६) वइसंजमे,	(१७) कायसंजमे ।

—सम. स. १७, सु. १

असंयमप्यगारा—

६८. सत्तरसविहे असंजमे पणत्ते, तं जहा—

(१) पृथ्वीकायअसंजमे,	(२) आउकायअसंजमे,
(३) तेजकायअसंजमे,	(४) वाउकायअसंजमे,
(५) वणस्सइकायअसंजमे,	(६) वेइदियअसंजमे,
(७) तेइदियअसंजमे,	(८) चउरिदियअसंजमे,
(९) पंचिदियअसंजमे,	(१०) अजीवकायअसंजमे,
(११) पेहाअसंजमे,	(१२) उपेहाअसंजमे,
(१३) अवहट्टुअसंजमे,	(१४) अपमज्जणाअसंजमे,
(१५) मनअसंजमे,	(१६) वइअसंजमे,
(१७) कायअसंजमे ।	

—सम. स. १७, सु. १

चरित्तस्स-पगारा—

६९. पंचविहे संजमे पणत्ते, तं जहा—

(१) सामाइयसंजमे,	(२) छेवोवट्टावणियसंजमे,
(३) परिहारविमुद्धियसंजमे,	(४) सुहुमसंपरागसंजमे,
(५) अहक्कायचरित्तसंजमे ।	

—ठाणो. अ. ५, उ. २, सु. ४२८

समारम्भ-असमारम्भेण संयम असंयमप्यगारा—

७०. एगिदिया णं जीवा असमारम्भमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जति, तं जहा—

(१) पृथ्वीकायसंजमे,	(२) आउकायसंजमे,

३. काय-अकिञ्चनता, ४. उपकरण-अकिञ्चनता ।

संयम के प्रकार—

६७. संयम सत्तरह प्रकार के कहे गये हैं, यथा —

१. पृथ्वीकाय संयम,	२. अप्काय संयम,
३. तेजस्काय संयम,	४. वायुकाय संयम,
५. वनस्पतिकाय संयम,	६. द्वीन्द्रिय संयम,
७. त्रीन्द्रिय संयम,	८. चतुरिन्द्रिय संयम,
९. पंचेन्द्रिय संयम,	१०. अजीवकाय संयम,
११. प्रेक्षा संयम — प्रत्येक प्रवृत्ति देवभालकर करना ।	
१२. उपेक्षा संयम — असंयम में प्रवृत्ति करने वालों के प्रति उपेक्षा भाव रखना ।	
१३. अपहृत्य संयम — उच्चार प्रसवण आदि का विधि से परिष्ठापन करना ।	
१४. प्रमार्जना संयम,	१५. मन संयम,
१६. वचन संयम,	१७. काय संयम ।

असंयम के प्रकार—

६८. असंयम सत्तरह प्रकार के कहे हैं, जैसे—

१. पृथ्वीकाय असंयम,	२. अप्काय असंयम,
३. तेजस्काय असंयम,	४. वायुकाय असंयम,
५. वनस्पतिकाय असंयम,	६. द्वीन्द्रिय असंयम,
७. त्रीन्द्रिय असंयम,	८. चतुरिन्द्रिय असंयम,
९. पंचेन्द्रिय असंयम,	१०. अजीवकाय असंयम,
११. प्रेक्षा असंयम,	१२. उपेक्षा असंयम,
१३. अपहृत्य असंयम,	१४. प्रमार्जना असंयम,
१५. मन असंयम,	१६. वचन असंयम,
१७. काय असंयम ।	

चरित्र के प्रकार—

६९. संयम के पाँच प्रकार हैं—

१. सामायिक संयम,	२. छेदोपस्थापनीय संयम,
३. परिहारविमुद्धिक संयम,	४. सुश्रमसम्पराय संयम,
५. यथाख्यातचरित्र संयम ।	

समारम्भ-असमारम्भ से संयम-असंयम के प्रकार—

७०. एकेन्द्रिय जीवों का असमारम्भ करता हुआ जीव पाँच प्रकार का संयम करता है—

१. पृथ्वीकाय संयम,	२. अप्काय संयम,

- (३) तेजकाइयसंजमे, (४) वायुकाइयसंजमे,
(५) वणस्पतिकाइयसंजमे ।

एगिंदिया णं जीवा समारम्भमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जति,
तं जहा —

- (१) पुठविकाइयअसंजमे, (२) आउकाइयअसंजमे,
(३) तेजकाइयअसंजमे, (४) वायुकाइयअसंजमे,
(५) वणस्पतिकाइयअसंजमे ।

—ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४२६

वेहंदियाणं जीवा असमारम्भमाणस्स चउविहे संजमे कज्जति,
तं जहा—

- (१) जिक्कामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(२) जिक्कामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ,
(३) फासामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(४) फासामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ ।

वेहंदिया णं जीवा समारम्भमाणस्स चउविहे असंजमे कज्जति,
तं जहा—

- (१) जिक्कामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(२) जिक्कामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवइ,
(३) फासामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(४) फासामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवइ ।

—ठाणं. अ. ४, उ. ४, सु. ३६५

तेहंदिया णं जीवा असमारम्भमाणस्स छविहे संजमे कज्जति,
तं जहा—

- (१) घाणामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(२) घाणामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ,
(३) जिक्कामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(४) जिक्कामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ ।
(५) फासामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(६) फासामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ ।

तेहंदिया णं जीवा समारम्भमाणस्स छविहे असंजमे कज्जति,
तं जहा --

- (१) घाणामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(२) घाणामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवइ,
(३) जिक्कामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(४) जिक्कामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवइ,
(५) फासामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(६) फासामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवइ ।

-- ठाणं. अ. ६, सु. ५२१,

चउरिंदिया णं जीवा असमारम्भमाणस्स अउविहे संजमे
कज्जति, तं जहा—

३. तेजस्काय संयम, ४. वायुकाय संयम,
५. वनस्पतिकाय संयम ।

एकेन्द्रिय जीवों का समारम्भ करता हुआ जीव पाँच प्रकार
का असंयम करता है—

१. पृथ्वीकाय असंयम, २. अपकाय असंयम,
३. तेजस्काय असंयम, ४. वायुकाय असंयम,
५. वनस्पतिकाय असंयम ।

द्वीन्द्रिय जीवों का आरम्भ नहीं करने वाले के चार प्रकार
का संयम होता है—

१. रसमय सुख का वियोग नहीं करने से,
२. रसमय दुःख का संयोग नहीं करने से,
३. स्पर्शमय सुख का वियोग नहीं करने से,
४. स्पर्शमय दुःख का संयोग नहीं करने से ।

द्वीन्द्रिय जीवों का आरम्भ करने वाले के चार प्रकार का
असंयम होता है—

१. रसमय सुख का वियोग करने से,
२. रसमय दुःख का संयोग करने से,
३. रसमय सुख का वियोग करने से,
४. स्पर्शमय दुःख का संयोग करने से ।

त्रीन्द्रिय जीवों का आरम्भ न करने वाले के छः प्रकार का
संयम होता है—

१. घ्राणमय सुख का वियोग नहीं करने से,
२. घ्राणमय दुःख का संयोग नहीं करने से,
३. रसमय सुख का वियोग नहीं करने से,
४. रसमय दुःख का संयोग नहीं करने से,
५. स्पर्शमय सुख का वियोग नहीं करने से,
६. स्पर्शमय दुःख का संयोग नहीं करने से ।

त्रीन्द्रिय जीवों का आरम्भ करने वाले के छः प्रकार का
असंयम होता है—

१. घ्राणमय सुख का वियोग करने से,
२. घ्राणमय दुःख का संयोग करने से,
३. रसमय सुख का वियोग करने से,
४. रसमय दुःख का संयोग करने से,
५. स्पर्शमय सुख का वियोग करने से,
६. स्पर्शमय दुःख का संयोग करने से ।

चतुरिन्द्रिय जीवों का आरम्भ नहीं करने वाले के आठ
प्रकार का संयम होता है—

- (१) चक्षुमातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
 (२) घ्राणमएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवति,
 (३) घाणामातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
 (४) घाणामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवति,
 (५) जिह्वामातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
 (६) जिह्वामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवति,
 (७) कासामातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
 (८) कासामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवति ।

चत्वरिन्दिया णं जीवा समारम्भमाणस्स अट्ठविधे असंजमे
 कज्जति, तं जहा—

- (१) चक्षुमातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
 (२) चक्षुमाएणं दुक्खेणं संजोमेत्ता भवति,
 (३) घाणामातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
 (४) घाणामएणं दुक्खेणं संजोमेत्ता भवति,
 (५) जिह्वामातो-सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
 (६) जिह्वामएणं दुक्खेणं संजोमेत्ता भवति,
 (७) कासामातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
 (८) कासामएणं दुक्खेणं संजोमेत्ता भवति ।

—ठाणं. अ. ८, सु. ६१५

पञ्चिन्दिया णं जीवा असमारम्भमाणस्स पञ्चविधे संजमे
 कज्जति, तं जहा—

- (१) सोत्तिन्दियसंजमे, (२) चक्खिन्दियसंजमे,
 (३) घ्राणिन्दियसंजमे, (४) जिह्विन्दियसंजमे,
 (५) कासिन्दियसंजमे ।

पञ्चिन्दिया णं जीवा समारम्भमाणस्स पञ्चविधे असंजमे कज्जति,
 तं जहा—

- (१) सोत्तिन्दियअसंजमे, (२) चक्खिन्दियअसंजमे,
 (३) घ्राणिन्दियअसंजमे, (४) जिह्विन्दियअसंजमे,
 (५) कासिन्दियअसंजमे ।

सत्त्वपाणभूयजीवसत्ता णं असमारम्भमाणस्स पञ्चविधे संजमे
 कज्जति, तं जहा—

- (१) एगिन्दियसंजमे, (२) वेद्विन्दियसंजमे,
 (३) तेद्विन्दियसंजमे, (४) चत्वरिन्दियसंजमे,
 (५) पञ्चिन्दियसंजमे ।

सत्त्वपाणभूयजीवसत्ता णं समारम्भमाणस्स पञ्चविधे असंजमे
 कज्जति, तं जहा—

- (१) एगिन्दियअसंजमे, (२) वेद्विन्दियअसंजमे,
 (३) तेद्विन्दियअसंजमे, (४) चत्वरिन्दियअसंजमे,
 (५) पञ्चिन्दियअसंजमे ।

— ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४३०

१. चक्षुमय सुख का वियोग नहीं करने से,
 २. चक्षुमय दुःख का संयोग नहीं करने से,
 ३. घ्राणमय सुख का वियोग नहीं करने से,
 ४. घ्राणमय दुःख का संयोग नहीं करने से,
 ५. रसमय सुख का वियोग नहीं करने से,
 ६. रसमय दुःख का संयोग नहीं करने से,
 ७. स्पर्शमय सुख का वियोग नहीं करने से,
 ८. स्पर्शमय दुःख का संयोग नहीं करने से,

चतुरिन्द्रिय जीवों का आरम्भ करने वाले के आठ प्रकार
 का असंयम होता है—

१. चक्षुमय सुख का वियोग करने से,
 २. चक्षुमय दुःख का संयोग करने से,
 ३. घ्राणमय सुख का वियोग करने से,
 ४. घ्राणमय दुःख का संयोग करने से,
 ५. रसमय सुख का वियोग करने से,
 ६. रसमय दुःख का संयोग करने से,
 ७. स्पर्शमय सुख का वियोग करने से,
 ८. स्पर्शमय दुःख का संयोग करने से ।

पञ्चेन्द्रिय जीवों का असमारम्भ करता हुआ जीव पाँच प्रकार
 का संयम करता है—

१. श्रोत्रेन्द्रिय संयम, २. चक्षुरिन्द्रिय संयम,
 ३. घ्राणेन्द्रिय संयम, ४. जिह्वेन्द्रिय संयम,
 ५. स्पर्शेन्द्रिय संयम ।

पञ्चेन्द्रिय जीवों का समारम्भ करता हुआ जीव पाँच प्रकार
 का असंयम करता है—

१. श्रोत्रेन्द्रिय असंयम, २. चक्षुरिन्द्रिय असंयम,
 ३. घ्राणेन्द्रिय असंयम, ४. जिह्वेन्द्रिय असंयम,
 ५. स्पर्शेन्द्रिय असंयम ।

सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का असमारम्भ करता हुआ
 जीव पाँच प्रकार का संयम करता है—

१. एकेन्द्रिय संयम, २. द्वीन्द्रिय संयम,
 ३. त्रीन्द्रिय संयम, ४. चतुरिन्द्रिय संयम,
 ५. पञ्चेन्द्रिय संयम ।

सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ करता हुआ
 जीव पाँच प्रकार का असंयम करता है—

१. एकेन्द्रिय असंयम, २. द्वीन्द्रिय असंयम,
 ३. त्रीन्द्रिय असंयम, ४. चतुरिन्द्रिय असंयम,
 ५. पञ्चेन्द्रिय असंयम ।

संजम जोग्या जणा—

७१. वो ठाणाइं अपरियाणेतता आया जो केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, तं जहा—

(१) आरंभे चेव, (२) परिग्रहे चेव ।

वो ठाणाइं परियाणेतता आया केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, तं जहा—

(१) आरंभे चेव (२) परिग्रहे चेव ।

—ठाणं. अ. २, उ. १, सु. ५४-५५

संजमजोग्या जामा—

७२. तओ जामा पणत्ता, तं जहा—

(१) पढमे जामे, (२) मज्झिमे जामे, (३) पच्छिमे जामे ।

तिहि जामेहि आया केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, तं जहा—

(१) पढमे जामे, (२) मज्झिमे जामे, (३) पच्छिमे जामे ।

—ठाणं. अ. ३, उ. २, सु. १६३

संजमजोग्या वया—

७३. तओ वया पणत्ता, तं जहा—

(१) पढमे वए, (२) मज्झिमे वए, (३) पच्छिमे वए ।

तिहि वएहि आया केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, तं जहा—

(१) पढमे वए, (२) मज्झिमे वए, (३) पच्छिमे वए ।

—ठाणं. अ. ३, उ. २, सु. १६३

जयणावरणिज्जकम्मखओवसमेण संजमं—

७४. प०—असोच्चा णं भन्ते ! केवलित्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा ?

उ०—गोयमा ! असोच्चा णं केवलित्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा अत्येगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्येगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा ।

प०—से केणदुठेणं भन्ते ! एवं खुच्चइ—

असोच्चा णं केवलित्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्येगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्येगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा ?

उ०—गोयमा ! जस्स णं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं^१

संयम योग्य जन—

७१. आरम्भ और परिग्रह—इन दो स्थानों को जाने और छोड़े बिना आत्मा सम्पूर्ण संयम के द्वारा संयत नहीं होता ।

आरम्भ और परिग्रह—इन दो स्थानों को जानकर और छोड़कर आत्मा सम्पूर्ण संयम के द्वारा संयत होता है ।

संयम योग्य प्रहर—

७२. तीन प्रकार के याम (प्रहर) कहे गये हैं—यथा—

(१) प्रथम याम, (२) मध्यम याम, (३) अन्तिम याम ।

तीनों ही यामों में आत्मा विशुद्ध संयम से संयत हो सकता है—यथा—

(१) प्रथम याम में, (२) मध्यम याम में, (३) अन्तिम याम में ।

संयम योग्य वय—

७३. तीन प्रकार के वय कहे गये हैं—यथा—

(१) प्रथम वय, (२) मध्यम वय, (३) अन्तिम वय ।

तीनों ही वयों में आत्मा विशुद्ध संयम से संयत हो सकता है—यथा—

(१) प्रथम वय में, (२) मध्यम वय में, (३) अन्तिम वय में ।

यतनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से संयम—

७४. प्र०—भन्ते ! केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से बिना सुने कोई एक जीव संयम पालन कर सकता है ?

उ०—गौतम ! केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुने बिना कोई जीव संयम पालन कर सकता है और कोई जीव संयम पालन नहीं कर सकता है ।

प्र०—भन्ते ! किस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—

केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुने बिना कोई जीव संयम पालन कर सकता है और कोई जीव संयम पालन नहीं कर सकता है ?

उ०—गौतम ! जिसके यतनावरणीय कर्मों का क्षयोपशम

१. व्यतना प्रमाद से होती है, प्रमाद आश्रय है । यतना अप्रमाद से होती है, अप्रमाद संवर है । संवर ही संयम है ।

वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से अप्रमत्तता और उससे यतना होना निश्चित है ।

यही वीर्यान्तराय के क्षयोपशम को यतनावरणीय कर्म का क्षयोपशम समझना चाहिए ।

खओवसमे कडे भवइ से णं असोचवा केवलिसस वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा ।

जस्स णं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ से णं असोचवा केवलिसस वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा ।

असोचवा णं केवलिसस वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा । अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा ।

—विद्या. स. ६, उ. ३१, सु. ६

प०—सोचवा णं भते ! केवलिसस वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा ?

उ०—गोयमा ! सोचवा णं केवलिसस वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा ।

प०—से केणट्ठेणं भते ! वुच्चइ—

सोचवा णं केवलिसस वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा ?

उ०—गोयमा ! जस्स णं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ सेणं सोचवा केवलिसस वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा ।

जस्स णं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ सेणं सोचवा केवलिसस वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—

सोचवा णं केवलिसस वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा । अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा ।

—विद्या. स. ६, उ. ३१, सु. ३२

हुआ है वह केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुने बिना संयम पालन कर सकता है ।

जिसके यत्नावरणीय कर्मों का क्षयोपशम नहीं हुआ है वह केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुने बिना संयम पालन नहीं कर सकता है ।

गौतम ! इस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—

केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुने बिना कोई एक जीव संयम पालन कर सकता है और कोई एक जीव संयम पालन नहीं कर सकता है ।

प्र०—भन्ते ! केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई जीव संयम पालन कर सकता है ?

उ०—गौतम ! केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई एक जीव संयम पालन कर सकता है और कोई जीव संयम पालन नहीं कर सकता है ।

प्र०—भन्ते ! किस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—

केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई जीव संयम पालन कर सकता है और कोई जीव संयम पालन नहीं कर सकता है ?

उ०—गौतम ! जिसके यत्नावरणीय कर्मों का क्षयोपशम हुआ है वह केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर संयम पालन कर सकता है ।

जिसके यत्नावरणीय कर्मों का क्षयोपशम नहीं हुआ है वह केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर संयम पालन नहीं कर सकता है ।

गौतम ! इस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—

केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई एक जीव संयम पालन कर सकता है और कोई एक जीव संयम पालन नहीं कर सकता है ।



संयमी के लक्षण—४

निर्ग्रन्थ लक्षणार्थ—

७५. पंचासवपरिग्राया, तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिगहणा धीरा, निर्ग्रन्था उज्जुदंसिणो ॥

—दश. अ. ३, गा. ११

ते अणवकंखमाणा, अणतिवातेमाणा, अपरिगहेमाणा, णो
परिगहावन्ति सक्खावन्ति च णं लोगंसि निहाय वंडं पाणेहि
पावं कम्मं अकुस्वमाणे एस महं अगंथे विपाहिणे ।

ओए बुद्धमस्त खेतण्णे उववायं चयणं च णच्चा ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ३, सु. २०६

अणगार लक्षणार्थ—

७६. तं णो करिस्सामि समुट्ठाए मत्ता मत्तिमं,

अमयं विविसा तं जे णो करए एसोवरते, एत्थोवरए एस
अणगारे ति पवुच्चन्ति ।

—आ. सु. १, अ. १, उ. ५, सु. ४०

अणाणाए पुट्ठा वि एगे णियट्ठन्ति मन्वा मोहेणं पाउडा ।

"अपरिगहा मत्तिस्सामो" समुट्ठाए लद्धे कामे अभिगाहति ।
अणाणाए भुणिणो पडिलेहति । एत्थ मोहे पुणो पुणो सवणा,
णो हम्भाए, णो पाराए ।

विमुक्का हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो लोभं अलोभेणं
बुगुंछमाणे लद्धे कामे आभिगाहति ।

विणा वि लोभं निवखम्म, एस अकम्मे जाणति पासति ।

पडिलेहाए पावकंखति, एस अणगारे ति पवुच्चन्ति ।

—आ. सु. १, अ. २, उ. २, सु. ७०-७१

निर्ग्रन्थ के लक्षण—

७५. पांच आधवों का निरोध करने वाले, तीन गुप्तियों से गुप्त,
छह काया के जीवों के प्रति संयत, पांचों इन्द्रियों का निग्रह करने
वाले, धीर निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गदर्शी होते हैं ।

वे काम-भोगों की आकांक्षा न रखने वाले, प्राणियों के प्राणों
का अतिपात न करते हुए और परिग्रह न रखते हुए समग्र लोक
में अपरिग्रहवान् होते हैं । जो प्राणियों के लिए दण्ड का त्याग
करके पाप-कर्म नहीं करता, उसे ही महान् अग्रन्थ (निर्ग्रन्थ)
कहा गया है ।

वह साधक राग-द्वेष से रहित है, संयम एवं मोक्ष का ज्ञाता
है एवं जन्म मरण के स्वरूप को जानकर पाप का आचरण नहीं
करता है ।

अणगार के लक्षण—

७६. भुनि धर्म को स्वीकार कर, जीवों के स्वरूप को जानकर
बुद्धिमान साधक यह संकल्प करे कि "मैं वनस्पतिकाय के जीवों
की हिंसा नहीं करूँगा ।"

"प्रत्येक जीव अभय चाहता है" यह जानकर जो हिंसा
नहीं करता, वही आरंभनिवृत्त कहा जाता है । वही जिनमार्ग
में स्थित है, वही "अणगार" कहलाता है ।

अज्ञान से आवृत, विवेकशून्य कितने ही कायर प्राणी
परीषदों के उपस्थित होने पर वीतराग आज्ञा से विरुद्ध आचरण
करके संयम मार्ग से च्युत हो जाते हैं ।

कई साधु हम "अपरिग्रही बनेंगे" इस तरह का विचार
कर तथा दीक्षा लेकर भी प्राप्त काम-भोगों का सेवन करते हैं ।
वे मुनि वीतराग आज्ञा से बाह्य काम-भोगों की आकांक्षा करते
हैं । वे मोह में बार-बार निमग्न होते हैं, इसलिए वे न तो इस
तीर (शुद्धान्त) पर आ सकते हैं और न उस पार (अमणत्व)
जा सकते हैं ।

जो विषयों के दलदल से पारगामी होते हैं, वे वास्तव में
विमुक्त हैं । वे अलोभ (सन्तोष) से लोभ को पराजित करते हुए
काम-भोग प्राप्त होने पर भी उनके सेवन की इच्छा नहीं
करते हैं ।

जो लोभ से निवृत्त प्रयत्न्य लेता है, वह अकर्म होकर सब
कुछ जानता है, देखता है ।

जो हिताहित का विचार कर विषयों की आकांक्षा नहीं
करता है वह "अणगार" कहलाता है ।

से वेमि—से जहा वि अणगारे उज्जुकडे जियागपडिवन्ने
अमाय कुट्टवमाणे विवाहिते ।

जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा विजहिस्ता
विसोसियं ।

पणया वीरा महावीहि ।

—आ. सु. १, अ. १, ज. ३, सु. १९-२१

संजयाण लक्षणं—

७७. आयावयंति गिम्हेसु हेमन्तेषु अवाज्जा ।

वासासु पडिसंतीणा संजया सुसमाहिया ॥

—दस. अ. ३, गा. १२

माहणाईणं लक्षणमाहं—

७८. प०—कहं से वंते वविए वोसट्टकाए त्ति वच्चे-माहणे त्ति वा,
समणे त्ति वा, भिक्खू त्ति वा, जिगंघे त्ति वा ? तं नो
ब्रूहि महागुणी ।

उ०—एवं से वंते, वविए, वोसट्टकाए त्ति वच्चे (१) माहणे
त्ति वा, (२) समणे त्ति वा, (३) भिक्खू त्ति वा,
(४) जिगंघे त्ति वा,

इति विरए सत्त्वपावकम्मे पेज्ज-वोस-कलह-अवसण्णाण
वेसुअ-परपरिणाय अरतिरत्ति-मायामोस-मिच्छादंसण-
सत्त्व-विरए, समिए, सहिए, सयाजए जो कुज्जे जो
माणो माहणे त्ति वच्चे ।

एत्थं वि समणे-अणिसिए अणिदाने, आवाणं च,
अतिवायं च, सुसावायं च, बहिद्धं च, कोहं च, माणं
च, मायं च, लोभं च, पेज्जं च, वोसं च इच्छेवं जओ-
जओ आयाणाओ अप्पणो पवोस हेज्जं तओ-तओ
आयाणाओ पुब्बं पडिविरए सिआ वंते वविए वोसट्ट-
काए समणे त्ति वच्चे ।

‘हे शिष्य !’ अणगार—मुनि का जो वास्तविक स्वरूप है,
वह मैं कहता हूँ । जो प्रबुद्ध पुरुष संयम का परिपालक है, मोक्ष-
मार्ग पर गतिशील है और माया-छल-कपट आदि कषायों का
त्यागी है या निश्चल एवं निष्कपट (शुद्ध हृदय वाला है, वही
अणगार—मुनि कहा जाता है ।

जिस श्रद्धा (निष्ठा-वैराग्य भावना) के साथ संयम-पथ पर
कदम बढ़ाया है, उसी श्रद्धा के साथ संयम का पालन करे, संयम
में आने वाली बाधाओं को दूर करते हुए जीवन परमन्त संयम का
पालन करे ।

यह संयम मार्ग अनेक वीर पुरुषों द्वारा आसेवित है ।

संयती के लक्षण—

७७. समाधियुक्त संयत गर्मी में सूर्य की आतापना लेते हैं, सर्दियों
में खुले बदन रहते हैं और वर्षा में एक स्थान में रहते हैं ।

माहण आदि के लक्षण—

७८. प्र०—किस प्रकार दमितेन्द्रिय, मोक्षगमन योग्य तथा शरीर
के प्रति ममत्व का व्युत्सर्ग करने वाला माहण, श्रमण, भिक्षु या
निर्ग्रन्थ कहलाता है ? हे महामुने ! कृपया यह हमें बताइये ।

उ०—इस प्रकार दमितेन्द्रिय मोक्षगमन योग्य तथा शरीर
के प्रति ममत्व त्याग करने वाला (१) माहण, (२) श्रमण,
(३) भिक्षु, (४) निर्ग्रन्थ कहलाता है ।

जो साधक समस्त पापकर्मों से विरत है, जो राग-द्वेष
कलह, मिथ्या-दोषारोपण, चुगली, निन्दा, संयम में अरुचि,
असंयम में रुचि (अथवा हर्ष-शोक), कपट युक्त असत्य, मिथ्या-
दर्शन शल्य से विरत होता है, पाँच समितियों से युक्त और
ज्ञान-दर्शन चारित्र्य से सम्पन्न है, सदैव षड्जीवनिकाय की यतना
में तत्पर रहता है, किसी पर क्रोध नहीं करता है, न अभिमान
करता है, इन गुणों से सम्पन्न अणगार “माहण” कहे जाने
योग्य है ।

ये ‘श्रमण’ ऐसे समझे जायें जो अतिथित है, निदान रहित
है तथा कर्मबन्ध के कारणमूल प्राणातिपात, मृषावाद, मैथुन
और परिग्रह (उपलक्षण से अदत्तादान) से रहित है, तथा क्रोध,
मान, माया, लोभ, राग और द्वेष इत्यादि जो जो कर्मबन्ध के
कारण हो आत्मा के लिए दीध के कारण हैं उन-उन कर्मबन्ध के
कारणों से पहले से ही निवृत्त है वह दमितेन्द्रिय, मोक्षगमन
योग्य तथा शरीर के प्रति ममत्व से रहित ‘श्रमण’ कहे जाने
योग्य है ।

एतथ वि भिक्षू अणुघण, नावणए दंते, दविए,
बोसट्टकाए, संविधुणीय विरुवरुवे परीसहोवसणे,
अजस्रपजोगसुद्धावाणे, उवट्टिए, ठियप्पा, संखाए पर-
दत्तभोई, भिक्षु ति वच्चे ।

एतथ वि जिग्गंथे-एणे, एगविक, बुद्धे, संछिण्णसोए,
सुसंजते, सुसमिए, सुसाभाइए, आयवायपत्ते, विक,
बुहत्तो वि सोयपल्लिच्छण्णे, जो पूया-सक्कार लाभट्ठी,
धम्मट्ठी, धम्मविक, गियागपड्विण्णे, संमियं चरे, दंते,
दविए, बोसट्टकाए निग्गंथे ति वच्चे ।

से एवमेव जाणह जमहं भयंतारो ति वेमि ।

—सूत्र- सु. १, अ. १६, सु. ६३२-६३७

चाई-अचाई लक्षणं—

७६. वत्थगंधमलंकारं, हृत्पीथो सयणाणि य ।
अच्छंका जे न भुञ्जति, न से "चाह" ति वुच्चइ ॥

जे य कंते पिए सोए, लद्धे वि पिट्टिकुल्लई ।
साहिणे जयइ भोए, से ह्ठ "चाह" ति वुच्चइ ॥

—दस. अ. २, गा. २-३

सुसाधु लक्षणार्हं—

८०. एवं से संजते विमुत्ते निस्संगे निपरिग्रहइ निम्ममे,
निन्नेह-बंधणे, सव्वपावविरए ।

घासी-चंदन-समाणकप्पे, सम-तिण-मणि-मुक्ता-सेट्ठुकंबणे,
समे य माणावमाणणाए, समिवरए, समितरागदोसे, समिए
समितीसु, सम्मदिट्ठी । समे य जे सव्वपाण-भूतेसु, से ह्ठ
"समणे" सुयधारए उज्जुए संजए सुसाह ।

सरणं सव्वभूयणं, सव्वजगवच्छले, सच्चमासगा य
संसारंतट्ठिते य, संसार-समुच्छिन्ने, सततं मरणानुपाए,
पारगे य सव्वेति संसयाणं ।

ये 'भिक्षु' ऐसे समझे जायें जो निराभिमान हो किन्तु हीन
भावनाओं से ग्रस्त न हो, दमितेन्द्रिय हो, मोक्षगमन योग्य हो,
कायममत्वरहित हो, नाना प्रकार के परीषर्हों और उपसर्गों को
समभावपूर्वक सहने वाला हो, अध्यात्मयोग से जिसका चारित्र्य
शुद्ध हो, जो सच्चारित्र-पालन में उद्यत हो, जिसकी आत्मा शुद्ध
भाव में स्थित हो, संसार की असारता जानता हो तथा जो
परदत्तभोजी हो वह 'भिक्षु' कहे जाने योग्य है ।

ये 'निर्ग्रन्थ' ऐसे समझे जायें जो अकेला हो, जो एकवेत्ता
हो, जो तत्त्वज्ञ हो, जिसने आस्रवों को रोक दिया हो, जो
सुसंयत हो, जो पाँचों समितियों से युक्त हो, सम्यक् समभाव
वाला हो, जो आत्म स्वरूप का ज्ञाता हो, जो विद्वान हो, जो
द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से इन्द्रियों का संयम करने वाला
हो, जो पूजा सत्कार एवं द्रव्यादि के लाभ का अभिलाषी नहीं
हो, जो धर्मार्थी और धर्मवेत्ता हो जिसने मोक्षमार्ग को सब
प्रकार से स्वीकार कर लिया हो, जो सम्यग् आचरण करने
वाला हो, वह दमितेन्द्रिय, मोक्षगमन के योग्य और शरीर के
ममत्त्व से रहित 'निर्ग्रन्थ' कहे जाने योग्य है ।

इसे ऐसा ही जानो जो मैंने भगवान से सुना है ।

त्यागी-अत्यागी के लक्षण—

७६. जो व्यक्ति परवश होने से या रोगादिग्रस्त होने से वस्त्र,
गन्ध, अलंकार का तथा स्त्रियों का एवं शय्याओं का उपभोग
नहीं करता, वह त्यागी नहीं कहलाता है ।

किन्तु जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर उनकी
ओर से पीठ फेर लेता है अर्थात् स्वेच्छा से भोगों का त्याग
करता है वही त्यागी कहलाता है ।

सुसाधु के लक्षण—

८०. पूर्वोक्त अपरिग्रहव्रती संयमी साधु धन-धान्यादि का त्यागी
आसक्ति रहित, अपरिग्रह में रुचि वाला, ममत्त्व रहित, स्नेह
बन्धन से मुक्त, समस्त पापों से निवृत्त, कुल्हाड़ी से काटे जाने
पर या चन्दन से चर्चित करने पर समबुद्धि रखने वाला, तृण,
मणि, मुक्ता भिट्टी के ढेले और सोने में समानभाव रखने वाला,
सन्मान और अपमान में समता का धारक, पाप कर्म रूपी रज
को शान्त करने वाला अथवा राग-द्वेष को शान्त करने वाला,
पाँच समितियों से युक्त, सम्यग्दृष्टि और सब जीवों पर समभाव
रखने वाला है, वही श्रमण है, श्रुत धारक है, सरल है, संयत है
और सुसाधु है ।

वह साधु समस्त प्राणियों के लिए शरणभूत है, समस्त
जगद्बर्ती जीवों का हितैषी है, सत्यभाषी है, संसार के किनारों पर
स्थित है, भ्रमपरम्परा को नष्ट करने वाला है, निरन्तर होने वाले
बाल मरण का पारगामी है और सब संशयों से रहित होगया है ।

पचयणमायाहि अद्वहि अहुकम्मगंठीविमोयके, अहुसयमहणे,
ससमयकुसले य भवति, सुहदुखखनिष्णसेसे ।

अहिमतर-बाहिरमि सया तवोवहाणंमि य सुट्ठुत्ते, खंते,
वंते य हियनिरते ।

ईरियासमिए, भासासमिए, एसणासमिए, आयाण-मंड-मस-
निखेवणासमिए, उच्चार-पासवण-खेल-सिघाण-जल-परिह-
वणियासमिए, मणगुणे, वयगुणे, कायगुणे, गुत्तिदिए, गुत्त-
मंमयारी ।

चाई, लज्जू, धन्ने, तवस्सी, खंनिष्णसे, जित्तिदिए, मोहिण-
अणियाणे, अवहित्तेसे, अममे, अकिचणे, छिन्नगंधे, निरुव-
सेये ।
—पण्ह. सु. २, अ. ५, सु. ६

जंझ । अपरिग्रह-संबुद्धे य ससणे आरंभ-परिग्रहाओ विरते,
विरते कोह-माण-माया-लोभा,
एणे अंसजमे-जाव-तेत्तीसा आसायणा एक्कादियं करेत्ता
एक्कुत्तरियाए बुद्धिए तोसाओ जाव-उ भवे तिगाहिया,
विरतिपणिहीसु अविरतीसु य, एवमाइएसु भट्टसु ठाणेसु जिण-
पसत्थेसु, अवितहेसु सासयभावेसु अवट्टिएसु संकं कंखं निरा-
करेत्ता सद्वहए सासणं मगवओ अणियाणे अगारवे असुद्धे
अमूढ-मण-वयण-कायगुत्ते । —पण्ह. सु. २, अ. ५, सु. १

गामे-गामे एगरायं, नगरे-नगरे य पंचरायं बुद्धजंते य
जिह्विए जितपरीसहे निम्भओ, विऊ सचिहाचित्त-मीसकेहि
वध्वेहि विरागंते, संघयातो विरए, मुत्ते लहुके, निरवकंखे
जीविय-मरणास-विप्पमुक्के, निस्संधं निब्बणं चरित्ते, धीरे
काएणं फासयंते, अज्झप्पज्झाणजुसे निह्वए, एणे चरेज्ज धम्मा ।
—पण्ह. सु. २, अ. ५, सु. ११

भिक्षुस लक्षणार्ह—

८१. निरुद्धममणाए बुद्धवयणे, निष्चं चित्तसमाहिओ भवेज्जा ।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे, वंतं नो पडियायइ जे स भिक्षू ।

जो आठ प्रवचनमाताओं के द्वारा आठ कर्मों की ग्रन्थि को
नष्ट करने वाला है, आठ मर्दों का मथन करने वाला है और
जो स्वसमय में निष्णात है । वह सुख दुःख दोनों अवस्थाओं में
समान रहता है ।

आभ्यन्तर और बाह्य तप रूप उपधान में सम्यक् प्रकार से
सदा उद्यत रहता है । क्षमावान्, इन्द्रियविजेता, स्व पर हित में
सलग्न रहता है ।

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-भाण्ड-
मात्र-निक्षेपणासमिति और मल-मूत्र-कफ-नासिकामल शरीरमल
आदि के परिष्ठापना समिति से युक्त, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति
और कायगुप्ति से युक्त, इन्द्रियों का गोपन करने वाला, ब्रह्मचर्य
की सुरक्षा करने वाला,

जम्भण परिग्रह पर त्यागी, पाप से लज्जा करने वाला,
धन्य, तपस्वी, क्षमागुण के कारण सहनशील, जितेन्द्रिय, सद्गुणों
से सुशोभित, निदान से रहित, परिणामों को संयम परिधि से
बाहर न जाने देने वाला, अस्मिमानसूचक शब्दों से रहित,
सम्पूर्ण रूप से द्रव्य रहित, स्नेह बन्धन को काटने वाला और
कर्म के उपलेष से रहित होता है ।

हे जम्भू ! अपरिग्रह से संवृत श्रमण आरम्भ परिग्रह से
विरत होता है, क्रोध, मान, माया, लोभ से विरत होता है, एक
प्रकार का असंशय—यावत्—तेत्तीस प्रकार की असातना इस
प्रकार एक से लेकर तेत्तीस संख्या तक के स्थानों में हिंसा आदि
आसन्न स्थानों और संयम स्थानों में जो कि जिनेन्द्र भगवान के
द्वारा उपदिष्ट, शाश्वत, अवस्थित भाव हैं उन में शंका कांक्षा
को दूर करके भगवान के शासन में शुद्ध श्रद्धा रखता है ।
निदान रहित, गर्व रहित, अमक्ति रहित और मूढ़ता रहित
होकर मन वचन काया को गुप्त रखता है ।

वह अनगर, गाँवों में एक रात्रि और नगरों में पाँच रात्रि
तक निवास करने वाला, जितेन्द्रिय, परीषद्ओं को जीतने वाला,
निर्भय, विद्वान्, सचित्त-अचित्त और मिश्र द्रव्यों में वैराग्यवान्,
संग्रह से विरत, मुक्त, परिग्रह के भार से हल्का, आकांक्षा रहित
जीवन मरण की आशा से मुक्त, संघि और व्रण रूप दोष से
रहित चारित्र्य वाला, धैर्यवान्, शरीर से चारित्र्य का पालन करने
वाला, सदा अध्यात्म ध्यान से युक्त, उपशान्त, अकेला अर्थात्
रागद्वेष रहित होकर धर्म का वाचरण करे ।

भिक्षु के लक्षण—

८१. जो तीर्थंकर के उपदेश से संयम ग्रहण कर सदा प्रसन्नचित्त
वाला होता है, जो स्त्रियों के वशीभूत नहीं होता है, जो त्यक्त
भोगों का पुनः सेवन नहीं करता है, वह भिक्षु है ।

पृथ्वी न खणे न खणावए, सीओदगं न पिए न पियावए ।
अग्निसत्थं जहा सुनिसियं, तं न जले न जलावए जे स भिक्षू ॥

अनिलेण न ओए धीयावए, हरियाणि न छिदे न छिवावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो, सच्चिवा नाहारए जे स भिक्षू ॥

वहणं तस-आवरणं होइ, पुडवितणकट्टुनिस्सयाणं ।
तम्हा उहेसियं न भुंजे, नो विपए न पयावए जे स भिक्षू ॥

रोइय नायपुसावणो, अरासमे मन्नेज्ज छप्पि काए ।
पंच य फासे सहवयाइ, पंचासवसंवरे जे स भिक्षू ॥

चत्तारि षमे सया कसाए धुव्यांगी य हवेज्ज बुद्धवयणे ।
अट्ठगे निज्जायकव-रयए, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्षू ॥

सम्महिट्ठी सया अमूढे, अत्थि ह ताने तवे संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराणपावणं, मणवयकाय सुसंवुडे जे स भिक्षू ॥

—दस. अ. १०, गा. १-७

न य भुगाहियं कहं कहेज्जा, न य कुप्पे निहूइविए पसंते ।
संजमधुवजोगजुस्ते, उवसंते अविहेइए जे स भिक्षू ॥

—दस. अ. १०, गा. १०

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिइ,
अघाय-उच्छं पुलनिग्गुलाए ।
कय-विक्कय-सन्निहिओ विरए,
सव्व-संगावगाए य जे स भिक्षू ॥

अलोल भिक्षू न रसेसु गिइ,
उच्छं चरे जीविय नाभिकंखे ।
इडिइ च सक्कारण पूवणं च,
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्षू ॥
न परं वएज्जासि अयं कुसीले,
जेणज्जा कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।
आणिय पत्तेयं पुण्णयावं,
अस्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्षू ॥

—दस. अ. १०, गा. १६-१८

जो पृथ्वी का खनन न करता है और न कराता है, जो शीतो-
दक (संचित जल) न पीता है और न पिलाता है, सुतीक्ष्ण शस्त्र के
समान अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है, वह भिक्षु है ।

जो पंखे आदि से हवा न करता है और न कराता है, जो
हरित का छेदन न करता है और न कराता है, जो बीजों के
स्पर्श आदि का सदा त्रिवर्जन करता है, जो संचित पदार्थों का
आहार नहीं करता है—वह भिक्षु है ।

भोजन बनाने में पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रय में रहें
हुए तब स्थावर जीवों का वध होता है, अतः जो औद्देशिक
(अपने निमित्त) का बना हुआ नहीं खाता तथा जो स्वयं न
पकाता है और न दूसरों से पकवाता है—वह भिक्षु है ।

जो ज्ञातपुत्र के वचन में श्रद्धा रखकर छह काय के जीवों को
आत्मा के समान समझता है, पाँच महाव्रतों का पालन करता है
और पाँच आस्रवों का परित्याग करता है—वह भिक्षु है ।

जो भारों कषायों का परित्याग करता है, निर्ग्रन्थ-प्रवचन में
नियमित रूप से प्रवृत्ति करने वाला है, धन-सोना-चाँदी आदि से
रहित है और (क्रय-विक्रय आदि) गृहस्थ के कार्यों का त्यागी
है—वह भिक्षु है ।

जो सम्यक्दर्शी है, सदा अमूढ़ है, ज्ञान, तप और संयम के
अस्तित्व में आस्थावान् है, जो तप के द्वारा पुराने पापों को नष्ट
कर देता है और मन वचन तथा कर्मा से सुसंवृत है—वह
भिक्षु है ।

जो कलहकारी कथा नहीं करता, किसी पर क्रोध नहीं
करता, इन्द्रियों को चंचल नहीं होने देता, सदा प्रशान्त रहता है,
संयम में तीनों योगों को नियमित रूप से जोड़ता है, उपशान्त
है, दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता—वह भिक्षु है ।

जो भुनि वस्त्रादि उपधि में ममत्व नहीं रखता है पदार्थों
में आसक्त नहीं होता है, अज्ञात कुलों से थोड़ा-थोड़ा आहार
लेता है, संयम को असार करने वाले दोषों से रहित है, क्रय-
विक्रय और सन्निधि से विरत है, सब प्रकार के कर्म बंध के
स्थानों से रहित है—वह भिक्षु है ।

जो भिक्षु अलोलुप है, रसों में शृद्ध नहीं है, अज्ञात कुलों से
थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेता है, असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं
करता है, ऋद्धि, सत्कार और पूजा की आकांक्षा नहीं रखता है,
स्थितात्मा है, अपनी शक्ति का गोपन नहीं करता है—वह भिक्षु है ।

प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं—ऐसा जान-
कर जो दूसरे को “यह कुशील है” ऐसा नहीं कहता है और
जिससे दूसरा कुपित हो ऐसी बात नहीं कहता है, जो अपनी
विशेषताओं पर अहंकार नहीं करता है—वह भिक्षु है ।

एवेयए अज्जपयं महाभुणी,
 धम्मो ठिओ ठावयई परं पि ।
 निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिगं,
 न यावि हासं कुहए जे स भिक्खू ॥
 न वेहवासं असुहं असासयं,
 सया चाए निच्च हियट्ठियपा ।
 छिदित्तु जाईमरणस्स बंधणं,
 उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइ ॥
 — दस. अ. १०, गा. २०-२१

मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं,
 सहिए उज्जुकडे निथाणछिन्ने ।
 संयसं जहिज्ज अकामकामे,
 अस्सायएसी परिव्वए स भिक्खू ॥

राओवरयं चरेज्ज लाढे,
 विरए वेववियायरक्खिए ।
 पन्ने अभिभूय सव्वदंसी,
 जे कम्महिं न सुच्छिए स भिक्खू ॥

अक्कोसवहं विदित्तु धीरे
 भुणी चरे लाढे, निच्चमायगुत्ते ।
 अस्वभाभणी असंपहिदडे,
 जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

पन्त सयणासणं भइत्ता,
 सी-उण्ह विविहं च दंसमसगं ।
 अस्वग्गमणे असंपहिदडे,
 जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

नो सक्किथमिच्छई न पूयं,
 नो वि य वन्दणं कुओ पसंसं ।
 से संजए सुव्वए तवस्सी,
 सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥

जेण पुणं जहाइ जीवियं,
 मोहं वा कसिणं नियच्छई ।
 नरमारि पजहे सया तवस्सी,
 न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥

छिन्नं सरं मोमं अन्तलिक्खं,
 सुमिणं, लक्खणदण्डयथुविज्जं ।
 अंगवियारं सरस्स विजयं,
 जो विज्जाहिं न जोवई स भिक्खू ॥

जो महाभुनि शुद्ध धर्म का उपदेश करता है, स्वर्ग धर्म में स्थित होकर दूसरों को भी धर्म में स्थित करता है, प्रवर्जित होकर कुशील आचार का वर्जन करता है, जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा नहीं करता है—वह भिक्षु है ।

अपनी आत्मा को सदा हित में स्थापित रखने वाला भिक्षु अशुविमय नश्वर देहवास को सदा के लिए त्याग देता है और वह जन्म-मरण के बन्धन को काटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

“धर्म को स्वीकार कर मुनि-व्रत का आचरण करेगा”—जो ऐसा संकल्प करता है, ज्ञानादि से सहित है, जिसका अनुष्ठान सरलता से युक्त है, निदान से रहित है, जो परिचय का त्याग करता है, काम-भोगों की अभिलाषा को छोड़ चुका है अथवा मोक्ष की कामना करने वाला है, अज्ञात कुल में भिक्षा ग्रहण करते हुए विचरण करने वाला है—वह भिक्षु है ।

जो राग से रहित और सदनुष्ठान पूर्वक विचरण करने वाला, असंयम से निवृत्त, सिद्धान्त का वेत्ता, आत्मरक्षक, बुद्धिमान हो तथा परीषहों को जीतकर सर्व प्राणियों को अपने समान देखने वाला हो और किसी भी पदार्थ से आसक्त नहीं होता है—वह भिक्षु है ।

जो धीर मुनि आक्रोश और वध आदि परीषहों को अपने कर्मों का फल जानकर शान्त भाव से सहन करता है, नित्य आत्मगुप्त होकर सदनुष्ठानपूर्वक विचरण करता है तथा आकुलता और हर्ष से रहित होकर सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है ।

साधारण शय्या और आसन आदि प्राप्त होने पर तथा मर्दी गर्मी, ठांस और मच्छरों का उपसर्ग होने पर लगे आकुलता और हर्ष से रहित होकर सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है ।

जो सत्कार, पूजा और वन्दना की इच्छा नहीं करता और प्रशंसा को भी नहीं चाहता । जो संयत सुजती, तपस्वी ज्ञानादि से युक्त है तथा आत्म-नवेषक है—वह भिक्षु है ।

जिसके संयोग मात्र से संयम-जीवन छूट जाता है और सम्पूर्ण मोह की प्राप्ति हो जाती है वैसे स्त्री पुरुष की संगति को जो तपस्वी सदा के लिए छोड़ देता है और कौतुहल को प्राप्त नहीं होता है—वह भिक्षु है ।

जो छिन्न विद्या, स्वर विद्या, भूकम्प विद्या, अन्तरिक्ष विद्या, स्वप्न विद्या, लक्षण विद्या, दण्ड विद्या, वास्तु विद्या, अंग स्फुरण विद्या और शब्द विद्या आदि इन विद्याओं के द्वारा जो आजीविका नहीं करता है—वह भिक्षु है ।

मन्तं मूलं विविहं वेज्जघिन्तं,
 वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं ।
 आउरे सरणं तिगिच्छियं च,
 तं परिधाय परिध्वए स भिक्खू ॥
 खस्तिमगणउगारायपुत्ता,
 माहणभोइय विविहा य सिप्पिणो ।
 नो तेसि वयइ सिलोणपूयं,
 तं परिधाय परिध्वए स भिक्खू ॥
 गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा,
 अप्पव्वइएण च संथया हविज्जा ।
 तेसि इहलोइयफलट्ठा,
 जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥
 सयणासणपाणभोयणं,
 विविहं खाइमं साइमं परेसि ।
 अदए पडिसेहिए नियथे,
 जे तत्थ न पजस्सई स भिक्खू ॥
 जं किचि आहारपाणगं,
 विविहं खाइमं साइमं परेसि लद्धं ।
 जो तं तिविहेण नाणुकम्पे,
 मणवयकाय-सुसंबुडे स भिक्खू ॥
 आयासगं चेव जयोवणं च,
 सीयं च सोवीर जयोदगं च ।
 नो हीलाए पिण्डं नीरसं तु,
 पन्तकुलाइं परिध्वए स भिक्खू ॥
 सहा विविहा भवन्ति लोए,
 दिट्ठा माणुस्सगा तहा तिरिच्छा ।
 भीमा मयभेरवा उराला,
 जो सोच्चा न विहिज्जई स भिक्खू ॥
 वादं विविहं समिच्छ लोए,
 सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा ।
 पप्पे अमिभूय सबवंसी उवसन्ते,
 अविहेडए स भिक्खू ॥
 असिप्पजोवी अगिहे अमित्ते,
 जिह्मिदए सध्वओ विप्पमुक्के ।
 अणुक्कसाई तहुअप्पमवली चेच्चा,
 गिहं एगचरे स भिक्खू ॥

—उत्त. अ. १५, गा. १-१६

हिरण्यं जायकूवं च मणसा वि न पत्थए ।

समसेट्ठकचणे भिक्खू, विरए कयविक्कए ॥

—उत्त. अ. २५, गा. १५

जो मन्त्र प्रयोग, जड़ी बूटी प्रयोग अनेक प्रकार की चिकित्सा वमन, विरेचन, घृस्त्र प्रयोग, मन्त्रित जल से स्नान प्रयोग तथा रोगातुर होने पर स्वजन की शरण व चिकित्सा—इनका परित्याग कर जो संयम मार्ग में विचरण करता है—वह भिक्षु है ।

क्षत्रिय राजा, गणराजा, आरक्षकादि कुल, ब्राह्मण, भोग-कुल के पुत्र, विविध प्रकार के शिल्पी, उनकी जो श्लाघा और पूजा नहीं करता है किन्तु उनका परित्याग कर जो संयम मार्ग में विचरण करता है—वह भिक्षु है ।

जो गृहस्थ प्रव्रजित होने के पश्चात् परिचय में आये हों अथवा गृहस्थ अवस्था के परिचित हों उनके साथ इहलौकिक फल की प्राप्ति के लिए जो परिचय नहीं करता—वह भिक्षु है ।

शयन, आसन, पान, भोजन और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य गृहस्थ न दे तथा माँगने पर भी इन्कार हो जाये, उस स्थिति में जो निर्ग्रन्थ प्रव्रेष न करे—वह भिक्षु है ।

गृहस्थों से जो कुछ आहार, पानी और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य प्राप्त कर जो मन, वचन, काया से अनुकम्पित न हो अर्थात् विचलित न हो और जो मन, वचन, काया से सुसंवृत रहे—वह भिक्षु है ।

ओसामन, जी का दलिया, ठण्डा बासी आहार, कांजी का पानी, जी का पानी, ऐसी नीरस भिक्षा की जो निन्दा नहीं करता, अपितु जो सामान्य बरों में भिक्षा के लिए जाता है—वह भिक्षु है ।

लोक में देवता, मनुष्य और तिर्यचों के अनेक प्रकार के रौद्र, अत्यन्त भयंकर और अद्भुत शब्द होते हैं, उन्हें सुनकर जो नहीं डरता है—वह भिक्षु है ।

लोक में विविध प्रकार के वादों को जान कर जानादि से मुक्त होकर संयम का पालन करते हुए जिसे आगम का परम अर्थ प्राप्त हुआ है, जो प्राज्ञ है, परोपहारों को जीतने वाला है और सब जीवों को आत्म-तुल्य समझने वाला है, जो उपशान्त और किसी को भी अपमानित न करते वाला है—वह भिक्षु है ।

जो शिल्प-जीवी नहीं होता है, जिसके घर नहीं होता है, जिसके मित्र नहीं होते, जो जितेन्द्रिय होता है, सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है, जिसका कषाय पन्द होता है, जो थोड़ा और निस्सार भोजन करता है, जो घर को छोड़ अकेला विचरता है—वह भिक्षु है ।

क्रय और विक्रय से निवृत्त, मिट्टी के ढेले और सोने को समान समझने वाला भिक्षु सोने और चाँदी की मन से भी इच्छा न करे ।

विरया वीरा समुद्रिया, कोहकायिरियाइपीसणा ।
पाणे ण हणंति सखसो, पावाओ विरयाऽभिणिगुडा ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. १, गा. १२

सोओइग पडिबुंछिणी, अपडिण्णस्स लवाक्खसिक्खणी ।
सामाइयमाहु तस्स जं, ओ गिहिमत्तेऽसणं न भुंजइ ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. २, गा. २०

महेसिणं लक्खणाइं—

८२. परोसहरिकवता, धुममोहा जिह्विया ।

सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥

—दस. अ. ३, गा. १३

मुणीणं लक्खणाइं—

८३. अकरिस्सं च हं, कारवेसुं च हं,

करओ मावि समणुण्णे भविस्सामि^१ ।

एवावंति सव्वावति लोगंसि,

कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवन्ति ॥

अपरिणायकस्मे खलु अयं पुरिसे, जो इमाओ दिसाओ वा
अणुविसाओ वा, अणुसंहरति, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ
अणुविसाओ सहेइ, अणेगरुवाओ जोणीओ संघेति, विरुवरुवे
फासे य, पडिसंखेयति ।

तत्थ खलु भगवया परिणया पवेदिता ।

इमस्स चेव जीविस्स,

परिवंण-मायण-पुयणाए;

जाइ-मरण-मोयणाए,

दुक्खपडिघायहेउं ।

एतावन्ति सव्वावति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा
भवन्ति ।

जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिणया भवन्ति ते तु मुणी
परिणाय-कस्मे ति वेमि ।

—आ. सु. १, अ. १, उ. १, सु. ४-६

एवं से उट्ठिते ठितप्पा अणिहे अचले चले अबहिलेस्से
परिव्वाए ।

जो हिमा आदि से विरत है, क्रोध-माया आदि कषायों का
विदारण करने के कारण वीर है और मोक्षमार्ग में उद्यत है । जो
मन-वचन-काय से सर्वथा प्रार्णा हिमा से उपरत है, वे पापों से
रहित मुक्त जीवों के समान ही परिणत हैं ।

जो साधु अचित्त जल से धूँसा करता है, दुःसंकल्प या निदान
नहीं करता है, कर्मबन्धन से दूर रहता है तथा जो गृहस्थ के
वर्तन में भोजन नहीं करता है उसे सर्वज्ञों ने सामायिक चारित्र्य-
वान् अर्थात् संयमी कहा है ।

महर्षि के लक्षण—

८२. परीषहरूपी शत्रुओं का दमन करने वाले, अज्ञान का नाश
करने वाले, जितेन्द्रिय, महर्षि सर्व दुःखों के नाश के लिए परा-
क्रम करते हैं ।

मुनियों के लक्षण—

८३. मैंने किया की थी, मैं किया करवाता हूँ, मैं किया करने
वाले का अनुमोदन करूँगा ।

समस्त लोक में कर्मबन्ध के हेतुभूत क्रियाएँ इतनी ही
जाननी चाहिये ।

जो पुरुष क्रियाओं के यथार्थ स्वरूप को भलीभाँति नहीं
जानता है, वह दिशाओं विदिशाओं में परिभ्रमण करता है,
सभी दिशाओं विदिशाओं में कर्मों के साथ जाता है । अनेक
प्रकार की जीवयोनिधियों को प्राप्त होता है । विविध प्रकार के
दुःखों का संवेदन करता है ।

कर्मबन्धन के कारणों के विषय में भगवान ने यह उपदेश
दिया है कि सांसारिक प्राणी—

(१) वर्तमान जीवन निर्वाह के लिए,

(२) प्रशंसा, सम्मान व पूजा के लिए,

(३) जन्म मरण से मुक्त होने के लिए,

(४) दुःख के प्रतिकार के लिए, पाप क्रियाएँ करते हैं ।

समस्त लोक में वे सभी कर्म समारम्भ जानने योग्य और
त्यागने योग्य होते हैं ।

लोक में ये जो कर्म समारम्भ हैं इन्हें जो जान लेता है और
त्याग देता है, वह परिज्ञातकर्मी मुनि होता है ।

वह उत्थित, स्थितात्मा, स्नेह रहित, अविचल, चल, अध्य-
वसाय को संयम से बाहर न ले जाने वाला मुनि अतिबुद्ध
होकर संयम में विचरण करे ।

१ आदि मध्य तथा अन्त की क्रिया से यहाँ नव क्रियाएँ समझनी चाहिए ।

१. मैंने किया की थी,

२. कराई थी,

३. अनुमोदन किया था,

४. मैं किया करता हूँ,

५. कराता हूँ,

६. अनुमोदन करता हूँ,

७. मैं किया करूँगा,

८. कराऊँगा,

९. करने वाले का अनुमोदन करूँगा,

प्राचीन और नवीन क्रिया का निर्देश सूत्र में दिया है ।

संख्य पेसलं दिद्विमं परिणिवृद्धे ।

तस्मा संगं ति पासहा ।

गंधेहि गहिता णरा विसण्णा कामककंता ।

तस्मा लूहातो णो परिवित्तसेज्जा । जस्सिमे आरंभा सव्वतो
सव्वताए सुपरिण्णाता भवन्ति जस्सिमे लूसिणो णो परिवित्त-
सन्ति, से वन्ता कोधं च माणं च मायं च सोमं च । एस
त्तिउट्टे विद्याहिते त्ति बेमि ।

कायस्स विद्यावाए एस संगमसांसे विद्याहिए । से ह् पारंगमे
मुणो ।

अवि हम्ममाणे कलगावसट्ठी कालोवणीते कखेज्ज कालं-जाव-
सरोरमेवो त्ति बेमि ।

—आचा. सु. १, अ. ६, उ. ५, सु. १६४-१६८

मुत्ता अमुणी मुणिणो सथा आगरत्ति ।

लोगस्ति जाण अहिथाय दुक्खं ।

समसं लोगस्स जाणित्ता एत्थ सत्थोवरत्ते ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. १, सु. १०६

जस्सिमे सदा य रुखा य गंधा य रसा य फासा य अस्सि-
मण्णागता भवन्ति से आतवं णाणवं वेयवं धम्मवं वंभवं ।

पण्णाणेहि परिजाणन्ति लोगं, मुणी ति वज्जे धम्मविबु त्ति
अंजू आवट्टसोए संगमभिजाणन्ति ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. १, सु. १०७

संधि लोगस्स जाणित्ता आयओ बहिथा पास ।

तस्मा ण हंता ण विघातए ।

जमिणं अणमण्णचित्तिगिष्ठाए पडिसेहाए ण करेत्ति पावं कम्मं
कि तत्थ मुणी कारणं सिया ?

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ३, सु. १२२

अल्लोसुए अक्कुहए अमाई,

अप्पिसुणे यावि अदीणवित्ती ।

ओ भत्तए नो वि य भाविपप्पा,

अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥

वह सम्यग्दृष्टि मुनि पवित्र उत्तम धर्म को सम्यक् रूप से
जानकर कषायों को सर्वथा उपशान्त करे ।

इसलिए तुम आसक्ति के विपाक को देखो ।

परिग्रह में गुड़ और उनमें निमग्न बने हुए मनुष्य काम-
भोगों से आक्रान्त होते हैं ।

इसलिए मुनि संयम से उद्विग्न न हो । जिन आरम्भों से
हिंसक वृत्ति वाले मनुष्य उद्विग्न नहीं होते उन आरम्भों को जो
मुनि सब प्रकार से सर्वात्मना भलीभाँति त्याग देते हैं । वे ही
मुनि क्रोध, भय, माया और लोभ का वमन करने वाले होते हैं ।
वे ही मुनि संसार-शृंखला को तोड़ने वाले कहलाते हैं ।

शरीर का विनाश (मृत्यु) कर्म-संग्राम का अग्रिम मोर्चा कहा
गया है । इसमें पराजित नहीं होने वाला मुनि पारंगामी होता है ।

मुनि परीषर्हों से आहत होने पर भी लकड़ी के पाटिये की
भाँति स्थिर रहकर मृत्युकाल निकट आने पर समाधिमग्न की
आकांक्षा करते हुए जब तक शरीर का आत्मा से वियोग न हो
तब तक वह मरणकाल की प्रतीक्षा करे ।

अज्ञानी सदा सोये रहते हैं और मुनि निरन्तर जागृत रहते हैं ।

इस बात की जानो कि लोक में अज्ञान अहित के लिए
होता है ।

मुनि सभी आत्माओं को समान जानकर उनकी हिंसा से
उपरत रहे ।

जिस पुरुष ने शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श को सम्यक्
प्रकार से जानकर उनकी आसक्ति का त्याग कर दिया है वह
आत्मवान्, ज्ञानवान्, शास्त्रज्ञ, धर्मवान् और ब्रह्मचारी होता है ।

जो पुरुष अपनी प्रजा से लोक को जानता है, वह मुनि
कहलाता है । वह धर्मवेत्ता और ऋजु होता है । वह आसक्ति
को संसार भ्रमण का हेतु समझता है ।

साधक धर्म के अवसर को जानकर अपनी आत्मा के समान
ही बाह्य जगत के जीवों को देखे । (कि सभी जीवों को मुख
प्रिय है और दुःख अप्रिय है ।) इसलिए किसी भी जीव का हनन
न करे और न दूसरों से हनन करवाये ।

जो व्यक्ति परस्पर आशंका भय एवं लज्जा के कारण पाप
कर्म नहीं करता है, तो क्या यह भी मुनित्व का कारण है ?
अर्थात् नहीं है ।

जो साधु रस लोलुप नहीं होता, इन्द्रजाल आदि के
चमत्कार प्रदर्शित नहीं करता, भाषा नहीं करता, चुगली नहीं
करता, दीन भावना से याचना नहीं करता, दूसरों से आत्म-
श्लाघा नहीं करवाता, स्वयं भी आत्मश्लाघा नहीं करता और
जो कुतूहल नहीं करता, वह पूज्य है ।

गुणेहि साह अगुणेहसाह,
गिणहाहि साह गुणमुंचसाह ।
विद्यानिया अणमणएणं,
जो रागदोसेहि समो स पुज्जो ॥
तहेव ङ्हरं व महत्तणं वा,
इत्थो पुमं पब्बइयं गिहि वा ।
नो हीलए नो वि य खिसएज्जा,
यंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥

—दस अ. ३, उ. २, गा. १०-१२

अमुणी-मुणी सरूखं—

८४. दुक्खसु मुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाति वत्तए ।

एस बीरे पसंसिए अच्छेति लोगसंजोगं । एस णाए पवुच्चति ।

जं दुक्खं पवेदितं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला
परिणामुदाहरंति इति कम्मं परिणाय सव्वसो ।

जे अणण्वंसी से अणणारामे, जे अणणारामे से, जे अण-
ण्वंसी । —आ. सु. १, अ. २, उ. ६, सु. १००-१०१

संजयमणुस्साणं सुत्ताणं पंच जागरा पणत्ता, तं जहा—
(१) सद्दा, (२) रुक्खा, (३) गंधा, (४) रसा, (५) फासा ।
संजयमणुस्साणं जागराणं पंच सुत्ता पणत्ता, तं जहा—
(१) सद्दा, (२) रुक्खा, (३) गंधा, (४) रसा, (५) फासा ।
असंजयमणुस्साणं सुत्ताणं वा जागराणं वा जागरा पणत्ता,
तं जहा—

(१) सद्दा, (२) रुक्खा, (३) गंधा, (४) रसा, (५) फासा ।

—ठाणं अ. ५, उ. २, सु. ४२२

अणत्तवओ अत्तवओयणा—

८५. छठाणा अणत्तवओ अहिताए असुखाए अल्लभाए अणीसेसाए
अणाणुगामियत्ताए भवन्ति, तं जहा—

(१) परियाए, (२) परियाले, (३) सुते,
(४) तबे, (५) लाभे, (६) पूयासक्कारे ।

छठाणा अत्तवतो हिताए सुखाए लभाए णीसेसाए आणुगामि-
यत्ताए भवन्ति, तं जहा—

(१) परियाए, (२) परियाले, (३) सुते,
(४) तबे, (५) लाभे, (६) पूयासक्कारे ।

—ठाणं अ. ६, सु. ४६६

मनुष्य गुणों से साधु होता है और अवगुणों से असाधु होता है । इसलिए साधु के गुणों को ग्रहण करना चाहिए और अव-
गुणों को छोड़ देना चाहिए । अपनी ज्ञान-आत्मा के द्वारा आत्मा
को बोधित कर जो राग-द्वेष में समभाव रखता है, वह पूज्य है ।

जो साधु बालक वा वृद्ध की, स्त्री या पुरुष की, साधु वा
गृहस्थ की हीलना खिसना नहीं करता है, गर्व और क्रोध का
त्याग करता है, वह पूज्य है ।

अमुनि तथा मुनि का स्वरूप—

८४. जो मुनि वीतराग की आज्ञा का पालन नहीं करता वह
संयम-धन से रहित होता है, वह चारित्र्य से तुच्छ (हीन) होने
के कारण धर्म का कथन करने में लज्जा का अनुभव करता है ।

वही वीर पुरुष सर्वत्र प्रशंसा प्राप्त करता है जो लोक
संयोग से दूर हट जाता है वही नायक (अग्य को मोक्ष की ओर
ले जाने वाला) कहलाता है ।

इस संसार में मनुष्यों के जो दुःख बताये हैं, कुशल पुरुष
उन दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बताते हैं कि सब प्रकार के
कर्म बन्ध के कारणों को जानकर उनका त्याग करना चाहिये ।

जो स्वयं की आत्मा को देखता है, वह आत्मा में रमण
करता है । जो आत्मा में रमण करता है, वह अपनी आत्मा को
देखता है ।

संयत मनुष्य सुप्त होते हैं तब उनके पाँच जागृत होते हैं—

(१) शब्द, (२) रूप, (३) गन्ध, (४) रस, (५) स्पर्श ।

संयत मनुष्य जागृत होते हैं तब उनके पाँच सुप्त होते हैं—

(१) शब्द, (२) रूप, (३) गन्ध, (४) रस, (५) स्पर्श ।

असंयत मनुष्य सुप्त हो या जागृत फिर भी उनके पाँच
जागृत होते हैं—

(१) शब्द, (२) रूप, (३) गन्ध, (४) रस, (५) स्पर्श ।

अनात्मवान और आत्मवान—

८५. अनात्मवान के लिए छह स्थान—अहित, अशुभ, अक्षम,
अनिश्चेयस तथा अनानुगामिकता (अशुभ अनुबन्ध) के हेतु होते हैं—

(१) पर्याय—अवस्था या दीक्षा में बड़ा होना, (२) परिवार
(३) श्रुत, (४) तप, (५) लाभ, (६) पूजा-सत्कार ।

आत्मवान के लिए छह स्थान हित, शुभ, क्षम, निश्चेयस
तथा आनुगामिकता के हेतु होते हैं—

(१) पर्याय, (२) परिवार, (३) श्रुत,
(४) तप, (५) लाभ, (६) पूजा-सत्कार ।

अणगार गुणा—

८६. सत्तावीस अणगारगुणा पण्णत्ता, तं जहा—

(१) पाणातिवातवेरमणे,	(२) मुसावाए वेरमणे,
(३) अदिग्गहादाण वेरमणे,	(४) मेह्ण वेरमणे,
(५) परिग्गह वेरमणे,	(६) सोईदिय निग्गहे,
(७) चक्खिदिय निग्गहे,	(८) धाणिदिय निग्गहे,
(९) जिह्विदिय निग्गहे,	(१०) कांसिदिय निग्गहे,
(११) कोहविवेगे,	(१२) माणविवेगे,
(१३) मायाविवेगे,	(१४) लोभ विवेगे,
(१५) भावसच्चे,	
(१६) करण सच्चे,	
(१७) जोगसच्चे	
(१८) क्षमा,	(१९) विरागता,
(२०) मनसमाहरणता,	
(२१) वडसमाहरणता,	(२२) कायसमाहरणता,
(२३) ज्ञानसंपण्णया,	(२४) संसण संपण्णया,
(२५) चरित्तसंपण्णया,	(२६) वेयणअहिंसासयणया,
(२७) मारणान्तिक कण्ठ सहन करना ।	— सम. सम. २७, सु. १

मझाई नियंठ सख्वं—

८७. प्र०—मझाई णं मंते ! नियंठे णो निरुद्धसखे, णो निरुद्ध-
अवपवंचे, णो पहीणसंसारे, णो पहीणसंसारवेअणिज्जे,
णो व्योच्छिन्नसंसारे, णो व्योच्छिन्नसंसारवेअणिज्जे, नो
निद्वियट्ठे, नो निद्वियट्ठकरणिज्जे पुणरवि हत्तस्थं हव्वं
आगच्छइ ?

उ०—हंता गोयमा ! मझाई णं नियंठे-जाव-पुणरवि हत्तस्थं
हव्वं आगच्छइ । —वि. स. २, उ. १, सु. ८-९

प०—से णं मंते ! किं ति वत्तख्वं सिया ?

उ०—गोयमा ! “पाणे” ति वत्तख्वं सिया,

“भूए” ति वत्तख्वं सिया,

“जीवे” ति वत्तख्वं सिया,

“सत्ते” ति वत्तख्वं सिया,

“विण्णू” ति वत्तख्वं सिया,

“वेदे” ति वत्तख्वं सिया,

पाणे, भूए, जीवे, सत्ते, विण्णू वेदे ति वत्तख्वं सिया ।

प०—से केणट्ठेणं मंते ! पाणे ति वत्तख्वं सिया-जाव-वेदे
ति वत्तख्वं सिया ?

अणगार के गुण—

८६. मुनि के सत्ताईस गुण कहे गये हैं, यथा—

(१) प्राणातिपात विरमण,	(२) मृषावाद विरमण,
(३) अवत्तादान विरमण,	(४) मैथुन विरमण,
(५) परिग्रह विरमण,	(६) श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह,
(७) चक्षुर्इन्द्रिय निग्रह,	(८) घ्राणेन्द्रिय निग्रह,
(९) रसनेन्द्रिय निग्रह,	(१०) स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह,
(११) क्रोध विवेक,	(१२) मान विवेक,
(१३) माया विवेक,	(१४) लोभ विवेक,
(१५) भाव सत्य (अन्तरात्मा की पवित्रता),	
(१६) करण सत्य (क्रिया को सम्यक् प्रकार से करना)	
(१७) योग सत्य (भन, वचन, काया का सम्यक् प्रवर्तन)	
(१८) क्षमा,	(१९) वैराग्य,
(२०) मन समाहरण (मन का संकोचन)	
(२१) वचन समाहरण,	(२२) काय समाहरण,
(२३) ज्ञान सम्पन्नता,	(२४) दर्शन सम्पन्नता,
(२५) चारित्र्य सम्पन्नता,	(२६) वेदना सहन करना,
(२७) मारणान्तिक कण्ठ सहन करना ।	

मृतादि निग्रन्थ का स्वरूप—

८७. प्र०—अणवन् ! जिसने संसार का निरोध नहीं किया है, संसार के प्रबंधों का निरोध नहीं किया है, संसार को क्षीण नहीं किया है, संसार वेदनीय कर्म को क्षीण नहीं किया है, जिसका संसार व्युच्छिन्न नहीं हुआ है, संसार वेदनीय कर्म व्युच्छिन्न नहीं हुआ है, जिसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ है, जिसका कार्य पूर्ण नहीं हुआ है, ऐसा प्रासुक आहार करने वाला अणगार क्या पुनः शीघ्र अनुष्यभव आदि भावों को प्राप्त करता है ?

उ०—हाँ गौतम ! ऐसा प्रासुक भोजी अणगार—यावत्—
पुनः शीघ्र अनुष्यभव आदि भावों को प्राप्त करता है ।

प्र०—अन्ते ! उसे किस शब्द से कहा जाये ?

उ०—गौतम ! वह “प्राण” ऐसा कहा जा सकता है,

“भूत” ऐसा कहा जा सकता है,

“जीव” ऐसा कहा जा सकता है,

“सत्त्व” ऐसा कहा जा सकता है,

“विज्ञ” ऐसा कहा जा सकता है,

“वेद” ऐसा कहा जा सकता है,

तथा एक साथ प्राण, भूत, जीव, सत्त्व, विज्ञ और वेद भी कहा जा सकता है ।

प्र०—अन्ते ! किस कारण से उसे प्राण—यावत्—वेद कहा जा सकता है ?

उ०—गोयमा ! जम्हा आणमइ वा पाणमइ वा, उस्ससइ वा, जीससइ वा, तम्हा “पाणे” ति वत्तव्वं सिया,

जम्हा भूते, भवति, भविस्सति य तम्हा “भूए” ति वत्तव्वं सिया,

जम्हा जीवे जीवति, जीवत्तं आउयं न कम्म उव-जीवति, तम्हा “जीवे” ति वत्तव्वं सिया,

जम्हा सत्ते सुभानुमेहि जम्मेहि तम्हा “सत्ते” ति वत्तव्वं सिया,

जम्हा तित्त-कडुप-कसायंबिल-महुरे रसे जाणइ तम्हा “विन्तू” ति वत्तव्वं सिया ।

जम्हा वेवेइ य सुह-दुक्खं तम्हा “वेवे” ति वत्तव्वं सिया,

से तेणट्ठेण गोयमा ! “पाणे” ति वत्तव्वं सिया -जाव-वेवे ति वत्तव्वं सिया ।

प०—मझाई णं भंते ! नियंटे निरुद्धभवे, निरुद्धभवपवंचे -जाव-मिद्धिअट्ठकरणिज्जे णो पुणरवि इत्तत्थं हव्वं आगच्छइ ?

उ०—हंता गोयमा ! मझाई णं नियंटे-जाव-नो पुणरवि इत्तत्थं हव्वं आगच्छइ ।

प०—से णं भंते ! किं वत्तव्वं सिया ?

उ०—गोयमा ! “सिद्धे” ति वत्तव्वं सिया,

“बुद्धे” ति वत्तव्वं सिया,

“मुत्ते” ति वत्तव्वं सिया,

“पारमए” ति वत्तव्वं सिया, “परम्परमए” ति वत्तव्वं सिया, सिद्धे, बुद्धे, मुत्ते, परिनिव्वुद्धे, अंतकडे, सव्वदुक्ख-पहीणे ति वत्तव्वं सिया, —वि. स. २, उ. १, सु. ८-६

निर्ग्रन्थार्थ पसत्थ लक्षण—

८८ प०—से नूनं भंते ! लाघवियं अप्पिच्छा [अमुच्छा अगेही अपडिबद्धया समणानं निर्ग्रन्थार्थ पसत्थं ?

उ०—हंता, गोयमा ! लाघवियं-जाव-अपडिबद्धया समणानं निर्ग्रन्थार्थ पसत्थं ।

प०—से नूनं भंते ! अकोहत्तं अमागतं अमायत्तं अलोभत्तं समणानं निर्ग्रन्थार्थ पसत्थं ?

उ०—हंता, गोयमा ! अकोहत्तं-जाव-अलोभत्तं समणानं निर्ग्रन्थार्थ पसत्थं ।

प०—से नूनं भंते ! कंखा-पदोसे खीणे समणे निर्ग्रन्थे अंत-करे भवति, अंतिमसरीरिए वा, बहुसोहे वि य णं

उ०—गौतम ! क्योंकि वह बाह्य और आभ्यन्तर स्वासोच्छ-वास लेता है और छोड़ता है इस कारण “प्राण” कहा जा सकता है ।

वह भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा, इस कारण “भूत” कहा जा सकता है ।

वह जीता है तथा जीवत्व का और आयुर्कर्म का अनुभव करता है, अतएव “जीव” कहा जा सकता है ।

वः शुभ अशुभ कर्मों से सम्बद्ध है, अतः “सत्त्व” कहा जा सकता है ।

वह तीखा, कड़वा, कपिला, खट्टा और भीठा इन रसों को जानता है, अतः वह “विज्ञ” कहा जा सकता है ।

वह सुख दुःख का वेदन करता है अतः वह “वेद” कहा जा सकता है ।

इस कारण से गौतम ! उसे ‘प्राण’—यावत् - ‘वेद’ कहा जा सकता है ।

प्रा०—भन्ते ! जो प्रासुक भोजी अनगार संसार का निरोध कर चुका है, भवप्रपंच का निरोध कर चुका है—यावत्—जिसका कार्य पूर्ण हो चुका है, वह पुनः मनुष्यत्व आदि भावों को प्राप्त नहीं करता है ?

उ०—गौतम ! ऐसा प्रासुक भोजी अनगार—यावत्—पुनः मनुष्यत्व आदि भावों को प्राप्त नहीं करता ।

प्रा०—भन्ते ! उसे किस शब्द से कहना चाहिए ?

उ०—गौतम ! उसे “सिद्ध” कहा जा सकता है,

“बुद्ध” कहा जा सकता है,

“मुक्त” कहा जा सकता है, संसार के पार पहुँचा हुआ कहा जा सकता है,

अनुक्रम से संसार के पार पहुँचा हुआ कहा जा सकता है तथा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिवृत, अन्तकृत और सब दुःखों का नाश करने वाला कहा जा सकता है ।

निर्ग्रन्थों के प्रशस्त लक्षण—

८८. भगवन् ! क्या लाघव, अल्प इच्छा, अमूर्च्छा, अनासक्ति और अप्रतिबद्धता, ये श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त है ?

उ०—हां गौतम ! लाघव—यावत्—अप्रतिबद्धता ये श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त हैं ।

प्रा०—भगवन् ! क्रोधरहितता, भानरहितता, मायारहितता और अलोभत्व, क्या ये श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त हैं ?

उ०—हां गौतम ! क्रोधरहितता—यावत्—अलोभत्व, ये सब श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त हैं ।

प्रा०—भगवन् ! क्या कांक्षाप्रदोष क्षीण होने पर श्रमण-निर्ग्रन्थ अन्तकर अथवा अन्तिम शरीरी (चरम) होता है ? अथवा

पुनर्वि विहरिस्ता अहं पच्छा संबुद्धे कासं करेति तओ
पच्छा सिञ्जति-जाव-अंतं करेइ ?

पूर्वविस्था में ब्रह्म मोहवाला होकर विहरण करे और फिर
संवरयुक्त होकर मृत्यु प्राप्त करे, तो क्या तत्पश्चात् वह सिद्ध,
बुद्ध, मुक्त होता है—यावत्—सब दुःखों का अन्त करता है ?

उ०—हंता, गोयमा ! कंक्षा-पदोसे खीणे-जाव-सब्ब दुक्खान-
भासं करेति : --विज्ज. ए. १, उ. ६. सु. १६-१६

उ०— हूं गौतम ! कंक्षाप्रदोष नष्ट हो जाने पर—यावत्—
सब दुःखों का अन्त करता है ।



संयमी की विभिन्न उपमाएँ—५

समणोवमाओ --

८६. एवं से संजए विमुत्ते निस्सणे-जाव-निरुत्तलेवे.

१. सुविमलवर-कंसभायणं व मुक्कतोए.

२. सखे विव निरंजणे विगय-राग-दोस-मोहे ।

३. कुम्मे इव इंदिएसु गृत्ते ।

४. जच्चकंचणं व जायइवे ।

५. पीकल्लरपरसं व निरुत्तलेवे ।

६. चन्दे इव सोमभाययाए ।

७. सूरौष्ठ विल्लतेए ।

८. अचले जह मन्दरे गिरिवरे ।

९. अक्खोभे सागरोष्ठ धिमिए ।

१०. पुठ्वो व सखफास-विसहे ।

११. तवसा वि व भासरासिछन्निव्वजाततेए ।

१२. जलियहुयासणे विव तेयसा जलंते ।

१३. गोसीसज्जवणं वि व सीयले सुगंघे य ।

१४. हरथ इव समियभावे ।

१५. उगघसियसुनिम्मलं आयंसमंजसतलं व पामडभायेणं सुद्ध-
भावे ।

१६. कुंजरोष्ठ सोंढोरे ।

१७. वसमे व जायथामे ।

१८. सीहे व जहा मिगाहिवे होति दुप्पधरिसे ।

१९. सारयसलिलं व सुद्धहियए ।

श्रमण की उपमाएँ—

८६. इस प्रकार वह (अपरिग्रही संयमी) साधु धन आदि के लोभ
से मुक्त, आसक्ति रहित—यावत्—कर्म या आसक्ति के लोप से
रहित,

(१) निर्मल उत्तम कोस्य भ्राजन के समान स्नेह बन्धन
से रहित ।

(२) शंख के समान शुद्ध अर्थात् राग-द्वेष और मोह से रहित ।

(३) कछुए के समान गुप्तेन्द्रिय ।

(४) उत्तम स्वर्ण के समान शुद्ध अर्थात् दोष रहित ।

(५) कमल के पत्ते के सदृश निर्लेप ।

(६) चन्द्रमा के समान सौम्य स्वभाव वाला ।

(७) सूर्य के समान देदीप्यमान तेज वाला ।

(८) परीषह होने पर मन्दर पर्वत के समान अचल ।

(९) सागर के समान क्षोभरहित एवं स्थिर ।

(१०) पृथ्वी के समान समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल स्पर्शों
को सहन करने वाला ।

(११) भस्म राशि से आच्छादित अग्नि के समान तप तेज
वाला ।

(१२) प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्विता से दैदीप्यमान ।

(१३) गोशीर्ष चन्दन की तरह शीतल और शील के सौरभ
से युक्त ।

(१४) सरोवर के समान प्रशान्त स्वभाव वाला ।

(१५) चित कर चमकाए हुए निर्मल दर्पण तल के समान
स्वच्छ एवं प्रकट भाव वाला ।

(१६) गजराज की तरह शूरवीर ।

(१७) वृषभ की तरह अंगीकृत व्रत भार का निर्वाह करने
वाला ।

(१८) मृगाधिपति सिंह के समान परीषदादि से अजेय ।

(१९) शरत्कालीन जल के सदृश स्वच्छ हृदय वाला ।

२०. भारंङ्गे चैव अप्पमत्ते ।
 २१. खगिगविसाणं व एगजाते ।
 २२. खाणुं चैव उड्डकाए ।
 २३. सुझागारे व्व अपडिक्खम्मे ।
 २४. सुझागारावणस्संतो निवाय - सरण - प्पदीप-ज्झाणमिक्ख निष्पक्खे ।
 २५. जहा खुरो चैव एगधारे ।
 २६. जहा अही चैव एगदिट्ठी ।
 २७. आगासं चैव निरालम्बे ।
 २८. विहग विव सव्वओ विप्पमुक्का ।
 २९. कयधरनिलए जह चैव उरए ।
 ३०. अपडिक्खद्धे अनिलोम्भ ।
 ३१. जीवो व्व अप्पडिह्यगतो ।^१—प. सू. २, अ. ५, सु. १०

- (२०) भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त ।
 (२१) गेंडों के सींग के समान अकेला ।
 (२२) ख्याणु (ठूठ) की भाँति कायोत्सर्ग में स्थित ।
 (२३) शून्य गृह के समान शारीरिक साज सज्जा से रहित ।
 (२४) वायुरहित शून्य घर में स्थित प्रदीप की तरह ध्यान में निश्चल ।
 (२५) छुरे की तरह धार वाला, अर्थात् एक उत्सर्गमार्ग में ही प्रवृत्ति करने वाला ।
 (२६) सर्प के समान एकाग्र (भोक्ष) दृष्टि वाला ।
 (२७) आकाश के समान किसी का सहारा न लेने वाला ।
 (२८) पक्षी के सदृश पूर्ण निष्परिग्रही ।
 (२९) तर्प के समान कृमियों के लिए निर्मित स्थान में रहने वाला ।
 (३०) वायु के समान प्रतिबन्ध से मुक्त ।
 (३१) जीव के समान अतिरहित (बिरोकटोक) गति वाला ।

१ (क) से जहानामए अणगारा भगवंतो हरियासमिता-जाव-निरुवलेवा,

१. कंसपाई व मुक्कतोया,
 २. जीवो इव अप्पडिह्यगती,
 ५. वायुरिक्ख अपडिक्खद्धा,
 ७. पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा,
 ९. विहग इव विप्पमुक्का,
 ११. भारंङ्गपक्खी व अप्पमत्ता,
 १३. वसभो इव जातत्थामा,
 १५. मंदरो इव अप्पकंपा,
 १७. चंदो इव सोमलेसा,
 १९. जच्चकणगं व जातरूवा,
 २१. सुद्धुवह्यासणो विव तेयसा जलंता ।

२. संखो इव निरंगणा
 ४. गगणतलं पि व निरालंबणा,
 ६. सारदसलिलं व सुद्धहियया,
 ८. कुम्भो इव गुत्तिदिया,
 १०. खगविसाणं व एगजामा,
 १२. कुंजरो इव सोंडोरा,
 १४. सीहो इव दुद्धरिसा,
 १६. सागरो इव गंभीरा,
 १८. सूरो इव दित्ततेया,
 २०. वसुन्धरा इव सव्वफासविसहा,

—सूय० सू० २, अ० २, सु० ७१४

(ख) से जहाणामए अणगारा भवंति हरियासमिता-जाव-निरुवलेवा,

१. कंसपाई व मुक्कतोया,
 ३. जीवो इव अप्पडिह्यगती,
 ५. आदरिसफलगा इव पागडभावा,
 ७. पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा,
 ९. अणिलो इव निरालया,
 ११. सूरो इव दित्ततेया,
 १३. विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का,
 १५. सारदसलिलं इव सुद्धहियया,
 १७. भारंङ्गपक्खी व अप्पमत्तो,
 १९. वसभो इव जातत्थामा,
 २१. वसुन्धरा इव सव्वफासविसहा,

२. संख इव निरंगणा,
 ४. जच्चकणगं पि व जातरूवा,
 ६. कुम्भो इव गुत्तिदिया,
 ८. गगणमिव निरालंबणा,
 १०. चंदो इव सोमलेसा,
 १२. सागरो इव गंभीरा,
 १४. मंदरो इव अप्पकंपो,
 १६. खगविसाणं इव एगजाया,
 १८. कुंजरो इव सोंडोरा,
 २०. सीहो इव दुद्धरिसा,

२२. सुद्धुवह्यासणो इव तेयसा जलंता । —उव० सु० १२६

(ग) उव० सु० २७

(टिप्पण पृष्ठ ३२ से चालू)

तीनों आगमों में प्ररूपित इन उपमाओं के संख्या भेद और क्रम की तालिका—

प्रश्नव्याकरण सूत्र (३१)

१. कांस्य पात्र
२. शंख
३. कूर्म
४. कनक
५. पद्मपत्र
६. चन्द्र
७. सूर्य
८. मंदर पर्वत
९. सागर
१०. पृथ्वी
११. भरुमाच्छादित अग्नि
१२. प्रज्वलित अग्नि
१३. चन्दन
१४. हृद (मरोवर)
१५. दर्पण
१६. कुंजर
१७. वृषभ
१८. सिंह
१९. शारद सलिल
२०. भारंड पक्षी
२१. गेंडा
२२. स्थाणु
२३. शून्यागार
२४. दीपक
२५. धुर (उत्तरा)
२६. सर्प
२७. गगन
२८. बिहग
२९. उरग (सर्प)
३०. वायु
३१. जीव

सूत्रकृतांग सूत्र (२१)

- १ कांस्य पात्र
- २ शंख
- ८ कूर्म
- १६ कनक
- ७ पद्मपत्र
- १७ चन्द्र
- १८ सूर्य
- १५ मंदर पर्वत
- १६ सागर
- २० पृथ्वी
-
- २१ प्रज्वलित अग्नि
-
-
-
- १२ कुंजर
- १३ वृषभ
- १४ सिंह
- ६ शारद सलिल
- ११ भारंड पक्षी
- १० गेंडा
-
-
-
-
-
- ४ गगन
- ९ बिहग
-
- ५ वायु
- ३ जीव

औपपातिक सूत्र (२२)

- १ कांस्य पात्र
- २ शंख
- ६ कूर्म
- ४ कनक
- ७ पद्मपत्र
- १४ चन्द्र
- ११ सूर्य
- १४ मंदर पर्वत
- १२ सागर
- २१ पृथ्वी
-
- २२ प्रज्वलित अग्नि
-
-
-
- ५ दर्पण
- १८ कुंजर
- १९ वृषभ
- २० सिंह
- १५ शारद सलिल
- १७ भारंड पक्षी
- १६ गेंडा
-
-
-
-
- ८ गगन
- १३ बिहग
-
- ६ वायु
- ३ जीव



सूरियसरिसो महेसी -

६०. सन्नाणनाणोवगए महेसी, अणुत्तरं चरितं धम्मसंखयं ।
अणुत्तरनाणधरे जसंसी, आम्मासई सूरिए वज्जलिवले ॥
—उत्त. अ. ६१, गा. २३

पक्षी चिच लघुभूयविहारो—

६१. भोगे भोच्चा वमिता य, लघुभूयविहारिणो ।
आमोयमाणा गच्छन्ति, दिया कामकमा इव ॥
—उत्त. अ. १४, गा. ४४

विहग इव अपडिबद्ध विहारो—

६२. इयरो वि गुणसमिद्धो, तिगृत्तिगुत्तो तिवड्डविरओ य ।
विहग इव विप्पमुक्को, विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥
—उत्त. अ. २०, गा. ६०

कुंजर इव धोरो—

६३. परीसहा कुब्बिसहा अणेगे, सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा ।
से तत्थ पत्ते न बहेज्ज भिक्खू, संगामसीसे इध नागराया ॥
—उत्त. अ. २१, गा. १७

मेरु इव अकम्पो—

६४. पहाय रागं च तहेव दोसं, मोहं च भिक्खू सययं विघक्खणो ।
मेरुव्व वाएण अकंपमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा ॥
—उत्त. अ. २१, गा. १६

वसह इव संसार कंतार पारगामी—

६५. बहणे वहमाणस्स, कन्तारं अइवत्तई ।
ओए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तई ॥^१
—उत्त. अ. २७, गा. २

सूर्य सदृश महर्षि—

६०. अनुत्तर चारित्र धर्म का आचरण करने वाला, सम्यग्ज्ञान से युक्त तथा अनुत्तर ज्ञानधारी, यशस्वी, महर्षि, अन्तरिक्ष में सूर्य की भाँति धर्म-संघ में प्रकाशमान होता है ।

पक्षी की तरह लघु-भूत विहारो—

६१. जो भोगों को भोगकर तथा ध्यावरार उनका त्याग करके लघुभूत होकर विचरण करते हैं । वे अपनी इच्छानुसार विचरण करने वाले पक्षियों की तरह साधुचर्या में प्रसन्नतापूर्वक विचरण करते हैं ।

पक्षीवत् अप्रतिबन्धविहारो—

६२. गुणों से समृद्ध तीन गुप्तियों में गुप्त, तीन दण्डों से विरत मुनि पक्षी की तरह प्रतिबन्धमुक्त तथा मोह रहित होकर भू-मण्डल पर विचरण करता है ।

हाथी के समान धैर्यवान—

६३. अनेक असह्य परीषह होने पर बहुत से कायर व्यक्ति खेद का अनुभव करते हैं किन्तु भिक्षु परीषह होने पर संग्राम में आगे रहने वाले हाथी की तरह व्यथित नहीं होता है ।

मेरु के समान अकम्पमान—

६४. निवर्तण भिक्षु सतत राग-द्वेष और मोह को छोड़कर वायु से अकंपित मेरु की भाँति आत्मगुप्त बनकर परीषहों को सहन करे ।

वृषभ सम भवाटवी पारकर्ता—

६५. शकटादि वाहन की ठीक तरह वहन करने वाला बैल जैसे भटवी को सुखपूर्वक पार करता है, उसी तरह संयम भाव का वहन करने वाला मुनि संसार को पार कर जाता है ।



१ बहुश्रुत भिक्षु की उपमाएँ जलाचार (चरणानुयोग भाग १) पृ. १०६, सु. १६१ में देखें ।

संयम का उपदेश तथा विशिष्ट चर्चाएँ—६

निर्ग्रन्थस्य दुःखसेज्जाओ—

६६. चत्वारि दुःखसेज्जाओ पणत्ताओ तं जहा—

१. तथ खलु इमा पढमा दुःखसेज्जा—

ते णं मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिगंथे पावयणे संकिते कंखिते वित्तिगिच्छिते भेषसमावण्णे कलुस-समावण्णे णिगंथं पावयणं णो सद्वृत्ति णो पत्तिपत्ति णो रोएइ. णिगंथं पावयणं असद्वृत्तिमाने अपत्तिपत्तिमाने अरोए-माने मणं उच्चावयं णियच्छति, विणिघातभावज्जति—पढमा दुःखसेज्जा ।

२. अहावरा दोषचा दुःखसेज्जा—

ते णं मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए सएणं लाभेणं णो तुस्सति, परस्स लाभमासाएति पीहेति पत्थेति अभिलसति, परस्स लाभमासाएमाणे पीहेमाणे पत्थेमाणे अभिलसमाणे मणं उच्चावयं णियच्छति, विणिघातभावज्जति—दोषचा दुःखसेज्जा ।

३. अहावरा तच्चा दुःखसेज्जा—

ते णं मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए दिव्वे माणुस्सए कामभोगे आसाएइ पीहेति पत्थेति अभिलसति, दिव्वे माणुस्सए कामभोगे आसाएमाणे पीहेमाणे पत्थेमाणे अभिलसमाणे मणं उच्चावयं णियच्छति, विणिघातभावज्जति—तच्चा दुःखसेज्जा ।

४. अहावरा चउत्था दुःखसेज्जा—

ते णं मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, तस्स णं एयं भवति—

जया णं अहममारवासमावसामि तदाणमहं संवाहणपरि-महण-गातव्वंग-गातुच्छोलणाइं लमामि, जप्पमिइं च णं अहं मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए तप्पमिइं च णं अहं संवाहण-परिमहण-गातव्वंग गातुच्छोलणाइं णो लमामि ।

ते णं संवाहणं-परिमहण-गातव्वंग गातुच्छोलणाइं आसाएति पीहेति पत्थेति अभिलसति,

ते णं संवाहण-परिमहणगातव्वंग-गातुच्छोलणाइं आसाएमाणे पीहेमाणे पत्थेमाणे अभिलसमाणे मणं उच्चावयं णियच्छति, विणिघातभावज्जति—चउत्था दुःखसेज्जा ।

—ठाणं. अ. ४, उ. ३, सु. ३२५

निर्ग्रन्थ की दुःख शय्याएँ—

६६. चार दुःख शय्या हैं—

(१) पहली दुःखशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित होकर, निर्ग्रन्थ प्रवचन में शंकित, कांक्षित, धिक्कितित्तु भेद-समापन्न, कलुष समापन्न होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन में थढ़ा नहीं करता, प्रतीति नहीं करता, रुचि नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ प्रवचन पर अश्रद्धा करता हुआ, अश्रुतीति करता हुआ, अरुचि करता हुआ, मानसिक उत्तार-चढ़ाव और विनिघात को प्राप्त होता है ।

(२) दूसरी दुःखशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित होकर अपने लाभ (भिक्षा में लब्ध आहार आदि) से सन्तुष्ट नहीं होकर दूसरे के लाभ का आस्वाद करता है, स्पृहा करता है, प्रार्थना करता है, अभिलाषा करता है, वह दूसरे के लाभ का आस्वाद करता हुआ, स्पृहा करता हुआ, अभिलाषा करता हुआ, मानसिक उत्तार-चढ़ाव और विनिघात को प्राप्त होता है ।

(३) तीसरी दुःखशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित होकर देवताओं तथा मनुष्यों के काम-भोगों का आस्वादन करता है, स्पृहा करता है, प्रार्थना करता है, अभिलाषा करता है, वह उनका आस्वाद करता हुआ, स्पृहा करता हुआ, प्रार्थना करता हुआ, अभिलाषा करता हुआ मानसिक उत्तार-चढ़ाव और विनिघात को प्राप्त होता है ।

(४) चौथी दुःखशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित होने के बाद ऐसा सोचता है—

जब मैं गृहवास में था तब संवाधन-मर्दन, परिमर्दन-उदटन, गात्राभ्यंग-स्नान आदि की मालिश, गात्रोत्क्षालन-स्नान आदि करता था पर अब से मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित हुआ हूँ तब से संवाधन, परिमर्दन, गात्राभ्यंग तथा गात्रोत्क्षालन नहीं कर पा रहा हूँ,

ऐसा सोचकर वह संवाधन, परिमर्दन, गात्राभ्यंग तथा गात्रोत्क्षालन का आस्वाद करता है, स्पृहा करता है, प्रार्थना करता है, अभिलाषा करता है,

वह सम्बाधन, परिमर्दन, गात्राभ्यंग, गात्रोत्क्षालन का आस्वाद करता हुआ, स्पृहा करता हुआ, प्रार्थना करता हुआ, अभिलाषा करता हुआ मानसिक उत्तार-चढ़ाव और विनिघात को प्राप्त होता है ।

निर्ग्रन्थस्स सुहसेज्जाओ—

६७. चत्तारि सुहसेज्जाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. तत्थ खलु इमा पदमा सुहसेज्जा—

से णं मुण्डे भविस्स अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिग्गंथे पावयणे णिस्संकिते णिककित्ते णिव्वित्तिगिच्छए णो भेदस-
भाषणो णो कलुससमावणो णिग्गंथं पावयणं सद्वहं पत्तिवहं
रोएत्ति, णिग्गंथं पावयणं सद्वहमाणे पत्तिवमाणे रोएमाणे णो
मणं उच्चावयं णियच्छति, णो विणिघातमावज्जति—पदमा
सुहसेज्जा ।

२. अहावरा बोच्चः सुहसेज्जा—

से णं मुण्डे भविस्स अगाराओ अणगारियं पव्वइए सएणं
लाभेणं सुस्सति परस्स लाभं णो आसाएत्ति णो पीहेत्ति णो
परयेत्ति णो अभिस्सति, परस्स लाभमणासाएमाणे अपोहेमाणे
अपरयेमाणे अणभित्तसमाणे णो मणं उच्चावयं णियच्छति, णो
विणिघातमावज्जति - बोच्चा सुहसेज्जा ।

३. अहावरा तच्चा सुहसेज्जा—

से णं मुण्डे भविस्स अगाराओ अणगारियं पव्वइए दिव्व-
भाणुस्सए कामभोगे णो आसाएत्ति णो पीहेत्ति णो परयेत्ति
णो अभिस्सति, दिव्वमाणुस्सए कामभोगे अणासाएमाणे
अपरयेमाणे अणभित्तसमाणे णो मणं उच्चावयं णियच्छति,
णो विणिघातमावज्जति—तच्चा सुहसेज्जा ।

४. अहावरा चउत्था सुहसेज्जा—

से णं मुण्डे भविस्स अगाराओ अणगारियं पव्वइए, तस्स णं
एवं भवति—जइ ताव अरहंता भगवन्तो हट्ठा अरोगा बलिया
कल्लसररीरा अणयराइं ओरालाइं कल्लणाइं विज्जलाइं पय-
ताइं पभाहिताइं महणुभागाइं कम्मक्खयकरणाइं तवोकम्भाइं
पडिव्वज्जंति, किमंण पुण अहं अब्भोगमिओक्कमियं वेयणं
णो सम्मं सहामि खमामि तित्तिक्खेमि अहियासेमि ?

ममं च णं अब्भोगमिओक्कमियं सम्ममसहमाणस्स अक्ख-
ममाणस्स अतित्तिक्खेमाणस्स अणहियासेमाणस्स किं मण्णे
कज्जति ?

एणंतसो मे पावे कम्मे कज्जति । ममं च णं अब्भोगमिओ-
क्कमियं सम्मं सहमाणस्स खममाणस्स तित्तिक्खेमाणस्स
अहियासेमाणस्स किं मण्णे कज्जति ?

एणंतसो मे णिज्जरा कज्जति—चउत्था सुहसेज्जा ।

- ठाणं. अ. ४, उ. ३, सु. ३२५

निर्ग्रन्थ की सुख शय्याएँ—

६७. सुखशय्या चार हैं—

(१) पहली सुखशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित
होकर, निर्ग्रन्थ प्रवचन में, निःशंक, निष्कांक्ष, निर्विचिकित्सित,
अभेद समापन्न, अकलुषसमापन्न होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा
करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है । वह निर्ग्रन्थ प्रवचन
में श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ, रुचि करता हुआ मन
में समता को धारण करता है और धर्म में स्थिर हो जाता है ।

(२) दूसरी सुखशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित
होकर अपने लाभ से सन्तुष्ट होता है, दूसरे के लाभ का आस्वा-
दन नहीं करता, स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता, अभि-
लाषा नहीं करता, वह दूसरे के लाभ का आस्वादन नहीं करता
हुआ स्पृहा नहीं करता हुआ, प्रार्थना नहीं करता हुआ, अभि-
लाषा नहीं करता हुआ मन में समता को धारण करता है और
धर्म में स्थिर हो जाता है ।

(३) तीसरी सुखशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित
होकर देवों तथा मनुष्यों के काम-भोगों का आस्वाद नहीं करता,
स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता, अभिलाषा नहीं करता,
वह उनका आस्वाद नहीं करता हुआ, स्पृहा नहीं करता हुआ,
प्रार्थना नहीं करता हुआ, अभिलाषा नहीं करता हुआ मन में
समता को धारण करता है और धर्म में स्थिर हो जाता है ।

(४) चौथी सुखशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित
होने के बाद ऐसा सोचता है—जब अहंस्त भगवान् हृष्ट भीरोग,
बलवान तथा स्वस्थ होकर भी कर्मक्षय के लिए उदार, कल्याण,
विपुल, सुसंयत, प्रगुहीत, सादर स्वीकृति महानुभावा—असेय
शक्तिशाली और कर्मक्षयकारी विचित्र तपस्याएँ स्वीकृत करते
हैं तब मैं आभ्युपगमिकी तथा औपक्रमिकी वेदना को ठीक प्रकार
से क्यों न सहन करता हूँ ।

यदि मैं आभ्युपगमिकी तथा औपक्रमिकी वेदना को ठीक
प्रकार से सहन नहीं करूँगा तो मुझे क्या होगा ?

मुझे एकान्ततः पाप कर्म होगा । यदि मैं आभ्युपगमिकी
और औपक्रमिकी वेदना को ठीक प्रकार से सहन करूँगा तो
मुझे क्या होगा ?

मुझे एकान्ततः निर्जरा होगी ।

संजम ग्रहण उपदेशो —

६८. माहणा खसिया वेस्सा, चंडाला अहु बोक्कसा ।
एसिया वेसिया मुहा, जे आरम्भणिस्सिया ॥

परिग्रहे निविट्ठाणं, अरं तेसि पवड्ढई ।
आरम्भसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा ॥

आघातकिञ्चमाधातुं, नायओ विसएसिणो ।
अग्ने हरंति तं विसं, कम्मी कम्मेहि किञ्चह ॥

माया पिया णुसा चाया, मज्जा पुत्ता य औरसा ।
पार्थ ते तव ताणाए, दुप्पंतस्स सक्कम्मुणा ॥

एयमट्ठं सपेहाए, परमट्ठाणुगामियं ।
निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खु जिजाहितं ॥

विचचा विसं च पुत्ते य, नायओ य परिग्रहं ।
वेच्चाणं अंतगं सोयं, निरवेक्खो परिब्बए ॥

—सूय. सु. १, अ. ६, गा. २-७

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियत्तं मणुयाण जीवियं ।
सप्पा इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. १०

संबुज्झह कि न बुज्झह, संबोही छत्तु पेच्च दुल्लहा ।
णो ह्वणमंति रातिओ, णो सुलभं पुणरादि जीवियं ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. १

मायाहि पियाहि दुप्पई, णो सुत्तहा सुगाइ य पेच्चओ ।
एयाइ भयाइ वेहिया, आरंभा विरमेज्ज सुव्वइ ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. ३

संजमेण दुग्गइ निरोहो—

६९. प०—अधुवे असासयंमि, संसारस्मि दुक्खपउराए ।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाइं दोग्गइ न गच्छेज्जा ॥

उ०—विजहिंत्तु पुव्वसंजोगं, न सिणोहिं कहिचि कुब्बेज्जा ।
असिणोहं सिणोहकरोहिं, दोसपओसेहि मुच्चए भिक्खू ॥

संयम ग्रहण का उपदेश—

६८. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चंडाल, वर्णसंकर, शिकारी, वेष से वा विभिन्न कलाओं से जीविका चलाने वाले और खेती करने वाले आदि जो भी आरम्भ में रत रहते हैं ।

तथा जो परिग्रह में मूर्च्छित रहते हैं उनके वैर की वृद्धि होती है । वे आरम्भ और परिग्रह से प्राप्त काम भोग, उन्हें दुःखों से मुक्त नहीं कर सकते ।

विषय मुख के अभिलाषी जातिजन या अन्य लोग मृत व्यक्ति का दाहसंस्कार आदि भरणोत्तर कृत्य करके उस धन को ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु नाना पापकर्म करके धन संचित करने वाला वह मृत व्यक्ति अकेला अपने पापकर्मों के फलस्वरूप दुःख को भोगता है ।

अपने पापकर्म से संसार में पीड़ित होते हुए तुम्हारी रक्षा करने में माता, पिता, पुत्रवधु, भाई, पत्नी और सगे पुत्र आदि कोई भी समर्थ नहीं होते ।

परमार्थ की ओर जाने वाले इस अर्थ को समझकर ममता और अहंकार से रहित होकर भिक्षु जिनोक्त धर्म का आचरण करे ।

धन, पुत्र, जातिजन और परिग्रह का त्याग करके अन्तर के शोक-सन्ताप को छोड़कर साधक निस्पृह होकर संयम पालन करे ।

हे पुरुष ! उस पाप कर्म से उपरमण कर, (क्योंकि) मनुष्य जीवन का अन्त अवश्यम्भावी है । जो काम भोग आदि में निमग्न होकर इन्द्रिय-विषयों में मूर्च्छित हैं वे असंवृत पुरुष मोह को प्राप्त होते हैं ।

हे भव्यो ! तुम बोध प्राप्त करो । तुम बोध क्यों नहीं प्राप्त करते ? जो रातों रात चुकी हैं वे वापस लौटकर नहीं आती और यह संयमी जीवन भी फिर सुलभ नहीं है ।

जो व्यक्ति माता, पिता के मोह में पड़कर धर्म मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं, उनकी अगले जन्म में सुगति सुलभ नहीं है । इन भय-स्थानों पर विचारकर सुव्रती पुरुष हिंसा से विरत हो जाए ।

संयम से दुर्गति का निरोध—

६९. प्र०—अध्वब, अशाकवत और दुःख-बहुल संसार में ऐसा कीन सा कार्य है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊँ ?

उ०—पूर्व सम्बन्धों का त्याग कर, किसी भी वस्तु में स्नेह न करे । स्नेह करने वालों के साथ भी स्नेह न करता हुआ भिक्षु दोषों और प्रदोषों से मुक्त हो जाता है ।

तो नाण दसंणसमग्गो, हियनिस्सेसाए सच्चजीवाणं ।
तेसि विमोक्खणट्ठाए, भासई मुणिवरो विणयभोहो ॥

सत्त्वं गंधं कलहं च, विष्यजहे तहाविहं भिवखू ।
सखेसु कामजाएसु पासमाणो न तिव्पई ताई ॥

—उत्त. अ. ८, गा. १-४

जन्म-मरणेण विमुक्ति—

१००. तिउट्ठति तु मेधावी, जाणं सोगंसी पावणं ।
तुट्ठंति पावकम्माणि, नवं कम्मसकुट्ठओ ॥

अकुट्ठतो गंधं नत्थि, कम्मं नाम विजाणइ ।
विश्राम से महावीरे, जेण जाति ण मिज्जती ॥

—सूय. सु. १, अ. १५, गा. ६-७

एथोवरए तं सोसमाणे ।
आयाणिज्जे परिणाय, परिवाएण विगिचइ ॥

—आ० सु० १, अ० ६, उ० २, सु० १८५ (ग)

संजयस्स विणयोवएसो -

१०१. राहणिएसु विणयं पज्जे, उहरावि य जे परिवाय जेट्ठा ।
नियत्तणे धट्ठइ सच्चवाई, ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥

—दग. अ. १, उ. ३, गा. ३

निहं च बहुमन्नेज्जा, संपहासं विवज्जए ।
मिहो कहाहि न रमे, सज्जायम्मि रओ सवा ॥

जोगं च समणधम्मम्मि, जुंजे अणलसो धुवं ।
जुत्तो य समणधम्मम्मि, अट्ठं लहइ अणुत्तरं ।

—दस. अ. ८, गा. ४१-४२

हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिहंविए ।
अल्लीण सुत्तो निसोए, सगासे गुरुणो मुणी ॥

न पक्खओ न पुरओ, नेव किक्खण पिट्ठओ ।
न य क्कं समासेज्जा, चिट्ठेज्जा गुरुणंतिए ॥

—दस. अ. ८, गा. ४४-४५

संजमस्स आराहणाए उवएसो—

१०२. जीवितं पिट्ठतो किक्खा, अंतं पावंति कम्मुणा ।
कम्मुणा संभुहीभूया, जे मग्गमणुसासति ॥

केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त तथा मोह से रहित मुनिवर ने सब जीवों के हित और कल्याण के लिए तथा उन्हें (पांच सौ चोरों को) प्रतिबोध देने के लिए कहा ।

भिक्षु सभी कर्मबन्ध के हेतुभूत पारेग्रह और कलह का त्याग करे । सब प्रकार के काम भोगों में दोष देखता हुआ आत्म-रक्षक मुनि उनमें लिप्त न बने ।

जन्म-मरण से विमुक्ति—

१००. लोक में पाप कर्म को जानने वाला मेधावी सभी बन्धनों को तोड़ देता है क्योंकि नया कर्म बन्धन न करने वाले पुरुष के पापकर्म रूपी सभी बन्धन टूट जाते हैं ।

जो पुरुष नये कर्म (कार्य) नहीं करता है, उसके कर्मों का बन्ध नहीं होता है । वह कर्मों को विशेष रूप से जान लेता है, इस प्रकार जानकर वह वीर पुरुष न जन्म लेता है और न मरता है ।

विषय से उपरत साधक उत्तरवाद का आसेवन करता है । वह कर्म-बन्ध का विवेक कर (संयम) पर्याय (मुनि जीवन) के द्वारा उसका विसर्जन कर देता है ।

संयती को विसय का उपदेश—

१०१. जो अल्पवयस्क होते हुए भी दीक्षा काल में ज्येष्ठ है— उस पूजनीय साधुओं के प्रति जो भिक्षु विनय का प्रयोग करता है, नम्र व्यवहार करता है, सत्यवादी है, गुरु के समीप रहने वाला है और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है वह पूज्य है ।

भिक्षु निद्रा अधिक न ले, हंसी मजाक न करे, विक्थ्याओं में समय न खोवे, किन्तु सदा स्वाध्याय में लगा रहे ।

मुनि आलस्य रहित होकर श्रमण धर्म में अपने मन, वचन और काया को लगावे, क्योंकि श्रमण धर्म में तल्लीन बना हुआ मुनि मोक्ष को प्राप्त करता है ।

जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को संयमित कर मन और वाणी से संयत होकर गुरु के समीप बैठे ।

आचार्य आदि के बराबर न बैठे, आगे और पीछे भी न बैठे । गुरु के समीप उनके उरु से अपना उरु सटाकर न बैठे ।

संयम की आराधना का उपदेश—

१०२. भिक्षु अपने जीवन के प्रति निरपेक्ष होकर कर्मों का अन्त कर लेते हैं । वे कर्मों के सामने खड़े होकर मोक्ष मार्ग का अनुशासन करते हैं ।

अणुसासनं पुढो पाणे, वसुमं पूयणासए ।
अणासए जए दंते, दढे आरयमेहुणे ॥

जीवारे य न सोएज्जा, छिन्नसोते अणाविले ।
अणाइसे सया दंते, संधिपत्ते अणेलिसं ॥

अणेलिसस्स खेतण्णे, ण विरुज्जेज्ज केणइ ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव चक्खुमं ॥

से ण्ण चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए तु अंतए ।
अंतेणं खुरो वहसी, चक्कं अंतेण लोट्टुलि ॥

अंताणि धीरा सेवन्ति, तेणं अंतकरा इहं ।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्मभाराहिउं णरा ॥

—सूय. सू. १, अ. १५, गा. १०-१५

आहत्तहियं समुपेहमाणे, सव्वेहि पाणेहि निहाय वंदं ।
नो जीवियं नो मरणाभिकंखी, परिचवएज्जा वलयाविमुक्के ॥

—सूय. सु. १, अ. १३, सु. २३

बहिया उद्धमावाय नावकंसे कयाइ वि ।
पुव्वकम्म खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥

—उत्त. अ. ६, गा. १३

आघं महमं अणुचीति धम्मं,
अंजू समाहिं तमिणं सुणेह ।
अपट्ठिण्ण भिक्खू तु समाहिपत्ते,
अणियाणभूते सुपरिचवएज्जा ॥

—सूय. सु. २, अ. १०, गा. १

इत्थीसु या अरओ सेट्ठणा उ, परिगाहं चेव अकुल्लमाणे ।
अच्छावएसु विसएसु ताई, गिस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते ॥

—सूय. सु. १, अ. १०, गा. १३

आहारमिच्छे मियमेसणीयं, सहायमिच्छे णिवणत्थ बुद्धि ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेग जोगं, समाहि कामे समणे तवस्सी ॥

—उत्त. अ. ३२, गा. ४

संविद्वियाभिनिव्वहे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।
पासाहि पाणे य पुढो वि सत्ते, बुक्खेण अट्ठे परिचवमाणे ॥

—सूय. सु. १, अ. १०, गा. ४

संयम धन से सम्पन्न संयमी प्राणियों की योग्यता के अनुसार अनुशासन करते हैं किन्तु वे पूजा की इच्छा नहीं रखते हैं और वे अभिलाषा रहित, संयत, दान्त, दृढ़ संयमी मैथुन से विरत होते हैं ।

जिसने आस्रवद्वारों को रोक दिया है, जो निर्मल चित्त वाला है वह प्रलोभन के स्थान में लिप्त नहीं होता है । वह सदा निर्मल चित्त वाला दान्त अनुपम संधि (ज्ञान आदि) को प्राप्त करता है ।

अनुपम सन्धि को जानने वाला पुरुष किसी भी प्राणी के साथ मन वचन और काथा से विरोध नहीं करता है वही परमार्थदर्शी है ।

जो आकांक्षाओं का अन्त करता है वह मनुष्यों का चक्षुभूत (मार्ग दर्शक) है क्योंकि अन्त (धार) वाला उस्तरा ही चलता है और गाड़ी का चक्का अन्त (छोर) से ही चलता है ।

धीर पुरुष अन्त प्रान्त आहार का सेवन करते हैं इसलिए वे समस्त दुःखों का अन्त कर देते हैं ऐसे ही पुरुष लोक में इस धर्म की आराधना करने के योग्य होते हैं ।

साधु सम्यग् ज्ञान आदि को भली-भाँति जानता देखना हुआ समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग कर जीवन एवं मरण की आकांक्षा न करे, तथा माया से मुक्त होकर संयम का पालन करे ।

ऊर्ध्वलक्षो होकर मुनि कभी भी बाह्य (विषयों) की आकांक्षा न करे । पूर्वोपाजित कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे ।

सर्वज्ञ भगवान् महावीर ने केवलज्ञान के द्वारा जानकर सरलता व समाधि धर्म का प्रतिपादन किया है, वह तुम सुनो ! समाधि प्राप्त भिक्षु अमूर्च्छित और हिंसा आदि आश्रवों से मुक्त रहकर शुद्ध संयम का पालन करे ।

जो स्त्रियों के साथ मैथुन सेवन नहीं करता है, परिग्रह नहीं रखता है, नाना प्रकार के विषयों में राग द्वेष रहित होकर जीवों की रक्षा करता है निःसन्देह वही भिक्षु समाधि प्राप्त होता है ।

समाधि की आकांक्षा रखने वाला तपस्वी श्रमण परिमित और एषणीय आहार की इच्छा करे । तत्त्वार्थों को जानने में निपुण बुद्धि वाले को सहायक साथी बनावे तथा स्त्री आदि से रहित एकान्त स्थान में निवास करे ।

मुनि सभी इन्द्रियों से स्त्रियों के प्रति संयत तथा सर्वज्ञ बन्धन मुक्त होकर रहे । पृथक्-पृथक् रूप से दुःख से पीड़ित और सताये जाते हुए प्राणियों को देखे ।

अर्षांसु पुरा वि भिक्षवो, आसन्ति सुखा .
एवाहं गुणाहं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥

तिमिहेण वि पाण मा हण्णे, आयहिंते अणियाण संबुडे ।
एवं तिद्धा अजंतगा, संपति जे प अणागयाडवरे ॥

एवं से उवाहु अनुत्तरनाणो अनुत्तरबंसो अनुत्तरनाणदंसणधरे ।
अरहा णायपुत्ते भगवं वेसालीए बियाहिए ॥
—सूय. सु. १, अ. २, उ. ३, गा. २०-२२

जाए सद्धाए निक्खंतो परिणायट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालेज्जा, गुणे आयरियसम्मए ॥
—दस. अ. ८, गा. ६०

सोच्छा भगवाणुसासणं, सच्छे तस्य करेज्जुवक्कमं ।
सवत्थ विणीयसच्छरे उच्छं भिक्षु विमुद्ध माहरे ॥

सच्छं णच्छा अहिट्ठए, धम्मद्वी उवहाणधीरिए ।
गुत्ते जुत्ते सदा जए, आय-परे परमाययट्ठिए ॥
—सूय. सु. १, अ. २, उ. ३, गा. १४-१५

सुअक्खातधम्मे वित्तिगिच्छतिण्णे,
लाहे चरे आयतुले पयासु ।
आयं न कुज्जा इह जीवियद्धी,
चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्षु ॥
—सूय. सु. १, अ. १०, गा. ३

गुत्ते तईए थ समाहिपत्ते, लेसं समाहट्ठु परिज्वएज्जा ।
निहं ण छाए ण वि छावएज्जा, सम्मिस्सिमाजं पजहे पयासु ॥
—सूय. सु. १, अ. १०, गा. १५

जहित्तु संगं थ महाकिलेसं,
महंतमोहं कसिणं भयावहं ।
परियायधम्मं चअभिरोमएज्जा,
वयाणि सीलाणि परीसहे थ ॥

अहिंस सच्चं च अतेणयं च,
तत्तो थ बंभं अपरिग्गहं च ।
पडिक्खिज्जथा पंच महव्वयाहं,
चरेज्ज धम्मं जिणदेसियं विहु ॥

इ भिक्षुओं : पूजाकार में भी जो (सर्वज्ञ) हो चुके हैं और भविष्य में भी जो होंगे, उन सुव्रत पुरुषों ने इन्हीं गुणों को मोक्ष का साधन बताया है, उन्होंने ऋषभदेव भगवान के द्वारा प्रतिपादित धर्म का ही अनुसरण किया है ।

साधक मन, वचन और काया से प्राणियों की हिंसा न करे तथा आत्महिंसा में संलग्न रहकर स्वर्गादि सुखों के निदान से रहित होकर संयम पालन करे इस प्रकार की साधना से अनन्त जीव मुक्त हुए हैं, वर्तमान में होते हैं और भविष्य में भी अनन्त जीव मुक्त होंगे ।

इस प्रकार अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शन धारक इन्द्रादि देवों द्वारा पूजनीय (अर्हन्त) ज्ञातपुत्र तथा ऐश्वर्यादि गुण युक्त भगवान् महावीर स्वामी ने वैशाली नगरी में कहा था सो मैं कहता हूँ ।

जिस श्रद्धा से उत्तम प्रव्रज्या स्थान के लिए घर का त्याग किया है उसी श्रद्धा को पूर्ववत् बनाये रखें और सर्वज्ञ सम्मत गुणों का अनुपालन करे ।

भिक्षु भगवान के अनुशासन (आयम वाणी) को सुनकर उसमें कहे गये संयम में पुरुषार्थ करें एवं सर्वत्र मत्सरभाव रहित होकर अल्प और शुद्ध आहार ग्रहण करें ।

साधु सब पदार्थों को जानकर संयम का आचरण करे, धर्मियों रहे, तप में अपनी शक्ति लगाये, मन-वचन-काया की गुप्ति से युक्त होकर रहे, सदा स्व-पर का कल्याण करें अथवा आत्मपरायण होकर यत्न करे और मोक्ष के लक्ष्य में स्थित रहे ।

उत्तम तपस्वी भिक्षु तीर्थं करोक्त धर्म में शंकाओं से रहित होकर गृध्रीकाय आदि प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य होकर योग्य जनपद में निवर्ण करे । इस लोक में चिरकाल तक जाने की इच्छा से आय अर्थात् आश्रवों का सेवन न करे तथा कर्मों का संचय न करे ।

भिक्षु वाणी से संयत हो समाधि-प्राप्त बने, विशुद्ध लेश्या के साथ परित्रजन करे, स्वयं घर न छाए और दूसरों से न छावाए, गृहस्थों के साथ एक स्थान में न रहे ।

महाक्लेशकारी, महामोहोत्पादक और महाभय को उत्पन्न करने वाले संपूर्ण परिग्रह एवं स्वजनादि का त्याग करके मुनि प्रव्रज्या धर्म में लीन रहे । पाँच महाव्रतों तथा पिंड विशुद्धि आदि के पालने में और परीषदों को समभाव से सहन करने में अभिरुचि रहे ।

विद्वान् मुनि अहिंसा, रात्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार करके जिनोपदिष्ट धर्म का भलीभाँति आचरण करे ।

सखेहि भूएहि बसाणुंको,
 खंतिवखमे संजयबंसयारी ।
 सावज्जजोगं परिक्कजयंतो,
 चरेज्ज, भिक्खू सुसमाहिहंदिए ॥
 कालेण कालं विहरेज्ज रत्ते,
 बलावलं जाणिय अप्पणो उ ।
 सोहो व सहेण न संतसेज्जा,
 वडजोग सोच्चा न असम्भमाहु ॥

— उल. अ. २१, गा. ११-१४

बुसिए य विगयगेही आयाणं सं (सम्म) रक्खए ।
 चरिआसणहेज्जासु, भत्तपाणे य अंतसो ॥

एतेहि तिहिं ठाणेहि, संजए सततं मुणी ।
 उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं च विगिज्जए ॥
 समिए य सया साहु, पंचसंवरसंवुडे ।
 सिएहि असिए भिक्खू, अमोक्खाय परिववएज्जासि ॥

—सूय. सु. १, अ. १, उ. ४, गा. ११-१३

अणिएयवासो सम्पाणचरिया अक्खायज्जं पइस्सिकया य ।
 अप्पोवहो कलहविज्जणा य विहाएचरिया इस्सिणं पसएवा ॥
 —दश. चू. २, गा. ५

सुक्कज्जाणं भियाएज्जा अत्थियाणे अकिंचणे ।
 ओसट्टकाए विहरेज्जा जाव कालस्स पज्जओ ॥

— उल. अ. २५, उ. ४, गा. ११-१३

सम अक्षयरम्मि संजमे, संसुडे समणे परिववए ।
 जे आवकहा समाहिए, दधिए कालमकासि पंडिए ॥
 बूरं अणुपत्तिसया मुणी, तीतं धम्ममणागयं तहा ।
 पुट्ठे फरसेहि भाहणे, अवि हण्णू समयंसि रोयइ ॥

पण्णसमत्ते सदा जए, समयया धम्ममुदाहरे मुणी ।
 मुहुमे उ सदा अलुसए, णो कुज्जे णो माणि भाहणे ॥

वहुजण-धम्मणम्मि संवुडे, सख्खट्ठेहि णरे अणित्थिते ।
 हरए व सया अणाविले, धम्मं पावुरकासि कासव ॥

बह्वे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं सप्रयं समीहिया ।
 जे मोणपदं उवट्ठिते, विरतिं तत्थमकासि पडिते ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. २, गा. १५-१६

इन्द्रियों का सम्यक् संवरण करने वाला भिक्षु सब जीवों के प्रति कष्टनाशक रहे, क्षमा से दुर्वचनादि को सहन करने वाला हो, संयत हो, ब्रह्मचारी हो । वह सदैव सावधयोग का परित्याग करता हुआ विचरण करे ।

मुनि यथासमय क्रियानुष्ठान करता हुआ राष्ट्र में विचरण करे । अपनी आत्मा के बलावल को जानकर लग में प्रवृत्ति करे तथा प्रतिकूल शब्दों को सुनकर सिंह की भाँति किसी से वस्तु न हो तथा असम्भ्य वचन भी न कहे ।

दस प्रकार की साधु समाचारी में स्थित और आहार आदि की आसक्ति से रहित मुनि आत्मा की सम्यक प्रकार से रक्षा करे तथा चर्या, आसन और शय्या के सम्बन्ध में जीवन पर्यन्त विवेक रखे ।

इन तीनों स्थानों में सतत संयत मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करे ।

सदा पाँच समितियों से युक्त पाँच संवर से संवृत भिक्षु गृहस्थों में मुच्छा न रखता हुआ मोक्ष प्राप्त होने तक संयम में पुरुषार्थ करे ।

ऋषियों के लिए अनियतवास, सामुदायिकी भिक्षा, अज्ञात कुलों की भिक्षा, साधारण आहार ग्रहण, एकान्तवास, उपकरणों की अल्पता और कलह का वर्जन इत्यादि संयम चर्या कल्याणकारी कही गई है ।

मुनि शुक्लध्यान ध्याए । अनिदान और अकिंचन रहे । वह जीवन पर्यन्त व्युत्सृष्टकाय (देहाध्यास से मुक्त) होकर विहार करे ।

जो शुद्ध श्रमण प्रत्येक संयम स्थान में जीवन पर्यन्त प्रवृत्त रहे वह समाधिस्थ पंडित काल करके मुक्त होता है ।

मुनि दीर्घ दृष्टि से भूत और भविष्य का तथा जीवों के स्वभाव का अवलोकन करके कठोर वाक्यों की समभाव से सहन करे तथा मारे जाने पर भी दुःखता से संयम में ही विचरण करे ।

कृशल प्रज्ञावाला और सदा अप्रमत्त मुनि समता धर्म का निरूपण करे । वह सूक्ष्मदर्शी मुनि सदा अहिंसक रहे । वह न क्रोध करे और न अभिमान करे ।

अनेक लोगों द्वारा नमस्करणीय मुनि समस्त पदार्थों में अप्रतिवद्ध होकर सरोवर की तरह सदा निर्मल रहता हुआ काश्यप गोत्रीय भगवान् महावीर के धर्म का कथन करे ।

संसार में अनन्त प्राणी हैं । इनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है, प्रत्येक प्राणी में समानता है अर्थात् उन्हें सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है यह विचार कर जो मुनि पद में उपस्थित है वह पंडित उनसे विरति करे अर्थात् किसी प्राणी का उपघात न करे ।

अमज्जमंसासि अमच्छरीया, अभिक्खणं निज्झिगइं गओ य ।
अभिक्खणं काउस्सगकारी, सज्जायजोगे पयओ हवेज्जा ॥

नं पडिन्नवेज्जा सयणाऽसणाइं, सेज्जे निसेज्जे तह भत्तपाणं ।
गामे कुले वा नगरे वा देसे, ममत्तमावं न काहिं चि कुज्जा ॥

—दस. अ. १०, चू. २, गा. ७-८

गृहस्थाण वैयावडियं तह वंदण पूयण कामणाणिसेहो—

१०३. सध्वं जगं तु समयानुपेहो,

पियमपियं कस्सइ नो करेज्जा ।

उट्ठाप दोणे तु पुणो विसणो,

संपूयणं चेव सिलोयकाभी ॥

—सूय. सु. १, अ. १०, मा. ७

निहिणो वैयावडियं न कुज्जा, अभिवायण वंदण पूयणं च ।
असंकिंलिदुठेहिं समं वसेज्जा, मुणो चरित्तस्स जओ न हाणो ।

—दस. चू. २, गा. ६

इत्थियं पुरिसं वा वि, डहरं वा सहल्लयं ।

वंदमाणं न जाएज्जा, नो य णं, फस्सं वए ॥

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।

एवमन्नेसमाणस्स सासणमणुचिदुठई ॥

—दस. अ. ५, उ. २, गा. २६-३०

अक्खणं रयणं चेव, वन्दणं पूयणं तहा ।

इड्ढीसक्कारसम्माणं मणसा वि न पत्थए ॥

—उत्त. अ. २५, गा. १८

अहिगरण णिसेहो—

१०४. अहिगरण कउस्स भिक्खुणो, ययमाणस्स पासज्ज दावणं ।

अट्ठे परिहायती इह, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. २, गा. १६

कलहकारगो पावसमणो—

१०५. विवादं च उदोरेइ, अहम्मे अत्तपन्नहा ।

वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चइ ॥

उत्त. अ. १७, गा. १२

परीसहजय उवएसो—

१०६. अरतिं रतिं च अजिभूय भिक्खू, तणाइफासं सह सीतफासं ।

उण्हं च दंसं च हियासएज्जा, सुन्धिं च दुन्धिं च तित्तिक्खएज्जा ॥

—सूय. सु. १, अ. १०, गा. १४

साधु मद्य, मांस और मत्स्य का अभोजी हो, बार-बार दूध वही आदि विगयों को सेवग न करने वाला हो, बार-बार कायो-त्यग करने वाला और स्वाध्याय की प्रवृत्तियों में प्रयत्नशील हो ।

भिक्षु शयन, आसन, जय्या, निषट्ठा तथा आहार गानी में आसक्तिपूर्वक कोई प्रतिज्ञा न करे और ग्राम, नगर तथा देश में श्रद्धालु घरों में कहीं भी ममत्व भाव न करे ।

गृहस्थों की वैयावृत्य का तथा वन्दन पूजन की चाहना का निषेध—

१०३. साधु समस्त जगत को समभाव से देखे । वह किसी का भी प्रिय या अप्रिय न करे । कोई साधक प्रव्रजित होकर भी परीषहों एवं छपसर्गों की बाधा आने पर दीन और विव्रण हो जाते हैं और कोई-कोई अपनी प्रशंसा व पूजा के अभिलाषी बन जाते हैं (किन्तु साधक को ऐसा नहीं करना चाहिये) ।

साधु गृहस्थ वा वैयावृत्य न करे, अभिवादन वन्दन और पूजन न करे । मुनि संक्लेशरहित साधुओं के साथ रहे जिससे कि भारिय की हानि न हो ।

वन्दना करते समय किसी भी स्त्री या पुरुष से, ब्राह्मण या वृद्ध से साधु याचना न करे और आहार न देने वाले गृहस्थ को कठोर वचन भी न कहे ।

जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर गर्व न करे । इस प्रकार अन्वेष्टण करने वाले मुनि का श्रामण्य भाव अलण्ड रहता है ।

मुनि अर्चना, रक्षणा (अथवा भोली आदि का स्वस्तिका बनाना) वन्दना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और सम्मान को मन से भी न चाहे ।

अधिकरण विवर्जन—

१०४. कलह करने वाले तथा कलहवश भयंकर कठोर वचन बोलने वाले भिक्षु का बहुत संशय गष्ट हो जाता है । अतः व्रद्धित मुनि कभी भी कलह न करे ।

कलहप्रिय-पाप श्रमण—

१०५. जो शान्त हुए विवाद को पुनः उत्तेजित करता है, जो सदाचार रहित है, जो कुतर्कों द्वारा अपनी बुद्धि को मलिन करता है, जो कदाग्रह और कलह में प्रवृत्त रहता है वह पाप श्रमण कहलाता है ।

परीषहजय का उपदेश—

१०६. भिक्षु अरति और रति परीषह को जीते, मृग आदि का स्पर्श तथा रादों गरमी के स्पर्श और मच्छर आदि के दंश को सहें । सुगन्ध और दुर्गन्ध में समभाव रखे ।

उवेहमाणो उ परिव्रज्ज्जा,
 पियमपियं सख तित्तिवसएज्जा ।
 न सख सखरथअभिरोगएज्जा,
 न यावि पूयं गरहं च संजए ॥
 अणेगछन्वा इह माणवेहि,
 जे भावओ संपकरेइ भिक्खू ।
 भयभेरवा तत्थ उइन्ति भोमा,
 दिक्खा मणुरसा अदुवा तिरिच्छा ॥

—उत्त. अ. २१, गा. १५-१६

सीओसिणा वंसमसा य फासा, आयंकाविविहा फुसन्ति वेहं ।
 अकुम्भओ तत्थअहियासएज्जा, रयाइं खेवेज्जपुरेकडाहं ॥
 —उत्त. अ. २१, गा. १५
 अणुसए नावणए महेसो, न यावि पूयं गरहं च संजए ।
 स उज्जुमावं पडिवज्ज संजए, निव्वाणमगं विरए उवेइ ॥

अरइरइसहे पहीणसंथवे विरए आयहिए पहाणवं ।
 परमदुपएहिं चिट्ठई, छिन्नसोए अममे अकिच्चणे ॥

विचित्तलयणाइं भएज्ज ताई, निरोखलेवाइं असंथडाइं ।
 इसोहिं विण्णाइं महायसेहिं, काएण फासेज्ज परीसहाइं ॥
 उत्त. अ. २१, गा. २०-२२

अज्झत्थ जागरणाए मुत्ति -

१०७. जो पुस्वरसावररत्तकाले,

संवेहए अण्णमण्णं ।

कि मे कइं कि च मे किच्च सेसं,

किं सक्कणिज्जं न समापरासि ।

कि मे परो पासइ कि च अण्णा,

किं वाहं खलियं न विवज्जयामि ।

इण्वेव सम्मं अणुपासमाणो,

अणागयं नो पडिबंघ कुज्जा ॥

जत्थेव पासे कईं कुप्पउत्तं काएण धाया अदु भाणसेणं ।

तत्थेव धोरो पडिसाहरेज्जा, आइअओ खिप्पमिक्खल्लीणं ॥

जस्सेरिसा जोग जिइदियस्स, धिईमओ सुप्पुरितस्स निच्चं ।

तमाहु सोए पडिबुद्धजीवी, सो जीवई संजमजीविएणं ॥

अण्णा खलु सययं रक्खियण्वो, सविदिएहिं सुसमाहिएहिं ।

अरक्खिओ जाइपहं उवेई, सुरक्खिओ सख्खुहाण मुच्चइ ॥

- दस. चू. २, गा. १२-१६

संयमी प्रतिकूलताओं की उपेक्षा करता हुआ विचरण करे । अनुकूल-प्रतिकूल सब परीषहों को सहन करे । सर्वत्र जो भी उपेक्षा पाये उसे या भुले उनकी अभिलाषा न करे, पूजा और गर्हा भी न चाहे ।

इस संसार में मनुष्यों के अनेक प्रकार के अभिप्राय होते हैं, भिक्षु उन अभिप्रायों का सम्यक् रीति से विचार करे तथा अपने उदय में आये हुए देवकृत, मनुष्यकृत तथा तिर्यंचकृत भयोत्पादक भीषण उपसर्गों को सहन करे ।

शीत, उष्ण, डोंस, मच्छर, तृण-स्पर्श तथा अन्य विविध प्रकार के आतंक जब भिक्षु को स्पर्श करें, तब वह कुत्सित शब्द न करते हुए उन्हें समभाव से सहन करे तथा पूर्वकर्मों को क्षीण करे ।

जो साधु पूजा-प्रतिष्ठा में उन्नत और गर्हा में अवतल नहीं होता है वह समभावी विरत संयमी सरलता को स्वीकार करके निर्वाण-मार्ग को प्राप्त होता है ।

जो अरति और रति को सहन करता है, संसारी जनों के परिचय से दूर रहता है, विरक्त है, आत्म-हित का साधक है, संयमशील है, शोक रहित है, ममत्व रहित है, परिग्रह रहित है, वह सम्यग् दर्शनादि मोक्ष-साधनों में स्थित होता है ।

षट्काय रक्षक मुनि—अलिप्त वीज आदि से रहित और महायज्ञस्वी ऋषियों द्वारा सेवित एकान्त स्थानों का सेवन करे तथा काया से परीषहों को सहन करे ।

अध्यात्म जागरण से मुक्ति—

१०७. जो साधु रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में स्वयं आत्म-निरीक्षण करे कि—“मैंने क्या किया ? मेरे लिए क्या कार्य करना शेष है ? वह कौनसा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूँ परन्तु नहीं कर पा रहा हूँ ?

दूसरा मेरे किन दोषों को देखता है अथवा कौन सी अपनी भूल को मैं स्वयं देख लेता हूँ ? वह कौन सा दोष है जिसे मैं नहीं छोड़ रहा हूँ ? इस प्रकार सम्यक् प्रकार से आत्म-निरीक्षण करता हुआ मुनि भविष्य में कोई दोष न लगावे ।

जब कभी मन, वचन और काया को दुष्प्रवृत्त होता हुआ देखे तो धैर्यवान् साधु वहीं सम्मल जाये । जैसे जातिमान अश्व लगाम को खींचते ही शीघ्र सम्मल जाता है ।

जिस जितेन्द्रिय धैर्यवान् सत्पुरुष के योग सदा इस प्रकार के होते हैं उसे लोक में प्रतिबुद्धजीवी कहा जाता है वही संयमी जीवन जीता है ।

समाधियुक्त इन्द्रियों से आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए । क्योंकि अरक्षित आत्मा जन्म-मरण को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

समणार्णं त्रिविहा भावणा—

१०८. तिहिं ठाणेहिं समणे णिगंधे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, तं जहा—

- (१) कया णं अहं अप्पं वा बहुयं वा सुयं अहिज्जिस्सामि ?
- (२) कया णं अहं एकल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरिस्सामि ?
- (३) कया णं अहं अपच्छिन्नमारणातियसंसेहणा-भूसणा-भूसिते भत्तपाणपट्टियाइक्खिते पाओवगते कालं अणवकंस्स-माणे विहरिस्सामि ?

एवं समणसा सबवसा सकायसा पागडेमाणे समणे निगंधे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति ।

—ठाणं अ. ३, उ. ४, सु. २१०

समणार्णं बत्तीसं जोग-संगहा—

१०९. बत्तीसं जोगसंगहा पण्णसा, तं जहा—

- (१) आलोचना,
- (२) निरवसावे,
- (३) बाधईसु बढधम्मया,
- (४) अणिस्सिओवहाणे,
- (५) सिक्खा,
- (६) निप्पडिक्कम्मया,
- (७) अण्णायता,
- (८) अलोभे य,
- (९) तित्तिक्खा,
- (१०) अज्जवे,
- (११) सुई,
- (१२) सम्मविट्ठी,
- (१३) समाहो,
- (१४) आगारे,
- (१५) विणओवए,
- (१६) धिईमई,
- (१७) संवेगे,
- (१८) पणिही,
- (१९) धुविहि,
- (२०) संवरे,
- (२१) अत्तवोसोवसंहारे,
- (२२) सव्वकामविरत्तया,
- (२३) मूलगुण-पञ्चवक्खाणे,
- (२४) उत्तरगुण-पञ्चवक्खाणे,
- (२५) विउत्सगे,

धर्मणों की तीन भावनायें—

१०८. तीन कारणों से धर्मण निर्ग्रन्थ महानिजरा और संसार का अन्त करने वाला होता है—

- (१) कब मैं अल्प या बहुत धृत का अध्ययन करूँगा ?
- (२) कब मैं एकल विहारी प्रतिभा को स्वीकार कर विहार करूँगा ?

(३) कब मैं अपश्चिम भारतीयान्तिक संलक्षणा की आराधना से युक्त होकर भक्त-पान का परित्याग कर पादपोषणमन संधारा स्वीकार कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरूँगा ?

इस प्रकार मन, वचन और वाया से युक्त प्रकट रूप से भावना करता हुआ धर्मण निर्ग्रन्थ कर्मों का क्षय और संसार का अन्त करने वाला होता है ।

धर्मणों के बत्तीस योग संग्रह—

१०९. बत्तीस योग संग्रह कहे गये हैं, यथा—

- (१) दोषों की यथार्थ आलोचना करना,
- (२) आलोचना सुनकर अन्य को नहीं कहना,
- (३) संकट पड़ने पर भी धर्म में दृढ़ रहना,
- (४) आसक्ति रहित तप करना,
- (५) आचार्य द्वारा दी गई शिक्षा ग्रहण करना,
- (६) शरीर का परिकर्म न करना,
- (७) गुप्त तप करना,
- (८) निर्लोभी रहना,
- (९) कष्टसहिष्णु होना,
- (१०) व्यवहार में सरलता रखना,
- (११) हृदय पवित्र रखना,
- (१२) सम्यक्त्व शुद्ध रखना,
- (१३) प्रसन्न चित्त रहना,
- (१४) पंचाचारों का पालन करना,
- (१५) रत्नाधिक का विनय करना,
- (१६) धैर्य रखना,
- (१७) संवेग युक्त रहना,
- (१८) अध्यवसायों की एकाग्रता रखना,
- (१९) आचरण शुद्ध रखना,
- (२०) संवर की वृद्धि करना,
- (२१) आत्मा में आते हुए दोषों को रोकना,
- (२२) समस्त विषयों से विरक्त रहना,
- (२३) मूलगुणों का शुद्ध पालन करना,
- (२४) उत्तरगुणों का शुद्ध पालन करना,
- (२५) वस्त्र-मात्रादि उपकरणों तथा कषायादि का व्युत्सर्ग करना,

- (२६) अप्पमादे,
 (२७) लवाल्लवे,
 (२८) साणसंवरजोगे य,
 (२९) उवए मारणत्तिए,
 (३०) अंगमां च परिणाम,
 (३१) पायच्छित्तकरणेत्ति य,
 (३२) आराहणा य मरणत्ते,
 बत्तीसं जोगसंगहा ।

—सम. मम. ३२, सु. १

संजम जोगे अप्पाणं ठवणा—

११०. इच्चएहि ठाणेहि जिणे विट्ठेहि संजए ।
 धारयन्ते उ अप्पाणं, आमोक्खाए परिवएज्जासि ॥

—सूय. सु. २, अ. ५, गा. ३३

- (२६) प्रमाद का त्याग करना,
 (२७) समाचारी में सतत सावधान रहना,
 (२८) शुभ ध्यान में रहना,
 (२९) मारणास्तिक वेदना होने पर भी अवीर न होना,
 (३०) आसक्ति के स्वरूप को जानकर परित्याग करना,
 (३१) गृहीत प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करना,
 (३२) मरण समय में संलेखना करके आराधक बनना ।
 ये बत्तीस योग संग्रह (समाधि के कारणभूत स्थान) हैं ।

संयम योग में आत्मा की स्थापना—

११०. जिनेश्वर भगवान् द्वारा उपदिष्ट इन स्थानों से अपनी आत्मा को संयम में स्थापित करता हुआ भुनि मोक्ष प्राप्त होने तक पंचाचार पालन में प्रगति करे ।



संयमी जीवन के अठारह स्थान—७

संजमस्स अट्टारस ठाणाइं—

१११. समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निगंथाणं सल्लुभयवि-
 अत्ताणं अट्टारस ठाणा पणत्ता । तं जहा—

वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं ।
 पलियं क निसिज्जा य, सिणायं सोमवज्जणं ॥

—सम. स. १८, सु. १

वस अट्ट य ठाणाइं जाइं बालोऽवरज्जाइं ।
 तत्थ अन्नयरे ठाणे निगंथत्ताओ भस्सई ॥

—दस. अ. ६, गा. ७

पढमं 'अहिंसा' ठाणं—

११२. तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेणं वेसियं ।
 अहिंसा निज्जणं विट्ठा, सध्वभूएसु संजमो ॥

जावन्ति सोए पाणा, तसा अदुव थायरा ।
 ते जानमजाणं वा, न हणे णो वि घायए ॥
 सस्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविडं न मरिज्जिडं ।
 तम्हा पाणवहं धोरं, निगंथा वज्जयन्ति णं ॥

—दस. अ. ६, गा. ८-१०

संयम के अठारह स्थान—

१११. श्रमण भगवान् महावीर ने आवात वृद्ध सभी श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अठारह स्थान कहे हैं । जैसे—

छः व्रत का पालन, छः काया का रक्षण, अकल्पनीय आहार आदि, गृहि-भाजन, पर्यंक (पलंग आदि), निगद्या, स्नान और शोभा (एत छः) का वर्जन ।

साध्वाचार के ये अठारह स्थान हैं जो बाल अजानी साधु इन अठारह स्थानों में से किसी एक भी स्थान की विराधना करता है, वह साधुपने से भ्रष्ट हो जाता है ।

प्रथम 'अहिंसा' स्थान—

११२. भगवान् महावीर ने इन अठारह स्थानों में से पहला स्थान अहिंसा का कहा है । इसे उन्होंने सूक्ष्मरूप में देखा है । सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है ।

लोक में जितने भी वन और स्थावर प्राणी हैं, भुनि उनका जान या अनजान में न हनन करे और न कराए ।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं चाहते । इसलिए प्राण-वध को भयानक जागवार निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं ।

जगनिस्सिण्हि भूण्हि तसनामेहि थावरेहि च ।
नो तेसिमारभे बंडं, मणसा वयसा कायसा चैव ॥

—उत्त. अ. ५, गा. १०

उड्डं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पाण्हि य संजमेत्ता, अरिणमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥

—सूय. गु. १, अ. १०, गा. २

द्वितीय 'सत्त्व' ठाणं—

११३. अत्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिसमं न मुसं बूया, नो वि अन्नं सयावए ॥
मुसावाओ य लोगम्मि, सब्बसाह्हि गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥

—दस. अ. ६, गा. ११-१२

ततिय 'अतेणसं' ठाणं—

११४. चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
इंतसोहणमेत्तं पि, ओगग्हंसि अजाइया ॥
तं अत्पणा न गेण्हति, नो वि गेण्हावए परं ।
अन्नं वा गेण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥

—दस. अ. ६, गा. १३-१४

चउत्थं 'अबभच्चरियं' ठाणं—

११५. अबभच्चरियं घोरं, पमायं कुरहिद्वियं ।
नायरंति मुणी लोए, मेयाययणवज्जिणो ॥

सूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुत्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसमं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

—दस. अ. ६, गा. १५-१६

पंचम 'अपरिग्रह' ठाणं—

११६. विडमुक्खेइमं लोणं, तित्तं सप्पि च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्तबओरया ॥

लोहस्सेस अणुकासे, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे, गिहो पट्ठवए न से ॥

जं पि वत्थं व पायं वा, कंवलं पायपुच्छं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥

संसार में रहे हुए जो भी जग और स्थावर प्राणी है, उनके प्रति मन, वचन, काया रूप किसी भी प्रकार के दण्ड का प्रयोग न करे ।

ऊँची-नीची और तिरछी दिशाओं में जो जग और स्थावर प्राणी हैं उन्हें अपने हाथों और पैरों को संयम में रखकर किसी भी प्रकार से पीड़ा नहीं देनी चाहिए तथा दूसरों के द्वारा न दिये हुए पदार्थ को ग्रहण नहीं करना चाहिए ।

द्वितीय 'सत्य' स्थान—

११३. निर्ग्रन्थ अपने या दूसरों के लिए, क्रोध से या भय से पर पीड़ाकारक असत्य न बोले, न दूसरों से बुलवाए ।

इस लोक में मृषावाद सगस्त साधुओं द्वारा गहिता है और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है । अतः निर्ग्रन्थ असत्य न बोले ।

तृतीय 'अस्तेय' स्थान—

११४. संयमी मुनि सजीव या निर्जीव, अल्प या बहुत, दन्तशीघ्रन मात्र वस्तु का भी उसके अधिकारी की आज्ञा लिए बिना स्वयं ग्रहण नहीं करता, दूसरों से ग्रहण नहीं कराता और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता ।

चतुर्थ 'अब्रह्मचर्य' स्थान—

११५. अब्रह्मचर्य लोक में घोर प्रमाद-जनक और दुर्जन व्यक्तियों द्वारा सेवन किया जाता है । चारित्र-भंग के स्थान से वचने वाले मुनि उसका सेवन कभी भी नहीं करते ।

वह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और गहादोषों का समूह है । इसलिए निर्ग्रन्थ भिक्षु के संन्यास का सर्वथा परित्याग करते हैं ।

पंचम 'अपरिग्रह' स्थान—

११६. जो महावीर स्वाधी के वचनों में रत हैं, वे मुनि विड-लवण (जलाकर अचित्त बना नमक) उद्विग्न (अन्य वस्तुओं से अचित्त बना) लवण, तेल, घी, और गीले गुड़ के संग्रह करने की इच्छा नहीं करते ।

जो कुछ भी संग्रह किया जाता है वह लोभ का ही प्रभाव है अतः तीर्थंकर देव ऐसा मानते हैं कि जो श्रमण सन्निधि का कामी है वह गृहस्थ है, साधु नहीं है ।

जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण है, उन्हें भी मुनि संयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते हैं और उनका उपयोग करते हैं ।

सब जीवों के रक्षक ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है । 'मूर्च्छा परिग्रह है' ऐसा महर्षियों ने कहा है ।

सध्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्षणपरिणाहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममादयं ॥

— दस. अ. ६, गा. १७-२१

छठे 'रात्रिभोजन-विवर्जन' ठाण—

११७. अहो निच्चं तवोक्कम्मं, सध्वत्थुव्हि वणिण्यं ।
जा य जज्जासमा वित्ती, एगभत्तं य भोयणं ॥

संतिमे सुहमा पाणा, तसा अबुध थावरा ।
जाई राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ? ॥

उवडत्तं, बीयसंत्तं, पाणा निवड्डिया महि ।
दिया ताहं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ? ॥

एयं च दोसं दहूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
सच्चाहारं न भुंजंति, निग्गंथा रात्रिभोयणं ॥

— दस. अ. ६, गा. २२-२५

सप्तमे 'पृथ्वीकाय-अणारंभ' ठाण—

११८. पृथ्वीकायं न हिंसति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥
पृथ्वीकायं विहंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

तम्हा एयं विपाणित्ता, दोसं दुग्गाइवड्डणं ।
पृथ्वीकायसमारंभं जावज्जीवाए वज्जए ॥

— दस. अ. ६, गा. २६-२८

अष्टमं 'आउकाय-अणारंभ' ठाण—

११९. आउकायं न हिंसति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥
आउकायं विहंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

तम्हा एयं विपाणित्ता, दोसं दुग्गाइवड्डणं ।
आउकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥

— दस. अ. ६, गा. २९-३१

नवमं 'तेजस्काय-अणारंभ' ठाण—

१२०. जायतेयं न इच्छंति पावणं जसहत्तए ।
तिक्खमसदरं सत्थं, सरवओ वि दुरासयं ॥

पाईणं पडिणं था वि, उड्डं अणुविसाभवि ।
अहे वाहिणओ वा वि, वहे उत्तरओ वि य ॥

तत्त्वज्ञ मुनि संयम में सहायक उपकरणों को संयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं, मूर्च्छा भाव से नहीं रखते, और तो क्या वे अपने शरीर पर भी ममत्व भाव नहीं रखते ।

छठा 'रात्रि भोजन विवर्जन' स्थान—

११७ अहो ! सभी तीर्थंकरों ने श्रावणों के लिए संयम के अनुकूल वृत्ति और देह पालन के लिए केवल दिन में ही एक बार भोजन रूप इस नित्य तपःकर्म का उपदेश दिया है ।

वे जो व्रस और स्वावर अनेक सूक्ष्म प्राणी हैं जिनको कि रात्रि में साधु नहीं देख सकता है तो उनकी रक्षा करता हुआ किस प्रकार एषणीय आहार की खोज करना कर सकेगा ?

उदक से आर्द्र और शीज से युक्त भोजन तथा जीव युक्त मार्ग हो तो उन्हें दिन में टाला जा सकता है पर रात में उन्हें टाल कर मुनि कैसे भिक्षाचर्या कर सकेगा ?

ज्ञानपुत्र भगवान महावीर स्वामी के बताये हुए इस रात्रि भोजन के दोषों को सम्यक्त्व जाणकर निर्ग्रन्थ किसी भी प्रकार का आहार रात्रि में नहीं करते ।

सातवाँ 'पृथ्वीकाय अनारम्भ' स्थान—

११८. सुसमाहित संयमी पृथ्वीकाय की मन, वचना, काया रूप तीन योगों से और तीन कारण से हिंसा नहीं करते हैं ।

पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ व्यक्ति उसके आश्रित अनेक प्रकार के दृश्यमान व अदृश्यमान व्रस और स्वावर प्राणियों की भी हिंसा करता है ।

इसलिए इन दुर्गति-वर्धक दोषों को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त पृथ्वीकाय के समारम्भ का वर्जन करे ।

आठवाँ 'अपकाय अनारम्भ' स्थान—

११९. सुसमाहित संयमी अपकाय की मन, वचना, काया रूप तीन योगों से और तीन कारण से हिंसा नहीं करते हैं ।

अपकाय की हिंसा करता हुआ व्यक्ति उसके आश्रित अनेक प्रकार के दृश्यमान व अदृश्यमान व्रस और स्वावर प्राणियों की भी हिंसा करता है ।

इसलिए इन दुर्गति-वर्धक दोषों को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अपकाय के समारम्भ का वर्जन करे ।

नवमा 'तेजस्काय अनारम्भ' स्थान—

१२०. मुनि पापरूप अग्नि को जलाने की इच्छा नहीं करते । क्योंकि वह दूसरे शस्त्रों की अपेक्षा तीक्ष्ण शस्त्र है तथा मध और से दुराश्रय है ।

यह अग्नि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः दिशा और विदिशाओं में रहे हुए सभी जीवों को जलाती है ।

भूयाण्येसमाघाओ, हृष्यवाहो न संसओ ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किञ्चि नारभे ॥
तम्हा एयं विद्याणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तेउकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥

—दस. अ. ६, गा. ३२-३५

दसमं 'वाउकाय-अणारंभं' ठाणं—

१२१. अनिलस्स समारंभं, बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्जवट्ठलं चेयं, नेयं ताईहि सेवियं ॥

तालियंटेण पत्तेण, साहाविट्ठयणेण वा ।
न ते वीइउमिच्छन्ति, धीयावेउण वा परं ॥
जंप्पि वत्थं व पायं वा, कंयसं पायपुंछणं ।
न ते वायमुईरंति, जयं परिहरंति य ॥

तम्हा एयं विद्याणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वाउकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥

—दस. अ. ६, गा. ३६-३९

एगादसमं 'वणस्सइकाय-अणारंभं' ठाणं -

१२२. वणस्सइं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिता ॥
वणस्सइं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

तम्हा एयं विद्याणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वणस्सइसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥

—दस. अ. ६, गा. ४०-४२

बारसमं 'तसकाय-अणारंभं' ठाणं—

१२३. तसकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिता ॥
तसकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

तम्हा एयं विद्याणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तसकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥

—दस. अ. ६, गा. ४३-४५

तेरसमं 'अकल्पिय-आहाराइ-विज्जणं' ठाणं—

१२४. जाइं अत्तारिउभोज्जाइं, इत्तिणाऽहारमाईणि ।
ताइं तु विज्जंतो, संजमं अणुपालए ॥
पिडं सेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य ।
अकल्पियं न इच्छेज्जा, पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥

निःसन्देह अग्नि जीवों को आघात पहुँचाने वाली है, संयमी मुनि प्रकाश और ताप के लिए इसका कुछ भी आरम्भ न करे ।

इसलिए इन दुर्गति-वर्धक दोषों को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अग्निकाय के समारम्भ का वर्जन करे ।

दसवीं 'वायुकाय अनारम्भ' स्थान—

१२१. नत्वज्ज पुरुष वायु के समारम्भ को अग्नि समारम्भ के तुल्य ही प्रचुर पाप युक्त मानते हैं । अतः यह छहकाय के भ्राता मुनियों के द्वारा आसेवित नहीं है ।

वे साधु ताड़ के पंखे से, पत्र से, वृक्ष की शाखा से; न तो स्वयं हवा करना चाहते हैं और न दूसरों से हवा कराना चाहते हैं ।

जो भी वस्त्र, कम्बल और पादपुंछन आदि उपकरण हैं उनके द्वारा वे वायु की उदीरणा नहीं करते, किन्तु यत्नपूर्वक उनका परिभोग करते हैं ।

इसलिए इन दुर्गतिवर्धक दोषों को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वायुकाय के समारम्भ का वर्जन करे ।

भ्यारहवीं 'वनस्पतिकाय अनारम्भ' स्थान—

१२२. सुसमाहित संयमी वनस्पतिकाय की मन, वचन, काया रूप तीन योगों से और तीन करण से हिंसा नहीं करते ।

वनस्पतिकाय की हिंसा करता हुआ व्यक्ति उसके आश्रित अनेक प्रकार के दृश्यमान व अदृश्यमान व्रस और स्थावर प्राणियों की भी हिंसा करता है ।

इसलिए इन दुर्गति-वर्धक दोषों को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वनस्पति के समारम्भ का वर्जन करे ।

बारहवीं 'व्रसकाय अनारम्भ' स्थान -

१२३. सुसमाहित संयमी व्रसकाय की मन, वचन, काया रूप तीन योगों से और तीन करण से हिंसा नहीं करते ।

व्रसकाय की हिंसा करता हुआ व्यक्ति उसके आश्रित अनेक प्रकार के दृश्यमान व अदृश्यमान व्रस और स्थावर प्राणियों की भी हिंसा करता है ।

इसलिए इन दुर्गति-वर्धक दोषों को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त व्रसकाय के समारम्भ का वर्जन करे ।

तेरहवीं 'अकल्प्य आहारादि वर्जन' स्थान—

१२४. मुनियों के लिए आहार आदि चार पदार्थ जो अकल्पनीय हैं उनका वर्जन करता हुआ यथाविधि संयम का पालन करे ।

मुनि अकल्पनीय आहार, गन्ध्या, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे किन्तु कल्पनीय ही ग्रहण करे ।

जे नियागं समायंति, कीयमुद्देशियाहं ।
वहं ते समभुजांति, इह भुतं भवेति ॥

तम्हा असणपाणाइं कीयमुद्देशियाहं ।
वज्जयंति ठियपाणो, निग्गंथा धम्मजीविणा ॥

—दस. अ. ६, गा. ४६-४६

चौदसमं 'गिहि-भायण-अभुंजणं' ठाणं—

१२५. कंसेमु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो ।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥

सीओदगसत्तारंभे, भसधोयणछट्टणे ।
जाइं छन्नंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं सिया तत्थ न कप्पइ ।
एयमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे ॥

—दस. अ. ६, गा. ५०-५२

गिहिमत्ते भोयण करणस्स पायच्छित्त-भुत्तं—

१२६. जे भिक्खू गिहिमत्ते भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाडम्मासिधं परिहारद्वाणं उग्घाइयं ॥

—नि. उ. १२, सु. १०

पणारसमं 'पलियंका-अनिसेज्जं' ठाणं

१२७. आसंक्षीपलियंकेसु, संजभासालएसु वा ।
अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ॥
नासंक्षीपलियंकेसु, न निसेज्जा न पीठए ।
निग्गंथाऽपडिसेहाए, बुद्धवत्तमहिट्ठगा ॥

संभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिसेहा ।
आसंक्षीपलियंका य, एयमट्ठं विवज्जिया ॥

—दस. अ. ६, गा. ५३-५५

गिही निसेज्जाए निसोयण पायच्छित्त-भुत्तं—

१२८. जे भिक्खू गिहिणिसेज्जं वाहेइ, वाहेतं वा साइज्जइ ।

१ सूय. सु. १, अ. २, उ. २, गा. २० ।

आमन्त्रित पिण्ड, निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदे हुए, निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाये गये, सम्मुख लाये गये आहार आदि को जो साधु ग्रहण करते हैं वे प्राणि-वध का अनुमोदन करते हैं । ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है ।

इसलिए धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले स्थितात्मा निर्ग्रन्थ मुनि कीर्त, औद्देशिक और आहुत अशन, पान आदि का वर्जन करते हैं ।

चौदहवाँ 'गृहस्थपात्र में भोजन निषेध' स्थान—

१२५. जो मुनि गृहस्थ के कांसे के प्याले में, कांसे के पात्र में और मिट्टी के बर्तन में आहार पानी भोगता है वह श्रमण के आचार से भ्रष्ट होता है ।

बर्तनों को सचित्त जल से धोने में और बर्तनों के धोए हुए पानी को अयतनापूर्वक डालने में प्राणियों की हिंसा होती है अतः गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने में तीर्थंकरों ने असंयम देखा है ।

गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने से 'पश्चात् कर्म' और 'पूर्वकर्म' दोष लगने की सम्भावना रहती है । वह निर्ग्रन्थ के लिए कल्प नहीं है इसलिए वे गृहस्थ के बर्तन में भोजन नहीं करते ।

गृहस्थ के पात्र में भोजन करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

१२६. जो भिक्षु गृहस्थ के पात्र में आहार करता है, आहार करवाता है या आहार करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) जाता है ।

पन्द्रहवाँ 'पल्यंका निषेधा वर्जन' स्थान—

१२७. बेंत आदि की कुर्सी, पलंग, खाट और आराम कुर्सी आदि पर बैठना या सोना साधुओं के लिए अनाचार रूप है ।

तीर्थंकर भगवान की आज्ञा पालन करने वाले निर्ग्रन्थ आसन्दी, पलंग, आसन और पीढ़ का (विशेष स्थिति में उपयोग करना पड़े तो) प्रतिलेखन किए बिना उन पर न बैठे और न सोए ।

आसन्दी पलंग आदि गहरे छिद्र वाले होते हैं । इनमें प्राणियों की प्रतिलेखना करना कठिन होता है । इसलिए इन पर बैठना या सोना वर्जित किया है ।

गृहस्थ की शय्या पर बैठने का प्रायश्चित्त सूत्र—

१२८. जो भिक्षु गृहस्थ के पल्यंकादि पर बैठता है, बिठाता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिधं परिहारद्वानं उग्घाडयं ।

—नि. उ. १२, सु. १२ आता है ।

सोलसमं 'गिही-गिसेज्जा-वज्जणं' ठाणं—

१२६. गोयरगपविट्ठस्स, निसेज्जा जस्स कप्पई ।
इमेरिसमणायारं, आवज्जइ अबोहिं ॥
विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं अवहे बहो ।
वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं ॥

अगुत्तो बंभचेरस्स, इत्थोओ यावि संकणं ।
कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥

—दस. अ. ६, गा. ५७-५९

गोयरगपविट्ठो उ, न निसीएज्ज कत्थइ ।
कहं च न पबंघेज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥

—दस. अ. ५, उ. २, गा. ८

अंतरगिहे निसेज्जाए अववाओ—

१३०. नो कप्पइ निमंथाणं वा निमंथीण वा—अंतरगिहंसि—

(१) चिट्ठित्ते वा, (२) निसीइत्ते वा,
(३) तुयट्ठित्ते वा, (४) निहाइत्ते वा,
(५) पयलाइत्ते वा, (६) असणं वा,
(७) पाणं वा, (८) खाइमं वा,
(९) साइमं वा आहारमाहरित्ते, (१०) उच्चारं वा,
(११) पासवणं वा, (१२) खेसं वा,
(१३) सिघाणं वा परिट्ठवेत्ते
(१४) सज्जायं वा करित्ते, (१५) ज्ञाणं वा साइत्ते,
(१६) काउसमं वा ठाणं ठाइत्ते ।

अह पुण एवं जाणेज्जा बाहिंए। जराजुण्णे, तवस्सी, दुब्बले,
किलंते, मुच्छेज्ज वा, पवडेज्ज वा, एवं से कप्पइ अंतर-
गिहंसि चिट्ठित्ते वा-आव-काउसमं वा ठाणं-ठाइत्ते ।

नो कप्पइ निमंथाण वा निमंथीण वा अंतरगिहंसि-जाव-
चउगाहं वा पंचगाहं वा आइक्खित्ते वा विभविस्से वा
किट्ठित्ते वा पवेइत्ते वा ।

नल्लथ एगनाएणं वा, एगवागरणेणं वा, एगगाहाए वा,
एगसिलोएण वा, से वि य ठिच्चा, नो चेव णं अठिच्चा ।

सोलहवां 'गृह निषद्या वर्जन' स्थान—

१२६. भिक्षा के लिए प्रविष्ट मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है
तो वह इन अनाचार और दोषों को प्राप्त होता है ।

ब्रह्मचर्य व्रत का विनाश, प्राणियों का अकाल में वध,
अन्य भिक्षाचरों के अस्तराय और घर वालों की क्रोध उत्पन्न
होना ।

ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है और स्त्री के प्रति शंका उत्पन्न
होती है अतः गृहस्थ के घर में बैठना कुशीलवर्धक स्थान समझ
कर मुनि इसका दूर से ही वर्जन करे ।

गोचरी के लिए गया हुआ साधु कहीं भी न बैठे और
खड़ा रहकर भी अधिक समय कथा वार्ता न करे ।

गृह निषद्या के अपवाद—

१३०. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर में,

(१) ठहरना, (२) बैठना,
(३) सोना, (४) निद्रा लेना,
(५) ऊँघ लेना, (६) अग्न, (७) गान,
(८) खादिस, (९) स्वादिम आहार करना, (१०) मल,
(११) मूत्र, (१२) खेंकार,
(१३) श्लेष्मा परिष्ठापन करना,
(१४) स्वाध्याय करना, (१५) ध्यान करना,
(१५) कायोत्सर्ग कर स्थित होना नहीं कल्पता है ।

यदि वह जाने कि जो विशु व्याधिरस्त हो, बूढ़ हो,
तपस्वी हो, या दुर्बल हो, थकान घबराहट से युक्त हो, वह
मूर्च्छित हो जाये या गिर पड़े तो उसे गृहस्थ के घर में ठहरना
—यावत्—कायोत्सर्ग कर स्थित होना कल्पता है ।

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर में चार या पाँच
गाथाओं द्वारा कथन करना, उनका अर्थ करना, धर्माचरण का
कहना एवं विस्तृत विवेचन करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु आवश्यक होने पर केवल एक उदाहरण, एक प्रश्नो-
त्तर, एक गाथा या एक श्लोक द्वारा कथन आदि करना
कल्पता है । वह भी खड़े रहकर कथन करे किन्तु बैठकर नहीं ।

१ तिण्हमन्नयरागस्स, निसेज्जा जस्स कप्पई । जराए अमिभूयस्स बाहिंथस्स तवस्सिणो ।

—दस. अ. ६, गा. ६०

इस गाथा में अतिवृद्ध, व्याधिरस्त और तपस्वी इन तीन को अपवाद रूप में गृहस्थ के घर में बैठने का विधान है
किन्तु बृहत्सूत्र में दुर्बल और परिश्रान्त का अधिक उल्लेख है । जिनका समावेश व्याधिरस्त में समझा जा सकता है ।

नो कप्पइ निगंथाण वा निगंथीण वा अंतरिगिहंसि, इमाहं
पंच महक्खयाहं सभावणाहं, आइविस्सए वा, विभावित्तए
वा किट्ठित्तए वा पवेइत्तए वा ।

नल्लत्थ एगनाएण वा-जाव-एगसिलोएण वा ।

से वि य ठिच्चा, नो खे णं अठिच्चा ॥

—कप्प. उ. ३, सु. २१-२३

सत्तरसमं 'असिणार्ण' ठाणं —

१३१. बाहिओ वा अरोगी वा, सिणार्णं जो उ पत्थए ।

बुक्कंतो होइ आमारो, जडो हवइ संजमो ॥

संतिमे सुहमा पाणा, घसासु भिलुगासु य ।

जे उ भिक्खू सिणायंतो, विजडेणुप्पिलावए ॥

तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा ।

जावज्जीवं यथं घोरं, असिणार्णं भहिट्ठना ॥

सिणार्णं अबुवा कक्कं, सोळं पउमथाणि य ।

गायस्सुब्बट्ठणट्ठाए, गायंति कयाड ति ॥

—दस. अ. ६, गा. ६१-६४

अठारसमं 'अविभूषा' ठाणं—

१३२. नणिणस्स वा वि मुंडस्स, दीहरोम-नहंसिणो ।

मेहूणा उवसंतस्स, किं विभूसाए कारियं ? ॥

विभूसावत्तिर्यं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिककणं ।

संसारसागरे घोरे, जेणं पडइ बुरुत्तरे ॥

विभूसावत्तिर्यं खेयं, छुट्ठा मन्नंसि तारिसं ।

सावणजबट्ठलं खेयं, नेयं ताईहिं सेवियं ॥

—दस. अ. ६, गा. ६५-६७

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर में भावना सहित
पाँच महाव्रतों का कथन, अर्थ विस्तार या महाव्रताचरण के फल
का कथन करना एवं विस्तृत विवेचन करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु आवश्यक होने पर केवल एक उदाहरण —यावत्—
एक श्लोक से कथन आदि करना कल्पता है । वह भी अड़े रह-
कर किन्तु बैठकर नहीं ।

सत्रहवाँ 'अस्नान' स्थान—

१३१. जो अस्वस्थ या स्वस्थ साधु स्नान करने की अभिलाषा
करता है उसके आचार का उत्लंघन होता है तथा उसका संयम
भिधिल हो जाता है ।

पीसी भूमि और दरार युक्त भूमि में अनेक प्रकार के सूक्ष्म
जीव होते हैं । भिक्षु के प्रासुक जल से स्नान करने पर भी उन
जीवों की जल में डूबने से विराधना अवश्य होती है ।

इसलिए मुनि धीत या उष्ण अचित्त जल से भी स्नान
नहीं करते हैं वे जीवनपर्यन्त अस्नान रूप कठिन व्रत का पालन
करते हैं ।

मुनि शरीर का उबटन करने के लिए सुगन्धित चूर्ण, कल्क,
जोश एण्कैसर आदि का प्रयोग कभी भी नहीं करते हैं ।

अठारहवाँ 'अविभूषा' स्थान —

१३२. मलिन एवं परिमित वस्त्र होने से नग्न, द्रव्य-भाव से
मुण्डित, दीर्घ-रोम और नखों वाले तथा मैथुन से निवृत्त मुनि
को विभूषा से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं
होता है ।

विभूषा वृत्ति के द्वारा भिक्षु चिकने (गाढ़) कर्म का बन्धन
करता है उससे वह दुस्तर और घोर संसार सागर में गिरता है ।

तीर्थंकर विभूषा के संकल्प को भी विभूषा प्रवृत्ति के समान
ही मानते हैं यह विभूषा वृत्ति प्रचुर पाप का कारण है अतः
छहकाम के रक्षक मुनि इसका सेवन नहीं करते हैं ।



संयमी जीवन का फल—

सर्वगुण सम्पन्नता का फल—

१३३. प०—सर्वगुणसंपन्नताए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—सर्वगुणसंपन्नताए णं अपुनरावत्तिं जणयइ । अपुन-
रावत्तिं पत्तए णं जीवे सारीरमाणसाणं बुक्खाणं नो
भागी भवइ ।

—उत्त. अ. २६, गा. ४६

सर्व गुण सम्पन्नता का फल—

१३३. प्र०—भन्ते ! सर्वगुण-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त
करता है ?

उ०—सर्वगुण-सम्पन्नता से वह अपुनरावृत्ति अर्थात् मुक्ति
को प्राप्त होता है । अपुनरावृत्ति को प्राप्त करने वाला जीव
जारीरक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता ।

सामाहय फल—

१३४. प०—सामाहयणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—सामाहयणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. १०

संजमाराहणाए फल—

१३५. दुष्कराहं करेत्ताणं, दुस्सहाहं सहेत्तु य ।
के इत्थं देवलोएसु, केई सिज्झंति नीरया ॥

सखिता पुब्बकम्माहं संजमेण तवेण य ।

सिद्धिमग्गमणुप्पसा ताइणो परिनिब्बुद्धे ॥

—उत्त. अ. ३, गा. १४-१५

सुवेत्ति अप्पाणममोहं वसिणो, तवेत्तेरया संजम अज्जवे भुणे ।
सुपंति पायाहं पुरेकआहं, नयाहं पायाहं न ते करेत्ति ॥

सओवसंता अममा अकिञ्चना,

सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो ।

उत्तपसन्ने धिमले व चंदिमा,

सिद्धि जिमाणाहं उवेत्ति ताइणो ॥

—उत्त. अ. ६, गा. ६७-६८

एते ओधं तरिस्संति, समुद्धं य ववहारिणो ।

जत्थ पाणा विसण्णासी, किञ्चंती सयकम्मुणा ॥

सं च भिक्खू परिणाय, सुध्वते समिते चरे ।

मुत्तावायं च वज्जेज्जा, अदिग्गादाणं च वोसिरे ॥

उद्धमहे तिरियं वा, जे केई तस-थावरा ।

सज्जत्थ विरतिं कुज्जा, संति निध्वाणमाहितं ॥

—सूय. सू. १, अ. ३, उ. ४, गा. १८-२०

प०—जे इमे भंते ! अज्जताए समणे निग्गंथे वाणमंतराणं

एते णं कस्स तेयलेस्सं बीयावयंति ?

उ०—भोयसा ! मास परिघाए समणे निग्गंथे वाणमंतराणं

देवाणं तेयलेस्सं बीयावयंति ।

दुमासपरिघाए समणे निग्गंथे असुरिद्वज्जिपाणं

भक्षणवासीणं देवाणं तेयलेस्सं बीयावयंति ।

तिमासपरिघाए समणे निग्गंथे असुरकुमारानं देवाणं

तेयलेस्सं बीयावयंति ।

सामायिक का फल—

१३४. प्र०—भन्ते ! सामायिक की आराधना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—सामायिक से वह योगों की गावद्य प्रवृत्ति से विरति को प्राप्त होता है ।

संयम की आराधना का फल—

१३५. दुष्कर आचार का पालन करते हुए और दुःसह परीषहों को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों में से कई देवलोक में जाते हैं और कई कर्म रहित होकर सिद्ध होते हैं ।

छः काय के रक्षक मुनि संयम और तप द्वारा पूर्व संचित कर्मों का श्रय करके सिद्धि मार्ग को प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं ।

अमोघदर्शी, तप, संयम और ऋजुता आदि गुणों में रत मुनि अपने शरीर को कृष्ण धार देते हैं । वे पुराकृत पाप कर्मों का नाश करते हैं और नए पाप कर्म नहीं करते हैं ।

मदा उपशान्त, भमता-रहित, अकिञ्चन, आत्म-विद्यायुक्त, यशस्वी और छः काया के रक्षक मुनि शरद ऋतु के चन्द्रमा की तरह निर्मल होकर मुक्त हो जाते हैं या वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं ।

जिस संसार समुद्र में पड़े हुए प्राणी अपने कर्मों से पीड़ित होते हैं उस संसार को मुनि उसी तरह पार कर लेते हैं जिस तरह कि व्यापारी समुद्र को पार कर लेते हैं ।

संयम व परीषहों के स्वरूप को जानकर भिक्षु महाव्रतों का सम्यग् रूप से पालन करे । असत्य भाषण का पूर्ण रूप से वर्जन करे तथा अदन ग्रहण आदि का भी पूर्ण त्याग करे ।

ऊपर नीचे तिरछे लोक में जो कोई भी उस स्थावर प्राणी है उनकी हिंसा से पूर्ण निवृत्त रहे । ऐसा करने से ही शान्ति रूपी निर्वाण पद की प्राप्ति कही गई है ।

प्र०—भगवन् ! जो ये श्रमण निर्ग्रन्थ आर्यत्व युक्त (पाप रहित) होकर विचरण करते हैं, वे किसकी तेजोलेश्या का अतिक्रमण करते हैं ?

उ०—गौतम ! एक मास की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ वाणव्यन्तर देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

दो मास की दीक्षान्पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ असुरेन्द्र के सिवाय भवनवासी देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

तीन मास की दीक्षान्पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ, असुरकुमार देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

अउम्मासपरियाए समणे निग्गंथे नक्खत्ततारारूपाणं
जोतिसियाणं देवाणं तेयलेस्सं वीयीवयति ।

पंचमासपरियाए समणे निग्गंथे चंदिमहूरियाणं
जोतिसियाणं जोतिसराईए देयलेस्सं वीयीवयति ।

छम्मासपरियाए समणे निग्गंथे सोहम्मीसाणाणं देवाणं
तेयलेस्सं वीयीवयति ।

सत्तमासपरियाए समणे निग्गंथे सणकुमार माहिवाणं
देवाणं तेयलेस्सं वीयीवयति ।

अट्टमासपरियाए वंभलोग-संतगाणं देवाणं तेयलेस्सं
वीयीवयति ।

नवमासपरियाए समणे निग्गंथे महाभुषक-सहस्साराणं
देवाणं तेयलेस्सं वीयीवयति ।

दसमासपरियाए समणे निग्गंथे आणय-पाणय-आरण-
अच्चुयाणं देवाणं तेयलेस्सं वीयीवयति ।

एक्कारसमासपरियाए समणे निग्गंथे गेवेज्जगाणं
देवाणं तेयलेस्सं वीयीवयति ।

बारसमासपरियाए समणे निग्गंथे अणुत्तरोववातियाणं
देवाणं तेयलेस्सं वीयीवयति ।

तेणं परं सुक्के सुक्काभिजातिए भविस्सा ततो पच्छा
सिज्जति-जाव-अंतं करेति ।

—विद्या. स. १४, उ. ६, सु. १७

धम्मराहणाए परिणामो—

१३६. अण्णायसपस्संता, पच्छुप्पन्नगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पंति, छीणे आउम्मि ओव्वणे ॥

जेहि कालं परक्कंतं, न पच्छा परितप्पए ।

ते धीरा बंधणुसुक्का नाक्कंणति जीवियं ।

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. ४, गा. १४-१५

तिहि ठाणेहि संपण्णे अणगारे

१. अणादीर्य, २. अणवदागं, ३. दीहमद्धं ।

आउरंतं संसारकंतारं वीईवएज्जा, तं जहा—

१. अणिवाणयाए, २. विट्ठिसंपणयाए ३. जोगवाहियाए ।

—ठाणं. अ. ३, उ. १, सु. १४८

चार मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ ग्रहण-
नक्षत्र तारारूप ज्योतिष्क देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण
करता है ।

पाँच मास की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ ज्योतिष्केन्द्र
ज्योतिष्क राज ५४ और सूर्य की तेजोलेश्या का अतिक्रमण
करता है ।

छह मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सौधर्म और
ईशानवरूपवासी देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

सात मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सत्त्वकुमार
और माहेन्द्र देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

आठ मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ ब्रह्मलोक
और लान्तक देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

नौ मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महाशुक्र और
सहस्रार देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

दस मास की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ आनत,
प्राणत, आरण और अच्युत देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण
करता है ।

ग्यारह मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ, ग्रैवेयक
देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

बारह मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ अनुत्तरो-
पपातिक देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

इसके बाद शुक्ल एवं परम शुक्ल होकर फिर वह सिद्ध
होता है,—यावत्—समस्त दुःखों का अन्त करता है ।

धर्माराधना का फल—

१३६. भविष्य में होने वाले दुःख को न देखते हुए जो योग
वर्तमान सुख के अन्वेषण में रत रहते हैं वे बाद में आयु और
युवावस्था क्षीण होने पर पश्चात्ताप करते हैं ।

जिन पुरुषों ने धर्मोपार्जन के समय पर ही धर्मचरण में
पराक्रम किया है, वे पीछे पश्चात्ताप नहीं करते । वे धीरे पुरुष
बन्धनों से उन्मुक्त होकर असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं
करते हैं ।

तीन स्थानों से सम्पन्न अनगर अनादि अनन्त अतिविस्तीर्ण
चातुर्गंतिक संसार कांतार से पार हो जाता है—(१) अनिदानता
—भोग प्राप्ति के लिए संकल्प नहीं करने से, (२) दुष्टि सम्पन्नता
—सम्यग् दृष्टि से, (३) योगवाहिता—योग का वहन करने या
समाधिरूप रहने से ।

संबुड भिक्षुस्स फल—

१३७. संबुडकम्मस्स भिक्षुणो, जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिण्ण ।

तं संजमओअचिज्जइ, मरणं हेत्तव्यंति पंडिता ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. ३, गा. १

णिगंथ मुत्ति—

१३८. सोतोसिणच्चाई से णिगंथे, अरति-रतिसहे, फारुसियं णो
वेदेति, जागर-वेरोवरते वीरे । एवं दुक्खा पमोक्खसि ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. १, सु. १०७ (ज)

सुसमणस्स समाहि तह कुसमणस्स असमाहि

१३९. अहो य रातो य समुत्तिहेहि, तहागतेहि पडिलब्ध धम्मं ।

समाहिमाघातमज्जोसयंता, सत्थारमेव फरुसं वयंति ॥

विसोहियं ते अणुकाहयंते, जे आतमावेण वियागरेज्जा :

अट्ठाणिहोति बहुगुणाणं, जे णाणसंकाए मूसं वदेज्जा ॥

जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति, आदानमट्ठं खलु वंचयंति ।

असाधुणो ते इह साधुमाणी, मायणि एहिंति अणंतघं ॥

जे कोहणे होइ जगदुभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।

अंधे व से बंडपहं गहाय, अविओसिए, घासइ पावकम्मी ॥

जे विगहीए अजायमासी,

न से समे होति अशंसपसे ।

ओवायकारो य हिरोमणे य,

एगंतदिट्ठी य अभाइखे ॥

से पेसले सुहुमे पुरिसजाते,

जच्चणिणए सेव सुउज्जुयारे ।

बहु पि अणुसरसिते जे तहच्चा,

समे हु से होति अशंसपसे ॥

जे आवि अणं वसुमं ति मत्ता,

संखाय वावं अपरिच्छ कुज्जा ।

तवेण वाहं सहिउ ति मत्ता,

अणं जणं पस्सति विवभूतं ॥

संवृत भिक्षु का फल—

१३७. अष्टविध कर्मों का आगमन जिनसे रोग दिया है । ऐसे भिक्षु को अज्ञानवश जो दुःख स्पृष्ट हो चुका है, वह संयम से क्षीण हो जाता है । वे पण्डित मृत्यु को छोड़कर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं ।

निर्ग्रन्थ की मुक्ति—

१३८ निर्ग्रन्थ सर्वों और गर्मों को सहन करता है, अरति और रति को सहन करता है, कष्ट का वेदन नहीं करता । जागृत रहता है और वैर से उपरत होता है, वह और दुःख से मुक्त हो जाता है ।

सुध्रमण की समाधि और कुध्रमण की असमाधि—

१३९. दिन-रात सम्पक् रूप से अनुष्ठान करने में उद्यत, तीर्थ-करों से श्रुत-चारित्र्य धर्म को पाकर जगके द्वारा कथित समाधि का संवन न करते हुए कुछ अविनीत शिष्य अपने धर्मोपदेशक को ही कठोर शब्द कहते हैं ।

जो शुद्ध चित्तराग मार्ग से विपरीत अपनी रुचि के अनुसार प्ररूपणा करते हैं तथा तीर्थकर के ज्ञान में शंका करके मिथ्या-भाषण करते हैं वे उत्तम गुणों के पात्र नहीं होते हैं ।

जो पूछने पर अपने गुरु आदि का नाम छिपाते हैं, वे मोक्ष से अपने आप को वंचित करते हैं । वे वस्तुतः इस जगत् में असाधु होते हुए भी स्वयं को साधु मानते हैं ऐसे मायावी अनन्त बार जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं ।

जो पुरुष क्रोधी है, परदोषभाषी है, जो उपशान्त हुए कलह को फिर जगाता है, वह पापकर्मी, सदा कलहग्रस्त व्यक्ति, संकड़ी पगडंडी से जाते हुए अंधे की तरह दुःख का भागी होता है ।

जो साधक कलह करता है, न्याय विरुद्ध बोलता है, वह मध्यस्थ नहीं हो सकता है तथा कलह रहित भी नहीं होता किन्तु जो गुरु के निर्देशानुसार चलने वाला, पाप कार्य से लज्जित होने वाला, जीवादि तत्वों में निश्चित दृष्टि वाला तथा माया रहित व्यवहार वाला होता है ।

भूल होने पर आचार्य आदि के द्वारा अनेक बार अनुशासित होकर भी जो अपनी लेश्या शुद्ध रखता है, वह सुसाधक मृदु-भाषी या विनयादिगुणयुक्त है । सूक्ष्मार्थदर्शी है, संयम में पुरुषार्थी है, उत्तम जाति से समन्वित और साध्नाचार में सहज सरल भाव से प्रवृत्त रहता है मध्यस्थभाव युक्त और मायादि कपाय से रहित होता है ।

जो अपने आप को संयम पूर्व ज्ञान का धनी मानकर अपनी परीक्षा किये बिना ही किसी के साथ वाद छेड़ देता है, अथवा अपनी प्रशंसा करता है, तथा "मैं महान् तपस्वी हूँ", इस प्रकार के मद्द से मत्त होकर दूसरे व्यक्ति को जल में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की तरह निरर्थक समझता है ।

एगंतकूडेण उ से पलेइ,
ण विज्जती मोणपवसि गोत्ते ।
जे भाणणट्ठेण विउक्कसेउआ,
वसुभण्णतरेण अबुअशमाणे ॥

जे माहणे जातिए खत्तिए वा,
तह उग्गपुत्ते तह सेच्छती वा ।
जे पव्वइते परदत्तमोई,
गोत्ते ण जे वव्वसि माणवइ ॥

ण तस्स जाई व कुलं प ताणं.
णणदथ विज्जा-चरणं सुचिणं ।
णिक्खम्म जे सेवइणारिकम्मं,
ण से पारए होइ विमोयणाए ॥
—सूय. सु. १, अ. १३, गा. २-११

अग्गणाणे समणस्स गइ -

१४०. समणा सु एगे वयभाणा. पाणवहं सिधा अयागन्ता ।
मन्दा निरयं गच्छन्ति, वाला पाविधाहि दिट्ठीहि ॥
- उत्त. अ. ८, गा. ७

भिक्षुस्स अहिंसा फलं—

१४१. पाणे य नाइषाएज्जा, से "समिए" ति वुच्चई ताई ।
तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उवगं व यलाओ ॥
- उत्त. अ. ८, गा. ६

भिक्षुस्स हिंसाणुमोयण फलं—

१४२. "न हू पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्ववुक्खाणं" ।
एषामिएहि अषखायं, जेहि इसो साहुअम्मो पण्णसो ॥
—उत्त. अ. ८, गा. ८

भोगासत्ति परिणामो—

१४३. भोगामिसदोसविसण्णे हियनिससेयस बुद्धिवोच्चस्थे ।
आले य भन्विए मूढे, वज्जई मच्छिआ व खेसंमि ॥
- उत्त. अ. ८, गा. ५

सुव्रयाणं संसारत्तारो -

१४४. बुपरिचवया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहि ।
अहं सन्ति सुव्वया साहु, जे तरन्ति अतरं वणिआ व ॥
—उत्त. अ. ८, गा. ६

वह मदलिप्त साधु एकान्तरूप से मोहकपी कूटपाश में फंस कर संसार में परिभ्रमण करता है, तथा जो सम्मान प्राप्ति के लिए संयम, तपस्या, ज्ञान आदि में विविध प्रकार का भ्रम करता है, वह संयम पथ में स्थित नहीं है। वास्तव में संयम लेकर जो ज्ञानादि का भ्रम करता है, वह परमार्थतः सर्वज्ञ-मार्ग को नहीं जानता।

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्र अथवा लिच्छवीवंशी है जो प्रव्रजित होकर परदत्तभोजी है, जो अभिमान भोग्य (उच्च) भोज का भ्रम नहीं करता है, वही सर्वज्ञोक्त यथातथ्य चारित्र में प्रवृत्त साधु है।

भलीभाँति आचरित ज्ञान और चारित्र के सिवाय अन्य जाति कुल आदि दुर्गति से उसकी रक्षा नहीं कर सकते। जो प्रव्रज्या लेकर फिर गृहस्थ के कर्मों (साधक कार्य) का सेवन करता है वह कर्मों से विमुक्त होने में समर्थ नहीं होता।

अज्ञानी भ्रमण की गति—

१४०. कुछ पशु की भाँति अज्ञानी पुरुष "हम भ्रमण हैं" ऐसा कहते हुए भी प्राणवध को नहीं जानते। वे मन्द और बालपुरुष अपनी पापमयी दृष्टियों से नरक में जाते हैं।

भिक्षु के अहिंसा का परिणाम -

१४१. जो जीवों की हिंसा नहीं करता वह साधक "गमित" सम्यक् प्रवृत्ति वाला कहा जाता है। उस आत्मा से पाप-कर्म वैसे ही निकल जाता है जैसे ऊँचे स्थान से जल।

भिक्षु के हिंसानुमोदन का फल -

१४२. जिन्होंने साधु धर्म की प्ररूपणा की है, उन आर्य पुरुषों ने ऐसा कहा है कि—“जो प्राणवध का अनुमोदन भी करता है, वह कभी भी सब दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।”

भोगासक्ति का परिणाम -

१४३. आत्मा को दूषित करने वाले, आभिरूप भोगों में निमग्न, हित और मोक्ष के विषय में विपरीत बुद्धि रखने वाला, अज्ञानी, मन्द और मूढ़ जीव कर्मों से वैसे ही बंध जाता है, जैसे श्लेष्म में मक्खी।

सुव्रती साधु का संसार पार -

१४४. इन काम-भोगों का त्याग दुष्कर है, अधीर पुरुषों के द्वारा कामभोग आसानी से नहीं छोड़े जाते। किन्तु जो सुव्रती साधु हैं वे दुस्तर काम भोगों को उसी प्रकार पार कर लेते हैं, जैसे—वणिक समुद्रको।

कुसमणस्स दुग्गई सुसमणस्स सुग्गई-

१४५. एयारिसे पंच कुसीलस्संबुडे, रुक्खरे मणिपधराण हेद्धिमे ।
अयंसित्तेए विसमेव गरहिण, न से इहं नेव परत्थलोए ॥
—उत्त. अ. १७, गा. २०

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउल्लगस्स निगामसाहस्स ।
उच्छोलणा च्होइस्स, बुल्लहा सुग्गइ तारिस्सगस्स ॥
—दम. अ. ४, गा. २६

चीराजिणं नगिणिणं जड्डी संघाडो मुंढिणं ।
एयाणि वि न तायंति बुस्सीलं परिपाणयं ॥
पिडोलए एव बुस्सीलो नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्षाए वा गिहत्थे वा सुव्यए कमई विवं ॥
—उत्त. अ. ५, गा. २१-२२

जे वज्जए एए सया उ दोसे, से सुव्वए होइ मुणीणमज्जे ।
अयंसि लोए अमयं च पूइए, आराहए लोगमिणं तहापरं ॥
—उत्त. अ. १७, गा. २१

मज्ज मेवणस्स विवज्जणस्स थ परिणामो—

१४६. सुरं वा मेरुं वा वि, अन्नं वा मज्जणं रसं ।
ससक्खं न पिबे भिक्षू, जसं सारक्खमप्पणो ॥
पिया एगइओ तेणो, न मे कोइ विघाणइ ।
तस्स पस्सह् दोसाहं, नियद्धि च सुणेह मे ॥

बड्ढई सोंडिया तस्स, मायामोसं च भिक्षुणो ।
अपसो य अनिब्बणं, सययं च असाहुया ॥
निचुब्बिगो जहा तेणो, अत्तकस्मेहि बुम्मई ।
तारिसो मरणंते वि, नास्सहेइ संवरं ॥

आयरिए नास्सराहेइ, समणे यावि तारिसो ।
गिहत्थ वि णं गरहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥

एवं तु अगुणप्पेही, गुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि, नास्सराहेइ संवरं ॥

तवं कुव्वइ मेहावी, पणोयं वज्जए रसं ।
मज्जप्पमायविरओ, तवस्सो अइउक्कसो ॥

कुश्रमण की दुर्गति और सुश्रमण की सद्गति—

१४५. जो पूर्व वर्णित आचरण करने वाला, पाँच प्रकार के कुजीलों में युक्त केवल मुनि के वेश को धारण करने वाला और श्रेष्ठ मुनियों की अपेक्षा हीन संयम वाला होता है, वह इस लोक में विप की तरह निर्दित होता है तथा उसके यह लोक और परलोक दोनों ही नहीं सुधरते ।

जो श्रमण इन्द्रिय सुख का इच्छुक, शाता के लिए आकुल, अधिक सोने वाला और हाथ पैर आदि को बार-बार धोने वाला होता है उसके लिए सुगति दुर्लभ है ।

वस्त्र, चर्म, नम्रता, जटा धारण, गुदड़ी धारण, सिरमुंडन आदि दुःशील साधु की दुर्गति से रक्षा नहीं कर सकते ।

भिक्षाजीवी साधु यदि दुःशील है तो वह नरक से मुक्त नहीं हो सकता । भिक्षु हो या गृहस्थ यदि वह सुअती है तो दिव्य रति को प्राप्त करता है ।

जो इन पूर्वोक्त दोषों का मदा वर्जन करता है वह मुनियों में सुग्री होता है । वह इस लोक में अमृत की तरह पूजित होता है तथा इस लोक और परलोक दोनों लोक की आराधना करता है ।

मद्य सेवन का और विवर्जन का परिणाम—

१४६. अपने संयम का संरक्षण करता हुआ भिक्षु सुरा, मेरक या अन्य किसी प्रकार का मादक रस आत्म-साक्षी से न पीए ।

जो मुनि मुझे कोई नहीं जानता (यों सोचता हुआ) एकान्त में स्तेनवृत्ति से मादक रस पीता है, उसके दोषों को देखो और मायाचरण को भुक्षसे सुनो ।

उस भिक्षु के उन्मत्तता, माया मृषा, अवय, अतृप्ति और मत्तत असाधुता ये दोष बढ़ते हैं ।

वह दुर्मति अपने दुष्कर्मों से चोर की भाँति सदा उद्विग्न रहता है । मद्यप मुनि मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना नहीं कर पाता ।

वह न तो आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणों की भी । गृहस्थ भी उसे मद्यप मानते हैं, इसलिए उसकी गद्दी करते हैं ।

इस प्रकार अगुणों की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और गुणों को वर्जने वाला मुनि मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना नहीं कर पाता ।

जो बुद्धिमान् साधक शणीत रस युक्त भोजनों को छोड़कर तपश्चर्या करता है, जो मद्य प्रमाद से विरत होता है । वह तपस्वी विकास मार्ग में आगे बढ़ता है ।

तस्मै पस्सह कल्लानं, अणेगसाहुपूडयं ।
निजसं अश्यसंजुनं, किसिदस्सं सुणेह मे ॥

एवं तु गुणपेही, अगुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो भरणते वि, आराहेइ संवरं ॥

आयरिए आराहेइ, समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥

—दस. अ. ५, उ. २, गा. ३६-४५

मज्जाइ सेवण-णिसेहो—

१४७. अमज्ज-मंसासि अमच्छरिया, अभिक्खणं निव्विगईगधा य ।

अभिक्खणं काउसग्गकारी, सज्जायजोणे पयओ ह्वेज्जा ॥

—दस. अ. १०, चू. २, गा. ७

अनेक साधुओं के द्वारा प्रशंसा को प्राप्त उस भिक्षु के कल्याण को देखो—वह विपुल संयम गुणों से युक्त होता है। मैं उसके गुणों का कथन करूँगा उसे मुझसे सुनो —

इस प्रकार गुण की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और अगुणों को वर्जने वाला, शुद्ध भोजी मुनि मरणान्तकाल में भी संवर की आराधना करता है ।

वह आचार्य की आराधना करता है और श्रमणों की भी । गृहस्थ भी उसे शुद्ध भोजी मानते हैं, इसलिए उसकी पूजा करते हैं ।

मन्त्रादि सेवन का निषेध—

१४७. साधु मद्य और मांस का अभोजी हो, अमरमरी हो, बार-बार विकृतियों को सेवन न करने वाला हो, बार-बार कर्मोत्सर्ग करने वाला और स्वाध्याय के लिए योगोद्बहन में प्रयत्नशील हो ।



दिवस रात्रिक समाचारी—१

समाचारी महत्तं—

१४८. सामाचारि पवक्खामि, सब्बदुक्खविमोक्खणि ।

अं चरित्ता ण निगंथा, तिण्णा संसार सागरं ॥

—उत्त. अ. २६, गा. १

वसविहा समाचारी—

१४९. पथमा आवसिस्था नामं, बिदया य निसीहिवा ।

आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा ॥

पंचमो छन्दणा नाम, इच्छाकारो य छट्ठओ ।

सप्तमो मिच्छाकारो य, तहक्कारो य अट्ठमो ॥

अवमुट्ठानं च नवमं, दसमो उवसंपदा ।

एसा वसंगा साहणं सामाचारी पवेइया ॥

—उत्त. अ. २६, गा. २-४ है ।

समाचारी का महत्त्व—

१४८. मैं सब दुःखों से मुक्त करने वाली उस समाचारी का निरूपण करूँगा, जिसका आचरण कर अनेक निर्वन्ध संसार-सागर से निर गये ।

दस प्रकार की समाचारी—

१४९. पहली आवश्यकी, दूसरी नैषेधिकी,

तीसरी आपुच्छना, चौथी प्रति-पुच्छना है ।

पाँचवी छन्दना, छठी इच्छाकार,

सातवीं मिध्याकार, आठवीं तथाकार ।

नौवीं अभ्युत्थान, दशवीं उपसम्पदा,

ज्ञानियों ने यह दश प्रकार की साधुओं की समाचारी कही

१ दस प्रकार की समाचारी,

उत्तराध्ययन अ. २६, गथा २-३-४,

स्थानांग अ. १०, सूत्र ७४९,

भगवती श. २५, उ. ७, सूत्र १६४

स्थानांग और भगवती में नाम और क्रम समान है अतः भगवती और उत्तराध्ययन की तानिका दी जाती है :—

उत्तराध्ययन सूत्र

(१) आवश्यकी

(२) नैषेधिकी

(३) आपुच्छणा

भगवती सूत्र

(४) आवश्यकी

(५) नैषेधिकी,

(६) आपुच्छणा

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

समाचारीए पञ्चस्तणं—

१५०. (१) गमणे आवस्सियं कुज्जा,
 (२) ठाणे कुज्जा निसीहियं,
 (३) आयुच्छणा सयंकरणे,
 (४) परकरणे पडिपुच्छणा,
 (५) छन्दणा दव्वभाएणं,
 (६) इच्छाकारो य सारणे,
 (७) मिच्छाकारो य निन्वाए,
 (८) तहकारो य पडिस्सुए,
 (९) अभ्युत्थानं गुरुपूया,
 (१०) अचछणे उवसंपदा ।

एवं कु पंचसंजुता, समाचारी पवेइया ।

—उत्त. अ. २६, गा. ५-७

वेयसिय समाचारी—

१५१. पुब्बित्तम्मि चउवभाए, आइच्चम्मि समुट्ठिए ।
 मण्डयं पडिलेहिता, वन्दिता य तओ गुरुं ॥
 पुच्छेज्ज पंजलिउडो, कि कायव्वं मए इहं ? ।
 इच्छं निओइव्वं भन्ते ! वेयावच्चे य सज्जाए ॥

वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वं अगिलायओ ।
 सज्जाए वा निउत्तेणं, सज्जवुक्खविमोक्खणे ॥

(पिछले पृष्ठ का शेष)

उत्तराध्यायन सूत्र

- (४) पडिपुच्छणा
 (५) छंदणा
 (६) इच्छाकार
 (७) मिच्छाकार
 (८) तहकार
 (९) अभ्युत्थान
 (१०) उवसंपदा

समाचारी का प्रवर्तन—

१५०. १. स्थान से बाहर जाते समय आवस्सही ३ कहना ।
 २. स्थान में प्रवेश करते समय निस्सही ३ कहना ।
 ३. अपना कार्य करने से पूर्व गुरु से अनुमति लेना ।
 ४. एक कार्य से दूसरा कार्य करते समय गुरु से पुनः अनुमति लेना ।
 ५. 'आपकी इच्छा हो तो इन पदार्थों में से कुछ लें' इस प्रकार गुरु आदि से कहना ।
 ६. सारणा में इच्छाकार का प्रयोग करे, आपकी इच्छा हो तो मैं आपका अमुक कार्य करूँ, आपकी इच्छा हो तो कृपया मेरा अमुक कार्य करें ।
 ७. साधु वृत्ति से विपरीत आचरण होने पर 'मिच्छामि पुक्कडं' देना ।
 ८. गुरु के वचनों को सुनकर 'तहसि'—'जैसा आपने कहा वैसा ही है' इस तरह कहना ।
 ९. गुरु के प्रति पूज्य भाव दिखाने के लिए गुरु के आने पर खड़ा होना ।
 १०. ज्ञान प्राप्ति के लिए आचार्य या उपाध्याय आदि के पास रहना ।
 यह दश प्रकार की समाचारी कही गई है ।

दिवस समाचारी—

१५१. सूर्य के उदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग में उपकरणों की प्रतिवेक्षना करे । तदनन्तर गुरु को वन्दना कर हाथ जोड़ कर पूछे—“अब मुझे क्या करना चाहिए ? भन्ते ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे वैयावृत्य या स्वाध्याय में से किसी एक कार्य में नियुक्त करें ।”
 वैयावृत्य में नियुक्त किये जाने पर अग्लान भाव से वैयावृत्य करे अथवा सर्व दुःखों से मुक्त करने वाले स्वाध्याय में नियुक्त किये जाने पर अग्लान भाव से स्वाध्याय करे ।

भगवती सूत्र

- (७) पडिपुच्छणा
 (८) छंदणा
 (१) इच्छाकार
 (२) मिच्छाकार
 (३) तहकार
 (६) निमन्त्रण
 (१०) उवसंपदा

६वीं १०वीं समाचारी का क्रम तीनों सूत्रों में समान है । शेष के क्रम में भिन्नता है । ६वीं समाचारी के नाम की भिन्नता है किन्तु अर्थ समान ही किया है ।

दिवसस्त चतुरो भागे, कुब्जा भिक्षू वियस्तुणो ।
ततो उत्तरगुणे कुब्जा, दिगभागेसु चतसु वि ॥
पदमं पोरिसि सज्जायं, चीप्रं क्षाणं श्रियायई ।
तइयाए भिक्षायरियं, पुणो चउत्थोए सज्जायं ॥

—उत्त. अ. २६, गा. ८-१२

पोरिसी विण्णाणं

१५२. आसाढे मासे दुपया, पोस मासे चउप्पया ।
चित्तासोएसु मासेसु, तिपया हवइ पोरिसी ॥

अंगुलं सत्तरत्तेणं, पक्खेणं य दुपंगुलं ।
वड्ढए हायए वावी, मासेणं चउरंगुलं ॥

—उत्त. अ. २६, गा. १३-१४

छ ओमरत्ताओ —

१५३. छ ओमरत्ता पणत्ता, तं जहा —

- (१) ततिए पव्वे,
- (२) सत्तमे पव्वे,
- (३) एक्कारसमे पव्वे,
- (४) पणरसमे पव्वे,
- (५) एगुणवीसइमे पव्वे,
- (६) तेवीसइमे पव्वे ।^१ —ठाणं. अ. ६, सु. ५२४ (क)

छ अतिरत्ताओ —

१५४. छ अतिरत्ता पणत्ता, तं जहा —

- (१) चउत्थे पव्वे,
- (२) अट्ठमे पव्वे,
- (३) बुवालसमे पव्वे,
- (४) सोलसमे पव्वे,
- (५) बीसइमे पव्वे,
- (६) चउवीसइमे पव्वे । —ठाणं. अ. ६, सु. ५२४ (ख)

पत्त-पडिलेहणा कालो—

१५५. जेट्ठामूले आसाढ सावणे, छहिं अंगुलोहिं पडिलेहा ।
अट्ठहिं बीय तियंमी, तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ॥

—उत्त. अ. २६, गा. १६

विचक्षण भिक्षु दिन के चार भाग करे । उन चारों भागों में स्वाध्याय आदि उत्तरगुणों की आराधना करे ।

प्रथम प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे प्रहर में ध्यान करे । तीसरे प्रहर में भिक्षाचरी और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे ।

पौरुषी विज्ञान—

१५२. आषाढ़ मास में दो पाद प्रमाण पौष मास में चार पाद प्रमाण, चैत्र तथा आश्विन मास में तीन पाद प्रमाण छाया होने पर पौरुषी होती है ।

सात दिन रात में एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और एक मास में चार अंगुल वृद्धि और हानि होती है । (श्रावण मास से शीत तक वृद्धि और माघ से आषाढ़ तक हानि होती है ।)

छः क्षय तिथियां—

१५३. छह अवसरत्र (क्षय तिथियां) होते हैं, यथा—

१. तीसरे पर्व—आषाढ़ कृष्णपक्ष में,
२. सातवें पर्व—भाद्रपद कृष्णपक्ष में,
३. ग्यारहवें पर्व—कार्तिक कृष्णपक्ष में,
४. पन्द्रहवें पर्व—पौष कृष्णपक्ष में,
५. उन्नीसवें पर्व—फाल्गुन कृष्णपक्ष में,
६. तेईसवें पर्व—वैशाख कृष्णपक्ष में,

छः वृद्धि तिथियां—

१५४. छह अतिरत्र (वृद्धि तिथियां) होती हैं, यथा—

१. चौथे पर्व—आषाढ़ शुक्लपक्ष में,
२. आठवें पर्व—भाद्रपद शुक्लपक्ष में,
३. बारहवें पर्व—कार्तिक शुक्लपक्ष में,
४. सोलहवें पर्व—पौष शुक्लपक्ष में,
५. बीसवें पर्व—फाल्गुन शुक्लपक्ष में,
६. चौबीसवें पर्व—वैशाख शुक्लपक्ष में,

पात्र-प्रतिलेखना का काल—

१५५. ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण इस प्रथम त्रिक में छह अंगुल, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक इस द्वितीय त्रिक में आठ अंगुल, मृगशिर, पौष, माघ इस तृतीय त्रिक में दस अंगुल और फाल्गुन, चैत्र, वैशाख इस चतुर्थ त्रिक में आठ अंगुल पौरुषी के माप में वृद्धि करने से पौन पौरुषी (अर्थात् पात्र-प्रतिलेखना) का समय होता है ।

पठम पोरिसी समाचारी—

१५६. पुण्यत्तंसि चउवमाए, पडिलेहिताण भण्डयं ।
गुहं वन्वित्तु सञ्जायं, कुज्जा बुक्खविमोणएण ॥

पोरिसीए चउवमाए, वन्विताण तओ गुहं ।
अपडिक्खमिस्स कालस्स, भायणं पडिलेहए ॥

—उत्त. अ. २६, गा. २१-२२

पडिलेहणा विही—

१५७. मुहपोत्तियं पडिलेहिता, पडिलेहिज्ज गोच्छयं ।
गोच्छयसइयंगुत्तिओ, वत्थाइं पडिलेहए ॥

उड्डं थिरं अतुरियं, पुच्छं ता वत्थमेव पडिलेहे ।
तो थिइयं पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ॥

अणन्वावियं अवसियं, अणाणुवन्धि अमोससि चेव ।
छप्पुरिमा नव खोडा, पाणीपाणविसोहणं ॥

—उत्त. अ. २६, गा. २३-२५

पडिलेहणा दोसाई—

१५८. (१) आरमडा, (२) सम्मदा,
वज्जेवव्वा य मोसली (३) तइया ।
पप्फोडणा (४) चउवयी,
विक्खित्ता (५) वेइया (६) छट्टा ॥

(७) पसिदिल (८) पलम्ब (९) लोला,
(१०) एगासोसा (११) अण्णेरुवधुणा ।

कुण्ड (१२) पसाणि-पमार्यं,
संकिए गणणोअगं (१३) कुज्जा ॥

—उत्त. अ. २६, गा. २६-२७

प्रथम पौरुषी की समाचारी—

१५६. दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में उपकरणों का प्रतिलेखन कर, गुह की वन्दना कर, गुह से मुक्त करने वाला स्वाध्याय करे ।

पौन पौरुषी दीत जाने पर गुह को वन्दना करके स्वाध्याय काल का प्रतिक्रमण कायोत्सग किए बिना ही पात्र की प्रतिलेखना करे ।

प्रतिलेखना की विधि—

१५७. मुख-त्रस्थिका की प्रतिलेखना कर गोच्छय की प्रतिलेखना करे और गोच्छय को अंगुलियों से एकटकर वस्त्रों की प्रतिलेखना करे ।

प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊँचा रखे, स्थिर रखे और शीघ्रता किए बिना उसकी प्रतिलेखना करे । दूसरे में वस्त्र को झटकाए और तीसरे में वस्त्र को प्रमार्जना करे ।

प्रतिलेखना करते समय—१. वस्त्र या शरीर को न नचाए, २. वस्त्र कहीं मुड़ा हुआ न रहे, ३. वस्त्र पर निरन्तर उपयोग रखे, ४. भीत आदि से वस्त्र का स्पर्श न करे, ५. वस्त्र के छह पूर्व और नी खोटक करे और ६. जो कोई प्राणी हो उसको हाथों पर लेकर विशोधन करे ।

प्रतिलेखना के दोष—

१५८. (१) आरमडा—उत्तावल से प्रतिलेखना करना ।
(२) सम्मदा—उपधि पर बैठकर प्रतिलेखना करना ।
(३) मोसली—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे, तिरछे दिवाल आदि से संघट्टित करना ।
(४) प्रस्फोटना—अवतना से वस्त्र को झटकना ।
(५) विक्खित्ता—प्रतिलेखित-अप्रतिलेखित वस्त्रों को एक साथ रखना ।
(६) वेदिका—विपरीत आसन से बैठकर प्रतिलेखना करना ।
(७) प्रशिथिल—वस्त्र को ढीला पकड़ना ।
(८) प्रलम्ब—वस्त्र की प्रतिलेखना दूर से करना ।
(९) लोल—प्रतिलेख्यमान वस्त्र का भूमि से संघर्ष करना ।
(१०) एकामशा—एक दृष्टि में ही समूचे वस्त्र को देख लेना ।

(११) अनेक रूप धूनना—वस्त्र को अनेक बार झटकना ।

(१२) प्रमाण-प्रमाद—प्रस्फोटन प्रमार्जन का जो प्रमाण बताया है उसमें प्रमाद करना ।

(१३) गणनोपगणना—प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट प्रमाण में शंका होने पर उसकी गिनती करना ।

अणूणाहरित्त-पडिलेहणा—

१५६. अणूणाहरित्तपडिलेहा अविवक्षासा तहेव य ।
पढमं पथं पसत्थं सेसाणि उ अप्पसत्थाइं ॥

—उत्त. अ. २६, गा. २८

पडिलेहणा पमत्तो विराहओ

१६०. पडिलेहणं कुणन्तो, मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा ।
वेइ थ एच्चवण्णाणं, वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥

पुडवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं ।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ ॥

—उत्त. अ. २६, गा. २६-३०

पडिलेहणा आउत्तो आराहओ—

१६१. पुडवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं ।
पडिलेहणाउत्तो छण्हं आराहओ होइ ॥

—उत्त. अ. २६, गा. ३०

तइयाए पोरिसीए समायारी—

१६२. तइयाए पोरिसीए भत्तं पाणं गवेसए ।
छण्हं असयरागम्मि, कारणंमि समुट्ठिए ॥

—उत्त. अ. २६, गा. ३१

चउत्थोए पोरिसीए समायारी—

१६३. चउत्थोए पोरिसीए, निबिस्सवित्ताण भायणं ।
सज्जायं तओ कुज्जा, सम्बन्धावविभावणं ॥
पोरिसीए चउत्थोए, वण्वित्ताण तओ गुरुं ।
पडिक्कमित्ता कालस्स, सेज्जं तु पडिलेहए ॥

पासवणुक्कारभूमिं च, पडिलेहिज्ज जयं जई ।
काउस्सगं तओ कुज्जा, सम्बन्धुक्खविमोक्खणं ॥

—उत्त. अ. २६, गा. ३६-३८

वेवसिय-पडिक्कमण समायारी—

१६४. वेवसियं च अईयारं, चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणे य दंसणे जेव, चरित्तम्मि तहेव य ॥
पारिय-काउस्सगो, वण्वित्ताण तओ गुरुं ।
वेवसियं तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कमं ॥
पडिक्कमित्तु निस्सत्तो, वण्वित्ताण तओ गुरुं ।
काउस्सगं तओ कुज्जा, सम्बन्धुक्खविमोक्खणं ॥
पारियकाउस्सगो, वण्वित्ताण तओ गुरुं ।
“पुडमंगलं च काऊणं” कालं संपडिलेहए ॥

—उत्त. अ. २६, गा. ३६-४२

अन्यूनाधिक प्रतिलेखना—

१५६. प्रतिलेखना के विषय में शास्त्रोक्त विधि से कम न करना, अधिक न करना और विपरीत न करना यह प्रथम विकल्प प्रशस्त है और शेष अप्रशस्त है ।

प्रतिलेखना-प्रमत्त विराधक—

१६०. जो प्रतिलेखना करते समय परस्पर वार्तालाप करता है, जन-पद की कथा करता है, प्रत्याख्यान कराता है, दूसरों को पढ़ाता है अथवा स्वयं पढ़ता है ।

इस प्रकार प्रतिलेखना में प्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और असकाय—इन छहों कायों का विराधक होता है ।

प्रतिलेखना में उपयुक्त आराधक—

१६१. प्रतिलेखना में अप्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और असकाय—इन छहों कायों का आराधक होता है ।

तृतीय पौरुषी समाचारी—

१६२. छह कारणों में से किसी एक के उपस्थित होने पर तीसरे प्रहर में भक्त और पान की गवेषणा करे ।

चतुर्थ पौरुषी समाचारी—

१६३. चौथे प्रहर में प्रतिलेखना करके पात्रों को बांध कर रख दे, फिर सर्व भावों को प्रकाशित करने वाला स्वाध्याय करे ।

चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में (पौन पौरुषी बीत जाने पर) गुरु को वन्दना कर, स्वाध्याय काल का प्रतिक्रमण कर शय्या की प्रतिलेखना करे ।

यतनाशील मुनि फिर प्रसन्न और उच्चार-भूमि की प्रतिलेखना करे । तदनन्तर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

द्वैतसिक प्रतिक्रमण समाचारी—

१६४. ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में नये दिन सम्बन्धी अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करे ।

कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे । फिर अनुक्रम से दिन सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना करे ।

प्रतिक्रमण से निःशल्क होकर गुरु को वन्दना करे । फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे । फिर ‘स्तुति-मंगल’ (शमोत्थुणं का पाठ) करके स्वाध्याय काल की प्रतिलेखना करे ।

निद्राशीलो पावसमणो—

१६५. जे के हमे पव्वइए, निद्राशीले पगामसो ।
भोक्खा पेज्जा सुहं सुवइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ।

—उत्त. अ. १७, गा. ३

राईय समायारी—

१६६. रत्ति पि चउरो भागे, भिक्खु कुज्जा विवक्खणो ।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, राइभाएसु चउसु वि ॥
पढमं पोरिसि सज्जायं, ओयं साणं शिवायइ ।
तइयाए निहमोक्खं तु, चउत्थो भुज्जो वि सज्जायं ॥

—उत्त. अ. २६, गा. १७-१८

राईय पोरिसी विण्णाणं—

१६७. जं नेइ जया रत्ति, नक्खत्तं तंमि नह-चउवभाए ।
संपत्ते धिरमेज्जा, सज्जायं पओस-कालम्मि ॥

तम्मैव य नक्खत्ते, गयण-चउवभाय-सावसेसंमि ।
धेरत्तियं पि कालं, पडिलेहिता भुणी कुज्जा ॥

—उत्त. अ. २६, गा. १९-२०

राईय-चउत्थीए पोरिसीए समायारी—

१६८. “पोरिसीए चउत्थीए, कालं तु पडिलेहिता ।
सज्जायं तओ कुज्जा, अबोहत्तो असंजए ॥
पोरिसीए चउवभाए, “अन्दिक्खण तओ गुरु” ।
पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए ॥

आगए काय-वोस्सग्गे, सब्ब-दुक्ख-विमोक्खण्णे ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सब्ब-दुक्ख-विमोक्खणं ॥

—उत्त. अ. २६, गा. ४४-४६

राईय पडिक्कमण समायारी—

१६९. राइयं च अईयारं, चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणंमि संसर्णमि, धरित्तंमि तवंमि य ॥
पारिय काउस्सग्गो, अन्दिक्खण तओ गुरु ।
राइयं तु अईयारं, आलोएज्जा जहक्कमं ॥
पडिक्कमित्तु निस्सत्तो, वन्दिक्खण तओ गुरु ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सब्ब-दुक्ख-विमोक्खणं ॥
कि तवं पडिक्कज्जामि, एवं तस्थ विचिन्तए ।
काउस्सग्गं तु पारित्ता, करिज्जा जिणसंयवं ॥

निद्राशील पापश्रमण—

१६५. जो प्रव्रजित होकर बार-बार नींद लेता है, खा-पीकर आराम से लेट जाता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

रात्रि-समाचारी—

१६६. विवक्षण भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे । उन चारों भागों में स्वाध्याय आदि उत्तर गुणों की आराधना करे ।

प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरी में ध्यान, तीसरी में निद्रा और चौथी में पुनः स्वाध्याय करे ।

रात्रि पीरुषी विज्ञान—

१६७. जो नक्षत्र जिस रात्रि को बहने करता है, वह नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थ भाग में आये तब प्रदोष-काल (रात्रि के प्रारम्भ) में प्रारम्भ की हुई स्वाध्याय से विरत हो जाए ।

वही नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थ भाग में शेष रहे तब वैरात्रिक काल अर्थात् रात का चतुर्थ प्रहर आया हुआ जानकर भुनि फिर स्वाध्याय काल की प्रतिलेखना करे ।

रात्रि के चतुर्थ प्रहर की समाचारी—

१६८. चौथे प्रहर में काल की प्रतिलेखना कर असंयत व्यक्तियों को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे अर्थात् ऊँचे स्वर से न बोले ।

रात्रि के चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में गुरु को वन्दना करे, स्वाध्याय काल से निवृत्त होकर प्रतिक्रमण काल की प्रतिलेखना करे ।

कायोत्सर्ग का समय आने पर सर्व प्रकार के दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

रात्रि प्रतिक्रमण समाचारी—

१६९. ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप में लगे रात्रि सम्बन्धी अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करे ।

कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे । फिर अनुक्रम से रात्रि सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना करे ।

प्रतिक्रमण से निःशक्त्य होकर गुरु को वन्दना करे, फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

मैं कौन-सा तप ग्रहण करूँ ? कायोत्सर्ग में इस प्रकार का चिन्तन करे । फिर कायोत्सर्ग को समाप्त कर जिन संस्तव (लोमस्स का पाठ) करे ।

पारिय-काउस्सगो, वन्विताण तओ गृहं ।
तवं संपडिवज्जेत्ता, कुज्जा सिद्धाण संयमं ॥

—उत्त. अ. २६, गा. ४७-५१

उपसंहारो—

१७०. ऐसा सामाचारी, समासेण विवाहिया ।
जं चरित्ता बहु ओवा, तिण्णा संसार सागरं ॥

— ति वेमि ।

—उत्त. अ. २६, गा. ५२

कामोत्सर्ग पारित होने पर (जिन संस्तव करके) मुनि गुरु को वन्दना करे । फिर तप को स्वीकार कर सिद्धों की स्तुति (णमोत्पुणं का पाठ) करे ।

उपसंहार—

१७०. यह समाचारी मैंने संक्षेप में कही है । इसका आवरण कर बहुत से जीव संसार-सागर से तिर गये ।

—ऐसा मैं कहता हूँ :



वर्षावास-समाचारी—२

वासावासे संपत्ते विहार-णिसेहो—

१७१. अब्भुवगते खलु वासावासे अभिपवुट्ठे, बह्वे पाणा अभि-
संभूया, बह्वे बीया अहुणुत्तिमण्णा, अंतरा से मग्गा बहुपाणा
-जाव-मक्कडा-संताणगा, अणभिककंता, पंथा, णो विण्णाया
मग्गा, सेवं णक्खा णो गामाणुगामं हूइज्जेज्जा^१, ततो
संजयामेव वासावासं उवह्लिएज्जा ।

—आ. सु. २, अ. ३, उ. १, सु. ४६४

वासावास-अजोगं खेतं—

१७२. से भिक्खू वा भिक्खूणी वा से उजं पुण जाणेज्जा गामं वा
-जाव-रायहाणि वा,
इमंसि खलु गामंसि वा-जाव-रायहाणिसि वा णो महती
विहारभूमि, णो महती वियरभूमि ।

णो सुलभे पीढ-कलग-सेज्जा संथारए णो सुलभे कामुए-ऊंछे
अहेसणिज्जे,

बह्वे जरथ समण-भाहण-अतिहि-किवण-वणीमगा-उवागता,
उवागमिस्संति य, अक्खाइण्णा-विस्ती, णो पणस्स णिकलमण
पवेसाए-जाव-धम्माणुओम-चित्ताए ।

सेवं णक्खा सहप्पगारं गामं वा-जाव-रायहाणि वा णो
वासावासं उवह्लिएज्जा ।

—आ. सु. २, अ. ३, उ. १, सु. ४६५

वर्षाकाल आ जाने पर विहार का निषेध—

१७१. वर्षाकाल आ जाने पर वर्षा हो जाने से बहुत से प्राणी
उत्पन्न हो गये हों, बहुत से बीज अंकुरित हो गये हों, मार्ग के
बीच में बहुत से जीव चलने हों - यावत्—मकड़ी के जाले हो
गये हों, वर्षा के कारण मार्ग चलने योग्य न रहे हों या मार्ग का
पता नहीं चलता हो, ऐसी स्थिति जानकर साधु एक ग्राम से
दूसरे ग्राम को विहार न करे । अपितु यतनापूर्वक वर्षावास
स्थित करे ।

वर्षावास के अयोग्य क्षेत्र—

१७२. वर्षावास करने वाले भिक्षु वा भिक्षुणी उस ग्राम—यावत्—
राजधानी की स्थिति जाने कि—

इस ग्राम—यावत्—राजधानी में स्वाध्याय करने योग्य
विशाल भूमि नहीं है, मल-सूत्र त्यागने के लिए योग्य विशाल
भूमि नहीं है ।

चौकी, पाटे, शय्या एवं संस्तारक की प्राप्ति भी सुलभ नहीं
है और न श्रासुक निर्दोष एवं एषणीय आहार पानी ही सुलभ है ।

जहाँ बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्री और भिखारी
लोग पहले से आए हुए हैं और भी दूसरे आने वाले हैं, जिससे
मरिने वालों की अत्यन्त भीड़ रहती है, प्रज्ञावान साधु-साध्वी
को वहाँ निकलना और प्रवेश करना—यावत्—धर्मचिन्तन
करना उपयुक्त नहीं हो सकता है ।

यह जानकर ऐसे ग्राम—यावत्—राजधानी में वर्षावास
न करे ।

१ णो कप्पइ णिगंधाण वा णिगंधीण वा वासावासासु चारए ।

वासावसजोग खेत -

१७३. से भिक्षू वा भिक्षुणी वा से ज्ञं पुण जाणेज्जा गामं वा
-जाव-रायहाणि वा,
इमंसि खसु गामंसि वा-जाव-रायहाणिसि वा महती विहार-
भूमो, महती विहारभूमि ।
सुत्तमे जत्थ-पीठ-फलक-सेज्जा-संथारए, सुत्तमे फासुए उंछे-
अहेसणिज्जे,

णो जत्थ बहुवे समण-जाव-वणीमगा उवागया उवागमिस्संति
य, अप्पाइणा-विस्ती, पणस्स निक्खमण एवेसाए-जाव-
धम्मणुओग-चित्ताए ।

सेवं णच्चा तहप्पगारं गामं वा-जाव-रायहाणि वा ततो
संजयामेव वासावासं उवल्लिज्जा ।

आ. सु. २, अ. ३, उ. १, सु. ४६६

वासावासानंतर-विहार-अज्जोगं काल -

१७४. अह पुणेवं जाणेज्जा—चत्तारि मासा वासा-वासानं
वीतिक्कंता, हेमंताण य पंच-वस-रायकप्पे परिचुसिते,
अंतरा से मगा बहुपाणा जाव-संताणगा, णो जत्थ बहुवे
समण जाव-वणीमगा उवागया उवागमिस्संति य, सेवं णच्चा
णो गामाणुगामं वूड्ढिज्जा ।

—आ. सु. २, अ. ३, उ. १, सु. ४६७

वासावासानंतर विहार जोगं काल -

१७५. अह पुणेवं जाणेज्जा—चत्तारि मासा वासा-वासानं
वीतिक्कंता, हेमंताण य पंच-वस-रायकप्पे परिचुसिते अंतरा
से मगा अप्पाडा-जाव-संताणगा, बहुवे जत्थ समण-जाव-
वणीमगा उवागया उवागमिस्संति य । सेवं णच्चा ततो
संजयामेव गामाणुगामं वूड्ढिज्जा ।

—आ. सु. २, अ. ३, उ. १, सु. ४६८

वासावासावगह खेतपमाण -

१७६. वासावासं पज्जोसविद्याणं कप्पइ निगंथाण या, निगंथीण
वा सव्वओ समंता सव्वओसं ओवणं उग्गहे ओगिण्हित्ताणं
चिट्ठिउं अहालवमयि उग्गहे । —दमा. द. ८, सु. ८

वासावासे विहार करण विहि णिसेहो -

१७७. णो कप्पइ निगंथाण वा निगंथीण वा पढमपाउसंसि
गामाणुगामं वूड्ढिज्जा ।

पंचहि ठाणेहि कप्पइ, तं जहा -

वर्षावास योग्य क्षेत्र -

१७३. वर्षावास करने वाला भिक्षु या भिक्षुणी यदि ग्राम-यावत्-
राजधानी के सम्बन्ध में यह जाने कि -

इस ग्राम-यावत्-राजधानी में स्वाध्याय करने योग्य
विशाल भूमि है, मल-मूत्र विसर्जन के लिए विशाल भूमि है ।

यहाँ पीठ, फलक, शय्या एवं संस्तारक की प्राप्ति भी सुलभ
है, साथ ही प्रासुक निर्दोष एवं एषणीय आहार पानी भी
सुलभ है ।

यहाँ बहुत से श्रमण-यावत्-भिक्षारी आये हुए नहीं हैं
और न आयेगे, अतः यहाँ माँगने वालों की भीड़ भी नहीं रहती
है, प्रज्ञावान साधु-साध्वी को यहाँ निकलना और प्रवेश करना
—यावत्-धर्मचिन्तन करना उपयुक्त हो सकता है ।

यह जानकर ऐसे ग्राम-यावत्-राजधानी में यतनापूर्वक
वर्षावास व्यतीत करे ।

वर्षावास के बाद विहार के अयोग्य काल -

१७४. यदि साधु-साध्वी यह जाने कि वर्षाकाल के चार मास
व्यतीत हो चुके हैं तथा हेमन्त ऋतु के पाँच या दस दिन व्यतीत
हो गये हैं । उस समय यदि मार्ग में अंडे हो-यावत्-मकड़ी
के जालों से युक्त हो, बहुत से श्रमण-यावत्-वणीमक आदि
उन मार्गों से आए न हों, न ही आने वाले हों तो यह जानकर
ग्रामानुग्राम विहार न करे ।

वर्षावास के बाद विहार के योग्य काल -

१७५. यदि साधु साध्वी यह जाने कि वर्षाकाल के चार मास
व्यतीत हो चुके हैं तथा हेमन्त ऋतु के पाँच दस दिन व्यतीत हो
गए हैं । उस समय यदि मार्ग में अंडे नहीं हैं-यावत्-मकड़ी
के जाले नहीं हैं । बहुत से श्रमण-यावत्-भिक्षारी भी उन
मार्गों पर आने जाने लगे हैं, या आने जाने वाले भी हैं तो यह
जानकर साधु यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार कर सकता है ।

वर्षावास के अवग्रह क्षेत्र का प्रमाण -

१७६. वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को चारों
दिशाओं में तथा विदिशाओं में एक कोश सहित एक योजन क्षेत्र
का अवग्रह (स्थान) ग्रहण करके रहना कल्पता है । उस अवग्रह
से बाहर "यथालब्ध काल" ठहरना भी नहीं कल्पता है ।

वर्षावास में विहार करने का विधि-निषेध -

१७७. निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को प्रथम प्रावृद्ध में ग्रामानुग्राम
विहार करना नहीं कल्पता है -

किन्तु पाँच कारणों से विहार करना कल्पता है । जैसे -

(१) भयंसि वा,

(२) दुष्मिक्खंसि वा,

(३) भयहेज्ज वा णं कोई,

(४) दओघंसि वा एज्जमाणंसि,

(५) महता वा अणारिएहि (उवह्वमाणेहि) ।

वासावासं पज्जोसवियाणं णो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गं-
थोण वा गामाणुगामं बूइज्जत्तए ।

पंचहि ठाणोहि कप्पइ, तं जहा—

(१) णाणट्टयाए,

(२) दंसणट्टयाए,

(३) चरित्तट्टयाए,

(४) आयरिए उवज्जाया वा से बीसुंभेज्जा,

(५) आयरिय-उवज्जायाण वा बहिया वेआवज्जं-करणयाए ।

— ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४१३

वासावासे गिलाणहु गमण खेत्तप्पमाणं —

१७८. वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथोण
वा गिलाणहेज्जं-जाव-वसारि पंच जोयणाइं गंतुं पड्डिनि-
यत्तए ।

अंतरा वि से कप्पइ वरथए,

नो से कप्पइ तं रयणि तत्थेव उवायणावित्तए ।

— दत्ता. द. ८, सु. ७५

पठम-वितीयपाउसमि विहार करण पायच्छित्त सुत्ताइं—

१७९. जे भिक्खू पठम^१-पाउसमि गामाणुगामं बूइज्जइ, बूइज्जंतं
वा साइज्जइ ।जे भिक्खू वासावासंसि पज्जोसविथंसि बूइज्जइ, बूइज्जंतं
वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठारणं अणुग्घाइयं ।

— नि. उ. १०, सु. ४०-४१

(१) शरीर या उपकरण आदि के अपहरण का भय होने पर ।

(२) दुर्भिक्ष होने पर ।

(३) किसी के द्वारा व्यथित किये जाने पर (या ग्राम से निकाल दिये जाने पर) ।

(४) बाढ़ आ जाने पर ।

(५) अनाथों के द्वारा उपद्रव किये जाने पर ।

वर्षावास में पर्युषण करने के बाद निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियां को ग्रामनुग्राम विहार करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु पाँच कारणों से विहार करना कल्पता है । जैसे—

(१) विज्ञेय ज्ञान की प्राप्ति के लिए ।

(२) दर्शन-प्रभावक शास्त्र का अर्थ पाने के लिए ।

(३) चारित्र की रक्षा के लिए ।

(४) आचार्य या उपाध्याय की मृत्यु हो जाने पर ।

(५) अन्यत्र रहे हुए आचार्य या उपाध्याय की वेयावृत्य करने के लिए ।

वर्षावास में ग्लान हेतु गमन का क्षेत्र प्रमाण—

१७८. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को ग्लान के लिए चार पाँच योजन तक जाकर लौट आना कल्पता है ।

मार्ग में रात्रि रहना भी कल्पता है,

किन्तु जहाँ जावे वहाँ रात रहना नहीं कल्पता है ।

प्रथम-द्वितीय प्रावृट् में विहार करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

१७९. जो भिक्षु प्रथम वर्षावास (संवत्सरी के पूर्व) में ग्रामानुग्राम विहार करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु वर्षावास रहने पर (संवत्सरी के बाद) विहार करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुद्वातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।



१ बहुत्कल्प उद्दे० १, सु० ३५, की नियुक्ति: गा० २७३४ में वर्षावास दो प्रकार का कहा है—

(१) प्रावृट् और (२) वर्षात्र ।

श्रावण और भाद्रपद मास “प्रावृट्”, आश्विन और कार्तिक मास “वर्षात्र” कहे जाते हैं ।

निर्णीय खूणि भाग ३, पृ० ७७४ में भी यही कहा गया है ।

ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४१३, टीका पृ० ३०८ में वर्षाकाल के चार मास को प्रावृट् कहा है तथा प्रावृट् के दो भाग किए गए हैं ।

प्रथम प्रावृट् पचास दिन का, द्वितीय प्रावृट् शतर दिन का ।

वर्षावास आहार समाचारी—३

सर्वत्र आयरियाईणं आणाए समणं अणाणाए अगमणं—

सर्वत्र आचार्यादि की आज्ञा से जाना, बिना आज्ञा के नहीं जाना—

१८०. वासावासं पज्जोसविणं भिक्षुं इच्छिज्जा गाहावडकुलं भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ।

१८०. वर्षावास रहा हुआ भिक्षु गृहस्थों के घरों में भक्त-पान के लिए निष्क्रमण और प्रवेश करना चाहे तो—

तो से कप्पइ अणापुच्छित्ता,

(१) आयरियं वा, (२) उच्चज्जायं वा, (३) थेरं वा,
(४) पवत्तयं वा, (५) गणिं वा, (६) गणहरं वा,
(७) गणावच्छेदयं वा, जं च वा पुरओ काउं विहरइ ।(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) स्थविर
(४) प्रवर्तक, (५) गणित, (६) गणधर या
(७) गणावच्छेदक अथवा जिसको अग्रणी मानकर वह विचर रहा हो, उन्हें पूछे बिना आना-जाना नहीं कल्पता है ।

कप्पइ से आपुच्छित्तं-आयरियं वा-नाव गणावच्छेदयं वा, जं च वा पुरओ काउं विहरइ—

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको अग्रणी मानकर वह विचर रहा हो उन्हें पूछकर ही आना-जाना कल्पता है ।

(आज्ञा लेने के लिए भिक्षु इस प्रकार कहे—)

“इच्छामि णं भन्ते ! तुदभेहि अन्नणुणाए समाणे गाहावड-कुलं भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ?”

“हे भगवन् ! आपकी अपनी आज्ञा मिलने पर गृहस्थों के घरों में भक्त-पान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना चाहता हूँ ।”

ते य से विपरेज्जा, एवं से कप्पइ गाहावडकुलं भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ।

यदि आचार्यादि आज्ञा दे तो गृहस्थों के घरों में भक्तपान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना कल्पता है ।

ते ये से नो विपरेज्जा, एवं से नो कप्पइ गाहावडकुलं भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ।

यदि आचार्यादि आज्ञा न दें तो गृहस्थों के घरों में भक्तपान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना नहीं कल्पता है ।

प०—से किमाहु भन्ते !

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा क्यों कहा ?

उ०—आयरिया पच्चवायं जाणंति ।

उ०—आचार्यादि आने वाली विघ्न-बाधाओं को जानते हैं ।

एवं विहारभूमिं वा, विगारभूमिं वा, अन्नं वा किञ्चि गओअणं, एवं गामाणुगामं दूइज्जित्तए ।

इसी प्रकार स्वाध्याय भूमि और शौचभूमि या अन्य भी किसी प्रयोजन के लिए उक्त आचार्यादि की आज्ञा लेकर ही आना-जाना कल्पता है ।

—दसा. द. ८, सु. ५१-६१

इसी प्रकार ग्रामानुग्राम जाने के लिए भी उक्त आचार्यादि की आज्ञा लेकर जाना-जाना कल्पता है ।

भिक्षापरियाए गमण जोगखेत्तां—

भिक्षाचर्या के लिए जाने योग्य क्षेत्र—

१८१. वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निगंथाण वा, निगंथीण वा सर्वओ समंता सकोसं जोयणं भिक्षापरियाए गंतुं पडि-नियत्तए ।

१८१. वर्षावास रहते वाले निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को एक कोश सहित एक योजन क्षेत्र में चारों ओर भिक्षाचर्या के लिए जाना एवं लौटकर आना कल्पता है ।

भिक्षारिया दिसंकहित्ता भिक्षुट्ठागमण विहाणं—

भिक्षाचर्या की दिशा कहकर भिक्षार्थ जाने का विधान—
१८२. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को किसी एक दिशा या विदिशा का निश्चय करके आहार पानी की गवेषणा करना कल्पता है ।

१८२. वासावासं पज्जोसवियाणं निगंथाण वा, निगंथीण वा कप्पइ अणुपरि दिसं वा अणुदिसं वा अणुगिज्जिय भत्तपाणं गवेसित्तए ।

प्र०—हे भगवन् ! आपने ऐसा क्यों कहा ?

प०—से किमाहु भन्ते !

उ०—वर्षाकाल में श्रमण भगवन्त प्रायः तपश्चर्या करते रहते हैं ।

उ०—उत्सर्गणं समणा भगवन्तो वासासु तवसंपडुत्ता सवन्ति ।

तवस्सी दुग्धले क्लिप्तं मुच्छिज्ज वा, पवडिज्ज वा,
तमेव दिसं वा अणुदिसं वा समणा भगवन्तो पडिजा-
गरंति । — दसा. द. ८, सु. ७४

निचचभत्तियस्स गोअरकाल विहाणं—

१८३. वासावासं पज्जोसविद्यस्स निचचभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ
एणं गोअरकालं गाहावडकुत्तं भत्ताए वा, पाणाए वा,
निषल्लमित्तए वा, पविसित्तए वा ।

नल्लत्थ आयरिय-वेयावच्चेण वा, उल्लसत्थ-वेयावच्चेण वा,
तवस्सि-वेयावच्चेण वा, गिल्लण-वेयावच्चेण वा, लुहुएण
वा अयंजण-जाणएणं । — दसा. द. ८, सु. १९-२४

निचचभत्तियस्स सव्वपाणम-गहण-विहाणं

१८४. वासावासं पज्जोसविद्यस्स निचचभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति
सव्वाइं पाणगाइं पडिगाहिस्सए । — दसा. द. ८, सु. २६

सङ्की कुल्लेसु अदिट्ठ जायणा णिसेहो—

१८५. वासावासं पज्जोसविद्याणं अत्थि णं थेराणं तहप्पगाराइं
कुत्ताइं कडाइं पत्तिआइं थिज्जाइं वेसासियाइं संमयाइं
बहुमयाइं अणुमयाइं भवन्ति ।

तत्थ से नो कप्पइ अदक्खु बहत्ताए “अत्थि ते आउसो ! इमं
वा, इमं वा”

प०—से किमाहु भन्ते !

उ०—सङ्की गिही गिण्हइ, तेणियं पि कुज्जा ।

— दसा. द. ८, सु. १८

आयरिय आणाणुसारेण भत्त-पाणगहणं वाणं च—

१८६. वासावासं पज्जोसविद्याणं अत्थेगहयाणं एवं वुत्तपुब्बं भवइ—
“दावे भन्ते !” एवं से कप्पइ दावित्तए, नो से कप्पइ पडि-
गाहिस्सए ।

वासावासं पज्जोसविद्याणं अत्थेगहयाणं एवं वुत्तपुब्बं भवइ—
“पडिगाहेहि भन्ते !” एवं से कप्पइ पडिगाहिस्सए, नो से
कप्पइ दावित्तए ।

वासावासं पज्जोसविद्याणं अत्थेगहयाणं एवं वुत्तपुब्बं भवइ—
“दावे भन्ते ! पडिगाहेहि भन्ते !” एवं से कप्पइ दावित्तए थि
पडिगाहिस्सए थि ।

अतः वे तपस्वी दुर्बल क्लान्त कहीं मूर्च्छित हो जाएँ या
गिर जाएँ तो साथ वाले भ्रमण भगवन्त उसी दिशा में उनकी
शोध कर सकें ।

नित्यभोजी के गोचरी जाने का विधान -

१८३. वर्षावास रहे हुए सदा आहार करने वाले भिक्षु के लिए
एक गोचर काल का विधान है और उस गृहस्थों के घरों में
भक्तपान के लिए एक बार निष्क्रमण-प्रवेश करना कल्पता है ।
किन्तु आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, ग्लान की वैयावृत्य करने
वाले तथा अप्राप्त यौवन वाले लघु शिष्यों को छोड़कर ।

(अर्थात् इनको अनेक बार भी जाना कल्पता है ।)

नित्यभोजी के लिए सर्व पेय ग्रहण करने का विधान—

१८४. वर्षावास रहे हुए नित्यभोजी भिक्षु के लिए सभी प्रकार
के अचित्त पानी ग्रहण करने कल्पते हैं ।

श्रद्धावान घरों में अदृष्ट पदार्थ माँगने का निषेध—

१८५. वर्षावास में रहने वाले साधु-साध्वी इस प्रकार के कुलों
को जाने कि—जिनको स्वयिरी ने प्रतिबोधित किये हैं, जो
प्रीतिकर हैं, दान देने में उदार हैं, विषयस्त हैं, जिनमें साधुओं
का प्रवेश सम्मत है, साधु सम्मान को प्राप्त है, साधुओं को दान
देने के लिए नौकरों को भी स्वामी द्वारा अनुमति दी हुई है ।
ऐसे कुलों में अदृष्ट वस्तु के लिए “हे आयुष्मन् ! तुम्हारे यहाँ
यह वस्तु है, वह वस्तु है ?” ऐसा पूछना नहीं कल्पता है ।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा क्यों कहा ?

उ०—श्रद्धालु गृहस्वामी भौगी गई वस्तु को खरीद कर
लायेगा या चुराकर लायेगा ।

आचार्य की आज्ञानुसार भक्त-पान ग्रहण करना और
देना—

१८६. वर्षावास रहे हुए साधुओं में से किसी साधु को आचार्य
इस प्रकार कहे कि “हे भदन्त ! आज तुम ग्लान साधु के लिए
आहार लाकर दो ।” तो लाकर देना उसे कल्पता है । किन्तु
स्वयं को दूसरों से ग्रहण करना नहीं कल्पता है ।

वर्षावास रहे हुए साधुओं में से किसी साधु को आचार्य इस
प्रकार कहे कि “हे भदन्त ! आज तुम दूसरों से आहार ग्रहण
करो ।” तो ग्रहण करना कल्पता है किन्तु दूसरे को देना नहीं
कल्पता है ।

वर्षावास रहे हुए साधुओं में से किसी साधु को आचार्य
इस प्रकार कहे कि “हे भदन्त ! तुम आज ग्लान साधु को
आहार लाकर दो और हे भदन्त ! तुम दूसरों से ग्रहण भी कर
लो ।” तो लाकर देना और स्वयं को ग्रहण करना भी
कल्पता है ।

वासावासं पञ्जोसविद्यां अरथेगह्यां एवं वृत्तपुष्पं भवद्—
“नो दावे भंते ! नो पडिगाहे भंते !” एवं से कप्पइ नो
वावित्तए, नो पडिगाहित्तए । —दसा. द. ८, सु. १२-१५

गिलाणं पुच्छिता एवं ग्लानं गहणं विहरणं—

१८७. वासावासं पञ्जोसविद्यां नो कप्पइ निर्गंधाण वा
निगंधीण वा अपरिणएणं अपरिणयस्स अट्ठाए असणं वा,
पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा पडिगाहित्तए ।

प०—से किमाहु भंते ?

उ०—इच्छा परो अपरिणए भुजिज्जा, इच्छा परो न
भुजिज्जा । —दसा. द. ८, सु. ४८

विगइ गहणं गिसेहो—

१८८ वासावासं पञ्जोसविद्यां नो कप्पइ निर्गंधाण वा
निगंधीण वा हट्ठाणं आरोग्गाणं खलियं—सरीराणं अण-
घरीओ विगईओ आहारित्तए । —दसा. द. ८, सु. १६

आयरिहेहि पुच्छिता एव विगइं गहणं विहरणं—

१८९. वासावासं पञ्जोसविद्यां भिक्खू इच्छिज्जा अण्णयारिं विगइं
आहारित्तए

नो से कप्पइ अणापुच्छिता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेययं
वा जं च वा पुरओ काजं विहरइ ।

कप्पइ से अणापुच्छिता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेययं वा,
जं वा पुरओ काजं विहरइ,

“इच्छामि णं भंते ! तुम्हेहि अभणुणाए समाने अणयरि
विगइं आहारित्तए, तं एवइयं वा, एवइल्लुओ वा ।”
ते य से विगरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णयारिं विगइं आहा-
रित्तए ।

ते य से नो विगरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णयारिं विगइं
आहारित्तए ।

प०—से किमाहु भंते !

उ०—आयरिआ पवधवायं आवांति ।

—दसा. द. ८, सु. ६२

वर्षावास रहे साधुओं में से किसी साधु को आचार्य इस
प्रकार कहे कि “हे भदन्त ! आज तुम ग्लान साधु को आहार
लाकर न दो और तुम स्वयं भी आहार ग्रहण न करो ।” तो न
देना कल्पता है और न स्वयं को ग्रहण करना कल्पता है ।

ग्लान को पूछकर के ही आहार पानी लाने का विधान—
१८७. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को ग्लान भिक्षु की
सूचना के बिना या उसे पूछे बिना अशन, पान, स्नाय, स्वाद्य
ग्रहण करना नहीं कल्पता है ।

प्र०—हे भगवन् ऐसा क्यों कहा ?

उ०—ग्लान की इच्छा हो तो वह अपरिणप्त (बिना मंगाया
हुआ) आहार भोगे, इच्छा न हो तो न भोगे ।

विकृति ग्रहण निषेध -

१८८. वर्षावास रहे हुए हृष्ट-पुष्ट, निरोग एवं सशक्त शरीर
वाले निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को कोई भी विकृतियों का आहार करना
नहीं कल्पता है ।

आचार्य से पूछकर ही विकृति ग्रहण करने का विधान—

१८९. वर्षावास में रहा हुआ भिक्षु किसी विगय का आहार
करना चाहे तो आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको
अगुआ मानकर वह विचार रहा हो उन्हें पूछे बिना सेना नहीं
कल्पता है ।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको
अगुआ मानकर वह विचार रहा हो उन्हें पूछकर सेना कल्पता है ।
(आज्ञा लेने के लिये भिक्षु इस प्रकार कहे—)

“हे भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो किसी विगय का आहार
करना चाहता हूँ । वह भी इतने परिमाण में और इतनी बार ।”

यदि वे आज्ञा दें तो किसी विगय का आहार करना
कल्पता है ।

यदि आज्ञा न दें तो किसी भी विगय का आहार करना
नहीं कल्पता है ।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—आचार्यादि आने वाली विघ्न बाधाओं को जानते हैं ।

१ (क) तदन अवस्था में विकृति ग्रहण का निषेध है परन्तु रुग्ण अवस्था में गुह आदि की आज्ञा लेकर विगय ग्रहण करना
कल्पता है ।

(ख) उत्त० अ० १७, भा० १५ में विगयभोजी को पापी श्रमण कहा है ।

(ग) विकृति के नव प्रकार—ठाणं० अ० ६, सु० ६७४

(घ) ठाणं० अ० ४, उ० १, सु० २७४ में ४ महाविगय का कथन है ।

(ङ) विकृति भक्षण प्रायश्चित्त नि० उ० ४, सु० २१

गिलाण्डा विगइ ग्रहण विधान—

१६०. वासावासं पञ्जोसविस्स निगंथस्स वा, निगंथीए वा,—

‘अट्ठो भन्ते ! गिलाणस्स’

से य वइज्जा — ‘अट्ठो’

से ये पुच्छियत्थे — ‘केवइएणं अट्ठो ?’

से ये वएज्जा — ‘एवइएणं अट्ठो गिलाणस्स,’

अं से पमाणं वयइ, से य पमाणओ विसत्थे ।

से य विप्रवेज्जा, से य विप्रवेमाणे लभेज्जा,
से य पमाणपत्ते होइ “असाहि” इय वसत्थं सिया ।

से किमाहु भन्ते !

एवइएणं अट्ठो गिलाणस्स,

सिया णं एवं वयंतं परो वइज्जा— ‘पडिगाहेइ अज्जो !
पच्छा तुमं भोषत्तसि वा, पाहिसि वा ।’

एवं से कप्पइ पडिगाहित्थए,

नो से कप्पइ गिलाणनीसाए पडिगाहित्थए ।

—दसा. द. ८, सु. १७

बुट्टिकाए णिवडिए पुव्वगहिय भत्त-पान भक्खण-विही—

१६१. वासावासं पञ्जोसविस्स निगंथस्स वा, निगंथीए वा,
गाहावइकुलं पिड्ढायपडियाए अणुपबिहुस्स निगिज्झिय
निगिज्झिय बुट्टिकाए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामंसि वा,
अहे उवस्सयंसि वा, अहे वियइगिहंसि वा, अहे क्खस्समूलंसि वा
उवागच्छित्तए^१ नो से कप्पइ पुव्वगहिएणं भत्त-पानेणं वेसं
उवायणावित्तए ।

कप्पइ से पुव्वामेव वियइगं भुज्जा, पिज्जा पडिगहणं
संसिहित्थ-संसिहित्थ संपमज्झिय-संपमज्झिय एगाययं भंजगं
कइट्ठु सावसेसे सारे जेणेव उवस्सए तेणेव उवागच्छित्तए ।

नो से कप्पइ तं रयणि सत्थेव उवायणावित्तए ।

—दसा. द. ८, सु. ४४

बुट्टिकाए णिवडिए णिगंथ-णिगंथीणं एगयओ चिट्ठण विही—

१६२. वासावासं पञ्जोसविस्स निगंथस्स वा, निगंथीए वा

ग्लान के लिए विवृति ग्रहण करने का विधान—

१६०. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थों में से वैयावृत्य करने वाला निर्ग्रन्थ आचार्य से पूछे कि—

“हे भगवन् ! आज किसी ग्लान के पथ्य की आवश्यकता है ?”

आचार्य कहे—‘हाँ आवश्यकता है ।’

निर्ग्रन्थ पूछे ‘कितनी मात्रा आवश्यक है ?’

आचार्य कहे—‘इतनी मात्रा आवश्यक है ।’

इस प्रकार वे जितना प्रमाण कहें उस प्रमाण से लाना चाहिए ।

वैयावृत्य करने वाला निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर जाकर पथ्य की याचना करे—तथा आवश्यकतानुसार प्राप्त होने पर “बस पर्याप्त है” इस प्रकार कहे ।

गृहस्थ यदि कहे “हे भदन्त ! बाप ऐसा क्यों कहते हैं ?”

तब निर्ग्रन्थ इस प्रकार कहे “ग्लान साधु के लिए इतनी ही पर्याप्त है ।”

इस प्रकार कहने पर भी यदि गृहस्थ कहे कि “हे आर्य ! और भी ग्रहण करो । ग्लान के उपयोग में आने के बाद आप भी खा लेना या पी लेना ।”

गृहस्थ के ऐसा कहने पर अधिक पथ्य लेना कल्पता है ।

किन्तु ग्लान के निमित्त से अधिक ग्रहण करना नहीं कल्पता है ।

वर्षा बरसने पर पूर्व गृहीत भक्त-पान के उपयोग की विधि—

१६१. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ गृहस्थों के घरों में आहार के लिए गये हुए हों और उस समय रुक-रुक कर वर्षा आने लगे तो उन्हें आराम गृह, उपाश्रय, विकट (चौतरफ से खुले) गृह और वृक्ष के नीचे आकर ठहरना कल्पता है । किन्तु पूर्व गृहीत भक्त पान से भोजन वेला का अतिक्रमण करना नहीं कल्पता है ।

(अर्थात् सूर्यास्त पूर्व) निर्दोष आहार खा-पीकर पात्रों को पोंछकर और साफ करके एकत्रित करे तथा सूर्य के रहते हुए जहाँ उपाश्रय हो वहाँ आ जाए ।

किन्तु वहाँ (अन्यत्र) रात रहना नहीं कल्पता है ।

वर्षा बरसने पर एक स्थान में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के ठहरने की विधि—

१६२. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ गृहस्थों के घरों में

गाहावहकुलं पिङ्गवाय-पङ्कियाए अणुपविट्टस्स निगिज्झय
निगिज्झय धुट्टिकाए निवड्जजइ कप्पइ से अहे आर.संसि
वा, अहे उवस्सयंसि वा, अहे वियडगिहंसि वा, अहे रुक्ख-
मूलंसि वा उवागच्छित्तए ।

१. तत्थ नो कप्पइ एगस्स निगंथस्स, एगाए य निगंथीए
एगयओ चिट्ठित्तए ।

२. तत्थ नो कप्पइ एगस्स निगंथस्स दुण्हं निगंथीणं एग-
यओ चिट्ठित्तए ।

३. तत्थ नो कप्पइ दुण्हं निगंथाणं एगाए य निगंथीए
एगयओ चिट्ठित्तए ।

४. तत्थ नो कप्पइ दुण्हं निगंथाणं, दुण्हं निगंथीणं य
एगयओ चिट्ठित्तए ।

अत्थि य इत्थ केइ पंचमे खुड्डए खुड्डीया वा अन्नेसि वा
संलोए सपडिबुवारे, एवं णं कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए ।

धासावासं पज्जोसविद्यस्स निगंथस्स गाहावहकुलं पिङ्गवाय-
पङ्कियाए अणुपविट्टस्स निगिज्झय निगिज्झय धुट्टिकाए
निवड्जजइ, कप्पइ से अहे आरामंसि वा, अहे उवस्सयंसि
वा, अहे वियडगिहंसि वा, अहे रुक्खमूलंसि वा उवा-
गच्छित्तए ।

तत्थ नो कप्पइ एगस्स निगंथस्स, एगाए य आगारीए
एगयओ चिट्ठित्तए ।

एवं चत्तारि भंगा भाणियव्वा ।

अत्थि या इत्थ केइ पंचमए थेरे वा, थेरियाइ वा, अन्नेसि
वा संलोए सपडिबुवारे, एवं णं कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए ।

एवं चेव निगंथीए अगारस्स य चत्तारि भंगा भाणियव्वा ।

—दमा. द. ८, सु. ४५-४७

उदजल्लकाएण आहार-णिसेहो—

१६३. वासावासं पज्जोसविद्यणं नो कप्पइ निगंथाणं वा,
निगंथीणं वा उदजल्लेण वा, ससिणिद्धेण वा काएणं असणं
वा-जाव-साइमं वा आहारित्तए ।

प०—से किमाहु भंते ?

उ०—सत्त सिणेहायवणा पण्णात्ता, तं जहा—

१. पाणी,	२. पाणिसेहा,
३. नहा,	४. नहसिहा,
५. भमुहा,	६. अहरोट्टा,
७. उत्तरोट्टा ।	

आहार के लिए गए हुए हों और उस समय रुक-रुक कर वर्षा
आने लगे तो उन्हें आराम-गृह, उपाश्रय, विकटगृह या वृक्ष के
नीचे आकर ठहरना कल्पता है ।

(१) किन्तु वहाँ अकेले निर्ग्रन्थ को अकेली निर्ग्रन्थी के साथ
ठहरना नहीं कल्पता है ।

(२) अकेले निर्ग्रन्थ को दो निर्ग्रन्थियों के साथ ठहरना नहीं
कल्पता है ।

(३) दो निर्ग्रन्थों को अकेली निर्ग्रन्थी के साथ ठहरना नहीं
कल्पता है ।

(४) दो निर्ग्रन्थों को दो निर्ग्रन्थियों के साथ ठहरना नहीं
कल्पता है ।

यदि वहाँ पर पाँचवां व्यक्ति बालक या बालिका कोई भी
हो अथवा वह स्थान आने-जाने वालों को स्पष्ट दिखाई देता हो
तो वहाँ पर एक साथ ठहरना कल्पता है ।

वर्षावास रहा हुआ निर्ग्रन्थ गृहस्थों के घरों में आहार के
लिए गया हुआ हो और उस समय रुक-रुक कर वर्षा आने लगे
तो उसे आरामगृह, उपाश्रय, विकटगृह या वृक्ष के नीचे आकर
ठहरना कल्पता है ।

किन्तु वहाँ अकेले निर्ग्रन्थ को अकेली स्त्री के साथ ठहरना
नहीं कल्पता है ।

इस प्रकार (उपरोक्त) चार भंग कह लेने चाहिये ।

यदि वहाँ पर पाँचवां स्थविर पुरुष या स्थविर स्त्री हो
अथवा वह स्थान आने-जाने वालों को स्पष्ट दिखाई देता हो तो
वहाँ पर एक साथ ठहरना कल्पता है ।

इसी प्रकार निर्ग्रन्थी और गृहस्थ पुरुष के चार भंग कहने
चाहिए ।

गीला शरीर हो तब तक आहार करने का निषेध—

१६३. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को वर्षा के जल से
स्वयं का शरीर गीला हो या वर्षा का जल स्वयं के शरीर से
टपकता हो तो अशन—यावत्—स्वाद्य आहार करना नहीं
कल्पता है ।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा क्यों कहा गया है ?

उ०—शरीर पर पानी टिकने के सात स्थान कहे गये हैं ।

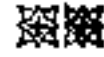
यथा—

(१) हाथ और,	(२) हाथ की रेखाएँ,
(३) नख और,	(४) नख के अग्रभाग,
(५) भौंह,	(६) दाढ़ी और
(७) मुँह ।	

अहं पुण एव जाणित्वा—विगओवणे मे काए छिन्नसिणेहे,
एवं से कप्पइ असणं वा-जाव-साइमं वा आहारित्तए ।

—दसा. द. ५, सु. ४६

यदि वह ऐसा जाने कि मेरे शरीर से वर्षा का जल निसर गया है अथवा वर्षा का जल सूख गया है तो उसे अणन-यावत्—स्वाद्य आहार करना कल्पता है ।



वर्षावास—तप-संलेखना समाचारी—४

आयरियाइएहि आपुच्छित्ता तथोकम्म करण विहाणं—

१६४. वासावासं पज्जोसविए भिक्खू इच्छेज्जा अण्णयरं ओरासं कल्लारं सिधं छण्णं मंगलं सत्तिरीयं महाणुभावं तथोकम्मं उवसंपज्जित्तणं विहरित्तए ।

मो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेययं वा जं च वा पुरओ काउं विहरइ ।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेययं वा जं च वा पुरओ काउं विहरइ ।

“इच्छामि णं भन्ते ! तुभेहि अण्णणुणाए सभाणे अण्णयरं ओरासं-जाव-तथोकम्मं उवसंपज्जित्तणं विहरित्तए तं एवइयं वा, एवइसुतो वा ।”

ते य से विरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णयरं ओरासं-जाव-तथोकम्मं उवसंपज्जित्तणं विहरित्तए ।

ते य से नो विरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णयरं ओरासं-जाव-तथोकम्मं उवसंपज्जित्तणं विहरित्तए ।

प०—से किमाहु भन्ते !

उ०—आयरिया पच्चवायं नाणंति ।

—दसा. द. ८, सु. ६४

चउत्थभत्तिस्स पाणगगहण विहाणं—

१६५. वासावासं पज्जोसविस्स-चउत्थभत्तिस्स भिक्खुस्स कप्पति सओ पाणगाइं पडिगाहित्तए, तं जहा—

१. उत्सेदमं,

२. संसेदमं,

३. चाउलोदमं ।

—दसा. द. ८, सु. ३०

छट्ठभत्तिस्स पाणग गहण विहाणं—

१६६. वासावासं पज्जोसविस्स छट्ठभत्तिस्स भिक्खुस्स कप्पति तओ पाणागाइं पडिगाहित्तए, तं जहा—

१. तिलोदमं वा,

२. तुसोदमं वा,

३. जलोदमं वा ।

—दसा. द. ८, सु. ३१

आचार्यादि से पूछकर तप करने का विधान—

१६४. वर्षावास रहा हुआ भिक्षु यदि किसी प्रकार का प्रशस्त, कल्याणकर, शिव-प्रद, धन्यकर, मंगलरूप, श्रेयुक्त, महाप्रभावक तपःकर्म स्वीकार करना चाहे तो—

आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको अगुआ मानकर वह विचर रहा हो उन्हें पूछे बिना तपःकर्म स्वीकार करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको अगुआ मानकर वह विचर रहा हो उन्हें पूछकर ही तपःकर्म स्वीकार करना कल्पता है ।

(आज्ञा लेने के लिए भिक्षु इस प्रकार पूछे—)

“हे भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो किसी प्रकार का प्रशस्त—यावत्—तपःकर्म स्वीकार करना चाहता हूँ वह भी अमुक प्रकार का और इतनी बार ।”

यदि वे आज्ञा दें तो अन्यतर प्रशस्त यावत्—तपःकर्म स्वीकार करना कल्पता है ।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्यतर प्रशस्त यावत्—तपःकर्म स्वीकार करना नहीं कल्पता है ।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—आचार्यादि आने वाली विघ्न-बाधाओं को जानते हैं ।

उपवास करने वाले के पानी ग्रहण करने का विधान—

१६५. वर्षावास रहे हुए चतुर्य भक्त (उपवास) करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी लेने कल्पते हैं । यथा—

(१) उत्सेदिस,

(२) संसेदिस,

(३) और चाखलों का धोवन ।

दो उपवास करने वाले के पानी ग्रहण करने का विधान—

१६६. वर्षावास रहे हुए षष्ठ भक्त (बेले) करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी लेने कल्पते हैं, यथा—

(१) तिलोदक,

(२) तुषोदक और,

(३) यवोदक ।

अट्टमभक्तियस्स पाणग ग्रहण विहाणं—

१६७. वासावासं पज्जोसवियस्स अट्टमभक्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ
तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए, स जहा—
१. आयामे वा, २. सोखीरे वा,
३. सुखवियडे वा ।^१ —दसा. द. ८, सु. ३२

विगिह्वभक्तियस्स उसिणोदग ग्रहण विहाणं—

१६८. वासावासं पज्जोसवियस्स विगिह्वभक्तियस्स भिक्खुस्स
कप्पइ एगे उसिणवियडे पडिगाहित्तए ।
से वि य णं असित्थे, नो वि य णं ससित्थे ।
—दसा. द. ८, सु. ३३

भत्त-पडियाइक्खियस्स उसिणोदग ग्रहण-विहाणं—

१६९. वासावासं पज्जोसवियस्स भत्तपडियाइक्खियस्स भिक्खुस्स
कप्पइ एगे उसिणवियडे पडिगाहित्तए ।
से वि य णं असित्थे, नो चेव णं ससित्थे ।
से वि य णं परिपुए, नो चेव णं अपरिपुए ।
से वि य णं परिमिए, नो चेव णं अपरिमिए ।
से वि य णं बहुसंपन्ने, नो चेव णं अबहुसंपन्ने ।
—दसा. द. ८, सु. ३४

दत्तिसंख्या-विहाणं—

२००. वासावासं पज्जोसवियस्स संख्यादत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पति
पंच दत्तीओ^२ भोअणस्स पडिगाहित्तए, पंच पाणगस्स ।

अह्वा चत्तारि भोअणस्स, पंच पाणगस्स ।
अह्वा पंच भोअणस्स, चत्तारि पाणगस्स ।
तत्थ णं एगा लोणासायणमवि पडिगाहिआ सिथा कप्पइ से
तद्दिअसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवित्तए ।
नो से कप्पइ दुच्चपि गाहावइ-कुलं भत्ताए वा पाणाए वा,
निक्खमित्तए वा, पडिसित्तए वा । —दसा. द. ८, सु. ३५

पज्जोसवणाए आहारकरणस्स पायच्छित्त सुत्तं—

२०१. जे भिक्खू पज्जोसवणाए इत्तरियं आहारं आहारेइ आहा-
रंतं वा साइअइ ।
तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुत्थाइयं ।
—नि. उ. १०, सु. ४५

तीन उपवास करने वाले के पानी ग्रहण करने का विधान—

१६७. वर्षावास रहे हुए अष्टम भक्त (तेले) करने वाले भिक्षु को
तीन प्रकार के पानी लेने कल्पते हैं यथा—
(१) आयाम, (२) सोवीर और,
(३) शुद्ध विकट जल ।

चार आदि उपवास करने वाले के गरम पानी ग्रहण करने
का विधान—

१६८. वर्षावास रहे हुए तेले से अधिक तपस्या करने वाले भिक्षु
को एकमात्र उष्ण अचित्त जल ग्रहण करना कल्पता है । वह
भी अन्न कण से रहित हो किन्तु अन्न कण युक्त नहीं हो ।

भक्त प्रत्याख्यान अनशन वाले के गरम पानी ग्रहण करने
का विधान—

१६९. वर्षावास रहे हुए भक्त प्रत्याख्यानी भिक्षु को एक मात्र
उष्ण अचित्त जल ग्रहण करना कल्पता है ।
वह भी असिक्थ हो, ससिक्थ न हो ।
वह भी छाना हुआ हो, बिना छाना न हो ।
वह भी परिमित हो, अपरिमित न हो ।
वह भी अच्छी तरह उबाला हुआ हो, कम उबाला हुआ
न हो ।

दत्ति की संख्याओं का विधान—

२००. वर्षावास रहे हुए तथा दत्तियों की संख्या का नियम
धारण करने वाले भिक्षु को आहार की पाँच दत्तियाँ और पानी
की पाँच दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है ।

अथवा—आहार की चार और पानी की पाँच ।

अथवा—आहार की पाँच और पानी की चार ।

उनमें एक दत्ति नमक की इली जितनी भी हो उस दिन
उसे उसी आहार से निवाह करना चाहिए ।

किन्तु उसे गृहस्थों के घर में आहार पानी के लिए दूसरी
बार निष्क्रमण-प्रवेश करना नहीं कल्पता है ।

पर्युषण में आहार करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

२०१. जो भिक्षु पर्युषण अर्थात् संवत्सरी के दिन अल्प आहार
भी करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुष्णातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

१ यहाँ वर्षावास समाचारी में यह विशेष कथन है । सामान्य कथन ठाणांग सूत्र में है । अतः चातुर्मास में या शेष काल में उक्त
तपश्चर्याओं में उक्त प्रासुक जल ग्रहण किये जा सकते हैं ऐसा समझना चाहिए ।

२ दत्ति का स्वरूप व्यवहार सूत्र उ० ६ में भी है, वह तपाचार में देखें ।

आयरियाइएहि आपुच्छित्ता पाओवगमनकरण विहाणं—

२०२. वासावासं पज्जोसविए भिक्खु इच्छिज्जा अपच्छिम-मार-
णंतिय-संलेहणा-भूसणा भूसिए, भत्त-पाण-पडियाइविअए,
पाओवगए, अणवकंखमाणे विहरित्तए वा,

निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ।

वसणं वा-जाव-साइमं वा आहारित्तए,

उच्चारं वा, पसवणं वा, परिट्ठावित्तए,

सज्जायं वा करित्तए,

धम्मजागरियं वा जागरित्तए ।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेयं
वा, जं च वा पुरओ काउं विहरइ ।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेयं वा,
जं च वा पुरओ काउं विहरइ ।

“इच्छामि जं मंते ! सुभेहि अम्मणुज्जाए समणे अपच्छिम-
मारणंतिय-संलेहणा-भूसणा भूसिए-जाव-धम्मजागरियं वा
जागरित्तए ।”

ते य से विहरिज्जा, एवं से कप्पइ अपच्छिम-मारणंतिय-
संलेहणा-भूसणा भूसिए-जाव-धम्मजागरियं वा जागरित्तए ।

ते य से नो विहरिज्जा एवं से नो कप्पइ अप-च्छिम-मारणं-
तिय-संलेहणा-भूसणा भूसिए-जाव-धम्मजागरियं वा जाग-
रित्तए ।

प०—से किमाहु मंते ?

उ०—आयरिया पच्चवायं जावति ।

—इसा. द. ८, सु. ६५



वर्षावास सम्बन्धी प्रकीर्णक-समाचारी—५

तिण्हं उवस्सयाणं ग्रहण-विहाणं—

२०३. वासावासं पज्जोसवियाणं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
तओ उवस्सया गिण्हिसए,

वे कुब्बिया पविलेहा, साइज्जिया समज्जया ।

—इसा. द. ८, सु. ७३

आचार्यादि से पूछकर पादपोषगमन करने का विधान—

२०२. वर्षावास रहा हुआ भिक्षु मरण-समय समीप आने पर
संलेखना द्वारा कर्म शय्य करना चाहे, आहार पानी का त्याग
करके कटे हुए वृक्ष के समान रहकर मृत्यु की कामना नहीं करता
हुआ रहना चाहे,

उपाश्रय से निष्क्रमण-प्रवेश करना चाहे,

अणन—यावत्—स्वाद्य का आहार करना चाहे,

मल-मूत्र त्यागना चाहे,

स्नाध्याय करना चाहे,

और धर्म जागरणा करना चाहे तो,

आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिनको अगुआ
मानकर विचार रहा हो उन्हें पूछे बिना उक्त कार्य करना नहीं
कल्पता है ।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को अथवा जिनको
अगुआ मानकर विचार रहा हो, उन्हें पूछकर करना कल्पता है ।

(आज्ञा लेने के लिए भिक्षु इस प्रकार कहे)

“हे भगवन् ! आप नि आज्ञा हो तो मरण समय समीप आने
पर संलेखना द्वारा कर्मशय्य—यावत्—धर्मजागरणा करना
चाहता हूँ ।”

यदि वे आज्ञा दें तो मरण समय समीप आने पर संलेखना
द्वारा कर्मशय्य—यावत्—धर्मजागरणा करना कल्पता है ।

यदि वे आज्ञा न दें तो मरण समय समीप आने पर संले-
खना द्वारा कर्मशय्य—यावत्—धर्मजागरणा करना नहीं
कल्पता है ।

हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

आचार्यादि आने वाली विधन-बाधाओं को जानते हैं ।

तीन उपाश्रयों के ग्रहण का विधान—

२०३. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को तीन उपाश्रय
ग्रहण करना चाहिए ।

दो उपाश्रयों की केवल प्रतिनिधता करना तथा प्रतिदिन
उपयोग में आने वाले उपाश्रय की प्रमार्जना करना ।

सेज्जासन ग्रहण विधान—

२०४. वासावासं पञ्जोसविद्याणं नो कम्पइ निगंधाण वा, निगंधीण वा अणभिग्गहिंय सिज्जासणियाणं हुत्तए ।

आयाणमेयं—

१. अणभिग्गहिंय सिज्जासणियस्स,

२. अणुक्काकुइयस्स,

३. अणुट्ठाब्धियस्स,

४. अमियासणियस्स,

५. अणातावियस्स,

६. असमियस्स,

७. अभिक्खणं अभिक्खणं अपडिलेहणासीलस्स,

८. अपमज्जणासीलस्स, तहा तहा संजमे वुराराहए भवइ ।

अणायाणमेय —

१. अभिग्गहिंय सिज्जासणियस्स,

२. उच्चक्काकुइयस्स,

३. अट्ठाब्धियस्स,

४. मियासणियस्स,

५. आयावियस्स,

६. समियस्स,

७. अभिक्खणं-अभिक्खणं पडिलेहणासीलस्स,

८. पमज्जणासीलस्स तहा तहा संजमे सुआराहए भवइ ।

—दसा. द. ८, सु. ६७

तिणिण मत्तगग्रहण-विधान—

२०५. वासावासं पञ्जोसविद्याणं कम्पइ निगंधाण वा, निगंधीण वा तओ मत्तगाइं गिहिंत्तए, तं जहा—

१. उच्चार-मत्तए,

२. पासवण-मत्तए,

३. खेल-मत्तए ।

—दसा. द. ८, सु. ६८

शय्या एवं आसन ग्रहण करने का विधान—

२०४. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को शय्या और आसन ग्रहण किए बिना रहना नहीं कल्पता है ।

शय्या और आसन नहीं रखना कर्म बन्ध का कारण है । क्योंकि,

(१) शय्या और आसन नहीं ग्रहण करने वाले,

(२) एक हाथ से नीचा और चूँ चूँ करने वाला शय्या और आसन रखने वाले ।

(३) हिलने वाले शय्या और आसन रखने वाले,

(४) परिमाण से अधिक शय्या और आसन रखने वाले,

(५) यथासमय शय्या और आसन को धूप में नहीं सुलाने वाले ।

(६) एषणा समिति के अनुसार शय्या और आसन नहीं लेने वाले ।

(७) शय्या और आसन की बार-बार प्रतिलेखना नहीं करने वाले तथा,

(८) शय्या और आसन की प्रमार्जना नहीं करने वाले भिक्षु का संयम दुस्सराध्य होता है ।

किन्तु शय्या और आसन रखना कर्मबन्ध का कारण नहीं है । क्योंकि

(१) शय्या और आसन ग्रहण करने वाले,

(२) एक हाथ ऊँचा और चूँ चूँ नहीं करने वाला शय्यासन रखने वाले,

(३) नहीं हिलने वाले शय्यासन रखने वाले,

(४) परिमाण युक्त शय्या आसन रखने वाले,

(५) यथासमय शय्या और आसन को धूप में देने वाले,

(६) एषणा समिति के अनुसार शय्या और आसन लेने वाले,

(७) शय्या और आसन की बार-बार प्रतिलेखना करने वाले तथा

(८) शय्या और आसन की प्रमार्जना करने वाले भिक्षु का संयम सु-आराध्य होता है ।

तीन मात्रक ग्रहण करने का विधान—

२०५. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को तीन मात्रक ग्रहण करने कल्पते हैं, यथा—

(१) मल त्यागने का पात्र,

(२) मूत्र त्यागने का पात्र,

(३) कफ त्यागने का पात्र ।

पठमसमोसरणे पत्त-चोवर-ग्रहण-प्रायश्चित्त सूत्रं —

२०६. जे भिक्षु पठम-समोसरणेसे पत्त-चोवराहं पडिगाहेइ पडिगाहेसं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।
—नि. उ. १०, सु. ४७

वासावासे यत्थ आतावण विहि-णिसेहो—

२०७. वासावासं पणोसविणं भिक्षु इच्छिज्जा वर्यं वा, पडिगाहं वा, कंदलं वा, पापपुच्छं वा अण्यरिं वा उवहिं आपावित्तए वा, पथावित्तए वा । नो से कप्पइ एगं वा, अगेगं वा अपडिण्णवित्ता—

१. गाहावडकुलं भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविस्सित्तए वा ।

२. असणं वा-जाव-साइसं वा आहारित्तए ।

३. कज्जिया विहारभूमिं वा,

४. बियारभूमिं वा निहरित्तए,

५. सज्जायं वा करित्तए,

६. काउस्सगं वा,

७. ठाणं वा ठाइत्तए ।

अरिष य इत्थ केइ अभिसमण्णागए अहासणिहिण्ण एगे वा, अपेगे वा कप्पइ से एवं वइत्तए—

“इमं ता अज्जो । तुमं भुहत्तमं जाणेहि-जाव-ताव अहं, गाहावडकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविस्सित्तए वा-जाव-काउस्सगं वा ठाणं वा ठाइत्तए ।”

ते य पडिसुणेज्जा, एवं से कप्पई-जाव-ठाणं वा ठाइत्तए ।

ते य जो पडिसुणेज्जा, एवं से नो कप्पई-जाव-ठाणं वा ठाइत्तए ।
—दसा. द. ८, सु. ६६

उच्चार-प्रासवण भूमि पडिलेहणा—

२०८. वासावासं पणोसविणं कप्पइ निर्गन्थाण वा, निर्गन्धीण वा सओ उच्चार-प्रासवण भूमिओ पडिलेहित्तए, तं जहा हेमंत-गिम्हासु, अहा णं वासासु ।

प०—से किमाहु वंते !

उ०—वासासु णं उरुसण्णं पाणा य, तणा य, बीया य, पणया य, हरियाणि य ववन्ति ।
—दसा. द. ८, सु. ६८

वर्षावास में पात्र और वस्त्र ग्रहण करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

२०६. जो भिक्षु चातुर्मासि में पात्र और वस्त्र ग्रहण करता है, करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुदघातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

वर्षावास में वस्त्र सुखाने के विधि-निषेध—

२०७. वर्षावास में रहा हुआ भिक्षु यदि वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुच्छक या किसी प्रकार की उपधि को धूप में थोड़ी देर या अधिक देर तक सुखाना चाहे तो एक या अनेक भिक्षुओं को सूचित किए बिना,

(१) गृहस्थों के घरों में आहार-पानी के लिए निष्क्रमण प्रवेश करना,

(२) अशन—यावत्—स्वाद्य का आहार करना ।

(३) उपाश्रय के बाहर स्वाध्याय स्थल में जाना या,

(४) मल-मूत्र त्यागने के स्थान में जाना ।

(५) स्वाध्याय करना,

(६) कायोत्सर्ग करना,

(७) ध्यान करना नहीं कल्पता है ।

यदि वहाँ पर आये हुए या समीप बैठे हुए एक या अनेक मुनि हों तो उन्हें इस प्रकार कहना कल्पता है—

“हे आर्य ! धूप में सुखाये हुए इन उपकरणों का मुहूर्त पर्यन्त ध्यान रखना जब तक कि मैं गृहस्थों के घरों में आहार पानी के लिए निष्क्रमण प्रवेश करूँ,—यावत्—कायोत्सर्ग या ध्यान करूँ ।

यदि वे स्वीकार कर लें तो उसे कल्पता है—यावत्—ध्यान करना ।

यदि वे स्वीकार नहीं करें तो उसे नहीं कल्पता है—यावत्—ध्यान करना ।

उच्चार प्रस्रवण भूमि प्रतिलेखना—

२०८. वर्षावास रहे हुए निर्गन्ध-निर्गन्धियों को तीन उच्चार-प्रस्रवण भूमियों की प्रतिलेखना करना कल्पता है । हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में तीन उच्चार-प्रस्रवण भूमियों की प्रतिलेखना करना वर्षाकाल के समा । आवश्यक नहीं है ।

प्र०—हे भगवन् ! आपने ऐसा क्यों कहा ?

उ०—वर्षा ऋतु में प्रायः सर्वत्र तप्त प्राणी, हरी घास, बीज, फूलग और हरे अंकुर पैदा हो जाते हैं ।

आथरियाइएहि पुच्छिता तिगिच्छा विहाणं—

२०६. वासावासं पज्जोसविणं भिक्खू इच्छिज्जा अण्णपरि तेइच्छियं आउट्ठित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छिता आथरियं वा-जाव-गणावच्छेययं वा जं वा पुरां काजं विहरइ ।

कप्पइ से आपुच्छिता आथरियं वा-जाव-गणावच्छेययं वा जं वा पुरां काजं विहरइ ।

“इच्छामि णं भंते ! तुम्हेहि अण्णणुणाए समाने अण्णपरि तेइच्छियं आउट्ठित्तए”

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णपरि तेइच्छियं आउट्ठित्तए ।

ते य से नो वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णपरि तेइच्छियं आउट्ठित्तए ।

प०—से किमाहु भंते !

उ०—आथरिया पच्चवार्यं जाणंति ।

—दसा. द. ८, सु. ६२

पज्जोसवणाओ परं केस-रक्खण णिसेहो—

२१०. वासावासं पज्जोसविणं नो कप्पइ निर्गंधाण वा निर्गंधीणं वा परं पज्जोसवणाओ गोलोमप्पमाणमित्ते जि केसे तं रयणिं उवाइणावित्तए । —दसा. द. ८, सु. ७०

पज्जोसवणाओ परं केस-रक्खण पायच्छित्त सुत्तं—

२११. जे भिक्खू पज्जोसवणाए गोलोममायं पि बालाइं उवाइणावेइ उवाइणावेसं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठणं अपुग्घाइयं ।

—नि. उ, १०, सु. ४४

पज्जोसवाए अहिगरण खमावण विहाणं—

२१२. वासावासं पज्जोसविणं नो कप्पइ निर्गंधाण वा निर्गंधीण वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वइत्तए ।

जो णं निर्गंधो वा, निर्गंधो वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ—से णं “अकप्पे णं अज्जो ! वयसो त्ति” वत्तवे सिया ।

जो णं निर्गंधो वा, निर्गंधो वा परं पज्जोसवणाए अहिगरणं वयइ—से णं निज्जुहियवे सिया ।

—दसा. द. ८, सु. ७१

आचार्यादि से पूछकर चिकित्सा कराने का विधान—

२०६. वर्षावास रहा हुआ भिक्षु किसी एक रोग की चिकित्सा कराना चाहे तो आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको अगुआ मानकर वह विचार रहा हो उन्हें पूछे बिना चिकित्सा कराना नहीं कल्पता है ।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको अगुआ मानकर वह विचार रहा हो उन्हें पूछकर ही चिकित्सा कराना कल्पता है ।

(आज्ञा लेने के लिए भिक्षु इस प्रकार कहे—)

“हे भगवन् ! आपकी आज्ञा मिलने पर अमुक रोग की चिकित्सा करना चाहता हूँ ।”

यदि आचार्यादि आज्ञा दें तो चिकित्सा कराना कल्पता है ।

यदि आचार्यादि आज्ञा न दे तो चिकित्सा कराना नहीं कल्पता है ।

प्र०—हे भगवन् ! आपने ऐसा क्यों कहा ?

उ०—आचार्यादि आने वाली विघ्न-गांधाओं को जानते हैं ।

पर्युषण के बाद केश रखने का निषेध—

२१०. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पर्युषणा (संवत्सरी) की रात्रि के बाद गाय के रोम जितने केश भी रखना नहीं कल्पता है ।

पर्युषणा के बाद केश रखने का प्रायश्चित्त सूत्र—

२११. जो भिक्षु पर्युषणा के बाद गाय के रोम जितने भी बाल रखता है, रखवाता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

पर्युषणा में कलह की क्षमायाचना करने का विधान—

२१२. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पर्युषणा (संवत्सरी) के बाद पूर्व वर्ष में हुए कलह को पुनः कहना नहीं कल्पता है ।

जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी पर्युषणा (संवत्सरी) के बाद पूर्व वर्ष में हुए अधिकरण को कहता है तो उसे कहा जाये कि “हे आर्य ! पूर्व वर्ष में हुए अधिकरण को कहना तुम्हें नहीं कल्पता है ।”

इतना कहने पर भी जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी पूर्व वर्ष में हुए अधिकरण को कहता है उसे संघ से निकाल देना चाहिए ।

वासावासं पञ्जोसवियाणं इह खलु निर्गन्थाण वा, निर्गन्धीण
वा अज्जेव कण्ठे-कङ्कुए बुग्गहे समुप्पज्जिज्जज्ज
खमियस्सं खमाविपस्सं,

उवसमियस्सं उवसमाविपस्सं,
सुमहं संपुच्छणा बहुलेणं होयस्सं ।
जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा,
जो नो उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा ।
तम्हा अप्पणा खेव उवसमियस्सं ।
प०—से किमाहु भंते !

उ०—“उवसमसारं खू सामणं ।” —दसा. व. ८, सु. ७२

अट्टसुहुम पडिलेहण विहाणं—

२१३. वासावासं पञ्जोसवियाणं इह खलु निर्गन्थाण वा, निर्गन्धीण
वा, इमाइं अट्ट सुहुमाइं अभिक्खणं अभिक्खणं जाणियस्साइं
पासियस्साइं पडिलेहियस्साइं भवाते, त जहा —

(१) पाणसुहुमं, (२) पणसुहुमं, (३) बीअसुहुमं,
(४) हरियसुहुमं, (५) पुणसुहुमं, (६) अंडसुहुमं,
(७) लेणसुहुमं, (८) सिजेहसुहुमं ।^१

—दसा. व. ८, सु. ५०

अकाले पञ्जोसवणा करणस्स काले पञ्जोसवणा
अकरणस्स पायच्छिंसा सुत्ताइं—

२१४. जे भिक्खू अपञ्जोसवणाए पञ्जोसवेह पञ्जोसवेतं वा
साइज्जइ ।

जे भिक्ख पञ्जोसवणाए न पञ्जोसवेह न पञ्जोसवेतं वा
साइज्जइ ।

जे भिक्खू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा पञ्जोसवेह,
पञ्जोसवेतं वा साइज्जइ ।

सं सेवमाणे आवज्जइ चाज्जमासियं परिहारदुणं अणुग्धाइयं ।

—नि. उ. १०, सु. ४२, ४३, ४६

सांघच्छरिय धविरकप्पस्स आराहणा फलं—

२१५. इच्छेइयं संवज्जरियं भेरकप्पं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामगं
सम्मं काएण फासित्ता पासित्ता सोधित्ता तीरित्ता किट्ठित्ता
आराहित्ता आणाए-अणुपालित्ता—

वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों में जिस दिन कर्कश
कटु वचनों से वसेण हुआ हो,

तो उन्हें उसी दिन क्षमा-याचना करनी चाहिए और क्षमा
याचना करने वाले को क्षमा कर देना चाहिये । सरल एवं शुद्ध
मन से बारम्बार कुशल क्षेम पूछना चाहिये ।

स्वयं को उपशान्त होना चाहिए और प्रतिपक्षी को भी
उपशान्त करना चाहिये ।

जो उपशान्त होता है उसकी ही धर्माराधना होती है ।

जो उपशान्त नहीं होता है उसकी धर्माराधना नहीं होती है ।

इसलिए स्वयं को तो उपशान्त बना ही लेना चाहिये ।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—उपशान्त होना ही संयम का सार है ।

सूक्ष्माष्टक की प्रतिलेखना का विधान—

२१३. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को ये आठ सूक्ष्म
बार-बार जानने योग्य, देखने योग्य और प्रतिलेखन करने योग्य
हैं, यथा—

(१) प्राणी सूक्ष्म, (२) पनका सूक्ष्म, (३) बीज सूक्ष्म,
(४) हरित सूक्ष्म, (५) पुष्प सूक्ष्म, (६) अण्ड सूक्ष्म,
(७) लयन सूक्ष्म, और (८) रनेह सूक्ष्म ।

अकाल में पर्युषण करने का तथा काल में पर्युषण करने
के प्रायश्चित्त सूत्र—

२१४. जो भिक्षु पर्युषण के दिन में अन्य दिन में पर्युषण करता
है, करवाता है, या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु पर्युषण (संबत्सरी) के दिन पर्युषण नहीं करता
है, नहीं करवाता है, या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ पर्युषणा कल्प
वाचन करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्त्वान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

सांवत्सरिक स्थविर कल्प की आराधना का फल—

२१५. इस सांवत्सरिक स्थविरकल्प का सूत्र, कल्प और मार्ग के
अनुसार सम्यक्त्वा काया से स्पर्श कर, पालन कर, अतिचारों
का शोधन कर, जीवन-पर्यन्त आचरण कर, अन्य को करने का
उपदेश देकर भगवान की आज्ञा के अनुसार आराधना कर और
अनुपालन कर—

१ सूक्ष्माष्टक का स्वरूप तथा प्रकार प्रथम महाव्रत में लिये हैं परन्तु जानने, देखने और प्रतिलेखन रूप विशिष्ट समाचारी युक्त होने
से यह एक सूत्र यहाँ लिया है ।

अस्थेगइया समणा निग्गंथा तेणेव भवग्गहणेणं सिज्जंति
बुज्जंति मुच्चंति परितिव्वाहंति सव्वदुक्खाणमंतं करंति ।

अस्थेगइया दुक्खेणं भवग्गहणेणं-जाव-सव्वदुक्खाणमंतं करंति ।

अस्थेगइया तच्चेणं भवग्गहणेणं-जाव-सव्वदुक्खाणमंतं
करंति । सत्तट्ठ भवग्गहणाहं पुण नाइक्कमंति ।

—दसा. द. न. मु. ७६

कितने ही भ्रमण निर्गन्ध तो उसी भव से सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, निर्वर्ण को प्राप्त होते हैं और सब दुखों का अन्त करते हैं ।

कितने ही दो भव ग्रहण करके—यावत्—सब दुखों का अन्त करते हैं ।

कितने ही तीन भव ग्रहण करके—यावत्—सब दुखों का अन्त करते हैं । किन्तु उत्कृष्ट सात आठ भव ग्रहण का तो कोई अतिक्रमण नहीं करते हैं ।



प्रतिक्रमण—४

आवश्यक स्वरूप—१

चउत्विहे आवस्सए—

२१६. प०—से कि तं आवस्सयं ?

उ०—आवस्सयं चउत्विहं पणत्तं, तं जहा—

(१) नामावस्सयं, (२) ठवणावस्सयं,
(३) दब्बावस्सयं, (४) भावावस्सयं ।

प०—से कि तं नामावस्सयं ?

उ०—नामावस्सयं जस्स णं जीवस्स वा, अजीवस्स वा,
जीवाण वा, अजीवाण वा, तदुभयस्स वा, तदुभयाण
वा 'आवस्सए' स्ति नामं कीरए । से तं नामावस्सयं ।

प०—से कि तं ठवणावस्सयं ?

उ०—ठवणावस्सयं जणं कट्ठकम्मे वा, चित्तकम्मे वा,
पोत्थकम्मे वा, लेप्पकम्मे वा, गंधिमे वा, वेड्ढिमे वा,
पूरिमे वा, संघादमे वा, अवल्ले वा, वराडए वा, एगो
वा, अणेगा वा, सक्कावठवणाए वा, असक्कावठवणाए
वा 'आवस्सए' स्ति ठवणा ठव्विज्जति । से तं ठवणा-
वस्सयं ।

प०—नाम—ठवणाणं को पहिसेसो ?

उ०—नामं आवक्कहियं, ठवणा हत्तरिया वा होज्जा,
आवक्कहिया वा ।

प०—से कि तं दब्बावस्सयं ?

उ०—दब्बावस्सयं बुद्धिहं पणत्तं, तं जहा—

(१) आगमतो य,
(२) नोआगमतो य ।

चार प्रकार के आवश्यक—

२१६. प्र०—आवश्यक कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

उ०—आवश्यक चार प्रकार के कहे गए हैं—यथा—

(१) नाम आवश्यक, (२) स्थापना आवश्यक,
(३) द्रव्य आवश्यक, (४) भाव आवश्यक ।

प्र०—नाम आवश्यक क्या है ?

उ०—नाम आवश्यक—जिस जीव का या अजीव का,
जीवों का या अजीवों का जीवाजीव का या जीवाजीवों का
“आवश्यक” नाम किया गया है । वह नाम आवश्यक है ।

प्र०—स्थापना आवश्यक क्या है ?

उ०—स्थापना आवश्यक—किसी काष्ठ की पुतली में,
चित्र में, पुस्तक में, मिट्टी आदि के लेप से बनी हुई, गुंथी हुई,
वस्त्रादि जपेट कर बनाई हुई, पूरित की हुई, संग्रहित की हुई
आकृति में, अक्ष में, कौड़ी में, एक या अनेक पदार्थ की सद्भाव
या असद्भाव स्थापना से “आवश्यक” इस नाम की स्थापना की
गई हो—वह स्थापना आवश्यक है ।

प्र०—नाम और स्थापना में क्या अन्तर है ?

उ०—नाम यावज्जीवन के लिए होता है और स्थापना
अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक भी होती है ।

प्र०—द्रव्य आवश्यक कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

उ०—द्रव्य आवश्यक दो प्रकार के कहे गए हैं—यथा—

(१) आगम से द्रव्यावश्यक और,
(२) नोआगम से द्रव्यावश्यक ।

प०—सै किं तं आगमतो द्रव्यावस्तयं ?

उ०—आगमतो द्रव्यावस्तयं-अस्स णं “आवस्तए” ति पवं सिक्खित्तं, ठितं, जितं, मितं, परिजितं, णाभसमं, धोससमं, अहीणवत्तरं, अणच्चक्खरं, अस्वाइहक्खरं, अक्खलियं, अमित्तियं, अवच्चामेलियं, पडिपुणं, पडिपुणघोसं, कंठोद्विप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं ।

से णं तत्थ वायणाए, पुच्छणाए, परिपट्टणाए, धम्म-
कहाए, णो अणुप्पेहाए ।

प० - कम्हा ?

उ०—अणुवओगो द्रव्यमिति कट्ट ।

(१) जोगमस्स—एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं द्रव्यावस्तयं, दोण्णि अणुवउत्ता आगमओ दोण्णि द्रव्यावस्तयाइं, तिण्णि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि द्रव्यावस्तयाइं एवं जावइया अणुवउत्ता तावयाइं ताइं जोगमस्स आगमओ द्रव्यावस्तयाइं ।

(२) एवमेव ववहारस्स वि ।

(३) संगहस्स—एगो वा, अणेगो वा, अणुवउत्तो वा, अणुवउत्ता वा, आगमओ द्रव्यावस्तयं वा, द्रव्यावस्त-
याणि वा से एगो द्रव्यावस्तए ।

(४) उज्जुसुयस्स—एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं द्रव्यावस्तयं, पुहत्तं नेच्छइ ।

(५) तिण्हं सट्ठनयणं—जाणए अणुवउत्ते अवत्थू ।

प०—कम्हा ?

उ०—जइ जाणए अणुवउत्ते न भवइ, जइ अणुवउत्ते जाणए
न भवइ, तम्हा गत्ति आगमओ द्रव्यावस्तयं ।

से तं आगमओ द्रव्यावस्तयं ।

प०—सै किं तं नोआगमतो द्रव्यावस्तयं ?

उ०—नोआगमतो द्रव्यावस्तयं—तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) जाणगसरीर द्रव्यावस्तयं,
(२) भविषसरीर द्रव्यावस्तयं,

प०—आगम से द्रव्यावश्यक क्या है ?

उ०—आगम से द्रव्यावश्यक—‘आवश्यक’ यह पद जिसके सीखा हुआ है, धारण किया हुआ है, जाना हुआ है, पूर्णकार है, सम्यक् प्रकार से जाना हुआ है, स्वनाम समान सदा याद है, शुद्ध उच्चारण किया हुआ है, न हीनाक्षर है, न अधिकाक्षर युक्त है, सभी अक्षर क्रमबद्ध है, व्यस्वनित है, अक्षर मिने हुए नहीं हैं, अपुनरुक्त है, प्रतिपूर्ण है, प्रतिपूर्ण स्वर से घोषित है, कंठ और ओष्ठ से सुप्रयुक्त है, गुरु द्वारा दी गई वाचना से युक्त है ।

जो कि वाचना से, पृच्छाओं से, पुनरावृत्ति से और धर्म कथा से युक्त होता है, किन्तु अनुप्रेक्षा से नहीं होता है ।

प०—इसका क्या कारण है ?

उ०—उपयोग रहित होना ही द्रव्य आवश्यक होने का कारण है इसलिये अनुप्रेक्षा का निषेध किया गया है ।

(१) नैगमनय के अनुसार—उपयोग रहित एक व्यक्ति आगम से एक द्रव्यावश्यक है, उपयोग रहित दो व्यक्ति आगम से दो द्रव्यावश्यक हैं, तीन उपयोग रहित व्यक्ति आगम से तीन द्रव्यावश्यक हैं । इस प्रकार जितने उपयोग रहित व्यक्ति हों उतने ही वे नैगमनयानुसार आगम से द्रव्यावश्यक हैं ।

(२) इसी प्रकार व्यवहार नय के अनुसार भी द्रव्यावश्यक होते हैं ।

(३) संगहनय के अनुसार—एक हो या अनेक, एक व्यक्ति उपयोग रहित हो या अनेक व्यक्ति उपयोग रहित हों, आगम से एक द्रव्यावश्यक हो या अनेक द्रव्यावश्यक हों, वे संगहनयानुसार एक द्रव्यावश्यक है ।

(४) उज्जुसूत्रनय के अनुसार—एक व्यक्ति जो उपयोग रहित हो नहीं एक द्रव्यावश्यक है । उज्जुसूत्रनय भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की विवक्षा नहीं करता ।

(५-६-७)—शब्द आदि तीन नयों के अनुसार—जो ज्ञाता हो और उपयोग रहित भी हो ऐसा नहीं हो सकता है ।

प०—इसका क्या कारण है ?

उ०—जो ज्ञाता हो वह (इन नयों की अपेक्षा) उपयोग रहित नहीं होता है । जो उपयोग रहित हो वह ज्ञाता नहीं कहलाता है, अतः वह आगम से द्रव्यावश्यक नहीं है ।

यह आगम से द्रव्यावश्यक हुआ ।

प०—नोआगम से द्रव्यावश्यक क्या है ?

उ०—नोआगम से द्रव्यावश्यक तीन प्रकार का कहा गया है । यथा—

(१) जायकशरीर द्रव्यावश्यक,
(२) भव्यशरीर द्रव्यावश्यक,

(३) जाणगसरीर भवियसरीर वहरित्ति दब्बावस्सयं ।

प०—से कि तं जाणगसरीर दब्बावस्सयं ?

उ०—जाणगसरीर दब्बावस्सयं—“आवस्सए” त्ति पदस्था-
धिकार जाणगसस जं सरीरयं भवमयं चतु चान्ति
चत्त देहं, जीव विप्पज्जदं, सेज्जागयं वा, संधारगयं
वा, सिद्धसिलात्तलगयं वा पासित्ता णं कोइ भणोइजा ।

“अहो णं इमेणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं
भावेण “आवस्सए” त्ति पयं आघवियं, पण्णावियं,
पस्सवियं, वंसियं, निवंसियं, उववंसियं ।

प०—जहा को विट्ठन्तो ?

उ०—अयं महुकुंभे आसी अयं घयकुंभे आसी ।

से तं जाणगसरीर दब्बावस्सयं ।

प०—से कि तं भवियसरीर दब्बावस्सयं ?

उ०—भवियसरीर दब्बावस्सयं—जे जीवे जोणिजम्मण-
णिक्खन्ते इमेणं सेव सरीरसमुस्सएणं आवस्सएणं
जिणोवदिट्ठेणं भावेण “आवस्सए” त्ति पयं सेयकाले
सिक्खिस्सइ, न ताव सिक्खइ ।

प०—जहा को विट्ठन्तो ?

उ०—अयं महुकुंभे भविस्सइ, अयं घयकुंभे भविस्सइ ।

से तं भवियसरीर दब्बावस्सयं ।

प०—से कि तं जाणगसरीर भवियसरीर वहरित्ते दब्बा-
वस्सए ?

उ०—जाणगसरीर—भवियसरीर वहरित्ते दब्बावस्सए
तिविधे पण्णत्ते, तं जहा—

- (१) लोइए,
- (२) कुप्पावणिए,
- (३) लोमुत्तरिए ।

प०—से कि तं लोइयं दब्बावस्सयं ?

उ०—लोइयं दब्बावस्सयं जे इमे राईसर-तलवर-भाइंवि-
कोडुंवि-इहम-तेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पमितिओ-कल्लं
पाउप्पसायाए रयणीए सुविमलाए फुल्लुप्पल-कमल
कोमलुम्मिल्लियम्मि अहापंडुरे पभाए रत्तासोयप्पगास-
किसुय-भुयमुह-गुंजदुरागसरिसे कमलागर-नलिणि-
संडवोहए, उट्ठियम्मि सरे सहस्तरस्सिम्मि विणयरे
तेयरा जलने मुहोयण-दंतपक्खालण-तेल्ल-फणिह-
सिद्धरथय-हरियालिय-उहता-धूव-पुप्फ-मल्ल-गंध-तंबोल

(३) जाणगसरीर भवियसरीर वहरित्ति दब्बावस्सयं ।

प०—जाणगसरीर दब्बावस्सयं क्या है ?

उ०—जाणगसरीर दब्बावस्सयं—“आवश्यक” इस पद के
अर्थ और अधिकार को जानने वाले के जीव रहित शरीर को
शय्या पर, संस्तारक पर पड़ा देखकर या सिद्ध शिला पर देख-
कर कोई कहे कि—

“अहो इस शरीर से सर्वज्ञ प्ररूपित भावानुसार ‘आवश्यक’
यह पद कहा, प्ररूपित किया, उसका अध्ययन कराया, दृष्टान्त
द्वारा समझाया और उपदेश किया है ।

प०—इस विषय में दृष्टान्त क्या है ?

उ०—यह मधु का कुंभ था, यह धृत का कुंभ था, ये
दृष्टान्त समझना ।

यह जाणगसरीर दब्बावस्सयं हुआ ।

प०—भविय शरीर दब्बावस्सयं क्या है ?

उ०—भवियशरीर दब्बावस्सयं जो जीव योनि से जन्म
लेकर क्रमशः बढ़ने वाले शरीर को प्राप्त कर जिनकथित भावा-
नुसार आवश्यक इस पद को भविष्य में सीखेगा किन्तु वर्तमान में
सीखता नहीं है ।

प०—इस विषय में क्या दृष्टान्त है ?

उ०—यह मधु का कुंभ होगा, यह धृत का कुंभ होगा ये
दृष्टान्त समझना । यह भवियशरीर दब्बावस्सयं हुआ ।

प०—जाणगसरीर—भवियशरीर व्यतिरिक्त दब्बावस्सयं
क्या है ?

उ०—जाणगसरीर भवियशरीर व्यतिरिक्त दब्बावस्सयं तीन
प्रकार का कहा गया है, यथा—

- (१) लौकिक,
- (२) कुप्पावचनिक,
- (३) लोकोत्तरिक ।

प०—लौकिक दब्बावस्सयं क्या है ?

उ०—लौकिक दब्बावस्सयं—जो ये राज्येश्वर, नगर रक्षक,
सीमा रक्षक, ग्राम रक्षक, धनी, सेठ, सेनापति, सार्थवाह आदि
प्रातःकालीन प्रभायुक्त निर्मल रजनी में कोमल उत्पल कमल
पुष्प लिले हुए पाण्डुवर्ण प्रभाल में रक्त, अशोक, किशुक, सुक-
मुख तथा गुंजाघ्र मदृश, रक्त कमल समूह एवं नलिनी को
विकसित करने वाले, तेज से जाज्वल्यमान, सहस्र किरण
दिनकर (सूर्य) के उदय होने पर मुंह धोकर दन्त प्रक्षालन कर
आरीसे को सामने रखकर शिर में तेल मज कर, कंधे से केश

वत्थमाइयाइं दव्वावस्सयाइं करेत्ता ततो पच्छा राय-
कुलं वा, देवकुलं वा, आरामं वा, उज्जाणं वा, समं
वा, पक्वं वा गच्छति । से तं लोइयं दव्वावस्सयं ।

प०—से किं तं कुप्पावयणियं दव्वावस्सयं ?

उ०—कुप्पावयणियं दव्वावस्सयं—जे इमे चरग-चीरिग-घम्म-
खंडिय - भिच्छुङ्ग-पंडरंग-गोसम-गोव्वतिय-गिहिधम्म
धम्मचित्तग-अविच्छद्विच्छद्व-बुद्ध-सावगपभित्तो पास-
डत्था कल्लं पाउप्पभावाए रथणीए-जाव-तेयसा जलंते
इंवस्स वा, खंवस्स वा, रुहस्स वा, सिक्खस्स वा, वेस-
भणस्स वा, वेवस्स वा, नागस्स वा, जक्खस्स वा,
सूयस्स वा, मुगुंस्स वा, अज्जाए वा, कोट्टु किरियाए
वा उवलेखण-सम्मज्जणास्सरिसण-धूव-पुक्क गंध-
भल्लाइयाइं दव्वावस्सयाइं करेत्ति ।

से तं कुप्पावयणियं दव्वावस्सयं ।

प०—से किं तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं ?

उ०—लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं—जे इमे समणगुणभुक्कजोगो
छक्कायनिरणुक्का हया इव उद्दामा. गया इव
निरंकुसा, घट्टा, मट्टा, तुप्पोट्टा, पंडरपडपाउरणा,
अध्याण अणाणाए सच्छंदं विहरिअणं उमओकात्तं
आवस्सगस्स उवट्ठंति । से तं लोगुत्तरियं दव्वा-
वस्सयं । से तं जाणमसरीर भवियसरीर वड्ढित्तं
दव्वावस्सयं । से तं नोआगमओ दव्वावस्सयं । से तं
दव्वावस्सयं ।

प०—से किं तं भावावस्सयं ?

उ०—भावावस्सयं कुविहं पणत्तं—तं जहा --

(१) आगमतो य, (२) नोआगमतो य ।

प०—से किं तं आगमतो भावावस्सयं ?

उ०—आगमतो भावावस्सयं—जाणए उयउत्ते । से तं आग-
मतो भावावस्सयं ।

प०—से किं तं नोआगमतो भावावस्सयं ?

उ०—नोआगमतो भावावस्सयं तिविहं पणत्ते, तं जहा—
(१) लोइयं, (२) कुप्पावयणियं,
(३) लोगुत्तरियं ।

प०—से किं तं लोइयं भावावस्सयं ?

उ०—लोइयं भावावस्सयं—पुक्खण्हे भारहं, अवरण्हे रामा-
यणं । से तं लोइयं भावावस्सयं ।

प०—से किं तं कुप्पावयणियं भावावस्सयं ?

संवार कर, धूप, पुष्प, माला, सुगन्ध, पान वस्त्र आदि द्रव्य
आवश्यक करके राजकुल में, देवकुल में, आराम, उद्यान, समा
या श्रीडास्थल पर जाते हैं । यह लौकिक द्रव्यावश्यक है ।

प्र०—कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक क्या है ?

उ०—कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक—जो ये त्रिदण्डी, फटे
पुराने वस्त्र पहनने वाले, भिक्षुक, चर्म धारी, भिक्षारी, वैनयिक
भिक्षु गौतम गोत्रीय गोत्रतिक, अनिरुद्ध धर्म चित्तक अविच्छद बुद्ध
श्रावक ब्राह्मण व्रतधारी-प्रातःकालीन प्रभायुक्त प्रभात में-यावत्-
सूर्योदय होने पर इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव, वैश्रमण, देव, नाग, यक्ष,
भूत, मुकुंद, पार्वती या दुर्गादेवी के चन्दन का लेपन, मार्जन,
सिंचन, धूप, पुष्प, गन्ध, माल्य आदि द्रव्यावश्यक करते हैं ।

यह कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक हुआ ।

प्र०—लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यक क्या है ?

उ०—लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यक—जो ये श्रमण के गुणों से
रहित प्रवृत्ति वाले, छः काय पर अनुकम्पा न करने वाले, अश्व
के समान स्वच्छन्द, निरंकुश गज के समान, घपित-अश्रित
अरीर वाले, वृत्त से स्निग्ध ओष्ठ वाले, धूले स्वच्छ वस्त्र धारण
करने वाले, जिनाजा से विपरीत स्वच्छन्द विचरण कर उभय-
काल आवश्यक करते हैं । यह लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यक हुआ ।
यह ज्ञायकशरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक हुआ ।
यह नोआगम से द्रव्यावश्यक हुआ । यह द्रव्यावश्यक हुआ ।

प्र०—भाव आवश्यक क्या है ?

उ०—भाव आवश्यक दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
(१) आगम से, (२) नोआगम से ।

प्र०—आगम से भावावश्यक क्या है ?

उ०—जो जानकार है और उपयोग युक्त है वह आगम से
भावावश्यक है । यह आगम से भावावश्यक हुआ ।

प्र०—नोआगम से भावावश्यक क्या है ?

उ०—नोआगम से भावावश्यक तीन प्रकार का है, यथा—
(१) लौकिक, (२) कुप्रावचनिक,
(३) लोकोत्तरिक ।

प्र०—लौकिक भावावश्यक क्या है ?

उ०—लौकिक भावावश्यक—पूर्वाण्ह (प्रातःकाल से मध्याह्न
तक) में महाभारत का पाराधन, अत्राण्ह (मध्याह्न के बाद
सायंकाल तक) में रामायण का पाराधन । यह लौकिक भावा-
वश्यक हुआ ।

प्र०—कुप्रावचनिक भावावश्यक क्या है ?

उ०—कुप्यावयणियं भावावस्तयं—जे इमे चरग चीरिग-आव-
पासण्डरथा इज्जंजलि-होम-जप-उबुरुक्क-नमोक्कार-
साइयाइं भावावस्तयं करेति । से तं कुप्यावयणियं
भावावस्त ।

प०—से कि तं लोगतुरियं भावावस्तयं ?

उ०—लोगतुरियं भावावस्तयं—अं णं इमं समणे वा, समणी
वा, सावणं वा, साविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे,
तवज्जसिए, तत्तिव्वज्जसयाणे, तवट्ठोक्कउत्ते तदप्पि-
यकरणे तदभावणामाविते अण्णस्य कत्थं मणं अक-
रेमाणे उभओ कालं आवस्तयं करेति । से तं लोगत-
रियं भावावस्तयं । से तं नोआगमतो भावावस्तयं ।
से तं भावावस्तयं ।

तस्स णं इमे एगट्ठिया णाणाघोसा णाणावज्जणा णाम-
धेज्जा भवन्ति । तं जहा— गाहाओ—

- (१) आवस्तयं, (२) अवस्तकरणिज्जं,
(३) धुवणिगाहो, (४) विसोही य ।
(५) अज्जमण छक्कवग्गो, (६) नाओ,
(७) आराहणा, (८) मग्गो ॥

समणेण सावणं य, अवस्तुकायस्वयं हवति जम्हा ।
अंतो अहो निसिस्स व, तम्हा आवस्तयं जाम ॥
से तं आवस्तयं ॥

—अणु. सु. ६-२६

छविहे आवस्तए—

२१७. छविहे आवस्तए पणत्ते, तं जहा—

- (१) सामाइयं, (२) चउवीसत्थओ, (३) वंवरणं,
(४) पडिक्कमणं, (५) काउत्तसग्गो, (६) पक्खखण्णं ।

—अणु. सु. ७४

आवस्तगस्स णं इमे मत्थाहिगारा भवन्ति । तं जहा—

- (१) भावज्जजोगविरती, (२) उक्कित्तण,
(३) गुणवओ य पडिक्कस्ती ।
(४) झलियस्स मिदणा, (५) वणलिंगिच्छ,
(६) गुणधारणा, चेव ॥

—अणु. सु. ७३

उ०—कुप्रावचनिक भावावश्यक—जो ये त्रिदण्डी, फटे
पुराने वस्त्र पहनने वाले—यावत्—ब्रती यज्ञ, होम, जप, वृषभ
की तरह आवाज करना, नमस्कार करना आदि भावावश्यक
करते हैं । यह कुप्रावचनिक भावावश्यक है ।

प्र०—लोकोत्तरिक भावावश्यक क्या है ?

उ०—लोकोत्तरिक भावावश्यक—जो ये श्रमण, श्रमणी,
श्रावक, श्राविका आवश्यक में चित्त व मन लगाकर तल्लीन हो
उत्साह युक्त आवश्यक के अर्थ में उपयोग युक्त, पूर्णतः एकाग्र
भाव से अन्य किसी भी विस्तन में मन को न लगाते हुए उभय-
काल आवश्यक करते हैं ।

यह लोकोत्तरिक भावावश्यक है । यह नोआगम से भावा-
वश्यक है । यह भावावश्यक है ।

उस आवश्यक के ये एक अर्थ वाले नाना ध्वनि वाले,
नाना व्यंजन वाले नाम हैं—यथा—गाथार्थ—

- (१) आवश्यक, (२) अवश्यकरणीय,
(३) ध्रुव-निग्रह, (४) विशुद्धी,
(५) छह अध्ययनों का वर्ग, (६) ज्ञात,
(७) आराधना और (८) मार्ग ।

यह श्रमण और श्रावक को दिन और रात के अन्त में
अवश्य करणीय होता है । इसलिए इसका 'आवश्यक' नाम है ।
यह आवश्यक है ।

छह प्रकार के आवश्यक—

२१७. छह प्रकार के आवश्यक कहे गये हैं, यथा—

- (१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वन्दना,
(४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्तमं, और (६) प्रत्याख्यान ।

आवश्यक के अर्थाधिकारों के नाम इस प्रकार हैं—

- (१) सावद्ययोगविरति, (२) उत्कीर्तन
(३) गुणवत्प्रतिपत्ति,
(४) स्वलितनिन्दा, (५) व्रणचिकित्सा और
(६) गुणधारणा ।



प्रतिक्रमण के प्रकार—२

पंचविहे पडिक्कमणे—

२१८. पंचविहे पडिक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) आसवदारपडिक्कमणे,

(२) मिच्छत्तपडिक्कमणे,

(३) कसायपडिक्कमणे,

(४) जोगपडिक्कमणे,

(५) मावपडिक्कमणे । —ठाणं. अ. ५, उ. ३, सु. ४६६

छविहे पडिक्कमणे—

२१९. छविहे पडिक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) उच्चार-पडिक्कमणे,

(२) पासवण-पडिक्कमणे,

(३) इत्तरिण-पडिक्कमणे,

(४) आवक्कहिय-पडिक्कमणे,

(५) अकिच्चिमिच्छा-पडिक्कमणे,

(६) सोमणंतिय-पडिक्कमणे, —ठाणं. अ. ६, सु. ५३८

अइक्कमईणं पगारा—

२२०. तिविहे अइक्कमे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) णाणअइक्कमे,

(२) वंसणअइक्कमे,

(३) चरित्तअइक्कमे ।

तिविहे वइक्कमे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) णाणवइक्कमे,

(२) वंसणवइक्कमे,

(३) चरित्तवइक्कमे ।

तिविहे अइयारे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) णाणअइयारे,

(२) वंसणअइयारे,

(३) चरित्तअइयारे ।

पाँच प्रकार के प्रतिक्रमण—

२१८. प्रतिक्रमण पाँच प्रकार का कहा गया है । यथा—

(१) प्राणातिपात आदि आश्वयों से आत्मा को निवृत्त करना ।

(२) मिथ्यात्व का परित्याग करना ।

(३) कषायों से आत्मा को निवृत्त करना ।

(४) मन-वचन-काया को अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्त करना ।

(५) राग-द्वेष के भावों का परित्याग करना ।

छह प्रकार के प्रतिक्रमण—

२१९. प्रतिक्रमण छह प्रकार का होता है—

(१) उच्चार प्रतिक्रमण—मल त्याग करने के बाद वापस आकर विद्वेषिणी सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना ।

(२) प्रसवण प्रतिक्रमण—मूत्र-त्याग करने के बाद वापस आकर ईर्ष्यापथिणी सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना ।

(३) इत्तरिक प्रतिक्रमण—दैवसिक, रात्रिक आदि प्रतिक्रमण करना ।

(४) यावत्वाधिक प्रतिक्रमण—हिंसा आदि से सर्वथा निवृत्त होना अथवा आजीवन अनशन करना ।

(५) वरिक्कचित्मिध्यादुक्कृत प्रतिक्रमण—साधारण व्यसना होने पर उसकी विशुद्धि के लिए “मिच्छामि दुक्कडं” इस भाषा में खेद प्रकट करना ।

(६) स्वप्नास्तिक प्रतिक्रमण—गोकर उठने के पश्चात् शय्या दीप निवृत्ति सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना ।

अतिक्रमादि के प्रकार—

२२०. अतिक्रम (प्रतिकूल आचरण का संकल्प) तीन प्रकार का कहा गया है यथा—

(१) ज्ञान-अतिक्रमण,

(२) दर्शन-अतिक्रमण,

(३) चारित्र्य अतिक्रमण,

व्यतिक्रम (प्रतिकूल आचरण का प्रयत्न) तीन प्रकार का कहा गया है यथा—

(१) ज्ञान-व्यतिक्रमण,

(२) दर्शन-व्यतिक्रमण,

(३) चारित्र्य-व्यतिक्रमण,

अतिचार (आंशिक प्रतिकूल आचरण) तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) ज्ञान-अतिचार,

(२) दर्शन-अतिचार,

(३) चारित्र्य-अतिचार,

तिबिहे अणायारे पणत्तो, तं जहा—

- (१) णाणअणायारे, (२) दंसणअणायारे,
(३) चरितअणायारे । — ठाणं अ. ३, उ. ४, सु. १६८

अइकम्मार्इणं विसोही—

२२१. तिण्हमइवकमाणं आलोएज्जा, पडिक्कमेज्जा, णिवेज्जा, गरहेज्जा, विज्जहेज्जा, विसोहेज्जा, अकरणथाए अम्मूठेज्जा, अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिक्कमेज्जा, तं जहा—

- (१) णाणातिक्कमस्स, (२) दंसणातिक्कमस्स,
(३) पडिक्कातिक्कमस्स ।

तिण्हं वइवकमाणं-आलोएज्जा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिक्कमेज्जा, तं जहा—

- (१) णाणवइवकमस्स, (२) दंसणवइवकमस्स,
(३) चरित्तवइवकमस्स ।

तिण्हमतिचारणं-आलोएज्जा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिक्कमेज्जा, तं जहा—

- (१) णाणातिचारस्स, (२) दंसणातिचारस्स,
(३) चरित्तातिचारस्स ।

तिण्हमणायारणं-आलोएज्जा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिक्कमेज्जा, तं जहा—

- (१) णाणअणायारस्स, (२) दंसणअणायारस्स,
(३) चरित्तअणायारस्स । — ठाणं अ. ३, उ. ४, सु. १६८

अनाचार (पूर्ण प्रतिकूल आचरण) तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

- (१) ज्ञान-अनाचार, (२) दर्शन-अनाचार,
(३) चारित्र्य-अनाचार ।

अतिक्रमादि की विशुद्धि—

२२१. तीन प्रकार के अतिक्रमों की आलोचना करे, प्रतिक्रमण करे, निन्दा करे, गद्दी करे, पाप से निवृत्त होवे, विशुद्धि करे, पुनः वैसा नहीं करने का संकल्प करे, यथोचित तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे । यथा —

- (१) ज्ञानातिक्रमण की, (२) दर्शनातिक्रमण की,
(३) चारित्र्यातिक्रमण की,

तीन प्रकार के व्यतिक्रमों की आलोचना करे—यावत्— यथोचित तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे । यथा —

- (१) ज्ञान-व्यतिक्रमण की, (२) दर्शन-व्यतिक्रमण की,
(३) चारित्र्य-व्यतिक्रमण की ।

तीन प्रकार के अतिचारों की आलोचना करे—यावत्— यथोचित तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे । यथा—

- (१) ज्ञानातिचार की, (२) दर्शनातिचार की,
(३) चारित्र्यातिचार की ।

तीन प्रकार के अनाचारों की आलोचना करे—यावत्— यथोचित तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे । यथा—

- (१) ज्ञान-अनाचार की, (२) दर्शन-अनाचार की,
(३) चारित्र्य-अनाचार की ।



श्रमण प्रतिक्रमण—३

काउस्सग-करण पइण्णा—

२२२. आवस्सही इच्छाकारेणं संविसह भगवन् !
वेवसी पडिक्कमणं ठाएमि,

वेवसी णाण-दंसण-चरित्त-तव-अइयार चित्तणत्थं करेमि
काउसगं । — सुत्तागमे. आव. अ. १, सु. १

सामाहय सुत्तं—

२२३. करेमि भन्ते ! सामाहयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि,

कायोत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा—

२२२. हे भगवन् ! मुझे आज्ञा प्रदान करें,

मैं दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण (आवश्यक) करने की इच्छा रखता हूँ और

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य एवं तप के दिवस सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ ।

सामायिक सूत्र—

२२३. भन्ते ! मैं सामायिक ग्रहण करता हूँ । सर्व सावध (पाप कर्म वाले) ध्यापारों का त्याग करता हूँ ।

जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं न
करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि,

तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि, निदामि, गरिहामि, अप्पाणं
वोसिरामि । —आव. अ. १, सु. २

गुरु वंदनसुत्तं—

२२४. इच्छामि खमासमणो ! वंविउं, जावणिज्जाए निसीहियाए,

अणुजाणहं मे मिउगहं, निसीहि,

अहोकार्यं पाथ-संकासं,

खमणिज्जो मे किलामो,

अण्णकिलंताणं बहुमुणेणं मे विवसो वड्ढकंतो ?

जत्ता मे ?

अवणिज्जं चं मे ?

खामेमि खमासमणो ! वेवसियं वड्ढकमं,

आवस्सिआए पडिक्कमामि—

खमासमाणं वेवसियाए आसाधणाए तिसीसखयथाए, जं
किञ्चि मिच्छाए मणवुक्कडाए, वयवुक्कडाए, कायवुक्कडाए,
कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए, सव्वकालियाए, सव्व-
मिच्छोवयाराए, सव्वधम्माइक्कमणाए, आसाधणाए-जो से
अइयारो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि, निदामि,
गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । —आव. अ. २, सु. १०

गुरुवन्दनस्स बुवालसावत्ताणइ—

२२५. बुवालसावत्तो कितिकम्मे पण्णस्से, तं जहा—

जीवन-पर्यन्त तीन करण तीन योग से अर्थात् मन, वचन,
और काया से (सर्व सावध्य-पाप कर्म) न मैं स्वयं करूंगा, न
दुसरो से कराऊँगा और न पाप कर्म करने वाले का अनुमोदन
ही करूँगा ।

भन्ते ! मैं पूर्वकृत पापों से निवृत्त होता हूँ, आत्मसाक्षी से
उसकी निन्दा करता हूँ, आपकी साक्षी से मैं उसकी गद्दी करता
हूँ और पाप कर्म करने वाली आत्मा की अतीत अवस्था का पूर्ण
रूप से त्याग करता हूँ ।

गुरु वंदन सूत्र—

२२४. हे क्षमाशील श्रमण ! मैं पाप-प्रवृत्ति से निवृत्त हुए अपने
शरीर से आपको यथाशक्ति वन्दना करना चाहता हूँ ।

अतएव मुझे आपके चारों ओर के अवग्रह (तीन हाथ जितने
क्षेत्र) में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिए ।

मैं अशुभ क्रियाओं को त्यागकर अपने मस्तक तथा हाथ से
आपके चरणों का सम्यग् रूप से स्पर्श करता हूँ ।

चरण स्पर्श करते समय आपको जो कुछ भी पीड़ा हुई हो
वह क्षन्तव्य है अतः क्षमा करें ।

क्या ग्लानि रहित आपका आज का दिन बहुत आनन्द से
व्यतीत हुआ,

आपकी तप एवं संयम रूप यात्रा निर्बाध है ?

और आपका शरीर मन तथा इन्द्रियों की बाधा से
रहित है ?

हे क्षमा श्रमण गुरुदेव ! मेरे से दिन में कोई अपराध
हुआ हो तो मैं क्षमा चाहता हूँ ।

भगवन् ! आवश्यक क्रिया करते समय मेरे से कोई विपरीत
आचरण हुआ हो तो मैं उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

आप क्षमाश्रमणों को दिवस सम्बन्धी तैत्तीस आशातनाओं
में से किसी एक प्रकार की आशातना मिथ्याभाव से, मानसिक
द्वेष से, दुर्वचन से, शारीरिक कुचेष्टाओं से, क्रोध से, मान से,
माया से, लोभ से, सर्वकाल से सम्बन्धित, सब प्रकार के मिथ्या-
भावों से, सब प्रकार के धर्मों को अतिक्रमण करने वाली आशा-
तना के द्वारा मैंने जो कोई भी अतिचार किया हो तो हे क्षमा
श्रमण ! उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, मन से उसकी निन्दा
करता हूँ, आपके समक्ष उसकी गद्दी करता हूँ, और पाप कर्म
करने वाली आशातना युक्त उस आत्मा का परित्याग करता हूँ ।

गुरु वन्दन के बारह आवर्तन—

२२५. बारह आवर्तनयुक्त गुरु वन्दन किया जाता है, यथा —

जाए, कुप्यमज्जणाए, अहक्कमे, वहक्कमे, अह्यारे, अणायारे,
जो मे देवसिओ अह्यारो कओ तस्स भिच्छा मि दुक्कडं ।

—आच. अ. ४, सु. १६

तेत्तीसविह ठाणाहं पडिक्कमण सुत्तं—

२३१. पडिक्कमामि एगविहे असंजमे ।

पडिक्कमि वोहिं बंधणेहि—

(१) रागबंधणेणं, (२) दोसबंधणेणं^१

(१) पडिक्कमामि तिहिं दंडेहि—

(१) मणदंडेणं, (२) वयदंडेणं, (३) कायदंडेणं ।^२

(२) पडिक्कमामि तिहिं गुत्तीहि—

(१) मणगुत्तीए, (२) वयगुत्तीए, (३) कायगुत्तीए ।^३

(३) पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहि—

(१) मायासल्लेणं, (२) निपाणसल्लेणं,

(३) भिच्छादंसणसल्लेणं ।^४

(४) पडिक्कमामि तिहिं गारखेहि—

(१) इड्ढीगारखेणं, (२) रसगारखेणं,

(३) सायागारखेणं ।^५

(५) पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहि—

(१) नाणविराहणाए, (२) वंसणविराहणाए,

(३) चरित्तविराहणाए ।^६

(१) पडिक्कमामि चउहिं कसाएहि—

(१) कोहकसाएणं, (२) माणकसाएणं, (३) मायाकसाएणं

(४) सोहकसाएणं ।^७

(२) पडिक्कमामि चउहिं सण्णाहि—

करने से, अच्छी तरह प्रतिलेखन न करने से, प्रमार्जन न करने से, अच्छी तरह प्रमार्जन न करने से, जो अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार या अनाचार सम्बन्धी जो भी देवसिक अतिचार लगा हो उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो ।

तेत्तीस प्रकार के स्थानों का प्रतिक्रमण सूत्र—

२३१. एक प्रकार के असंयम से निवृत्त होता हूँ—

दो प्रकार के बन्धनों से लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) राग के बन्धन से, (२) द्वेष के बन्धन से ।

(१) तीन प्रकार के दण्डों से लगे दोषों का प्रतिक्रमण

करता हूँ—

(१) मनोदण्ड से, (२) वचन-दण्ड से, (३) काय-दण्ड से ।

(२) तीन प्रकार की गुप्तियों में जो भी दोष लगे हों, उनका

प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) मनोगुप्ति में, (२) वचनगुप्ति में, (३) कायगुप्ति में ।

(३) तीन प्रकार के शल्यों से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण

करता हूँ—

(१) मायाशल्य से, (२) निदानशल्य से,

(३) मिथ्यादर्शन शल्य से ।

(४) तीन प्रकार के गर्व से लगने वाले दोषों का प्रतिक्रमण

करता हूँ—

(१) क्रुद्धि के गर्व से, (२) रस के गर्व से,

(३) साता—सुख के गर्व से ।

(५) तीन प्रकार की विराधनाओं से होने वाले दोषों का

प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) ज्ञान की विराधना से, (२) दर्शन की विराधना से,

(३) चरित्र की विराधना से ।

(१) चार कषाय के द्वारा होने वाले अतिचारों का प्रति-

क्रमण करता हूँ—

(१) क्रोध कषाय, (२) मान कषाय, (३) माया कषाय,

(४) लोभ कषाय ।

(२) चार प्रकार की संज्ञाओं के द्वारा जो भी अतिचार

लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

१ सम. सम. २, सु. १

२ (क) ठाणं. अ. ३, उ. १, सु. १३४ (५)

३ (क) ठाणं. अ. ३, उ. १, सु. १३४ (१)

४ (क) ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८८

५ (क) ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २१५

६ सम. सम. ३, सु. १

७ (क) ठाणं. अ. ४, उ. १, सु. २४६

(ख) सम. सम. ३, सु. १

(ख) सम. सम. ३, सु. १

(ख) सम. सम. १, सु. १

(ख) सम. सम. ३, सु. १

(ख) सम. सम. ४, सु. १

- (१) आहारसण्णाए, (२) भयसण्णाए,
(३) मैथुनसण्णाए, (४) परिग्रहसण्णाए ।^१
(३) पडिक्कमामि चउहि विक्कहाहि—

- (१) इच्छीकहाए, (२) मत्ताकहाए,
(३) देसकहाए, (४) रायकहाए ।^२
(४) पडिक्कमामि चउहि ज्ञाणेहि—

- (१) अट्टेणं ज्ञाणेणं, (२) रुद्धेणं ज्ञाणेणं,
(३) धम्मणेणं ज्ञाणेणं, (४) सुक्केणं ज्ञाणेणं ।^३
(१) पडिक्कमामि पंचहि किरियाहि—

- (१) काइयाए, (२) अहिगरणिमाए, (३) पाओसियाए,
(४) पारितावणिमाए, (५) पाणाइवायकिरियाए ।^४
(२) पडिक्कमामि पंचहि कामगुणेहि—

- (१) सट्ठेणं, (२) रुद्धेणं, (३) गंधेणं, (४) रसेणं,
(५) कासेणं ।^५
(३) पडिक्कमामि पंचहि महव्वएहि—

- (१) पाणाइवायाओ वेरमणं, (२) मुसावायाओ वेरमणं,
(३) अदिण्णावाणाओ वेरमणं, (४) मेहुणाओ वेरमणं,
(५) परिग्रहाओ वेरमणं ।^६
(४) पडिक्कमामि पंचहि समिईहि—

- (१) इरियासमिईए, (२) भासासमिईए,
(३) एसणासमिईए, (४) आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिईए,
(५) उच्चार-पासवण-खेस-सिघाण-जल्ल परिट्ठावणिमा-
समिईए ।^७
(१) पडिक्कमामि छहि जीवनिक्काएहि—

- (१) पुढविकाएणं, (२) आउकाएणं, (३) तेजकाएणं,
(४) वाउकाएणं, (५) वणस्सइकाएणं, (६) तसकाएणं ।^८

- (१) आहार संज्ञा, (२) भय संज्ञा,
(३) मैथुन संज्ञा, (४) परिग्रह संज्ञा ।

(३) चार विक्रियाओं के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

- (१) स्त्री कथा, (२) भक्त कथा,
(३) देश कथा, (४) राज कथा ।

(४) चार ध्यानों में से दो के करने पर और दो के न करने पर जो भी अतिचार लगा हो तो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

- (१) आर्त ध्यान, (२) रौद्र ध्यान,
(३) धर्म ध्यान, (४) शुक्ल ध्यान ।

(१) पाँच क्रियाओं के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

- (१) कायिकी, (२) अधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी,
(४) पारितापनिकी, (५) प्राणातिपात क्रिया ।

(२) पाँच काम गुणों के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

- (१) शब्द, (२) रूप, (३) गन्ध, (४) रस,
(५) स्पर्श ।

(३) पाँच महाव्रतों का सम्यक् रूप से पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

- (१) सर्व प्राणातिपात-विरमण, (२) सर्व मृषावाद-विरमण,
(३) सर्व भदतादान-विरमण, (४) सर्व मैथुन-विरमण,
(५) सर्व परिग्रह-विरमण ।

(४) पाँच समितियों का सम्यक् पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

- (१) ईर्या समिति, (२) भाषा समिति,
(३) एषणासमिति, (४) आदान-भाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति,
(५) उच्चार-प्रसवण-श्लेष्म-जल्ल-सिघाण-पारिष्ठापनिका
समिति ।

(१) छह प्रकार के जीवनिक्कायों की हिसा करने से जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

- (१) पृथ्वीकाय, (२) अपकाय, (३) तेजस्काय,
(४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय, (६) असकाय ।

१ सम. सम. ४, सु. १

२ (क) ठाणं. अ. ४, उ. २, सु. २८२

३ (क) ठाणं. अ. ४, उ. १, सु. २४७

४ सम. सम. ५, सु. १

५ (क) ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६०

६ (क) ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३८६

७ (क) ठाणं. अ. ५, उ. ३, सु. ४५७

८ (क) ठाणं. अ. ६, सु. ४८०

(ख) सम. सम. ४, सु. १

(ख) सम. सम. ४, सु. १ (ग) तपाचार

(ख) सम. सम. ५, सु. १

(ख) सम. सम. ५, सु. १

(ख) सम. सम. ५, सु. १

(ख) सम. सम. ६, सु. १

(२) पञ्चिकमामि छहिं लेसाहि—

(१) किण्वलेसाए, (२) नीललेसाए, (३) काजलेसाए,
(४) तेजलेसाए, (५) धम्हलेसाए, (६) सुक्कलेसाए।^१

पञ्चिकमामि सत्तहिं मयट्ठाणेहि^२

अट्ठाहिं मयट्ठाणेहि^३

नवहिं बंभचेरगुत्तीहि,^४

वसविहे समणधम्मे—^५

एक्कारसहिं उवासग-पडिमाहि,^६

बारसहिं विक्क-पडिमाहि,^७

तेरसहिं किरियाठाणेहि,^८

चउडसेहिं सुय्यामेहि,^९

पत्तरसहिं परमाहम्मिएहि,^{१०}

सोससहिं गाहासोलसएहि,^{११}

सत्तरसविहे असंजमे,^{१२}

अट्टारसविहे अबंभे,^{१३}

एगुणधीसाए नाथउत्तयणेहि,^{१४}

कीसाए असमाहिट्ठाणेहि,^{१५}

- १ (क) ठाणं. अ. ६, सु. ५०४
- २ (क) ठाणं. अ. ७, सु. ५४६
- ३ (क) ठाणं. अ. ८, सु. ६०६
- ४ (क) ठाणं. अ. ९, सु. ६६३
- ५ (क) ठाणं. अ. १०, सु. ७१२
- ६ (क) ठाणं. अ. १०, सु. ७५५
- (ग) दसा. द. ६, सु. १-३०
- ७ (क) ठाणं अ., १०, सु. ७५५
- (ग) दसा. द. ७, सु. १-३६
- ८ (क) अनाचार
- ९ सम. सम. १४, सु. १
- ११ सम. सम. १६, सु. १
- १२ (क) सम. सम. १७, सु. १
- १३ (क) सम. सम. १८, सु. १
- १४ सम. सम. १९, सु. १
- १५ (क) ठाणं. अ. १०, सु. ७५५

तीन अधर्म लेश्याओं के करने से और तीन धर्म लेश्याओं के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) कृष्णलेश्या, (२) नीललेश्या, (३) कपोतलेश्या,
(४) तेजोलेश्या, (५) पद्मलेश्या, (६) शुक्ललेश्या।

प्रतिक्रमण करता हूँ—सात भय के कारणों से

आठ मद स्थानों के सेवन से,

नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों का सम्यक् पालन न करने से,

दश विध क्षमा आदि भ्रमण-धर्म की विराधना से,

ग्यारह श्रावक की प्रतिमाओं की अश्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा से,

बारह भिक्षु प्रतिमाओं की श्रद्धा, प्ररूपणा तथा पालन अच्छी तरह से न करने से,

तेरह क्रिया-स्थानों के करने से,

चौदह प्रकार के जीवों की हिंसा से,

पन्द्रह परमाधार्मिकों के प्रति अशुभ परिणाम करने से,

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाथा अध्ययन सहित सोलह अध्ययनों में प्ररूपित धर्मानुसार आचरण न करने से।

सत्तरह प्रकार के असंयमों के आचरण से,

अट्टारह प्रकार के अश्रद्धाचर्य से,

ज्ञाता सूत्र के उन्नीस अध्ययनों में प्रतिपादित भावानुसार संयम में न रहने से,

बीस असमाधि स्थानों के सेवन से,

(ख) सम. सम. ६, सु. १

(ग) सम. सम. ७, सु. १

(घ) सम. सम. ८, सु. १

(ङ) सम. सम. ९, सु. १

(च) सम. सम. १०, सु. १

(छ) सम. सम. १०, सु. १

(ज) गृहस्थ धर्म

(झ) सम. सम. १२, सु. १

(ञ) संयमी जीवन

(ट) सम. सम. १३, सु. १

१० सम. सम. १५, सु. १

(स) संयमी जीवन

(ख) चतुर्थ महाव्रत

(ग) सम. सम. २०, सु. १

(ग) अनाचार,

(ग) चतुर्थ महाव्रत

इक्कीसवीसाए सबलेहि,^१
 बाबीसाए परीसहेहि,^२
 तेबीसाए सूपगड्डसयणेहि,^३
 चउखीसाए बेवेहि,^४
 पणवीसाए मावणाहि,^५
 छब्बीसाए इसाकप्पववहारणं उद्देसणकालेहि,^६

सत्ताबीसाए अणगरगुणेहि,^७
 अट्ठाबीसाए आशारपक्खेहि,^८

एगुणतीसाए पावसुपसंगेहि,^९
 तीसाए मोहणीयट्ठाणेहि,^{१०}
 एगतीसाए सिद्धाड्डगुणेहि,^{११}
 बत्तीसाए जोगसंगहेहि,^{१२}
 तेत्तीसाए आसायणाहि,^{१३}
 जो मे देवस्सिओ अदधारो कओ तस्स मिच्छामि तुक्कडं ।

—आव. अ. ४, सु. २०-२६

निर्ग्रन्थ धर्माहयार विसोहि सुत्त—

२३१. नमो चउबीसाए तिरुयरणं उसभाए-महावीरपज्जव-
 सत्ताणं ।

इणमेव निर्ग्रन्थं पावयथं—

सच्चं, अणुत्तरं, केवलसिधं, पडिपुणं, नेआउयं, संसुद्धं,
 सल्लकत्तणं, सिद्धिमगं, भुत्तिमगं, निज्जाणमगं, निब्बान-
 मगं, अवित्तहमविसंघि, सच्चवुक्खप्पहोणमगं ।

- १ (क) ठाणं. अ. १०, सु. ७५५
 २ (क) सम. सम. २२, सु. १
 ३ सम. सम. २३, सु. १
 ४ (क) सम. सम. २४, सु. १
 ५ सम. सम. २६, सु. १
 ७ (क) सम. सम. २७, सु. १
 ८ सम. सम. २८, सु. १
 १० (क) ठाणं. अ. १०, सु. ७५५
 ११ सम. सम. ३१, सु. १
 १२ (क) सम. सम. ३२, सु. १
 १३ (क) सम. सम. ३३, सु. १

इक्कीस शवल दोषों के सेवन से,
 बाईस परीपह महन न करने से,
 सूत्रकृतांग सूत्र के तेरह अध्ययनों में प्ररूपित आचरण न करने से
 चौबीस देवों की अवहेलना करने से,
 पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनानुसार आचरण न करने से,
 दशा-श्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार—एक सूत्रायी के
 छब्बीस उद्देशन कालों में प्रतिपादित विधि-निषेधों का आचरण
 न करने से,

सत्ताईस साधु के गुणों को पूर्णतः धारण न करने से,
 आचार-प्रकल्प = आचारांग तथा निर्णीत सूत्र के अट्ठाईस
 अध्ययनों में प्रतिपादित विधि-निषेधों का आचरण न करने से,
 उत्तीस पाप-श्रुतों का प्रयोग करने से,
 महामोहनीय कर्म के तीस स्थानों के सेवन करने से,
 सिद्धों के इक्कीस गुणों की उचित श्रद्धा प्ररूपणा न करने से,
 बत्तीस योग संग्रहों का यथार्थ आचरण न करने से,
 तेतीस आशातनाओं के करने से,
 जो मुझे दिवस सम्बन्धी अतिचार दोष लगा हो उसका भेरा
 पाप निष्फल हो ।

निर्ग्रन्थ धर्मातिचार शुद्धि सूत्र—

२३२. भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त
 चौबीस तीर्थंकर देवों को नमस्कार करता हूँ ।

यह निर्ग्रन्थ प्रवचन,

सत्य है, सर्वोत्तम है, केवलज्ञानियों से प्ररूपित है, मोक्ष
 प्राप्त कराने वाले गुणों से परिपूर्ण है, मोक्ष पहुँचाने वाला है या
 न्याय से अबाधित है, पूर्ण शुद्ध है, माया आदि शक्तियों को नष्ट
 करने वाला है, सिद्धि की प्राप्ति का उपाय है, मुक्ति का साधन
 है, मोक्ष स्थान का मार्ग है, पूर्ण शान्ति रूप निर्वाण का मार्ग है,
 असत्य नहीं है यथार्थ है, विच्छेद रहित है अथवा पूर्वापर
 विरोध से रहित है, सब दुःखों को पूर्णतया क्षय करने का मार्ग है ।

- (ख) सम. सम. २१, सु. १ (ग) अनाचार
 (ख) वीर्याचार (ग) उत्त. अ. २
 ४ सम. सम. २४, सु. १
 (ख) पाँच महाव्रत
 (ख) संयमी जीवन
 ६ सम. सम. २६, सु. १
 (ख) सम. सम. ३०, सु. १ (ग) अनाचार
 (ख) संयमी जीवन
 (ख) ज्ञानाचार (ग) दशा. द. ३

इत्थं ठिआ जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिब्बा-
यंति, सब्बबुक्खाणमंतं करेंति ।

सं धम्मं सद्वहामि, पत्तिआमि, रोएमि, फासेमि, पालेमि,
अणुपालेमि ।

तं धम्मं सद्वहंतो, पत्तिअंतो, रोअंतो, फासंतो, पालंतो,
अणुपालंतो ।

तस्स धम्मस्स अकमुट्ठिओमि आराहणाए, विरओमि विराह-
णाए ।

(१) असंजमं परिआणामि, संजमं उवसंपज्जामि ।

(२) अबंभं परिआणामि, बंभं उवसंपज्जामि ।

(३) अकल्पं परिआणामि, कल्पं उवसंपज्जामि ।

(४) अज्ञाणं परिआणामि, नाणं उवसंपज्जामि ।

(५) अकिरियं परिआणामि, किरियं उवसंपज्जामि ।

(६) मिच्छत्तं परिआणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि ।

(७) अबोहिं परिआणामि, बोहिं उवसंपज्जामि ।

(८) अमगं परिआणामि, मगं उवसंपज्जामि ।

अं संभरामि, अं च न संभरामि,
अं पडिक्कमामि, अं च न पडिक्कमामि,

तस्स सक्खस्स वेवसियस्स अइआरस्स पडिक्कमामि ।

समणोऽहं संजय - विरय - पडिहय - धन्वक्खाय - पावकम्मो,
अनिमाणो, दिट्ठिसंपन्नो, माया-भोस-विधज्जिओ ।

अट्ठाहज्जेसु वीव समुदेसु, पन्नरससु कम्मभूमीसु ।

जावंत के वि साह, रयहरण-गुच्छ-पडिभाह-धरा ॥

इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में स्थित रहने वाले अर्थात् तबनुसार
आचरण करने वाले भव्य जीव सिद्ध होते हैं, सर्वज्ञ होते हैं, पूर्ण
आत्म-शान्ति को प्राप्त करते हैं तथा समस्त दुःखों का (सदा
काल के लिए) अन्त करते हैं ।

मैं इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन स्वरूप धर्म की श्रद्धा करता हूँ,
समक्ति स्वीकार करता हूँ, रुचि करता हूँ, स्पर्शना करता हूँ,
पालन करता हूँ, विशेष रूप से निरन्तर पालन करता हूँ ।

मैं प्रस्तुत जिन-धर्म की श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता
हुआ, रुचि करता हुआ, आचरण करता हुआ, पालना करता
हुआ, विशेष रूप से निरन्तर पालन करता हुआ—

उस धर्म की आराधना करने में पूर्ण रूप से तत्पर हूँ और
धर्म की विराधना से पूर्णतया निवृत्त होता हूँ—

(१) असंयम को जानकर त्यागता हूँ, संयम को स्वीकार
करता हूँ ।

(२) अब्रह्मचर्य को जानकर त्यागता हूँ, ब्रह्मचर्य को स्वीकार
करता हूँ ।

(३) अकल्प को जानकर त्यागता हूँ, कल्प को स्वीकार
करता हूँ ।

(४) अज्ञान को जानकर त्यागता हूँ, ज्ञान को स्वीकार
करता हूँ ।

(५) अकृत्य को जानकर त्यागता हूँ, कृत्य को स्वीकार
करता हूँ ।

(६) मिथ्यात्व को जानकर त्यागता हूँ, सम्यक्त्व को
स्वीकार करता हूँ ।

(७) मिथ्यात्व के कार्य को जानकर त्यागता हूँ, सम्यक्त्व
के कार्य को स्वीकार करता हूँ ।

(८) हिंसा आदि अमार्ग को जानकर त्यागता हूँ, अहिंसा
आदि मार्ग को स्वीकार करता हूँ ।

जो दोष स्मृति में है और जो स्मृति में नहीं है,
जिनका प्रतिक्रमण कर चुका हूँ और जिनका प्रतिक्रमण नहीं
कर पाया हूँ ।

उन सब दिवस सम्बन्धी अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ,
मैं श्रमण हूँ, संयमी हूँ, विरत हूँ, पाप कर्मों को रोकने
वाला हूँ, एवं पाप कर्मों का त्याग करनेवाला हूँ, निदान-शून्य से
रहित हूँ, सम्यग्दर्शन से युक्त हूँ, माया सहित मृषावाद का परिहार
करने वाला हूँ ।

अट्ठाई द्वीप और दो समुद्र के परिमाण वाले मनुष्य क्षेत्र में
अर्थात् पन्द्रह कर्मभूमियों में जो भी रजोहरण, गुच्छक एवं पात्र
के धारण करने वाले हैं—

पंचमहव्यय-धरा अट्टारस सहस्त्र-सीलंगधरा ।
अक्षयायारचरिता, ते सखे सिरसा मणसा मर्यादुण बंदामि ॥
—आव. अ. ४, सु. २७-३१

मारणान्तिक संलेखना सुत्त—

२३३. तयाणंतरं च ण अपच्छिम-मारणान्तिक-संलेखना-सूतणा
आराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा,
तं जहा—
(१) इहलोगासंसपपओगे
(२) परलोगासंसपपओगे,
(३) जीवियासंसपपओगे,
(४) मरणासंसपपओगे,
(५) कामभोगासंसपपओगे । —आव. अ. १, सु. ५७

क्षामणा सुत्त—

२३४. क्षामेमि सख्येजीवा, सख्ये जीवा क्षमंतु मे ।
मिक्षी मे सख्यभूणु, वेरं मउमं न केणइ ॥

आयरिय-उवज्जाए-सीसे साहम्मिए कुल गणे म ।
जे मे केइ कसाया सख्ये तिविहेण क्षामेमि ॥

सख्यस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलि करोय सीसे ।
सख्यं क्षमावइत्ता, क्षमामि सख्यस्स अहमवि ॥

सख्यस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्म निहियनियचित्तो ।
सख्यं क्षमावइत्ता, क्षमामि सख्यस्स अहमवि ॥

—सुत्तागमे आव. अ. ४, सु. ३२

उपसंहार सुत्त—

२३५. एवमहं आलोइअं, निविअं गरहिअं दुगुंछियं सभ्भं ।
तिविहेणं पडिअकंतो, बंदामि जिणं चउअसीसं ॥
—आव. अ. ४, सु. ३३

काउस्सग विहि सुत्त—

२३६. तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्त-करणेणं, त्रिसोहि-करणेणं,
धितस्सी-करणेणं, पावाणं कम्माणं निग्धायणद्वए ठामि
काउस्सगं ।

असत्थ ऊत्तसिएणं, नीत्तसिएणं, खासिएणं, छीएणं, जंभाइ-
एणं, उइइएणं, वायनिसणेणं, ममलोए, पित्तमुच्छाए, सुहु-
मेहि अंगसंचालेहि, सुहुमेहि खेलसंचालेहि, सुहुमेहि विट्ठि-

तथा पाँच महाव्रत, अठारह हजार संयम के गुणों को धारण
करने वाले एवं अक्षत आचार के पालक जो त्यागी साधु हैं, उन
सबको मैं शिर से, मन से, मस्तक से वन्दना करता हूँ ।

मरणान्तिक संलेखना के अतिचार—

२३३. तदनन्तर अपश्चिम-मरणान्तिक-संलेखना-श्लेषणा आराधना
के पाँच अतिचारों को जानना चाहिए उनका आचरण नहीं
करना चाहिए, वे इस प्रकार हैं—

- (१) इहलौकिक सुख की चाहना करना ।
- (२) परलौकिक सुख की चाहना करना ।
- (३) जीने की चाहना करना ।
- (४) मरने की चाहना करना ।
- (५) काम-भोगों की आकांक्षा करना ।

क्षमापना सूत्र—

२३४. मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ और वे सब जीव भी
मुझे क्षमा करें । मेरी सब जीवों के साथ पूर्ण मित्रता है, किसी
के साथ भी मेरा वैरभाव नहीं है ।

आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल एवं गण के प्रति
जो मैंने कोई भी कषाय किये हों उनकी मन, वचन, काया से
क्षमा याचना करता हूँ ।

मस्तक पर अंजली धड़ाकर भगवान महावीर के समस्त
श्रमणसंघ से मैं क्षमा याचना करता हूँ वह संघ मुझे भी क्षमा
प्रदान करे ।

मैं धर्म में दत्तचित्त होकर समस्त जीव राशि से क्षमा
याचना करता हूँ, वह जीवराशि मुझे भी क्षमा प्रदान करे ।

उपसंहार सूत्र —

२३५. इस प्रकार मैं सम्पक् प्रकार से आलोचना, निन्दा, गर्हा
और जुगुप्सा के द्वारा तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन, काया
से, प्रतिक्रमण कर पापों से निवृत्त होकर चौबीस तीर्थंकर देवों
को वन्दना करता हूँ ।

कायोत्सर्ग-विधि सूत्र—

२३६. आत्मा की खेष्टता के लिए, प्रायश्चित्त के लिए, विशेष
निर्मलता के लिए, शल्य-रहित होने के लिए, पाप कर्मों का
पूर्णतया विनाश करने के लिए, आगे कहे जाने वाले आंगारों को
छोड़कर मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

उच्छ्वास, निःश्वास, खाँसी, छींक, उवासी, ठकार, अपान-
वायु, चक्कर, पित्त-विकारजन्य मूर्च्छा, सूक्ष्म रूप से अंगों का
हिलना, सूक्ष्म रूप से कफ का संचार, सूक्ष्म रूप से दृष्टि चलना

संचालेहि एवमाहृहि आगारेहि, अभग्गो, अविराहिओ, इत्यादि आगारों से मेरा कायोत्सर्ग अभग्न एवं अविराहित हो।
हुज्ज मे काउत्सग्गो।

जाव अरिहंताणं भगवंताणं, नमुक्कारेणं न पारेमि, ताव
कामं ठाणेणं, मोणेणं, ज्ञाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि।

—आव. अ. ५, सु. ३६-३७

जब तक अरिहंत भगवान् को नमस्कार न कर लूं, अर्थात्
“नमो अरिहंताणं” न पढ़ लूं, तब तक एक स्थान पर स्थिर
रहकर, मौन रहकर, धर्म ध्यान में चित्त की एकाग्रता करके
अपनी आत्मा को पाप व्यापारों से अलग करता हूँ।



दस पञ्चवखाण—४

दसविह-पञ्चवखाणा—

णमोक्कार-सहियं पञ्चवखाण-सुत्तं—

२३७. उगए सूरे नमोक्कारसहियं^१ पञ्चवखामि, चउव्विहं पि
आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

१. अन्नत्थणामोणेणं,
वोसिरामि।

२. सहसागारेणं,

—आव. अ. ६, सु. ६६

पोरिसी पञ्चवखाण-सुत्तं—

२३८. उगए सूरे पोरिसि^२ पञ्चवखामि, चउव्विहं पि आहारं—
असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

१. अन्नत्थणामोणेणं, २. सहसागारेणं, ३. पच्छन्नकालेणं,

४. विसामोहेणं, ५. साहुवथणेणं,

६. सम्मसमाहिवसियागारेणं,

वोसिरामि।

—आव. अ. ६, सु. ८७

पुरिमइठ पञ्चवखाण-सुत्तं—

२३९. उगए सूरे, पुरिमइठ^३ पञ्चवखामि, चउव्विहं पि आहारं—
असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

दस प्रकार के प्रत्याख्यान—

नौकारसी प्रत्याख्यान सूत्र—

२३७. सूर्योदय बाद से (एक मुहूर्त पर्यन्त) “नमस्कार सहित”
अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारों ही प्रकार के आहार का
प्रत्याख्यान करता हूँ।

(१) अनाभोग,

(२) सहसाकार,

इन दो आगारों के सिवाय चारों प्रकार के आहार का त्याग
करता हूँ।

पौरुषी प्रत्याख्यान सूत्र—

२३८. सूर्योदय से लेकर पौरुषी तक अशन, पान, खादिम,
स्वादिम इन चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार, (३) पच्छन्नकाल,

(४) विसामोह,

(५) साधु-वचन,

(६) सर्व-समाधि प्रत्ययागार,

इन छह आगारों के सिवाय पूर्णतया चारों आहार का त्याग
करता हूँ।

दो पौरुषी प्रत्याख्यान सूत्र—

२३९. सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्द्ध तक अर्थात् दो प्रहर तक
अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारों प्रकार के आहार का प्रत्या-
ख्यान करता हूँ।

१ यह “नमस्कार सहित” प्रत्याख्यान का सूत्र है। सूर्योदय से लेकर एक मुहूर्त बाद जब तक नमस्कार मन्त्र न पढ़े तब तक
आहारादि ग्रहण नहीं करना ‘नौकारसी’ कहलाता है।

२ सूर्योदय से लेकर एक प्रहर दिन चढ़े तब तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना ‘पौरुषी’ प्रत्याख्यान है।

३ यह ‘पूर्वार्ध’ प्रत्याख्यान का सूत्र है। इसमें सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्व भाग तक अर्थात् दो प्रहर दिन चढ़े तब तक चारों
आहार का त्याग किया जाता है।

१. अन्नत्थणाभोगेणं, २. सहसागारेणं, ३. पञ्चकालेणं,
४. दिशामोहेणं, ५. साधुवचनेणं, ६. महत्तरागारेणं,
७. सव्यसमाहिषत्तियागारेणं वोत्तिरामि ।

—आव. अ. ६, सु. ६८

एगासण पच्चक्खान-सुत्तं —

२४०. एगासणं^१ पच्चक्खामि तिविहं पि आहारं असणं, खाइमं,
साइमं,

१. अन्नत्थणाभोगेणं, २. सहसागारेणं,
३. सागारियागारेणं, ४. आउटण-पसारणेणं,
५. गुरु-अन्नमुट्ठणेणं, ६. पारिट्ठावणियागारेणं,
७. महत्तरागारेणं, ८. सव्यसमाहिषत्तियागारेणं,
वोत्तिरामि ।

—आव. अ. ६, सु. ६९

एगट्ठण पच्चक्खान-सुत्तं —

२४१. एकासणं एगट्ठणं^२ पच्चक्खामि, चउविहं पि आहारं असणं,
पाणं, खाइमं, साइमं ।

१. अन्नत्थणाभोगेणं, २. सहसागारेणं,
३. सागारियागारेणं, ४. गुरुअन्नमुट्ठणेणं,
५. पारिट्ठावणियागारेणं, ६. महत्तरागारेणं,
७. सव्यसमाहिषत्तियागारेणं वोत्तिरामि ।

—आव. अ. ६, सु. १००

आयंजिल-पच्चक्खान-सुत्तं —

२४२. आयंजिलं पच्चक्खामि^३ तिविहं पि आहारं असणं, खाइमं,
साइमं ।

१. अन्नत्थणाभोगेणं, २. सहसागारेणं,
३. लेवालेवेणं, ४. उत्तिष्ठत्तविवेणेणं,
५. गिहस्थ संसट्ठेणं, ६. पारिट्ठावणियागारेणं,
७. महत्तरागारेणं, ८. सव्यसमाहिषत्तियागारेणं,
वोत्तिरामि ।

—आव. अ. ६, सु. १०१

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार, (३) पञ्चकाल,
(४) दिशामोह, (५) साधुवचन, (६) महत्तराकार,
(७) सर्वसमाधिप्रत्ययागार । इन सति आहारों के सिवाय

पूर्णतया चारों आहारों का त्याग करता हूँ ।

एकाशन प्रत्याख्यान सूत्र—

२४०. एकाशनं तप स्वीकार करता हूँ, अशन, खादिम, स्वादिम,
इन तीनों प्रकार के आहारों का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

(१) अनाभोग, (२) सहसागार,
(३) सागारिकाकार, (४) आकुञ्चनप्रसारण,
(५) गुरुभ्युत्थान, (६) पारिष्ठापनिकाकार,
(७) महत्तराकार, (८) सर्व-समाधिप्रत्ययाकार,

इन आठ आहारों के सिवाय पूर्णतया तीनों आहारों का
त्याग करता हूँ ।

एकस्थान प्रत्याख्यान सूत्र—

२४१. एकाशनं रूप एकस्थानं ग्रहण करता हूँ, अशन, पानं,
खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहारों का प्रत्याख्यान
करता हूँ ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार,
(३) सागारिकाकार, (४) गुरुभ्युत्थानं,
(५) पारिष्ठापनिकाकार, (६) महत्तराकार,
(७) सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार, इन सात आहारों के सिवाय

पूर्णतया चारों आहारों का त्याग करता हूँ ।

आयंजिल प्रत्याख्यान सूत्र—

२४२. आयंजिलं तप स्वीकार करता हूँ, अशन, खादिम,
स्वादिम इन तीनों आहारों का त्याग करता हूँ ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार,
(३) लेपालेप, (४) उत्तिष्ठत्तविवेक,
(५) गृहस्थसंसृष्ट, (६) पारिष्ठापनिकाकार,
(७) महत्तराकार, (८) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार,

इन आठ आहारों के अतिरिक्त तीनों आहार का त्याग
करता हूँ ।

१. पौरुषी या पूर्वार्द्ध के बाद दिन में एक बार भोजन करना उसके बाद तीनों आहारों का त्याग करना 'एकाशन' तप होता है ।
एकाशन का अर्थ है—एक अशन अर्थात् दिन में एक बार भोजन करना अथवा एक आसन से भोजन करना ।

२. दिन में एक बार एक ही आसन से भोजन एवं पानी ग्रहण करना उसके बाद चारों आहार का त्याग करना 'एक स्थान'—
एगलट्ठण तप होता है ।

३. दिन में एक बार, रुखा, नीरस एवं विनय रहित एक आहार ही ग्रहण करना और उसके बाद तीन आहार का त्याग करना
'आयंजिल' तप कहा जाता है ।

दूध, दही, घी, तेल, गुड़, शक्कर और पक्वान्त आदि किसी भी प्रकार का स्वादु भोजन आयंजिल तप में ग्रहण नहीं किया जा
सकता है ।

अभक्तद्व-पञ्चवस्त्राण-सुत्तं—

२४३. उग्रए सरे अभक्तद्व^१ पञ्चवस्त्रामि, चउत्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

१. अन्नतथऽणाभोगेणं, २. सहसागारेणं,
३. पारिष्ठापनिकाकारेणं, ४. महत्तरागारेणं,
५. सर्वसमाधिप्रत्ययागारेणं वोसिरामि ।

—आव. अ. ६, सु. १०२

दिवसचरिम-पञ्चवस्त्राण-सुत्तं—

२४४. दिवसचरिमं पञ्चवस्त्रामि^२ चउत्विहं पि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

१. अन्नतथऽणाभोगेणं, २. सहसागारेणं,
३. महत्तरागारेणं, ४. सर्वसमाधिप्रत्ययागारेणं,
वोसिरामि । — आव. अ. ६, सु. १०३(१)

भवचरिम-पञ्चवस्त्राण-सुत्तं—

२४५. भवचरिमं पञ्चवस्त्रामि^३ चउत्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

१. अन्नतथऽणाभोगेणं, २. सहसागारेणं,
३. महत्तरागारेणं, ४. सर्वसमाधिप्रत्ययागारेणं
वोसिरामि । —आव. अ. ६, सु. १०३(२)

अभिग्रह-पञ्चवस्त्राण-सुत्तं—

२४६. अभिग्रहं पञ्चवस्त्रामि^४ चउत्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

उपवास प्रत्याख्यान सूत्र—

२४३. सूर्योदय से उपवास तप ग्रहण करता हूँ, अशन, पान, खादिम, और स्वादिम चारों ही आहार का त्याग करता हूँ ।

- (१) अनाभोग, (२) सहसाकार,
(३) पारिष्ठापनिकाकार, (४) महत्तराकार,
(५) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार, इन पाँच आहारों के सिवाय सब प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ ।

दिवसचरिम प्रत्याख्यान सूत्र—

२४४. दिवस चरिम का व्रत ग्रहण करता हूँ, अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों आहार का त्याग करता हूँ ।

- (१) अनाभोग, (२) सहसाकार,
(३) महत्तराकार, (४) सर्वसमाधिप्रत्ययागार,
इन चार आहारों के सिवाय सब प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ ।

भवचरिम प्रत्याख्यान सूत्र—

२४५. भवचरिम ग्रहण करता हूँ, अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों आहार का त्याग करता हूँ ।

- (१) अनाभोग, (२) सहसाकार,
(३) महत्तराकार, (४) सर्वसमाधिप्रत्ययागार,
इन चार आहारों के सिवाय सब प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ ।

अभिग्रह प्रत्याख्यान सूत्र—

२४६. अभिग्रह ग्रहण करता हूँ, अशन, पान, खादिम, और स्वादिम चारों ही आहार का त्याग करता हूँ ।

१ अभक्तार्थ = उपवास, अ = नहीं, भक्त = आहार का, अर्थ = प्रयोजन ! तीनों का सम्पूर्ण अर्थ यह होता है कि भक्त का प्रयोजन नहीं है जिस व्रत में वह 'उपवास' है । सूर्योदय से दूसरे दिन सूर्योदय तक चारों आहार का त्याग करना उपवास तप है । पानी के आहार से उपवास करना हो तो प्रत्याख्यान सूत्र में "चउत्विहं पि आहारं" के स्थान पर "तिविहं पि आहारं" ऐसा पाठ कहना चाहिए ।

२ यह चरिम प्रत्याख्यान सूत्र है । "चरिम" का अर्थ "अन्तिम भाग" है । वह दो प्रकार का है — दिवस का अन्तिम भाग और भव अर्थात् आयु का अन्तिम भाग । सूर्य अस्त होने से पहले ही दूसरे दिन सूर्योदय तक साधु को चारों आहार का त्याग करना और गृहस्थ को चारों अथवा तीनों आहारों का त्याग करना "दिवस चरिम" प्रत्याख्यान है ।

३ 'भवचरिम' प्रत्याख्यान का अर्थ है जब साधु को यह निश्चय हो जाय कि आयु थोड़ी ही शेष है तो यावज्जीवन के लिए चारों या तीनों आहारों का त्याग कर दे और संन्यास ग्रहण करके संन्यास की आराधना करे । भवचरिम का प्रत्याख्यान जीवन भर का संन्यास साधना का उज्ज्वल प्रतीक है । भव चरिम चउविहार या तिविहारा दोनों प्रकार से होते हैं ;

४ गवेषणा के सामान्य नियमों के सिवाय अन्य व्यक्ति, वस्तु और वर्ण आदि के संकेतों से युक्त भिक्षा ग्रहण करने के लिए नियम करना 'अभिग्रह' तप होता है । संकल्प निश्चित करने के बाद उक्त पाठ से प्रत्याख्यान किया जाता है, अभिग्रह पूर्ण होने पर ही आहार ग्रहण किया जाता है एवं अभिग्रह पूर्ति के पूर्व अभिग्रह विषयक संकल्प प्रकट नहीं किया जाता है ।

१. अन्नत्पणाभोगेणं, २. सहसागारेणं, ३. महत्तरागारेणं,
सर्वसमाधिप्रत्ययागारेणं बोधिरामि ।

—आव. अ. ६, सु. १०४

निर्विकृतिक-पञ्चवक्त्राण-सुसं—

२४७. निर्विकृतिको पञ्चवक्त्राणि—

(१) अन्नत्पणाभोगेणं,	(२) सहसागारेणं,
(३) लेपालेपेणं,	(४) गिहत्पसंसृष्टेणं,
(५) उत्क्षिप्तविवेकेणं,	(६) पबुच्छसमिक्षेणं,
(७) पारिष्ठापनिकागारेणं,	(८) महत्तरागारेणं,
(९) सर्वसमाधिप्रत्ययागारेणं, ^१	बोधिरामि ।

—आव. अ. ६, सु. १०४

अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्यया-
कार, इन चार आगारों के सिवाय अभिग्रहपूर्ति तक चारों बाह्यार
का त्याग करता हूँ ।

निर्विकृतिक (नीवी) प्रत्याख्यान सूत्र—

२४७. निर्विकृतिक तप स्वीकार करता हूँ,

(१) अनाभोग,	(२) सहसाकार,
(३) लेपालेप,	(४) गृहस्थ-संसृष्ट,
(५) उत्क्षिप्तविवेक,	(६) प्रतीत्यप्रक्षित,
(७) पारिष्ठापनिकाकार,	(८) महत्तराकार,
(९) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार,	इन ती आगारों के सिवाय सब

प्रकार के विषयों का परित्याग करता हूँ ।

१ (क) दिन में एक बार विनय रहित आहार करना "निर्विकृति" (निवी—नीवी) तप होता है ।

(ख) मन में विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थों को 'विषय' कहते हैं ।

'मनसो विकृतिहेतुत्ववाद् विकृतयः' योगशास्त्र तृतीय प्रकाश वृत्ति ।

विकृति में दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु आदि पदार्थ सम्मिलित हैं ।

२ दस प्रत्याख्यानों के १५ आगारों का विवेचन—

(१) अनाभोग—'अभी मेरे प्रत्याख्यान' है यह सर्वथा विस्मृत हो जाये और ऐसी स्थिति में भूल से कुछ खा ले या पी ले तो यह अनाभोग आगार है ।

(२) सहसाकार अनिच्छा से कोई पदार्थ मुँह में चला जाय, यह सहसाकार आगार है, यथा—पानी, छाछ आदि के छीटें मुँह में चले जायें । अथवा कोई जबरदस्ती से मुँह में ठूस दे या बलपूर्वक खिलावे तो यह भी सहसाकार आगार समझ सकते हैं ।

(३) प्रच्छन्नकाल—बादल आदि से सूर्य न दिखने पर पौरुषी का निश्चित काल ज्ञात न होने से पौरुषी के पूर्व प्रत्याख्यान पार लेवे तो यह प्रच्छन्नकाल आहार है ।

(४) दिशामोह—अन्ति से पूर्व या पश्चिम दिशा का यथार्थ भान न रहे और पौरुषी न आने पर भी पौरुषी आ गई ऐसा मानकर पौरुषी का प्रत्याख्यान पार ले तथा खा ले पी ले तो यह दिशामोह आगार है ।

(५) साधु वचन—'पौरुषी आ गई है' ऐसा साधु पुरुष के कहने पर पौरुषी आये बिना प्रत्याख्यान पार लेना—यह साधु वचन आगार है ।

(६) सर्व समाधि प्रत्यय आगार—जब तक समाधिभाव है तब तक प्रत्याख्यान है, प्राणघातक भूल आदि रोग निमित्तक असमाधि से प्रत्याख्यान पार लेना यह सर्वसमाधि प्रत्यय आगार है ।

(७) महत्तरागार—आचार्य आदि बड़े पुरुषों की आज्ञा से प्रत्याख्यान पार लेना, यह महत्तरागार है ।

(८) सागारिक आगार—एक वासन से एक बार भोजन करने का प्रत्याख्यान होने पर भी भोजन करते समय यदि कोई गृहस्थ आ जाए तो उठना पड़े और अन्यत्र जाकर भोजन करना पड़े तो यह सागारिक आगार है ।

(९) आकुंचन-प्रसारण आगार—एकासन से भोजन करते हुए भी बैठे-बैठे पैर आदि शून्य हो जाए तो हाथ पैर आदि को फैलाना या सिकोड़ना पड़े तो यह आकुंचन-प्रसारण आगार है ।

(१०) गुरु-अभ्युत्थान आगार—एकासन से भोजन करते हुए यदि गुरुदेव आ जायें तो खड़ा होना और बाद में पुनः बैठकर भोजन करना, यह गुरु-अभ्युत्थान आगार है ।

(११) पारिष्ठापनिका आगार—यदा-कदा आहार गवेषक की असावधानी से या दाता के आग्रह से अधिक आहार आ जाए और आहार कर लेने के बाद भी जो शेष बन जाये तो सभी स्वधर्मिक साधुओं को दे कदाचित् फिर भी शेष रह जाये तो स्थविर गुरुजनों की आज्ञा से प्रत्याख्यान वाला उस आहार का उपयोग करे—यह पारिष्ठापनिका आगार है ।

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

सर्वप्रत्यख्यान-पारण-सूत्र—

२४८. उभय सूत्रे 'नमुक्कार-सहित' पञ्चवक्त्राणं^१ कथं । तं पञ्चवक्त्राणं सम्यं काण्ठ फासियं, पालियं, तीरियं, किट्टियं, सोहियं, आराहियं । अं च न आराहियं, तस्स मिच्छा मि बुक्कडं ।

—सुत्तागमे आव. अ. ६

सर्व प्रत्याख्यान पारण सूत्र—

२४८. सूर्योदय होने पर जो 'नमस्कार-सहित' प्रत्याख्यान किया था वह प्रत्याख्यान मन, वचन, काया के द्वारा सम्यक् रूप से स्पष्ट, पालित, तीरित, कीर्तित, शोधित एवं आराधित किया हो और सम्यक् रूप से जो आराधित न किया हो उसका दुष्कृत भेरे लिए मिथ्या हो ।



(टिप्पण पृष्ठ ६७ से चालू)

(१२) लेपालेप आगार—आयंबिल = (आयाम्ल) में सरस आहार लेने का प्रत्याख्यान होते हुए भी दाता यदि शाक तथा घृत आदि विकृति के लेप वाले चम्मच को पोंछकर दे तो उसे ग्रहण करना यह लेपालेप आहार है ।

(१३) उत्क्षिप्त विवेक आगार—आयंबिल योग्य निरस आहार पर गुड़ आदि (लेप रहित) पड़े हुए पदार्थ को उठाकर दाता उस निरस आहार को दे तो उसे ग्रहण करना यह उत्क्षिप्त विवेक आगार है ।

(१४) गृहस्थ संसृष्ट आगार—दाता के हाथ अंगुलियाँ आदि घृत, तेल, गुड़ आदि से लिप्त हों तो उसके हाथ से आयंबिल योग्य निरस आहार ग्रहण करना, यह गृहस्थ संसृष्ट आगार है ।

(१५) प्रतीत्य अक्षित आगार—गेहूँ आदि के गीले आटे पर घृत, तेल आदि चुपड़ दिया जाता है उससे बनाये गये रोटी पापड़ आदि रुक्ष खाद्य पदार्थ ग्रहण करना, यह प्रतीत्य अक्षित आगार है ।

उक्त १५ आगारों में ६ आगार केवल साधु-साध्वियों के लिए ही नियत हैं ।

(१) सागारिक आगार,	(२) पारिष्ठापनिका आगार,	(३) लेपालेप आगार,
(४) उत्क्षिप्त विवेक आगार,	(५) गृहस्थ संसृष्ट आगार,	(६) प्रतीत्य अक्षित आगार,

शेष ९ आगार साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका आदि सबके लिए उपयुक्त हैं —

(१) अनाभोग आगार,	(२) सहस्रकार आगार,	(३) दिशामोह आगार,
(४) साधु वचन आगार,	(५) आकुंचन प्रसारण आगार,	(६) गुह अभ्युत्थान आगार,
(७) महत्तरागार,	(८) प्रच्छन्नकाल आगार,	(९) सर्व समाधि प्रत्ययागार ।

दस प्रत्याख्यानों में से पाँच प्रत्याख्यानों में पारिष्ठापनिका आगार है—यथा—

(१) एकासन,	(२) एक-स्थान,	(३) आयंबिल,	(४) उपवास,	(५) निर्विकृतिक ।

शेष ५ प्रत्याख्यानों में पारिष्ठापनिका आगार नहीं है । यथा—

(१) नमस्कार सहित (नौकारसी)	(२) पौरुषी,	(३) पूर्वार्ध (दो पौरुषी),
(४) दिवस-चरिम,	(५) अभिग्रह ।	

१ यहाँ नमुक्कार सहित नमस्कारिका का सूचक सामान्य शब्द है । इसके स्थान में जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रक्खा हो उसका नाम लेना चाहिए । जैसे कि पौरुषी रक्खी हो तो "पौरुसीपञ्चवक्त्राणकथं" ऐसा कहना चाहिए ।

प्रत्याख्यान पालने के छह अंग बतलाये गये हैं, वे ये हैं—

- (१) फासियं—विधि पूर्वक प्रत्याख्यान लेना ।
- (२) पालियं—प्रत्याख्यान को बार-बार उपयोग में लाकर सावधानी के साथ उसकी सतत रक्षा करना ।
- (३) सोहियं—कोई दुष्ण लग जाये तो उसकी शीघ्र शुद्धि करना ।
- (४) तीरियं—लिए हुए प्रत्याख्यान का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहर कर भोजन करना ।
- (५) किट्टियं—लिए हुए प्रत्याख्यान का उत्कीर्तन करना कि मेरा प्रत्याख्यान भलीभाँति पूर्ण हो गया है ।
- (६) आराहियं—सब दोषों से दूर रहते हुए आराधना करना ।

अं च न आराहियं—इस प्रकार यदि शुद्ध आराधना न की हो तो आलोचना एवं प्रतिक्रमण करने से व्रत शुद्ध हो जाता है ।

पञ्चकलाण के प्रकार—५

पञ्चकलाणप्पगारा—

२४६. तिविहे पञ्चकलाणे पणत्ते, तं जहा—

१. मणसा वेगे पञ्चकलाति,
 २. मयसा वेगे पञ्चकलाति^१,
 ३. कायसा वेगे पञ्चकलाति, पात्ताणं कम्माणं अकरणयाए ।
- अहवा — पञ्चकलाणे तिविहे पणत्ते, तं जहा—

१. बोहंपेगे अहं पञ्चकलाति,
२. रहसंपेगे अहं पञ्चकलाति^२,
३. कायंपेगे पडिसाहरति, पात्ताणं कम्माणं अकरणयाए ।

—ठाणं. अ. ३, उ. १, सु. १३६

पञ्चविहे पञ्चकलाणे पणत्ते, तं जहा—

१. सदहणसुद्धे,
२. विणयसुद्धे,
३. अणुभासणसुद्धे,
४. अणुपालणसुद्धे,

५. भावसुद्धे ।
- ठाणं. अ. ५, उ. ३, सु. ४६६

पञ्चकलाण-भेयप्पभेया—

२४७. प०—कतिविहे णं भंते ! पञ्चकलाणे पणत्ते ?

उ०—गोयसा ! कुविहे पञ्चकलाणे पणत्ते, तं जहा—

१. मूलगुणपञ्चकलाणे य, २. उत्तरगुणपञ्चकलाणे य ।

प०—मूलगुणपञ्चकलाणे णं भंते ! कतिविहे पणत्ते ?

उ०—गोयसा ! कुविहे पणत्ते, तं जहा—

१. सर्वमूलगुणपञ्चकलाणे य,
२. देशमूलगुणपञ्चकलाणे य ।

१-^२ ठाणं. अ. २, उ. १, सु. ५२

प्रत्याख्यान के प्रकार—

२४६. प्रत्याख्यान तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

पाप कर्म न करने के लिए—

- (१) कोई मन से प्रत्याख्यान करते हैं ।
- (२) कोई वचन से प्रत्याख्यान करते हैं ।
- (३) कोई काया से प्रत्याख्यान करते हैं ।

अथवा प्रत्याख्यान तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

पाप कर्म न करने के लिए—

- (१) कोई दीर्घकाल के लिए पापकर्मों का प्रत्याख्यान करते हैं ।
- (२) कोई अल्पकाल के लिए पापकर्मों का प्रत्याख्यान करते हैं ।
- (३) कोई काया का निरोध कर लेते हैं ।

प्रत्याख्यान पाँच प्रकार का कहा गया है, जैसे—

- (१) शुद्ध श्रद्धा पूर्वक किया गया त्याग ।
- (२) विनय पूर्वक किया गया त्याग ।
- (३) 'बोसिरामि' कहते हुए प्रत्याख्यान ग्रहण करना ।
- (४) विकट स्थिति में भी प्रत्याख्यान का निर्दोष पालन करना ।

(५) राग द्वेष से रहित होकर शुद्ध भाव से प्रत्याख्यान का पालन करना ।

प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेद—

२४७. प्र०—भगवन् ! प्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! प्रत्याख्यान दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

- (१) मूलगुण प्रत्याख्यान, (२) उत्तरगुण प्रत्याख्यान ।

प्र०—भगवन् ! मूलगुण प्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

- (१) सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान,
- (२) देशमूलगुण प्रत्याख्यान ।

प०—सध्वमूलगुणपञ्चकक्षाने णं भंते ! कतिविहे पणत्ते ?

उ०—गोयमा ! पञ्चविहे पणत्ते, तं जहा—

१. सध्वाओ पाणाइयायाओ वेरमणं,
२. सध्वाओ मुसावायाओ वेरमणं,
३. सध्वाओ अदिग्गावाणाओ वेरमणं,
४. सध्वाओ सेहुणाओ वेरमणं,
५. सध्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ।

प०—वेसमूलगुणपञ्चकक्षाने णं भंते ! कतिविहे पणत्ते ?

उ०—गोयमा ! पञ्चविहे पणत्ते, तं जहा—

धूलाओ पाणाइयायाओ वेरमणं-जाव-धूलाओ परिग्ग-
हाओ वेरमणं ।

प०—उत्तरगुणपञ्चकक्षाने णं भंते ! कतिविहे पणत्ते ?

उ०—गोयमा ! द्विविहे पणत्ते, तं जहा—

१. सध्वुत्तरगुणपञ्चकक्षाने य,
२. वेसुत्तरगुणपञ्चकक्षाने य ।

प०—सध्वुत्तरगुणपञ्चकक्षाने णं भंते ! कतिविहे पणत्ते ?

उ०—गोयमा ! वसविहे पणत्ते, तं जहा—

- १-२. अणागतमइवकंसं
३. कोडीसहिं, ४. निमंदिंयं खेव,
- ५-६. सागारमणागारं,
७. परिमाणकञ्जं, ८. निरवसेसं,
९. साकेयं खेव,
१०. अट्ठाण पञ्चकक्षानं भवे इसहा^१ ।

प०—वेसुत्तरगुणपञ्चकक्षाने णं भंते ! कतिविहे पणत्ते ?

उ०—गोयमा ! सप्तविहे पणत्ते, तं जहा—

१. विसिक्खयं, २. उपभोग-परिभोगपरिमाणं,
३. अणत्थवंक-वेरमणं, ४. सामाहयं,
५. वेसज्जगसियं, ६. पोसहोवकासो,

प्र०—भगवन् ! सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! पाँच प्रकार का कहा गया है वह इस प्रकार है—

- (१) सर्व—प्राणातिपात से विरमण,
- (२) सर्व—मृषावाद से विरमण,
- (३) सर्व—अदत्तादान से विरमण,
- (४) सर्व—मैथुन से विरमण,
- (५) सर्व—परिग्रह से विरमण ।

प्र०—भगवन् ! देशमूलगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! पाँच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

स्थूल प्राणातिपात से विरमण—धावत्—स्थूल परिग्रह से विरमण ।

प्र०—भगवन् ! उत्तरगुण प्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

- (१) सर्व-उत्तरगुण प्रत्याख्यान,
- (२) देश-उत्तरगुण प्रत्याख्यान ।

प्र०—भगवन् ! सर्व-उत्तरगुण प्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! सर्व-उत्तरगुण प्रत्याख्यान वस प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

- (१) अनागत, (२) अतिक्रान्त,
- (३) कोटिसहित, (४) नियन्त्रित,
- (५) सागार, (६) अनागार,
- (७) परिमाणकृत, (८) निरवशेष,
- (९) संकेत,
- (१०) अट्ठाप्रत्याख्यान ।

प्र०—भगवन् ! देश-उत्तरगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! सात प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

- (१) दिशापरिमाण, (२) उपभोग-परिभोगपरिमाण,
- (३) अनर्थदण्डविरमण, (४) सामायिक,
- (५) देशावकाशिक, (६) पौषधोपवास,

७. अतिहिसंविभागो,

अपश्चिममारणतिय-संलेहणा मूसणा आराहणया ।

—वि. स. ७, उ. २, सु. २-८

सुपञ्चवक्त्राणी-दुपञ्चवक्त्राणी सरूवं—

२५१ प्र०—से नूनं भंते ! सखपाणेहि सखभूतेहि सखजीवेहि सखसत्तेहि पञ्चक्त्राय इति वयमाणस्त सुपञ्चवक्त्राय भवति ? दुपञ्चवक्त्राय भवति ?

उ०—गोयमा ! “सखपाणेहि-जाव-सखसत्तेहि पञ्चक्त्राय” इति वयमाणस्त सिय सुपञ्चवक्त्राय भवति, सिय दुपञ्चवक्त्राय भवति ।

प्र०—से केण्ठेणं नं भंते ! एवं बुचचइ “सखपाणेहि-जाव-सखसत्तेहि पञ्चक्त्राय” इति वयमाणस्त सिय सुपञ्चवक्त्राय भवति सिय दुपञ्चवक्त्राय भवति ?

उ०—गोयमा ! जस्त णं “सखपाणेहि-जाव-सखसत्तेहि पञ्चक्त्राय” इति वयमाणस्त णो एवं अभिसमन्नागतं भवति—

इमे जीवा, इमे अजीवा,

इमे तसा, इमे थावरा,

तस्त णं “सखपाणेहि-जाव-सखसत्तेहि पञ्चक्त्राय” इति वयमाणस्त नो सुपञ्चवक्त्राय भवति, दुपञ्चवक्त्राय भवति । एवं खलु से सुपञ्चवक्त्राई सखपाणेहि-जाव-सखसत्तेहि “पञ्चक्त्राय” इति वयमाणो नो सखं भासं भासति, भोसं भासं भासइ, एवं खलु से मुसा-वात्ती सखपाणेहि-जाव-सखसत्तेहि तिक्किहं तिक्किहेणं असंजय-अविरय-अपडिहयपञ्चवक्त्रायपावकस्मे सकि-रिए असंखुडे एगंतवडे एगंतवाले पावि भवति ।

जस्त णं “सखपाणेहि-जाव-सखसत्तेहि पञ्चक्त्राय” इति वयमाणस्त एवं अभिसमन्नागतं भवति ।

इमे जीवा, इमे अजीवा,

इमे तसा, इमे थावरा,

तस्त णं-जाव-सुपञ्चवक्त्राय भवति, नो दुपञ्चवक्त्राय भवति । एवं खलु से सुपञ्चवक्त्राई-जाव-एगंतपंडिते पावि भवति ।

से तेण्ठेणं गोयमा ! एवं बुचचइ-जाव-सिय दुपञ्च-क्त्राय भवति । —वि. स. ७, उ. २, सु. १

(७) अतिथि संविभाग तथा अपश्चिम मारणांतिक-संलेहना-ओषणा-आराधना ।

सुप्रत्याख्यानो और दुष्प्रत्याख्यानो का स्वरूप—

२५१. प्र०—हे भगवन् ! “मैंने सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव और सभी सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है” इस प्रकार कहने वाले के सुप्रत्याख्यान होता है या दुष्प्रत्याख्यान होता है ?

उ०—गौतम ! “मैंने सभी प्राण—यावत्—सभी सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है”, इस प्रकार कहने वाले के कदाचित् सुप्रत्याख्यान होता है और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है ।

प्र०—भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि “समस्त प्राण—यावत्—समस्त सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है” इस प्रकार उच्चारण करने वाले के कदाचित् सुप्रत्याख्यान होता है और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है ?

उ०—गौतम ! “मैंने समस्त प्राण—यावत्—समस्त सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है”, इस प्रकार कहने वाले जिस पुरुष को यदि यह ज्ञात नहीं हो कि,

ये जीव हैं, ये अजीव हैं,

ये अस हैं, ये स्थावर हैं,

उस पुरुष का “समस्त प्राण—यावत्—सर्व सत्त्वों का प्रत्याख्यान” सुप्रत्याख्यान नहीं होता किन्तु दुष्प्रत्याख्यान होता है इसलिए वह दुष्प्रत्याख्यानो पुरुष “मैंने सभी प्राण—यावत्—सभी सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है”, इस प्रकार कहता हुआ सत्यभाषा नहीं बोलता, किन्तु मृषाभाषा बोलता है और वह मृषावादी सर्व प्राण—यावत्—समस्त सत्त्वों के प्रति तीन करण, तीन योग से असंयत, अविरत, पापकर्म से अप्रतिहत और पापकर्म का अप्रत्याख्यानो, क्रियाओं से युक्त, संवररहित, एकान्त दण्डकारक एवं एकान्त वाल होता है ।

“मैंने सर्व प्राण—यावत्—सर्व सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है”, जो कहने वाले जिस पुरुष को यह ज्ञात होता है कि,

ये जीव हैं, ये अजीव हैं,

ये अस हैं, ये स्थावर हैं,

उस पुरुष का—यावत्—प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है, किन्तु दुष्प्रत्याख्यान नहीं होता है और वह सुप्रत्याख्यानो-यावत्-एकान्त पण्डित होता है ।

इसीलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि—यावत्—कदाचित् सुप्रत्याख्यान होता है और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है ।

पाणपुरुषापञ्चवर्णाणकारो -

२५२. चत्वारि पुरिसजाया पणत्ता, तं जहा -

१. परिणायकस्मे नाममेगे नो परिणायसण्णे,

२. परिणायसण्णे नाममेगे नो परिणायकस्मे,

३. एगे परिणायकस्मे वि, परिणायसण्णे वि,

४. एगे नो परिणायकस्मे, नो परिणायसण्णे ।

चत्वारि पुरिसजाया पणत्ता, तं जहा—

१. परिणायकस्मे नाममेगे नो परिणायगिहावासे,

२. परिणायगिहावासे नाममेगे नो परिणायकस्मे,

३. एगे परिणायकस्मे वि परिणायगिहावासे वि,

४. एगे नो परिणायकस्मे नो परिणायगिहावासे ।

चत्वारि पुरिसजाया पणत्ता, तं जहा—

१. परिणायसण्णे नाममेगे नो परिणायगिहावासे,

२. परिणायगिहावासे नाममेगे नो परिणायसण्णे,

३. एगे परिणायसण्णे वि परिणायगिहावासे वि,

४. एगे नो परिणायसण्णे नो परिणायगिहावासे ।

—टाणं. अ. ४, उ. ३, सु. ३२७

ज्ञानपूर्वक प्रत्याख्यान करने वाले—

२५२. पुरुष चार प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

(१) कुछ पुरुष पाप कर्म का तो परित्याग कर देते हैं, किन्तु पाप भावना का त्याग नहीं कर पाते ।

(२) कुछ पुरुष पाप भावना का तो परित्याग कर देते हैं, किन्तु पाप कर्म का परित्याग नहीं कर पाते ।

(३) कुछ पुरुष पाप कर्म और पाप भावना दोनों का परित्याग कर देते हैं ।

(४) कुछ पुरुष न पाप कर्म करना छोड़ते हैं और न पाप भावना का परित्याग करते हैं ।

पुरुष चार प्रकार के होते हैं यथा—

(१) कुछ पुरुष पाप कर्म का परित्याग कर देते हैं किन्तु गृहवास का परित्याग नहीं करते ।

(२) कुछ पुरुष गृहवास का तो त्याग कर देते हैं किन्तु गृहवास के कार्यों का परित्याग नहीं कर पाते ।

(३) कुछ पुरुष पाप कर्म और गृहवास दोनों का परित्याग कर देते हैं ।

(४) कुछ पुरुष पाप कर्म और गृहवास दोनों का परित्याग नहीं कर पाते ।

पुरुष चार प्रकार के होते हैं, यथा—

(१) कुछ पुरुष पाप भावना का परित्याग कर देते हैं किन्तु गृहवास का परित्याग नहीं करते ।

(२) कुछ पुरुष गृहवास का त्याग कर देते हैं, किन्तु पाप भावना का त्याग नहीं करते ।

(३) कुछ पुरुष पाप भावना एवं गृहवास दोनों का परित्याग कर देते हैं ।

(४) कुछ पुरुष पाप भावना एवं गृहवास दोनों का परित्याग नहीं कर पाते ।



प्रतिक्रमण फल—६

पडिक्कमण फलं—

२५३. प०—पडिक्कमण्णेणं भन्ते ! जीवे किं जणपदं ?

उ०—पडिक्कमण्णेणं वयच्छिदाहं पिहेइ । पिहियवयच्छिहे पुण जीवे निवड्ढासवे, असवलधरित्ते, अट्टसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिणं विहरइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. १३

प्रतिक्रमण का फल—

२५३. प्र०—भन्ते ! प्रतिक्रमण से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—प्रतिक्रमण से वह व्रत के छिद्रों को ढक देता है । जिसने व्रत के छेदों को भर दिये वह जीव आश्रयों को रोक देता है, चारित्र छिद्रों को मिटा देता है, आठ-प्रवचनमाताओं में सावधान हो जाता है, संयम में एकरस हो जाता है और भली-भाँति समाधिस्थ होकर विहार करता है ।

पञ्चकलाण फल—७

पञ्चकलाण-फल—

२५४. प्र०—पञ्चकलाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—पञ्चकलाणेणं आसक्कदाराहं निरुद्धइ ।।

—उत्त. अ. २६, सु० १५

संभोग-पञ्चकलाण-फल—

२५५. प्र०—संभोग-पञ्चकलाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—संभोग-पञ्चकलाणेणं आसंखणाहं खवेइ । निरासंखणस्स य आययद्विद्या जोगा भवन्ति । सएणं लाभेणं संतुस्सइ परलभं नो आसावेइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ । परलभं अणासायमाणे, अतक्केमाणे, अपोहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे, दुच्चं मुहसेवज्जं उवसं पणित्ता णं विहरइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. ३५

उवहि-पञ्चकलाण-फल—

२५६. प्र०—उवहिपञ्चकलाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—उवहिपञ्चकलाणेणं अपलिभन्त्यं जणयइ । निरुवहिए णं जीवे निष्कंखे उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सई ।

—उत्त. अ. २६, सु. ३६

आहार-पञ्चकलाण-फल—

२५७. प्र०—आहारपञ्चकलाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—आहारपञ्चकलाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोचिष्ठवइ, जीवियासंसप्पओगं वोचिष्ठिन्निस्स जीवे आहारमंतरेणं न संकिलिस्सइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. ३७

कसाय-पञ्चकलाण-फल—

२५८. प्र०—कसायपञ्चकलाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—कसायपञ्चकलाणेणं वीयरगभावं जणयइ । वीयरग-भावं पण्डियने य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ।

—उत्त. अ. २६ सु. ३८

प्रत्याख्यान का फल—

२५४. प्र०—भन्ते ! प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—प्रत्याख्यान से वह आश्व-द्वारों का निरोध करता है ।

संभोग प्रत्याख्यान का फल—

२५५. प्र०—भन्ते ! संभोग के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—संभोग प्रत्याख्यान से जीव का परावलम्बीय छूट जाता है । स्वावलम्बी होने से उसकी सभी प्रवृत्तियाँ आत्म प्रयोजन वाली हो जाती हैं, वह अपने लाभ में मनुष्य रहता है । पर के लाभ का उपभोग नहीं करता, कल्पना नहीं करता, इच्छा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभिलाषा नहीं करता है । इस प्रकार पर के लाभ का आश्वासन, कल्पना, चाहना, प्रार्थना और अभिलाषा न करता हुआ वह दूसरी स्वलाभ संतोष-सुख शय्या (प्रथम सुख-शय्या संवम) को प्राप्त करके विचरण करता है ।

उपधि प्रत्याख्यान का फल—

२५६. प्र०—भन्ते उपधि (वस्त्र आदि उपकरणों) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—उपधि के प्रत्याख्यान से वह स्वाध्याय-ध्यान में होने वाली क्षति से बच जाता है । उपधि रहित मुनि अभिलाषा से मुक्त होकर उपधि के अभाव में मानसिक संक्लेश को प्राप्त नहीं होता ।

आहार प्रत्याख्यान का फल—

२५७. प्र०—भन्ते ! आहार-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—आहार-प्रत्याख्यान से वह जीवित रहने की लालसा करना छोड़ देता है । जीवित रहने की अभिलाषा छोड़ देने वाला व्यक्ति आहार के बिना (तपस्या आदि में) संक्लेश को प्राप्त नहीं होता ।

कषाय-प्रत्याख्यान का फल—

२५८. प्र०—भन्ते ! कषाय (क्रोध मान, माया और लोभ) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—कषाय-प्रत्याख्यान से वह वीतराग-भाव को प्राप्त होता है । वीतराग-भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दुःख में सम-भाव को प्राप्त होता है ।

योग-पञ्चकलाण-फलं—

२५६. प०—योगपञ्चकलाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—योगपञ्चकलाणेणं अजोगत्तं जणयइ । अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न वत्थइ पुण्यवत्थं निरुज्जेइ ।

—उत्त. अ. २६ सु. ३६

शरीर-पञ्चकलाण-फलं—

२६०. प०—शरीर-पञ्चकलाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—शरीरपञ्चकलाणेणं सिद्धादिसयगुणत्तं निव्वत्तेइ । सिद्धादिसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगगमुत्तमं परम-सुखी भवइ ।

—उत्त. अ. २६ सु. ४०

सहाय-पञ्चकलाण-फलं—

२६१. प०—सहायपञ्चकलाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—सहायपञ्चकलाणेणं एगीभावं जणयइ । एगीभावभूए वि य णं जीवे एगतां भावेमाणे अप्पसहे, अप्पसंसे, अप्पकसहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुने, संजमवहुले, संवर वहुते, समाहिए पावि भवइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. ४१

भक्त-पञ्चकलाण-फलं—

२६२. प०—भक्तपञ्चकलाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—भक्तपञ्चकलाणेणं अणैगाइं भवसयाइं निरुज्जेइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. ४२

सद्भाव-पञ्चकलाण-फलं—

२६३. प०—सद्भावपञ्चकलाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—सद्भावपञ्चकलाणेणं अनिपट्ठिं जणयइ । अनिपट्ठिं पट्ठित्थने य अणगारे वत्सारि केवलिकम्मसे ज्वेइ, तं जहा—

१. वेयणित्तं,	२. आउयं,
३. नामं,	४. गोयं ।

तओ पच्छा सिज्जेइ, बुज्जेइ, मुच्चइ, परिनिश्वाएइ सव्ववुक्खाणं अन्तं करेइ । —उत्त. अ. २६, सु. ४३

योग-प्रत्याख्यान का फल—

२५६. प्र०—भन्ते ! योग (मन, वचन, काया की प्रवृत्ति) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—योग-प्रत्याख्यान से वह अयोगत्व को प्राप्त होता है । अयोगी जीव नए कर्मों का उपाजन नहीं करता और पूर्व उपाजित कर्मों को क्षीण कर देता है ।

शरीर-प्रत्याख्यान का फल—

२६०. प्र०—भन्ते ! शरीर का त्याग करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—शरीर का त्याग करने से वह मुक्त अवस्था के अतिशय गुणों को प्रकट करता है, मुक्त आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करने वाला जीव लोक के शिखर में पहुँचकर परम सुखी हो जाता है ।

सहाय-प्रत्याख्यान का फल—

२६१. प्र०—भन्ते ! सहाय-प्रत्याख्यान (दूसरों का सहयोग न लेने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—सहाय-प्रत्याख्यान से वह एकत्वभाव को प्राप्त होता है । एकत्वभाव को प्राप्त हुआ जीव एकत्व के आलम्बन का अभ्यास करता हुआ कोलाहल पूर्ण शब्दों से मुक्त, कलह से मुक्त, झगड़े से मुक्त, कषाय से मुक्त, लू-लू से मुक्त, विशिष्ट संगम वाला, विशिष्ट संवर वाला और समाधि युक्त हो जाता है ।

भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन का फल—

२६२. प्र०—भन्ते ! भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—भक्त-प्रत्याख्यान से वह अनेक संकटों भवों का निरोध करता है ।

सद्भाव-प्रत्याख्यान का फल—

२६३. प्र०—भन्ते ! सद्भाव-प्रत्याख्यान (पूर्ण संवर रूप शैलेशी अवस्था) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—सद्भाव-प्रत्याख्यान से वह अनिवृत्ति (शुक्ल ध्यान) को प्राप्त होता है—अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अणगार केवली के विद्यमान चार कर्मों को क्षीण कर देता है । यथा—

(१) वेदनीय कर्म,	(२) आयुष्यकर्म,
(३) नाम कर्म,	(४) गोत्र कर्म ।

उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, पूर्ण शांति को प्राप्त करता है, और सब दुःखों का अन्त करता है ।

पञ्चवक्त्राण-भञ्जन-पायच्छित्त-सूत्रं —

२६४. जे भिक्षु अभिक्कणं अभिक्कणं पञ्चवक्त्राणं भञ्जं भञ्जं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वानं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १२, सु. २

प्रत्याख्यान भंग का प्रायश्चित्त सूत्र—

२६४. जो भिक्षु बार-बार प्रत्याख्यान तोड़ता है, तुड़वाता है या तोड़ने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)

माता है ।



गृहस्थ-धर्म

गृहस्थ धर्म—१

समणोवासगणपारा—

२६५. चत्तारि समणोवासगा पण्णसा, तं जहा —

१. अम्मापिइसमाणे,	२. भाइसमाणे.
३. भित्तिसमाणे,	४. सवत्तिसमाणे ।

चत्तारि समणोवासगा पण्णसा, तं जहा—

१. अद्दागसमाणे,	२. पद्दागसमाणे,
३. खाणुसमाणे,	४. खरकंटगसमाणे ।

—आर्ण. अ. ४, उ. ३, सु. ३२२

समणोवासगस्स चत्तारि आसासा—

२६६. भारणं वहमाणस्स चत्तारि आसासा पण्णसा, तं जहा—

१. जत्थं यं अंसाओ असं साहरइ, तत्थंवि य से एगे आसासे पण्णसे,
२. जत्थं वि यं उच्चारं वा पासवणं वा परिदुवेत्ति, तत्थंवि य से एगे आसासे पण्णसे,
३. जत्थंवि यं पागकुमारावासंसि वा, सुवणकुमारा-वासंसि वा वासं उवेत्ति, तत्थंवि य से एगे आसासे पण्णसे,
४. जत्थंवि यं आवकहाए चिदुत्ति, तत्थंवि य से एगे आसासे पण्णसे ।

एवामेव समणोवासगस्स चत्तारि आसासा पण्णसा. तं जहा—

१. जत्थंवि यं सौलखयगुणव्वय-वेरमणं-पञ्चवक्त्राण-पोसहोववासाइं पडिबज्जति. तत्थंवि य से एगे आसासे पण्णसे,
२. जत्थंवि यं सामाइयं देसावगासियं सम्ममणुपालेइ, तत्थंवि य से एगे आसासे पण्णसे,

श्रमणोपासकों के प्रकार—

२६५. श्रमणोपासक चार प्रकार के कहे गये हैं । यथा—

- (१) माता-पिता के समान, (२) भाई के समान,
- (३) मित्र के समान, (४) सपत्नी (सौक) के समान ।

पुनः श्रमणोपासक चार प्रकार के कहे गये हैं । जैसे—

- (१) दर्पण के समान, (२) छवजा के समान,
- (३) छूँठ के समान, (४) तीक्ष्ण काटे के समान ।

श्रमणोपासक के चार विश्रान्ति स्थान—

२६६. भारवाही के लिए चार आशवास (विश्राम) स्थान होते हैं—

- (१) पहला आशवास तब होता है जब वह भार को एक कंधे से दूसरे कंधे पर रख लेता है,
- (२) दूसरा आशवास तब होता है जब वह भार को रखकर लघुभ्रंका या बड़ी शंका करता है,
- (३) तीसरा आशवास तब होता है जब वह नागकुमार, सुपर्णकुमार आदि के आवासों में (रात्रिकालीन) निवास करता है,
- (४) चौथा आशवास तब होता है जब वह कार्य को सम्पन्न कर भारमुक्त हो जाता है ।

इसी प्रकार श्रमणोपासक (श्रावक) के लिए भी चार आशवास होते हैं—

- (१) जब वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास को स्वीकार करता है, तब पहला आशवास होता है,
- (२) जब वह सामायिक तथा देशावकाशिक व्रत का सम्यक् अनुपालन करता है तब दूसरा आशवास होता है,

३. जस्यवि य णं चाउहसद्वुद्धिद्विपुणमासिणीसु पड्विपुणं
पोसहं सम्मं अणुपालेह, तस्यवि य से एगे आसासे पण्णसे,

४. जस्यवि य णं अषच्छिन्नमारणंतियसंलेहणा-भूसणा-भूसिते
मत्तपाणवडियाविक्षिते पाओवगते कालमणवक्खमाणे बिह-
रति, तस्यवि य से एगे आसासे पण्णसे ।

—ठाणं. अ. ४, उ. ३, सु. ३१४

ओघाइयार विसोहीकरण—

२६७. इच्छामि ठामि काउस्तगं, जो से देवसिओ अइआरो कओ
काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उस्सग्गो, अक्कपो,
अकरणिज्जो, दुज्जाओ, दुम्भिच्चित्तिओ अणायारो अणिच्छि-
यच्चो असावगपावग्गो । नाणे तह वंसणे चरिस्ताचरित्ते सुए
सामाहए तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायानं, पंचण्हं अणुव-
याणं, तिण्हं गुणध्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं, बारस
विहस्त सावगघम्मस्स जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छामि
वुक्कडं ।

—आव. अ. ४

अप्पाउयधकारणाइ—

२६८. तिहि ठाणेहि जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—
१. पाणे अतिवातित्ता भवति, २. मुसं अतित्ता भवति,
३. तहाकूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं
असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता भवति,

इच्चेतेहि तिहि ठाणेहि जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति ।

—ठाणं. अ. ३, उ. १, सु. १३३ (१)

दीहाउयध कारणाइ—

२६९. तिहि ठाणेहि जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—

१. णो पाणे अतिवातित्ता भवति,
२. णो मुसं अतित्ता भवति,
३. तहाकूवं-समणं वा माहणं वा फासुयएसणिज्जेणं असण-
पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता भवति,

इच्चेतेहि तिहि ठाणेहि जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति ।

—ठाणं. अ. ३, उ. १, सु. १३३ (२)

असुह दीहाउयधकारणाइ—

२७०. तिहि ठाणेहि जीवा असुमदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति,
तं जहा—

१. पाणे अतिवातित्ता भवति, २. मुसं अतित्ता भवति,
३. तहाकूवं समणं वा माहणं वा हीलित्ता, णिडित्ता,

(३) जब वह अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा के
दिन परिपूर्ण—दिन रात भर पौषध का सम्यक् अनुपालन करता
है, तब तीसरा आश्वास होता है,

(४) जब वह अन्तिम-मारणांतिक संलेखना की आराधना
से युक्त होकर भक्त-पान का त्याग कर पादोपगमन अनशन की
स्वीकार कर मृत्यु के लिए अनुत्सुक होकर विहरण करता है,
तब चौथा आश्वास होता है ।

सामान्य रूप से अतिचारों का विशुद्धिकरण—

२६७. मैं कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ, जो मैंने दिवस सम्बन्धी
अतिचार किये हों वे कायिक, वाचिक, मानसिक, सूत्र से विरुद्ध,
मार्ग से विरुद्ध, अकल्पनीय, नहीं करने योग्य, दुर्ध्यान रूप,
दुश्चिन्तन रूप, नहीं आचरने योग्य, नहीं चाहने योग्य, श्रावक
के लिए अनुचित, ज्ञान, दर्शन व चारित्र्याचारित्र्य में, श्रुत ज्ञान में,
सामायिक में तथा तीन गुणों की, चार कषायों से निवृत्ति की,
पौष अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत एवं बारह प्रकार
के श्रावक धर्म की जो खण्डना की हो, जो विराधना की हो तो
उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या ही ।

अल्पायु बंध के कारण—

२६८. तीन प्रकार से जीव अल्प आयुष्य कर्म बांधते हैं, यथा—
(१) प्राणियों की हिंसा करने से, (२) असत्य बोलने से,
(३) तथारूप श्रमण माहून को अप्रासुक, अनेकणीय अशन,
पान, खाद्य, स्वाद्य, आहार का दान करने से ।

इन तीन प्रकारों से जीव अल्प आयुष्य कर्म का बन्ध
करते हैं ।

दीर्घायु बंध के कारण—

२६९. तीन प्रकार से जीव दीर्घायुष्य कर्म बांधते हैं, यथा—

(१) प्राणियों की हिंसा न करने से,
(२) असत्य न बोलने से,
(३) तथारूप श्रमण माहून को प्रामुक्क एकणीय अशन, पान,
खाद्य, स्वाद्य आहार का प्रतिज्ञाभ करने से,

इन तीन प्रकारों से जीव दीर्घ आयुष्य कर्म का बन्ध
करते हैं ।

अशुभ दीर्घायु बंध के कारण—

२७०. तीन प्रकार से जीव अशुभ दीर्घायुष्य कर्म बांधते हैं,
यथा—

(१) प्राणों का घात करने से, (२) मृषावाद बोलने से,
(३) तथारूप श्रमण माहून की अवहेलना, निन्दा, अवज्ञा,

स्त्रिसित्ता, गरहिस्ता, अवमाणिता अन्नचरेणं अमणुष्णेणं
अपीड-कारणं असण-पाण-खादम-सादमेणं, पडिताभेत्ता
भवति,

इच्छेतेहि तिहि ठाणेहि जीवा अनुभवोहाउयसाए कम्मं
पगरेति । — ठाणं. अ. ३, उ. १, सु. १३३ (३)

सुहवीहाउ बन्ध कारणाइ—

२७१. तिहि ठाणेहि जीवा सुभवीहाउअत्ताए कम्मं पगरेति,
तं जहा—

१. गो पाणे अतिवातित्ता भवति, २. गो भुसं वदित्ता भवइ,
३. तहाएवं समणं वा माहणं वा वंदिता नमंसित्ता सबका-
रेत्ता सम्माणेत्ता कल्लानं भंगलं देवयं चेइयं पञ्चुवासेत्ता
अणुष्णेणं पीडकारणं असण-पाण-खादम-सादमेणं पडिता-
भेत्ता भवति ।

इच्छेतेहि तिहि ठाणेहि जीवा सुभवीहाउयसाए कम्मं
पगरेति ।^१ — ठाणं. अ. ३, उ. १, सु. १३३ (४)

गर्हा और अपमान करने से तथा अन्य अमनोज्ञ, अप्रीतिकर
अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का प्रतिलाभ करने से,

इन तीन प्रकारों से जीव अशुभ दीर्घ आयुष्य कर्म का बन्ध
करते हैं ।

शुभ दीर्घायु बन्ध के कारण—

२७१. तीन प्रकार से जीव दीर्घायुष्य कर्म बांधते हैं, यथा—

(१) प्राणों का घात न करने से, (२) मृषावाद न बोलने से,
(३) तथारूप श्रमण माहून को वन्दन-नमस्कार कर, उनका
सत्कार-सम्मान कर, कल्याण-रूप, भंगलरूप, देवरूप तथा ज्ञान-
वंत मानकर, उनकी सेवाभक्ति कर, उन्हें मनोज्ञ एवं प्रीतिकर
अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार का प्रतिलाभ करने से ।

इन तीन प्रकारों से जीव शुभ दीर्घायुष्य कर्म का बन्ध
करते हैं ।



समकित सहित बारह व्रत—२

समत्तसरुव-अइयारा य—

२७२. से य सम्मत्ते पसत्य-सम्मत्त-मोहणीय-कम्माणुवेयणोवसम-
खयसमत्थे पसम-संवेगाइसिगे सुहे आयपरिणामे पण्णत्ते ।

सम्मत्तस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयासा जाणियव्वा
न समापरियव्वा, तं जहा —

१. संका, २. कंक्षा,
३. विद्विगिच्छा, ४. परपासंडपसंसा,
५. परपासंडसंघे ।^१ आव. अ. ६, सु. ६४-६५

समत्त पाहणं—

२७३. एतस्स पुण समणोवासगधम्मस्स मूलवरणं सम्मत्तं । तं
निसग्गेण वा, अधिगमेण वा ।

पंचातिचार विसुद्धं अणुध्वय — गुणध्वयाइं च, अभिगहा,
अन्ते य पडिमावओ वित्तेसकरणजोगा, अपच्छिमा मारणंतिया
संलेहणासोसणाराहणया । — आव. अ. ६, सु. ६४

सम्यक्त्व का स्वरूप और अतिचार —

२७२. वह सम्यक्त्व-प्रशस्तसम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के उदय, उप-
शम अथवा क्षय से निष्पन्न, सब संवेग आदि का हेतुभूत एवं
आत्मा के शुभ परिणामस्वरूप कहा गया है ।

श्रमणोपासक को सम्यक्त्व के पाँच मुख्य अतिचार जानने
योग्य हैं आचरण करने योग्य नहीं हैं । वे अतिचार इस
प्रकार हैं—

(१) शंका, (२) कंक्षा,
(३) विचिकित्सा, (४) पर-पाषंड प्रशंसा,
(५) पर-पाषंड-संस्तव ।

सम्यक्त्व की प्रधानता—

२७३. इस श्रमणोपासक धर्म का मूल-सम्यक्त्व है । वह सम्यक्त्व
स्वभाव से या उपदेश से होता है ।

पाँच अतिचारों से विशुद्ध सम्यक्त्व युक्त अणुव्रत, गुणव्रत,
अभिगृह और अन्य प्रतिमा आदि विशेष करने योग्य धार्मिक
आचार वालों को जीवन के अन्त में या मरण समय में कषाय
क्षय या कर्मक्षय के लिए संलेखना करनी चाहिए ।

समणोवासगधम्मप्यगारा

२७४. अगारधम्मं बुवात्तसविहं आइक्खइ, तं जहा—

पंच अणुब्बयाइं, तिण्णि गुणब्बयाइं, वस्तारि सिक्खावयाइं ।

पंच अणुब्बयाइं तं जहा—

१. धूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं,
२. धूलाओ मुसावायाओ वेरमणं,
३. धूलाओ अदिण्णावायाओ वेरमणं,
४. सवारसंतोसे,
५. इच्छापरिमाणे^१ ।

तिण्णि गुणब्बयाइं तं जहा—

६. विसिब्बयं,
७. उवन्नोपपरिमाणपरिमाणं,
८. अणत्थदंडवेरमणं ।

वस्तारि सिक्खावयाइं, तं जहा—

९. सामाहयं, १०. वेसावगासियं,
११. पोसहोववासे, १२. अतिहिसंविभागे ।

अपच्छिमा मारणंतिया संलेहणाक्षुसगाराहणा ।

अयमावसो । अगारसामाहए धम्मं पणत्ते । एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए वा समणोवासिया वा विहर-
माणे आणाए आराहए भवइ^२ । — उवा. अ. १, सु. ११
एत्थ पुण समणोवासगधम्मं पंचाणुब्बयाइं तिण्णिगुणब्बयाइं
आवकहियाइं वस्तारि सिक्खावयाइं इत्तरियाइं ।

—आव. अ. ६, सु. ६३

धूल-पाणाइवाय-विरमणस्स सख्यं अइयारा य—

२७५. धूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्छक्खाइ । से य पाणाइ-
वाए बुविहे पणत्ते, तं जहा —

१. संकप्पओ य, २. आरम्भओ य,

तत्थ समणोवासओ संकप्पओ जावज्जीवाए पच्छक्खाइ, नो
आरम्भओ ।धूलगपाणाइवायवेरमणस्स समणोवासणं इमे पंच अइयारा
जाणियक्खा, न समायरियक्खा । तं जहा—

१. बंधे, २. वहे,
३. छविच्छेए, ४. अइभारे,
५. वत्त-पाण-वोच्छेए^३ । —आव. अ. ६, सु. ६६-६७

१ ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३८६ ।

२ उवा. अ. १, सु. ४५ ।

श्रावक धर्म के प्रकार—

२७४. भगवान् ने श्रावक-धर्म बारह प्रकार का बतलाया है
यथा—

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ।

पाँच अणुव्रत इस प्रकार हैं—

- (१) स्थूल प्राणातिपात से निवृत्त होना,
- (२) स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना,
- (३) स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होना,
- (४) म्वदार संतोष करना,
- (५) इच्छा का परिमाण करना ।

तीन गुणव्रत इस प्रकार हैं—

- (६) दिम्बत दिशा का परिमाण करना,
- (७) उपभोग-परिभोग का परिमाण व्रत,
- (८) अयंदण्ड से निवृत्त होना ।

चार शिक्षाव्रत इस प्रकार हैं

- (९) सामायिक व्रत, (१०) देशावकाशिक व्रत,
- (११) पोषधोषवारुव्रत, (१२) अतिथि-संविभाग व्रत ।

तथा अन्तिम मरणरूप संलेखना-अवशेन की आराधना ।
हे आयुष्यमन् ! यह गृहस्थ का आचरणीय धर्म है । इस
धर्म के अनुसरण में प्रवृत्तशील होते हुए श्रमणोपासक या श्रमणो-
पासिका आज्ञा के आराधक होते हैं ।

इस बारह प्रकार के श्रमणोपासक धर्म में पाँच अणुव्रत और
तीन गुणव्रत जीवन पर्यन्त के लिये ग्रहण किए जाते हैं तथा चार
शिक्षाव्रत अल्प काल के लिए ग्रहण किए जाते हैं ।

स्थूल - प्राणातिपात - विरमण - व्रत का स्वरूप और
अतिचार—

२७५. स्थूल प्राणातिपात का श्रमणोपासक प्रत्याख्यान करता
है । वह प्राणातिपात दो प्रकार का कहा गया है । जैसे—

- (१) संकल्प से, (२) आरम्भ से,

उसमें श्रमणोपासक संकल्प से स्थूल प्राणातिपात का याव-
ज्जीवन प्रत्याख्यान करता है, आरम्भ से स्थूल-प्राणातिपात का
प्रत्याख्यान नहीं करता है ।

श्रमणोपासक को स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के पाँच
प्रमुख अतिचार जानना चाहिए उनका आचरण नहीं करना
चाहिए । वे इस प्रकार हैं—

- (१) बौधना, (२) मारपीट करना,
- (३) अंगोपांग का छेदन करना, (४) अधिक भार लादना,
- (५) भोजन पानी बन्द करना ।

२ उवा. सु. ५७ ।

स्थूल-मुसावायविरमणस्स सरुवं अइयारा य—

२७६. थूलगमुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाइ । से य मुसावाए पंचविहे पससे, तं जहा—

१. कन्नालीए,
२. गोवालीए,
३. भोमालीए,
४. नासाबहारो,
५. कूडर्सबिखज्जे ।

थूलगमुसावायविरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियक्खा न समायरियक्खा ।

तं जहा—

१. सहसाऽऽमक्खाणे,
२. रहस्साऽऽमक्खाणे,
३. सवारसंतभेए,
४. मोसोयएसे,
५. कूडलेहकरणे ।

—आव. अ. ६, सु. ६८-६९

स्थूल-अवत्तादान-विरमणस्स सरुवं अइयारा य—

२७७. थूलगअवत्तादानं समणोवासओ पच्चक्खाइ । से य अवत्तादाने बुविहे पससे, तं जहा—

१. सचित्तावत्तादाने य,
२. अविस्सावत्तादाने य ।

थूलग अविष्णादानविरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियक्खा न समायरियक्खा । तं जहा—

१. सेणाहणे,
२. तक्करप्पओगे,
३. थियद्ध-रज्जाइक्कमणे,
४. कूडतुल्ल-कूडभाणे,
५. तप्पज्झिक्कवगवहारे ।

—आव. अ. ६, सु. ७०-७१

स्थूल-मेहुण-विरमणस्स सरुवं अइयारा य—

२७८. परदारगमणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, सवारसंतोषं वा पडि-वज्जेइ ।

से य परदारगमणे बुविहे पससे, तं जहा—

१. ओरालिय-परदारगमणे य,
 २. वेउब्बिय-परदारगमणे य ।
- सदार-संतोषस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियक्खा न समायरियक्खा, तं जहा—

१. इत्तरियपरिगहियगमणे,

१ उवा. अ. १, सु. ४६ ।

स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२७६. श्रमणोपासक स्थूलमृषावाद का प्रत्याख्यान करता है । वह मृषावाद पाँच प्रकार का कहा गया है । जैसे —

- (१) कन्धा सम्बन्धी मृषावाद,
- (२) गाय आदि पशु सम्बन्धी मृषावाद,
- (३) भूमि सम्बन्धी मृषावाद, (४) धरोहर का अपहरण,
- (५) कूट साक्षी अर्थात् झूठी साक्षी ।

श्रमणोपासक को स्थूलमृषावादविरमण व्रत के पाँच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—

- (१) सहसा (बिना विचारे) झूठा कलंक लगाना,
- (२) एकान्त में मन्त्रणा करने वालों पर आरोप लगाना ।
- (३) स्त्री की गुप्त बातें प्रगट करना ।
- (४) मिथ्या उपदेश देना या खोटी मलाह देना ।
- (५) असत्य लिखावट करना ।

स्थूल-अदत्तादान-विरमण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२७७. श्रमणोपासक स्थूल अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता है । वह अदत्तादान दो प्रकार का कहा गया है । जैसे —

- (१) सचित्त अदत्तादान,
- (२) अचित्त अदत्तादान,

श्रमणोपासक को स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत के पाँच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—

- (१) चोरी की वस्तु लेना,
- (२) चोर को सहायता देना,
- (३) राज्य-विशुद्ध कार्य करना,
- (४) झूठा तोल व माप करना,
- (५) अच्छी वस्तु दिखाकर खराब देना ।

स्थूल-मेथुन-विरमण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२७८. श्रमणोपासक परस्त्रीगमन का प्रत्याख्यान करता है और स्वदारा से संतोष करता है ।

परस्त्रीगमन दो प्रकार का कहा गया है । जैसे—

- (१) औदारिक परस्त्रीगमन, (२) वैश्विय परस्त्रीगमन ।

श्रमणोपासक को स्वदारसंतोष-व्रत के पाँच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—

- (१) अल्प वय वाली स्त्री के साथ गमन करना,

२ उवा. अ. १, सु. ४७ ।

२. अपरिग्रहियागमणे,

३. अर्णगकीडा,

४. परविवाहकरणे,

५. कामभोगतिष्ठाभिलासे ।^१ —आव. अ. ६, सु. ७२-७३

परिग्रह-परिमाणस्त सख्वं अइयारा य—

२७६. अपरिमियपरिग्रहं समणोवासओ पचवत्ताति, इच्छापरिमाणं उवसंपज्जइ ।

ते य परिग्रहे कुविहे पन्नत्ते, तं जहा—

१. सचित्तपरिग्रहे य, २. अचित्तपरिग्रहे य ।

इच्छा परिमाणस्त समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा—

१. खेत्त-वत्थु-पमाणाइक्कमे ।

२. हिरण्य-सुवण्ण-पमाणाइक्कमे ।

३. धण-धम्म-पमाणाइक्कमे ।

४. दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे ।

५. कुविय-पमाणाइक्कमे^२ । —आव. अ. ६, सु. ७४-७५

दिसिवय सख्वं अइयारा य—

८०. दिसिवए तिबिहे पन्नत्ते । तं जहा—

१. उद्धदिसिवए, २. अहोदिसिवए,

३. तिरियदिसिवए ।

दिसिवयस्त समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—

१. उद्धदिसिवमाणाइक्कमे ।

२. अहोदिसिवमाणाइक्कमे ।

३. तिरियदिसिवमाणाइक्कमे ।

४. खेत्तवुद्धो,

५. सइअंतरइ^३ ।

—आव. अ. ६, सु. ७६-७७

उवभोग-परिभोग-परिमाणस्त सख्वं अइयारा य—

२८१. उवभोगपरिभोगवए कुविहे पन्नत्ते, तं जहा—

१. भोगणओ य, २. कम्मओ य ।

भोगणओ समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—

१. सचित्ताहारे,

२. सचित्तपडिबद्धाहारे,

३. अप्पउलिओसहिमक्खणया,

(२) विवाह के पूर्व स्त्री के साथ गमन करना,

(३) अन्य अंग से काम क्रीडा करना,

(४) अन्य का विवाह कराना,

(५) काम भोग की तीव्र अभिलाषा करना ।

परिग्रह-परिमाण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२७६. श्रमणोपासक अपरिमित परिग्रह का प्रत्याख्यान करता है एवं इच्छाओं का परिमाण करता है ।

परिग्रह दो प्रकार का कहा गया है । जैसे—

(१) सचित्त परिग्रह, (२) अचित्त परिग्रह ।

श्रमणोपासक को इच्छा-परिमाण-व्रत के पाँच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—

(१) घर तथा खुली भूमि के परिमाण का अतिक्रमण करना ।

(२) सोना-चाँदी के परिमाण का अतिक्रमण करना ।

(३) धन-धान्य के परिमाण का अतिक्रमण करना ।

(४) द्विपद-चतुष्पद के परिमाण का अतिक्रमण करना ।

(५) अन्य सामग्री के परिमाण का अतिक्रमण करना ।

दिशाव्रत का स्वरूप और अतिचार -

२८०. दिशव्रत तीन प्रकार के कहे गए हैं—

(१) ऊर्ध्व दिशाप्रमाण व्रत, (२) अधोदिशा प्रमाण व्रत,

(३) तिर्यक्-दिशा प्रमाण व्रत ।

श्रमणोपासक को दिशाव्रत के पाँच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—

(१) ऊँची दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना ।

(२) नीची दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना ।

(३) तिरछी दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना ।

(४) एक दिशा में घटाकर दूसरी दिशा में क्षेत्र बढ़ाना ।

(५) क्षेत्र परिमाण के भूलने पर आगे चलना ।

उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८१. उपभोग-परिभोग दो प्रकार का कहा गया है—

(१) भोजन की अपेक्षा से, (२) कर्म की अपेक्षा से ।

भोजन की अपेक्षा से श्रमणोपासक को पाँच अतिचार जानने चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—

(१) प्रत्याख्यान उपरांत मचित्त का आहार करना ।

(२) सचित्त संबद्ध का आहार करना ।

(३) अपक्व को पक्व समझकर खाना ।

१ उवा. अ. १, सु. ४८ ।

३ उवा. अ. १, सु. ५० ।

२ उवा. अ. १, सु. ४६ ।

४. कुपडलिशोसहिमक्खणया,

५. तुच्छोसहिमक्खणया । —आव. अ. ६, सु. ७८-७९ (१)

पणरस कम्मादाणाइं—

२८२. कम्मओ णं समणोवासएणं पणरस कम्मादाणाइं जाणि-
यव्वाइं न समायरियव्वाइं । तं जहा—

१. हंसाकम्मे,
२. वणकम्मे,
३. साडीकम्मे,
४. भाडीकम्मे,
५. कोडीकम्मे,
६. बंतवाणिज्जे,
७. लखवाणिज्जे,
८. रसवाणिज्जे,
९. विसवाणिज्जे,
१०. केसवाणिज्जे,
११. अंतपोलणकम्मे,
१२. निल्लच्छणकम्मे,
१३. त्वग्निवाणया,
१४. सर-बह-तलायपरिसोसणया,
१५. असईजणपोसणया^१ । —आव. अ. ६, सु. ७९ (२)

अणत्थदंड विरमणस्स सरुवं अइयारा य—

२८३. अणत्थदंडे सडव्विहे पन्नस्से, तं जहा—

१. अवज्जाणाचरिए,
२. पमायाचरिए,
३. हिसप्पयाणे,
४. पाथकम्भोवएसे ।

अणद्वंद्वे विरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणि-
यव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—

१. कंठ्ठे,
२. कुक्कुडए,
३. मोहरिए,
४. संजुसाहिगरणे,
५. उधमोग-परिमोगाडरित्ते ।^२ आव. अ. ६, सु. ८०-८१

सामाइय-सरुवं अइयारा य—

२८४. सामाइयं नाम सावज्ज ओगपरिवज्जणं निरवज्जजोगपडि-
सेवणं च ।

^१ उवा. अ. १, सु. ५१ ।

(४) अर्धपक्व को पूर्णपक्व समझकर खाना ।

(५) तुच्छ वस्तुओं का आहार करना ।

पन्द्रह कर्मादान—

२८२. कर्म की अपेक्षा से श्रमणोपासक को पन्द्रह-कर्मादान जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—

- (१) अग्नि आरम्भजन्य कर्म,
- (२) वनस्पति आरम्भ जन्य कर्म,
- (३) वाहन निर्माण कर्म,
- (४) वाहन द्वारा भाड़ा कमाने का कर्म,
- (५) पृथ्वीकाय के आरम्भ जन्य कर्म,
- (६) वस जीवों के अवयवों का व्यापार,
- (७) लाख आदि पदार्थों का व्यापार,
- (८) रस वाले पदार्थों का व्यापार,
- (९) विषले पदार्थ और शस्त्रों का व्यापार,
- (१०) पशु पक्षी आदि के केशों का व्यापार,
- (११) तिल, ईख आदि पीलने के पन्नों का कर्म,
- (१२) विधना, खस्सी करना आदि कर्म,
- (१३) जंगल आदि में आग लगाना,
- (१४) तालाब, नदी, ब्रह्म आदि को सुखाना,
- (१५) हिसक जानवरों का और दुश्चरित्र स्त्रियों का पोषण करना ।

अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८३. अनर्थदण्ड चार प्रकार का कहा गया है । जैसे—

- (१) आर्त, रौद्र ध्यान करना,
- (२) प्रमाद से अविवेक पूर्ण प्रवृत्ति करना,
- (३) हिसा करने के शस्त्र देना,
- (४) पाप कर्म करने की प्रेरणा करना ।

श्रमणोपासक को अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत के पाँच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—

- (१) विकार युक्त कथा करना,
- (२) शरीर से हास्यकारी कुचेष्टाएँ करना,
- (३) अति वाचालता करना,
- (४) हिसाकारी उपकरणों को अविधि से रखना,
- (५) जाच सामग्री आदि का अधिक संग्रह करना ।

सामायिक व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८४. सावज्जयोगों का परित्याग करना और निरवज्जयोगों का आचरण करना इसको सामायिक कहते हैं ।

^२ उवा. अ. १, सु. ५२ ।

सामाहयस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियत्वा,
न समायरियत्वा तं जहा —

१. मणकुप्पणिहाणे,
२. वयकुप्पणिहाणे,
३. कायकुप्पणिहाणे,
४. सामाहयस्स सइ अकरणया,
५. सामाहयस्स अणवद्वियस्स करणया^१ ।

—आव. अ. ६, सु. ८२-८६

सामाहयकइस्स किरिया —

२८५. प०—समणोवासगस्स णं भंते ! सामाहयकइस्स समणोवस्सए
अच्छमाणस्स तस्स णं भंते किं ईरियावहिया किरिया
कज्जइ ? संपराइया किरिया कज्जइ ?

उ०—गोयमा ! नो ईरियावहिया किरिया कज्जइ, संपरा-
इया किरिया कज्जइ ।

प०—से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ-जाव-संपराइया किरिया
कज्जइ ?

उ०—गोयमा ! समणोवासयस्स णं सामाहयकइस्स समणो-
वस्सए अच्छमाणस्स आया अहिगरणी भवति । आया-
इहिगारणवत्तिमं च णं तस्स नो ईरियावहिया किरिया
कज्जति, संपराइया किरिया कज्जति ।

से सेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ-जाव-संपराइया
किरिया कज्जइ । —वि. स. ७, उ. १, सु. ६

सामाहयकइस्स भमत्तभाव—

२८६. आजीविया णं भंते ! थेरे भगवन्ते एवं वयासि

प०—समणोवासगस्स णं भंते ! सामाहयकइस्स समणोवस्सए
अच्छमाणस्स केइ भंते अयहरेज्जा, से णं भंते ! तं
भंते अणुगवेसमाणे किं सभंते अणुगवेसइ ? परायणं
भंते अणुगवेसइ ?

उ०—गोयमा ! सभंते अणुगवेसइ, नो परायणं भंते अणु-
गवेसइ ।

प०—तस्स णं भंते ! तेहि सीलव्रत-गुण-वेरमण-पच्छक्ख-ण-
पोसहोववासेहि से भंते अमडे भवति ?

उ०—हंता, भवति ।

१ उवा. अ. १, सु. ५३ ।

श्रमणोपासक को सामायिक व्रत के पाँच प्रमुख अतिचारों
को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस
प्रकार हैं—

१. मन से अशुभ चिन्तन करना,
२. वचन से अशुभ शब्द बोलना,
३. काया से अशुभ प्रवृत्ति करना,
४. सामायिक की स्मृति न रखना,
५. दोष-रहित व विधियुक्त सामायिक न रहना ।

सामायिक किये हुए की क्रिया—

२८५. प्र०—हे भगवन् ! श्रमण के उपाश्रय में बैठकर सामायिक
किये हुए श्रमणोपासक को क्या ईर्यापथिकी क्रिया लगती है,
अथवा साम्पराधिकी क्रिया लगती है ?

उ०—गौतम ! उसे ईर्यापथिकी क्रिया नहीं लगती है किन्तु
साम्पराधिकी क्रिया लगती है ।

प्र०—हे भगवन् किस कारण से ऐसा कहा जाता है
—यावत्—साम्पराधिकी क्रिया लगती है ।

उ०—गौतम ! श्रमण के उपाश्रय में बैठकर सामायिक किये
हुए श्रमणोपासक की आत्मा कषाय से युक्त होती है । जिसकी
आत्मा कषाय से युक्त होती है, उसे ईर्यापथिकी क्रिया नहीं लगती
है किन्तु साम्पराधिकी क्रिया लगती है ।

हे गौतम ! इस कारण से ऐसा कहा जाता है —यावत्—
साम्पराधिकी क्रिया लगती है ।

सामायिक किये हुए का भमत्व—

२८६. हे भगवन् ! आजीविक मोक्षालोक के निज्य स्थविर भगवन्तो
से इस प्रकार पूछते हैं कि—

प्र०—श्रमण के उपाश्रय में बैठकर सामायिक किये हुए
श्रमणोपासक के वस्त्र आदि सामान को कोई अपहरण कर ले
जाए तो सामायिक पूर्ण होने पर उन वस्तुओं का अन्वेषण करता
हुआ वह अपने सामान का अन्वेषण करता है या दूसरों के
सामान का अन्वेषण करता है ?

उ०—गौतम ! वह अपने ही सामान का अन्वेषण करता है,
पराने सामान का अन्वेषण नहीं करता ।

प्र०—भगवन् ! उन शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत,
प्रत्याख्यान और पोषधोगवास को स्वीकार किये हुए थावक के वे
भाण्ड क्या उसके लिए अभाण्ड हो जाते हैं ?

उ०—हे गौतम ! वे भाण्ड उसके लिए अभाण्ड हो जाते हैं ।

प०—से केणं स्नादणं अट्ठेणं भंते ! एवं वृत्तवति "समंभं
अणुगवेसइ नो परायणं भंभं अणुगवेसइ ?

उ०—गोयमा ! तस्स णं एवं भवति—

"णो मे हिरण्णे, नो मे सुवण्णे, नो मे कंसे, नो मे
दूसे, नो मे विज्जल घण-कणग-रयण-भणि-मोस्तिय-
संख-सिल-प्पवात्त-रत्तरयण-मादीए, संतसारसाव-
वेज्जे", ममत्तभावे पुण से अपरिण्णाते भवति ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वृत्तवति समंभं अणुगवेसइ,
नो परायणं भंभं अणुगवेसइ ।

—वि. स. ८, उ. ५, सु. २-३

सामाद्वयकडस्स पेज्जबन्धणं—

२८७. प०—समणोवासगस्स णं भंते ! सामाद्वयकडस्स समणो-
वस्सए अकलमाणस्स केइ जायं चरेज्जा, से णं भंते !
किं जायं चरइ, अजायं चरइ ?

उ०—गोयमा ! जायं चरइ, नो अजायं चरइ ।

प०—तस्स णं भंते ! तेहिं सीलववय-गुण-वेरमण-पचचक्षणा
पोसहोववासेहिं सा जाया अजाया भवइ ?

उ०—हंता, भवइ ।

प०—से केणं स्नादणं अट्ठेणं भंते ! एवं वृत्तवति "जायं
चरइ, नो अजायं चरइ ?"

उ०—गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ "णो मे माया, नो मे
पिया, नो मे भाया, नो मे भगिणी, नो मे भज्जा,
णो मे पुत्ता, नो मे धूया, नो मे सुण्हा", पेज्जबन्धणे
पुण से अक्खोच्छिन्ने भवइ,

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वृत्तवति जायं चरइ, नो
अजायं चरइ । —वि. स. ८, उ. ५, सु. ४-५

देशावगासिय-सरुवं अइयारा य—

२८८. विसिण्वय-गहियस्स विसा परिमाणस्स पइविणं परिमाण-
करणं देशावगासियं ।

प्र०—हे भगवन् ! यदि वे भाण्ड उसके लिए अभाण्ड हो
जाते हैं तो आप ऐसा क्यों कहते हैं कि वह श्रावक अपने भाण्ड
का अन्वेषण करता है, दूसरे के भाण्ड का अन्वेषण नहीं करता ?

उ०—गौतम ! सामायिक आदि करने वाले उस श्रावक के
मन में ऐसे परिणाम होते हैं कि—

"हिरण्य मेरा नहीं है, सुवर्ण मेरा नहीं है, कांस्य मेरा नहीं
है, वस्त्र मेरे नहीं हैं तथा त्रिपुल धन, कनक, रत्न, मणि, मोती,
शंख, भूंगा, पद्मरागादि मणि इत्यादि विद्यमान सारभूत द्रव्य
मेरा नहीं है ।" किन्तु उसके ममत्वभाव का प्रत्याख्यान नहीं
होता है ।

हे गौतम ! इस कारण से ऐसा कहता हूँ कि वह श्रावक
अपने ही भाण्ड का अन्वेषण करता है किन्तु दूसरों के भाण्ड का
अन्वेषण नहीं करता ।

सामायिक किये हुए का प्रेमबन्धन—

२८७. प्र०—हे भगवन् ! श्रमण के उपाश्रय में बैठकर सामायिक
किये हुए श्रमणोपासक की पत्नी के साथ कोई भोग भोगता है
तो क्या वह श्रावक की पत्नी को भोगता है या दूसरे की स्त्री को
भोगता है ?

उ०—गौतम ! वह श्रावक की पत्नी को भोगता है किन्तु
दूसरे की स्त्री को नहीं भोगता है ।

प्र०—हे भगवन् ! शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान
और पौषधोपवास कर लेने से क्या उस श्रावक की वह जाया
"अजाया" हो जाती है ?

उ०—हाँ गौतम ! श्रावक की वह जाया अजाया हो
जाती है ।

प्र०—हे भगवन् ! जब श्रावक की जाया "अजाया" हो
जाती है, तब आप ऐसा क्यों कहते हैं कि वह व्यभिचारी उसकी
जाया को भोगता है, अजाया को नहीं भोगता ?

उ०—गौतम ! उस श्रावक के मन में ऐसे परिणाम होते
हैं कि—"माता मेरी नहीं है, पिता मेरे नहीं हैं, भाई मेरा नहीं
है, बहन मेरी नहीं है, स्त्री मेरी नहीं है, पुत्र मेरे नहीं हैं,
पुत्री मेरी नहीं है, पुत्रवधू मेरी नहीं है", किन्तु इन सबके प्रति
उसका प्रेम बन्धन टूटा हुआ नहीं होता है ।

हे गौतम ! इस कारण से ऐसा कहता हूँ कि—वह पुरुष
उस श्रावक को जाया को भोगता है, अजाया को नहीं भोगता ।

देशावगासिक व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८८. ग्रहण किये हुए दिशाव्रत का प्रतिदिन संक्षिप्त परिमाण
करना देशावगासिक व्रत है ।

वेसावगासियस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा,
न समापरियव्वा, तं जहा—

- (१) आणवणप्पओगे,
- (२) पेसवणप्पओगे,
- (३) सहाणुवाए,
- (४) क्वाणुवाए,
- (५) अहियापोगलपक्खे ।^१ —आव. अ. ६, सु. ८७-८८

पोसह-सख्खं अइयारा य—

२८६. पोसहोववासे चउट्ठिहे पन्नत्ते, तं जहा—

- (१) आहारपोसहे,
- (२) सरीरसक्कारपोसहे,
- (३) बंधनपोसहे,
- (४) अक्खारपोसहे ।

पोसहोववासस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणि-
यव्वा, न समापरियव्वा, तं जहा—

- (१) अप्पडिलेहिअ-कुप्पडिलेहिअ-सिज्जासंधारे ।
- (२) अप्पमज्जिय-कुप्पमज्जिय-सिज्जासंधारे ।
- (३) अप्पडिलेहिअ-कुप्पडिलेहिअ-उच्चारपासवणभूमि ।
- (४) अप्पमज्जिय-कुप्पमज्जिय-उच्चारपासवणभूमि ।
- (५) पोसहोववासस्स सम्मं अणुपातणया^२ ।

—आव. अ. ६, सु. ८६-८७

अतिहि संविभागस्स सख्खं अइयारा य—

२८७. अतिहिसंविभागो नाम नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्न-
पाणाईणं वक्खाणं वेस-काल-सद्धा-सक्कारकमज्जुयं पराए
अस्तीए आयाणुग्गहुद्धीए संअयाणं वाणं ।

अतिहि^१-संविभागस्स-समणोवासएणं इमे पंच अइयारा
जाणियव्वा, न समापरियव्वा, तं जहा—

- (१) सच्चित्तनिक्खेयणया,

श्रमणोपासक को देशावकाशिक व्रत के पांच प्रमुख अतिचार
जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस
प्रकार हैं—

- (१) मर्यादा के बाहर की वस्तु मँगाना,
- (२) मर्यादा के बाहर वस्तु भिजवाना,
- (३) मर्यादा के बाहर शब्द से संकेत करना,
- (४) मर्यादा के बाहर रूप से संकेत करना,
- (५) मर्यादा के बाहर पुङ्गल फेंककर संकेत करना ।

पौषध व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८६. पौषधोपवास व्रत के चार प्रकार कहे गये हैं । जैसे—

- (१) आहार त्याग रूप पौषध,
- (२) शरीर सत्कार त्याग रूप पौषध,
- (३) ब्रह्मचर्य पौषध,
- (४) सावद्य प्रवृत्ति परित्याग पौषध ।

श्रमणोपासक को पौषधोपवास व्रत के पांच प्रमुख अतिचार
जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस
प्रकार हैं—

- (१) शय्या संस्कारक की प्रतिलेखना नहीं करना या अविधि
से करना ।
- (२) शय्या संस्कारक का प्रमार्जन नहीं करना या अविधि
से करना ।
- (३) परठने की भूमि का प्रतिलेखन नहीं करना या अविधि
से करना ।
- (४) परठने की भूमि का प्रमार्जन नहीं करना या अविधि
से करना ।
- (५) पौषध के नियमों का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं
करना ।

अतिधि-संविभाग-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८७. भोजन पानी आदि द्रव्यों का देश काल के अनुकूल, श्रद्धा
सत्कार युक्त, परममक्ति से तथा आत्म कल्याण की भावना से
ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान महावीर के संयतों को दान देना अतिधि
संविभाग है ।

श्रमणोपासक को अतिधि संविभाग व्रत के पांच प्रमुख
अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना
चाहिए, वे इस प्रकार हैं—

- (१) त्रिवेक न रखते हुए अचिस्त वस्तु सचिस्त पर रखना,

१ उवा. अ. १, सु. ५४

२ उवा. अ. १, सु. ५६ यहाँ "अतिहिसंविभागस्स" शब्द के स्थान पर "अहासंविगस्स" शब्द का प्रयोग है ।

(२) सचित्तपिहणया,

(३) कात्ताइवकमे,

(४) परववएते,

(५) मवळरिया ।^१

—आव. अ. ६, सु. ६१-६२

समणस्स शुद्ध आहार दाणफलं—

२६१. प०—समणोवासएणं भंते ! तहारुखं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असणं-पाणं-खाइमं-साइमेणं, पडिलाभेमाणे किं लभति ?

उ०—गोयमा ! समणोवासएणं तहारुखं समणं वा माहणं वा-जाव-पडिलाभेमाणे तहारुखस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहि उप्पाएत्ति, समाहिकारएणं से तामेव समाहि पडिलभति ।

प०—समणोवासए णं भंते तहारुखं समणं वा माहणं वा-जाव-पडिलाभेमाणे किं चयति ?

उ०—गोयमा ! जीवियं-चयति, दुक्कयं चयति, दुक्करं करेइ, दुल्लभं लभति, बोहिं वज्जति तओ पच्छा सिज्जइ-जाव-अंतं करेइ ।

—वि. स. ७, उ. १, सु. ६-१०

प०—समणोवासए णं भंते ! तहारुखं समणं वा माहणं वा फासुयएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे किं कज्जति ?

उ०—गोयमा ! एयंतओ से निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ ।

प०—समणोवासए णं भंते ! तहारुखं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे किं कज्जइ ?

उ०—गोयमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ ।

—वि. स. ८, उ. ६, सु. १-२

असंजयस्स आहार-दाण-फलं—

२६२. प०—समणोवासए णं भंते ! तहारुखं अस्संजय-अविरय-अपडिहय-अपच्छक्खाय-पावकम्मं फासुएणं वा अफासुएणं वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा, असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे किं कज्जइ ?

(२) विवेक न रखते हुए अचित्त वस्तु सचित्त से ढंकना ।

(३) विवेक न रखते हुए भिक्षा के वसमय में दान की भावना रखना ।

(४) विवेक न रखते हुए दूसरों से दान दिलाना ।

(५) कषाय युक्त भावों से दान देना ।

श्रमण को शुद्ध आहार देने का फल—

२६१. प्र०—हे भगवन् ! उत्तम श्रमण और माहून को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम द्वारा प्रतिलाभित करते हुए श्रमणोपासक को क्या लाभ होता है ?

उ०—गौतम ! तथारूप श्रमण या माहून को—यावत्—प्रतिलाभित करता हुआ श्रमणोपासक, तथारूप श्रमण या माहून को समाधि पहुँचाता है । उन्हें समाधि प्राप्त कराने वाला वह श्रमणोपासक स्वयं भी उसी समाधि को प्राप्त करता है ।

प्र०—हे भगवन् ! तथारूप श्रमण या माहून को—यावत्—प्रतिलाभित करता हुआ श्रमणोपासक क्या त्याग करता है ?

उ०—गौतम ! श्रमणोपासक जीवन के आधारभूत अन्न-पानादि का त्याग करता है, दुस्त्यज वस्तु का त्याग करता है, दुष्कर कार्य करता है, दुर्लभ वस्तु से लाभ लेता है, बोधि को प्राप्त करता है, उसके पश्चात् वह शिद्ध होता है—यावत्—सब दुःखों का अन्त करता है ।

प्र०—हे भगवन् ! तथारूप श्रमण अथवा माहून को प्रासुक एवं एषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार द्वारा प्रतिलाभित करने वाले श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है ?

उ०—गौतम ! वह एकान्त रूप से निर्जरा करता है और वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता है ।

प्र०—हे भगवन् ! तथारूप श्रमण या माहून को अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार द्वारा प्रतिलाभित करते हुए श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है ?

उ०—गौतम ! उसके अधिक निर्जरा होती है और अल्प पापकर्म का बन्ध होता है ।

असंयत को आहार देने का फल—

२६२. प्र०—हे भगवन् ! तथारूप असंयत, अविरत, जिसने पाप कर्मों को नहीं रोका और पाप का प्रत्याख्यान भी नहीं किया उसे प्रासुक या अप्रासुक, एषणीय या अनेषणीय अशन-पान, खादिम, स्वादिम द्वारा प्रतिलाभित करते हुए श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है ?

उ०—गोयमा ! एवंतसो से पावे कस्मे कज्जइ, नत्थि से
करइ निज्जरा कज्जइ ।^१

—वि. स. ६, उ. ६, सु. ३

उ०—गौतम ! उसे एकान्त पाप कर्म होता है, निर्जरा
कुछ भी नहीं होती ।



श्रावक प्रतिमा—३

एगवस-उवासगपडिमाओ —

२६३. एगकारस उवासग-पडिमाओ पणसाओ^२ तं जहा—

- (१) वंसणसावए,
- (२) कयण्वयकस्मे,
- (३) सामादयकडे,
- (४) पोसहोववासणिरते,
- (५) दिवा बंधयारी, रत्ति परिमाणकडे^३,
- (६) असिणात्ती, विअडभोइ, मोलिकडे, दिवा वि राओ
वि बंधयारी ।
- (७) सच्चिअपरिण्णाए,
- (८) आरंभपरिण्णाए,
- (९) वेसपरिण्णाए,
- (१०) उद्दिट्ठअपरिण्णाए,

ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ—

२६३. ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ कही गई हैं । यथा—

- (१) दर्शन श्रावक प्रतिमा,
- (२) कृतव्रत कर्म प्रतिमा,
- (३) सामायिक कृत प्रतिमा,
- (४) पौषघोषवासनिरत प्रतिमा,
- (५) दिवा ब्रह्मचारी और रात्रि परिमाणकृत प्रतिमा ।
- (६) अस्नान, दिवस भोजन, मुकुलिकृत, दिवा-रात्रि ब्रह्म-
चर्य प्रतिमा ।
- (७) सच्चिअ परित्याग प्रतिमा ।
- (८) आरम्भ-परित्याग प्रतिमा ।
- (९) प्रेष्य-परित्याग प्रतिमा ।
- (१०) उद्दिष्ट भक्त-परित्याग प्रतिमा ।

१ यहाँ संयत को सुगुरुभाव से सम्मान करके सर्वथा निर्दोष आहार देने का फल श्रमणोपासक के लिए एकान्त निर्जरा कहा है, सामान्य सदोष आहार देने का फल अल्प पाप अधिक निर्जरा कहा है और तथारूप के (संन्यासी) असंयत को पूज्य भाव से सदोष-निर्दोष आहार देने का फल एकान्त पाप कहा है । किन्तु अन्य असंयत भिलारी पशु-पक्षी आदि को अनुकम्पा बुद्धि से आहार देने का फल श्रमणोपासक के लिए यहाँ एकान्त पाप नहीं कहा है ।

आगमों में भी प्रकार के पुण्यों का कथन है । 'रायणसेणिय' सूत्र में प्रदेशी राजा ने श्रमणोपासक होने के बाद दानशाला प्रारम्भ की ऐसा वर्णन है ।

दान के सम्बन्ध में मुनियों के मौन रहने का जो सूत्रकृतांग में विधान है वहाँ यह स्पष्ट कहा है कि "दान के कार्यों में पुण्य नहीं है" ऐसा भी साधु न कहे तथा ऐसा कहने वाले मुनि प्राणियों की आजीविका का नाश करते हैं ।

निष्कर्ष यह है कि असंयत भिलारी पशु पक्षी आदि को अनुकम्पा बुद्धि से आहार देने का फल एकान्त पाप नहीं है । किन्तु तथारूप के संन्यासी आदि को पूज्यभाव (गुरुबुद्धि) से देने में एकान्त (मिथ्यास्वरूप) पाप होता है ऐसा समझना चाहिए ।

२ दसा. द. ६, सु. १-२

३ पाँचवीं प्रतिमा का नाम दशाश्रुतस्कंध में और समवायांग में भिन्न-भिन्न है । किन्तु वर्णित विषयानुसार दशाश्रुतस्कंध में कथित नाम विशेष संगत प्रतीत होता है । "एक रात्रि की कायोत्सर्ग-प्रतिमा" यह नाम दशाश्रुतस्कंध सूत्र के मूल पाठ में है । इस प्रतिमा में श्रावक पौषध के दिन सम्पूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग करता है ।

समवायांग सूत्र में सूचित नाम उपयुक्त भी नहीं है । क्योंकि "दिन में ब्रह्मचर्य पालन करना और रात्रि में परिमाण करना" यह तो प्रतिमा धारण के प्रारम्भ में ही आवश्यक होता है । अतः पाँचवीं प्रतिमा में इस नियम का कोई महत्व नहीं रहता है ।

(११) समणघृणं यावि समणाउत्तो । —सम. ११, सु. १

पहमा उवासग पडिमा—

सव्व-धम्म-रुई यावि भवति ।

तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहो-
ववासाइं नो सम्मं पटुविताइं भवति ।

से तं पहमा उवासग-पडिमा ।

अहावरा दोच्चा उवासग पडिमा—

सव्व धम्म-रुई यावि भवइ ।

तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहो-
ववासाइं सम्मं पटुविताइं भवति ।

से णं सामाइयं देसावगासियं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ ।

से तं दोच्चा उवासग-पडिमा ।

अहावरा तच्चा उवासग पडिमा—

सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ ।

तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहो-
ववासाइं सम्मं पटुविताइं भवति ।

से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ ।

से णं अउइसि-अट्ठमि-उट्ठि-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहो-
ववासाइं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ ।

से तं तच्चा उवासग-पडिमा ।

अहावरा चउत्था उवासग-पडिमा—

सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ ।

तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहो-
ववासाइं सम्मं पटुविताइं भवति ।

(११) श्रमणभूत प्रतिमा ।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उपासक ग्यारह प्रतिमाओं से संपन्न होता है ।

प्रथम उपासक प्रतिमा—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है, अर्थात् श्रुतधर्म और चारित्र्य धर्म में श्रद्धा रखता है ।

किन्तु वह अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातविरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि का सम्यक् प्रकार से धारक नहीं होता ।

यह प्रथम उपासक प्रतिमा है ।

अब दूसरी उपासक प्रतिमा का वर्णन करते हैं—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है—

उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि-विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् प्रकार से धारण किये हुए होते हैं ।

किन्तु वह सामायिक और देशावकाशिकव्रत का सम्यक् प्रतिपालक नहीं होता है ।

यह दूसरी उपासक प्रतिमा है ।

अब तीसरी उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

यह प्रतिमाधारी श्रावक समधर्मरुचिवाला होता है—

उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् प्रकार से धारण किये हुए होते हैं ।

वह सामायिक और देशावकाशिक शिक्षाव्रत का भी सम्यक् परिपालक होता है ।

किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी इन तिथियों में परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालक नहीं होता ।

यह तीसरी उपासक प्रतिमा है ।

अब चौथी उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है,

उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् धारण किये हुए होते हैं ।

१ प्रतिमा धारण करने के पूर्व श्रावक साधारणतया अनेक व्रत-पच्चक्खाण करने वाला व बारहव्रत धारी श्रावक भी होता है, तथापि विनिष्ट प्रतिमा रूप में धारण किया हुआ नहीं होता है इस अपेक्षा से यहाँ पूर्व प्रतिमाओं में अगली प्रतिमा के विषय भूत व्रत-नियम का निषेध किया है ।

से णं सामाहयं देसावगासियं सम्मं अणुपालिता भवइ ।

से णं चउइसद्वुद्धि-पुणमासिणीसु पडिपुणं पोसहोववासं सम्मं अणुपालिता भवइ ।

से णं एगराइयं काउस्तग-पडिमं नो सम्मं अणुपालिता भवइ ।

से तं चउत्था उवासग-पडिमा ।

अहावरा पंचमा उवासग-पडिमा—

सव्व-धम्म रई यावि भवइ ।

तस्स णं बहूई सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्काणं-पोसहोव-वासाइं सम्मं पट्टविद्याइं भवति ।

से णं सामाहयं देसावगासियं सम्मं अणुपालिता भवइ ।

से णं चउइसि-अट्टमि-उद्धि-पुणमासिणीसु पडिपुणं पोसहो-ववासं सम्मं अणुपालिता भवइ ।

से णं एगराइयं काउस्तग-पडिमं सम्मं अणुपालिता भवइ ।

से णं असिणाणए, विथडभोई, मडलिकडे, दिवा य राओ य बंसचेरं, णो सम्मं अणुपालिता भवइ ।

से णं एयारुवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा, जाव-उक्कोसेणं पंच मासं विहरइ ।^१

से तं पंचमा उवासग-पडिमा ।

अहावरा छट्ठा उवासग-पडिमा—

सव्व-धम्म रई यावि भवइ-जाव-से णं एगराइयं काउस्तग-पडिमं सम्मं अणुपालिता भवइ ।

से णं असिणाणए, विथडभोई, मडलिकडे, दिवा य राओ य बंधवारी,

सच्चित्ताहारे से अपरिणाए भवइ ।

से णं एयारुवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा-जाव-उक्कोसेणं छम्मासे विहरेज्जा ।

वह सामायिक और देशावकाशिक शिक्षाव्रत को भी सम्यक् प्रकार से पालन करता है ।

वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी तिथियों में परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालन करता है ।

किन्तु एक रात्रिक कायोत्सर्ग प्रतिमा का सम्यक् परिपालन नहीं करता है ।

यह चौथी उपासक प्रतिमा है ।

अब पाँचवीं उपासक प्रतिमा का वर्णन करते हैं—

वह प्रतिमाधारी धावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है ।

उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणतिपातादि विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् धारण किये हुए होते हैं ।

वह सामायिक और देशावकाशिक व्रत का सम्यक् प्रकार से परिपालन करता है ।

वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी तिथियों में परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालन करता है ।

वह एक रात्रिक कायोत्सर्ग प्रतिमा का सम्यक् परिपालन करता है ।

किन्तु अस्नान, दिवस भोजन, मुकुलीकरण, दिवस एवं रात्रि में ब्रह्मचर्य पालन इनका सम्यक् परिपालन नहीं करता है ।

वह इस प्रकार के आचरण से विचरता हुआ जबन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट पाँच मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है ।

यह पाँचवीं उपासक प्रतिमा है ।

अब छठी उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

वह प्रतिमाधारी धावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है—धावत्—वह एक रात्रिक कायोत्सर्ग प्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन करता है ।

वह स्नान नहीं करता, दिन में भोजन करता है, घोती की लांग नहीं लगाता, दिन में और रात्रि में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है ।

किन्तु वह सचित्त आहार का परित्यागी नहीं होता है ।

इस प्रकार का आचरण करते हुए विचरता हुआ वह जबन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट छह मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है ।

१ प्रारम्भ की चार प्रतिमाओं का काल मान नहीं कहा गया है, तथापि उपासकदशा की टीका में इनका काल बताया है वह इस प्रकार है—

पहली प्रतिमा का उत्कृष्ट एक मास, दूसरी का उत्कृष्ट दो मास, तीसरी का उत्कृष्ट तीन मास, और चौथी का उत्कृष्ट चार मास ।

से तं छट्ठा उपासक-पडिमा ।

अहावरा सत्तमा उपासक-पडिमा—

सध्व-धम्म-रुई यावि भवति-जाव-विद्या य राओ य बंधयारी ।

सच्चित्ताहारे से परिण्णाए भवति ।

आरम्भे से अपरिण्णाए भवति ।

से णं एयारुवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगहं वा
हुआहं वा तिआहं वा-जाव-उक्कोसेणं सत्तमासे विहरेज्जा ।

से तं सत्तमा उपासक-पडिमा ।

अहावरा अट्टमा उपासक-पडिमा—

सध्व-धम्म-रुई यावि भवति-जाव-विद्या य राओ य बंधयारी,

सच्चित्ताहारे से परिण्णाए भवइ ।

आरम्भे से परिण्णाए भवइ ।

पेसारम्भे से अपरिण्णाए भवइ ।

से णं एयारुवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगहं वा
हुआहं वा तिआहं वा-जाव-उक्कोसेणं अट्टमासे विहरेज्जा ।

से तं अट्टमा उपासक-पडिमा ।

अहावरा नवमा उपासक-पडिमा—

सध्व-धम्म-रुई यावि भवइ-जाव-विद्या य राओ य बंधयारी ।

सच्चित्ताहारे से परिण्णाए भवइ ।

आरम्भे से परिण्णाए भवइ ।

पेसारम्भे से परिण्णाए भवइ ।

उद्दिट्ठ-भक्ते से अपरिण्णाए भवइ ।

से णं एयारुवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगहं वा
हुआहं वा तिआहं वा-जाव-उक्कोसेणं नव मासे विहरेज्जा ।

से तं नवमा उपासक-पडिमा ।

अहावरा दसमा उपासक-पडिमा—

सध्व-धम्म-रुई यावि भवइ-जाव-उद्दिट्ठ-भक्ते से परिण्णाए
भवइ ।

से णं खुरमुंडए वा, सिहा-धारए वा, तस्स णं आभट्टस्स वा
समाभट्टस्स वा कप्पंति बुवे भासाओ भासित्तए ।

तं जहा—

यह छठी उपासक प्रतिमा है ।

अब सातवीं उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है—यावत्—
वह दिन में और रात्रि में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है ।

वह सच्चित्ताहार का परित्यागी होता है,

किन्तु वह आरम्भ करने का परित्यागी नहीं होता है ।

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ, वह जधन्य एक
दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट सात मास तक
इस प्रतिमा का पालन करता है ।

यह सातवीं उपासक प्रतिमा है ।

अब आठवीं उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है—यावत्—
वह दिन में और रात में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है ।

वह सच्चित्ताहार का परित्यागी होता है,

वह सर्व आरम्भों का परित्यागी होता है ।

किन्तु वह दूसरों से आरम्भ कराने का परित्यागी नहीं
होता है ।

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जधन्य एक
दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट आठ मास तक
इस प्रतिमा का पालन करता है ।

यह आठवीं उपासक प्रतिमा है ।

अब नवमी उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है—यावत्—
वह दिन में और रात्रि में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है ।

वह सच्चित्ताहार का परित्यागी होता है ।

वह आरम्भ का परित्यागी होता है ।

वह दूसरों के द्वारा आरम्भ कराने का भी परित्यागी होता है ।

किन्तु वह उद्दिष्ट भक्त का परित्यागी नहीं होता है ।

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जधन्य एक दिन,
दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट नौ मास तक इस
प्रतिमा का पालन करता है ।

यह नवमी उपासक प्रतिमा है ।

अब दसवीं उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है—यावत्—
वह उद्दिष्ट भक्त का परित्यागी होता है ।

वह शिर के बालों का धुर मुंडन करा देता है अथवा भिक्षा
(बालों) को धारण करता है, किसी के द्वारा एक बार या अनेक
बार पूछे जाने पर उसे दो भाषाएँ बोलना कल्पता है। यथा—

(१) जाणं वा जाणं,

(२) अजाणं वा णी जाणं ।

से णं एयाख्खेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा
बुआहं वा, तिआहं वा-जाव-उक्कोसेणं वस मासे विहरेज्जा ।

से तं वसमा उवासग-पडिमा ।

अहावरा एकादसमा उवासग-पडिमा—

सम्ब-धम्म-सई यावि भवइ-जाव-उद्दिट्ठ-मत्ते से परिण्णाए
भवइ ।

से णं खुरमुंडए वा, लुंखसिरए वा, गहियायार-भंडण-नेवसथे
जारिसे,

समणाणं निगंथाणं धम्मे पणत्ते तं सम्मं काएणं फासेमाणे,
पालेमाणे, पुरओ बुममायाए पेहमाणे, बट्ठूणं तसे पाणे
उद्धट्ठ पाए रीएज्जा, साहट्ठ पाए रीएज्जा, तिरिच्छं
वा पायं कट्ठ रीएज्जा, सति परक्कमे संजयामेव परिक्क-
मेज्जा, नो उज्जुयं गच्छेज्जा ।

केवलं से नायए पेज्जबंधणे अशोच्छिग्गे भवइ, एवं से
कप्पति नाय-विहि एत्तए ।^१

तस्स णं गहावइ-कुलं पिडवाय-पडियाए अणुप्पविट्ठस्स
कप्पति एवं वदित्तए—

“समणोवासगस्स पडिमापडिवग्गस्स भिक्खं दत्तयह”

तं च एयाख्खेणं विहारेणं विहरमाणं केइ पासित्ता वदिज्जा—

प०—केइ आउसो ! तुमं वसव्वं सिया ?

उ०—“समणोवासए पडिमा-पडिवग्गए अहमंसो” ति
वसव्वं सिया ।

से णं एयाख्खेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा
बुआहं वा, तिआहं वा-जाव-उक्कोसेणं एक्कारसमासे
विहरेज्जा ।

से तं एकावसमा उवासग पडिमा ।

एयाओ खलु ताओ बेरेहिं भगवन्तेहि एक्कारस उवासग-
पडिमाओ पणत्ताओ । दसा. ८, ६, सु. १७-३०

(१) यदि जानता हो तो कहे—“मैं जानता हूँ !”

(२) यदि नहीं जानता हो तो कहे—“मैं नहीं जानता हूँ ।”

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन,
दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट दश मास तक इस
प्रतिमा का पालन करता है ।

यह दशवीं उपासक प्रतिमा है ।

अब ग्यारहवीं उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है—पावत्—
वह उद्दिष्ट भक्त का परित्यागी होता है ।

वह क्षुरा के तिर का मुंडा कराता है अथवा केशों का
लुंचन करता है, वह साधु का आचार, भण्डोपकरण और वेष-
भूषा ग्रहण करता है,

जो श्रमण निर्ग्रन्थों का धर्म होता है, उसका सम्प्रत्यया
काया से स्पर्श करता हुआ, पालन करता हुआ, चलते समय
आगे चार हाथ भूमि को देखता हुआ, त्रस प्राणियों को देखकर
उनकी रक्षा के लिए अपने पैर उठाता हुआ, पैर संकुचित करता
हुआ, अथवा तिरछे पैर रखकर सावधानी से चलता है । यदि
दूसरा जीव सहित मार्ग हो तो उसी मार्ग पर यतना के साथ
चलता है किन्तु जीव सहित सीधे मार्ग से नहीं चलता ।

केवल जाति-वर्म से उसके प्रेम-बन्धन का विच्छेद नहीं
होता है इसलिए उसे जातिजनों के घरों में भिक्षा वृत्ति के लिए
जाना कल्पता है ।

जब वह गृहस्थ के घर में भक्त पान की प्रतिज्ञा से प्रविष्ट
होवे तब उसे इस प्रकार बोलना कल्पता है—

“प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो ।”

इस प्रकार की चर्या से उसे विचरते हुए देखकर यदि कोई
पूछे—

प्र०—हे आयुष्मन् ! तुम कौन हो ? तुम्हें क्या कहा जाए ?

उ०—“मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ” इस प्रकार उसे
कहना चाहिए ।

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन,
दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट ग्यारह मास तक
विचरण करे ।

यह ग्यारहवीं उपासक प्रतिमा है ।

स्थविर भगवन्तों ने ये ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ कही हैं ।

समणोवासगणं तिविहा भावणा—

२६४. तिविहा ठाणोहिं समणोवासए महाणिज्जरे महापर्यवसाने भवति, तं जहा—

(१) कया णं अहं अप्पं वा बहुयं वा परिगहं परिचइ-
इस्सामि ?

(२) कया णं अहं भुंढे मज्झिमा अगाराओ अणगारियं पव्व-
इस्सामि ?

(३) कया णं अहं अपच्छिम-मारणसिय-संसेहणा मूसणा-
मूसिते मस-पाण-पडियाहविस्सते पाओवगते कालं अणवकल-
माणे विहरिस्सामि ?

एवं समणसा सबयसा सकापसा पागडेमाणे समणोवासए
महाणिज्जरे महापर्यवसाने भवति ।

—ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २१०

श्रमणोपासकों की तीन भावनाएँ—

२६४. तीन कारणों से श्रमणोपासक कर्मों का क्षय और संसार
का अन्त करने वाला होता है । यथा—

(१) कब मैं बल्प या बहुत परिग्रह का परित्याग करूँगा ?

(२) कब मैं भुंडित होकर गृहस्थ से साधुपने में प्रव्रजित
होऊँगा ?

(३) कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना की आराधना
से मुक्त होकर भक्त-पान का परित्याग कर पादोपगमन संभारा
स्वीकार कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरूँगा ?

इस प्रकार मन, वचन और काया से मुक्त होकर प्रगट रूप
से भावना करता हुआ श्रमणोपासक महानिर्जरा और महापर्यव-
सान वाला होता है ।



भावक के प्रत्याख्यान—४

पञ्चक्खाण-पालन-रहस्य—

२६५. प०—समणोवासगस्स णं भंते ! पुब्बामेव तत्तपाणसमारंभे
पञ्चक्खाते भवति, पुढ्विसमारंभे अपञ्चक्खाते
भवति, से य पुढ्वि खणमाणे अन्नयरं तत्त-पाणं विहिं-
सेज्जा, से णं भंते ! तं वयं अतिचरति ?

उ०—णो इणद्धे समद्धे, नो खलु से तस्स अतिवायाए
आउट्ठति ।

प०—समणोवासगस्स णं भंते ! पुब्बामेव वणस्सतिसमारंभे
पञ्चक्खाते भवति, पुढ्वि-समारंभे अपञ्चक्खाते
भवति, से य पुढ्वि खणमाणे अन्नयरस्स वणस्स
मूलं छिदेज्जा, से णं भंते ! तं वयं अतिचरति ?

उ०—णो इणद्धे समद्धे, नो खलु से तस्स अतिवायाए
आउट्ठति ।

—वि. स. ७, उ. १, सु. ७-८

पञ्चक्खाणं तरुवं तस्स करणजोगाण य भंगा—

२६६. प०—समणोवासगस्स णं भंते ! पुब्बामेव मूलए पाणाह-
वाए अपञ्चक्खाए भवह, से णं भंते ! पच्छा पच्छा-
इक्खमाणे किं करेति ?

प्रत्याख्यान पालन का रहस्य—

२६५. प्र०—हे भगवन् ! जिस श्रमणोपासक ने पहले से ही
व्रत-प्राणियों के समारम्भ का प्रत्याख्यान कर लिया हो किन्तु
पृथ्वीकाय के समारम्भ का प्रत्याख्यान नहीं किया हो, उस
श्रमणोपासक से पृथ्वी खोदते हुए किसी व्रतजीव की हिंसा हो
जाए तो हे भगवन् ! क्या उसके व्रत का उत्सर्जन होता है ?

उ०—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, क्योंकि वह व्रत
जीव के वध के लिए प्रवृत्त नहीं होता ।

प्र०—हे भगवन् ! जिस श्रमणोपासक ने पहले से ही
वनस्पति के समारम्भ का प्रत्याख्यान कर लिया हो किन्तु पृथ्वी
के समारम्भ का प्रत्याख्यान न किया हो, उस श्रमणोपासक से
पृथ्वी खोदते हुए किसी वृक्ष का मूल छिन्न हो जाए तो हे
भगवन् ! क्या उसका व्रत भंग होता है ?

उ०—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, क्योंकि वह श्रमणो-
पासक उसके वध के लिए प्रवृत्त नहीं होता ।

प्रत्याख्यान का स्वरूप व उसके करण योगों के भंग—

२६६. प्र०—हे भगवन् ! जिस श्रमणोपासक ने पूर्व में स्थूल
प्राणातिपाल का प्रत्याख्यान नहीं किया है तो हे भगवन् ! वह
बाद में प्रत्याख्यान करता हुआ क्या करता है ?

उ०—गोयमा ! तीतं पडिक्कममति, पडुप्पन्नं संवरेति,
अणागतं पच्चक्खति ।

प०—तीतं पडिक्कममाणे किं—

१. तिविहं तिविहेणं पडिक्कममति,
२. तिविहं बुविहेणं पडिक्कममति,
३. तिविहं एगविहेणं पडिक्कममति,
४. बुविहं तिविहेणं पडिक्कममति,
५. बुविहं बुविहेणं पडिक्कममति,
६. बुविहं एगविहेणं पडिक्कममति,
७. एकविहं तिविहेणं पडिक्कममति,
८. एकविहं बुविहेणं पडिक्कममति,
९. एकविहं एगविहेणं पडिक्कममति ?

उ०—गोयमा ! तिविहं वा तिविहेणं पडिक्कममति-जाव-
एकविहं वा एकविहेणं पडिक्कममति ।

(१) तिविहं वा तिविहेणं पडिक्कममाणे—

न करेति, न कारवेति, करेतं णाणुजाणति, मणसा वयसा
कायसा,

(२) तिविहं बुविहेणं पडिक्कमाणे,

१. न करेति, न कारवेति, करेतं णाणुजाणति, मणसा
वयसा,

२. अहवा न करेति, न कारवेति, करेतं णाणुजाणति,
मणसा, कायसा,

३. अहवा न करेइ, न कारवेइ, करेतं णाणुजाणति, वयसा,
कायसा ।

(३) तिविहं एगविहेणं पडिक्कमाणे,

१. न करेति, न कारवेति, करेतं णाणुजाणति मणसा,

२. अहवा न करेइ, न कारवेति, करेतं णाणुजाणति, वयसा,

३. अहवा न करेति, न कारवेति, करेतं णाणुजाणति,
कायसा ।

(४) बुविहं तिविहेणं पडिक्कमाणे,

१. न करेइ, न कारवेति, मणसा, वयसा, कायसा,

उ०—गोतम ! अतीत काल में किये हुए प्राणातिपात का
प्रतिक्रमण करता है, वर्तमानकालीन प्राणातिपात का संवर करता
है एवं भविष्यकालीन प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता है ।

प्र०—अतीतकालीन प्राणातिपात का प्रतिक्रमण करता हुआ
क्या —

(१) तीन करण, तीन योग से,

(२) तीन करण, दो योग से,

(३) तीन करण, एक योग से,

(४) दो करण, तीन योग से,

(५) दो करण, दो योग से,

(६) दो करण, एक योग से,

(७) एक करण, तीन योग से,

(८) एक करण, दो योग से,

(९) एक करण, एक योग से, प्रतिक्रमण करता है ?

उ०—गोतम ! वह तीन करण तीन योग से प्रतिक्रमण
करता है— वाचस्प—एक करण एक योग से प्रतिक्रमण करता है ।

१. जब वह तीन करण तीन योग से प्रतिक्रमण करता है,
तब—

स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और करते हुए
का अनुमोदन करता नहीं मन से, वचन से और काया से । (१)

२. जब वह तीन करण दो योग से प्रतिक्रमण करता है,
तब—

(१) स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और करते
हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन से और वचन से,

(२) अथवा वह स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं
और करते हुए का अनुमोदन करता नहीं मन से और काया से ।

(३) अथवा वह स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं
और करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन से और काया
से । (२-४)

३. जब तीन करण एक योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और करते
हुए का अनुमोदन करता नहीं मन से,

(२) अथवा स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और
करते हुए का अनुमोदन करता नहीं वचन से,

(३) अथवा स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और
करते हुए का अनुमोदन करता नहीं काया से । (५-७)

४. जब दो करण तीन योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, मन, वचन,
और काया से,

२. अह्वा न करेति, करेतं नाणुजाणइ, मणसा, वयसा, कायसा,

३. अह्वा न कारवेइ, करेतं नाणुजाणइ, मणसा, वयसा, कायसा ।

(५) बुविहं बुविहेणं पडिक्कममाणे,

१. न करेति, न कारवेति, मणसा, वयसा,

२. अह्वा न करेति, न कारवेति, मणसा कायसा,

३. अह्वा न करेति, न कारवेति, वयसा कायसा,

४. अह्वा न करेति, करेतं नाणुजाणइ, मणसा वयसा,

५. अह्वा न करेति, करेतं नाणुजाणइ, मणसा कायसा,

६. अह्वा न करेति, करेतं नाणुजाणइ, वयसा कायसा,

७. अह्वा न कारवेति, करेतं नाणुजाणइ, मणसा वयसा,

८. अह्वा न कारवेइ, करेतं नाणुजाणइ, मणसा कायसा,

९. अह्वा न कारवेति, करेतं नाणुजाणइ, वयसा कायसा ।

(६) बुविहं एक्कविहेणं पडिक्कममाणे,

१. न करेति, न कारवेति, मणसा,

२. अह्वा न करेति, न कारवेति वयसा,

३. अह्वा न करेति, न कारवेति कायसा,

४. अह्वा न करेति, करेतं नाणुजाणइ मणसा,

५. अह्वा न करेइ, करेतं नाणुजाणइ वयसा,

६. अह्वा न करेइ, करेतं नाणुजाणइ कायसा,

७. अह्वा न कारवेइ, करेतं नाणुजाणइ मणसा,

८. अह्वा न कारवेइ, करेतं नाणुजाणइ वयसा,

(२) अथवा स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन, वचन और काया से,

(३) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन, वचन और काया से । (८-१०)

५. जब दो करण दो योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, मन और वचन से,

(२) अथवा स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, मन और काया से,

(३) अथवा स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, वचन और काया से ।

(४) अथवा स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और वचन से ।

(५) अथवा स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और काया से ।

(६) अथवा स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन और काया से ।

(७) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और वचन से ।

(८) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और काया से ।

(९) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन और काया से । (११-१६)

६. जब दो करण एक योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, मन से ।

(२) अथवा स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, वचन से ।

(३) अथवा स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, काया से ।

(४) अथवा स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन से ।

(५) अथवा स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन से ।

(६) अथवा स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, काया से ।

(७) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन से ।

(८) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन से ।

६. अहवा न कारवेइ, करेतं नाणुजाणइ कयसा ।

(७) एगविहं तिचिहेणं पडिक्कममाणे,

१. न करेति मणसा वयसा कायसा,

२. अहवा न कारवेइ मणसा वयसा कायसा,

३. अहवा करेतं नाणुजाणइ मणसा वयसा कायसा ।

(८) एक्कविहं दुविहेणं पडिक्कममाणे—

१. न करेति मणसा वयसा,

२. अहवा न करेति मणसा कायसा,

३. अहवा न करेइ वयसा कायसा,

४. अहवा न कारवेति मणसा वयसा,

५. अहवा न कारवेति मणसा कायसा,

६. अहवा न कारवेइ वयसा कायसा,

७. अहवा करेतं नाणुजाणइ मणसा वयसा,

८. अहवा करेतं नाणुजाणइ मणसा कायसा,

९. अहवा करेतं नाणुजाणइ वयसा कायसा ।

(९) एक्कविहं एगविहेणं पडिक्कममाणे—

१. न करेति, मणसा,

२. अहवा न करेति वयसा,

३. अहवा न करेति कायसा,

४. अहवा न कारवेति मणसा,

५. अहवा न कारवेति वयसा,

६. अहवा न कारवेति कायसा,

७. अहवा करेतं नाणुजाणइ मणसा,

८. अहवा करेतं नाणुजाणइ वयसा,

९. अहवा करेतं नाणुजाणइ कायसा ।

प्र०—पडुप्पन्नं संवरमाणे किं तिचिहं संवरेइ-जाव-एगविहं
एगविहेणं संवरेइ ?

उ०—एवं जहा पडिक्कममाणेणं एगूणपणं भंगा, भणिया
एवं संवरमाणेण वि एगूणपणं भंगा भाणियन्वा ।

प्र०—अथागयं पच्चक्खमाणे किं तिचिहं तिचिहेणं पच्चक्खाइ
-जाव-एगविहं एगविहेणं पच्चक्खाइ ?

(९) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनु-
मोदन करता नहीं, काया से । (२०-२८)

७. जब एक करण तीन योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वयं करता नहीं, मन, वचन और काया से ।

(२) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, मन, वचन और
काया से ।

(३) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन,
वचन और काया से । (२९-३१)

८. जब एक करण दो योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वयं करता नहीं, मन और वचन से,

(२) अथवा स्वयं करता नहीं, मन और काया से,

(३) अथवा स्वयं करता नहीं, वचन और काया से,

(४) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, मन और वचन से,

(५) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, मन और काया से,

(६) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, वचन और काया से,

(७) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और
वचन से,

(८) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और
काया से,

(९) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और
काया से । (३२-४०)

९. जब एक करण एक योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वयं करता नहीं, मन से,

(२) अथवा स्वयं करता नहीं, वचन से,

(३) अथवा स्वयं करता नहीं काया से,

(४) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, मन से,

(५) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, वचन से,

(६) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, काया से,

(७) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन से,

(८) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन से,

(९) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, काया
से । (४१-४९)

प्र०—हे भगवन् ! वर्तमानकालीन संवर करता हुआ,
आवक क्या तीन करण तीन योग से संवर करता है—यावत्—
एक करण एक योग से संवर करता है ?

उ०—असि प्रकार प्रतिक्रमण सम्बन्धी ४९ अंग कहे उसी
प्रकार संवर सम्बन्धी ४९ अंग कहने चाहिये ।

प्र०—हे भगवन् ! भविष्यत काल का प्रत्याख्यान करता
हुआ आवक क्या तीन करण तीन योग से प्रत्याख्यान करता है
—यावत्—एक करण एक योग से प्रत्याख्यान करता है ?

उ०—एवं ते चेद एगुणपण्ण भंगा भाणियव्वा ।

प०—समणोवासगस्स न भंते । पुब्बामेव थूलमुसावावे अपक्खवत्ताए भवइ, से न भंते । पच्छा पक्खाइवत्तमाणे किं करेति ?

उ०—एवं जहा पाणाइवायस्स सीयालं भंगसतं भणितं, तहा मुसावायस्स वि भाणियव्वं ।

एवं अदिण्णादाणस्स वि । एवं थूलगस्स मेहुणस्स वि, एवं थूलगस्स परिग्गहस्स वि सीयालं भंगसतं भाणियव्वं । —वि. स. प, उ. ५, सु. ६-८

उ०—यहाँ वे ही ४६ भंग कहने चाहिए ।

प्र०—हे भगवन् ! जिस श्रमणोपासक ने पूर्व में स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान नहीं किया है, किन्तु वह बाद में प्रत्याख्यान करता हुआ क्या करता है ?

उ०—जिस प्रकार प्राणतिपात के विषय में एक सौ सैंतालीस भंग कहे गए हैं, उसी प्रकार मृषावाद के सम्बन्ध में भी एक सौ सैंतालीस भंग कहने चाहिए ।

इसी प्रकार स्थूल अवत्तादान के विषय में,

इसी प्रकार स्थूल मैथुन के विषय में, इसी प्रकार स्थूल परिग्रह के विषय में भी एक सौ सैंतालीस—एक सौ सैंतालीस व्रकालिक भंग कहने चाहिए ।



गृहस्थ धर्म का फल—५

निस्सील सत्सील समणोवासगस्स पसत्था-अपसत्था—

२६७. तओ ठाणा णिसीसस्स णिब्बयस्स णिग्गुणस्स णिम्मेरस्स णिप्पक्खवत्ताण-पोसहोववासस्स गरहिता भवन्ति, तं जहा—

१. अस्सि लोगे गरहिते भवइ,
२. उववाते गरहिते भवइ,
३. आयाती गरहिता भवइ ।

तओ ठाणा सुसीलस्स सुब्बयस्स सगुणस्स सप्पेरस्स सपन्न-वत्ताण पोसहोववासस्स पसत्था भवन्ति, तं जहा—

१. अस्सि लोगे पसत्थे भवइ,
२. उववाए पसत्थे भवइ,
३. आजाती पसत्था भवइ । ठाणं. अ. ३, उ. २, सु. १६६

सुखई गिहत्थ सत्स देवगई य—

२६८. अगारि-सामाइयंगई, सइदी काएण कासए । पोसहं बुहओ पक्खं, एगणयं न हावए ॥

एवं सिक्खा-समावप्ते, गिह-वासे वि सुखाए ।

मुक्खाइ छवि-पक्खाओ गच्छे जक्ख-सलोगयं ॥

—उत्त. अ. ५, गा. २३-२४

शीलरहित और शीलसहित श्रमणोपासक के प्रशस्त-अप्रशस्त—

२६७. शील, व्रत, गुण, मर्यादा, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से रहित पुरुष के तीन स्थान गहित होते हैं—

- (१) इहलोक (वर्तमान) गहित होता है,
- (२) उपपात (देवलोक तथा नर्क का जन्म) गहित होता है,
- (३) आगामी जन्म (देवलोक या नरक के बाद होने वाला मनुष्य या तिर्यंच का जन्म) गहित होता है ।

शील, व्रत, गुण, मर्यादा, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से युक्त पुरुष के तीन स्थान प्रशस्त होते हैं—

- (१) इहलोक प्रशस्त होता है,
- (२) उपपात प्रशस्त होता है,
- (३) आगामी जन्म (देवलोक या नरक के बाद होने वाला मनुष्य जन्म) प्रशस्त होता है ।

सुव्रती गृहस्थ व उसकी देवगति—

२६८. श्रद्धालु श्रावक गृहस्थ धर्म की सामायिक के व्रतों का मन वचन काया से पालन करे । दोनों पक्षों में यथासमय (अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या) को पौषध करे । यदि पूर्ण पौषध न कर सके तो रात्रि पौषध तो अवश्य करे ।

इस प्रकार व्रत पालन रूप शिक्षा से सम्पन्न सुव्रती श्रावक गृहवास में रहता हुआ भी औदारिक शरीर से मुक्त होकर देवलोक में जाता है ।

गारं पि य आवते नरे, अणुपुण्यं पाणेहि संजए ।

समया सखत्थ सुखए, देवाणं गच्छे सत्तो गयं ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. ३, गा. १३

असंजयस्स गई —

२६६. य०—जीवे णं भंते ! असंजते अविरते अप्पडिहय-पक्ख-
वत्ताय-पावकस्से इतो चए पेच्चा देवे सिया ?

उ०—गोयमा ! अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे
सिया ।

य०—से केणट्ठेणं भंते ! एदं बुच्चइ अत्थेगइए देवे सिया,
अत्थेगइए नो देवे सिया ?

उ०—गोयमा ! जे इमे जीवा गामाऽऽगर-नगर-निगम-
रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-वोणमुह-पट्टण-सस-सस्सि-
सेसेमु अकामत्तहाए अकामछुहाए अकामबंसघेरवा-
सेणं अकामसीतात्तव-दंसमसग अण्हाणगसेध-जत्त-
मल-पंकपरिदाहेणं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं
अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पाणं परिकिलेसित्ता कास-
मासे कासं किच्चा अन्नतरेसु वाणमंतरेसु देवलोगेसु
देवत्ताए उव्वत्तारो भवन्ति ।

—वि. स. १, उ. १, गु. १२

आजीविय समणोवासगणं णामाइं, कम्मादाणाइं, गई य—

३००. एए खलु एरिसगा समणोवासगा भवन्ति, नो खलु एरि-
सगा आजीविओवासगा भवन्ति ।

आजीवियसमयस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते-अक्खीणवडिमोइणो
सब्बे सत्ता, से हुंता छेत्ता भेत्ता लुपित्ता विलुपित्ता उद्-
वइत्ता आहारमाहारंति ।

तत्थ खलु इमे बुवालस आजीवियोवासगा भवन्ति, तं जहा—

१. ताले, २. तालपलबे, ३. उव्विहे,
४. संविहे, ५. अवविहे, ६. उदए,
७. नामुदए, ८. अम्मुदए, ९. अणुवालए,
१०. संखवालए, ११. अयंपुले, १२. कायरए ।

इच्छेते बुवालस आजीविओवासग अरहतदेवत्तागा अम्मा-
पिउसुत्तसगा पंचफल-पडिक्कंता, तं जहा—उंबरेहि, वडेहि,
बोरेहि, सतरेहि, पित्तंखुहि, पलंडु-ल्लसणं-कंद-मूलविषज्जगा,

गृहवास में रहना हुआ जो मनुष्य क्रमशः प्राणियों पर संयम
रखता है तथा सर्वत्र समता रखता है वह सुव्रती देवलोक में
जाता है ।

असंयत की गति—

२६६. प्र०—हे भगवन् ! असंयत, अविरत तथा जिसने पाप
कर्मों को नहीं रोका एवं त्याग नहीं किया है, वह जीव इस लोक
से मर कर क्या परलोक में देव होता है ?

उ०—गौतम ! कोई जीव देव होता है और कोई जीव देव
नहीं होता ।

प्र०—हे भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा है कि कोई
जीव देव होता है और कोई जीव देव नहीं होता है ?

उ०—गौतम ! जो ये जीव—(१) ग्राम, (२) आकर,
(३) नगर, (४) विगम, (५) राजधानी, (६) खेड, (७) कंबट,
(८) मडम्ब, (९) द्रोणमुत्त (१०) पट्टण, (११) आश्रम,
(१२) सन्निवेश आदि स्थानों में अकाम तृषा से, अकाम धुधा से,
अकाम ब्रह्मचर्य पालन से, अकाम शीत उष्ण तथा डांस-मच्छरों
के काटने के दुःख को सहने से, अकाम अस्नान, पसीना, जल
मैल तथा पंक द्वारा होने वाले परिदाह से, थोड़े समय तक या
बहुत समय तक अपनी आत्मा को क्लेशित करते हैं, वे अपनी
आत्मा को क्लेशित करके मृत्यु के समय पर भर कर वाणभ्यन्तर
देवों में देवरूप से उत्पन्न होते हैं ।

आजीविक श्रमणोपासकों के नाम, कर्मदान और गति —

३००. ये इस प्रकार के ४६ भगों से प्रत्याख्यान आदि करने
वाले श्रमणोपासक होते हैं, किन्तु आजीविकोपासक ऐसे नहीं
होते ।

आजीविक (गोशालक) के सिद्धान्त का यह अर्थ है कि
समस्त जीव सचित्ताहारी होते हैं । इसलिए वे प्राणियों को
हनन, छेदन-भेदन करके, पंख आदि को लुप्त कर, चमड़ी आदि
को उत्तार कर और जीवन से रहित करके खाते हैं ।

उस आजीविक मत में ये प्रमुख बारह आजीविकोपासक हैं—
उसके नाम इस प्रकार हैं—

(१) ताल, (२) तालप्रलम्ब, (३) उव्विध,
(४) संविध, (५) अवविध, (६) उदय,
(७) नामोदय, (८) नमोदय, (९) अनुपालक,
(१०) शालपालक, (११) अयम्पुल, (१२) कातर ।

इस प्रकार बारह आजीविकोपासक हैं । इनका देव गोशालक
है । वे माता-पिता की सेवा करने वाले हैं । वे पाँच प्रकार के
फल नहीं खाते यथा—गुल्लर के फल, बड के फल, बोर, शहतूत

अणिल्लंछिएहि अणवकभिन्नेहि गोणेहि, तस पाणविवज्ज-
एहि वित्तेहि वित्ति कप्पेमाणे विहरेंति ।

एए वि ताव एवं इच्छंति, किमंग पुण जे इमे समणोवासगा
भवन्ति,

जेसि मां कप्पंते इमां पणरस कम्पावाणां सर्वं करेत्तए
वा, कारयेत्तए वा, करेत्तं वा अन्नं समणुज्जाणेत्तए, तं जहा —

१. इंगालकम्मे,	२. वणकम्मे,	३. साडीकम्मे,
४. भाडीकम्मे,	५. फोडीकम्मे,	६. दंतवाणिज्जे,
७. लखवाणिज्जे,	८. केशवाणिज्जे,	९. रसवाणिज्जे,
१०. विसवाणिज्जे,	११. जंतपीलणकम्मे,	
१२. निल्लंछणकम्मे,	१३. दवगिदावणया,	
१४. सर-द्रह-तलायपरिसोसणया,	१५. असलीपोसणया ।	

इच्छंते समणोवासगा सुक्का सुक्काभिजातीया भवित्ता
कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उव-
वत्तारो भवन्ति ।

वि. स. ८, उ. ५, सु. ६-१४

के फल, पीपल के फल, प्याज, लहसुन आदि कन्दमूल के त्यागी
होते हैं । तथा खस्सी न किये हुए और नाक नहीं नाथे हुए बैलों
से, वस प्राणी से रहित भूमि के द्वारा आजीविका करते हैं ।

जब इन आजीविकोपासकों का भी यह अभीष्ट है, तो फिर
ये जो श्रमणोपासक हैं, उनका तो कहना ही क्या ?

जिनको कि ये पन्द्रह कर्मादान स्वयं करना, दूसरों से कराना
और करते हुए का अनुमोदन करना कल्पनीय नहीं है ।

वे कर्मादान इस प्रकार हैं—

(१) अंगार कर्म,	(२) वनकर्म,	(३) शाकटिक कर्म,
(४) भाटी कर्म,	(५) स्फोटक कर्म,	(६) दन्तवाणिज्य,
(७) लाक्षवाणिज्य,	(८) केशवाणिज्य,	(९) रसवाणिज्य,
(१०) विपवाणिज्य,	(११) यंत्रपीडन कर्म,	
(१२) निलीछनकर्म,	(१३) दावाग्निदापनता,	
(१४) सर-द्रह तडाग-शोषणता,	(१५) असलीपोषणता ।	

ऐसे ये व्रतपालक श्रमणोपासक मत्सरभाव रहित पवित्र
धार्मिक जीवन से मुक्त होकर भरण के समय मृत्यु प्राप्त करके
किन्हीं देवलोको में देवरूप से उत्पन्न होते हैं ।



आराधक-विराधक

आराधक विराधक का स्वरूप—१

आराहगसरूबं^१ —

३०१. ४०—से नूनं भन्ते ! तमेव सच्चं णीसकं जं जिणेहि
पवेइयं ?

उ०—हंता गीयमा ! तमेव सच्चं णीसकं जं जिणेहि
पवेवितं ।^२

आराधक का स्वरूप—

३०१. ४०—भन्ते ! क्या वही सत्य और असंदिग्ध है जो
जिनेन्द्रों ने कहा है ?

उ०—हाँ गीतम ! वही सत्य और असंदिग्ध है जो जिनेन्द्रों
ने कहा है ।

१ (क) प्रतिमा धारण करने वाला आराधक कहलाता है ।

(ख) पाँच प्रकार का व्यवहार करने वाला आराधक है ।

(ग) विवेकपूर्वक सत्यादि चारों भाषाओं का वक्ता आराधक और अविवेकपूर्वक चारों भाषाओं का वक्ता विराधक होता है ।

—दसा. द. ७, सु. १-२५

—दसा. द. १०, सु. ५

—प्रज्ञापना पद ११, सु. ८६६

(घ) पापश्रमण (दोषसेवी) विराधक होता है और जो श्रमण समाचारी का निर्दोष आचरण करता है वह आराधक होता है ।

(क) सूय. सु. १. अ. २, गा. १२६

(ख) उत्त. अ. १७, गा. १२

(ङ) आलोचना न करने वाला साधक विराधक और आलोचना करने वाला साधक आराधक होता है ।—ठाणं. अ. ८, सु. ५६७

(च) उपशान्त न होने वाला साधक संयम की आराधना नहीं कर सकता है । जो उपशान्त होता है उसकी आराधना होती है ।

—कप्प. उ. १, सु. ३६

२ आ. सु. १, अ. ५, उ. ५, सु. १६८ ।

१०—से नूनं भंते ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे,
एवं चिट्टेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए
भवति ?

उ०—हंता गोयमा ! एवं मणं धारेमाणे-जाव-आराहए
भवद् । —वि. स. १, उ. ३, सु. ६

विराहग सख्बं—

३०२. अहम्मट्ठी तुमं सि णाम वाले आरंभट्ठी अणुवयमाणे—
'हणपाणे', घातमाणे, हणओ यावि समणुजाणमाणे : धीरे
घम्मे उवोरिते । उवेहति णं अणाणाए ।

एस विसण्णे वित्ते वियाहिते ।

—आ. सु. १, अ. ६, उ. ४, सु. १६२

आराहगा णिगंथा-णिगंथोओ—

३०३. ५०—निगंथेण य गाहावड्कुलं पिडवापपडियाए पडिद्वेण
अन्नपरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए, तस्स णं एवं भवति-
इहेव ताव अहं एयस्स ठाणस्स आलोएमि, पडिक्क-
भामि, निवामि, गरिहामि, विउट्ठामि, विसोहेमि
अकरणयाए अब्भुट्ठेमि, अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं
पडिक्कजामि,

तओ पच्छा थेराणं अंतिमं आलोएस्सामि-जाव-
तवोकम्मं पडिक्कजिस्सामि ।

से य संपट्टिए असंपत्ते थेरा य अमुहा सिया, से णं
भंते ! कि आराहए विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए ।

प०—से य संपट्टिए असंपत्ते अप्पणा य पुब्बामेव अमुहे
सिया, से णं भंते ! कि आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए !

प०—से य संपट्टिए असंपत्ते थेरा य कालं करेज्जा, से णं
भंते ! कि आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए ।

प्र०—हे भगवन् ! क्या इस प्रकार मन में धारण करता
हुआ, आचरण करता हुआ, रहता हुआ और संवरण करता
हुआ प्राणी वीतराग की आज्ञा का आराधक होता है ?

उ०—हाँ गौतम ! इस प्रकार मन में धारण करता हुआ
—यावत्—आज्ञा का आराधक होता है ।

विराधक का स्वरूप—

३०२. धर्मशून्य साधक को आचार्यादि इस प्रकार अनुशासित
करते हैं—तू अधर्माधी है, बाल-अज्ञ है, आरम्भार्थी है, तू इस
प्रकार कहता है कि 'प्राणियों का वध करो' अथवा तू स्वयं
प्राणीवध करता है और प्राणियों का वध करने वाले की अनु-
मोदना करता है । 'भगवान् ने दुष्कर धर्म का प्रतिपादन किया
है', ऐसा कहकर तू उनकी आज्ञा का अतिक्रमण कर उपेक्षा
करता है ।

ऐसा साधक कामभोगों के कीचड़ में लिप्त और हिंसक
कहा जाता है ।

आराधक-निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी—

३०३. प्र०—गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट निर्ग्रन्थ
द्वारा किसी अकृत्य स्थान का प्रतिसेवन हो जाए और उसके मन
में ऐसा विचार आवे कि—'मैं यहीं पर इस अकृत्य स्थान को
आलोचना, एतिक्रमण, निन्दा और गद्दी करूँ', उसके अनुबन्ध का
छेदन करूँ, इससे विषुद्ध बनूँ, पुनः ऐसा अकृत्य न करने के लिए
प्रतिज्ञाबद्ध होऊँ और यथोचित प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार
करूँ,

उसके बाद स्थविरों के समीप में आलोचना करूँगा,—यावत्-
तप कर्म स्वीकार करूँगा',

ऐसा विचार कर वह निर्ग्रन्थ स्थविर मुनियों के पास जाने
के लिए रवाना हुआ, किन्तु स्थविर मुनियों के पास पहुँचने से
पहले ही वे स्थविर सूक हो जाएँ (बोल न सकें) अर्थात् प्रायश्चित्त
न दे सकें । तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विरा-
धक है ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं ।

प्र०—स्थविर मुनियों के पास जाने के लिए रवाना हुआ
किन्तु उनके पास पहुँचने से पूर्व ही स्वयं सूक हो जाए तो हे
भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं ।

प्र०—स्थविर मुनियों के पास जाने के लिए रवाना हुआ
किन्तु उसके पहुँचने से पूर्व ही स्थविर मुनि काल कर जाएँ तो
हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं ।

प०—से य संपट्टिए असंपत्ते अप्पणा य पुब्बामेव कालं
करेज्जा,

से णं भंते ! किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए ।

प०—से य संपट्टिए संपत्ते, थेरा य अमुहा सिया,
से णं भंते ! किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए ।

प०—से य संपट्टिए संपत्ते अप्पणा य पुब्बामेव अमुहे सिया,
से णं भंते ! किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए ।

प०—से य संपट्टिए संपत्ते थेरा य कालं करेज्जा,
से णं भंते ! किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए ।

प०—से य संपट्टिए संपत्ते अप्पणा य पुब्बामेव कालं
करेज्जा, से णं भंते किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए ।

एवं वहिया विथारभूमि वा विहारभूमि वा निक्खंतेण
वि एए चेव अट्ट आलावणा भाणियज्जा ।

एवं गामाणुधामं दूइज्जमाणेण वि एए चेव अट्ट
आलावणा भाणियज्जा

एवं जह्वा निग्गंधस्स तिण्णि गम्मा भाणिया,
तहेव निग्गंधीए वि एए चेव तिण्णि गमा भाणियज्जा ।

प०—से केणट्ठेणं भंते ! एवं शृच्छइ-आराहए, नो विराहए ?

उ०—गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं उण्णा-
लोमं वा, गयलोमं वा, सणलोमं वा, कप्पासलोमं
वा, तणसुयं वा, कुहा वा, तिहा वा, संखेज्जहा वा,
छिदिसा अग्निकायंसि पक्खिजेज्जा, से नूनं गोयमा !
छिज्जमाणे छिन्ने, पक्खिप्पमाणे पक्खित्ते, उज्जमाणे
उद्धे सि वत्तब्बं सिया ?

हंता भगवं ! छिज्जमाणे छिन्ने-जाव-उद्धे सि वत्तब्बं
सिया ।

प्र०—स्थविर मुनियों के पास जाने के लिए रवाना हुआ
किन्तु वहाँ पहुँचा नहीं उससे पूर्व ही स्वयं काल कर जाये तो हे
भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं ।

प्र०—स्थविर मुनियों के पास जाने के लिये रवाना हुआ
और स्थविरों के पास पहुँच गया, तत्पश्चात् वे स्थविर
मुनि मूक हो जाएँ तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या
विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं ।

प्र०—स्थविर मुनियों के पास जाने के लिये रवाना हुआ
किन्तु स्थविरों की सेवा में पहुँचने के पश्चात् वह स्वयं मूक हो
जाये तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं ।

प्र०—स्थविर मुनियों के पास जाने के लिये रवाना हुआ
और स्थविरों की सेवा में पहुँचने के पश्चात् स्थविर मुनि काल
कर जाये तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं ।

प्र०—स्थविर मुनियों के पास जाने के लिये रवाना हुआ
और स्थविरों की सेवा में पहुँचने के पश्चात् वह स्वयं काल कर
जाये तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं ।

इसी प्रकार उज्जहार प्रसवण भूमि या स्वाध्याय भूमि के
लिए बाहर निकले हुए निर्ग्रन्थ के भी ये आठ आलापक कहने
चाहिये ।

इसी प्रकार गामानुधाम विहार करते हुए निर्ग्रन्थ के भी ये
आठ आलापक कहने चाहिये ।

जिस प्रकार निर्ग्रन्थ के तीन गमक (२४ आलापक) कहे
जैसे ही निर्ग्रन्थी के भी तीन गमक कहने चाहिये ।

प्र०—भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा गया है कि—वे
आराधक हैं, विराधक नहीं ?

उ०—गौतम ! जैसे कोई पुरुष विशाल मात्रा में भेड़ के
बाल, हाथी के रोम, सण के रेशे, कपास के रेशे, अथवा तृण
समूह के दो, तीन या संख्यात टुकड़े करके भाग में डाले तो हे
गौतम ! काटे जाते हुए वे काटे गए, अग्नि में डाले जाते हुए वे
डाले गए या जलते हुए वे जल गए, इस प्रकार कहा जा
सकता है ?

(गौतम स्वामी) हाँ भगवन् ! काटते हुए वे काटे गए
—थावत्—जलते हुए वे जल गए यों कहा जा सकता है ।

से जहा वा केव पुरिसे वत्थं अहयं वा, धोयं वा, तंतुगायं वा, मंजिहुदोणीए पक्खिबेज्जा, से नूनं गोयमा ! उक्खिप्पमाणे उक्खित्ते, पक्खिप्पमाणे उक्खित्ते, एवमभावे रत्ते सि पत्तामं सिया ।
हंता, भगव ! उक्खिप्पमाणे-जाव-रत्ते सि वत्थं सिया ।

से तेणद्वेणं गोयमा ! एवं बुद्धं—आराहए, नो विराहए । —वि. स. ८, उ. ६, सु. ७-११

भिक्षुस्त आराहणा-विराहणा—

३०४. भिक्षू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता, से णं ठाणस्स तस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेति, नत्थि तस्स आराहणा ।

से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेति अत्थि तस्स आराहणा ।

भिक्षू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता, तस्स णं एवं भवति पच्छा वि णं अहं चरिमकालसमयंसि एयस्स ठाणस्स आलोइस्सामि-जाव-पडिबण्डिस्सामि,

से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेति नत्थि तस्स आराहणा ।

से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा ।

भिक्षू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता, तस्स णं एवं भवति—“अइ ताव समणोवासगा वि कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोगेसु देवताए उववस्तारो भवति किमं पुण अहं अणपन्नियवेकत्तणं पि नो लभिस्सामि ?” सि कट्ठु से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेति, नत्थि तस्स आराहणा ।

से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेति, अत्थि तस्स आराहणा । —वि. स. १०, उ. २, सु. ७-६

भायी णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ, नत्थि तस्स आराहणा ।

अमायी णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा ।—वि. स. ३, उ. २, सु. १६(३)

जैसे कोई पुरुष बिल्कुल नये, धोये या करघे से तुरन्त उतरे हुए वस्त्र को मजीठ के द्रोण पात्र में डाले तो हे गौतम ! उठाते हुए वस्त्र को उठाया गया, डालते हुए वस्त्र को डाला गया अथवा रंगते हुए वस्त्र को रंगा गया यों कहा जा सकता है ।

(गौतम स्वामी)—हाँ भगवन् ! उठाते हुए वस्त्र को उठाया गया—थावत्—रंगते हुए वस्त्र को रंगा गया, इस प्रकार कहा जा सकता है ।

(भगवान्) इसी कारण से हे गौतम ! कहा जाता है कि (आराधना के लिए उद्यत हुए साधु या साध्वी) आराधक हैं, विराधक नहीं ।

भिक्षु की आराधना-विराधना—

३०४. कोई भिक्षु किसी अकृत्य स्थान का सेवन करके, यदि उस अकृत्यस्थान की आलोचना तथा प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है तो उसके आराधना नहीं होती ।

यदि वह भिक्षु उस सेवित अकृत्यस्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है तो उसके आराधना होती है ।

कदाचित् किसी भिक्षु ने किसी अकृत्यस्थान का सेवन कर लिया, किन्तु बाद में उसके मन में ऐसा विचार उत्पन्न हो कि मैं अपने अन्तिम समय में इस अकृत्यस्थान को आलोचना करूँगा—थावत्—तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करूँगा परन्तु उस अकृत्यस्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाए तो उसके आराधना नहीं होती ।

यदि वह (अकृत्यस्थानसेवी भिक्षु) आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करे, तो उसके आराधना होती है ।

कदाचित् किसी भिक्षु ने किसी अकृत्यस्थान का सेवन कर लिया हो और उसके बाद उसके मन में यह विचार उत्पन्न हो कि—“अन्नपोपासक भी काल के अवसर पर काल करके किन्हीं देवलोकी में देवरूप में उत्पन्न हो जाते हैं, तो क्या मैं अणपन्निक देवत्व भी प्राप्त नहीं कर सकूँगा ?” यह सोचकर यदि वह उस अकृत्य स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है तो उसके आराधना नहीं होती ।

यदि वह (अकृत्यसेवी साधु) उस अकृत्यस्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है तो उसके आराधना होती है ।

मायी मनुष्य उस स्थान (वैक्रियकरणरूप प्रवृत्तिप्रयोग) की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना काल करता है तो उसके आराधना नहीं होती ।

अमायी मनुष्य उस विराधना स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है ।

चिद्वन्तेण आराहण विराहण सरूयं—

३०५. तए णं गोयमे समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-

प०—कहं णं भन्ते ! जीवा आराहणा वा विराहणा वा भवन्ति ?

उ०—गोथमा ! से जहाणामए एगंसि समुद्रकूलंसि दावद्वा नामं रक्खा पण्णा किण्हा-जाव-निउरंभूया, पत्तिया, पुप्फिया, फलिया, हरियग-रेरिउज्जमाणा सिरोएईईव उवसोमेमाणा-उवसोमेमाणा चिद्वन्ति ।

समणाउसो ! जया णं दीविच्चणा ईंसि पुरेवाया, पच्छावाया, मंदावाया, महावाया वार्यन्ति, तथा णं बहुवे दावद्वा रक्खा पत्तिया-जाव-उवसोमेमाणा चिद्वन्ति ।

अप्येगइया दावद्वा रक्खा जुणा सोडा परिसडिय-पंडुपत्त-पुप्फ-फला-सुक्ककखलओखिव मिलायमाणा-मिलायमाणा चिद्वन्ति ।

एवासेव समणाउसो ! जे अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथो वा आयरियउवज्जायाणं अतिए मुंडे भविता आगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे-बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं साविआणं सम्मं सहइ-जाव-अहिआसेइ.

बहूणं अणउत्थियाणं, बहूणं गिहत्थाणं नो सम्मं सहइ-जाव-अहिआसेइ, एस णं मए पुरिसे देसविराहए पण्णासे ।

समणाउसो ! जया णं सामुहणा ईंसि पुरेवाया, पच्छावाया, मंदावाया, महावाया वार्यन्ति, तथा णं बहुवे दावद्वा रक्खा जुणा सोडा-जाव-मिलायमाणा मिलायमाणा चिद्वन्ति ।

अप्येगइया दावद्वा रक्खा पत्तिया पुप्फिया-जाव-उवसोमेमाणा उवसोमेमाणा चिद्वन्ति ।

एवासेव समणाउसो ! जे अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथो वा-जाव-पव्वइए समाणे बहूणं अणउत्थियाणं, बहूणं गिहत्थाणं सम्मं सहइ-जाव-अहिआसेइ । बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं सावि-

वृष्टान्त द्वारा आराधक-विराधक का स्वरूप—

३०५. किसी समय गौतम स्वामी ने भ्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार पूछा—

प्र०—भन्ते ! जीव किस प्रकार आराधक और किस प्रकार विराधक होते हैं ?

उ०—गौतम ! जैसे एक समुद्र के किनारे दावद्रव नामक वृक्ष कहे गये हैं वे कृष्णवर्ण वाले—यावत्—गुच्छा रूप है । पत्तों वाले, फूलों वाले, फलों वाले, अपनी हरियाली के कारण मनोहर और धी से अत्यन्त शोभित होते हुए रहते हैं ।

हे आयुष्मन् भ्रमण ! जब द्वीप सम्बन्धी कुछ-कुछ स्निग्ध वायु, वनस्थिति के लिए हितकारक वायु, मन्द और प्रचण्ड वायु चलती है, तब बहुत से दावद्रव वृक्ष पत्र से युक्त होकर—यावत्—शोभित होते हुए रहते हैं ।

उनमें से कोई-कोई दावद्रव-वृक्ष जीर्ण जैसे हो जाते हैं, सड़े पत्तों वाले, खिरे हुए पत्तों वाले, पीसे पत्तों वाले और पुष्प-फल से रहित होकर सूखे पेड़ की तरह मुरझाते हुए खड़े रहते हैं ।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् भ्रमण ! जो मेरा आज्ञानुवर्ती साधु या साध्वी आचार्य-उपाध्याय के समीप में मुंडित होकर गृहवास का त्याग कर अनगर धर्म में दीक्षित होकर बहुत से साधुओं, बहुत सी साध्वियों, बहुत से श्रावकों और बहुत सी श्राविकाओं के प्रतिकूल वचनों को सम्यक् प्रकार से सहन करता है—यावत्—विशेष रूप से सहन करता है ।

किन्तु बहुत से अन्यतीर्थिकों के तथा गृहस्थों के दुर्वचन को सम्यक् प्रकार से सहन नहीं करता है—यावत्—विशेष रूप से सहन नहीं करता है, ऐसे पुरुष अर्थात् साधु साध्वी को मैंने देश-विराधक कहा है ।

हे आयुष्मन् भ्रमण ! जब समुद्र सम्बन्धी अल्प पुरोवात, पध्य वात, मन्दवात और महावात बहती है, तब बहुत से दावद्रव-वृक्ष जीर्ण से हो जाते हैं, झड़ जाते हैं—यावत्—मुरझाये हुए रहते हैं ।

किन्तु कोई-कोई दावद्रव-वृक्ष पत्रित, पुष्पित—यावत्—अत्यन्त शोभायमान रहते हैं ।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् भ्रमण ! जो मेरा (आज्ञानुवर्ती) साधु या साध्वी—यावत्—दीक्षित होकर बहुत से अन्यतीर्थिकों के और बहुत से गृहस्थों के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से ग्रहण करता है—यावत्—विशेष रूप से सहन करता है किन्तु बहुत से साधुओं, बहुत सी साध्वियों, बहुत से श्रावकों तथा बहुत सी श्राविकाओं के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से सहन नहीं करता है

याणं नो सम्मं सहइ-जाव-अहियासेइ । एस णं मए पुरिसे देसाराहए पणसे ।

समणाउसो ! जया णं नो वीविच्छगा, णो सामुद्गा, ईसि पुरेवाया, पच्छावाया, संवावाया, महावाया वायंति, तया णं सखे दावद्वा दक्खा खुण्णा ओडा-जाव-धिलायमाणा मिलायमाणा चिट्ठन्ति ।

एवमेव समणाउसो ! जो अहं निगंधो वा निगंधी वा-जाव-पण्डइए समाणे, बहूणं समणाणं, बहूणं सभणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं साविद्याणं, बहूणं अन्न-स्थियाणं बहूणं गिहस्थयाणं नो सम्मं सहइ-जाव-अहिया-सेइ । एस णं मए पुरिसे सव्वविराहए पणसे ।

समणाउसो ! जया णं वीविच्छगा वि सामुद्गा वि ईसि पुरेवाया, पच्छावाया, संवावाया, महावाया वायंति तया णं सखे दावद्वा दक्खा पत्तिवा-जाव-उवसोभेमाणा चिट्ठन्ति ।

एवमेव समणाउसो ! जो अहं निगंधो वा निगंधी-जाव-पण्डइए समाणे बहूणं समणाणं, बहूणं सभणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं साविद्याणं, बहूणं अन्नउत्थि-याणं, बहूणं गिहस्थयाणं सम्मं सहइ-जाव-अहियासेइ ।

एस णं मए पुरिसे सव्वाराहए पणसे समणाउसो ।

एवं कलु गोयमा ! जीवा आराहगा वा विराहगा वा भवन्ति । — पाया. अ. ११, सु. ३-१३

सुय-सीलावेकखया आराहग-विराहग सखं—

३०६. रायगिहे नयरे-जाव-एवं वयासी—

प०—अन्नउत्थियाणं भंते ! एवमाइक्खंति-जाव-एवं पण्वेति—
एवं कलु

१. सीलं सेयं, २. सुयं सेयं,
३. सुयं सेयं सीलं सेयं, से कहमेयं भंते ! एवं ?

उ० - गोयमा ! अं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति-जाव-एवं पण्वेति, “जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमा-हंसु ।” अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि-जाव-एवं पण्वेमि, एवं कलु मए चत्तारि पुरिसजाया पण्णासा, सं अहा—

१. सीलसंपन्ने नामं एगे णो सुयसंपन्ने ।
२. सुयसंपन्ने नामं एगे णो सीलसंपन्ने ।
३. एगे सीलसंपन्ने वि सुयसंपन्ने वि ।

—यावत्—विशेष रूप से सहन नहीं करता है उस पुरुष को मैंने देशाराधक कहा है ।

हे आयुष्मन् भ्रमण ! जब द्वीप सम्बन्धी और समुद्र सम्बन्धी अल्प पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात नहीं बहती, तब सब दावद्रव-वृक्ष जीर्ण सरीखे हो जाते हैं—यावत्—मुरझाये रहते हैं ।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् भ्रमण ! जो मेरा (आज्ञानुवर्ती) साधु या साध्वी—यावत्—प्रव्रजित होकर बहुत से साधुओं, बहुत सी साध्वियों, बहुत से श्रावकों, बहुत सी श्राविकाओं, बहुत से अन्यतीर्थिकों एवं बहुत से गृहस्थों के दुर्वचन को सम्यक् प्रकार से सहन नहीं करता है—यावत्—विशेष रूप से सहन नहीं करता है । उस पुरुष को मैंने सर्वविराधक कहा है ।

हे आयुष्मन् भ्रमण ! जब द्वीप सम्बन्धी और समुद्र सम्बन्धी भी अल्प पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात बहती है, तब सभी दावद्रव-वृक्ष पथित—यावत्—सुशोभित रहते हैं ।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् भ्रमण ! जो मेरा (आज्ञानुवर्ती) साधु या साध्वी—यावत्—प्रव्रजित होकर बहुत से भ्रमणों के, बहुत सी भ्रमणियों, बहुत से श्रावकों, बहुत सी श्राविकाओं, बहुत से अन्यतीर्थिकों और बहुत से गृहस्थों के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से सहन करता है, उस पुरुष को मैंने सर्वाराधक कहा है ।

इस प्रकार हे गौतम ! जीव आराधक या विराधक होते हैं ।

श्रुत और शील से आराधक-विराधक का स्वरूप—

३०६. राजगृही नगर में—यावत्—गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा—

प्र०—भन्ते ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं—यावत्—प्ररूपणा करते हैं कि—

(१) शील ही श्रेयस्कर है, (२) श्रुत ही श्रेयस्कर है,
(३) शीलनिरपेक्ष श्रुत और श्रुतनिरपेक्ष शील श्रेयस्कर है । भन्ते ! क्या उनका ये कथन सत्य है ?

उ०—गौतम ! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं—यावत्—इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं उनका यह कथन मिथ्या है । हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ—यावत्—प्ररूपणा करता हूँ कि चार प्रकार के पुरुष होते हैं । यथा—

(१) एक व्यक्ति शीलसम्पन्न है, श्रुतसम्पन्न नहीं है ।
(२) एक व्यक्ति श्रुतसम्पन्न है, शीलसम्पन्न नहीं है ।
(३) एक व्यक्ति शीलसम्पन्न भी है और श्रुतसम्पन्न भी है ।

४. एते णो सीलसंपन्ने णो सुयसंपन्ने ।

१. तस्य णं जे से पढमे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलबं, असुयबं, उवरए, अविज्जायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहए पण्णसे ।

२. तस्य णं जे से वोख्खे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलबं, सुयबं, अणुवरए, विज्जायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसविराहए पण्णसे ।

३. तस्य णं जे से तप्पे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलबं, सुयबं, उवरए, विज्जायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णसे ।

४. तस्य णं जे से चउत्थे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलबं, असुयबं, अणुवरए, अविज्जायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णसे ।

—विया. स. ८, उ. १०, सु. १-२

आराहग-अनाराहग निग्गंथाईणं भंगा—

३०७. अस्सारे निग्गंथा पण्णत्ता, तं जहा—

१. रातिणिए समणे निग्गंथे महाकम्मे महाकिरिए अणाताबी असमिते धम्मस्स अणाराहए भवति ।

२. रातिणिए समणे निग्गंथे अल्पकम्मे अप्पकिरिए आताबी समिए धम्मस्स आराहए भवति ।

३. ओमरातिणिए समणे निग्गंथे महाकम्मे महाकिरिए अणाताबी असमिते धम्मस्स अणाराहए भवति ।

४. ओमरातिणिए समणे निग्गंथे अल्पकम्मे अप्पकिरिए आताबी समिते धम्मस्स आराहए भवति ।

एवं चेव चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता-जात्र-आराहए भवई ।

चत्तारि निग्गंथीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. रातिणिआ समणी निग्गंथी महाकम्मा महाकिरिया अणाताबी असमिता धम्मस्स अणाराहिया भवति ।

२. रातिणिआ समणी निग्गंथी अल्पकम्मा अप्पकिरिया आताबी समिता धम्मस्स आराहिया भवति ।

(४) एक व्यक्ति न शीलसम्पन्न है और न श्रुतसम्पन्न है ।

(१) इनमें से जो प्रथम प्रकार का पुरुष है, वह शीलवान् है, परन्तु श्रुतवान् नहीं है । वह पापादि से निवृत्त है किन्तु धर्म को विशेष रूप से नहीं जानता है । हे गौतम ! इस पुरुष को मैंने 'वैश-आराधक' कहा है ।

(२) इनमें से जो दूसरा पुरुष है, वह पुरुष शीलवान् नहीं है, परन्तु श्रुतवान् है । पापादि से अनिवृत्त है, परन्तु धर्म को विशेष रूप से जानता है । हे गौतम ! इस पुरुष को मैंने 'वैश-विराधक' कहा है ।

(३) इनमें से जो तृतीय पुरुष है वह पुरुष शीलवान् भी है और श्रुतवान् भी है । वह पापादि से निवृत्त है और धर्म का भी ज्ञाता है । हे गौतम ! इस पुरुष को मैंने 'सर्व आराधक' कहा है ।

(४) इनमें से जो चौथा पुरुष है, वह न तो शीलवान् है और न श्रुतवान् है । वह पापादि से अनिवृत्त है, धर्म का भी ज्ञाता नहीं है । हे गौतम ! इस पुरुष को मैंने 'सर्व विराधक' कहा है ।

आराधक-अनाराधक निर्ग्रन्थ आदि के मंग—

३०७. निर्ग्रन्थ चार प्रकार के कहे गये हैं । जैसे—

(१) कोई श्रमण निर्ग्रन्थ दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ होकर भी महाकर्म वाला, महाक्रिया वाला, अतपस्वी और समिति रहित होने के कारण धर्म का विराधक होता है ।

(२) कोई रात्रिक श्रमण निर्ग्रन्थ अल्पकर्म वाला, अल्पक्रिया वाला, तपस्वी और पाँच समितियों से युक्त होने के कारण धर्म का आराधक होता है ।

(३) कोई निर्ग्रन्थ श्रमण दीक्षा पर्याय में छोटा होकर महाकर्म, महाक्रिय, अनातापी और असमित होने के कारण धर्म का विराधक होता है ।

(४) कोई अल्प दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ अल्पकर्म, अल्पक्रिय, तपस्वी और समित होने के कारण धर्म का आराधक होता है ।

इसी प्रकार चार प्रकार के श्रमणोपासक कहे गये हैं—यावत्-आराधक होते हैं ।

निर्ग्रन्थियाँ चार प्रकार की कही गई हैं । जैसे—

(१) कोई रात्रिक श्रमणी निर्ग्रन्थी महाकर्म, महाक्रिया, अतपस्विनी और असमित होने के कारण धर्म की विराधिका होती है ।

(२) कोई रात्रिक श्रमणी निर्ग्रन्थी अल्पकर्म, अल्पक्रिया, तपस्विनी और समित होने के कारण धर्म की आराधिका होती है ।

३. ओमरातिणिधा समणी णिगंथी महाकम्मा महाकिरिया
अणायाधी असमिता धम्मस्स अणाराहिया भवति ।

४. ओमरातिणिधा समणी णिगंथी अप्पकम्मा अप्पकिरिया
आतावी समिता धम्मस्स आराहिया भवति ।

एवं चैव चत्तारि समणोवासियाओ पणत्ताओ-जाव-आरा-
हिया भवइ । —ठाण. अ. ४, उ. ३, सु. ३२१

आहाकम्म आईणं विवरीय परूपणा —

३०८. "आहाकम्मं णं अणवज्जे" त्ति मणं पहारेत्ता भवति, से णं
तस्स ठाणस्स अणालोइय-अपडिक्कते कालं करेति नत्थि
तस्स आराहणा ।

से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कते कालं करेति अत्थि
तस्स आराहणा ।

एतेणं गमेणं नेयव्वं—कीयकडं, ठवियगं, रइयमं, कंतारभत्तं,
दुब्धिभवत्तं, वड्ढलियाभत्तं, गिलाणभत्तं, सिज्जातरपिडं
रायपिडं ।

"आहाकम्मं णं अणवज्जे" त्ति बहुजणमज्जे भासित्ता सबमेव
परिभुजित्ता भवति-जाव-अत्थि तस्स आराहणा ।

एतेणं गमेणं नेयव्वं—कीयकडं जाव-रायपिडं ।

"आहाकम्मं णं अणवज्जे" त्ति सयं अन्नमन्नस्स अणुपवावेत्ता
भवति-जाव-अत्थि तस्स आराहणा ।

एतेणं गमेणं नेयव्वं—कीयकडं-जाव-रायपिडं ।

"आहाकम्मं णं अणवज्जे" त्ति बहुजणमज्जे पक्षवइत्ता
भवति-जाव-अत्थि तस्स आराहणा ।

एतेणं गमेणं नेयव्वं—कीयकडं-जाव-रायपिडं ।

—वि. स. ५, उ. ६, सु. १५-१८

(३) कोई अवमरात्तिक श्रमणी निग्रन्थी महाकर्मा, महा-
क्रिया अतपस्विनी और असमित होने के कारण धर्म की विरा-
धिका होती है ।

(४) कोई अवमरात्तिक श्रमणी निग्रन्थी अल्पकर्मा, अल्प-
क्रिया, तपस्विनी और समित होने के कारण धर्म की आराधिका
होती है ।

इसी प्रकार चार प्रकार की श्रमणीपासिकाएँ कही गई हैं
—यावत् —आराधिका होती हैं ।

आधाकर्म आदि की विपरीत प्ररूपणा—

३०८. "आधाकर्म आहार आदि निर्दोष है" इस प्रकार की जो
साधु मन में धारणा बना लेता है यदि वह उस आधाकर्म विषयक
अपनी धारणा की आलोचना एवं प्रतिक्रमण किये बिना ही काल
कर जाता है तो उसके आराधना नहीं होती है ।

यदि वह उस स्थान की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करके
काल करता है तो उसके आराधना होती है ।

आधाकर्म के आलापकवृत्त के अनुसार ही श्रौतकृत, स्थापित,
रचितक, कान्तारभक्त, बुभिक्ष भक्त, बर्बलिकाभक्त, ग्लान भक्त,
मय्यातरपिण्ड, राजपिण्ड, इन सब दोषों से युक्त आहारादि के
विषय में जानना चाहिये ।

"आधाकर्म आहार आदि निर्दोष है" इस प्रकार से जो
साधु बहुत से मनुष्यों के बीच में कह कर स्वयं ही उस आधाकर्म
आहारादि का सेवन करता है तो —यावत्— उसके आराधना
होती है ।

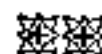
इसी प्रकार से ही श्रौत दोष —यावत्— राजपिण्ड के आला-
पक समझ लेने चाहिए ।

"आधाकर्म आहार आदि निर्दोष होता है" इस प्रकार कह
कर जो साधु एक दूसरे साधु को देता है तो —यावत्— उसके
आराधना होती है ।

इसी प्रकार से ही श्रौत दोष — यावत् — राजपिण्ड के आला-
पक जान लेने चाहिए ।

"आधाकर्म आहार निर्दोष होता है" इस प्रकार जो साधु
बहुत से लोगों के बीच में प्ररूपण करता है —यावत्— उसके
आराधना होती है ।

इसी प्रकार से ही श्रौत दोष — यावत् — राजपिण्ड के आला-
पक समझ लेने चाहिए ।



आराधना विराधना के प्रकार—२

आराहणा-पगारा—

३०६. बुविहा आराहणा पणत्ता, तं जहा—

१. धम्मियाराहणा चेव, २. केवलियाराहणा चेव ।

धम्मियाराहणा बुविहा पणत्ता, तं जहा—

१. सुयधम्माराहणा चेव, २. चरित्तधम्माराहणा चेव ।

केवलियाराहणा बुविहा पणत्ता, तं जहा—

१. अस्तकिरिया चेव, २. कल्पविमाणोक्खत्तिया चेव ।

—ठाणं. अ. २, उ. ४, सु. ११८

प०—कइविहा णं भंते ! आराहणा पणत्ता ?

उ०—गोयसा ! तिविहा आराहणा पणत्ता, तं जहा—

१. णाणाराहणा, २. वंसणाराहणा,

३. चरित्ताराहणा ।

प०—णाणाराहणा णं भंते ! कइविहा पणत्ता ?

उ०—गोयसा ! तिविहा पणत्ता, तं जहा—

१. उक्कोसिया, २. मज्झिमा, ३. जहण्णा ।

प०—वंसणाराहणा णं भंते ! कइविहा पणत्ता ?

उ०—गोयसा ! तिविहा पणत्ता, तं जहा—

१. उक्कोसिया, २. मज्झिमा, ३. जहण्णा ।

प०—चरित्ताराहणा णं भंते ! कइविहा पणत्ता ?

उ०—गोयसा ! तिविहा पणत्ता, तं जहा—

१. उक्कोसिया, २. मज्झिमा, ३. जहण्णा ।

—वि. स. ८, उ. १०, सु. ३-६

जहण्णुक्कोसिया आराहणा—

३१०. प०—जस्स णं भंते ! उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स उक्कोसिया वंसणाराहणा ? जस्स उक्कोसिया वंसणाराहणा तस्स उक्कोसिया णाणाराहणा ?

उ०—गोयसा ! जस्स उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स वंसणाराहणा उक्कोसिया वा अजहण्णउक्कोसिया वा, जस्स पुण उक्कोसिया वंसणाराहणा तस्स णाणाराहणा उक्कोसा वा जहण्णा वा, अजहण्णमणुक्कोसा वा ।

आराधना के प्रकार—

३०६. आराधना दो प्रकार की कही गई है । यथा—

(१) धार्मिकी आराधना, (२) केवली आराधना,

धार्मिकी आराधना दो प्रकार की कही गई है । यथा—

(१) श्रुतधर्म की आराधना, (२) चारित्रधर्म की आराधना,

केवलिकी आराधना दो प्रकार की कही गई है । यथा—

(१) अन्तक्रिया रूप, (२) कल्पविमान उत्पत्ति रूप,

प्र०—भन्ते ! आराधना कितने प्रकार की कही गई है ?

उ०—गौतम ! तीन प्रकार की कही गई है । यथा—

(१) ज्ञान आराधना, (२) दर्शन आराधना,

(३) चारित्र आराधना ।

प्र०—भन्ते ! ज्ञान आराधना कितने प्रकार की कही गई है ?

उ०—गौतम ! तीन प्रकार की कही गई है । यथा—

(१) उत्कृष्ट, (२) मध्यम, (३) जघन्य ।

प्र०—भन्ते ! दर्शन आराधना कितने प्रकार की कही गई है ?

उ०—गौतम ! तीन प्रकार की कही गई है । यथा—

(१) उत्कृष्ट, (२) मध्यम, (३) जघन्य ।

प्र०—भन्ते ! चारित्र आराधना कितने प्रकार की कही गई है ?

उ०—गौतम ! तीन प्रकार की कही गई है । यथा—

(१) उत्कृष्ट, (२) मध्यम, (३) जघन्य ।

जघन्य-उत्कृष्ट आराधना—

३१०. प्र०—भगवन् ! जिस जीव के उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है जिस जीव के उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है ?

उ०—गौतम ! जिस जीव के उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है, उसके दर्शनाराधना उत्कृष्ट या मध्यम होती है ।

जिस जीव के उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, उसके उत्कृष्ट, जघन्य या मध्यम ज्ञानाराधना होती है ।

१. यहाँ केवली से श्रुतकेवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी ये चारों लिये जाते हैं । स्थानांग वृत्तिकार ने कहा — “श्रुतावधि मनःपर्याय केवलज्ञानीनाम् इयं केवलिकी (संज्ञा) । सा चासावाराधना चेति केवलिक्याराधनेति ।

५०—अस्त जं भंते ! उक्कोसिया पाणाराहणा तस्स उक्कोसिया चरित्ताराहणा ? अस्तुक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया पाणाराहणा ?

उ०—जहा उक्कोसिया पाणाराहणा य दंसणाराहणा य भणिया तहा उक्कोसिया पाणाराहणा य चरित्ताराहणा य भाणियव्वा ।

५०—अस्त जं भंते ! उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा ? अस्तुक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया दंसणाराहणा ?

उ०—गोयमा ! अस्त उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स चरित्ताराहणा उक्कोसा वा जहण्णा वा अजहण्णमणुक्कोसा वा,
अस्त पुण उक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्स दंसणाराहणा नियमा उक्कोसा ।

—वि. स. ८, उ. १०, सु. ७-६

विराहणा पगारा—

३११. तओ विराहणाओ पणत्ताओ, तं जहा—

१. पाण विराहणाए, २. दंसण विराहणाए,
३. चरित्त विराहणाए । —सम. सम. ३, सु. १



आराधक विराधक की गति—३

आराहगा अणारंभा अणगारा—

३१२. से जे इमे गामागर सण्णिवेसेसु मणुथा भवति, तं जहा—

अणारंभा, अपरिगहा, धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिद्धा, धम्मक्खाई, धम्मपलोई, धम्मपलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेणं जेव विंत्ति कप्पेसाणा, सुब्बया, सुपडिवाणंदा, साहू ।

१. सव्वाओ पाणाइवायाओ पडिबिरया ।
२. सव्वाओ पुसावायाओ पडिबिरया ।
३. सव्वाओ अविण्णादाणाओ पडिबिरया ।

१ पडिक्कामाभि तिहि विराहणाइं, तं जहा—१. पाणविराहणाए,

२. दंसणविराहणाए,

३. चरित्तविराहणाए ।

—आव. अ. ४ सु. २२(५)

प्र०—भगवन् ! जिस जीव के उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट चारित्र्याराधना होती है, जिस जीव के उत्कृष्ट चारित्र्याराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है ?

उ०—जिस प्रकार उत्कृष्ट ज्ञानाराधना और दर्शनाराधना के विषय में कहा उसी प्रकार उत्कृष्ट ज्ञानाराधना और उत्कृष्ट चारित्र्याराधना के विषय में भी कहना चाहिए ।

प्र०—भगवन् ! जिसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट चारित्र्याराधना होती है, जिसके उत्कृष्ट चारित्र्याराधना होती है क्या उसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है ?

उ०—गौतम ! जिसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, उसके उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य चारित्र्याराधना होती है ।

जिसके उत्कृष्ट चारित्र्याराधना होती है, उसके नियम से उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है ।

विराधना के प्रकार—

३११. विराधना तीन प्रकार की कही गई है । यथा—

- (१) ज्ञान विराधना, (२) दर्शन विराधना,
- (३) चारित्र्य विराधना ।

आराधक-अणारम्भ-अणगार—

३१२. ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में जो ये मनुष्य होते हैं, यथा—

आरम्भ रहित, परिग्रह रहित, धार्मिक, धर्मानुगामी, धर्मिष्ठ, धर्म का कथन करने वाले, धर्म का अवलोकन करने वाले, धर्मप्ररंजन, धर्मसमुदाचार, धर्मपूर्वक जीविका चलाने वाले, सुशील, सुव्रत, स्वात्मपरितुष्ट होते हैं ।

(१) सब प्रकार की हिंसा से प्रतिविरत होते हैं ।

(२) सर्व असत्य से प्रतिविरत होते हैं ।

(३) सर्व चोरी से प्रतिविरत होते हैं ।

४. सख्याओ मेहुणाओ पडिविरया ।

५. सख्याओ परिगहाओ पडिविरया ।

६. सख्याओ कोहाओ, ७. माणाओ, ८. मायाओ, ९. लोभाओ, १०. पेज्जाओ, ११. दोसाओ, १२. कलहाओ, १३. अहमक्खाणाओ, १४. पेसुण्णाओ, १५. परपरिवायाओ, १६. अरइरईओ, १७. मायाभोसाओ, १८. मिच्छावंसण-सल्लाओ पडिविरया ।

सख्याओ आरम्भ-समारम्भाओ पडिविरया ।

सख्याओ करण-कारावणाओ पडिविरया ।

सख्याओ पयण-पयावणाओ पडिविरया ।

सख्याओ कोट्टण-पिट्टण-तज्जण-तालण-बह-बंध-परिकिलेसाओ पडिविरया ।

सख्याओ ण्हाण-सहण-वण्णण-विलेवण-सह-फरिस-रस-रुव-गंध-मल्लालंकाराओ पडिविरया ।

जे पावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता परपाण-परियावणकरा कज्जंति, तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए ।

से जहाणासए अणगारा भवति—१. हरियासमिया, २. भासासमिया, ३. एसणासमिया, ४. मायाण-मंड-मत्त-णिबुद्धेयणासमिया, ५. उच्चार-पासवण-खेल-सैघाण-जल्ल-परिट्ठावणिआ समिया,

मणसमिया, बहसमिया, कायसमिया, मणगुत्ता, बहगुत्ता, कायगुत्ता, गुत्ता, गुत्तिदिया, गुत्तबंभयारी, चाई, लज्जू, घन्ना, खंतिखमा, जिइंदिया, सोहिया, अणियाणा, अप्सुया, अबहिलेसा सुसामण्णरया, वंता, इणमेव निगंथं पावयणं पुरओकाळं बिहरंति ।^१

तेसि णं भगवसाणं एएणं विहारेणं विहरमाणानं अरथेणइ-याणं अणते अणुत्तरे णिव्वाघाए निरावरणे कस्सिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणवंसणे समुपपज्जइ ।

ते बहूइं बासाइं केवलपरियागं पाउणंति, पाउणिता भत्तं पच्चक्खंति पच्चविल्लता, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेवंति, छेविता,

(४) संपूर्णतः अब्रह्मचर्य से प्रतिविरत होते हैं ।

(५) तथा सम्पूर्णतः परिग्रह से प्रतिविरत होते हैं ।

सम्पूर्णतः (६) क्रोध से, (७) मान से, (८) माया से, (९) लोभ से, (१०) राग से, (११) द्वेष से, (१२) कलह से, (१३) अभ्याख्यान से, (१४) वैशुन्य से, (१५) परपरिवाद से, (१६) अरति-रति से, (१७) माया मृषा से, (१८) मिथ्यादर्शन-शल्य से यावज्जीवन प्रतिविरत होते हैं ।

सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भ से प्रतिविरत होते हैं,

करने तथा कराने से सम्पूर्णतः प्रतिविरत होते हैं,

पकाने एवं पकवाने से सर्वथा प्रतिविरत होते हैं,

कटने, पीटने, तर्जित करने, ताड़ित करने, बध-बन्धन एवं किसी को कष्ट देने से सम्पूर्णतः प्रतिविरत होते हैं ।

स्नान, मर्दन-वर्णक-विलेपन-शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध-माला-और मल्लंकार से सम्पूर्ण रूप से प्रतिविरत होते हैं ।

इसी प्रकार और भी जो पाप-प्रवृत्तिभूत, छल-प्रपंचयुक्त दूसरों के प्राणों को कष्ट पहुंचाने वाले कर्म किये जाते हैं उनसे भी जीवन भर के लिए सम्पूर्णतः प्रतिविरत होते हैं ।

वे अणगार भगवन्त—(१) ईर्यासमिति युक्त, (२) भाषा समिति युक्त, (३) एषणा समिति युक्त, (४) पात्र आदि के उठाने, इधर-उधर रखने की समिति से युक्त, (५) मल-मूत्र-खंखार नाक आदि का मैल त्यागने की समिति से युक्त होते हैं ।

मन समित, धरन समित, काय समित, जो मन वचन तथा शरीर की क्रियाओं का संयम करने वाले, गुप्त—शब्द आदि विषयों में राग रहित-अन्तर्मुख, गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियों को उनके विषय-व्यापार में लगाने की उत्सुकता से रहित, गुप्त ब्रह्मचारी—नियमो-पनियम पूर्वक ब्रह्मचर्य का संरक्षण करने वाले, त्यागी, लज्जा वाले, धन्य, शमा-धारी, जितेन्द्रिय, शोधन करने वाले, अल्प उत्सुक, संयत-विचार वाले, सुश्रामण्यरत, दान्त और केवल इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा रखकर विचरण करते हैं ।

ऐसी चर्या द्वारा संयमी जीवन का निर्वाह करने वाले पूजनीय श्रमणों में से कक्ष्यों की अन्तरहित सर्वश्रेष्ठ, बाधरहित, आवरणरहित, सर्वार्थग्राहक, परिपूर्ण, केवलज्ञान केवलदर्शन समुत्पन्न होता है ।

वे बहुत वर्षों तक केवलीपर्याय का पालन करके, अन्त में आहार का परित्याग करके अनशन सम्पन्न कर,

जस्सट्टाए कीरइ नगमावे, मूंडमावे, अण्हाणए, अवंतवणए,
केसलोए, अंमवेरवासे, अण्ठलणं, अणोआहुणं, भूमिसेज्जा,
फलहसेज्जा, कट्टसेज्जा, परघरपवेसो, लखावण्डं, परेहि,
हीलणाओ, निवणाओ, खिसणाओ, गरहणाओ, तज्जणाओ,
तालणाओ, परिभवणाओ, पध्वहणाओ, उचवाक्या, गाम-
कंडगा, बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति ।

तमहुमाराहिता चरिमेहि उस्सासणीसासेहि सिज्जंति,
कुज्जंति, मुज्जंति, परिणिब्बानयंति सम्भवुल्लापमंतं करेंति ।

जेसि पि य णं एगइयाणं णो केवलवरनाणवंसणे समुपज्जइ,
ते बहूइं वासाइं छउमत्थपरियाणं पाउणंति, पाउणिस्ता
आवाहे उप्पण्णे वा अणुप्पण्णे वा भसं पण्वस्संति । ते बहूइं
मसाइं अणसणाए छेवेंति, जस्सट्टाए, कीरइ नगमावे-जाव-
तमहुमाराहिता चरिमेहि उस्सासणीसासेहि अणंतं, अणुत्तरं,
निववाघायं, निरावरणं, कसिणं, पडिपुण्णं केवलवरनाण-
वंसणं उप्पावेंति, तओ पच्छा सिज्जिहंति-जाव-सम्भवुल्लाप-
मंतं करेहिंति ।

एगच्छा पुण एगे मयंतारो पुण्वकम्मावसेसेणं कालमासे
कालं किञ्चा उक्कोसेणं सम्भट्टसिद्धे महाविमाणे देवसाए
उववत्तारो भवति ।

तहिं तेसि गई, तहिं तेसि ठिई, तहिं तेसि उववाए पण्वसे ।

प०—तेसि णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्वसा ?

उ०—गोयमा ! तेसीसं सागरोवमाइं ठिई पण्वसा ।

प०—अस्थि णं भंते ! तेसि णं देवाणं इइही इ वा, कुई इ
वा, जसे इ वा, भसे इ वा, बीरिए इ वा, पुरि-
सक्कारपरक्कमे इ वा ?

उ०—हंता अस्थि ।

प०—ते णं भंते ! देवा परलोगस्स आराहगा,

उ०—हंता अस्थि । —उव. सु. १२६-१२६

आराहगा अप्पारंभा समणोवासगा—

३१३. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु मणुया भवति, तं जहा—
अप्पारंभा, अप्पपरिगहा, धम्मिया, धम्मामुया, धम्मिहु,
धम्मवसाइं, धम्मपलोई, धम्मपलज्जणा, धम्मसमुदायारा,
धम्मिणं चेइ जिंसि कप्पेवाणा, सुपीवा, सुअया, सुअजि-
याणंदा ।

जिस लक्ष्य के लिए नस्नभाव, मुण्डभाव, अस्नान, अदन्त-
धावन, केमालुचन, ब्रह्मचर्यवास, छाते तथा जूते का अग्रहण,
भूमि, फलक व काष्ठ पट्टिका पर शयन, प्राप्त अप्राप्त की चिंता
किये बिना भिक्षा हेतु परगृह प्रवेश, दूसरे के द्वारा की गई अवज्ञा,
अपमान, निन्दा, खिसना, गर्हा, तर्जना, ताड़ना, परिभव, प्रव्यथा
अनेक अल्पाधिक इन्द्रिय-कष्ट बाईस प्रकार के परीषह एवं उप-
सर्ग आदि स्वीकार किये जाते हैं ।

उस लक्ष्य को पूर्ण कर अपने अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास में
सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वृत होते हैं और
सब दुःखों का अन्त करते हैं ।

जिन कतिपय अनगरों को केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न
नहीं होता वे बहुत वर्षों तक छद्मस्थ-पर्याय में संयम-पालन
करते हैं । फिर किसी रोग आदि के उत्पन्न होने पर या न होने
पर भी वे भोजन का परित्याग कर देते हैं । बहुत दिनों का
अनशन करते हैं, अनशन सम्पन्न कर जिस लक्ष्य से कष्ट पूर्ण
संयम पथ स्वीकार किया—यावत्—उसे आराधित करके अन्तिम
उच्छ्वास निःश्वास में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण,
कृत्स्न प्रतिपूर्ण केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करते हैं । तत्पश्चात्
सिद्ध होते हैं—यावत्—सब दुःखों का अन्त करते हैं ।

कई एक ही भव करने वाले पूर्व-संचित कर्मों में से कुछ कर्म
क्षय अवशेष रहने के कारण मृत्यु काल आने पर देह-त्याग कर
उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देवरूप में उत्पन्न होते हैं ।

वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति, स्थिति और उप-
पात होता है ।

प्र०—हे भगवन् ! उन देवों की स्थिति कितने काल की
कही गई है ?

उ०—गौतम ! उनकी स्थिति तेतीस सागरोपम-प्रमाण
कही है ।

प्र०—भन्ते ! उन देवों की कृद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य
एवं पुरुषाकार पराक्रम होता है ?

उ०—हाँ, होता है ।

प्र०—भन्ते ! वे देव परलोक के आराधक होते हैं ?

उ०—हाँ, होते हैं ।

आराधक अल्पारम्भो श्रमणोपासक—

३१३. ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश आदि में ये जो मनुष्य
रहते हैं, यथा—अल्पारम्भो, अल्परिग्रही, धार्मिक, धर्मानुयायी,
धर्मिष्ठ, धर्मवादी, धर्मप्रलोकी, धर्मानुरागी, धर्मरूप सदाचार
वाले, धर्म से ही जीवन-निर्वाह करने वाले, सुशील, सुव्रती, सदा
प्रसन्नचित्त रहने वाले होते हैं ।

साहसि एगच्छाओ पाणाहवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए,
एगच्छाओ अपडिविरया-जाव-एगच्छाओ परिग्गहाओ पडि-
विरया जावज्जीवाए, एगच्छाओ अपडिविरया,
एगच्छाओ कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोहाओ, पेज्जाओ,
तोसाओ, कलहाओ, अक्खन्हाओ, पेसुण्णाओ, परपरि-
यायाओ, अरहरिओ, मायामोसाओ, निच्छावसणसत्ताओ,
एगच्छाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्छाओ अपडि-
विरया,

एगच्छाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया जावज्जीवाए,
एगच्छाओ अपडिविरया,
एगच्छाओ करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए,
एगच्छाओ अपडिविरया,

एगच्छाओ पयणपयावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए,
एगच्छाओ अपडिविरया,

एगच्छाओ कोट्टण-पिट्ठण-तज्जण-तालण-वह-बंध-परिकले-
साओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्छाओ अपडिविरया,
एगच्छाओ ग्हाण-मह्ण-वण्णक-विलेखण-सह-फरिस-रस-रूप-
बंध-मल्लालंकाराओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्छाओ
अपडिविरया,

जे यावण्णे तह्मणारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता परपाण-
परियावणकरा कज्जंति तओ वि एगच्छाओ पडिविरया
जावज्जीवाए, एगच्छाओ अपडिविरया ।

सं जहा—समणोवासया भवंति, अभिगयमोवाजीवा उवल्ल-
पुणपावा आसव संवर-निज्जर-किरिया-अहिगरण-बंध-सोक्ख-
कुसला ।^१

असहेज्जाओ वेवासुर-णाग-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-
गरुड-गंधर्व-महोरगाएहि देवगणोहि निग्गंवाओ पावयणाओ
अणइक्कमणिज्जा,

निग्गंथे पावयणे निस्संकिंया, निक्कंखिया, निक्खित्तिगिच्छा
लब्धहा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा,
अट्ठिनिजपेमाणुरागरत्ता,

‘अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे, अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेते
अणट्ठे,’ असियफत्तिहा, अवंगुयबुबारा, वियसत्तेउरपरयर-
हारप्पवेसा, जउहसट्ठमुहिट्ठपुणमासिणीसु पडिपुणं योसहं
सम्मं अणुपालेत्ता,

जो साधुओं के पास स्थूल हिंसा से यावज्जीवन विरत होते
हैं और सूक्ष्म हिंसा से अविरत होते हैं—यावत्—परिग्रह से
यावज्जीवन अंशतः विरत और अंशतः अविरत होते हैं ।

तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्या-
ख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-वरति, मायामृषा और मिथ्या-
दर्शनशक्त्य से यावज्जीवन अंशतः विरत और अंशतः अविरत
होते हैं,

आरम्भ समारम्भ से यावज्जीवन अंशतः विरत अंशतः
अविरत,

करने कराने से यावज्जीवन अंशतः विरत अंशतः अविरत,

पचन पाचन से यावज्जीवन अंशतः विरत, अंशतः अविरत,

कूटने-पीटने-तर्जने-ताड़ने-वध-बंध और परिक्लेश से याव-
ज्जीवन अंशतः विरत, अंशतः अविरत,

स्नान, मर्दन, वर्णक-विलेपन-शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गंध, माला
एवं अलंकार से यावज्जीवन अंशतः विरत, अंशतः अविरत
होते हैं ।

अन्य भी जो ऐसे पाप प्रवृत्तियुक्त तथा दूसरों के प्राणों को
कष्ट पहुँचाने वाले जो कार्य किये जाते हैं उनसे भी यावज्जीवन
अंशतः विरत अंशतः अविरत होते हैं ।

वे इस प्रकार के श्रमणोपासक होते हैं—जीव-अजीव के
ज्ञाता, पुण्य पाप को भली भाँति समझे हुए, आश्रय, संवर,
निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध और मोक्ष तत्त्वों में कुशल,

किसी की सहायता की अपेक्षा न रखने वाले, देव-असुर-
नाग-यक्ष-राक्षस-किन्नर-किम्पुक्ष-गरुड-गंधर्व-महोरग आदि देव-
गणों के द्वारा भी निर्ग्रन्थ-प्रवचन से विचलित न किये जा सकने
वाले,

निर्ग्रन्थ प्रवचन में निःशंक, निष्कांक्ष, निर्विचिकित्स, लब्धार्थ,
गृहीतार्थ, पुष्टार्थ, अभिगतार्थ, विनिश्चितार्थ होते हैं, निर्ग्रन्थ
प्रवचन के प्रति रम-रग में अनुराग से रंगे हुए होते हैं ।

हे आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सार है, यही परमार्थ है
और शेष अनर्थ है, ऐसा श्रद्धान और कथन करने वाले, अंगला
को न लगाने वाले, अतिथियों के लिए द्वार खुला रखने वाले,
अन्तःपुर तथा परकीय घर में बेरोक टोक आने-जाने वाले, चतु-
दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा इन तिथियों में प्रतिपूणं
पौषध व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाले,

समणे निर्गन्धे फासुय-एसणिज्जेणं असण-पाण-खादम-साह-
रोणं, पञ्चपत्ति-ज्ज-कंसेण-पणपुत्तणं, ओसहमेसज्जेणं, पडि-
हारणं य पीठ-फलक-सेज्जा संचारणं, पडिलाभेमाणा
विहरंति विहरिता भत्तं पच्चक्खंति, भत्तं पच्चक्खिता
ते बहूइं भत्ताइं अनसणाए छेदंति, छेदिता आलोदयपडिक्कंता
समाहिपत्ता कालमासे कालं किञ्चा उक्कोसेणं अचुए कप्पे
वेवत्ताए उववत्तारो भवन्ति ।

तहिं तेसि गई-जाव-बावीसं सागरोवमाइं ठिई-जाव-पर-
लोगस्स आराहणा । —उव. सु. १२३-१२४

आराहणा सन्निपंचेन्द्रिय तिरिक्खजोणिया —

३१४. से जे इमे सन्निपंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया पज्जत्तया भवन्ति,
संजहा—जलधरा, थलधरा, लह्यरा ।
तेसि णं अत्थेगइधानं सुभेणं परिणामेणं, पसत्थेहिं अज्झव-
साणेहिं, सेस्साहिं विमुज्झमाणीहिं, तयावरणिज्जाणं कम्माणं
खओवसमेणं, ईहावूह-मग्गण-गवैसणं करेमाणणं सण्णीपुव्व-
जाइसरणे समुप्पज्जइ ।

तए णं समुप्पण्ण-जाइसरणा समाणा सयमेव पंचाणुक्खयाइं
पडिक्कज्जंति पडिक्कज्जिता,
बहूहिं सोलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खणाण पोसहोक्खवासेहिं अप्पाणं
मावेमाणा,
बहूइं वासाइं आउयं पालेति, पालिता आलोदयपडिक्कंता,
समाहिपत्ता कालमासे कालं किञ्चा उक्कोसेणं सहस्सारे
कप्पे वेवत्ताए उववत्तारो भवन्ति ।

तहिं तेसि गई-जाव-अठ्ठारस सागरोवमाइं ठिई-जाव-पर-
लोगस्स आराहणा । —उव. सु. ११५-११६

विराहणा एगंत बाला—

३१५. प०—जीवे णं भंते ! असंजए, अविरए, अपडिहपपच्च-
क्खायपावकम्मे, सकिरिए, असंबुडे, एगंतबडे, एगंत-
बात्ते, एगंतमुत्ते, ओसणतसपाणघाई कालमासे कालं
किञ्चा णेरइएसु उववज्जति ?

उ०—हंता उववज्जति ।

—उव. सु. ६७

तथा अमण निर्ग्रन्थों की प्रासुक एवं एषणीय अन्न, पान,
खादिस और समादिस आहार का तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल,
पादप्रोक्षण, औषध, भेषज तथा पडिहारी (वापिस लेने योग्य)
पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक का दान करते हुए विचरते हैं,
विचरकर अन्त में आहार का प्रत्याख्यान करते हैं । आहार का
प्रत्याख्यान करके बहुत से भक्तों (भोजन वेलाओं का) अनशन से
छेदन करते हैं, छेदन करके आलोचना-प्रतिक्रमण करके समाधि
को प्राप्त होकर काल मास में काल करके उत्कृष्ट अच्युत कल्प
में देव रूप से उत्पन्न होते हैं ।

वहाँ उनके स्थान के अनुरूप गति—यावत्—बाईस साग-
रोपम की स्थिति कही गई है—यावत्—वे परलोक के आराधक
होते हैं ।

आराधक सन्निपंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक —

३१४. जो ये सन्निपंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यचयोनिक होते हैं,

जैसे—(१) जलचर, (२) स्थलचर, (३) लेचर,

उनमें से कद्यों के उत्तम अध्यवसाय, शुभ परिणाम तथा
विशुद्ध होती हुई लेश्याओं के कारण ज्ञानावरणीय एवं वीर्यान्त-
राय कर्म के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, भार्गवा, गवेषणा करते
हुए अपनी संज्ञित्य-अवस्था से पूर्ववर्ती भवों की स्मृति रूप जाति-
स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।

जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न होने पर वे स्वयं पांच अणुवत
स्वीकार करते हैं, स्वीकार करके,

अनेकविध शीलव्रत, गुणव्रत, विरति, प्रत्याख्यान पौषधोप-
वास आदि द्वारा आत्मा को भावित करते हुए बहुत वर्षों तक
अपने आयुष्य का पालन करते हैं फिर वे अपने पापस्थानों की
आलोचना कर प्रतिक्रमण कर समाधि-अवस्था प्राप्त कर मृत्यु
काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सहस्रार-कल्प-देवलोक में
देव रूप में उत्पन्न होते हैं ।

अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—
उनकी वहाँ अठारह सागरोपम की स्थिति कही गई है—यावत्—
वे परलोक के आराधक होते हैं ।

विराधक एकान्त बाल—

३१५. प्र०—भगवन् ! जो जीव संयम रहित है, अविरत है,
जिसने सम्यक्त्वपूर्वक पापकर्मों को हलका नहीं किया है, नहीं
मिटाय़ा है, जो सक्रिय है—संवररहित है—पापपूर्ण प्रवृत्तियों द्वारा
अपने को तथा औरों को दण्डित करता है, एकान्त बाल है तथा
मिथ्यात्व की प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ है, अस प्राणियों की
हिंसा में लगा रहता है तो क्या वह मृत्यु आने पर मरकर नैर-
यिकों में उत्पन्न होता है ?

उ०—हाँ, शीतम वह नरक में उत्पन्न होता है ।

विराहगा अकाम निज्जरा कारणा—

३१६. प०—जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अप्पडिह्यपच्च-
वक्षायपावकम्मे हओ खुए पेच्चा देवे सिया ?

उ०—गोयमा ! अत्थेगइया देवे सिया, अत्थेगइया णो देवे
सिया ।

प०—से केणट्टे णं भंते ! एवं वुच्चइ—

“अत्थेगइया देवे सिया, अत्थेगइया णो देवे सिया ?”

उ०—गोयमा ! जे इमे जीवा गामागर-णगर-निगम-राय-
हाणि - खेड - कब्बड-भडंब-द्रोणमुह-पट्टणासम-संवाह-
सण्णिवेसेसु अकामतण्हाए, अकामछुहाए, अकामबंभ-
चेरवासेणं, अकामअवहाणग-सीवापवदंसमसग-सेय-
जल्ल-मल्ल-पंकपरितावेणं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा
कासं अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पतरो वा भुज्जतरो
वा कासं अप्पाणं परिकिलेसिस्ता कालभासे कालं
किष्वा अण्णयेरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए
उववत्तारो भवन्ति । तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई,
तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते ।

प०—तेसिं णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

उ०—गोयमा ! वसवाससहस्साईं ठिई पण्णत्ता ।

प०—अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं इड्ढी इ वा, जुई इ वा
असे इ वा, वले इ वा, बीरिए इ वा, पुरिसवकार-
परकम्मे इ वा ?

उ०—हंता अत्थि ।

प०—ते णं भंते ! देवा परलोगस्स आराहगा ?

उ०—णो इणट्टे समट्ठे ।

—उव. सु. ६८-६९

विराहगा अकाम परिकिलेसगा—

३१७. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु मणूया भवन्ति, तं
जहा—

१. अंडुवडगा,

२. निअलवडगा,

३. हडिबडगा,

४. सारगवडगा,

५. हरपाठिणगा,

विराधक अकाम निर्जरा करने वाले—

३१६. प्र०—भगवन् ! जिन्होंने संयम नहीं साधा है, जो हिंसा,
असत्य आदि से विरत नहीं है, जिन्होंने सम्यक् श्रद्धापूर्वक पापों
का त्याग कर उन्हें नहीं मिटाया है, वे यहाँ से मृत्यु प्राप्त कर
आने के जन्म में क्या देव होते हैं ?

उ०—गौतम ! कई देव होते हैं, कई देव नहीं होते हैं ।

प्र०—भगवन् ! आप किस अभिप्राय से ऐसा कहते हैं कि
कई देव होते हैं, कई देव नहीं होते हैं ?

उ०—गौतम ! जो जीव मोक्ष की अभिलाषा के बिना या
कर्मक्षय के लक्ष्य के बिना ग्राम, आकर, नगर, निगम, राजधानी
खेट, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम, संवाह और सन्निवेश
में तृषा, क्षुधा ब्रह्मचर्य, अस्नान, शीत, आतप, डांस, मच्छर,
पसीना, रज, मैल, पंक इन परितापों से अपने आपको थोड़ा या
अधिक क्लेश देते हैं, कुछ समय तक अपने आपको क्लेशित करके
मृत्यु का समय आने पर देह का त्याग कर वे आन्व्यन्तर देव-
लोकों में से किसी देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न होते हैं ।
वहाँ उनकी अपनी विशेष गति, स्थिति तथा उत्पत्ति होता है ।

प्र०—भगवन् ! वहाँ उन देवों की स्थिति कितने समय की
बतलाई गई है ?

उ०—गौतम ! वहाँ उनकी स्थिति दस हजार वर्ष की
बतलाई गई है ।

प्र०—भगवन् ! क्या उन देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, बल,
वीर्य, पुरुषार्थ तथा पराक्रम होते हैं ?

उ०—हां, गौतम ऐसा होता है ।

प्र०—भगवन् ! क्या वे देव परलोक के आराधक होते हैं ?

उ०—गौतम ! ऐसा नहीं होता अर्थात् वे आराधक नहीं
होते हैं ।

विराधक अकाम कष्ट भोगने वाले—

३१७. जो ये ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में मनुष्य होते
हैं, वया—

(१) जिनके किसी अपराध के कारण काठ या लोहे के
बन्धन से हाथ और बांध दिये जाते हैं,

(२) जो बेड़ियों से अकड़ दिये जाते हैं,

(३) जिनके पैर काठ के खोड़े में डाल दिये जाते हैं,

(४) जो कारागार में बन्ध कर दिये जाते हैं,

(५) जिनके हाथ काट दिये जाते हैं,

६. पायछिन्नगा,
७. कर्णछिन्नगा,
८. भ्रुकछिन्नगा,
९. ओष्ठछिन्नगा,
१०. जिह्वछिन्नगा,
११. सीसछिन्नगा,
१२. मुखछिन्नगा,
१३. मण्डलछिन्नगा,
१४. वेकचछिन्नगा,

१५. ह्रियजम्पाडियगा,
१६. जयजम्पाडियगा,
१७. वसजम्पाडियगा,
१८. असजम्पाडियगा,
१९. गेवछिन्नगा,
२०. तंबुलछिन्नगा,

२१. कामभिसंसभसावियगा,

२२. ओलंबियगा,

२३. संक्षियगा,
२४. घंसियगा,
२५. घोलियगा,
२६. फालियगा,
२७. पीलियगा,
२८. सुलाहियगा,
२९. सुलभियगा,

३०. सारवसिया,
३१. वज्रवसिया,
३२. सीहपुच्छियगा,

३३. इवगिबद्धगा,
३४. पंकोसप्लगा,
३५. पंकेसुतगा,
३६. बलयमयगा,
३७. असद्रुमयगा,
३८. शिपाजमयगा,
३९. अंतोसल्लमयगा,

- (६) जिनके पैर काट दिये जाते हैं,
- (७) जिनके कान काट दिये जाते हैं,
- (८) जिनके नाक काट दिये जाते हैं,
- (९) जिनके होंठ छेद दिये जाते हैं,
- (१०) जिह्वाएँ काट दी जाती हैं,
- (११) मस्तक छेद दिये जाते हैं,
- (१२) मुँह छेद दिये जाते हैं,
- (१३) मध्य भाग (पेट) छेद दिये जाते हैं,
- (१४) दाएँ कंधे से लेकर दाहिनी काँख तक के सह-भाग मस्तक सहित विदीर्ण कर दिये जाते हैं,
- (१५) हृदय चीर दिये जाते हैं,
- (१६) आँखें निकाल ली जाती हैं,
- (१७) दाँत तोड़ दिये जाते हैं,
- (१८) अंडकोष उखाड़ दिये जाते हैं,
- (१९) गर्दन तोड़ दी जाती है,
- (२०) चावलों की तरह जिनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं,
- (२१) शरीर का कोमल मांस उखाड़ कर जिन्हें खिलाया जाता है,
- (२२) जो रस्सी से बाँधकर कुएँ सड़के आदि में लटका दिये जाते हैं,
- (२३) वृक्ष की शाखा में हाथ बाँध कर लटका दिये जाते हैं,
- (२४) चन्दन की तरह पत्थर आदि पर घिस दिये जाते हैं,
- (२५) पात्र-स्थित दही की तरह जो मथ दिये जाते हैं,
- (२६) काठ की तरह कुल्हाड़े से फाड़ दिये जाते हैं,
- (२७) जो गन्ने की तरह कोलू में पेल दिये जाते हैं,
- (२८) जो सूली में पिरो दिये जाते हैं,
- (२९) जिनके देह से लेकर मस्तक में से सूली निकाल दी जाती है,
- (३०) जो खार के बर्तन में डाल दिये जाते हैं,
- (३१) जो गीले चमड़े से बाँध दिये जाते हैं,
- (३२) सिंह की पूँछ से बाँधे जाते हैं, अथवा जिनके जन-नेन्द्रिय काट दिये जाते हैं,
- (३३) जो दावाग्नि में जल जाते हैं,
- (३४) जो कीचड़ में डूब जाते हैं,
- (३५) जो कीचड़ में फँस जाते हैं,
- (३६) जो गला भोड़कर मरते हैं,
- (३७) जो आतंछ्यान से पीड़ित होकर मरते हैं,
- (३८) जो निदान करके मरते हैं,
- (३९) जो भाले आदि से अपने आपको वेधकर मरते हैं,

४०. गिरिपडियगा,
४१. तरुपडियगा,
४२. मरुपडियगा,
४३. गिरिपक्ष्मदोलगा,
४४. तरुपक्ष्मदोलगा;
४५. मरुपक्ष्मदोलगा;

४६. जलप्रेषिगा,
४७. जलप्रेषिगा,
४८. बिसभक्षिगा,
४९. सख्योवाडियगा,
५०. बेहाणसिगा,

५१. गिद्धपिडगा,

५२. कंसारभयगा,
५३. दुग्धभक्षसयगा,

असंकलितुपरिणामा ले कालमासे कालं किञ्चा अणायरेसु
वाणमंतरेसु देवलोएसु देवताए उववत्तारो भवन्ति । तहिं
तेहिं गई-जाव-वारसवाससहस्राहं ठिई-जाव-परलोगस्स
विराहगा । —उव. सु. ७०

विराहगा भद्रपगइ जणा—

३१८. से जे इहे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु मनुष्या भवन्ति, तं
जहा—

१. वगइमहगा, २. पगइउवसंता,
३. पगइपतणुकोहमाणमावालोहा,

४. सिद्धसहसंपणा,
५. अस्लोणा, ६. विणीया,
७. अम्मापिउसुसुसगा,
८. अम्मापिउणं अणइयकमणिउज्जवयणा,
९. अप्पिउछा,
१०. अम्मारम्मा,
११. अप्पपरिमाहा,
१२. अप्पेणं आरम्भेणं,
१३. अप्पेणं सभारम्भेणं,
१४. अप्पेणं आरम्भसमारम्भेणं विसिं कप्पेमाणा ।

- (४०) जो पर्वत से दृश्यमान स्थान में गिरकर मरते हैं,
(४१) जो वृक्ष से गिरकर मरते हैं,
(४२) जो पर्वत से अदृश्य स्थान पर गिरकर मरते हैं,
(४३) जो पर्वत से छलांग लगाकर मरते हैं,
(४४) जो वृक्ष से छलांग लगाकर मरते हैं,
(४५) जो पर्वत से अदृश्य स्थान पर छलांग लगाकर
मरते हैं,

- (४६) जो जल में प्रवेश कर मरते हैं,
(४७) जो अग्नि में प्रवेश कर मरते हैं,
(४८) जो जहर खाकर मरते हैं,
(४९) जो शस्त्रों से अपने आप को विदीर्ण कर मरते हैं,
(५०) जो वृक्ष की डाली आदि से लटककर फाँसी लगाकर
मरते हैं,

(५१) जो मरे हुए मनुष्य, हाथी, ऊँट, गधे आदि की देह
में प्रविष्ट होकर गीधों की चीँचों से विदारित होकर मरते हैं,

- (५२) जो जंगल में खोकर मरते हैं,
(५३) जो दुग्ध में भूख प्यास आदि से मर जाते हैं,
यदि उनके परिणाम संक्लिष्ट—अर्थात् आर्त रौद्र ध्यान
युक्त न हों तो उस प्रकार से मृत्यु प्राप्त कर वे वानव्यन्तर देव-
लोकों में से किसी देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं । वहाँ
उस लोक के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—उनकी
स्थिति बारह हजार वर्ष की होती है—यावत्—वे परलोक के
विराधक होते हैं ।

विराधक भद्र प्रकृति मनुष्य—

३१८. जो ये ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में मनुष्य होते
हैं, यथा—

- (१) प्रकृति भद्र, (२) शान्त;
(३) स्वभावतः क्रोध, मान, माया एवं लोभ की उद्यता से
रहित,
(४) मृदु मार्दवसम्पन्न,
(५) गुरुजन के आज्ञापालक, (६) विनयशील,
(७) माता-पिता की सेवा करने वाले,
(८) माता-पिता के वचनों का उल्लंघन नहीं करने वाले,
(९) बहुत कम इच्छाएँ रखने वाले,
(१०) कम से कम हिंसा करने वाले,
(११) परिग्रह के अल्प परिमाण से परितुष्ट,
(१२) अल्पारम्भ,
(१३) अल्पसमारम्भ और
(१४) अल्प आरम्भ समारम्भ से आजीविका चलाने वाले ।

बहुई वासाहं आयुषं पाप्मंति, पविता कल्पमाने कार्यं
किञ्चा अण्यरेषु बाणमंतरेषु देवलोकेषु देवसाए उववसारो
भवन्ति । तहि तौसि गई-जाव-बउइसबासहस्ताइं ठिई-जाव-
परलोगस्स विराहगा । —उव. सु. ७१

विराहगाओ इत्थियाओ—

३१९. से आओ इनाओ गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु इत्थियाओ

भवन्ति, तं जहा—

१. अतो अंतेउत्थियाओ,
२. गयपइयाओ,
३. मयपइयाओ,
४. बासविहवाओ,
५. छड्डिउपल्लियाओ,
६. माइरक्खियाओ,
७. पियरक्खियाओ,
८. भायरक्खियाओ,
९. पइरक्खियाओ,
१०. कुलधररक्खियाओ,
११. ससुरकुलरक्खियाओ,
१२. मित्तनाइनियगसंभंघिरक्खियाओ,

१३. एक्कणहकेसकक्खरोमाओ,

१४. ववगयधूवपुप्फगंधमल्लसंकाराओ,

१५. अण्हागसेयजल्लमल्लपंकपरितावियाओ,

१६. ववगयधूव-इहि - गवणीय- सप्पि-तेल्ल-भुल-लोण-महु-
मज्ज-मंस-परिचत्तकयाहाराओ,

१७. अप्पिच्छाओ,

१८. अप्पारंभाओ,

१९. अप्पपरिगहाओ,

२०. अप्पेणं आरम्भेणं,

२१. अप्पेणं समारम्भेणं,

२२. अप्पेणं आरम्भसमारम्भेणं वित्तिं कप्पेमाणीओ,

२३. अकामवंचनचेरयासेणं,

२४. सामेय पइसेज्जं जाइक्कमन्ति,

बहुत वर्षों का आयुष्य भोगते हुए, आयुष्य पूरा कर, मृत्यु-
काल आने पर देह-त्याग कर बानव्यन्तर देवलोकों में से किसी
देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप
उनकी गति होती है—यावत्—इनकी स्थिति चौदह हजार वर्ष
की होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं।

विराधक स्त्रियाँ—

३१९. जो वे ग्राम, आकर—यावत् - सन्निवेश में स्त्रियाँ होती
हैं, यथा—

- (१) जो अन्तःपुर के अन्दर निवास करती हों,
- (२) जिनके पति परदेश गये हों,
- (३) जिनके पति मर गये हों,
- (४) जो बाल्यावस्था में ही विधवा हो गई हों,
- (५) जो पतियों द्वारा परित्यक्त कर दी गई हों,
- (६) जिनका पालन-पोषण, संरक्षण माता-पिता द्वारा होता हो,
- (७) जो पिता द्वारा रक्षित हों,
- (८) जो भाइयों द्वारा रक्षित हों,
- (९) जो पति द्वारा रक्षित हों,
- (१०) जो पीढ़र के अभिभावकों द्वारा रक्षित हों,
- (११) जो श्वसुर-कुल के अभिभावकों द्वारा रक्षित हों,
- (१२) जो पति या पिता आदि के मित्रों, अपने हितैषियों,
मामा, नाना आदि सम्बन्धियों, अपने सभोत्रीय देवर, जेठ आदि
पारिवारिकजनों द्वारा रक्षित हों,
- (१३) विशेष परिष्कार के अभाव में जिनके नख, केश,
कोख के बाल बढ़ गये हों,
- (१४) जो धूप, पुष्प, सुगन्धित पदार्थ, मालाएँ धारण नहीं
करती हों,

(१५) जो अस्नान, स्वेद, मल्ल, पंक से पीड़ित रहती हों,

(१६) जो दूध, दही, मक्खन, घृत, तेल, गुड़, नमक, मधु,
मद्य और मांस रहित आहार करती हों,

(१७) जिनकी इच्छाएँ बहुत कम हों,

(१८) जो कम हिंसा करने वाली हों,

(१९) जिनके धन, धान्य आदि परिग्रह बहुत कम हो,

(२०) जो अल्प आरम्भ,

(२१) जो अल्प समारम्भ,

(२२) जो अल्प जीव-परितापन द्वारा अपनी जीविका
चलाती हो,

(२३) मोक्ष की अभिलाषा या लक्ष्य के बिना जो ब्रह्मचर्य
का पालन करती हो,

(२४) जो पति-शय्या का अतिक्रमण नहीं करती हो ।

ताओ णं इत्थिमाओ एधाखेणं विहारेणं विहरमाणीओ बहूइं
वासोइं आजयं पालेति, पालिता कालमासे कालं किञ्चा
अण्णपरेसु वाणसंतरेसु वेवलोएसु वेवसाए-उववसारोओ
भवन्ति, तहिं तैसिं गई-जाव-चउसहिं वाससहस्साइं ठिई
-जाव-परलोगस्स विराहगा । —उव. सु. ७२

विराहगा बाल तपस्वी—

३२०. ते जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु मणुया भवन्ति,
तं जहा—

१. वगबिहया,

२. वगतइया,

३. वगससमा,

४. वगएक्कारसमा,

५. गोयम,

६. गोव्वइय,

७. गिहिमम,

८. धम्मचित्ता,

९. अविरुद्ध,

१०. विरुद्ध,

११. वृद्ध—

१२. सावगप्पभित्तयो, तेसिं णं मणुयाणं णो कप्पन्ति इमाओ
नवरसविगइओ आहारेत्तए, तं जहा—

१. सोरं, २. वहिं, ३. णवणीयं, ४. सप्पिं, ५. तेत्तं
६. काणिर्धं, ७. महुं, ८. मज्झं, ९. मंसं, णो अण्णस्थ
एक्काए सरिसवविगइए । ते णं मणुया अप्पिच्छा-जाव-
चउरासीइं वाससहस्साइं ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा ।

—उव. सु. ७३

विराहगा वाणपत्था —

३२१. ते जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवन्ति, तं जहा—

१. होत्तिथा,

२. पोत्तिथा,

इस प्रकार के आवरण द्वारा जीवनयापन करती हुई बहुत
वर्षों का आयुष्य पूरा कर, मृत्यु काल आने पर देह-त्याग कर
वानव्यन्तर देवलोकों में से किसी देवलोक में देवरूप में उत्पन्न
होती हैं । वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है
—यावत्—उनकी स्थिति चौंसठ हजार वर्ष की होती है—यावत्—
वे परलोक की विराधक होती हैं ।

विराधक बाल तपस्वी—

३२०. जो ये ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में मनुष्य होते
यथा—

(१) उदक द्वितीय—एक खाद्य पदार्थ तथा दूसरा जल सेवन
करने वाले,

(२) उदक तृतीय—दो खाद्य पदार्थ तथा तीसरे जल का
सेवन करने वाले,

(३) उदक सप्तम—छह खाद्य पदार्थ तथा सातवें जल का
सेवन करने वाले,

(४) उदकैकादश—भात[आदि दस पदार्थ तथा ग्यारहवें जल
का सेवन करने वाले,

(५) गौतम —प्रशिक्षित बैल द्वारा मनोरंजक प्रदर्शन प्रस्तुत
कर भिक्षा माँगने वाले,

(६) गोव्रतिक—गो-सेवा का विशेष घत स्वीकार करने वाले,

(७) अतिथि सेवा दान आदि गृहस्थ-धर्म को ही कल्याण-
कारी मानने वाले,

(८) धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र के पाठक,

(९) अविरुद्ध—वैनयिक-भक्ति मार्गी,

(१०) विरुद्ध—अक्रियावादी-क्रिया-विरोधी,

(११) वृद्ध तापस,

(१२) श्रावक—धर्मशास्त्र के श्रोता, ब्राह्मण आदि,

जो (१) दूध, (२) दही, (३) मक्खन, (४) घृत, (५) तेल,
(६) गुड़, (७) मधु, (८) मद्य तथा (९) मांस को अपने लिए
अकल्प्य-अप्राह्य मानते हैं, सरसों के तेल के सिवाय इनमें से
किसी का सेवन नहीं करते, जिनकी आकांक्षाएँ बहुत कम होती
हैं, ऐसे मनुष्यों की—यावत्—५४ हजार वर्ष की स्थिति होती
है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं ।

विराधक वानप्रस्थ—

३२१. जो ये गंगा के किनारे रहने वाले वानप्रस्थ तापस होते
हैं, यथा—

(१) अग्नि में हवन करने वाले,

(२) वस्त्र धारण करने वाले,

३. कोस्तिया,
४. क्षण्णई,
५. सङ्खई,
६. थालई,
७. हुंखड्डा,
८. वंतुक्खलिया,
९. उम्मज्जगा,
१०. सम्मज्जगा,
११. निमज्जगा,
१२. संपक्खाला,
१३. वक्खिणकूलगा,
१४. उत्तरकूलगा,
१५. संखधमगा,
१६. कूलधमगा,
१७. भिगलुड्डगा,
१८. हरियतावसा,
१९. उव्वंडगा,
२०. दिसापोक्खिणो,
२१. वाक्कासिणो,
२२. बिलवासिणो,
२३. बैलवासिणो,
२४. जलवासिणो,
२५. प्खम्मूलिया,
२६. अंबुभक्खिणो,
२७. वाजभक्खिणो,
२८. सेवालभक्खिणो,
२९. मूलाहारा,
३०. कंदाहारा,
३१. तवाहारा,
३२. पत्ताहारा,
३३. पुष्पाहारा,
३४. फलाहारा,
३५. बीयाहारा,
३६. परिसङ्खिय-कंद-मूल-तय-पत्त-पुष्फ-फलाहारा,

- (३) पृथ्वी पर सोने वाले,
- (४) यज्ञ करने वाले,
- (५) धाढ़ करने वाले,
- (६) पात्र धारण करने वाले,
- (७) कुण्डी धारण करने वाले,
- (८) फल-भोजन करने वाले,
- (९) पानी में एक बार डुबकी लगाकर नहाने वाले,
- (१०) बार-बार डुबकी लगाकर नहाने वाले,
- (११) पानी में कुछ देर तक डूबे रहकर स्नान करने वाले,
- (१२) मिट्टी आदि के द्वारा देह को रगड़कर स्नान करने वाले,

- (१३) गंगा के दक्षिणी तट पर रहने वाले,
- (१४) गंगा के उत्तरी तट पर निवास करने वाले,
- (१५) तट पर शंख बजाकर भोजन करने वाले,
- (१६) तट पर खड़े होकर, शब्द कर भोजन करने वाले,
- (१७) व्याधों की तरह हिरणों का मांस खाकर जीवन चलाने वाले,

- (१८) हाथी का वध कर उसका मांस खाकर बहुत काल व्यतीत करने वाले,

- (१९) दण्ड को ऊँचा किये घूमने वाले,
- (२०) दिशाओं में जल छिड़ककर फलफूल इकट्ठे करने वाले,

- (२१) वृक्ष की छाल को वस्त्रों की तरह धारण करने वाले,
- (२२) गुफाओं में निवास करने वाले,
- (२३) समुद्र तट के समीप निवास करने वाले,
- (२४) पानी में निवास करने वाले,
- (२५) वृक्ष के नीचे निवास करने वाले,
- (२६) जल का आहार करने वाले,
- (२७) हवा का ही आहार करने वाले,
- (२८) काई का आहार करने वाले,
- (२९) मूल का आहार करने वाले,
- (३०) कन्द का आहार करने वाले,
- (३१) वृक्ष की छाल का आहार करने वाले,
- (३२) वृक्ष के पत्तों का आहार करने वाले,
- (३३) फूलों का आहार करने वाले,
- (३४) फलों का आहार करने वाले,
- (३५) बीजों का आहार करने वाले,
- (३६) अपने आप गिरे हुए कन्द, मूल, छाल, पत्र, पुष्प तथा फल का आहार करने वाले,

३७. जलाभिसेयकटिण्णायमूया,

३८. आपावणाहि,

३९. पंचग्नितावेहि,

४०. इंगालसोत्तिर्य,

४१. कण्डुसोत्तिर्य,

४२. कट्टसोत्तिर्यं पिव अप्पाणं करेमाणा बहूइं वासाइं परिमाणं पाउणंति, बहूइं वासाइं परिमाणं पाउणंति। कालमासे कालं किञ्चा उक्कोसेणं ओइसिएसु देवेसु देवताए उववत्तारो भवन्ति । तहिं तेसि गई-जाव-पलिओवमं वास-सयसहस्समभहियं ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा ।

—उव. सु. ७४

विराहगा कंदर्पिया समणा—

३२२. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णियेसेसु पक्खइया समणा भवन्ति, तं जहा—

१. कंदर्पिया,

२. कुक्कुइया,

३. मोहरिया,

४. गीयइहपिया,

५. नक्खणसीला ।

ते णं एएणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्ण-परियायं पाउणंति, बहूइं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणंति। तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंता कालमासे कालं किञ्चा उक्कोसेणं सोहम्मे कंदर्पिएसु देवेसु देवताए उवव-त्तारो भवन्ति । तहिं तेसि गई-जाव-पलिओवमं वाससय-सहस्समभहियं ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा ।

—उव. सु. ७५

विराहगा परिध्वायगा—

३२३. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णियेसेसु परिध्वायगा भवन्ति, तं जहा—

१. संखा,

२. जोगी,

३. काविला,

४. पिउब्बा,

५. हंसा,

(३७) जलाभिषेक करने से जिनका शरीर कठिन हो गया है ऐसे,

(३८) सूर्य की आतापना से शरीर को तपाने वाले,

(३९) पंचाग्नि की आतापना से,

(४०) तपकर कोयले के समान शरीर को बनाने वाले,

(४१) भांड में भुंजे हुए के समान,

(४२) काठ के समान शरीर को बनाने वाले, बहुत वर्षों तक वानप्रस्थ पर्याय का पालन करते हैं और पालन कर मृत्यु-काल आने पर देह त्यागकर वे उत्कृष्ट ज्योतिष्क देवों में देव रूप में उत्पन्न होते हैं । वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—एक लाख वर्ष अधिक एक पत्योपम-प्रमाण की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं ।

विराधक कांदर्पिक श्रमण -

३२२. जो ये ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में प्रव्रजित श्रमण होते हैं, जैसे—

(१) कांदर्पिक—हंसी-मजाक करने वाले,

(२) कोत्कुचिक—भौ, आँख, मुँह, हाथ, पैर आदि से भांडों की तरह कुत्सित चेष्टाएँ कर हँसाने वाले,

(३) मीखरिक—असम्बद्ध या कटपटांग बोलने वाले,

(४) भीतरतिप्रिय—गानयुक्त क्रीड़ा में विशेष अभिरुचि वाले,

(५) नर्तनशील-नाचने की प्रवृत्ति वाले ।

जो अपने-अपने जीवनक्रम के अनुसार आचरण करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-जीवन का पालन करते हैं, पालन कर अन्त समय में अपने पाप-स्थानों का आलोचन-प्रतिक्रमण नहीं करते, गुरु के समक्ष आलोचना कर दोष-निवृत्त नहीं होते, वे मृत्युकाल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सौधर्म-कल्प में प्रथम देवलोक में हास्य-क्रीड़ा-प्रधान देवों में उत्पन्न होते हैं । वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—एक लाख वर्ष अधिक एक पत्योपम स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं ।

विराधक परिव्राजक—

३२३. जो ये ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में अनेक प्रकार के परिव्राजक होते हैं, जैसे—

(१) सांख्य-पुरुष,

(२) योगी—हठ योग के अनुष्ठानता,

(३) काविल—महर्षि कपिल को मानने वाले निरीश्वरवादी सांख्य मतानुयायी,

(४) भार्गव—भृगु ऋषि की परम्परा के अनुसर्ता,

(५) हंस,

६. परमहंसा,
७. बहुउवगा,
८. कुलिव्या,
९. कण्ठपरिव्याया ।

तस्य खलु इमे अष्ट माहर्ष-परिव्यायगा भवन्ति सं जहा—

१. कण्ठे य २. करकण्ठे य, ३. अंजके य ४. परासरे ।
५. कण्ठे ६. दीवायणे खेज ७. देवगुप्ते य ८. नारद ॥

तस्य खलु इमे अष्ट खलियपरिव्यायगा भवन्ति, सं जहा—

१. सीलई २. ससिहारे य, ३. नगई ४. भगई ति य ।
५. विवेहे ६. रायाराया, ७. राया रासे ८. बलेति य ॥

ते णं परिव्यायगा रिद्धवेव-यजुष्वेव-सामवेव-अहव्यवेव
इतिहास-पंचमाणं, निघण्टुछद्धानं, संगोवंगाणं सरहस्ताणं
खड्गं वेदाणं सारया पारया धारया, सङ्गवी, सट्टिसंखि-
सारया, संज्ञाणे, सिक्खा, कप्ये, वारगणे, छदे, निरुत्ते,
जोहसामयणे, अण्णेषु य बहूनु बंसण्णेषु य सस्वेसु परि-
व्यायेषु य नएसु सुपरिणिहिया यावि होत्था ।

ते णं परिव्यायगा दानधम्मं च सोयधम्मं च तित्थामिसेयं
च वाधवेमाणा, पणवेमाणा, परुवेमाणा विहरन्ति । अं णं
अम्हं किं वि असुइ भवइ, सं णं उवएण य महिआए य
पक्खालियं सत्ताणं सुई भवति । एवं खलु अम्हे चोक्खा,
चोक्खायारा, सुई, सुइसमायारा भविता अभिसेयजलपूज-
प्याणी अविघ्नेणं सगं भमिस्सामो ।

तेसि णं परिव्यायगाणं णो कप्पइ १. अगइं वा, २. तलायं
वा, ३. नइं वा, ४. वाविं वा, ५. पोक्खरिणिं वा, ६. दीहिणं
वा, ७. गुंजालियं वा, ८. सरं वा, ९. सागरं वा, ओगा-
हिए, णण्णत्थ अट्ठाणगमणेणं ।

तेसि णं परिव्यायगाणं णो कप्पइ १. सगइं वा, २. रहं वा,
३. जाणं वा, ४. जुगं वा, ५. गिल्लिं वा, ६. थिल्लिं वा,
७. पवहणं वा, ८. सीयं वा, ९. संवर्माणियं वा बुद्धिहत्ता
णं गच्छिए ।

तेसि णं परिव्यायगाणं णो कप्पइ १. आसं वा, २. हत्थिं
वा, ३. उट्ठं वा, ४. गोणं वा, ५. भहिसं वा, ६. खरं वा,
बुद्धिहत्ता णं गमितिए, णण्णत्थ थलामिओणेणं ।

- (६) परमहंस,
(७) बहुदक,
(८) कुटीवर संज्ञक चार प्रकार के यति एवं,
(९) कृष्ण परिव्राजक आदि ।

उनमें आठ ब्राह्मण-परिव्राजक होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

- (१) कर्ण, (२) करकण्ठ, (३) अम्बड, (४) पाराशर,
(५) कृष्ण, (६) द्वैपायन, (७) देवगुप्त तथा (८) नारद ।

उनमें आठ क्षत्रिय परिव्राजक होते हैं, जो उस प्रकार हैं—

- (१) शीलधी, (२) शशिधर, (३) नग्नक, (४) भग्नक,
(५) विदेह, (६) राजराज, (७) राजराम तथा (८) बल ।

वे परिव्राजक, ऋक्, यजु, साम, अथर्वण—इन चारों वेदों,
पाँचवे इतिहास, छठे निघण्टु के अध्येता, वेदों के सांगोपाग
रहस्यज्ञाता, चारों वेदों के सम्प्रवर्तक, वेदों के पारंगामी-उन्हें
स्मृति में बनाये रखने में मक्षम तथा वेदों के छहों अंगों के ज्ञाता
षष्टितन्त्र में विशारद, गणित, विद्या, शिक्षा, कल्प, व्याकरण,
छन्द, निरुक्त, ज्योतिष शास्त्र तथा अन्य ब्राह्मणों के लिए हिता-
वह शास्त्र अथवा वैदिक विद्वानों के विचारों के संकलनात्मक
ग्रन्थ—इन सब में सुपरिपक्व ज्ञानयुक्त होते हैं ।

वे परिव्राजक दान-धर्म, शौच-धर्म, तीर्थस्थान का जनसमु-
दाय में कथन करते हुए, विशेष रूप से समझाते हुए, युक्तिपूर्वक
सिद्ध करते हुए विचरण करते हैं । उनका कथन है कि हमारे
मतानुसार जो कुछ भी अशुचि-अपवित्र प्रतीत हो जाता है, वह
मिट्टी लगाकर जल से धो लेने पर पवित्र हो जाता है । इस
प्रकार हम निर्मल देह एवं निर्मल आचार युक्त हैं, पवित्र और
पवित्राचार युक्त हैं, अभिषेक-स्नान द्वारा जल से अपने आपको
पवित्र कर निर्विघ्नतया स्वर्ग जायेंगे ।

उन परिव्राजकों के लिए (१) कुए, (२) तालाब, (३) नदी,
(४) बावड़ी, (५) पुष्करिणी, (६) दीधिका, (७) गुंजालिका,
(८) तालाब तथा (९) जलाशय में प्रवेश करना नहीं कल्पता
है । किन्तु मार्ग में आवे तो इनमें चल सकते हैं ।

उन परिव्राजकों को (१) गाड़ी, (२) रथ, (३) यान,
(४) युग्म-दो हाथ लम्बे चौड़े डोली जैसे यान, (५) गिल्लि—दो
आदमियों द्वारा उठाई जाने वाली एक प्रकार की गिंविका,
(६) थिल्लि—दो घोड़ों की बग्गी, (७) गिंविका, (८) पदेंदार
पासली तथा (९) स्यन्दमानिका—पुरुष-प्रमाण पालखी पर चढ़-
कर जाना नहीं कल्पता है ।

उन परिव्राजकों को (१) घोड़े, (२) हाथी, (३) ऊँट, (४) बैल,
(५) भैंसे तथा (६) गधे पर सवार होकर जाना नहीं कल्पता है
किन्तु जबर्दस्ती कोई बैठा दे तो उनकी प्रतिज्ञा खंडित नहीं होती है ।

तेसि णं परिस्वायगाणं णो कप्पइ—

१. नङ्गपेच्छा इ वा,
२. नट्टगप्पेच्छा इ वा,
३. जल्लपेच्छा इ वा,

४. मल्लपेच्छा इ वा,
५. मुट्ठियपेच्छा इ वा,
६. बेलंबगपेच्छा इ वा,
७. पक्कपेच्छा इ वा,
८. कहूगपेच्छा इ वा,

९. लासगपेच्छा इ वा,
१०. आइक्खगपेच्छा इ वा,
११. संखपेच्छा इ वा,
१२. संखपेच्छा इ वा,

१३. तूणइल्लपेच्छा इ वा,

१४. तुंबवीणिमपेच्छा इ वा,
१५. मुयगपेच्छा इ वा,

१६. मागहपेच्छा इ वा, पेच्छित्तए ।

तेसि णं परिस्वायगाणं णो कप्पइ हरियाणं १. लेसणया वा, २. घट्टणया वा, ३. खंभणया वा, ४. सूसणया वा, ५. उप्पाडणया वा करित्तए ।

तेसि णं परिस्वायगाणं णो कप्पइ १. इत्थिकहा इ वा, २. सत्तकहा इ वा, ३. देसकहा इ वा, ४. रायकहा इ वा, ५. चोरकहा इ वा, ६. जणययकहा इ वा, अणत्थदंभं करित्तए ।

तेसि णं परिस्वायगाणं णो कप्पइ १. अयपायाणि वा, २. तउअपायाणि वा, ३. तंयपायाणि वा, ४. जसदपायाणि वा, ५. सोसगपायाणि वा, ६. रूपपायाणि वा, ७. सुवण्णपायाणि वा अणयराणि वा बहुमुल्लानि धारित्तए, णण्यथ १. अलाउपाएण वा, २. दाहपाएण वा, ३. मट्ठियापाएण वा ।

तेसि णं परिस्वायगाणं णो कप्पइ १. अयबंधणाणि वा, २. तउअबंधणाणि वा, ३. तंयबंधणाणि वा, ४. जसद-

उन परिव्राजकों को—

- (१) नाटक दिखाने वालों के नाटक,
- (२) नाचने वालों के नाच,
- (३) रस्ती आदि पर चढ़कर कलाबाजी दिखाने वालों के खेल,
- (४) पहलवानों की कुश्तियाँ,
- (५) मुक्केबाजों के प्रदर्शन,
- (६) मसखरों की मसखरियाँ,
- (७) कथकों के कथालाप,
- (८) उछलने या नदी आदि के तैरने का प्रदर्शन करने वालों के खेल,
- (९) रास माने वालों के वीर गीत,
- (१०) शुभ अशुभ बातें बताने वालों के कारंशमे,
- (११) वांस पर चढ़कर खेल दिखाने वालों के खेल,
- (१२) चित्रपट दिखाकर आजीविका चलाने वालों की करतूतें,
- (१३) तूण नामक तन्तु-वाद्य बजाकर आजीविका कमाने वालों के करतब,
- (१४) पूंभी बजाने वालों के गीत,
- (१५) ताली बजाकर मनोविनोद करने वालों के विनोदपूर्ण उपक्रम तथा,
- (१६) स्तुति-गायकों के प्रशस्तिमूलक कायं-कलाप आदि देखना, सुनना नहीं कल्पता है ।

उन परिव्राजकों के लिए हरी वनस्पति का (१) स्पर्श करना (२) उन्हें परस्पर घिसना, (३) हाथ आदि द्वारा अवरुद्ध करना, (४) शाखाओं, पत्तों आदि को ऊँचा करना या उन्हें मोड़ना, (५) उखाड़ना नहीं कल्पता है ।

उन परिव्राजकों के लिए (१) स्त्री-कथा, (२) भोजन-कथा, (३) देश-कथा, (४) राज-कथा, (५) चोर-कथा, (६) जनपद-कथा, ये जो निरर्थक हैं, उन्हें करना नहीं कल्पता है ।

उन परिव्राजकों के लिए (१) तूँबे, (२) काठ तथा (३) मिट्टी के पात्र के सिवाय, (१) लोहे, (२) रांगे, (३) ताँबे, (४) जसद, (५) शीशे, (६) चाँदी या (७) सोने के पात्र या दूसरे बहुमूल्य धातुओं के पात्र धारण करना नहीं कल्पता है ।

उन परिव्राजकों के लिए (१) लोहे, (२) रांगे, (३) तंबू, (४) जसद—

बंधणाणि वा, ५. सीसगबंधणाणि वा, ६. कृष्णबंधणाणि वा, ७. सुवर्णबंधणाणि वा अण्णपराणि वा बहुमुल्लानि धारित्तए ।

तेसि णं परिक्खायमाणं णो कप्पइ भाणाविहवण्णरागरस्ताहं वत्थाहं धारित्तए, णण्णत्थ एगाए धाउरत्ताए ।

तेसि णं परिक्खायमाणं णो कप्पइ १. हारं वा, २. अङ्गहारं वा, ३. एगावलि वा, ४. मुक्तावलि वा, ५. कण्ठावलि वा, ६. रत्नावलि वा, ७. मुरवि वा, ८. कंठमुरवि वा, ९. पालंबं वा, १०. तिसरयं वा, ११. कटिसुत्तं वा, १२. वसमुद्दिआणत्तयं वा, १३. कडयाणि वा, १४. तुडियाणि वा, १५. अंगयाणि वा, १६. केकराणि वा, १७. कुंडलाणि वा, १८. मज्झं वा, १९. वूसामणि वा पिण्डित्तए, णण्णत्थ एगेणं तंजिएणं पवित्तएणं ।

तेसि णं परिक्खायमाणं णो कप्पइ १. गंधिम, २. वेदिम, ३. पुरिम, ४. संघाहमे चउविहमे मल्ले धारित्तए, णण्णत्थ एगेणं कण्णपूरेणं ।

तेसि णं परिक्खायमाणं णो कप्पइ १. अगलुएण वा, २. चंवण्णेण वा, ३. कुंकुमेण वा गायं अणुलिपित्तए, णण्णत्थ एकाए गंगामट्टियाए ।

तेसि णं परिक्खायमाणं कप्पइ भागहए पत्थए जलस्स पडिग्गाहित्तए, १. से वि य वहमाने, णो चैव णं अवहमाने २. से वि य थिमिओवए, णो चैव णं कहमोदए, ३. से वि य बहुप्पसण्णे, णो चैव णं अबहुप्पसण्णे, ४. से वि य परिपूए, णो चैव णं अपरिपूए, ५. से वि य णं विण्णे, णो चैव णं अविण्णे, ६. से वि य पिबित्तए, णो चैव णं हत्थ-पाय-चरु-चमस-पक्खालणट्टयाए सिणाइत्तए वा ।

ते सि णं परिक्खायमाणं कप्पइ भागहए आइए जलस्स पडिग्गाहित्तए, से वि य वहमाने, णो चैव णं अवहमाने-जाव-से वि य णं विण्णे, णो चैव णं अविण्णे, से वि य हत्थ-पाय-चरु-चमस-पक्खालणट्टयाए, णो चैव णं पिबित्तए, सिणाइत्तए वा ।

ते णं परिक्खायणा एयावुवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाडणंति, बहूइं वासाइं परियायं पाडणित्ता

(५) सीसे, (६) चाँदी, (७) स्वर्ण या दूसरे बहुमूल्य बन्धनों से बँधे हुए पात्र रखना नहीं कल्पता है ।

उन परिव्राजकों को गेरुएँ वस्त्रों के सिवाय तरह-तरह के रंगों से रंगे हुए वस्त्र धारण करना नहीं कल्पता है ।

उन परिव्राजकों को ताँबे की अंगूठी के अतिरिक्त (१) हार, (२) अङ्गहार, (३) रत्नावली, (४) मुक्तावली, (५) कनकावली, (६) रत्नावली, (७) मुखी-हार विशेष, (८) कण्ठ का आभरण विशेष, (९) लम्बी माला, (१०) तीन जड़ों का हार, (११) कटिसूत्र, (१२) दगमुद्रिकाएँ, (१३) कड़े, (१४) जूटित, (१५) अंगद, (१६) बाजूबन्द, (१७) कुण्डल, (१८) मुकुट तथा (१९) चूड़ामणि धारण करना नहीं कल्पता है ।

उन परिव्राजकों को फूलों से बने केवल एक कर्णपूर के सिवाय (१) मूँथकर बनाई गई मालाएँ, (२) लपेट कर बनाई गई मालाएँ, (३) फूलों को परस्पर संयुक्त कर बनाई गई मालाएँ या (४) मंथित कर परस्पर एक दूसरे में उलझा कर बनाई गई मालाएँ—ये चार प्रकार की मालाएँ धारण करना नहीं कल्पता है ।

उन परिव्राजकों को केवल गंगा की मिट्टी के अतिरिक्त (१) अगर, (२) चन्दन, (३) कुंकुम या (४) केसर से शरीर को लिप्त करना नहीं कल्पता है ।

उन परिव्राजकों के लिए मगध देश के तोल के अनुसार एक प्रस्थ जल लेना कल्पता है । (१) वह भी बहता हुआ हो, किन्तु तालाब आदि का बन्द जल न हो । (२) वह भी स्वच्छ हो किन्तु कीचड़युक्त न हो, (३) वह भी साफ और निर्मल हो, किन्तु गँदला न हो, (४) वह भी वस्त्र से छाना हुआ हो, किन्तु अनछाना न हो, (५) वह भी दिया गया हो, किन्तु बिना दिया हुआ न हो, (६) वह भी केवल पीने के लिए प्राप्य है, हाथ पैर, भोजन का पात्र, चम्मच धोने के लिए या स्नान करने के लिए नहीं ।

उन परिव्राजकों के लिए मगध तोल के अनुसार एक आढक जल लेना कल्पता है । वह भी बहता हुआ हो, एक जगह बंधा हुआ न हो—यावत्—वह भी दिया गया हो—बिना दिया हुआ न हो तो उससे केवल हाथ, पैर, चरु, चमस या चम्मच धोना कल्पता है, किन्तु पीने के लिए या स्नान करने के लिए नहीं कल्पता है ।

वे परिव्राजक इस प्रकार की चर्चा द्वारा विचरण करते हुए, बहुत वर्षों तक परिव्राजक-धर्म का पालन करते हैं । बहुत वर्षों

कालमासे कालं किञ्चा उक्कोसेणं बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति । तहिं तेसिं गई-जाव-वस सागरोवमाइं ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा । —उव. सु. ७६-८१

विराहगा पडिणीया समणा—

३२४. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवन्ति, तं जहा—१. आयरिय-पडिणीया, २. उववत्ताय-पडिणीया, ३. कून्-पडिणीया, ४. गण-पडिणीया, ५. आय-रिय-उववत्तायार्ण अयसकारणा, ६. अवणकारणा, ७. अकि-सिकारया,

बहूहि असम्मावुभावाणाहि, मिच्छताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च बुग्गाहेमाणा, बुप्पाएमाणा विहरित्ता, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति पाउणिता,

तस्स ठाणस्स अणालोहय-अप्पडिक्कंता कालमासे कालं किञ्चा उक्कोसेणं संतए कप्पे देवकिस्सिएसु देवकिस्सि-सियत्ताए उववत्तारो भवन्ति ।

तहिं तेसिं गई-जाव-तेरस सागरोवमाइं ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा । —उव. सु. ११७

विराहगा आजीविया —

३२५. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु आजीविया भवन्ति,

तं जहा—१. बुधरंतरिया, २. तिघरंतरिया, ३. सत्तघरं-तरिया, ४. उप्पसबेटिया, ५. धरसमुदाणिया, ६. विज्जुयं-तरिया, ७. उट्टिया समणा,

ते णं एयाखेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्ण परियागं पाउणंति पाउणिता कालमासे कालं किञ्चा उक्कोसेणं अच्युए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति ।

तहिं तेसिं गई-जाव-वावीसं सागरोवमाइं ठिई-जाव-परलो-गस्स विराहगा । —उव. सु. १२०

विराहगा अत्तुक्कोसिया समणा—

३२६. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवन्ति, तं जहा—

तक बीसा कर मृत्युकाल आने पर देह त्याग कर उत्कृष्ट ब्रह्मलोक कल्प में देव रूप में उत्पन्न होते हैं । वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—दस सागरोपम की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं ।

विराधक प्रत्यनीक श्रमण—

३२४. ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में जो ये प्रव्रजित श्रमण होते हैं, जैसे—(१) आचार्य के विरोधी, (२) उपाध्याय के विरोधी, (३) कुल के विरोधी, (४) गण के विरोधी, (५) आचार्य और उपाध्याय का अपयश करने वाले, (६) अवर्णवाद बोलने वाले, (७) अपकीर्ति या निन्दा करने वाले ।

वे बहुत से असत्य आरोपणों से तथा मिथ्यात्व के असि-निवेशों द्वारा अपने को औरों को तथा दोनों को दुराग्रह में डालते हुए, मजबूत करते हुए इस प्रकार विचरण करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन करते हैं और पालन करके—

अपने पाप-स्थानों की आलोचना प्रतिक्रमण नहीं करते हुए मृत्यु-काल आ जाने पर मरण प्राप्त कर वे उत्कृष्ट लान्तक नामक छोटे देवलोक में किल्बिषिक संज्ञक देवों में देवरूप में उत्पन्न होते हैं ।

वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—तेरह सागरोपम प्रमाण की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं ।

विराधक आजीविक—

३२५. ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में जो ये आजीविक (गोशालक के अनुयायी) होते हैं—

यथा (१) दो, (२) तीन या (३) साल घर बीच-बीच में छोड़कर भिक्षा ग्रहण करने वाले, (४) भिक्षा में कमल डण्डल ग्रहण करने वाले, (५) प्रत्येक घर से भिक्षा लेने वाले; (६) बिजली चमकने पर भिक्षा के लिए नहीं घूमने वाले और (७) मिट्टी की कोठी में प्रविष्ट होकर तपस्या करने वाले ।

इस प्रकार का आचरण करते हुए वे बहुत वर्षों तक आजी-विक पर्याय का पालन कर काल मास में काल करके उत्कृष्ट अच्युत कल्प में देवरूप में उत्पन्न होते हैं ।

वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—बाईस सागरोपम की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं ।

विराधक आत्मोत्कर्षक श्रमण—

३२६. ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में जो ये प्रव्रजित श्रमण होते हैं, यथा—

१. अस्तुकोसिया, २. परपरिवाइया, ३. भूइकम्मिया,
४. भूइजो-भूइजो कोउयकारगा,
ते णं एयाइयेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं साम-
ण्णपरियाणं पाउण्णिता पाउण्णिता तस्स ठाणस्स अणालोइय-
अपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अञ्जुए
कप्पे आभिओणिएसु देवेषु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति ।

तहिं तेसि गई-जाव-वावीसं सागरोवमाइं ठिई-जाव-परलो-
गस्स विराहगा । —उव. सु. १२१

विराहगा णिण्हगा—

३२७. से जे इसे गामागर-जाव-सण्णिबेसेसु णिण्हगा भवन्ति, तं
जहा—

१. बहुरधा,
२. जीवणएसिया,
३. अग्वसिया,
४. सापुच्छेइया,
५. दोकिरिया,

६. तेरासिया,
७. अबदिया ।

इच्छेते सत्त पवणणिण्हगा केवलचरिघालिगसामण्णा,
मिच्छाविद्धी. बहूहि असम्भावाभावणाहिं मिच्छस्तामिणिजे-
सेहिं य अण्णाणं च परं च तदुभयं च वृत्ताहेसाणा वुप्पा-
एमाणा विहरित्ता, बहूइं वासाइं सामण्णपरियाणं पाउण्णिता,
पाउण्णिता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं उवरिसेसु
नेवेज्जेसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति,

तहिं तेसि गई-जाव-एक्कतीसं सागरोवमाइं ठिई-जाव-पर-
लोगस्स विराहगा । —उव. सु. १२२

(१) स्वयं के प्रणसक, (२) दूसरों के निन्दक, (३) भूमि-
कर्मिक और (४) बार-बार कौतुक कर्म करने वाले,

इस प्रकार की चर्या से निचरते हुए वे बहुत वर्षों तक
अमण-पर्याय का पालन करते हैं और पालन करके अपने पाप
स्थानों की आलोचना प्रतिक्रमण नहीं करते हुए मृत्यु काल आने
पर देह त्याग कर उत्कृष्ट अच्युत कल्प में आभियोग वर्ग के
देवों में देव रूप में उत्पन्न होते हैं ।

वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्-
बाईस सागरोपम की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के
विराधक होते हैं ।

विराधक निन्दव—

३२७. ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में जो ये निन्दव होते
हैं, यथा—

- (१) अनेक समयों से कार्य की निष्पत्ति मानने वाले,
- (२) अन्तिम एक प्रदेश को ही जाँच मानने वाले,
- (३) सम्पूर्ण बाह्य व्यवहार को संदिग्ध मानने वाले,
- (४) प्रतिक्षण नरकादि अवस्था का विनाश मानने वाले,
- (५) एक समय में दो क्रिया का अनुभव होता है यह मानने
वाले,
- (६) जीव, अजीव और मिश्र यों तीन राशि मानने वाले,
- (७) जीव और कर्म को बद्ध न मानकर मात्र स्पृष्ट मानने
वाले ।

ये सात प्रवचन निन्दव हैं वे केवलचर्या और वेष से संयमी
होते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि हैं ।

असत् प्ररूपणों और मिथ्या आग्रहों द्वारा अपने को,
दूसरों को और दोनों को भ्रमित करते हैं, पथभ्रष्ट करते हैं और
इस प्रकार का आचरण करते हुए बहुत वर्षों तक अमण पर्याय
का पालन करते हैं तत्पश्चात् कालमास में काल करके उत्कृष्ट
उपरितन गैवेयक विमानों में देवरूप से उत्पन्न होते हैं ।

वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्-
इक्कीस सागरोपम की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के
विराधक होते हैं ।

१ प्रस्तुत आराधक-विराधक सम्बन्धी अर्णन में तीन आराधक हैं एवं तेरह विराधक हैं—

१. संज्ञी तिर्यक् पंचेन्द्रिय,
२. अनारंभी-अपरिग्रही ।
१. एकान्त बाल नरक गामी,
३. वन्दी आदि,
५. स्थियाँ,
७. वानप्रस्थ,

२. अल्पारंभी-अल्प परिग्रही ।

२. अकाम निर्जरा करने वाले,
४. प्रकृतिभद्र,
६. बाल तपस्वी,
८. कान्दपिक भ्रमणादि,

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

कंदपिपाह विराहगा समणा

३२८. कन्वपिकोक्कुइयाईं तह सील-सहाव-हास-विकहाईं ।
विम्हावेन्तो य परं, कन्वप्यु भावणं कुणइ ॥

मगताजोगं काउं सुईकम्मं च वे पउजन्ति ।
सग्यरसइइहेउं अभिओगं भावणं कुणइ ॥
नाणस्स केवलीणं धम्मपरियस्स संघसाहणं ।
भाई अवण्णवाई किम्बिसियं भावणं कुणइ ॥

(टिप्पण पृष्ठ १५२ से चालू)

६. परिब्राजक,

११. आत्मप्रशंसक श्रमणादि,

१२. निन्हुव,

ये तीन आराधक और तेरह विराधक इस प्रकार कुल सोलह श्रेणियों में विभाजित आत्माओं की मरने पर क्या क्या गति होती है ? उसका उल्लेख प्रस्तुत प्रकरण में उधवाई सूत्र से लिया गया है । वि. म. १, उ. २ में भी वह वर्णन है किन्तु इस विभाग निर्दिष्ट वर्णन में और व्याख्याप्रज्ञप्ति के वर्णन में कुछ अन्तर है उसकी जानकारी के लिए तालिका दी जाती है ।

उधवाई सूत्र में

१. संजी तिर्यच पंचेन्द्रिय

२. अलपारंभी अल्पपरिग्रही श्रमणोपासक

३. अन्तारंभी अपरिग्रही श्रमण

४. एकान्त बाल नरकगामी

५. अकाम निर्जरा करने वाले

६. बन्दी आदि

७. प्रकृति भद्र

८. कुछ स्त्रियाँ

९. बाल तपस्वी

१०. वानप्रस्थ,

११. कान्दपिक श्रमण आदि,

१२. सांख्य आदि परिब्राजक

१३. प्रत्यनीक श्रमण

१४. आत्मप्रशंसकादि

१५. आजीविक

१६. निन्हुव

१७. × ×

१८. × ×

१९. × ×

२०. × ×

काव्यपिक आदि विराधक श्रमण—

३२८. जो काम-कथा करता रहता है, दूसरों को हँसाने की चेष्टा करता रहता है, शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओं के द्वारा दूसरों को विस्मित करता रहता है, वह काव्यपिक भावना का आचरण करता है ।

जो सुख, रस और समृद्धि के लिए मन्त्र, योग और भूतिकर्म का प्रयोग करता है, वह अभियोगी भावना का आचरण करता है ।

जो ज्ञान, केवली-ज्ञानी धर्माचार्य, संघ तथा साधुओं की निन्दा करता है वह मायावी पुद्गल किल्बिषिकी भावना का आचरण करता है ।

१०. प्रत्यनीक श्रमण,

१२. आजीविक,

व्याख्याप्रज्ञप्ति में

११. तिर्यच,

४. अविराधित संयमासंयमी,

२. अविराधित संयमी,

× ×

× ×

× ×

× ×

× ×

× ×

७. तापस

८. कान्दपिक श्रमण,

९. चरक परिब्राजक,

१०. किल्बिषिक,

१२. अभियोगिक,

१३. आजीविक

१४. दर्शन भ्रष्ट वेध धारक

१. असंयत भव्य द्रव्य देव

२. विराधित संयमी

५. विराधित संयमा संयमी

६. असंजी

दोनों सूत्रों में मिलाकर बीस पृच्छा होती हैं । भगवती सूत्र में छ. कम होने से चौदह है और "उधवाई सूत्र" में चार कम होने से सोलह है । इस पृच्छा दोनों सूत्र में समान है । प्रज्ञापना सूत्र पद २० सूत्र १४७० में भगवती सूत्र के समान ही चौदह पृच्छा हैं ।

अणुबद्धरोसपसरो तह च निमित्तंमि होइ पडिसेवी ।
एहि कारणेहि आसुरिय भावणं कुणइ ॥

सहस्रभूतं विसभक्षणं च, जलणं च जलप्यवेसो य ।
अणायारभणसेवी जन्मणमरणणि बंधंति ॥

—उत्त. अ. ३६, गा. २६३-२६७

विराहगणं संजमस्त अपद्धं सो—

३२९. चउविहे अवद्धंसे पणत्ते, तं जहा—

१. आसुरे,	२. आभिलोभे,
३. संमोहे,	४. देवकिस्विसे ।

चउहि ठाणेहि जीवा आसुरत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—

१. कोपशीलताए,
२. पाहुषशीलताए,
३. संसत्तकोकम्मेणं,

४. निमित्ताजीविपाए ।

चउहि ठाणेहि जीवा आभिलोभत्ताए कम्मं पगरेंति,
तं जहा—

१. अत्तुक्कोसेणं,
२. परपरिवाएणं,
३. भूतिकम्मेणं,
४. कोउयकरणेणं ।

चउहि ठाणेहि जीवा सम्मोहत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—

१. उम्मगदेसणाए,
२. मगंतराएणं,

३. कामासंसपओणेणं,

४. चिज्जाणियाण करणेणं ।

चउहि ठाणेहि जीवा देवकिस्विसयत्ताए कम्मं पगरेंति,
तं जहा—

१. अरहंतणं अवण्णं वदमाणे,
२. अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वदमाणे,
३. आथरियउववत्तायाणमवण्णं वदमाणे,
४. चाउववणस्स संघस्स अवण्णं वदमाणे ।

—ठाणं. अ. ४, उ. ४, सु. ३५४

जो क्रोध को निरन्तर बढ़ावा देता रहता है और निमित्त कहता है वह अपनी इन प्रवृत्तियों के कारण आसुरी भावना का आचरण करता है ।

जो शास्त्र के द्वारा, विष-भक्षण के द्वारा, अग्नि में प्रविष्ट होकर या पानी में कूद कर आत्म-हत्या करता है और जो मर्यादा से अधिक उपकरण रखता है, वह जन्म-मरण की परम्परा को पुष्ट करता हुआ मोही भावना का आचरण करता है ।
विराधकों के संयम का विनाश—

३२९. माधना का विनाश चार प्रकार का है—

(१) आसुर-अपध्वंस,	(२) अभियोग-अपध्वंस,
(३) सम्मोह अपध्वंस,	(४) देवकिस्विष-अपध्वंस ।

चार स्थानों से जीव आसुरत्व-कर्म का अर्जन करता है—

- (१) कोपशीलता से,
- (२) प्राभूत शीलता अर्थात् बलह स्वभाव से,
- (३) संसक्त तपः-कर्म—आहार उपधि की प्राप्ति के लिए तप करने से,

(४) निमित्त-जीवित—निमित्त आदि बताकर आहार आदि प्राप्त करने से ।

चार स्थानों से जीव आभियोगित्व-कर्म का अर्जन करता है—

- (१) आत्मोत्कर्ष—आत्म-गुणों का अभिमान करने से,
- (२) पर-परिवाद—दूसरों का अवर्णवाद बोलने से,
- (३) भूतिकर्म—भस्म, लेप आदि के द्वारा चिकित्सा करने से,
- (४) कौतुककरण—मंत्रित जल से स्नान कराने से ।

चार स्थानों से जीव सम्मोहत्व-कर्म का अर्जन करता है—

- (१) उम्मगं देशना—मिथ्या धर्म का प्रकृषण करने से,
- (२) मार्गान्तराय—मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त व्यक्ति के लिए

विघ्न उत्पन्न करने से,

- (३) कामार्शसाप्रयोग शब्दादि विषयों में अभिलाषा करने से,
- (४) मिथ्यानिदानकरण—गुद्धि-पूर्वक निदान करने से ।

चार स्थानों से जीव देव-किस्विकत्व कर्म का अर्जन करता है—

- (१) अहंताओं का अवर्णवाद बोलने से,
- (२) अहंस्त प्रकृत धर्म का अवर्णवाद बोलने से,
- (३) आचार्य तथा उपाध्याय का अवर्णवाद बोलने से,
- (४) चतुर्विध संघ का अवर्णवाद बोलने से ।



निदान-अनिदान से आराधना-विराधना—४

(१) निर्ग्रन्थस्स माणस्समा-भोगद्वारा निदानं करणं—

३३०. एवं खलु समभाजसो ! मए धम्मं पणत्ते, इणमेव निर्गन्धे पावयणे सञ्चे, अणुत्तरे, पट्टिपुण्णे, केवले, संसुद्धे, षेआजए, सत्तकसणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, निज्जाणमग्गे, निज्जाणमग्गे, अवितहभविसंदिद्धे, सच्चवुत्तखप्पहीणमग्गे ।

इत्थं ठिया जीवा, सिज्जंति, बुज्जंति, मुक्खंति, परिनिब्बायंति, सच्चवुत्तखप्पमंतं करेंति ।

अस्स णं धम्मस्स निर्गन्धे सिक्खाए उवट्ठिए विहरमाणे, पुरा विणिक्खाए, पुरा पिवासाए, पुरा सीताऽऽतथेहि पुरा पुट्ठेहि विरुवळ्ळेहि परीसहोवसग्गेहि उविण्णकामजाए यावि विहरेज्जा से य परक्कमेज्जा, से य परक्कमाणे पासेज्जा जे इमे उग्गपुत्ता महा-माउया भोगपुत्ता महा-माउया ।

तेसि णं अणयस्स अतिजायमाणस्स वा निज्जायमाणस्स वा, पुरओ महं दास-दासी-किंकर-कम्मकर-पुरिसा, छत्तं भिभारं महाय निर्गन्धत्ति ।

तयाणंतरं च णं पुरओ महाआसा आसवरा, उअओ तेसि नागा नागवरा पिट्ठओ रत्ता रत्तवरा रहसंगेल्लि पुरिस पदात्तिं परिक्षित्तं ।

से यं उद्धरिय-सेय-छत्ते, अभुगये भिगारे, पग्गहिय तालि-यंटे, पक्कीयमाण-सेय-चामर-वालवीयणीए ।

अभिवक्खणं अभिवक्खणं अतिजाइ य निज्जाइ य सप्पमा ।

स पुक्खावरं च णं भ्हाए-जाव-^१ सक्खालंकारविमूसिए, भहति महालियाए कूडागारसालाए, भहति महालयंसि सयणिज्जंसि बुहओ उण्णतेमण्णे णतगंभोरे वण्णओ सव्व रातिणिण्णं जोइणा सियायमाणेणं, इत्थि-गुम्म-परिवुद्धे महयाहत्त-नट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-ताल-तुद्धिय घण मुद्धंग-मुद्धगल-पद्धप्प-याइय-रवेणं उरालाहं माणूसगाहं कामभोगाहं भुंजमाणे विहरति ।

तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स-जाव-धत्तारि पंच अवुत्ता चेव अणुट्ठेति

(१) निर्ग्रन्थ का मनुष्य सम्बन्धी भोगों के लिए निदान करना—

३३०. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है । यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, श्रेष्ठ है, प्रतिपूर्ण है, अद्वितीय है, शुद्ध है, श्रव्यसंगत है, शक्तियों का संहार करने वाला है, सिद्धि, मुक्ति, निर्वाण एवं निर्वाण का यही मार्ग है, यही यथार्थ है, सदा शाश्वत है और सब दुःखों से मुक्त होने का यही मार्ग है ।

इस सर्वज्ञ प्रज्ञप्त धर्म के आराधक सिद्ध बुद्ध मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं और सब दुःखों का अन्त करते हैं ।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर आराधन करते हुए निर्ग्रन्थ के भूय-प्याय सर्दी गर्मी आदि अनेक परीषद् उपसर्गों से पीड़ित होते पर काम वासना का प्रबल उदय हो जाए और साथ ही संयम साधना में पराक्रम करते हुए वह विशुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले सम्बन्धीय या भोगवन्धीय राजकुमार को देखे ।

उनमें से किसी के घर में प्रवेश करते या निकलते समय छत्र, झारी आदि ग्रहण किये हुए अनेक दास दासी किंकर और कम्मकर पुष्प आगे-आगे चलते हैं ।

उसके बाद राजकुमार के आगे उत्तम अश्व, दोनों ओर गजराज और पीछे-पीछे श्रेष्ठ सुसज्जित रथ चलते हैं और वह अनेक पैदल चलने वाले पुरुषों से घिरे हुए रहता है ।

जो कि श्वेत छत्र ऊँचा उठाये हुए, झारी लिये हुए, ताड़-पत्र का पंखा लिए, श्वेत चामर डूलाये हुए चलते हैं । इस प्रकार के वैभवं से वह बारम्बार भ्रमनागमन करता है ।

वह राजकुमार यथासमय स्नान कर—**यावत्**—सब अलंकारों से विभूषित होकर विशाल कूटागारशाला (गजाशाला) में दोनों किनारों से उन्नत और मध्य में अवनत एवं गम्भीर (द्विधादि वर्णन जानना) ऐसे सर्वोच्च शयनीय में सारी रात दीप ज्योति जगमगाते हुए वनितावृन्द से घिरा हुआ कुशल नर्तकों का नृत्य देखता है, गायकों का गीत सुनता है और वाद्ययंत्र, तंत्री, तल-ताल त्रुटित, घन, मृदंग, मादल आदि महान् शब्द करने वाले वाद्यों की मधुर ध्वनियाँ सुनता है—इस प्रकार वह उत्तम मानुषिक कामभोगों को भोगता हुआ रहता है ।

उसके द्वारा किसी एक को बुलाये जाने पर चार-पाँच बिना बुलाये ही उपस्थित हो जाते हैं और वे पूछते हैं कि—

“अण देवानुप्पिया ! किं करेन्नो ? किं उवणेमो ? किं आहरेमो ? किं आचिद्धामां ? किं मे हिय-इच्छियं ? किं ते आसगस्स सबति ?”

जं पासित्ता निग्गये निदानं करेद्द- -

“अइ इमस्स सुचरिय-तव-नियम-वज्जवेरवासस्स कस्साल्ले फलवित्ति-विसेसे अत्थि, तं अहम्वि आगमिस्साए इमाहं एमाक्खाइं उरात्ताइं माणुस्सगाहं काम-बीगाहं भुंजमाणे विहरामि-से तं साहू ।”

एवं एतु समाणाउत्तो ! निग्गये निदानं किञ्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय-अप्पड्विक्कते कालमासे कालं किञ्चा अणमरेसु देवल्लोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति-महड्डिएसु महज्जुएसु महब्बलेसु महायसेसु महासुब्बेसु महागुमाणेसु वूरगईसु चिरट्टिएसु ।

से णं तत्थ देवे भवइ महड्डिए-जाव-^१ दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ जाय-^२ से णं तओ देवल्लोगाओ आउक्ख-एणं, भववत्तएणं, ठिइवत्तएणं, अणंतरं अपं चइत्ता से जे इमे भवति उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महा-माउया, तेसि णं अन्नपरंसि कुलंसि पुत्तत्ताए पक्खायाति ।

से णं तत्थ वारए भवइ, सुकुमाल-पाणि-पाए, अहौण पडि-पुण्णं पंचिदिय सरीरे, लक्खण-वज्जण-गुणोववेए, सत्तिसोमा-गारे, कंसं पिय, वंसणे, सुक्खे ।

तए णं से वारए उम्मुक्क-बाल-भावे, विवणाणपरिणयमित्ते, जोवणगमणुप्पत्ते सयमेव पेइयं वायं पडिवज्जति ।

तस्स णं अतिआयमाणस्स वा निज्जायमाणस्स वा, पुरओ महं दासो-दास किंकर-कम्मकर पुरिस्सा छत्तं भिगारं गहाय निग्गच्छति-जाव-^३ तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स-जाव-वत्तारि पंच अबुत्ता चेव अणुहुति “अण देवानुप्पिया ! किं करेन्नो-जाव-^४ किं ते आसगस्स सबति ?”

प०—तस्स णं तहण्णारस्स पुरिसजायस्स तहाक्खे समणे वा माहणे वा उमओ कालं केवल्लिपण्णत्तं धम्ममा-इक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा ।

“हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ? क्या लावें ? क्या आर्पण करें और क्या आचरण करें ? आपकी हार्दिक अभिलाषा क्या है ? आपके मुख को कौन से पदार्थ स्वादिष्ट लगते हैं ?”

उसे देखकर निर्ग्रन्थ निदान करता है कि—

“यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एवं ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल में इस प्रकार के उत्तम मनुष्य सम्बन्धी काम भोगों को भोगते हुए विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा ।”

हे आयुष्मान् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थ निदान करके उस निदान सम्बन्धी संकल्पों की आलोचना एवं प्रतिक्रिया किये बिना जीवन के अन्तिम क्षणों में देह छोड़कर महान् ऋद्धि वाले, महाश्रुति वाले, महाबल वाले, महायश वाले, महासुख वाले, महाप्रभा वाले, दूर जाने की शक्ति वाले, लम्बी स्थिति वाले किसी देव-लोक में देवरूप में उत्पन्न होता है ।

वह वहाँ महर्घिक देव होता है—यावत्—देव सम्बन्धी भोगों को भोगता हुआ विचरता है—यावत्—वह आयु मय और स्थिति के क्षय होने से उस देवलोक से च्यव कर शुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्र कुल या भोग कुल में से किसी एक कुल में पुत्र रूप में उत्पन्न होता है ।

वहाँ वह बालक सुकुमार हाथ-पैर वाला, शरीर तथा पाँचों इन्द्रियों से प्रतिपूर्ण, शुभ लक्षण-व्यंजन-गुणों से युक्त, चन्द्रमा के समान सौम्य, कांत प्रिय दर्शन वाला और सुन्दर रूप वाला होता है ।

बाल्यकाल बीतने पर तथा विज्ञान की वृद्धि होने पर वह बालक यौवन को प्राप्त होता है । उस समय वह स्वयं पैतृक सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है ।

उसके कहीं जाते समय या आते समय आगे छत्र, झारी आदि लेकर अनेक दासी-दास-नौकर चाकर चलते हैं—यावत्—एक को बुलाने पर उसके सामने चार पाँच बिना बुलाये ही आकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि “हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें—यावत्—आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?”

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-संयम के मूर्तरूप श्रमण-माहण उभयकाल केवल-प्ररूपित धर्म कहते हैं ?

उ०—हाँ, कहते हैं ।

१ ठाणं. अ. ८, सु. १० ।

२ इसी निदान में ।

३ ठाणं. अ. ८, सु. १० ।

४ इसी निदान में ।

५०—ते णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—णो इणद्धे समद्धे । असविए णं से तस्स धम्मस्स सवणयाए ।

से य भवइ महिच्छे^१ -जाव-वाहिणभाओ तेरइए कबहु-पखिए, आगमिस्साए बुल्लहओहिए यावि भवइ ।

तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयाकूवे पावए फल-विवागे-अं ओ संवाएइ केवलपण्णत्तं धम्मं पडिसुणिस्सए । —इसा. व. १०. सु. २२-२५

(२) निर्ग्रन्थीए माणुस्सय भोगट्ठा निदानं करणं—

२३१. एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मो पण्णसे, इणमेव निर्गन्थे पावयणे सक्खे-जाव^१ सक्खबुक्खाणं अंतं करेति ।

जस्स णं धम्मस्स निर्गन्थो सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणी -जाव-^२ पासेज्जा से जा इमा इत्थिया भवइ-एगा, एगजाया, एगाभरण-पिहाणा, तेत्त-पेला इव सुसंगोपिता, चेत-पेला इव सुसंपरिगहिया, रयणकरंडकसमाणी ।

तीसे णं अलिजायमाणोए वा, निज्जायमाणोए वा पुरओ महं दासी-दासं किंकर-कम्मकर-पुरिसा, छत्तं भिगारं गहाय निगच्छंति-जाव-^३ तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स-जाव-घसारि पंच अयुत्ता चैव अस्मद्धेति, "मण देवाणुप्पिया ! किं करेमो-जाव-^४ किं ते आसगस्स सदति ?"

अं वासित्ता निर्गन्थो निदानं करेति—

"जइ इमस्स सुधरिय-तव-नियम-अंभजेरवासस्स कस्साले फलविस्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमिस्साए इमाइं एया-कवाइं उरालाइं भाणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणी विह-राभि से तं साहु ।"

एवं खलु समणाउसो ! निर्गन्थो णियाणं किञ्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता कालमासे कालं किञ्चा अणालरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववसारा भवइ-जाव-^५ विस्वाइं भोगाइं भुंजमाणी विहरति-जाव-^६ सा णं ताओ देवलोगाओ आउ-अण्णं, भवक्खण्णं, ठिइक्खण्णं अणंतरं जय चइस्ता जे इमे भवन्ति जगपुत्ता महामाउया-भोगपुत्ता महामाउया एतेसि णं अणयरंसि कुलंसि वारियत्ताए पक्खायाति ।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वह उस धर्म श्रवण के योग्य नहीं है ।

वह महा इच्छाओं वाला—यावत्—दक्षिण दिशावर्ती नरक में कृष्णपाक्षिक तैरयिक रूप में उत्पन्न होता है तथा भविष्य में उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान शल्य का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवल-प्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नहीं कर सकता है ।

(२) निर्ग्रन्थी का मनुष्य सम्बन्धी भोगों के लिए निदान करना—

२३१. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है । यह निर्ग्रन्थी श्रमण के लिए उपस्थित होकर आराधना करती हुई निर्ग्रन्थी—यावत्—एक ऐसी स्त्री को देखती है जो अपने पति की केवल एकमात्र प्राणप्रिया है । वह एक सरीखे (स्वर्ण के या रत्नों के) आभरण एवं वस्त्र पहने हुई है तथा तेल की कुप्पी, वस्त्रों की पेटी एवं रत्नों के करंडिये के समान संरक्षणीय है और संग्रहणीय है ।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर आराधना करती हुई निर्ग्रन्थी—यावत्—एक ऐसी स्त्री को देखती है जो अपने पति की केवल एकमात्र प्राणप्रिया है । वह एक सरीखे (स्वर्ण के या रत्नों के) आभरण एवं वस्त्र पहने हुई है तथा तेल की कुप्पी, वस्त्रों की पेटी एवं रत्नों के करंडिये के समान संरक्षणीय है और संग्रहणीय है ।

प्रामाद में आते-जाते हुए उसके आगे छत्र, झारी लेकर अनेक दासी-दास नौकर घाकर चलते हैं—यावत्—एक को बुलाने पर उसके सामने चार-पाँच दिना बुलाये ही आकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि "हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ? —यावत्—आपके मुक्त को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?"

उसे देखकर निर्ग्रन्थी निदान करती है कि—

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एवं ब्रह्मचर्य पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल में इस प्रकार के उत्तम मनुष्य सम्बन्धी काम भोगों को भोगते हुए विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा ।"

हे आयुष्मान् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थी निदान करके उस निदान की आलोचना एवं प्रतिक्रमण किये बिना जीवन के अन्तिम क्षणों में देह त्याग कर किसी एक देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होती है—यावत्—दिव्य भोग-भोगती हुई रहती है —यावत्—आयु भव और स्थिति का क्षय होने पर वह उस देवलोक से च्यवकर विशुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्रवंशी या भोगवंशी कुल में किसी एक कुल में बालिका रूप में उत्पन्न होती है ।

१ सूय. सु. २, अ. २, सू. ५८-६१ (अंगसुताणि)

२-७ प्रथम निदान में देखें ।

सा नं तस्य दारिया भवद् सुकुमाला-जाव-^१ मुरुवा ।

तए नं तं दारियं अम्मा-पियरो उम्मुक्क-वालभावं, विष्णाण-परिणयमितं, जोत्तणमणुप्पत्तं, पडिक्खेणं सुक्केण पञ्चि-क्खस्स भत्तारस्स भारियस्साए वलयेति ।

सा नं तस्स दारिया भवद् एया, एगजाया, इट्ठा, कंता, पिया, मणुणा, मणाभा, वेज्जा, वेसासिया सम्मया बहुमया, अणुमया, रयण-करंङ्गा-समाणा ।

तीसे नं अतिजायमाणोए वा निज्जायमाणोए वा पुरतो महुं दासी-दास-किफर-कम्मकर पुरिसा छत्तं, निगरं गहाय निगच्छंति-जाव-^२ तस्स नं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अम्मुट्ठेति—“मण वेवाणुप्पिया ! किं करेमो-जाव-^३ किं ते आसगरस्स सवति ।”

प०—तीसे न तहप्फगाराए इत्थियाए तहाक्खे समणे वा माहणे वा उभयकालं केवलपणत्तं धम्मं आइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा ।

प०—सा नं पडिसुणेज्जा ?

उ०—णो इणद्धे समट्ठं । अभविद्या नं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए ।

सा य भवति महिच्छा-जाव-^४ वाहिणतामिए गेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साए बुल्लभवोहिया यावि भवद् ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स नियाणस्स इमेयाक्खे पावए, फल-विवागे-जं णो संचाएति केवलपणत्तं धम्मं पडिसुणित्तए । दसा. द. १०, सु. २६-२६

३. निर्ग्रन्थस्स इत्थित्तुा निदानं करणं—

३३२. एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मं पणत्ते, इणमेव निगंघे पावयणे सच्चे-जाव-^५ सव्वनुक्खाण अंतं करंति ।

जस्स नं धम्मस्स सिक्खाए निगंघे उवट्ठिए विहरमाणे-जाव-^६ पासेज्जा—से जा इमा इत्थिया भवति—एया, एगजाया जाव-^७ जं पासिस्सा निगंघे निवाणं करेति—

“कुक्खं खलु पुमत्तणए,

जे इमे उण्णपुत्ता महा-माउया, भोगपुत्ता महा-माउया, एतेसि नं अण्णतरेसु उण्णायएसु महासमर-संगामेसु उण्णाययाहं सत्थाहं उरंसि चेव पडिसंवेदंति । तं कुक्खं खलु पुमत्तणए, इत्थित्तणयं साह ।”

वही वह बालिका सुकुमार—यावत्—सुरूप होती है ।

उसके बाल्य भाव मुक्त होने पर तथा विज्ञान परिणत एवं जीवन वय प्राप्त होने पर उसे उसके माता-पिता उस जैसे सुन्दर एवं योग्य पति को अनुरूप दहेज के साथ पत्नी रूप में देते हैं ।

वह उस पति की इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, अतीव मनोहर, धैर्य का स्थान, विश्वासपात्र, सम्मत, बहुमत, अनुमत (अतीव मान्य) रत्न करण्ड के समान केवल एक भार्या होती है ।

आते-जाते उसके आगे छत्र धारी लेकर अनेक दासी-दास, नौकर चाकर चलते हैं—यावत्—एक को बुलाने पर उसके सामने चार-पाँच बिना बुलाये ही आकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि—“हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ?—यावत् आपके मुख की कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?”

प्र०—उस कृत्रि सम्पन्न स्त्री को तप संयम के मूर्त रूप श्रमण-साहूत उभयकाल केवल प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हाँ कहते हैं ।

प्र०—क्या वह (श्रद्धा पूर्वक) सुनती है ?

उ०—यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वह उस धर्म श्रवण के लिए अयोग्य है ।

वह उत्कृष्ट अभिलाषाओं वाली—यावत्—दक्षिण दिशा-वर्ती नरक में कृष्णप्राक्षिक नैरयिक रूप में उत्पन्न होती है तथा भविष्य में उसे सम्भवत्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उन निदान बाल्य का यह पापकारी परिणाम है कि—वह केवल प्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नहीं कर सकती है ।

(३) निर्ग्रन्थ का स्त्रीत्व के लिए निदान करना—

३३२. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है । यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है—यावत्—सब दुःखों का अन्त करते हैं ।

कोई निर्ग्रन्थ केवल प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए उपस्थित हो विचरते हुए—यावत्—एक स्त्री को देखता है—जो अपने पति की केवल एकमात्र प्राणप्रिया है—यावत्—निर्ग्रन्थ उस स्त्री को देखकर निदान करता है ।

“पुरुष का जीवन दुःखमय है,

क्योंकि जो ये विशुद्ध भ्रातृ-पितृ पक्ष वाले उपवंशी या भोग-वंशी पुरुष हैं वे किसी छोटे-बड़े युद्ध में जाते हैं और छोटे-बड़े शस्त्रों का प्रहार वक्षस्थल में लगने पर वेदना से व्यथित होते हैं । अतः पुरुष का जीवन दुःखमय है और स्त्री का जीवन सुख-मय है ।”

“जइ इमस्स सुत्तरिय तव-नियम-वंसवेरवासस्स फलवित्ति-
विसेसे अत्थि तं अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयाकवाइं उरा-
लाइं इत्थिमोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से तं साहू ।”

एवं खलु समणाउसो ! निगंथे गियाणं किञ्चा तस्स ठाणस्स
अणालोइय अप्पडिक्कंते-जाव-^१आगमेस्साए दुल्लहवोहिए
यावि भवइ ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स गियाणस्स इमेयारुवे पावए
फलविवागे जं नो संचाएइ केवलियण्णत्तं धम्मं पडिसु-
णित्तए ।

—दसा द. १०. सु. ३०-३२

निर्ग्रन्थीए पुमत्तट्ठा गियाण करणं—

३३३. एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते इणमेव निगंथे
पावयणे सच्चे-जाव-^२सव्ववुक्खाणं अंतं करेत्ति ।

जस्स णं धम्मस्स निर्ग्रन्थी सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणी
-जाव-^३पासेज्जा-जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता
महामाउया-जाव-^४जं पासिस्सा निर्ग्रन्थी निदानं करेत्ति ।

“बुक्खं खलु इत्थित्तणए,
बुत्तं चराइं गामंताराइं-जाव-^५सम्मिवेसंताराइं ।

से जहानामए अंव—पेसियाइ वा, मातुल्लिगपेसियाइ वा,
अंबाज्ज—पेसियाइ वा, उच्छुल्लंइयाइ वा, संबत्ति—फलि-
याइ वा, बहुजणस्स आसायणिज्जा, पर्यणिज्जा, पोह्णिज्जा,
अभिलसणिज्जा ।

एवामेव इत्थिया वि बहुजणस्स आसायणिज्जा-जाव-^६
अभिलसणिज्जा तं बुक्खं खलु इत्थित्तणए, पुमत्तणए णं
साहू ।”

“जइ इमस्स सुत्तरित-तव-नियम-वंसवेरवासस्स फलवित्ति
विसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयाकवाइं
उरालाइं पुरिस-भोगाइं भुंजमाणी विहरामि—से तं साहू ।”

एवं खलु समणाउसो ! निगंथी निदानं किञ्चा तस्स
ठाणस्स आणालोइय अप्पडिक्कंता-जाव-^७आगमेस्साए
दुल्लहवोहिवा यावि भवइ ।

“यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एवं
ब्रह्मचर्य पालन का विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य में स्त्री
सम्बन्धी इन उत्तम भोगों को भोगता हुआ विचरण करूँ, तो यह
श्रेष्ठ होगा ।”

हे आयुष्मान् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थ निदान करके उसकी
आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना— यावत्—उसे आगामी काल
में सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान का यह पापकारी परि-
णाम है कि—वह केवल प्ररूपित धर्म को नहीं सुन सकता है ।

निर्ग्रन्थी का पुरुषत्व के लिए निदान करना—

३३३. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है ।
यही निर्ग्रन्थ प्रवचन मत्त्य है—यावत्—सब दुःखों का अन्त
करते हैं ।

उस केवल प्ररूपित धर्म की आराधना के लिए कोई निर्ग्रन्थी
उपस्थित होकर विचरती हुई— यावत्—एक पुरुष को देखती
है जो कि विशुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्रवंशी या भोगवंशी है
—यावत्—उसे देखकर निर्ग्रन्थी निदान करती है कि—

“स्त्री का जीवन दुःखमय है”

क्योंकि किसी अन्य गाँव को—यावत्—अन्य सन्निवेश को
अकेली स्त्री नहीं जा सकती है ।

जिस प्रकार आम, बिजौरा या आश्रतक की फाँके, इक्षु
खण्ड और शाल्मली की फसियाँ अनेक मनुष्यों के आस्वादनीय,
प्राप्तकरणीय, इच्छनीय और अभिलषनीय होती है ।

इसी प्रकार स्त्री का शरीर भी अनेक मनुष्यों के आस्वाद-
नीय—यावत्—अभिलषनीय होता है । इसलिए स्त्री का जीवन
दुःखमय है और पुरुष का जीवन सुखमय है ।”

“यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एवं
ब्रह्मचर्य पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी
आगामी काल में इस प्रकार के उत्तम पुरुष सम्बन्धी काम भोगों
को भोगते हुए विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा ।”

इस प्रकार हे आयुष्मान् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थी निदान
करके उसकी आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना— यावत्—उसे
सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है ।

१ द्वितीय निदान में देखें

२ प्रथम निदान में देखें

३ इसी निदान में देखें

४ प्रथम निदान में देखें ।

५ प्रथम निदान में देखें

६ आ. ख. २, अ. १, उ. २, सु. ३३८

७ प्रथम निदान में देखें ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिपाणस्स इमेयारुवे पावए
फल-विवागे-अं नो संचाएइ केवलपण्णत्तं धम्मं पडिसु-
णित्तए ।

—दसा. व. १०, सु. ३३-३४

(५) निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थीए परदेवी परिचारणा निदान करण—

३३४. एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पणत्ते इणमेव णिग्गं
पावयणे सच्चे-जाव^१-सत्तवुक्खणमंतं करेति ।

जस्स णं धम्मस्स निग्गंथो वा निग्गंथी वा सिक्खाए उवट्ठिए
विहरमाणे-जाव^२-से य परक्कममाणे माणुस्सेहि कामभोगेहि
निव्वेयं गच्छेज्जा —

“माणुस्समा खलु कामभोगा अधुवा, अप्पणित्था, असासया,
सङ्गण-पट्ठण-विट्ठसणधम्मा ।

“उत्तार-पासवण-खेल-जल्ल-सिघाणग-वंत-पिण्ण-मुक्क-लोणिय-
समुक्कवा ।

दुरुव-उत्तास-मिस्तासा, कुरंत-मुत्त-पुरिस-पुण्णा, वंतासवा
पिस्तासवा, खेलासवा, पच्छा- पुरं, च णं अवस्सं विप्पज्ज-
णिज्जा ।”

संति उड्ढं देवा देवलोयंसि,

ते णं तत्थ अप्पणंसि देवाणं देवीओ अभिजुजिय अभिजुजिय
परियारेंति अप्पणो चेव अप्पाणं विउत्थिय-विउत्थिय परिया-
रेंति, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुजिय-अभिजुजिय
परियारेंति ।

“जइ इमस्स सुत्तरिय-तव-नियम-वंसचेरवासस्स कल्लाणे
फल-वित्ति वित्ते अत्थि तं अहमवि आगसेत्ताए इमाइं
एयारुवाइं विव्वाइं भोगाइं भुज्जमाणे विहरामि— से तं
साहू ।”

एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा निग्गंथी वा णिपाणं
किक्खा जाव^३ देवे भवइ महिड्ठिए जाव^४ विव्वाइं भोगाइं
भुज्जमाणे विहरइ ।

से णं तत्थ अप्पणंसि देवाणं देवीओ अभिजुजिय-अभिजुजिय
परियारेइ, अप्पणो चेव अप्पाणं विउत्थिय-विउत्थिय परिया-
रेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुजिय-अभिजुजिय
परियारेइ ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान का यह पापकारी परि-
णाम है कि वह केवल प्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नहीं कर
सकता है ।

(५) निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी के द्वारा परदेवी परिचारणा का
निदान करना—

३३४. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है ।
यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है—यावत्—सब दुःखों का अन्त
करते हैं ।

कोई निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी केवल प्रज्ञप्त धर्म की आराधना
के लिए उपस्थित हो विचरण करते हुए—यावत्—संयम में
पराक्रम करते हुए मानुषी कामभोगों से विरक्त हो जाये और
वह यह सोचे कि—

“मानव सम्बन्धी कामभोग अधूरे हैं, अनित्य हैं, अशाश्वत
हैं, सड़ने गलने वाले एवं नश्वर हैं ।

मग मूल रोजेस मैत्र, जात-पित्त-कफ, शुक्र एवं ओषित से
उद्भूत हैं ।

दुर्गन्ध युक्त श्वासोच्छ्वास तथा मल-मूत्र से परिपूर्ण हैं ।
वात-पित्त और कफ के द्वार हैं । पहले या पीछे से अवश्य
त्याज्य हैं ।

जो ऊपर देवलोक में देव रहते हैं—

वे वहाँ अन्य देवों की देवियों को अपने अधीन करके उनके
साथ विषय सेवन करते हैं, स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियों के
साथ विषय सेवन करते हैं और अपनी देवियों के साथ भी विषय
सेवन करते हैं ।

“यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एवं
ब्रह्मचर्य पालन का विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य में इन
उपरोक्त दिव्य भोगों को भोगते हुए विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ
होगा ।”

हे आयुष्मान् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी
(कोई भी) निदान करके—यावत्—देव रूप में उत्पन्न होता है ।
वह यहाँ महाक्रुद्धि वाला देव होता है—यावत्—दिव्य भोगों
को भोगता हुआ विचरता है ।

वह देव वहाँ अन्य देवों की देवियों के साथ विषय सेवन
करता है । स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियों के साथ विषय
सेवन करता है । और अपनी देवियों के साथ भी विषय सेवन
करता है ।

से न साओ देवलोगाओ आउकखएणं जाव^१ पुमसाए पञ्चा-
याति जाव^२ तस्स णं एगमवि आण वेमाणस्स जाव चत्तारि
पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेति "अण देवानुप्पिया ! किं
करेमो जाव^३ किं ते आसगस्स सयह ।"

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहाक्खे समणे
या माहणे वा उभओ कालं केवलपण्णत्तं धम्ममा-
हक्खञ्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा ।

प०—से णं पडिमुणिज्जा ?

उ०—हंता पडिमुणिज्जा ।

प०—से णं सदहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे । अन्नाविणं णं से तस्स धम्मस्स
सदहणयाए ।

से य भवति महिक्खे-जाव^४-दाहिगगामिए षेरइए
कण्हपणिए आगमेस्साए बुल्लभओहिए यावि भवति ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स गियाणस्स इमेयारुवे
पावए फलविज्जाने—अं णो संचाएति केवलि—
पण्णत्तं धम्मं सदहिए वा, पत्तिवसिए वा,
रोइए वा । —दसा. व. १०, सु. ३५-३७

(६) निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीए सगदेवी परिचारणानिवान करणं—

३३५. एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मो पण्णसे-जाव^५-से य
परक्कममाणे माणुस्सएसु काम भोगेसु निज्जेयं गच्छेज्जा,

"माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा-जाव^६-विण्णजह्णिज्जा ।
संति उक्खं देवा देवल्लोयंसि ते णं तत्थ णो अण्णेसि देवानं
देवीओ अभिज्जुजिय—अभिज्जुजिय परिचारंति, अप्पणो चेव
अप्पणं विउब्बित्ता परिचारंति, अप्पणिज्जियाओ देवीओ
अभिज्जुजिय अभिज्जुजिय परिचारंति ।"

"जइ हमस्स सुत्तरिय-तव-निधम-अंधवेरवासस्स कल्लणो
कलवित्ति विसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए इमाइं एया-
रुवाइं विग्वाहं भोगाह भुंजमाणे बिहरामि, से तं साहू ।"

वह देव उस देवलोक से आयु के साथ होने पर—यावत्—
पुरुष रूप में उत्पन्न होता है—यावत्—उसके द्वारा एक को
बुलाने पर चार-पाँच बिना बुलाये ही उठकर खड़े हो जाते हैं
और पूछते हैं कि—हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ?—यावत्—
आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-संयम
के मूर्त रूप श्रमण-माहन उभय काल केवलि प्रज्ञप्त धर्म
कहते हैं ?

उ०—हाँ कहते हैं ।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हाँ सुनता है ।

प्र०—क्या वह केवलि प्ररूपित धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति या
रुचि करता है ?

उ०—यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म
पर श्रद्धा करने के अयोग्य है ।

किन्तु वह उत्काट अभिलाषाएँ रखता हुआ—यावत्—
दक्षिण दिशावर्ती नरक में कृष्णपाक्षिक नैरयिक रूप में उत्पन्न
होता है तथा भविष्य में उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ
होती है ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान शल्य का यह पापकारी
परिणाम है कि—वह केवलि प्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति और
रुचि नहीं रखता है ।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी द्वारा स्व-देवी परिचारणा का निदान
करना—

३३५. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है
—यावत्—संयम की साधना में पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ;
मानव सम्बन्धी काम-भोगों से विरक्त हो जाए और वह यह
सोचे कि—

"मानव सम्बन्धी कामभोग अध्रुव हैं—यावत्—त्याज्य हैं ।

जो ऊपर देवलोक में देव हैं—वे वहाँ अन्य देवों की देवियों
के साथ विषय सेवन नहीं करते हैं, किन्तु स्वयं की विकुवित
देवियों के साथ विषय सेवन करते हैं । तथा अपनी देवियों के
साथ भी विषय-सेवन करते हैं ।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एवं
ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी
आगामी काल में इस प्रकार के दिव्य भोग भोगते हुए विचरण
करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा ।"

एवं खलु समणोऽसौ ! निग्गंथो वा निग्गंथो वा निग्गंथो
किञ्चा-जाव^१-देवे मयइ महिस्सिण्ण-जाव^२-विस्वाइ, भोगाइ
भुज्जमाणे विहरइ ।

से णं तत्थ णो अण्णेसि देवाणं देवीओ अभिभुजिय-अभिभुजिय
परियारेइ, अण्णो खेव अण्णं विउत्थिय विउत्थिय परिवा-
रेइ, अण्णणिज्जयाओ देवीओ अभिभुजिय-अभिभुजिय परि-
यारेइ ।

से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खणं-जाव^३-पुमसाए पक्खा-
धाति-जाव^४-तस्स णं एगमवि आप्पेमाणस्स-जाव-सत्तारि
पंच अबुत्ता खेव अब्भट्ठेति “अण देवानुप्पिया ! किं
करेमो ?-जाव^५-किं ते आसगस्स सयइ ।”

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुग्गिसजायस्स तहारुवे समणे
वा माहणे वा उभओ कालं केवली पण्णसं धम्म-
माइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा ।

प०—से णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता पडिसुणेज्जा ।

प०—से णं सहहेज्जा पसिएज्जा रोएज्जा ?

उ०—णो तिण्णहे समहे, अण्णत्थ रुई यावि भवति ।

अण्णरुइमायाए से भवति—

जे इमे आरणिवा, आवसहिवा, गामंतिया, कण्हइ
रहसिवा । णो बहु-संजया, णो बहु-पडिविरया
सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु, अण्णो सक्खासीसाइ
एवं विपडिवदंति—

“अहं णं हंतव्वो, अण्णे हंतव्वो ।

अहं णं अज्जावेयव्वो, अण्णे अज्जावेयव्वो,

अहं णं परिवावेयव्वो, अण्णे परिवावेयव्वो,

अहं णं परिघेतव्वो, अण्णे परिघेतव्वो,

अहं णं उव्वह्वेयव्वो, अण्णे उव्वह्वेयव्वो,”

एवामेव इत्थिकामेहिं पुत्थिया गठिया तिद्धा अज्जो-
वक्खणा-जाव^६-कालमासे कालं किञ्चा अण्णघेरसु
आमुत्तिएसु किञ्चित्तिएसु ठाणेषु उव्वसारी भवन्ति ।

हे आयुष्मान् भ्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी
(कोई भी) निदान करके—यावत्—देव रूप में उत्पन्न होता
है । वह वहाँ महाऋद्धि वाला देव होता है—यावत्—दिव्य
भोगों को भोगता हुआ विहरता है ।

वह देव वहाँ अन्य देवों की देवियों के साथ विषय सेवन
नहीं करता है, स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियों के साथ विषय
सेवन करता है और अपनी देवियों के साथ भी विषय सेवन
करता है ।

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर—यावत्—
पुरुष रूप में उत्पन्न होता है—यावत्—उसके द्वारा एक को
बुलाने पर चार-पाँच बिना बुलाये ही उठकर खड़े हो जाते हैं
और पूछते हैं कि—“हे देवानुग्रिय ! कहो हम क्या करें ?
—यावत्—आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?”

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि युक्त उस पुरुष को तप-संयम के
मूर्त रूप भ्रमण माह्न उभयकाल केवल प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हाँ कहते हैं ।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हाँ सुनता है ।

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि करता है ?

उ०—यह सम्भव नहीं है, किन्तु वह अन्य दर्शन में रुचि
रखता है ।

अन्य दर्शन को स्वीकार कर वह इस प्रकार के आचरण
वाला होता है—

जैसे कि ये पर्ण कुटियों में रहने वाले भ्रष्टवासी तापस
और ग्राम के समीप की वाटिकाओं में रहने वाले तापस तथा
अदृष्ट होकर रहने वाले जो तांत्रिक हैं, असंयत हैं । प्राण, भूत,
जीव और सत्त्व की हिसा से विरत नहीं है ; वे सत्य-मृधा (मिश्र
भाषा) का इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि—

“मुझे मत मारो, दूसरों को मारो,

मुझे आदेश मत करो, दूसरों को आदेश करो,

मुझ को पीड़ित मत करो, दूसरों को पीड़ित करो,

मुझ को मत पकड़ो, दूसरों को पकड़ो,

मुझे भयभीत मत करो, दूसरों को भयभीत करो,

इसी प्रकार वह स्त्री सम्बन्धी कामभोगों में भी मूर्च्छित-
ग्रथित, गूढ़ एवं आसक्त होकर—यावत्—जीवन के अन्तिम
क्षणों में देह त्याग कर किसी असुर लोक में कित्त्वधिक देवस्थान
में उत्पन्न होते हैं ।

ततो विमुञ्चमाणो भुञ्जो एत-भूयस्ताए पञ्चायति^१ ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिवापस्स इमेयाख्खे
पावए फल-विवागे-जं णो संखाएति केवल-पण्णसं
धम्मं सहहितए वा, पसिइत्तए वा, रोइत्तए वा ।

—दसा. द. १०, सु. ३८

(७) निगगंथे निगगंथोए सहज दिव्यभोग-निदान करणं —

३३६. एवं खलु समणाउसो ! भए धम्मं पण्णसे-जाव^२-से य
परक्कममाणे माणुस्सएसु काम-भोगेसु निव्वेवं गच्छेज्जा ।

“माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा-जाव^३-विप्पजहिंयइथा ।
संति उइहं देवा देवलोगंसि । ते णं तत्थ णो अण्णेसि देवाणं
देवीओ अभिजुजिय-अभिजुजिय परियारेइ, णो अप्पणो खेव
अप्पणं वेडविय-वेडविय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ
देवीओ अभिजुजिय-अभिजुजिय परियारेइ ।”

“जइ इमस्स सुखरिय-तव-नियम-अंभचेरवासस्स कल्लाणे
फलवित्ति विसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए इमाइं एया-
रुद्धाइं दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरामि, से तं साहू ।”

एवं खलु समणाउसो ! निगगंथो वा निगगंथो वा णिवाणं
किच्चा-जाव^४-देवे भवइ माहिइइए-जाव^५-दिव्वाइं भोगाइं
भुंजमाणे विहरइ ।

से णं तत्थ णो अण्णेसि देवाणं देवीओ अभिजुजिय-अभि-
जुजिय परियारेइ, णो अप्पणो खेव अप्पणं विडविय-
विडविय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुजिय-
अभिजुजिय परियारेइ ।

से णं ताओ देवलोगाओ आउखएणं-जाव^६ पुमत्ताए पञ्चा-
याति-जाव^७ तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स-जाव-अत्तारि-
एवं अबुत्ता खेव अबुट्ठेति^८ “अण देवाणुप्पिया ! किं करेमो
-जाव^९ किं ते आसगस्स सयइ ।”

वहाँ से वे देह छोड़कर पुनः भेड़-बकरे के समान मनुष्यों में
मूक रूप में उत्पन्न होते हैं ।

हे आयुष्मान् भ्रमणो !, उस निदान का यह पापकारी परि-
णाम है कि—वह केवल प्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एवं
रुचि नहीं रखता है ।

(७) निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के द्वारा सहज दिव्यभोग का निदान
करना—

३३६. हे आयुष्मान् भ्रमणो ! मैंने धर्म का प्ररूपण किया है
—यावत्—संयम की साधना में पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ
मानव सम्बन्धी काम-भोगों से विरक्त हो जाय और वह यह
मोचे कि—

“मानव सम्बन्धी काम-भोग अधुन है—यावत्—स्याज्य है ।

जो ऊपर देवलोक में देव हैं—यहाँ वे अन्य देवों की देवियों
के साथ विषय सेवन नहीं करते हैं तथा स्वयं की विकुर्वित
देवियों के साथ भी विषय सेवन नहीं करते हैं, किन्तु अपनी
देवियों के साथ कामक्रीड़ा करते हैं ।”

“यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एवं
ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी
आगामी काल में इस प्रकार के दिव्य भोग भोगता हुआ विहरण
करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा ।”

हे आयुष्मान् भ्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी
(कोई भी) निदान करके—यावत्—देव रूप में उत्पन्न होता है ।
वह वहाँ महाकृद्धि वाला देव होता है—यावत्—दिव्य भोगों
को भोगता हुआ विचरता है ।

वह देव वहाँ अन्य देवों की देवियों के साथ विषय सेवन
नहीं करता है, स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियों के साथ भी
विषय सेवन नहीं करता है, किन्तु अपनी देवियों के साथ विषय
सेवन करता है ।

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर—यावत्—
पुरुष रूप में उत्पन्न होता है—यावत्—उसके द्वारा किसी एक
को बुलाने पर चार-पाँच बिना बुलाये ही उठकर खड़े हो जाते
हैं और पूछते हैं कि “हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें—यावत्—
आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?”

३. यहाँ निदान कृत एक पुरुष सम्बन्धी पृच्छा के बीच में बहुवचन का पाठ शुरू होकर अन्त तक बहुवचन में पूर्ण होता है । ऐसा
ज्ञात होता है कि लिपि प्रमाद से कोई सम्बन्ध जोड़ने वाला पाठ छूट गया है ।

४-८ प्रथम निदान में देखें ।

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिस्सजायस्स तहाख्खे समणे
या माहणे वा उभयो कालं केवलीपणत्तं धम्ममा-
ह्वस्सेज्जा ?

उ०—हंता आइक्खेज्जा ।

प०—से णं ! पडिस्सुणेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिस्सुणेज्जा ।

प०—से णं सहहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—हंता ! सहहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ।

प०—से णं सीलव्वय-गुणवत्त-वेरमण-पक्खवत्थान-पोसहोव-
वासाहं पडिक्खेज्जा ?

उ०—णो तिण्ढे समट्ठे । से णं वंसणसावए भवति ।
अभिगय जीवाजीवे-जाव-^१अट्ठिमिज्जापेमाणुरागरसे—

“अयमाउसो ! निग्गमे पावयणे अट्ठे, एस परमट्ठे, सेसे
अणट्ठे ।”

से णं एयाक्खेणं विहारेणं विहरमाणे बहूहं वासाहं समणो-
वासग-परिचार्यं पाउणइ, पाउणिस्ता कालमासे कालं किञ्चा
अण्णतरेसु देवलोगेसु देवसाए उव्वत्तारो भवति ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स गियाणस्स इमेयाक्खे पावए
फलविवागे—अं णो संचाएति सीलव्वय-गुणवत्त-वेरमण-
पक्खवत्थान-पोसहोववासाहं पडिक्खेज्जा ।

—दसा. द. १०, सु. ३६-४१

(८) श्रमणोपासकत्वमवगण निदान करणं—

३३७. एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मो एणसे-जाव-^२ से य
परवकममाणे दिक्खमाणस्सएहि कामभोगोहि निब्बेवं
गच्छेज्जा—

“माणस्सगा कामभोगा अधुवा-जाव-^३ विप्पजहणिज्जा,
दिक्खा वि खलु कामभोगा अधुवा, अनित्तिया, असासमा,
अलाचलज-धम्मा, पुणरागमणिज्जा पच्छा पुब्बं च णं अवस्सं
विप्पजहणिज्जा ।”

अइ इमस्स सुखरिय-तव-नियम-बंधधेरवासस्स कल्लाणे
फल-वित्तिविसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए, जे इमे
भवन्ति उभापुत्ता महामाजया भोगपुत्ता महामाजया तेसि णं

प्र०—इस प्रकार की श्रद्धा युक्त उस पुण्य को तप मयम
के मूर्त रूप श्रमण भाहन उभयकाल केवलि प्रजप्त धर्म कहते हैं ?

प०—हाँ कहते हैं ।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हाँ सुनता है ।

प्र०—क्या वह केवलि प्रजप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एवं
रुचि रखता है ?

उ०—हाँ वह केवलि प्रजप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एवं
रुचि रखता है ।

प्र०—क्या वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान,
पोषघोपवास करता है ?

उ०—यह संभव नहीं है । वह केवल दर्शन-आवक होता है ।

वह जीव अजीव के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता होता है
—यावत्—उसके अस्थि एवं मज्जा में धर्म की प्रति अनुराग
होता है कि—

“हे आयुष्मान् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही जीवन में इष्ट है ।
यही परमार्थ है । अन्य सब निरर्थक है ।”

वह इस प्रकार अनेक वर्षों तक आगार धर्म की आराधना
करता है और आराधना करके जीवन के अन्तिम क्षणों में किसी
एक देवलोक में देव रूप में उत्पन्न होता है ।

इस प्रकार हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान का यह पाप
रूप परिणाम है कि वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान
और पोषघोपवास नहीं कर सकता है ।

(८) श्रमणोपासक होने के लिए निदान करना—

३३७ हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है
—यावत्—संयम साधना में पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ दिव्य
और मानुषिक कामभोगों से विरक्त हो जाने पर यों सोचे कि—

“मानुषिक कामभोग अधुव है—यावत्—त्याज्य है ।

देव सम्बन्धी कामभोग भी अधुव है, अनित्य हैं, अशाश्वत
हैं, चलाचल स्वभाव वाले हैं, जन्म-मरण बढ़ाने वाले हैं । आगे-
पीछे अवश्य त्याज्य हैं ।”

“यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एवं
ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल ही तो मैं भी
भविष्य में जो ये विशुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्र वंशी या भोग-

१ वि. मा. २, उ. ५, सु. ११

२ सातवें निदान में देखें ।

३ सातवें निदान में देखें ।

अन्नयरसि कुलसि पुमत्ताए पञ्चायामि, तस्स णं ससणो-
वासए भविस्सामि—

अभिगय—“जीवाजीवे-जाव-^१ अहापरिणहिणं तन्नोकस्सेणं
अप्पाणं भावेमाणे विहरिस्सामि, से तं साहू ।”

एवं खलु समणाउसो ! निर्गन्धो वा निर्गन्धी वा निदानं
किञ्चा-जाव-^२ देवे सव्वह सहिद्धिण-जाव-^३ विक्खाइं भोगाइं
भुंजमाणे विहरइ-जाव-^४ से णं ताओ देवत्तोगाओ आउक्ख-
एणं-जाव-^५ पुमत्ताए पञ्चायामि-जाव-^६ तस्स णं एगमवि
आणवे-माणस्स-जाव-चत्तारि-पंच-अवुत्ता चेव अग्गुट्ठेति ‘मण
देवानुप्पिया ! किं क-मो-जाव-^७ किं ते आसगस्स सयइ ।’

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारुवे सभणे
वा माहणे वा उभओ कासं केवलि-पण्णत्तं धम्मसा-
हसखेज्जा ?

उ०—हंता ! आहसखेज्जा ।

प०—से णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिसुणेज्जा ।

प०—से णं सहहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—हंता ! सहहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ।

प०—से णं सील-अवय-जाव-^८ पोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिवज्जेज्जा ।

प०—से णं मंडे कविता आगाराओ अणगारिथं पव्वएज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे ।

से णं ससणोवासए भवति अभिगय-जीवाजीवे-जाव-^९ पडि-
त्तामेमाणे विहरइ ।

से णं एयाक्खेणं विहारेणं विहरमाणे बहूणि वासाणि
ससणोवासए-परियाणं पाउणइ पाउणित्ता आवाहंसि उण्ण-
अंसि वा अणुप्पअंसि वा भत्तं पण्यक्खाएइ, भत्तं पण्यक्खा-
इत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, बहूइं भत्ताइं अणसणाइं

वंशी कुल है वहाँ पुरुष रूप में उत्पन्न होऊँ और श्रमणोपासक
बनूँ ।”

“जीवा-जीव के स्वरूप को जानूँ—यावत्—ग्रहण किये हुए
तप में आत्मा को भावित करते हुए विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ
होगा ।”

हे आधुमान् श्रमणो ! इस प्रकार निर्गन्ध या निर्गन्धी
(कोई भी) निदान करके—यावत्—देवरूप में उत्पन्न होता है ।
वह वहाँ महाशुद्धि वाला देव होता है—यावत्—दिव्य भोगों
को भोगता हुआ विचरता है यावत् वह देव उस देवलोक से
आधु क्षय होने पर—यावत्—पुरुष रूप में उत्पन्न होता है
—यावत्—उमके द्वारा किसी एक को बुलाने पर चार-पाँच
बिना बुलाये ही उठकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि ‘हे
देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें—यावत् आपके मुख को कौन
से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?’

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि युक्त उस पुरुष को तप-संग्रम
के मूर्त रूप श्रमण माहून उभय-काल केवलि-प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हाँ कहते हैं ।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हाँ सुनता है ।

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि करता है ?

उ०—हाँ वह श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि करता है ।

प्र०—क्या वह शीलव्रत—यावत्—पौषधोपवास स्वीकार
करता है ?

उ०—हाँ वह स्वीकार करता है ।

प्र०—क्या वह गृहवास को छोड़कर मुण्डित होता है एवं
अनगार प्रव्रज्या स्वीकार करता है ?

उ०—यह सम्भव नहीं है ।

वह श्रमणोपासक होता है, जीवाजीव का ज्ञाता—यावत्—
प्रतिजाभित करता हुआ विचरता है ।

इस प्रकार के आचरण से वह अनेक वर्षों तक श्रमणोपासक
पर्याय का पालन करता है, पालन करके रोग उत्पन्न होने या न
होने पर भक्त-प्रत्याख्यान करता है, भक्त-प्रत्याख्यान करके अनेक
भक्तों का अनशन से छेदन करता है, बहुत से भक्तों का अनशन

१ विद्या. श. २, उ. ५, सु. ११

२-८ सातवें निदान में देखें ।

९ विव. श. २, उ. ५, सु. ११

छेवित्ता आलोइय पडिक्कत्ते समाहिपत्ते कालमासे कालं किञ्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स नियानस्स इमेयाह्वे पाव-
फलविवागे-जं नो संघाएति सव्वाओ सव्वत्ताए मुंढे भवित्ता
आगाराओ अण्णारियं पव्वइत्तए ।

—टिप्प. ट. १०, सू. ४२-४६

(६) श्रमणभरण निदान करणं —

३३८. एवं खलु समणाउसो ! भए धम्मो पणत्ते-जाव-^१ से थ
परक्कममाणे दिव्वमाणुससएहिं काम-भोगेहिं निव्वेयं
गच्छेज्जा—

“माणुससा खलु काम-भोगा अधुवा-जाव-^२ विप्पजह्णिज्जा ।

दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा-जाव-^३ पुणराभवणिज्जा,
पच्छा-पुव्वं च णं अवस्सं विप्पजह्णिज्जा ।

“जइ इमस्स सुत्तरिय-तव-नियम-वमप्पेखासस्स कल्लाने
फलवित्ति वित्तेसे अरिय अहमवि आगमेस्साए जाइं इमाइं
भवन्ति अंतकुलाणि वा, पंतकुलाणि वा, तुच्छकुलाणि वा,
वरिद्द-कुलाणि वा, कियण-कुलाणि वा, भिक्षाग-कुलाणि
वा एएस णं अण्णतरंसि कुलंसि-पुमत्ताए पच्चायामि एस से
आया परिआए सुणीह्वे भविस्सति, ये तं साह ।”

एवं खलु समणाउसो ! निगमथा वा निगमंथी वा निदानं
किञ्चा जाव-^४ देवे भवइ, महिद्धिइ-जाव-^५ दिव्वइ भोगाइं
भुंजमाणे विहरइ-जाव-^६ से ण ताओ देवनोगाओ आउव्व-
एणं-जाव-^७ पुमत्ताए पच्चायाति-जाव-^८ तस्स णं एगमवि
आणवेमाणस्स जाव-अत्तारि-पंच अकुत्ता वेव अहमुत्तेति
‘मण देवानुप्पिया ! कि करेमो-जाव-^९ कि से आसगस्स
सयइ ?’

प्र०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहाह्वे समणे
वा माहणे वा उसओ कालं केवल्लि-पणत्तं धम्ममा-
इक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा ।

प्र०—से णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिसुणेज्जा ।

से छेदन करके आलोचना एवं प्रतिक्रमण द्वारा समाधि को प्राप्त होता है । जीवन के अन्तिम क्षणों में देह छोड़कर किसी देवलोक में देव होता है ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान शल्य का यह पापरूप परिणाम है कि -वह गृहवास को छोड़कर एवं सर्वथा मुण्डित होकर अनगार प्रव्रज्या स्वीकार नहीं कर सकता है ।

(६) श्रमण होने के लिए निदान करना—

३३८. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है
—यावत्—संयम की साधना में प्रयत्न करता हुआ निर्ग्रन्थ
दिव्य मानुषिक काम भोगों से विरक्त हो जाए और वह यह
सोचे कि—

“मानुषिक काम-भोग अधुव—यावत्—त्याज्य है ।

दिव्य कामभोग भी अधुव—यावत्—भव परम्परा बढ़ाने
वाले हैं तथा पहले या पीछे अवश्य त्याज्य हैं ।”

“यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप नियम एवं
ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी
भविष्य में जो ये अंतकुल, प्रान्तकुल, तुच्छकुल, दरिद्रकुल, कृपण
कुल या भिक्षु कुल है इनमें से किसी एक कुल में पुरुष बनूँ जिससे
मैं प्रव्रजित होने के लिए सुविधापूर्वक गृहस्थ छोड़ सकूँ तो यह
श्रेष्ठ होगा ।”

हे आयुष्मान् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी
(कोई भी) निदान करके —यावत्—देव रूप में उत्पन्न होता है ।
वह वहाँ महाश्रद्धि वाला देव होता है—यावत्—दिव्य भोग
भोगता हुआ विचरता है -यावत्—वह देव उस देवलोक से
आयु क्षय होने पर—यावत्—पुरुष रूप में उत्पन्न होता है
—यावत्—उसके द्वारा किसी एक को बुलाने पर चार-पाँच
बिना बुलाये ही उठकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि “हे
देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें—यावत्—आपके मुख को कौन
से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?”

प्र०—इस प्रकार की श्रद्धि युक्त उस पुरुष को तप-संयम के
मूर्तरूप श्रमण माहण उभय काल केवल प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हाँ कहते हैं ।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हाँ सुनता है ।

प०—से णं सद्वहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—हंता ! सद्वहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ।

प०—से णं सीलव्वय-गुणव्वय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोव-
वासाइं पडिवज्जेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिवज्जेज्जा ।

प०—से णं मुंढे भविता आगाराओ अणगारियं पव्वहज्जा ?

उ०—हंता ! पव्वहज्जा ।

प०—से णं तेणेव भवग्गहणेणं सिज्जेज्जा-आव-१ सव्व-
दुक्खाणं अंतं करेज्जा ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे ।

से णं भवइ-से जे अणगारा भगवंतो हरियाममिया-आव-२
अंभयारी ।

से णं एपाक्खेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं सामण्ण
परियागं पाउणइ, बहूइं वासाइं सामण्ण परियागं पाउणिता
आवाहंसि उप्पन्नसि वा अणुप्पन्नसि वा भत्तं पच्चक्खाएइ,
भत्तं पच्चक्खाइत्ता, बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, बहूइं
भत्ताइं अणसणाइं छेदेत्ता आसोइय पडिवकंते समाहिपत्ते
काल मासे कालं किज्जा अणयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उव-
यत्तारो भवति ।

एवं एतत् समणाउसो ! तस्स निदानस्स इमेपाक्खे पावए
फल-विवागे जं नो संखाएइ तेणेव भवग्गहणेणं सिज्जित्तए
-आव-३ सव्व दुक्खाणं अंतं करेत्तए ।

—दमा. द. १०, सु. ४७-४९

गियाण रहियस्स विमुत्ति—

३३१. एवं एतत् समणाउसो ! मए धम्मं पणत्ते-इणमेव निग्गमे
पावयणे सच्छे-आव-४ सव्वदुक्खाणं अंतं करेत्ति ।

जस्स णं धम्मस्स सिक्खाए निग्गमे उवट्ठिए विहरमाणे से अ
परक्कमेज्जा से य परक्कममाणे सव्वकाम-विरत्ते, सव्वराग-
विरत्ते, सव्वसंगातीते, सव्वहा सव्व-सिणेहातिक्कंते सव्व-
वरिस्स परिवुडे ।

तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं णाणेणं, अणुत्तरेणं वंसणेणं
-आव-५ अणुत्तरेणं परिनिव्वानमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स

१-२ पहले या सातवें गियाणे में देखें ।

४ प्रथम निदान में देखें ।

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि रखता है ?

उ०—हाँ वह श्रद्धा, प्रतीति, रुचि करता है ।

प्र०—क्या वह कीलवत्, गुणवत्, विरमणवत्, प्रत्याख्यान,
पौषधोपवास स्वीकार करता है ?

उ०—हाँ स्वीकार करता है ।

प्र०—क्या वह गृहवास को छोड़कर मुण्डित होता है एवं
अणगार प्रव्रज्या स्वीकार करता है ?

उ०—हाँ वह अणगार प्रव्रज्या स्वीकार करता है ।

प्र०—क्या वह उसी भव में सिद्ध हो सकता है—यावत्—
सब दुःखों का अन्त कर सकता है ?

उ०—यह सम्भव नहीं है ।

वह अणगार भगवंत इर्या-समिति का पालन करने वाला
—यावत्—ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला होता है ।

इस प्रकार के आचरण से वह अनेक वर्षों तक संयम पर्याय
का पालन करता है, अनेक वर्षों तक संयम पर्याय का पालन
करके रोग उत्पन्न होने या न होने पर भी भक्त-प्रत्याख्यान करता
है, भक्त-प्रत्याख्यान करके अनेक भक्तों का अनशन से छेदन
करता है, अनेक भक्तों का अनशन से छेदन करके आलोचना एवं
प्रतिक्रमण द्वारा समाधि को प्राप्त होता है और जीवन के अंतिम
क्षणों में देह छोड़ कर किसी देवलोक में देव रूप में उत्पन्न
होता है ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान शल्य का यह पापरूप
परिणाम है कि वह उस भव से मिद्ध नहीं होता है—यावत्—
सब दुःखों का अन्त नहीं कर पाता है ।

निदान रहित की मुक्ति—

३३२. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है ।
यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है—यावत्—सब दुःखों का अन्त
करते हैं ।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर विचरता
हुआ वह निर्ग्रन्थ तप संयम में पराक्रम करता हुआ तप संयम
की उग्र माधना करते समय काम-राग से सर्वथा विरक्त हो जाता
है । संग, स्नेह से सर्वथा रहित हो जाता है और सम्पूर्ण चारित्र्य
की आराधना करता है ।

उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन और चारित्र्य—यावत्— मोक्ष मार्ग से
अपनी आत्मा को भावित करते हुए उस अणगार भगवन्त को

३. दशा. द. ५, सु. ६

५ दशा. द. १०, सु. ३३, नवसुत्ताणि

अणन्ते. अणुत्तरे, निष्वाघाए, निरावरणे, कसिणे, पांडपुष्णे,
केवल-वर-नाण-वंसणे समुपज्जेज्जा ।
तए णं से भगव अरहा भवति, जिणे, केवली, सव्वणू,
सव्वभाय-वरिसी, सव्वेवणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ
तं जहा—

आगई, गई, ठिई, चवणं, उववायं, भुत्तं, पोयं, कइं,
पडिसेवियं, आसीकम्मं, रओकम्मं, लभियं, कहियं, मणो-
माणसियं ।

सव्वलोए सव्वजोवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे
विहरइ ।

से णं एमाकूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहइं वासाइं केवलि-
परियाणं पाउणइ पाउणित्ता अप्पणो आउसेसं आओएइ,
आओएत्ता भत्तं पक्खवखाएइ, पक्खवखाइत्ता बहइं अत्ताइं
अणसणाइं छेदेइ, तओ पक्खा चरमेहि ऊसास-नीससेहि
सिज्जइ-जाव-^१ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स अणिदाणस्स इमेपाकूवे
कल्साणे फल-विवागे जं तेणेव भवगहणेणं सिज्जति-जाव-
सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ।

तए णं ते बह्वे निगंथा व निगंधीओ य समणस्स भगवओ
महावीरस्स अंतिए एवमदुं सोच्चा णिसम्म समणं भगवं
महावीरं बंधंति नमंसंति, बद्धिंता नमंसित्ता तस्स ठाणस्स
आलोयंति पडिक्कमंति-जाव-अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं
पडिक्कजंति ।

—दमा. द. १०, सु. ५०-५४

तवस्स फलकंखा णिसेहो—

३४०. से भिक्खू अकिरिए, अलूसए, अकोहे, अमाणे, अमाए,
अलोभे, उवसंते, परिनिब्बुडे, णो आसंसं पुरओ करेज्जा—
“इमेण मे विट्ठेण वा, सुएण वा, भएण वा, किण्णाएण
वा, इमेण वा सुचरिय-सव्वनियम-बंभचेर-वासेणं, इमेण वा
जायामायाबुसिएणं धम्मेणं इतो चुते पेज्जा देवे सिधा,
कामभोगा असव्वती, सिद्धे वा अबुवज्जमसुहे, एत्थ वि सिधा,
एत्थ वि णो सिधा । —सूय. सु. २, अ. १, सु. ६८२

अनन्त, सर्व प्रधान, बाधा एवं आवरण रहित, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण
केवलज्ञान, केवल दर्शन उत्पन्न होता है ।

उस समय वह अरहन्त भगवन्त, जिन, केवलि, सर्वज्ञ-सर्व-
दर्शी हो जाता है, वह देव मनुष्य असुर आदि लोक के पर्यायों
को जानता है यथा—

जीवों की आगति, गति, स्थिति, चयन, उत्पत्ति तथा उनके
द्वारा खाये-पीये गये पदार्थों एवं उनके द्वारा सेवित प्रगट एवं
गुप्त सभी क्रियाओं को तथा वार्तालाप, गुप्तवार्ता और मानसिक
चिंतन को प्रत्यक्ष रूप से जानते देखते हैं ।

वह सम्पूर्ण लोक में स्थित सर्व जीवों के सर्व भावों को
जानते देखते हुए विचरण करता है ।

वह इस प्रकार केवलि रूप में विचरण करता हुआ अनेक
वर्षों की केवलिपर्याय को प्राप्त होता है और अपनी आयु का
अन्तिम भाग जानकर वह भक्त प्रत्याख्यान करता है, भक्त-
प्रत्याख्यान करके अनेक भक्तों को अनशन से छेदन करता है ।
उसके बाद वह अन्तिम श्वासोच्छ्वास के द्वारा निद्रा होता है
—यावत्—सब दुःखों का अन्त करता है ।

हे आयुष्मान् भ्रमणो ! उस निदान रहित साधनामय जीवन
का यह कल्याण कारक परिणाम है कि वह उसी भव से सिद्ध
होता है—यावत्—सब दुःखों का अन्त करता है ।

उस समय उस अनेक निर्व्यर्थ-निर्व्यर्थियों ने भ्रमण भगवान्
महावीर से इन निदानों का वर्णन सुनकर भ्रमण भगवान् महावीर
को वंदना, नमस्कार किया और उस पूर्वकृत निदान शाल्यों की
आलोचना प्रतिक्रमण करके—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त
स्वरूप तप स्वीकार किया ।

तप की फलाकांक्षा का निषेध—

३४०. वह भिक्षु सावध क्रियाओं से रहित, अहिंसक क्रोध मान
माया और लोभ रहित, उपशान्त एवं समाधिपुक्त होकर रहे
और भविष्य के लिए आकांक्षा न करे कि “मेरे इस दर्शन, श्रुत,
मनन, विज्ञान, उत्तम आचरण, तप नियम, ब्रह्मचर्य संयम यात्रा
और आहार की मात्रा के पालन रूप धर्म के फलस्वरूप यहाँ से
शरीर छोड़ने के पश्चात् मैं देव हो जाऊँ, समस्त काम-भोग मेरे
बधीन हो जाएँ अथवा मैं सब सुख-दुःख से रहित सिद्ध हो
जाऊँ । क्योंकि (इस प्रकार आशंसा करने पर भी) फल की
प्राप्ति कभी होती है और कभी नहीं होती है । अतः ऐसी आकां-
क्षाएँ नहीं करना चाहिए ।



बाल पण्डित मरण से आराधना विराधना—५

अनेकविधा मरणा—

३४१. सत्तरसविंशे मरणे पणत्ते, तं जहा—

१. आवीहिमरणे,	२. ओहिमरणे,
३. आर्यंतियमरणे,	४. वलयमरणे,
५. वसट्टमरणे,	६. अंतोसल्लमरणे,
७. तद्धवमरणे,	८. बालमरणे,
९. पंडितमरणे,	१०. बालपंडितमरणे,
११. छज्जमस्यमरणे,	१२. केवल्लिमरणे,
१३. वेहाणसमरणे,	१४. गिद्धपुट्टमरणे,
१५. भत्तपत्तवक्खणमरणे,	१६. इण्डिमरणे,
१७. पाओवगमणमरणे ।	—सम. सम. १७, सु. १

बालमरणप्यगारा —

३४२. प०—से किं तं बालमरणे ?

उ०—बालमरणे बुवालसविंशे पणत्ते, तं जहा —

१. वलयमरणे,	
२. वसट्टमरणे,	
३. अंतोसल्लमरणे,	
४. तद्धवमरणे,	
५. गिरिपडणे,	
६. तरुपडणे,	
७. जलप्यवेसे,	
८. जलणप्यवेसे,	
९. विसमक्खणे,	
१०. सत्थोपाडणे,	
११. वेहाणसे,	
१२. गिद्धपुट्टे ^१ ,	—वि. स. १३, उ. ७, सु. ४१

दो मरणाइं समणेणं भगवथा महावीरेणं समणानं निगंध्याणं
णो निच्चं वल्लियाइं, णो निच्चं कल्लियाइं, णो निच्चं
पूरयाइं, णो निच्चं पसरथाइं, णो निच्चं अक्खण्णयायाइं
भवन्ति, तं जहा—

१. वलयमरणे खेव,
२. वसट्टमरणे खेव,
एवं—१. गियाणमरणे खेव,

अनेक प्रकार के मरण—

३४१. मरण सत्तरह प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) आवीचि-मरण,	(२) अवधि-मरण,
(३) आर्यन्तिक-मरण,	(४) वलय मरण,
(५) वशार्त-मरण,	(६) अन्तः शस्य-मरण,
(७) तद्धव-मरण,	(८) बाल-मरण,
(९) पंडित-मरण,	(१०) बाल-पंडित-मरण,
(११) छज्जमस्य-मरण,	(१२) केवल्लि-मरण,
(१३) वेहाणस-मरण,	(१४) गृद्धस्पृष्ट-मरण,
(१५) भक्तप्रत्याख्यान-मरण,	(१६) इंगिनी-मरण,
(१७) पादोपगमन-मरण ।	

बालमरण के प्रकार—

३४२. प्र०—बहु बाल मरण क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—बालमरण बारह प्रकार का कहा गया है, यथा - -

- | |
|--|
| (१) गला दबाकर मरना । |
| (२) विरह व्यथा से पीड़ित होकर मरना । |
| (३) शरीर में तीर भाला आदि शस्त्र घुसा कर मरना । |
| (४) उमी भव में पुनः उत्पन्न होने के संकल्प से मरना । |
| (५) पर्वत पर से गिरकर मरना । |
| (६) झाड़ पर से गिरकर मरना । |
| (७) पानी में डूबकर मरना । |
| (८) अग्नि में जलकर मरना । |
| (९) विष खाकर मरना । |
| (१०) तलवार आदि शस्त्र से कटकर मरना । |
| (११) गले में फाँसी लगाकर मरना । |
| (१२) गीध आदि पक्षियों के द्वारा शरीर का भक्षण करवा कर मरना । |

श्रमण भगवान महावीर द्वारा श्रमण निर्धन्यों के लिए सदा
वो-दो मरण वर्णित, कीर्तित, कथित, प्रशंसित एवं अनुमत नहीं
हैं, यथा—

- | |
|---|
| (१) वलय मरण—गला दबा कर मरना । |
| (२) वशार्त मरण—विरह व्यथा से पीड़ित होकर मरना । |
| हसी प्रकार—(१) निदान मरण—तप-संयम के फल की कामना करके मरना । |

२. तदभवमरणे चेव,

१. गिरिपङ्कणे चेव,

२. तक्षपङ्कणे चेव,

१. जलप्लवेसे चेव,

२. जलप्लवेसे चेव,

१. विसम्भक्त्ये चेव,

२. सस्थोपाङ्कणे चेव,

दो मरणाद्-जाव-णो गिच्छं अम्भणुप्पायाद् भवति, कारणेण पुणं अप्पडिक्कुट्ठाद्, तं जहा—

१. वेहानसे चेव,

२. गिद्धपुट्टे चेव ।

ठाणं. अ. २, उ. ४, सु. ११३

मरणस्सप्पगारा—

३४३. तिविहे मरणे पणसे, तं जहा—

१. बालमरणे, २. पण्डितमरणे, ३. बालपण्डितमरणे ।

बालमरणे तिविहे पणसे, तं जहा—

१. ठितलेस्से,

२. संकिलिद्धलेस्से,

३. पज्जवजातलेस्से ।

पण्डितमरणे तिविहे पणसे, तं जहा—

१. ठितलेस्से,

२. असंकिलिद्धलेस्से,

३. पज्जवजातलेस्से ।

बालपण्डितमरणे तिविहे पणसे, तं जहा—

१. ठितलेस्से,

२. असंकिलिद्धलेस्से,

३. अपज्जवजातलेस्से । —ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २२२

अण्णवसि महोहंति, एणे तिण्णे बुरुत्तरे ।

तत्थ एणे महापत्ते, इमं पणहुवाहरे ॥

सन्तिमे य बुधे ठाणा, अवखाया मारणमित्था ।

अकाम-मरणं चेव, सकाम-मरणं तथा ॥

बालाणं अकामं तु, मरणं असद् भवे ।

पण्डियाणं सकामं तु, उक्कोसेणं सद् भवे ॥

—उत्त. अ. ५, गा. १-३

(२) तदभव मरण—वर्तमान भव को पुनः प्राप्त करने के संकल्प से मरना ।

(१) गिरिपङ्कत मरण—पहाड़ से गिरकर मरना ।

(२) तक्षपङ्कत मरण—वृक्ष से गिरकर मरना ।

(१) जल प्रवेश मरण—जल में प्रवेश करके मरना ।

(२) ज्वलन प्रवेश मरण—अग्नि में प्रवेश करके मरना ।

(१) विद्रव मक्षण मरण—जहर खाकर मरना ।

(२) शस्त्रोत्पाटन मरण—शस्त्र से काट कर मरना ।

दो मरण—यावत्—सदा अनुमत नहीं हैं किन्तु कारण से वे निषिद्ध भी नहीं हैं यथा—

(१) वेहानस मरण—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए फाँसी लगा कर मरना ।

(२) गृद्ध स्पृष्ट मरण—हाथी आदि के बड़े कलेवर में प्रवेश करके गिद्धों से अपना मांस चुबवाकर मरना ।

मरण के प्रकार—

३४३. मरण के तीन प्रकार हैं । यथा—

(१) बालमरण, (२) पण्डितमरण, (३) बालपण्डितमरण ।

बालमरण तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) स्थिर संकिलिष्ट लेश्यावाला,

(२) संक्लेश वृद्धि से युक्त लेश्यावाला,

(३) प्रवर्धमान लेश्यावाला ।

पण्डितमरण तीन प्रकार का कहा गया है—

(१) विशुद्ध स्थिर लेश्यावाला,

(२) संक्लेश रहित लेश्यावाला,

(३) प्रवर्धमान विशुद्ध लेश्यावाला ।

बाल-पण्डित मरण के तीन प्रकार हैं, जैसे—

(१) स्थितलेश्य—स्थिर विशुद्ध लेश्यावाला,

(२) असंकिलिष्टलेश्य—संक्लेश से रहित लेश्यावाला,

(३) अपर्यवजातलेश्य—अप्रवर्धमान विशुद्ध लेश्यावाला ।

इस महाप्रवाह वाले दुस्तर संसार समुद्र से कई महापुरुष तिर गए हैं उनमें से एक महाप्रज्ञ भ्रमण भगवान महावीर स्वामी ने यह उपदेश दिया है कि—

मृत्यु के समय होने वाले दो स्थान कहे गये हैं, यथा—

(१) अकाम-मरण, (२) सकाम-मरण ।

बाल जीवों के अकाम-मरण बार-बार होते हैं किन्तु पण्डितों का सकाम-मरण उत्कृष्ट एक बार ही होता है ।

अण्णाणीणं बालमरणादं—

३४४. बालमरणाणि बहुसो अकाममरणाणि चेव य बहूणि ।
मरिहिति ते बराया, अणवयणं जे न जाणस्सि ॥

— उक्त. अ. ३६, गा. २६१

बालमरण सार्व—

३४५. तत्थिस्सं पडसं ठाणं, महावीरेण वेसियं ।
काम-गच्छे जहा बाले, मितं कूरादं कुव्वइ ॥

जे गिद्धे काम-भोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिद्धे परे लोए, चक्खु-विट्ठा इमा रई ॥

हत्यागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥

“अणेणं सद्धि होखामि”, इइ बाले पगबभई ।
काम-भोगाणुराएणं, केसं संपच्चिवज्जई ॥

तओ से वण्णं समारंभई, तसेसु बावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगामं विहिसई ॥

हिसे बाले भुसावाई, माइल्ले पिसुणे सब्बे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मल्लई ॥

कायसा बयसा मत्ते, बित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
बुहओ नत्थं सच्चिणई, सिसुणागोश्च सद्वियं ॥

तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पई ।
पभीओ परलोगस्स, कम्मणुप्पेहि अप्पणो ॥

सूया मे नए ठाणा, असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूर-कम्मणं, पगाद्धा जत्थ वेयणा ॥

तत्थोववाइयं ठाणं, जहा मेयमणुत्सुयं ।
आहाकम्भेइ गच्छन्तो, सो पच्छा परितप्पई ॥

अज्ञानियों के बालमरण—

३४४. जो प्राणी जिन वचनों से परिचित नहीं है, वे बेचारे अनेक बार बालमरण तथा बहुत बार अकाम-मरण से मृत्यु को प्राप्त होंगे ।

बालमरण का स्वरूप—

३४५. भगवान महावीर स्वामी ने उन दो स्थानों में पहला स्थान इस प्रकार का बताया है कि कामासक्त बाल-जीव अनेक प्रकार के क्रूर-कर्म करते हैं ।

जो काम-भोगों में आसक्त होते हैं, उनमें से कई नरक में जाते हैं । वे अज्ञानी इस प्रकार कथन करते हैं कि —“परलोक तो हमने देखा ही नहीं है किन्तु यह इहलौकिक आनन्द तो आँखों के सामने ही है ।”

वे काम-भोग हाथ में आये हुए हैं किन्तु भविष्य में होने वाले सुख तो संदिग्ध हैं, कौन जानता है—“परलोक है या नहीं ?”

कोई बाल जीव धृष्टतापूर्वक इस प्रकार कथन करता है कि ‘जो गति अन्य की होगी वही मेरी होगी’ ऐसा सोच कर वह काम-भोग में अनुरक्त होकर क्लेश को प्राप्त होता है ।

फिर वह अस तथा स्थावर जीवों के प्रति दण्ड का प्रयोग करता है और प्रयोजनवश या बिना प्रयोजन ही प्राणी समूह की हिंसा करता है ।

हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, छल-कपट करने वाला, चूगली खाने वाला और धूर्त वह अज्ञानी मनुष्य मद्य और मांस का भोग करता है और “यह कल्याणकारी है” ऐसा मानता है ।

वह शरीर और बाणी से मत्त होता है, घन और स्त्रियों में मूढ़ होता है तथा राग और द्वेष दोनों से उसी प्रकार कर्म-मल का संचय करता है जैसे केंचुआ मुख और शरीर दोनों से मिट्टी का संचय करता है ।

फिर कभी रोग आनंक से ग्लान बना हुआ वह परिताप करता है । और अपने कर्मों का विचार कर परलोक के दुःख से भयभीत होता है ।

वह सोचता है कि शील रहित पुरुषों की जो गति होती है उस नरक गति के विषय में मैंने सुना है कि वहाँ क्रूरकर्मों अज्ञानी जीवों को अत्यन्त वेदना होती है ।

उन नरकों में उत्पन्न होने का जो स्थान है वह भी मैंने सुना है । आयुष्य क्षीण होने पर वह बाल जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार वहाँ जाकर पीछे परिताप करता है ।

जहा सागडिओ जाणं, सनं हिचचा महापहं ।
बिसमं मगमोडणो, अक्खे मग्गंमि सोयई ॥

एवं धम्मं विउक्कस्म अहम्मं पडिबडिज्जा ।
बाले मच्चु-सुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥

तओ से मरणन्तंमि बाले सन्तस्सई भया ।
अकाम-मरणं मरई, दुत्ते ष कलिणा जिए ॥

—उत्त. अ. ५, गा. ४-१६

जे इह आरम्मणिस्सिया, आयवंड एगंतसूसगा ।
गंता ते पावलोगयं, जिररायं असुरियं विसं ॥

य य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो परम्मई ।
पच्चुपण्णेण कारियं, के वड्डुं, परलोगगामए ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. ३, गा. ६-१०

पंडित-मरण सखं—

३४६. एयं अकाम-मरणं, बालाणं तु पवेइयं ।
एत्तो सकाम-मरणं, पण्डियाणं सुणेह मे ॥
मरणं पि समुण्णाणं, जहा मे तमणुसुयं ।
विपसणमणाघायं, संजयाणं वुसोमओ ॥

न इमं सखेसु भिक्खूसु, न इमं सखेसु गारिसु ।
माण-सीला य गारत्था, विसम-सीला य भिक्खुणो ॥

सन्ति एगेहि भिक्खूहि, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहि य सखेहि, साहवो संजमुत्तरा ।

—उत्त. अ. ५, गा. १७-२०

तेसि सोचवा सपुज्जाणं, संजयाणं वुसोमओ ।
न संतसन्ति मरणन्ते, सीलवन्ता बह्वसुया ॥

तुलिया विसेसमावाय, वपा-धम्मस्स तस्तिए ।
विप्यसोएअ मेहावी, तहा-भूएणं अप्पणा ॥

—उत्त. अ. ५, गा. २६-३०

बालमरण-पंडितमरण फल—

३४७. कम्बप्यमाभिओणं किंविस्सियं मोहमासुहसं ष ।
एयाओ इगईओ, मरणम्मि विराहिया होन्ति ॥

जैसे कोई गाड़ीवान समतल राजमार्ग को जानता हुआ भी उसे छोड़कर विषम मार्ग से चल पड़ता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर खेद करता है ।

उसी प्रकार धर्म का उल्लंघन कर अधर्म को स्वीकार कर, मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ अज्ञानी जीव धुरी टूटे हुए गाड़ीवान की तरह खेद करता है ।

फिर मरण के समय वह अज्ञानी परलोक के भय से संश्रस्त होता है और एक ही दाव में हारे हुए जूआरी की तरह शोक करता हुआ अकाम मरण से मरता है ।

जो साधक इस लोक में आरम्भ में आसक्त अपनी आत्मा को दण्डित करते हैं तथा एकान्त रूप से जीव-हिसक हैं वे चिर-काल तक के लिए नरकादि पापलोकों में जाते हैं तथा वे असुर योनि में जाते हैं ।

(टूटे हुए) जीवन को साधा नहीं जा सकता है । फिर भी अज्ञानी मनुष्य धृष्टता करता है, हिंसा आदि में प्रवृत्त होता है । मुझे वर्तमान से प्रयोजन है, परलोक को देखकर कौन लौटा है । पण्डितमरण का स्वरूप—

३४६. यह अज्ञानियों के अकाम-मरण का प्रतिपादन किया है । अब पण्डितों के सकाम-मरण को मुख से सुनो ।

जैसा मैंने सुना है कि पुण्यशाली संयमी और जितेन्द्रिय पुरुषों का पण्डितमरण होता है जो प्रसन्नता युक्त आघात रहित होता है ।

यह सकाम-मरण न सब भिक्षुओं को और न सभी गृहस्थों को प्राप्त होता है । क्योंकि गृहस्थ विविध प्रकार के आचार वाले होते हैं और भिक्षु भी विषम आचार वाले होते हैं ।

कुछ भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम श्रेष्ठ होता है, और सब गृहस्थों से साधुओं का संयम श्रेष्ठ होता है ।

उन परम पूजनीय, संयमी और जितेन्द्रिय भिक्षुओं के स्वरूप को सुनकर गीतवान और बहुश्रुत भिक्षु मरण काल में भी संश्रस्त नहीं होते ।

मेधावी पुरुष दोनों मरणों का तुलनात्मक चिन्तन करके दयाधर्म एवं क्षमा से उपशान्त आत्मा द्वारा श्रेष्ठतम पण्डित मरण स्वीकार कर प्रसन्न रहे ।

बालमरण और पण्डितमरण का फल—

३४७. कांदर्पी, आश्रमयोगी, किल्बिषिक, मोही तथा आसुरी ये पाँच भावनाएँ दुर्गति की हेतुभूत हैं । मृत्यु के समय ये सम्यक् दर्शन आदि की विराधता करती हैं ।

मिच्छावन्तगणस्ता, सन्निधाणा हु हिंसगा ।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसि पुण कुलहा बोही ॥
सम्भवंतगणस्ता अभियाणा सुक्कलेसमोगाहा ।
इय जे मरन्ति जीवा, सुलहा तेसि भवे बोही ॥
मिच्छावन्तगणस्ता सन्निधाणा क्कहलेसमोगाहा ।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसि पुण कुलहा बोही ॥

जिणवयणे अनुरस्ता, जिणवयणं जे करेन्ति भावेण ।
अमला असंकलिट्टा, ते होन्ति परित्तसंसारी ॥

—उत्त. अ. ३६, गा. २५६-२६०

जिणानुमयं वेदान्त बालमरण—

३४८. जस्स नं भिक्खुस्स एवं भवइ पुट्ठो ललु अहमंसि, नालह-
मंसि सीतफासं अहिंसासेत्तए से वसुमं सव्वसमण्णागतपण्णा-
णेणं अप्पाणेणं केइ अकरणमाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं
सेयं जमेगे विहमाविए ।

तत्थावि तस्स कालपरिधाए, से वि तत्थ विर्यंतिकारए ।

इच्छेतं विमोहायतणं हियं सुहं लभं निस्सेयसं आणुगामियं ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ४, सु. २१५

बालमरण-पसंसा-प्रायश्चित्त सूत्र—

३४९. जे भिक्षु—

१. गिरि-पङ्कणाणि वा,
२. मरु-पङ्कणाणि वा,
३. त्रिगु-पङ्कणाणि वा,
४. तरु-पङ्कणाणि वा,
५. गिरि-पक्ष्ण्डणाणि वा,
६. मरु-पक्ष्ण्डणाणि वा,
७. त्रिगु-पक्ष्ण्डणाणि वा,
८. तरु-पक्ष्ण्डणाणि वा,
९. जल-पवेसाणि वा,
१०. जलण-पवेसाणि वा,
११. जल-पक्ष्ण्डणाणि वा,
१२. जलण-पक्ष्ण्डणाणि वा,
१३. विस-मक्षणाणि वा,
१४. सत्थोपाङ्गणाणि वा,
१५. वसयमरणाणि वा,

मिथ्या-दर्शन में अनुरक्त, निदान सहित और हिंसक दशा में जो मरते हैं उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है ।

सम्यग् दर्शन में अनुरक्त निदान रहित और शुक्ल-लेश्या में प्रवर्तमान होते हुए जो जीव मरते हैं, उनके लिए बोधि सुलभ है ।

मिथ्या दर्शन में रक्त, सनिदान और कृष्ण-लेश्या में प्रवर्तमान होते हुए जो जीव मरते हैं उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है ।

जो जिन-वचन में अनुरक्त हैं तथा जिन वचनों का भाव पूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असंक्लिष्ट होकर अल्प जन्म मरण वाले हो जाते हैं ।

वीतराग सम्मत वेदान्त बालमरण—

३४८. जिस भिक्षु को यह प्रतीत हो कि मैं अनुकूल परीषहों से आक्रान्त हो गया हूँ और मैं इसे सहन करने में समर्थ नहीं हूँ । प्रज्ञावान् संयमी मुनि यदि अन्नक्षय्य रूप अकृत्य के लिए तस्पर हो रहा हो तो उस तपस्वी भिक्षु को यही उचित है कि वह फाँसी लगाना स्वीकार कर ले (किन्तु कुशील सेवन न करे ।)

ऐसा करने में उसका मरण हो सकता है और वह मृत्यु भी मोहकर्म का अन्त करने वाली होती है ।

इस प्रकार यह मोह से मुक्त कराने वाला मरण भिक्षु के लिए हितकर, सुखकर, कर्मक्षय में समर्थ, कल्याणकर तथा परलोक में साथ चलने वाला होता है ।

बालमरण की प्रशंसा के प्रायश्चित्त सूत्र—

३४९. जो भिक्षु—

- (१) पर्वत से दृश्य स्थान पर गिरकर मरना,
- (२) पर्वत से अदृश्य स्थान पर गिरकर मरना ।
- (३) साईं कुए आदि में गिरकर मरना ।
- (४) वृक्ष से गिरकर मरना ।
- (५) पर्वत से दृश्य स्थान पर कूद कर मरना,
- (६) पर्वत से अदृश्य स्थान पर कूद कर मरना ।
- (७) साईं कुए आदि में कूद कर मरना ।
- (८) वृक्ष से कूद कर मरना ।
- (९) जल में प्रवेश करके मरना ।
- (१०) अग्नि में प्रवेश कर के मरना ।
- (११) जल में कूब कर मरना,
- (१२) अग्नि में कूद कर मरना,
- (१३) विष भक्षण करके मरना,
- (१४) तलवार आदि शस्त्र से कटकर मरना,
- (१५) गला मोड़कर मरना,

१६. वसट्ट-मरणाणि वा,
 १७. तम्भव-मरणाणि वा,
 १८. अंतोसल्ल-मरणाणि वा,
 १९. वेहाणस मरणाणि वा,
 २०. गिद्ध पुट्टमरणाणि वा ।

अण्यराणि वा तहप्यगाराणि बाल-मरणाणि पसंसइ पसंसंतं
 वा साइज्जइ ।

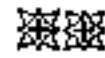
तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वारं अणुघादियं ।

—मि. उ. ११, सु. ६२

- (१६) विरह वृथा से पीड़ित होकर मरना,
 (१७) वर्तमान भव को प्राप्त करने के संकल्प से मरना,
 (१८) तीर भाला आदि से वीथकर मरना,
 (१९) फाँसी लगाकर मरना ।
 (२०) गीध आदि पक्षियों द्वारा शरीर का भक्षण करवाकर मरना ।

इन आत्मघात रूप वालमरणों की तथा अन्य भी इस प्रकार के शालमरणों को प्रशंसा करता है, करवाता है वा करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्घातिक धातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।



७.

अनाचार

अनाचार-निषेध—१

अणायार णिसेहो—

३५०. आदाय संभवेरं च, आमुपण्णे इमं खइं ।
 अस्सि धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥

—सूय. सु. २, अ. ५, गा. १

से ज्ञानमज्ञानं वा, कट्टु आहम्मियं पयं ।
 संखरे त्थियमपणं, बीर्यं तं न समायरे ॥

अणायारं परक्कम, नेव गूहे न निण्हेवे ।
 सूई सया वियडभावे, असंसत्ते जिह्विण्णे ॥

—इस. अ. ८, गा. ३१-३२

मुच्छ्र, अविरति य णिसेहो—

३५१. से भिक्खू सहेहिं अमुच्छ्रिण्णे, रुवेहिं अमुच्छ्रिण्णे, गंधेहिं
 अमुच्छ्रिण्णे, रसेहिं अमुच्छ्रिण्णे, फासेहिं अमुच्छ्रिण्णे, विरे
 कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोभाओ, पेज्जाओ, दोसाओ,
 कलहाओ, अब्भक्खाणाओ, पेसुण्णाओ, परपरिवायातो,
 अरतिरत्तीओ, माथाभोसाओ, मिच्छादंसणसल्लाओ इति से
 महता अवाणातो उवसंत उवद्विते पडिविरते ।

—सूय. सु. २, अ. १, सु. ६८३

अनाचार का निषेध—

३५०. संयम धारण कर कुशाग्र बुद्धि साधक इस अध्ययन में
 कथित धर्मों में कभी भी अनाचार का आचरण न करे ।

ज्ञान या अज्ञान में कोई अधर्म कार्य कर बैठे तो अपनी
 आत्मा को उससे तुरन्त हटा ले, फिर दूसरी बार वह कार्य
 न करे ।

अनाचार का सेवन कर उसे न छिपाए और न अस्वीकार
 करे किन्तु सदा पवित्र, स्पष्ट, अविष्ट और जितेन्द्रिय रहे ।

सूच्छा और अविरति का निषेध—

३५१. जो भिक्षु मनोज्ञ शब्दों, रूपों, गंधों, रसों एवं कोमल
 स्पर्शों में अनासक्त रहता है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग,
 द्वेष, कलह, दोषारोपण, चुगली, परनिन्दा, संयम में अरति,
 असंयम में रति, मायामृषा एवं मिथ्यादर्शन रूप शल्य से विरक्त
 रहता है, इस कारण से वह भिक्षु महान् कर्मों के बन्ध से रहित
 हो जाता है, वह सुसंयम में उद्यत हो जाता है तथा पापों से
 निवृत्त हो जाता है ।



अनाचार परिहार उपदेश—२

भिक्षुस्त विविह अनाचरणीय ठाणाइं—

३५२. १ क्षीयणं २ रघणं खेव, ३ वत्थीकम्म ४ विरेयणं ।
५ वमणं ६ जणं पत्तिमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥

७ गंध-मल्ल-सिणारणं च, १० दंतपक्खालणं तथा ।
११-१२ परिग्गहिथिकम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥

१३ उहंसियं १४ कीयगडं, १५ पामिच्चं खेव १६ आहुडं ।
१७ पूति १८ अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥

१९-२० आसूणिमक्खिरागं च २१ गिद्धव २२. धायकम्मगं ।
२३ उच्छोल्लणं च २४ कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥

२५ संवसारी २६ कयकिरिण् २७ पसिणायतणानि य ।
२८ सागारियपिडं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥

२९ अट्ठापदं ण सिक्खवेज्जा, ३० वेहाईयं च णो यये ।
३१ हत्थकम्मं ३२ विगारं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥

३३ पाणहाओ य ३४ छत्तं च, ३५ णालियं ३६ वासवीयणं ।
३७ परकिरियं ३८ अन्नमन्नं स्स, तं विज्जं परिजाणिया ॥

३९ उच्चार पासवणं हरितेसु ण करे मुणी ।

४० धियडेण वा वि साहट्टु, णायमेज्ज कयाइ वि ॥

४१ परसत्ते अन्नपाणं च, ण मुज्जेज्जा कयाइ वि ।

४२ परवत्थमखेलो वि, तं विज्जं परिजाणिया ॥

भिक्षु के विविध अनाचरणीय स्थान—

३५२. (१) हाथ पैर और वस्त्र आदि धोना, तथा (२) उन्हें रंगना, (३) वस्तिकर्म करना, (४) जुलाब लेना, (५) वमन करना, (६) आँखों में अंजन लगाना इत्यादि संयम को नष्ट करने वाले कार्यों को जानकर विद्वान् साधक इनका त्याग करे ।

(७) शरीर में सुगन्धित पदार्थ लगाना, (८) पुष्पमाला धारण करना, (९) स्नान करना, (१०) दाँतों को धोना, (११) परिग्रह रखना, (१२) स्त्री के साथ मैथुन सेवन करना, इत्यादि को पाप का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका परित्याग करे ।

(१३) औद्देशिक, (१४) क्रीत, (१५) प्रामित्य, (१६) आहुत (१७) पूतिकर्म तथा (१८) अनैषणीय आहार को संसार का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका त्याग करे ।

(१९) शक्तिवर्धक रसायन आदि का सेवन करना, (२०) आँखों में रंग लगाना, (२१) विषयों में आसक्त होना, (२२) प्राणियों का घात करना, (२३) हाथ-पैर आदि धोना, (२४) शरीर पर कल्क आदि से उवटन करना इन सबको कर्मबन्ध के कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका परित्याग करे ।

(२५) गृहस्थ के सांसारिक कार्य करना, (२६) असंयम से किये जाने वाले कार्यों की प्रशंसा करना, (२७) ज्वोतिष सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देना और (२८) सागारिक का आहार ग्रहण करना इन सबको संसार का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका त्याग करे ।

(२९) जुआ आदि खेलना न सीखे, (३०) धर्म के विरुद्ध वचन न बोले (३१) हस्तकर्म न करे, (३२) व्यर्थ का विवाद न करे । इन सबको संसार भ्रमण का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका त्याग करे ।

(३३) जुता पहनना, (३४) छाता लगाना, (३५) जुआ खेलना, (३६) पंखे से हवा करना, (३७) गृहस्थ आदि से पैर दबवाना, (३८) साधुओं का परस्पर शरीर परिकर्म करना इन सबको विद्वान् साधक कर्मबन्ध के कारण जानकर इनका परित्याग करे ।

(३९) मुनि हरी वनस्पति वाले स्थानों में मल-मूत्र-विसर्जन न करे और वहाँ

(४०) अशुद्ध जल से भी कदापि आचमन न करे ।

(४१) गृहस्थ के वर्तन में आहार-पानी न करे ।

(४२) बस्त्र न हो तो भी गृहस्थ का वस्त्र काम में न ले इन सबको कर्मबन्ध का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका परित्याग करे ।

४३ आसंदी ४३ पलियंके य, ४५ गिसिज्जं च गिहंतरे ।
४६ संपुच्छणं च, ४७ सरणं च तं विज्जं परिजाणिया ॥

४८ जसं ४९ किंति, ५० सिलोमं च जा य ५१ वंदण-
५२ पूयणा ।
सम्बलीयंसि जे काना, तं विज्जा परिजाणिया ॥

५३ जेणेहं गिय्वहे भिक्खू, अन्न-पाणं तहाविहं ।
५४ अणुपपाणमन्नेसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥

—सूय. सु. १, अ. ६, गा. १२-२३

५५ जणत्थ अंतराएणं, परमेहे ण गिसीयए ।
५६ गामकुमारियं किद्धं, ५७ नातिवेत्तं हसे मुणी ॥

—सूय. सु. १, अ. ६, गा. २६

छ उन्मादस्थानाहं—

५३. छहि ठाणेहि आया उन्मायं पाउणेज्जा, तं जहा—

१. अरहंतानं अवर्णं वदमाणे ।
२. अरहंतपणत्तस्स धम्मस्स अवर्णं वदमाणे ।
३. आयरिय-उवज्जायाणं अवर्णं वदमाणे ।
४. चाउव्वणस्स संघस्स अवर्णं वदमाणे ।
५. जक्खावेसेण खेव ।
६. मोहनिज्जस्स चैव कम्मस्स उदएणं ।

—ठाणं. अ. ६, सु. ५०१

सामुदाणिय-गवेषणा अकारओ पावसमणो—

३५४. सन्नाइपिणं जेमेइ, नेच्छई सामुदाणियं ।

गिहिनिसेज्जं च वाहेइ, पावसमणे त्ति बुच्चई ।

—उत्त. अ. १७, गा. १६

सच्छंद विहारी पावसमणो—

३५५. जे केइ उ पय्वहए गियंठे, धम्मं सुणिता विणजोव्वन्ते ।

सुबुल्लहं लहिउं बोहिलाभं, विहरेज्ज पच्छा य जहामुहं सु ॥

—उत्त. अ. १७, गा. १

गुरुपरिभावए निच्चं पावसमणे त्ति बुच्चई ।

—उत्त. अ. १७, गा. १०

सुयणाणोवेक्खा—

३५६. सेज्जा वहा पाउरणम्म अरिय,

उप्पज्जई भोत्तुं तहेव पाउं ।

(४३) बैठ आदि की कुर्सी पर बैठना, (४४) पलंग पर बैठना, (४५) गृहस्थ के घर में बैठना, (४६) गृहस्थ का कुशल क्षेम पूछना, (४७) कामक्रीड़ा का स्मरण करना, विद्वान् साधु उन्हें अनर्थकारक समझकर इनका परित्याग करे ।

(४८) समग्रलोक में यश, (४९) कीर्ति, (५०) प्रशंसा, (५१) वंदना और (५२) पूजा-प्रतिष्ठा आदि की जो कामनाएँ होती हैं, विद्वान् मुनि उन्हें संयम के अपकारी समझकर इनका त्याग करे ।

(५३) इस जगत् में जिन पदार्थों से साधु के संयम का निर्वाह हो सके वैसे ही आहार पानी ग्रहण करे । (५४) वह आहार-पानी असंयमी को देना अनर्थकर जानकर तत्त्वज्ञ मुनि नहीं देवे । उसे संयम विधातक जानकर साधु उसका त्याग करे ।

(५५) किसी कारण से विना साधु गृहस्थ के घर में न बैठे, (५६) ग्राम के लड़के-लड़कियों का खेल न खेले एवं (५७) मर्यादा का उल्लंघन करके न हँसे ।

छः उन्माद स्थान—

३५३. छह स्थानों से आत्मा उन्माद को प्राप्त होता है—

- (१) अहंताओं का अवर्णवाद करता हुआ ।
- (२) अहंत-प्रज्ञप्त धर्म का अवर्णवाद करता हुआ ।
- (३) आचार्य तथा उपाध्याय का अवर्णवाद करता हुआ ।
- (४) चतुर्वर्ण संघ का अवर्णवाद करता हुआ ।
- (५) यक्षावेश से ।
- (६) मोहनीय कर्म के उदय से ।

सामुदानिक गवेषणा नहीं करने वाला पाप श्रमण—

३५४. जो ज्ञातिजनों के घरों में ही आहार ग्रहण करता है, सामुदानिकी (सभी कुलों से) गोचरी नहीं लेता है और गृहस्थ की शय्या पर बैठता है वह पाप श्रमण कहलाता है ।

स्वच्छन्द विहारी पाप श्रमण—

३५५. जो कोई निर्बन्ध धर्म को मुनकर दुर्लभतम बोधि-लाभ को प्राप्त कर विनय से युक्त ही प्रव्रजित होता है किन्तु प्रव्रजित होने के पश्चात् स्वच्छन्द-विहारी हो जाता है, वह पाप श्रमण कहलाता है ।

गुरु का तिरस्कार करने वाला पाप श्रमण है ।

श्रुतज्ञान की उपेक्षा—

३५६. गुरु के द्वारा अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होने पर वह कहता है—“मुझे रहने को अच्छा उपाश्रय मिल रहा है, कपड़ा भी मेरे

जाणामि अं बहुह आउसु ! सि,

कि नाम काहामि सुएण भन्ते ॥

—उत्त. अ. १७, गा. २

असंविभागी पावसमणो—

३५७. बहुमाई पनुहरे, पढे सुढे अणिगहे ।

असंविभागी अचियत्ते, पावसमणि सि बुक्कई ॥

—उत्त. अ. १७, गा. ११

आरंभजीविस्स पावासत्ति—

३५८. आरंभती केयावंती तोयंसि आरंभजीवी, एतेसु चैव आरंभ-
जीवी ।

एस्य वि वासे परिपञ्चमाणे रमति पावेहि कम्मेहि, असरणे
सरणं ति सणमाणे —आ. सु. १, अ. ५, उ. १, सु. १५०

अट्टा पया माणव ! कम्मकोविया,

जे अणुवरता अविज्जाए एसिमोक्खमाहु आवट्टमेव अणुपरि-
यट्ठति । —आ. सु. १, अ. ५, उ. १, सु. १५१(ख)

अभिकल्लणं आहारकारणो पावसमणो—

३५९. अत्थं तम्मि य सूरम्मि, आहारेद अभिकल्लणं ।

चोइओ पडिचोएइ, पावसमणे ति बुक्कई ॥

—उत्त. अ. १७, गा. १६

पास हैं, खाने-पीने को भी मिल जाता है । आयुष्मन् ! जो हो
रहा है, उसे भी मैं जानता हूँ । भन्ते ! फिर मैं श्रुत का अध्ययन
करके क्या करूँगा ?”

असंविभागी पापश्रमण—

३५७. जो बहुत कपटी, वा-वाल, अभिमानी, लालची, इन्द्रिय
और मन पर नियन्त्रण न रखने वाला, भक्त-पान आदि का
संविभाज न करने वाला और गुरु आदि से प्रेम न रखने वाला
होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

आरम्भ-जीवी को पापासत्ति—

३५८. इस लोक में जितने भी मनुष्य आरम्भजीवी हैं वे विषयों
की अभिलाषा से हिंसा का आचरण करते हैं ।

अज्ञानी साधक इस असंयमी जीवन में भी विषय पिपासा से
छटपटाता हुआ अक्षरण को ही शरण मानकर पापकर्मों में रमण
करता है । हे मानव ! संसार में अनेक प्राणी विषय-कषायों से
पीड़ित हैं, कर्म-बन्धन करने में चतुर हैं, पापों से विरत नहीं हैं
तथा अविद्या से मोक्ष प्राप्त होना बतलाते हैं, वे संसार के चक्र
में बारम्बार परिश्रमण करते हैं ।

बार-बार आहार करने वाला पापश्रमण—

३५९. जो सूर्य के उदय से लेकर अस्त होने तक बार-बार खाता
रहता है, तथा “ऐसा नहीं करना चाहिए” इस प्रकार कहने
वाले का अनादर करते हुए प्रत्युत्तर देता है, वह पापश्रमण
कहलाता है ।



प्रमाद-निषेध—३

पमाय-णिसेहो—

३६०. बुमपत्तए पण्डुयए जहा, निवडइ राइगण्ण अक्खए ।

एवं मणुयाणं जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

कुसग्गे जह ओसविन्दुए, थोवं चिहुइ लम्भमाणए ।

एवं मणुयाणजीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

इह इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपञ्चवायए ।

विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्त. अ. १०, गा. १-३

प्रमाद निषेध—

३६०. रात्रियाँ बीतने पर बृक्ष का पका हुआ पान जिस प्रकार
गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त
हो जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर,

कुश की तोक पर लटकते हुए ओसबिन्दु की अवधि जैसे
अल्प होती है वैसे ही मनुष्य-जीवन की गति है, इसलिए हे
गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

यह आयुष्य क्षण-भंगुर है, यह जीवन विधियों से भरा हुआ
है, इसलिए हे गौतम ! तू पूर्व-संचित कर्म-रज को दूर कर और
क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

परिजूरह ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से सोयवले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

परिजूरई ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से चणवले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

परिजूरह ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से घाणवले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

परिजूरई ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से जिणवले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

परिजूरह ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से फासवले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

परिजूरह ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से सण्वले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्त. अ. १०, गा. २१-२६

अकलेवरसेणिमुत्तिमा, सिद्धि गोयम ! सोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुसरं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गामगए नगरे च संजए ।
सन्तिमग्गं च बूहए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

बुद्धस्स निसग्गं भासियं, सुकहियमट्ठपओवसोहियं ।
रागं दोसं च छिन्दिया, सिद्धिगइं गए गोयमे ॥

—उत्त. अ. १०, गा. ३५-३७

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स गतिं भयं ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ४, सु. १२६(ख)

इच्चैवं समुद्धिते अहोविहाराए । अंतरं च चत्तु इमं संपेहाए ।
धीरो मुहुत्तमणि गो पमायए । वओ अच्चेति जोव्वर्णं च ।

जीविते इह जे पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंप्पित्ता विलुंप्पित्ता
उट्ठवेत्ता उत्तासयित्ता, अकळं करिस्सामि सि मणमाणे ।

—आ. सु. १, अ. २, उ. १, सु. ६५-६६

असंखयं जीवियं मा पमायए, अरोयणोयस्स हं नत्थि ताणं ।
एव विद्याणाहि जणे पमत्ते, किण्वविहिंसा अजया गहिन्ति ॥

—उत्त. अ. ४, गा. १

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और
श्रोत्रेन्द्रिय का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण
भर भी प्रमाद मत कर ।

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और
चक्षुओं का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण
भर भी प्रमाद मत कर ।

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और
घ्राणेन्द्रिय का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण
भर भी प्रमाद मत कर ।

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और
जिह्वा का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! क्षण भर
भी प्रमाद मत कर ।

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और
स्पर्शेन्द्रिय का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण
भर भी प्रमाद मत कर ।

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और सारे
शरीर का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर
भी प्रमाद मत कर ।

हे गौतम ! तू शैलेषी अवस्था प्राप्त करके निरुपद्रव
कल्याणकारी सर्वोत्तम सिद्ध गति को प्राप्त करेगा अतः हे गौतम !
तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

तू गाँव में या नगर में संघत, बुद्ध और उपशान्त होकर
विचरण कर, शान्ति मार्ग पर बढ़, हे गौतम ! तू क्षण भर भी
प्रमाद मत कर ।

अर्थ और पद से सुशोभित एवं सुकथित भगवान् की वाणी
को सुन कर राग और द्वेष का छेदन कर गौतम स्वामी सिद्ध-
गति को प्राप्त हुए ।

प्रमत्त को भय और से भय होता है, अप्रमत्त को कहीं से
भी भय नहीं होता है ।

इस प्रकार चिन्तन करता हुआ मनुष्य संयम-साधना के
लिए उद्यत हो जाए । इस जीवन को स्वर्णिम अवसर समझकर
धीर पुरुष मुहुर्त मात्र भी प्रमाद न करे । क्योंकि उम्र बीत रही
है, जीवन चला जा रहा है ।

किंतु जो इस जीवन के प्रति आसक्त है, वह हनन, छेदन,
भेदन, चोरी, लूटपाट, उपद्रव और पीड़ित करना आदि प्रवृत्तियों
में लगा रहता है । "जो आज तक किसी ने नहीं किया वह
काम मैं करूँगा" इस प्रकार का मनोरथ करता रहता है ।

जीवन सांघा नहीं जा सकता, इसलिए प्रमाद मत करो ।
बुढ़ापा आने पर कोई रक्षा नहीं करता है । प्रमादी, हिंसक और
अविरत मनुष्य किसकी शरण लेंगे—यह विचार करो ।

उहरा बुद्ध्या य पासहा, गन्मत्था वि चर्यन्ति भाणवा ।
तेणे जह बट्ठये हरे, एवं आउल्लयम्मि तुट्ठती ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. २

देवा गंधर्व-रक्खसा, असुरा भूमिचरा सिरोसिवा ।
राया नर-सेट्ठि-माहणा, ठाणा ते वि चर्यन्ति दुक्खिया ॥

कामेहि य संयवेहि य, गिद्धा कम्मसहा कालेण जंतवो ।
तासे जह बंछणच्चुते, एवं आउल्लयम्मि तुट्ठती ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. ५-६

अरई गण्हं विवुद्धया, आयंका विविहा फुसन्ति ते ।
विहङ्गइ विट्ठंसइ ते सरोरयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्त. अ. १०, गा. २७

अप्रमत्तचरण उदासी—

३६१. सुत्तेसु यावि पडिबुद्ध-भीषी,

न धीससे पण्डए आमु-पन्ने ।

धोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,

भारण्ड-पक्खी व चरेऽपमत्तो ॥

चरे पयाइं परिसंक्रमाणी,

जं किंचि पासं इह मण्णमाणो ।

लासन्तरे जीविय बूहइत्ता,

पच्छा परिभाय मलावधंसी ॥

छग्गं निरोहेण उबेइ मोक्खं,

आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी ।

पुक्खाइं यासाइं चरेऽपमत्तो,

तम्हा मूणी लिप्पमुबेइ मोक्खं ॥

स पुब्बमेव न लभेज्ज पच्छा,

एसोवमा सासय - वाइयाणं ।

वितीमई सिट्ठिले आउयंमि,

कालोवणीए सरीरत्स मेए ॥

त्तिप्पं न सक्केइ विवेगमेऊं,

तम्हा समुद्दाय पहाय कामे ।

समिच्च लोयं समया महेसी,

अण्णाण-रक्खी चरेऽपमत्तो ॥

—उत्त. अ. ४, गा. ६-१०

बालक, बूढ़े और गर्भस्थ मनुष्य भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार बाज बटेर का हरण करता है, उसी प्रकार आयु के क्षीण होने पर मृत्यु जीवन को हरण करती है, जिससे जीवन सूत्र टूट जाता है।

देव, गन्धर्व, राक्षस, असुर, पातालवासी भामकुमार, राजा, जनसाधारण, श्रेष्ठी और ब्राह्मण—ये सभी दुःखपूर्वक अपने-अपने स्थान से च्युत हो जाते हैं।

विषय-भोगों की तृष्णा में तथा माता-पिता, स्त्री, पुत्र, आदि परिचितजनों में आसक्त रहने वाले प्राणी कर्मफल के उदय के समय अपने कर्मों का फल भोगते हुए आयु के टूटने पर ऐसे गिरते हैं, जैसे बन्धन से टूटा हुआ तालफल नीचे गिर जाता है।

पित्त-रोग, फोड़ा-फुन्सी, हैजा और विविध प्रकार के भीष्म-घाती रोग शरीर का स्पर्श करते हैं, जिससे यह शरीर शक्तिहीन होकर नष्ट होता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

अप्रमत्त होकर आचरण करने का उपदेश—

३६१. आशुप्रज्ञ पंडित सोए हुए व्यक्तियों के बीच भी जाग्रत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। मुहुर्व क्रूर है, शरीर निर्बल है; यह विचार करता हुआ भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरण करे।

पग-पग पर संयम के दोषों से भय खाता हुआ, थोड़े से दोष को भी बन्धन रूप मानता हुआ चले। जब तक ज्ञान आदि का लाभ हो तब तक आहार आदि के द्वारा इस शरीर का रक्षण करता रहे। इसके बाद शरीर का अन्त जानकर अनशन के द्वारा कर्म मल को दूर करे।

कवच युक्त सुशिक्षित घोड़े की तरह स्वच्छन्दता का निरोध करने वाला मुनि पूर्वो या वर्षो तक अप्रमत्त होकर विचरण करता है, वह भीष्म ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

जो पूर्व जीवन में अप्रमत्त नहीं होता, वह पिछले जीवन में भी अप्रमत्त नहीं हो सकता। “पिछले जीवन में अप्रमत्त हो जायेंगे” ऐसा निश्चय-वचन शाश्वतवादियों के लिए ही उचित हो सकता है। पूर्व जीवन में प्रमत्त रहने वाला आयु के क्षीयित होने पर, मृत्यु के द्वारा शरीर-भेद के क्षण उपस्थित होने पर विषाद को प्राप्त होता है।

कोई भी मनुष्य विवेक को तत्काल प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए काम-भोगादि विषयों का परित्याग करके संयम में उद्यत होकर लोक के प्राणियों को आत्मा के समान समझकर उनकी तथा आत्मा की रक्षा करता हुआ महर्षि अप्रमत्त होकर विचरण करे।



प्रमाद के प्रकार—४

ॐ कल्पस्त विघ्नकरा ठाणा—

३६२. कल्पस्त छ पलिमंथु पणत्ता, तं जहा—

१. कोक्कुहए संजमस्स पलिमंथू ।
२. मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू ।
३. चक्खुलोलुए ईरियावहियाए पलिमंथू ।
४. तित्तिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू ।
५. इक्कळालोलुए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू ।
६. भिज्जानियाणकरणे भोक्खसग्गस्स पलिमंथू ।

सत्त्वत्थ भगवया अनियाणया पसरथा^१ ।

—कल्प. उ. ६, सु. १६

छविहे पमाए—

३६३. छविहए पमाए पणत्ते, तं जहा—

१. मञ्जपमाए,	२. गिहपमाए,
३. विसयपमाए,	४. कसायपमाए,
५. जूतपमाए,	६. पडिलेहणापमाए ।

—ठाणं. अ. ६, सु. ५०२

दस धम्मघायगा—

३६४. दसविधे उवघाते पणत्ते, तं जहा—

१. उभामोवघाते,
२. उप्पायणोवघाते,
३. एसणोवघाते^२,
४. परिकम्मोवघाते,
५. परिहारणोवघाते^३,

छः कल्प के विघ्न करने वाले स्थान—

३६२. कल्प=साधवाचार के घातक छः प्रकार के कहे गये हैं ।
यथा—

- (१) देखे बिना या प्रमर्जन किये बिना कायिक प्रवृत्ति करना संयम का घातक है ।
- (२) वाचालता-सत्य वचन का घातक है ।
- (३) इधर उधर देवते हुए गमन करना—ईर्यासमिति का घातक है ।
- (४) आहारादि के अलाभ से खिन्न होकर चिदता—एसणा-समिति का घातक है ।
- (५) उपकरण आदि का अति लोभ, अपरिग्रह का घातक है ।
- (६) लोभवश निदान (तप के फल की कामना) करना, मोक्ष मार्ग का घातक है ।

क्योंकि भगवान ने सर्वत्र अनिदानता=निस्पृहता प्रकास्त कही है ।

छः प्रकार के प्रमाद—

३६३. प्रमाद के छह प्रकार हैं, यथा—

(१) मद्यप्रमाद,	(२) निद्राप्रमाद,
(३) विषयप्रमाद,	(४) कषायप्रमाद,
(५) द्यूतप्रमाद,	(६) प्रतिलेखना प्रमाद ।

दस धर्म के घातक—

३६४. उपघात दस प्रकार का कहा गया है । जैसे—

- (१) भिक्षा सम्बन्धी उद्गम दोषों से होने वाला चारित्र का उपघात ।
- (२) भिक्षा सम्बन्धी उत्पादन से होने वाला चारित्र का उपघात ।
- (३) भिक्षा सम्बन्धी एषणा के दोष से होने वाला चारित्र का उपघात ।
- (४) वस्त्र-पात्र आदि के परिकर्म से होने वाला चारित्र का उपघात ।
- (५) अकल्प्य उपकरणों के उपभोग से होने वाला चारित्र का उपघात ।

१ ठाणं अ. ६, सु. ५२६

२ ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. १७८

३ ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४२५

६. नाशोवधाते,
७. वंसोवधाते,
८. चरितोवधाते,

९. अचियसोवधाते,

१०. सारवक्षणोवधाते । — ठाणं. अ. १०, सु. ७३८(१)

दस धम्मविशोधि—

३६५. दसविधं विशोधिं पणत्ता, तं जहा—

१. उग्गमविशोही, २. उत्पायणविशोही,
३. एसणाविशोही,^१ ४. परिकम्मविशोही,
५. परिहरणविशोही,^२ ६. पाणविशोही,
७. वंसणविशोही, ८. चरित्तविशोही,

९. अचियसविशोही,

१०. सारवक्षणविशोही । — ठाणं. अ. १०, सु. ७३८(२)

अट्ठारस पावट्ठाणा—

३६६. अट्ठारस पावट्ठाणा पणत्ता, तं जहा—

१. पाणाद्वयाए, २. मुसाव्वाए, ३. अविष्णाव्वाजे,
४. मेट्ठणे, ५. परिग्गहे, ६. कोहे,
७. साणे, ८. माया, ९. लोमे,
१०. पेज्जे, ११. दोसे, १२. कलहे,
१३. अभयक्खाणे, १४. पेसुण्णे, १५. परपरिवाए,
१६. अरतिरत्ति, १७. मायामोसे १८. मिच्छावंसणसल्ले^३ ।

—वि. स. १, उ. ६, सु. ११

(६) प्रसाद आदि से होने वाला ज्ञान का उपधात ।

(७) शंका आदि से होने वाला दर्शन का उपधात ।

(८) समितियों के यथाविधि पालन न करने से होने वाला चारित्र का उपधात ।

(९) अश्रीति या अविनय से होने वाला विनय गुण का उपधात ।

(१०) शरीर, उपधि आदि में मूर्च्छा रखने से होने वाला परिग्रह महाव्रत का उपधात ।

दश धर्मविशोधि—

३६५. विशोधि दस प्रकार का कहा गया है, यथा—

- (१) उद्गम की विशोधि, (२) उत्पादन की विशोधि ।
(३) एषणा की विशोधि, (४) परिकर्म की विशोधि ।
(५) परिहरण की विशोधि, (६) ज्ञान की विशोधि,
(७) दर्शन की विशोधि, (८) चारित्र की विशोधि,
(९) अश्रीति की विशोधि,

(१०) संरक्षण-विशोधि—संयम के साधनभूत उपकरण रखने से होने वाली विशोधि ।

अठारह प्रकार के पाप स्थान—

३६६. अठारह पापस्थान कहे गये हैं । यथा—

- (१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) बदलादान,
(४) मेषुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध,
(७) मान, (८) माया, (९) लोभ,
(१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह,
(१३) अभ्याख्यान (कलंक), (१४) पैशुन्य (चुगली),
(१५) परपरिवाद (निन्दा), (१६) अरतिरत्ति, (हर्ष शोक)
(१७) मायामृषा, (१८) मिथ्यादर्शनशाल्य ।



ओद्देशिकादि अनाचार—५

ओद्देशियाहं अणायाराहं—

३६७. संजमे सुट्ठिअप्पाणं, विप्पमुक्काण ताडणं ।
तेसिमेयमणाहणं, निग्गंथाण महेसिणं ॥

१ ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. १७८

२ (क) वि. स. २, उ. १, सु. ५०

(ग) वि. स. १७, उ. २, सु. १७

ओद्देशिकादि अनाचार—

३६७. संयम में सुस्थित बाह्याभ्यंतर परिग्रह से मुक्त, छः काय के रक्षक निर्यन्त्र महर्षियों के ये आचरण के अयोग्य स्थान हैं —

२ ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४२५

(ख) वि. स. ७, उ. १०, सु. १६

(घ) वि. स. १८, उ. ४, सु. २

- १ उद्देश्यं २ कोषगर्हं,
३ नियाग ४ म भिह्वाणि यः
५ राहभस्ते ६ सिणाणे य,
७ गंध ८ भस्ते य ९ वीयणे ॥

- १० सध्विही ११ गिहिमत्ते य,
१२ रायपिंडे १३ किमिच्छए ।
१४ संवाहणा १५ वंतपहोयणा य,
१६ संपुच्छणा १७ वेहपलोयणा य ॥

- १८ अट्टावए य १९ नालीए,
२० छत्तस्स य धारणट्टाए ।
२१ तेगिच्छं २२ पाणहा पाए,
२३ समारंभं च जोइणे ॥
२४ सेज्जायरपिंडं च, २५ आसंहीपलियंकए ।
२६ गिहत्तरनिसेज्जा य, २७ गायस्सुववृणाणि य ॥

- २८ गिहिणो वेयावडियं, जा य २९ आजीववत्तिया ।
३० तत्तानिच्चुडभोइत्तं, ३१ आउरस्सरणाणि य ॥

- ३२ मूलए ३३ सिगवेरे य, ३४ उच्छुखंडे अनिच्चुडे ।
३५ कंदे ३६ मूले य ३७ सचित्ते, फले ३८ वीए य आमए ॥
३९ सोवच्चले ४० सिधवे लोणे ४१ रोमासोणे य आमए ।
४२ सामुद्धे ४३ पंसुखारे य ४४ कासालोणे य आमए ॥

- ४५ धूक्कोत्ति ४६ वमणे य ४७ वस्तीकम्म ४८ विरेयणे ।

- ४९ अंजणे ५० वंतवणे^१ य ५१ गायध्मंगविमूत्तणे^२ ॥

(१) निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया, (२) निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया, (३) निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला और (४) निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया आहारादि लेना, (५) रात्रि भोजन करना, (६) स्नान करना, (७) सुगन्धित पदार्थ संधान, (८) पुष्पादि की माला पहनना, (९) पंखा आदि से हवा करना ।

(१०) खाद्य वस्तुओं का संग्रह करना, (११) गृहस्थ के पात्र में भोजन करना, (१२) मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना, (१३) "तुम्हें क्या चाहिये", यों पूछकर दिया जाने वाला आहारादि लेना, (१४) हाथ पैर आदि दबाना, (१५) दांतों का प्रक्षालन करना, (१६) गृहस्थ का कुशल क्षेम पूछना, (१७) दर्पण आदि में मुख देखना ।

(१८) शतरंज खेलना, (१९) नलिका से पासा डाल कर जुआ खेलना, (२०) छत्र धारण करना, (२१) गृहस्थ की चिकित्सा करना, (२२) पैरों में जूते पहनना, (२३) अग्नि जलाना ।

(२४) शय्यातरपिण्ड ग्रहण करना, (२५) बेंत आदि की कुर्सी पर बैठना, पलंग पर बैठना, (२६) गृहस्थ के घर में बैठना, (२७) शरीर पर उन्नतन करना ।

(२८) गृहस्थ की सेवा करना, (२९) जाति कुल आदि बता कर भिक्षा प्राप्त करना, (३०) अर्द्ध-पक्व-मिथ पदार्थों का उपभोग करना, (३१) क्षुधा आदि से पीड़ित होकर भुक्त भोगों का स्मरण करना ।

(३२) सचित्त मूला, (३३) अदरक, (३४) इक्षुखंड, (३५) कंद, (३६) मूल, (३७) फल, (३८) बीज आदि ग्रहण करना ।

(३९) सचित्त सौवर्चल नमक, (४०) सैन्धव नमक, (४१) रोम नमक, (४२) समुद्र-नमक, (४३) पृथ्वी खार, (४४) काला लवण आदि ग्रहण करना ।

(४५) वस्त्रादि को धूप आदि से सुगन्धित करना, (४६) अकारण औषध द्वारा वमन करना, (४७) वस्तिकर्म करना, (४८) औषध द्वारा विरेचन करना ।

(४९) आँखों में अंजन आजना, (५०) दांतों को दंतौन से घिसना व मस्ती लगाना, (५१) शरीर की तेल आदि से मालिश करना, (५२) शरीर को विभूषित करना ।

१ सूय. सु. २, अ. १, सु. ६८१

२ आगमों में श्रमण वर्ग के आचारों एवं अनाचारों का अनेक जगह प्ररूपण है । कहीं संख्या का निर्देश है और कहीं नहीं है । स्थानांग में दम यति धर्म, आचारांग धृतस्कन्ध २ अ. १५ में और प्रश्नव्याकरण के पाँचवें संवर द्वार में पाँच महाव्रतों की पचवीस भावनाएँ, दशवैकालिक अ. ६ में और समवायांग में अठारह स्थान इस प्रकार संख्या निर्देश पूर्वक आचारों का आगमों में अनेक जगह प्ररूपण है ।

सर्वमेयमणाहुणं निगंधाण महेसिणं ।
संजमम्मि य जुत्ताणं सहभूयविहारिणं ॥

—दस. अ. ३, गा. १-१०

जो संयम में लीन और वायु की तरह मुक्त विहारी महर्षि
निर्यन्त्र हैं उनके ये सब अनाचीर्ण हैं ।



शबल दोष—६

एगवीस सबला—

३६८. एगवीसं सबला पणत्ता, तं जहा—

१. हस्तकर्म करेमाणे सबले ।
२. भेटुणं पडिसेवमाणे सबले ।
३. राइ-भोजणं भुंजमाणे सबले ।
४. आहाकम्मं भुंजमाणे सबले ।
५. राजपिडं भुंजमाणे सबले ।
६. उद्देसियं वा कीधं वा, पामिच्चं वा, आच्छिज्जं वा,
अणिसिट्ठं वा, अविहं आहट्ठं विज्जमाणं वा भुंजमाणे
सबले ।
७. अभिक्खणं-अभिवक्खणं पडियाइक्खिताणं भुंजमाणे सबले ।
८. अंतो छह मासाणं गणाओ गणं संकममाणे सबले ।
९. अंतो मासस्स तओ दशलेखे करेमाणे सबले ।
१०. अंतो मासस्स तओ माहट्ठणे करेमाणे सबले ।
११. मागारियपिडं भुंजमाणे सबले ।

इक्कीस शबल दोष—

३६८. इक्कीस शबल दोष इस प्रकार कहे गये हैं । यथा—

- (१) हस्तकर्म करने वाला शबल दोष-युक्त है ।
- (२) मैथुन सेवन करने वाला शबल दोष-युक्त है ।
- (३) राजि भोजन करने वाला शबल दोष-युक्त है ।
- (४) आधाकर्मिक आहार खाने वाला शबल दोष-युक्त है ।
- (५) राजपिड को खाने वाला शबल दोष-युक्त है ।
- (६) साधु के उद्देश्य से निमित्त, साधु के लिए मूल्य से
खरीदा हुआ, उधार लाया हुआ, निर्बल से छीनकर लाया हुआ,
बिना आज्ञा के लाया हुआ या साधु के स्थान पर लाकर दिये
हुए आहार को खाने वाला शबल दोषयुक्त है ।
- (७) पुनः पुनः प्रत्याख्यान करके आहारादि भोगने वाला
शबल दोष युक्त है ।
- (८) छह मास के भीतर ही एक गण से दूसरे गण में जाने
वाला शबल दोष युक्त है ।
- (९) एक मास में तीन बार उदक लेप (जल-संस्पर्श) करने
वाला शबल दोषयुक्त है ।
- (१०) एक मास के भीतर तीन बार भाया करने वाला
शबल दोष युक्त है ।
- (११) शय्यावर का आहारादि खाने वाला शबल दोष
युक्त है ।

(शेष टिप्पण पिछले पृष्ठ का)

बीस असमाधिस्थानों का, तीस महा मोहनीय कर्म बन्ध का, इक्कीस शबल दोषों का दशाश्रुतस्कन्ध और समवायांग में कथन
है । इस प्रकार संख्या निर्देश पूर्वक अनाचारों का आगमों में अनेक जगह प्ररूपण है ।
किन्तु दशवैकालिक अ. ३ में उक्त अनाचारों के साथ संख्या का निर्देश नहीं है फिर भी इनके साथ ५२ की संख्या जोड़ दी गई
है, यह उचित नहीं है । क्यों कि जहाँ पाठ में संख्या का कथन न हो वहाँ अल्प या अधिक संख्या का प्ररूपण भ्रामक होता है ।
यदि अनाचारों की संख्या निश्चित होती तो दशवैकालिक के टीकाकार या चूर्णीकार आदि व्याख्याकार संख्या का उल्लेख
अवश्य करते । अथवा अन्य समवायांग आदि आगमों में भी कहीं न कहीं ५२ की संख्या का उल्लेख मिलता ।
किन्तु अनाचारों की निश्चित संख्या का कथन किसी भी आगम या उसके व्याख्याग्रन्थों में नहीं मिलता है ।
अतः साधु के अनाचार ५२ ही नहीं समझ लेना चाहिये किन्तु आगमों में जहाँ भी जितने भी निश्चित कार्य हैं वे सभी साधु के
लिए अनाचरणीय है जिनकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती ।

१२. आउट्टियाए पाणाइवायं करेमाणे सबले ।

१३. आउट्टियाए मुसावायं वदमाणे सबले ।

१४. आउट्टियाए अदिण्णावायं गिण्हमाणे सबले ।

१५. आउट्टियाए अणंतरहियाए पुढवीए ठाणं वा, सेण्जं वा, निसीहियं वा, चेएमाणे सबले ।

१६. आउट्टियाए सांसणिक्काए पुढवीए, ससरक्खाए पुढवीए ठाणं वा, सेण्जं वा, निसीहियं वा, चेएमाणे सबले ।

१७. आउट्टियाए चित्तमंताए सिलाए, चित्तमंताए सेलुए, कोलावासंसि वा वासए जीवपइट्टिए, सअंके-जाव-मक्कडा-संताणए, ठाणं वा, सेण्जं वा, निसीहियं वा चेएमाणे सबले ।

१८. आउट्टियाए मूलभोयणं वा, कंव-भोयणं वा, खंध-भोयणं वा, तथा भोयणं वा, पवाल-भोयणं वा, पत्तभोयणं वा, पुष्क-भोयणं वा, फल-भोयणं वा, वीय-भोयणं वा, हरिय-भोयणं वा भुंजमाणे सबले ।

१९. अंतो संबच्छरस्स वस दगलेवे करेमाणे सबले ।

२०. अंतो संबच्छरस्स वस माहट्ठाणाई करेमाणे सबले ।

२१. आउट्टियाए सीसोवय-वग्घारिय-हत्थेण वा, मत्तेण वा, इक्खीए वा, मायजेव वा, असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिगाहिता भुंजमाणे सबले ।^१

—दसा. द. २, सु. २

(१२) जान-बूझ कर जीवों की हिंसा करने वाला शबल दोष युक्त है ।

(१३) जान-बूझ कर असत्य बोलने वाला शबल दोषयुक्त है ।

(१४) जान-बूझ कर अदत्त वस्तु को ग्रहण करने वाला शबल दोष युक्त है ।

(१५) जान-बूझ कर सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर कायोत्सर्ग शयन एवं स्वाध्याय आदि करने वाला शबल दोष युक्त है ।

(१६) जान-बूझ कर सस्निग्ध पृथ्वी पर और सचित्त रज से युक्त पृथ्वी पर कायोत्सर्ग, शयन एवं स्वाध्याय आदि करने वाला शबल दोष युक्त है ।

(१७) जान-बूझ कर सचित्त शिला पर, सचित्त पत्थर के ढेले पर, घुन लगे हुए या दीमक लगे हुए जीव-युक्त काष्ठ तथा अण्डे-युक्त—यावत्—मकड़ी के जालों से युक्त स्थान पर कायोत्सर्ग शयन एवं स्वाध्याय आदि करने वाला शबल दोष युक्त है ।

(१८) जान-बूझ कर के मूल, कन्द, स्कन्ध, छान, कोपल, पत्र, पुष्प, फल, बीज और हरी वनस्पति का भोजन करने वाला शबल दोष युक्त है ।

(१९) एक वर्ष के भीतर दश बार उदक-लेप लगाने वाला शबल दोष युक्त है ।

(२०) एक वर्ष के भीतर दश बार मायास्थान सेवन करने वाला शबल दोष युक्त है ।

(२१) जान-बूझ कर शीतल सचित्त जल से गीले हाथ, पात्र, चम्मच या भाजन से, अणन, पान, खादिम और स्वादिम को लेकर खाने वाला शबल दोष युक्त है ।



१ (क) सम. सम. २१, सु. १

(ख) समवायांग में राजपिंड पंचिवां है और सामारिय पिंड ११ वां है । दशाश्रुतस्कन्ध में सामारिय पिंड पंचिवां है और राजपिंड ११ वां है । समवायांग में १७वें सबल दोष में “चित्तमंताए पुढवीए” पाठ अधिक है ।

असमाधि-स्थान—७

वीस असमाहिठाना—

३६६. बीस असमाहिठाना एणत्ता, तं जहा—

१. दवदवचारो यावि भवइ,
२. अप्पमज्झियचारो यावि भवइ ।
३. दुप्पमज्झियचारो यावि भवइ ।
४. अतिरिक्त-सैज्जासणिए यावि भवइ ।
५. रातिणिअ-परिभासी यावि भवइ ।
६. येरोवघाइए यावि भवइ ।
७. भूओवघाइए यावि भवइ ।
८. सैजलणे यावि भवइ ।
९. कोहणे यावि भवइ ।
१०. विट्ठिसिए यावि भवइ ।
११. अभिक्खणं-अभिक्खणं ओहारइत्ता भवइ ।
१२. णवाणं अहिगरणाणं अणुप्पणाणं उप्पाइत्ता भवइ ।
१३. पोरणाणं अहिगरणाणं खामिअ-विउसविअणं पुरे-उदीरेत्ता भवइ ।
१४. अकाले सज्जायकारए यावि भवइ ।
१५. ससरक्ख-पाणि-पाए यावि भवइ ।
१६. सइकरे यावि भवइ ।
१७. झंझकरे (भेदकरे) यावि भवइ ।
१८. कसहकरे यावि भवइ ।
१९. सूरप्पमाण-ओई यावि भवइ ।
२०. एणत्ताए असमाहिए यावि भवइ ।^१

—दसा. द. १, सु. ३-४

बीस असमाधि स्थान—

३६६. बीस असमाधि स्थान इस प्रकार कहे हैं । जैसे—

- (१) अतिशीघ्र चलना ।
- (२) प्रमार्जन करे बिना (अन्धकार में) चलना ।
- (३) उपेक्षा भाव से प्रमार्जन करना ।
- (४) अतिरिक्त शय्या-आसन रखना ।
- (५) रत्नाधिक के सामने परिभाषण करना ।
- (६) स्थविरों का उपघात करना ।
- (७) पृथ्वी आदि का घात करना ।
- (८) क्रोध भाव में जलना ।
- (९) क्रोध करना ।
- (१०) पीठ पीछे निन्दा करना ।
- (११) बार-बार निश्चयात्मक भाषा बोलना ।
- (१२) नवीन अनुत्पन्न कलहों को उत्पन्न करना ।
- (१३) क्षमापना इत्यादि उनका तत्पुनः क्लेश को फिर से उभारना ।
- (१४) अकाल में स्वाध्याय करना ।
- (१५) सचित्तरज से युक्त हाथ पाँव आदि का प्रमार्जन न करना ।
- (१६) अनावश्यक बोलना या वाक् युद्ध करना (जोर-शोर से बोलना) ।
- (१७) संघ में भेद उत्पन्न करने वाला वचन बोलना ।
- (१८) कलह करना झगड़ा करना ।
- (१९) सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक कुछ न कुछ खाते रहना ।
- (२०) एषणा समिति से असमित होना अर्थात् (अनेकणीय भक्त-पानादि ग्रहण करना ।)



मोहनीय स्थान—८

तीस महा-मोहणिज्ज-ठानाई—

३७०. "अज्जो !" त्ति सम्मो भगवं महावीरे बह्वे निगंथा य निगंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—

तीस महामोहनीय स्थान—

३७०. धमण भगवान् महावीर ने सभी निग्रंथ-निग्रंथियों को आमन्त्रित कर इस प्रकार कहा—

“एवं खसु अज्जो ! तीसं मोहणिज्ज-ठाणाइं जाइं इमाइं
इत्थी वा पुरिसो वा अभिक्खणं-अभिक्खणं आयारेमाणे वा,
समायारेमाणे वा मोहणिज्जत्ताए कम्मं पकरेइ” तं जहा—

१. जे केइ तसे पाणे, धारिमक्खे विगाहिआ ।

उवएणाऽकम्म मारेइ, महामोहं पकुवइ ॥

२. पाणिणा संपिहिताणे, सोयमावारिय पाणिणं ।

अंतो नवंतं मारेइ, महामोहं पकुवइ ॥

३. जायतेयं समारब्भ, बहं ओरुम्मिया जणं ।

अंतो धूमेणं मारेइ, महामोहं पकुवइ ॥

४. सीसम्मि जो पह्णइ, उत्तमंगम्मि चेयसा ।

विभज्ज मत्थमं काले, महामोहं पकुवइ ॥

५. सीसं वेडेण जे केइ, आवेडेइ अभिक्खणं ।

तिव्वामुध - समायारे, महामोहं पकुवइ ॥

६. पुणो-पुणो पणिहिए, हणिता उवहसे जणं ।

फलेण अबुध वंघेण, महामोहं पकुवइ ॥

७. गूढायारी निगूहिआ, मायं मायाए छायाए ।

असक्खवाईं शिवाइ, महामोहं पकुवइ ॥

८. धंसेइ जो अमूएणं, अकम्मं असकम्मुणा ।

अबुवा तुमकासित्ति, महामोहं पकुवइ ॥

९. जाणमाणो परिसाए, सक्खामोसाणि भासाए ।

अक्खीणं भंजे-पुरिसे, महामोहं पकुवइ ॥

१०. अणायगस्स नयवं, द्वारे तस्सेव धंसिथा ।

विज्जत्तं विक्खोमइत्ताणं, किञ्चा णं पडिबाहिरं ॥

उवगसंतं पि, धंसित्ता, पडित्तोभाहिं वगुहि ।

भोग-भोगे विपारेइ, महामोहं पकुवइ ॥

११. अकुमारभूए जे केइ, “कुमार-भूए सि हं” वए ॥

इत्थी - धिसय - सेवी य, महामोहं पकुवइ ॥

१२. अबंभयारी जे केइ, “बंभयारी सि हं” वए ।

गहहेव्व गवां मक्खे, विस्सरं नयइ नवं ॥

“हे आर्यों ! जो स्त्री या पुरुष इन तीस मोहनीय स्थानों का सामान्य या विशेष रूप से पुनः पुनः आचरण करते हैं वे मोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं ।” वे इस प्रकार हैं—

(१) जो कोई व्रत प्राणियों को जल में डुबोकर या प्रचण्ड वेग वाली तीव्र जलधारा डालकर उन्हें मारता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(२) जो प्राणियों के मुँह, नाक आदि श्वास लेने के द्वारों को हाथ आदि से अवरुद्ध कर अव्यक्त शब्द करते हुए प्राणियों को मारता है वह महामोहनीय कर्म बांधता है ।

(३) जो अनेक प्राणियों को एक धर में घेर कर अग्नि के ध्रुव से उन्हें मारता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(४) जो किसी प्राणी के उत्तमांग-शिर पर शस्त्र से प्रहार कर उसका भेदन करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(५) जो तीव्र अशुभ परिणामों से किसी प्राणी के शिर को गीले चर्म के अनेक वेस्टनों से वेष्टित करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(६) जो किसी प्राणी को धोखा देकर के भाले से या डंडे से मारकर हँसता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(७) जो गूढ़ आचरणों से अपने मायाचार को छिपाता है, असत्य बोलता है और सूत्रों के मथार्थ अर्थों को छिपाता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(८) जो निर्दोष व्यक्ति पर मिथ्या आक्षेप करता है, अपने दुष्कर्मों का उस पर आरोपण करता है अथवा तूने ही ऐसा कार्य किया है इस प्रकार दोषारोपण करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(९) जो कलहशील है और भरी सभा में जान-बूझकर मिश्र भाषा बोलता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(१०) जो कूटनीतिज्ञ मंत्री राजा के हितचिन्तकों को धरमाकर या अन्य किसी बहाने से राजा को राज्य से बाहर भेजकर राज्य लक्ष्मी का उपभोग करता है, रानियों का शील खण्डित करता है और विरोध करने वाले सामन्तों का तिरस्कार करके उनके भोग्य पदार्थों का विनाश करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(११) जो बालब्रह्मचारी नहीं होते हुए भी अपने आपको बालब्रह्मचारी कहता है और स्त्री विषयक भोगों में मग्न होता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(१२) जो ब्रह्मचारी नहीं होते हुए भी “मैं ब्रह्मचारी हूँ” इस प्रकार कहता है वह मानों गायों के बीच गधे के समान

अप्यणो अहिं बाले, मायामोहं बहू मसे ।
इत्थो-विसय-गेही य, महामोहं पकुब्ध ॥

१३. अं निस्सिए उब्बहइ, जस्साहिग्गेण वा ।
तस्स सुवमइ विसम्मि, महामोहं पकुब्ध ॥

१४. ईसरेण अबुवा गामेणं, अणोसरे ईसरीकए ।
तस्स संपय-हीणस्स, सिरी अनुत्तमागया ॥
ईसा-वोसैण आविठ्ठे, कलुसाविल - धेयसे ।
जे अंतरायं चेएइ, महामोहं पकुब्ध ॥

१५. सप्पी अहा अंबज्जं, मत्तारं जो विहिंसइ ।
सेनावइ पसरथारं, महामोहं पकुब्ध ॥

१६. जे नायगं च शट्ठस्स नेथारं निगमस्स वा ।
सेट्ठि बहुरवं हंता, महामोहं पकुब्ध ॥

१७. बहुजणस्स भोयारं, दीवत्ताणं च पाणिणं ।
एयारिसं नरं हंता, महामोहं पकुब्ध ॥

१८. उअट्ठियं पडिविरयं, संजयं सुत्तवस्सियं ।
विज्जकम्म धम्माओ असेइ, महामोहं पकुब्ध ॥

१९. तहेवाणंत - गाणोणं, जिणाणं वरवंसिणं ।
तेसि अवण्णं बाले, महामोहं पकुब्ध ॥

२०. नेयाइजस्स मगस्स, बुट्ठे अवयरइ बहू ।
तं तिप्पयन्तो भावेइ, महामोहं पकुब्ध ॥

२१. आवरिय-उज्जसाएहि, सुयं विणयं च गहिं ।
ते चेव विसइ बाले, महामोहं पकुब्ध ॥

२२. आवरिय-उज्जसायाणं, सम्मं तो पडितप्पइ ।
अपडिप्पयए थड्ठे, महामोहं पकुब्ध ॥

२३. अबहुस्सुए य जे केई, सुएणं पडिकत्थइ ।
सज्जाय - वायं वयइ, महामोहं पकुब्ध ॥

बेसुरा बकता है और अपनी आत्मा का अहित करने वाला वह मूर्ख माया युक्त झूठ बोलकर स्त्रियों में आसक्त रहता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(१३) जो जिसका आश्रय पाकर आजीविका कर रहा है और जिसकी सेवा करके समृद्ध हुआ है उसी के धन का अपहरण करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(१४) जो किसी स्वामी का या ग्रामवासियों का आश्रय पाकर उच्च स्थान को प्राप्त करता है और जिनकी सहायता से सर्व साधन सम्पन्न होता है यदि ईर्ष्या युक्त एवं कलुषित चित्त होकर उन आश्रयदाताओं के लाभ में वह अन्तराय उत्पन्न करता है तो महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(१५) सपिणी जिस प्रकार अपने ही अण्डों को खा जाती है उसी प्रकार जो पालन कर्ता, सेनापति तथा कलाचार्य या धर्माचार्य को मार देता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(१६) जो राष्ट्रायक को, निगम के नेता को तथा लोकप्रिय श्रेष्ठी को मार देता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(१७) जो अनेक जनों के नेता को तथा समुद्र में द्वीप के समान अनाथ जनों के रक्षक को मार देता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(१८) जो पापों से विरत दीक्षार्थी को और तपस्वी साधु को धर्म से भ्रष्ट करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(१९) जो अज्ञानी अनन्त ज्ञान-दर्शन सम्पन्न जिनेन्द्र देव का अवर्णवाद निन्दा करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(२०) जो बुद्धात्मा अनेक भव्य जीवों को भ्राम्य मार्ग से भ्रष्ट करता है और न्यायमार्ग की द्वेषपूर्वक निन्दा करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(२१) जिन आचार्यों या उपाध्यायों से श्रुत और आचार ग्रहण किया है उनकी ही जो अवहेलना करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(२२) जो व्यक्ति आचार्य उपाध्याय की सम्यक् प्रकार से सेवा नहीं करता है तथा उनका आदर सत्कार नहीं करता है और अभिमान करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(२३) जो बहुश्रुत नहीं होते हुए भी अपने आपको बहुश्रुत, स्वाध्यायी और शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता कहता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२४. अतवस्सीए जे केह तखेण पविकरखइ ।
सम्बलौय - परे तेनो, महामोहं पकुखइ ॥

२५. साहारणट्टा जे केह, गिलाभम्मि उवट्टिए ।
पप्पु न कुणइ किक्खं, मज्झांपि से न कुणइ ॥
सबे भियडी - पण्णाणो, कलुसाउल - बेयसे ।
अण्णो य अ बोहीए, महामोहं पकुखइ ॥

२६. जे कहाहिगरणाइ, संपडंजे पुणो-पुणो ।
सब्ब तित्थाण- भेयाए, महामोहं पकुखइ ॥

२७. जे य आहम्मिए कोए, संपडंजे पुणो-पुणो ।
सहा-हेउं सही-हेउं, महामोहं पकुखइ ॥

२८. अ य पामुस्सए पाए, अकुडं पत्तोइए ।
सेसिप्पयंतो आसयइ, महामोहं पकुखइ ॥

२९. इइडी जुई अतो वण्णो, वेवार्णं बलवीरियं ।
सेसि अवण्णव भासे, महामोहं पकुखइ ॥

३०. अपस्समाणो पस्सामि, देवे जवखे य पुज्जते ।
अण्णाणी जिण-पूयणी, महामोहं पकुखइ ॥

एते मोहपुणा बुत्ता, कम्मंता चित्त-बड्ढणा ।
जे उ भिक्खू विषउवेज्जा, चरिज्जसगवेसए ॥

जं पि जाणे इतो पुब्बं, किक्खाकिक्खं बहु जडं ।
तं वंता ताणि सेविज्जा, जेहि आचारवं सिपा ॥

आयार-मुत्ती सुडप्पा, घम्मे ठिक्का अणुत्तरे ।
ततो एमे सए बोसे, विसमासीविसो जहा ॥

सुचस्त-बोसे सुडप्पा, घम्मही विदितायरे ।
इहेव लमते कित्ति, वेवणा य सुगति बरे ॥

(२४) जो तपस्वी नहीं होते हुए भी अपने आपको तपस्वी कहता है वह इस विश्व में सबसे बड़ा चोर है, अतः वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(२५) जो समर्थ होते हुए भी रोगी की सेवा का महान् कार्य नहीं करता है अपितु 'भिरी इसने सेवा नहीं की है अतः मैं भी इसकी सेवा क्यों करूँ' इस प्रकार कहता है वह महामूर्ख मायावी एवं मिथ्यात्वी कलुषित चित्त होकर अपनी आत्मा का अहित करता है ऐसा व्यक्ति महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(२६) त्रुविध संघ में मतभेद पैदा करने के लिए जो कलह के अनेक प्रसंग उपस्थित करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(२७) जो श्लाघा या मिश्रगण के लिए अधार्मिक योग करके चषीकरणादि का बार-बार प्रयोग करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(२८) जो मानुषिक और देवी भोगों की तृप्ति से उनकी बार-बार अभिलाषा करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(२९) जो व्यक्ति देवों की ऋद्धि, वृत्ति, यश, वर्ण और बल-वीर्य का अवर्णवाद बोलता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

(३०) जो अज्ञानी जिनदेव की पूजा के समान अपनी पूजा का इच्छुक होकर देव, यक्ष और असुरों को नहीं देखता हुआ भी कहता है कि 'मैं इन सबको देखता हूँ' वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

ये मोह से उत्पन्न होने वाले, अशुभ कर्म का फल देने वाले, चित्त की मलीनता को बढ़ाने वाले दोष कहे गये हैं अतः भिक्षु इनका आचरण न करे किन्तु आरम-गवेषी होकर विचरे ।

भिक्षु पूर्व में किये हुए अपने कृत्याकृत्यों को जानकर उनका पूर्ण रूप से परित्याग करे और उन संयम स्थानों का सेवन करे जिनसे कि वह आचारवान् बने ।

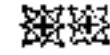
जो भिक्षु पंचाचार के पालन से सुरक्षित है, शुद्धात्मा है और अनुत्तर धर्म में स्थित है, वह अपने दोषों को त्याग दे जिस प्रकार आशीविष-सर्प विष का वमन कर देता है ।

इस प्रकार दोषों को त्याग कर शुद्धात्मा धर्माधी भिक्षु मोक्ष के स्वरूप को जानकर इस लोक में कीर्ति प्राप्त करता है और परलोक में वह सुगति को प्राप्त होता है ।

एवं अभिसमागम्य सूर्यं बद्धं परवक्त्रम् ।
सर्व-मोह-विनिर्मुक्तम्, जाह्नव-मरणमतिच्छिद्यम् ॥

—दसा. द. ६, भा. १-३६

जो बृह पराक्रमी, शूरवीर भिक्षु सभी स्थानों को जानकर
उन मोहबन्ध के कारणों का त्याग करता है वह जन्म-मरण का
अतिक्रमण कर देता है, अर्थात् संसार से मुक्त हो जाता है ।



क्रियास्थान—६

तेरस किरिया ठाणा—

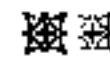
३७१. तेरस किरिया ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

१. अट्ठावंधे,
२. अणट्ठावंधे,
३. हिंसावंधे,
४. अकम्हावंधे,
५. विट्ठिविण्णरिआसिआवंधे,
६. मुसावायवत्तिए,
७. अविण्णावाणवत्तिए,
८. अण्णवत्तिए,
९. भाणवत्तिए,
१०. भित्तवोसवत्तिए,
११. मायावत्तिए,
१२. लोभवत्तिए,
१३. ईरियावत्तिए, नाम तेरसमे ।^१—सम. सम. १३, सु. १

तेरह क्रियास्थान—

३७१. तेरह क्रियास्थान कहे गये हैं । जैसे—

- (१) सप्रयोजन हिंसा ।
- (२) निष्प्रयोजन हिंसा ।
- (३) संकल्प युक्त हिंसा ।
- (४) अज्ञानक होने वाली हिंसा ।
- (५) मतिभ्रम से होने वाली हिंसा ।
- (६) मृषावाद के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
- (७) अदत्तादान के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
- (८) बाह्य निमित्त के बिना स्वतः मन से उत्पन्न होने वाली क्रिया ।
- (९) अभिमान के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
- (१०) मित्र के प्रति अप्रिय भाव के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
- (११) माया के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
- (१२) लोभ के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
- (१३) कषाय रहित योगों के निमित्त से होने वाली क्रिया ।



१ (क) सम. स. ३०, सु. १

(ख) दशाश्रुतस्कन्ध और समवायांग सूत्र में समान वर्णन है किन्तु दूसरे स्थान से पाँचवें स्थान तक चार स्थानों के क्रम में अन्तर है, जो लिपि दोषजन्य सम्भव है ।

यह अन्तर इस प्रकार है—

	समवायांग में		दशाश्रुतस्कन्ध में
(१) श्वास रोक कर मारना	— तीसरा है	—	दूसरा है ।
(२) धुँए आदि से मारना,	— चौथा है	—	तीसरा है ।
(३) मस्तक का भेदन करके मारना	— पाँचवाँ है	—	चौथा है ।
(४) मस्तक पर गीला चमड़ा बाँधकर मारना	— दूसरा है	—	पाँचवाँ है ।

शेष सभी का क्रम समान है ।

२ सूत्र. सु. २, अ. २, सु. १

निमित्त कथन—१०

अष्टविहा महानिमित्ता—

३७२. अष्टविहे महानिमित्ते पणसे, तं जह्व—

१. भौमे, २. उत्पाते, ३. सुविणे,
४. अंतलिक्खे, ५. अंगे, ६. सरे
७. लक्षणं, ८. वंजणे ।^१ —उत्त. अ. ८, सु. ६०८

निमित्त वागरण निसेहो—

३७३. जे लक्षणं सुविणं पडंजमाणे, निमित्ते कोऊहस संपगाढे ।
कुहेड विज्जा-सवदारजीवी, न गच्छई सरणं तम्मि काले ।

—उत्त. अ. २१, गा. ४५

जे लक्षणं च सुविणं च, अंगस्फुरणं च जे पडंजंति ।

न ह ते समणा बुच्छंति, एवं आयरिएहि अक्खायं ॥

—उत्त. अ. ८, गा. १३

छिन्नं सरं भौमं अंतलिक्खं, सुविणं लक्षण-वंड-वरवुविज्जं ।

अंगविद्यारं सरस्स विजयं, जे विज्जाहि न जीवई स भिक्खू ॥

—उत्त. अ. १५, गा. ७

नक्खसं सुविणं जोगं, निमित्त मंत भेसजं ।

गिहिणो सं न आइक्खे, भूयाहिगरणं पयं ॥

—उत्त. अ. ८, गा. ५१

निमित्त प्यओगी पावसमणे—

३७४. सयं गेहं परिचरुज्ज, परगेहंसि जायहे ।

निमित्तेण य ववहरई, पावसमणे सि बुच्छई ॥

—उत्त. अ. १७, गा. १८

आठ प्रकार के महानिमित्त -

३७२. महानिमित्त आठ प्रकार के होते हैं । यथा—

- (१) भौम, (२) उत्पात (उपद्रव), (३) स्वप्न,
(४) अन्तरिक्ष, (५) अंग,
(६) लक्षण, (७) ध्वंजन (तिल, मसा आदि)

निमित्त कथन निषेध—

३७३. जो लक्षणशास्त्र और स्वप्नशास्त्र का प्रयोग करता है, जो निमित्तशास्त्र और कौतुक-कार्य में लगा रहता है, मिथ्या आश्चर्य उत्पन्न करने वाली आश्वय युक्त विद्याओं से आजीविका करता है, वह मरण के समय किसी की शरण नहीं पा सकता ।

जो साधक लक्षणशास्त्र, स्वप्नशास्त्र एवं अंगविद्या का प्रयोग करते हैं उन्हें सच्चे अर्थों में श्रमण नहीं कहा जाता, ऐसा आचार्यों ने कहा है ।

जो छेदन, स्वर (उच्चारण), भौम, अंतरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, वंड, वास्तु विद्या, अंगस्फुरण और स्वर विज्ञान आदि विद्याओं के द्वारा आजीविका नहीं करता है वह भिक्षु है ।

नक्षत्र, स्वप्न, वशीकरण योग, निमित्त, मन्त्र और भेषज—ये जीवों की हिंसा के स्थान हैं, इसलिए मुनि गृहस्थों को इनके फलाफल न बताए ।

निमित्त का प्रयोक्ता पाप-श्रमण—

३७४. जो अपना घर छोड़कर दूसरों के घर में जाकर उनका कार्य करता है और निमित्त शास्त्र से शुभाशुभ बताकर जीवन व्यवहार बजाता है वह पाप-श्रमण कहलाता है ।



कषाय-निषेध—११

कषाय-निषेध—

३७५. पलिऊंखणं च भयणं च, चंडिल्लुत्सयणाणि य ।

धुणाऽऽदाणाई लोमंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥

—सूय. सु. १, अ. ६, गा. ११

कषाय निषेध—

३७५. माया और लोभ तथा क्रोध और मान को नष्ट कर डालो क्योंकि ये सब (कषाय) लोक में कर्मबन्ध के कारण हैं, अतः विद्वान् साधक अपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से इनका त्याग करे ।

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पावकदुर्ध्वं ।
यमे सत्तारि वोसे उ, इच्छते हियमप्यणो ॥

कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥

उवसमेण हणे कोहं, माणं बहुवया विणे ।
मायं चज्जवप्पावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥
कोहो य माणो य अणिगाहोया, माया य लोमा य पवद्धमाणा ।
सत्तारि एए कसिणा कसाया, सिचंति भूलाइं पुणभमवहस ॥

—दस. अ. ८, गा. ३६-३९

जे पावि अनुत्तुए सिया, धम्मिए माहणे भिक्षुए सिया ।
अग्निमकडेहि मुच्छिए, तिष्ठं से कम्मेहि किञ्चत्ती ॥

अह पास विवेगमुट्टिए, अवित्तिणे इह मासई छुतं ।
गाहिसि आरं कओ परं ? वेहासे कम्मेहि किञ्चई ॥

जइ वि य णिणिणे किसे चरे, जइ वि य भुजिय मासमंतसो ।
जे इहमायाइ मिञ्चत्ती, आगता गत्तायवणंतसो ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. ७-९

कसायाणं अग्नी उवमा—

३७६. प०—संजजलिया घोरा, अग्नी विट्ठइ गोयमा ।
जे इहंति सरीरथा, कहं विज्जाविया तुमं ? ॥

उ०—महामेहपसूयाओ, गिज्जा वारि जलुत्तमं ।
सिधामि सययं तेउ, सिता नो व इहन्ति मे ॥

प०—अग्नी य इह के वुत्ता ? केसी गोयममग्गवी ।
केसिमेवं वुत्तं तु, गोयमो इणमग्गवी ॥

उ०—कसाया अग्निणो वुत्ता, सुय-सील-तवो जलं ।
सुयवाराभिहया सत्ता, विज्जा हु न इहन्ति मे ॥

—उत्त. अ. २३, गा. ५०-५३

अट्टमयप्यगारा—

३७७. अट्ट मयट्ठणा पणस्ता, तं जहा—

१. जातिमए, २. कुलमए, ३. बलमए,
४. रूपमए, ५. तपमए, ६. श्रुतमए,
७. लाभमए, ८. ऐश्वर्यमए ।

—ठाणं. अ. ८, सु. ६०६

क्रोध, मान, माया और लोभ ये पाप को बढ़ाने वाले हैं ।
आत्मा का हित चाहने वाले को इन चारों दोषों को छोड़
देना चाहिये ।

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने
वाला है, माया सैत्री का विनाश करता है और लोभ सभी सद्-
गुणों का नाश करने वाला है ।

उपशम से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मान को जीते,
सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीते ।

वश में नहीं किये हुए क्रोध और मान, बढ़े हुए माया और
लोभ ये सम्पूर्ण चारों कषाय पुनर्जन्म रूपी वृक्ष की जड़ों का
सिंचन करती है ।

मायामय अनुष्ठानों में आसक्त पुरुष चाहे बहुश्रुत हों चाहे वे
धर्माचरणशील हों, ब्राह्मण हों या माहण हों अथवा भिक्षु हों वे
कर्मों द्वारा अत्यन्त पीड़ित किये जाते हैं ।

हे शिष्य ! यह देखो कि—कई साधक संयम स्वीकार
करके कषाय विजय में सफल नहीं होते हुए भी संयम का कथन
करते हैं उनका यह लोक भी नहीं सुधरता है तो परलोक कैसे
सुधरेगा ? अर्थात् नहीं सुधरता है और बीच में ही वे इन्हीं से
पीड़ित होते रहते हैं ।

यदि कोई भिक्षु नग्न रहता है, वेह को कृश करता है और
मास-मास के अन्त में एक बार खाता है. फिर भी माया आदि
से परिपूर्ण होने के कारण वह अनन्त बार जन्म-मरण करता है ।

कथायों को अग्नि की उपमा—

३७६. प्र०—(केशीकुमार पूछते हैं) हे गौतम ! प्राणिमात्र के
शरीर में घोर अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं और आत्मा के गुणों
को भस्म कर रही हैं उन अग्नियों को आपने कैसे बुझाया ?

उ०—महामेघ से उत्पन्न स्रोत में से पवित्र-जल को लेकर
मैं उन अग्नियों का निरन्तर सिंचन करता हूँ । अतः सिंचन की
गई वे अग्नियाँ मुझे नहीं जलाती हैं ।

प्र०—“वे कौन-सी अग्नियाँ हैं ?” केशी ने गौतम को
कहा । केशी के पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

उ०—“कथायों को अग्नि कहा गया है । श्रुत, शील और
तप यह जल हैं । श्रुत-शील-तप-रूप-जल-धारा से वृक्षी हुई और
नष्ट हुई अग्नियाँ मुझे नहीं जलाती हैं ।”

आठ प्रकार के मद—

३७७. मद आठ प्रकार के कहे गये हैं । यथा—

(१) जातिमद, (२) कुलमद, (३) बलमद,
(४) रूपमद, (५) तपमद, (६) श्रुतमद,
(७) लाभमद, (८) ऐश्वर्यमद ।

मदणितेहो—

३७८. वण्णमयं खेव तवोमयं च, विण्णाभए गोयमयं च भिक्खू ।
आजीवगं खेव चउत्थमाहु, से पंडिते जसमपोगले से ॥

एताहं मवादं भिगिणं छोरा, न ताणि सेवति सुधीरघम्मा
ते सव्वगोत्तावगता महेत्ती, उरुद्धं भगोत्तं च गतिं वयंति ॥

—सूय. सु. १, अ. १३, गा. १५-१६

न जाइमसे न य कवमसे, न साभमसे न सुएवमसे ।
मपणि सव्वणि विवज्जइत्ता, धम्मज्जाभए जे स भिक्खू ॥

—दस. अ. १०, गा. १६

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे ।
सुयत्तामे न मज्जेज्जा, जइत्ता तवसिबुद्धिए ॥

—दस. अ. ८, गा. ३०

तयसं व जहाइ से रयं, इति संताप मुणी म मज्जई ।
गोयणतरेण माहुणे, अहं सेयकरी अन्नेसि इत्तिणी ॥

जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवत्तई महं ।
अहु इत्तिणिया उ पाविया, इति संताप मुणी न मज्जई ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. २, गा. १-२

रूपमद-णितेहो—

३७९. जे केई सरीरे सत्ता, वण्णे रुखे य सव्वसो ।
“भणसा कायवक्केण” सव्वे ते बुक्खसंभवा ॥

मावणा बीहमइत्ताणं, संसारम्मि अणंतए ।
तइहा सव्ववित्तं पत्त, अपमसो परिववए ॥

—उत्त. अ. ६, गा. ११-१२

लज्जा-णितेहो—

३८०. जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसए सिया ।
जे मोणपघं उवट्टिए, जो लज्जे समयं सया भरे ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. २, गा. ३

कसाय-गारव-णितेहो—

३८१. अतिमाणं च मायं च, तं परिणाय पंडिते ।
गारवाणि य सव्वणि, निव्वणं संधए मुणि ॥

—सूय. सु. १, अ. ६ गा. ३६

मद निषेध—

३७८. भिक्षु प्रज्ञा का मद, तप का मद, गोत्र का मद और चौथा
आजीविका का मद मन से सम्पूर्ण रूप से निकाल दे । जो ऐसा
करता है, वही पण्डित और उत्तम आत्मा है ।

धीर पुरुष इन मदों को आत्मा से पृथक् कर दे । क्योंकि
धीरवान् साधक उन जाति आदि मदों का सेवन नहीं करते । वे
सब प्रकार के गोत्रादि मदों से रहित महर्षिगण नाम-गोत्रादि से
रहित सर्वोच्च मोक्ष गति को प्राप्त होते हैं ।

जो जाति का मद नहीं करता, जो रूप का मद नहीं करता,
जो लाभ का मद नहीं करता, जो श्रुत का मद नहीं करता, जो
सब मदों का वर्जन करता हुआ धर्म-ध्यान में रत रहता है—वह
भिक्षु है ।

भिक्षु दूसरे का तिरस्कार न करे । अपना बड़प्पन न
दिखाए । श्रुत, लाभ, जाति सम्पत्ति, तप और बुद्धि का मद न
करे ।

जैसे सर्प अपनी केंचुली को छोड़ देता है वैसे ही कल्याण
का इच्छुक मुनि कर्म रज को दूर कर देता है ऐसा जानकर
अहिंसक मुनि गोत्रादि का मद न करे तथा कल्याण का नाश
करने वाली दूसरों की निन्दा भी न करे ।

जो साधक दूसरों का तिरस्कार करता है, वह चिर काल
तक संसार में परिभ्रमण करता है तथा परनिन्दा पापों की जननी
ही है, यह जानकर मुनि किसी प्रकार का अहंकार न करे ।

रूपमद निषेध—

३७९. जो कोई मन, वचन और काया से शरीर के वर्ण रूप
आदि में सर्वशः आसक्त होते हैं, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न
करते हैं ।

वे इस अनन्त संसार में जन्म-मरण के लम्बे मार्ग को प्राप्त
किए हुए हैं । इसलिए सब दिशाओं का भली भाँति विचार कर
मुनि अप्रमत्त होकर विचरे ।

लज्जा निषेध—

३८०. जो पूर्व में चक्रवर्ती राजा आदि हो अथवा जो दासों का
भी दास हो किन्तु अब यदि वह संयम मार्ग में उपस्थित हो गया
तो उसे लज्जा या अभिमान न करते हुए सर्वत्र सम्यक् प्रकार से
संयम का आचरण करना चाहिए ।

कषाय और गर्व का निषेध—

३८१. पण्डित मुनि अति मान और माया तथा सभी गर्वों को
जानकर उनका परित्याग करे और स्वयं निर्वाण की साधना में
लगे ।

जिक्कचणे भिक्खु सुलूहजीवी,
आधी जे गारवं होइ सिलोयगामी ।
वमेयं तु अङ्गुलमाणे,
पुणो - पुणो विप्परियासुवेइ ॥
जे भासवं भिक्खु सुसाधुवाई,
पडिहाणवं होइ विमारए य ।
आगाइपण्णे सुविमाधिअण्णे,
अण्णं अणं पण्णया परिभवेज्जा ॥

एवं य से होइ समाहिपत्ते,
जे पण्णवं भिक्खु विउक्कसेज्जा ।
अहवा वि जे सारम्मभावलित्ते,
अण्णं अणं विसति आलपण्णे ॥
—सूय. सु. १, अ. १३, गा. १२-१४

संपराइय-कम्माणं-तिकरण-णित्तेहो—

३८२. से भिक्खु जं पि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जह, णो तं सयं
करेति, नेवज्जेणं कारवेति, अण्णं पि करेत्तं णाणुआणति,
इति से महता आवाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिजिरते ।
—सूय. सु. २, अ. १ सु. ६८६

क्रोधविजय-फलं—

३८३. प०—क्रोधविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
उ०—क्रोधविजएणं खन्ति जणयइ, क्रोधवेयणिज्जं कम्मं न
बन्धइ, पुब्बवट्ठं च निज्जरेइ ।
—उत्त. अ. २६, सु. ६९

माणविजय-फलं—

३८४. प०—माणविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
उ०—माणविजएणं महं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न
बन्धइ, पुब्बवट्ठं च निज्जरेइ ।—उत्त. अ. २६, सु. ७१

मायाविजय-फलं—

३८५. प०—मायाविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
उ०—मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ, मायावेयणिज्जं
कम्मं न बन्धइ, पुब्बवट्ठं च निज्जरेइ ।
—उत्त. अ. २६, सु. ७०

लोभविजय-फलं—

३८६. प०—लोभविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

जो साधु अपरिग्रही है, रुखा-सूखा आहार करता है वह
यदि गर्व और प्रशंसा की आकांक्षा करता है तो उसकी भिक्षा-
वृत्ति आदि केवल आजीविका के साधन हैं । परमार्थ को न
जानने वाला वह अज्ञानी पुनः पुनः संसार में परिधमण करता है ।

जो भिक्षु भाषाविज्ञ है, जो हितमित-प्रिय भाषण करता है
जो बुद्धि सम्पन्न है, जो शास्त्र में निपुण है, जो सूक्ष्म तत्त्वों को
समझने वाला है, संयम में अपनी आत्मा को भावित करता है ।
(परन्तु इन गुणों से युक्त होने पर भी जो) दूसरे लोगों को अपनी
बुद्धि से तिरस्कृत करता है वह समाधि को प्राप्त नहीं करता ।

जो भिक्षु प्रज्ञावान् होकर अपनी जाति, बुद्धि आदि का गर्व
करता है, अथवा जो लाभ के मद से मत्त होकर दूसरों की निंदा
करता है वह बालबुद्धि (मूर्ख) समाधि को प्राप्त नहीं होता है ।

साम्परायिक कर्मों का त्रिकरण निषेध—

३८२. जो यह साम्परायिक (कषाययुक्त) कर्मबन्ध किया जाता
है, उसे वह भिक्षु स्वयं नहीं करता है, न दूसरों से कराता है
और न ही करते हुए का अनुमोदन करता है । इस कारण वह
शिक्षु महान कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है तथा शुद्ध संयम में
रत और पापों से विरत रहता है ।

क्रोध-विजय का फल—

३८३. प्र०—भन्ते ! क्रोध-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?
उ०—क्रोध-विजय से वह क्षमा को प्राप्त करता है । वह
क्रोध-वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता और पूर्व-बद्ध कर्म को
क्षीण करता है ।

मान-विजय का फल—

३८४. प्र०—भन्ते ! मान-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?
उ०—मान-विजय से वह मृदुता को प्राप्त करता है । वह
मान-वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता और पूर्व-बद्ध कर्म को
क्षीण करता है ।

माया-विजय का फल—

३८५. प्र०—भन्ते ! माया-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?
उ०—माया-विजय से वह सरलता को प्राप्त करता है ।
वह माया-वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता और पूर्व-बद्ध कर्म
को क्षीण करता है ।

लोभ-विजय का फल—

३८६. प्र०—भन्ते ! लोभ-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—लोभविजयं संतोसीनायं जणयइ, लोभवेयणिज्जं
कम्मं न बन्धइ, पुब्बवद्धं च निज्जरेइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. ७२

उ०—लोभ-विजय से वह संतोष को प्राप्त करता है । वह
लोभ-वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता और पूर्ववद्ध कर्म को
क्षीण करता है ।



अनाचार प्रायश्चित्त-१२

अइहास प्रायश्चित्त सूत्र—

३८७. जे भिक्षु मुहं विष्कालिय-विष्कालिय हसइ, हसंतं वा
साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारद्वानं उग्घाइयं ।

—नि. उ. ४, सु. २७

अधिक हँसने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३८७. जो भिक्षु मुँह फाड़-फाड़ कर (जोर-जोर से) हँसता है,
हँसाता है या हँसने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

सिप्पाई सिक्खावणं प्रायश्चित्त सूत्र—

३८८. जे भिक्षु अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा—

१. सिप्पं वा,	२. सिलोयं वा,	३. अट्ठावयं वा,
४. कक्कडगं वा,	५. वुग्गहं वा,	
६. सलार्हं वा सिक्खावेइ, सिक्खावेतं वा साइज्जइ ।		

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वानं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १३, सु. १२

शिल्पकलादि सिखाने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३८८. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को—

(१) शिल्प,	(२) गुण कीर्तन,	(३) जूबा खेलना,
(४) कांकरी खेलना,	(५) मुद्ध करना,	
(६) पद्य रचना करना, सिखाता है, सिखवाता है या		

सिखाने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

आगाड-फरसवयण प्रायश्चित्त सूत्र—

३८९. जे भिक्षु अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाडं वयइ, वयंतं
वा साइज्जइ ।

जे भिक्षु अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा फरसं वयइ, वयंतं
वा साइज्जइ ।

जे भिक्षु अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाडं फरसं वयइ
वयंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वानं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १३, सु. १३-१५

अपशब्द और कठोर वचन के प्रायश्चित्त सूत्र—

३८९. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को आवेश युक्त वचन
कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को कठोर वचन कहता है,
कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को आवेश युक्त कठोर
शब्द कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन
करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

अक्कासायणा प्रायश्चित्त सूत्र—

३९०. जे भिक्षु अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा अण्णवरीए अक्का-
सायणाए अक्काएइ अक्कासाएतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वानं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १३, सु. १६

आशातना का प्रायश्चित्त सूत्र—

३९०. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ की किसी भी प्रकार की
आशातना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन
करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

सचित्त गंध जिघण पायच्छित्त सुत्तं—

३६१. जे भिक्षू सचित्त पइट्टियं गंध जिघह जिघंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठणं अणुगघाइयं ।

—नि. उ. १, सु. १०

कोउगकम्मस्स पायच्छित्त सुत्तं—

३६२. जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा कोउगकम्मं^१ करेइ करेतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठणं उगघाइयं ।

—नि. उ. १३, सु. १७

भूइकम्मकरणस्स पायच्छित्त सुत्तं—

३६३. जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा भूइकम्मं^२ करेइ, करेतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठणं उगघाइयं ।

—नि. उ. १३, सु. १८

पसिणाइ-कहणस्स पायच्छित्त सुत्ताइं—

३६४. जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा पसिणं^३ कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा पसिणापसिणं^४ कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठणं उगघाइयं ।

—नि. उ. १३, सु. १९-२०

लक्खण-व्यंजन-सुमिणफल-कहणमाणस्स पायच्छित्त सुत्ताइं—

३६५. जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा लक्खणं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा व्यंजनं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा सुमिणं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

सचित्त गंध सूंधने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३६१. जो भिक्षु सचित्त पदार्थ में स्थित सुगन्ध को सूंधता है या सूंधने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

कौतुक कर्म का प्रायश्चित्त सूत्र—

३६२. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थों का कौतुक कर्म करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

भूतिकर्म करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३६३. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थों का भूतिकर्म करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

प्रश्नादि कहने के प्रायश्चित्त सूत्र—

३६४. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों से कौतुक प्रश्न करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों के कौतुक प्रश्नों के उत्तर देता है, दिलावाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

लक्षण-व्यंजन-स्वप्नफल कहने के प्रायश्चित्त सूत्र—

३६५. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को उनके (शरीर के रेखा आदि) लक्षणों का फल कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को (उनके) तिल-मस आदि व्यंजनों का फल कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को स्वप्न का फल कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

१ कौतुककर्म=मृतवत्सा की चिकित्सा के लिए कराया जाने वाला एक तांत्रिक प्रयोग ।

२ भूतिकर्म=दृष्टि दोष आदि की निवृत्ति के लिए तंत्रोक्त पदार्थों के सम्मिश्रण से एक रक्षा गोदली तैयार करना, भूतिकर्म है ।

३ प्रश्न=प्रश्नव्याकरण में उक्त तीन सौ चौबीस प्रश्नों में से पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना ।

४ प्रश्नाप्रश्न=स्वप्नशास्त्र से स्वप्नों का फल कहना ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १३, सु. २२-२४

विज्जाइ पउंजणस्स पायच्छित्त सुत्ताइ—

३६६. जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा विज्जो^१ पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा मंतं^२ पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा जोमं^३ पउंजइ पउंजंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १३, सु. २५-२७

मग्गाइ पवेयणस्स पायच्छित्त सुत्तं

३६७. जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा नहुणं, मूढाणं विपरियासियाणं मग्गं वा पवेवेइ, संघि वा पवेवेइ, मग्गाथो वा संघि पवेवेइ, संघीओ वा मग्गं पवेवेइ पवेवंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १३, सु. २८

घाउ-णिहि पवेयणस्स पायच्छित्त सुत्ताइ—

३६८. जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा घाउं पवेवेइ पवेवंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा णिहि पवेवेइ पवेवंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १३, सु. २९-३०

अप्पणो आयरिय-लक्खण-वागरणस्स पायच्छित्त सुत्तं—

३६९. जे भिक्षू अप्पणो आयरियत्ताए लक्खणाइ वागरेइ वागरंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १७, सु. १३३

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

विद्यादि का प्रयोग करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

३६६. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों के लिए 'विद्या' का प्रयोग करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों के लिए 'मन्त्र' का प्रयोग करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों के लिए 'योग' का प्रयोग करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

मार्गादि बताने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३६७. जो भिक्षु मार्ग भूले हुए, दिशामूढ़ हुए या विपरीत दिशा में गये हुए अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को मार्ग बताता है, मार्ग की संधि बताता है, मार्ग से संधी बताता है अथवा संधी से मार्ग बताता है या बताने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

धातु और निधि बताने के प्रायश्चित्त सूत्र—

३६८. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को धातु बताता है या बताने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों को या गृहस्थों को निधि (लजाना) बताता है या बताने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

अपने आपको आचार्य के लक्षण युक्त कहने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३६९. जो भिक्षु स्वयं अपने को आचार्य के लक्षणों से सम्पन्न कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

१ विज्जं=विशेष प्रकार की साधना से जो सिद्ध की जाती है वह 'विद्या' कही जाती है ।

२ मंतं=जाप करने से सिद्ध होने वाला 'मन्त्र' कहा जाता है ।

३ जोमं=वशीकरणादि के प्रयोग 'योग' कहे जाते हैं ।

निमित्त वागरणस्त प्रायश्चित्त सूत्राङ्ग—

४००. जे भिक्षु तीर्थ निमित्त वागरेइ वागरेतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं अणुग्याइयं ।

—नि. उ. १३, सु. २१

जे भिक्षु षडुपपन्नं निमित्तं वागरेइ वागरेतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षु अणागमं निमित्तं वागरेइ वागरेतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं अणुग्याइयं । —नि. उ. १०, सु. ७-८

बीभावेणस्त प्रायश्चित्त-सूत्राङ्ग—

४०१. जे भिक्षु अप्पाणं बीभावेइ बीभावेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षु परं बीभावेइ बीभावेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं अणुग्याइयं । —नि. उ. ११, सु. ६४-६५

विम्हावेणस्त प्रायश्चित्त-सूत्राङ्ग—

४०२. जे भिक्षु अप्पाणं विम्हावेइ विम्हावेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षु परं विम्हावेइ विम्हावेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं अणुग्याइयं । —नि. उ. ११, सु. ६६-६७

विपरियासणस्त प्रायश्चित्त-सूत्राङ्ग—

४०३. जे भिक्षु अप्पाणं विपरियासेइ विपरियासंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षु परं विपरियासेइ विपरियासंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं अणुग्याइयं । —नि. उ. ११, सु. ६८-६९

अणुग्याइय पसंसाकरणस्त प्रायश्चित्त सूत्र—

४०४. जे भिक्षु मुहवणं करेइ करेतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं अणुग्याइयं । —नि. उ. ११, सु. ७०

निमित्त कथन के प्रायश्चित्त सूत्र—

४००. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को भूल काल सम्बन्धी निमित्त बताता है या बताने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्वैतिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु वर्तमान काल सम्बन्धी निमित्त कहता है, कहल-वाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु भविष्य काल सम्बन्धी निमित्त कहता है, कहल-वाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्वैतिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

भयभीत करने के प्रायश्चित्त सूत्र -

४०१. जो भिक्षु स्वयं को डराता है, डरवाता है या डराने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु दूसरे को डराता है, डरवाता है या डराने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्वैतिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

विस्मित करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४०२. जो भिक्षु स्वयं को विस्मित करता है, विस्मित करवाता है या विस्मित करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु दूसरे को विस्मित करता है, विस्मित करवाता है या विस्मित करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्वैतिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

विपर्यासकरण प्रायश्चित्त—

४०३. जो भिक्षु स्वयं को विपरीत बनाता है, विपरीत बनवाता है या विपरीत बनाने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु दूसरे को विपरीत बनाता है, विपरीत बनवाता है या विपरीत बनाने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्वैतिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

अन्यतीर्थिकों की प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

४०४. जो भिक्षु अन्य धर्म प्रवर्तकों की प्रशंसा करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्वैतिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

अहाछंदं पसंसण प्रायश्चित्त-सुत्ताइं—

४०५. जे भिक्खू अहाछंदं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू अहाछंदं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे भावज्जइ चात्तम्मासियं परिहारद्वयं
अणुघाट्यं । —वि. उ. ११, सू. ८२-८३

स्वच्छन्दाचारी की प्रशंसा एवं वन्दना करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४०५. जो भिक्षु “यथा छन्द” (स्वच्छन्दाचारी) की प्रशंसा करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु “यथा छन्द” को वन्दना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्घासिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।



८.

संघ व्यवस्था

संघ व्यवस्था—१

तित्थं सरूवं—

४०६. प०—तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थगरे तित्थं ?

उ०—गोयमा ! अरहा ताव णियमं तित्थगरे,
तित्थं पुण चाउवणाइण्णे समणं संघे, तं जहा—

१. समणा, २. समणीओ,
३. सावया, ४. सावियाओ ।

—वि. स. २०, उ. ८, सु. १४

तित्थपयत्तण कालं—

४०७. प०—जम्बुद्वीपे णं भंते ! द्वीपे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवानुप्पियाणं केवतियं कालं तित्थे अणुसज्जिस्सति ?

उ०—गोयमा ! जम्बुद्वीपे द्वीपे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए भमं एककीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसज्जिस्सति ।

प०—जहा णं भंते जम्बुद्वीपे द्वीपे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवानुप्पियाणं एककीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसज्जिस्सति, तहा णं भंते ! जम्बुद्वीपे द्वीपे भारहे वासे आगमेस्साणं चरिमतिस्थगरस्स केवतियं कालं तित्थे अणुसज्जिस्सति ?

तीर्थ का स्वरूप—

४०६. प्र०—हे भगवन् ! “तीर्थ” को तीर्थ कहते हैं या तीर्थकर को तीर्थ कहते हैं ।

उ०—गौतम ! अरिहन्त तो अवश्य तीर्थकर हैं और चार वर्णों से आप्त श्रमण संघ तीर्थ है । यथा—

(१) श्रमण, (२) श्रमणी,
(३) श्रावक, (४) श्राविका ।

तीर्थ प्रवर्तन का काल—

४०७. प्र०—भगवन् ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में आप देवानुप्रिय का तीर्थ कितने काल तक रहेगा ?

उ०—गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में मेरा तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष तक रहेगा ।

प्र०—भगवन् ! जिस प्रकार जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में आप देवानुप्रिय का तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष तक रहेगा । उसी प्रकार जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत क्षेत्र में भावी तीर्थकरों में से अन्तिम तीर्थकर का तीर्थ कितने काल तक अविच्छिन्न रहेगा ?

१ (क) वि. स. १६, उ. ६, सु. २१

(ख) षड्विधे संघे पण्यत्ते, तं जहा—

(१) समणा, (२) समणीओ, (३) सावगा, (४) सावियाओ ।

—आ. अ. ४, उ. ४, सु. ३६३

उ०—गोयमा ! जावतिए णं उसभस्स अरहन्तो कोसलियस्स
जिणपरियाए तावतियाहं संखेज्जाहं वासाहं आग-
मेस्साणं अरिमत्तिथरस्स तित्थे अपुसण्णिस्सति ।

—वि. स. २०, उ. ८, सु. १२-१३

जिणप्पगारा—

४०८. तओ जिण पण्णसा, तं जहा—

१. ओहिणाणजिणे, २. मणपज्जवणाणजिणे,
३. केवलणाण जिणे । —ठा. अ. ३, उ. ४, सु. २२०

केवली-पगारा—

४०९. तओ केवली पण्णसा, तं जहा—

१. ओहिणाण केवली, २. मणपज्जवणाण केवली,
३. केवलणाण केवली । —ठा. अ. ३, उ. ४, सु. २२०

अरिहन्तपगारा—

४१०. तओ अरहा पण्णसा, तं जहा—

१. ओहिणाण अरहा, २. मणपज्जवणाण अरहा,
३. केवलणाण अरहा । —ठा. अ. ३, उ. ४, सु. २२०

रायणिय पुरिसप्पगारा—

४११. तओ पुरिसज्जाया पण्णसा, तं जहा—

१. गाणपुरिसे, २. वंसणपुरिसे,
३. अरिस्तपुरिसे । —ठा. अ. ३, उ. १, सु. १३७

रायणियिद्वप्पगारा—

४१२. तओ इवा पण्णसा, तं जहा—

१. गाणिवे, २. वंसणिवे,
३. अरिस्सिदे । —ठा. अ. ३, उ. १, सु. १२७

थविरप्पगारा—

४१३. तओ थेरभूमिओ पण्णसाओ, तं जहा—

१. जाइ-थेरे, २. सुय-थेरे,
३. परिवाय-थेरे ।
१. सट्ठिवासजाए समणे निगंथे जाइ-थेरे ।
२. ठाण समवायांगघरे समणे निगंथे सुय-थेरे ।

३. बीसवासपरियाए समणे निगंथे परिवाय-थेरे ।

—वव. उ. १०, सु. १८

दस थेरा पण्णसा, तं जहा—

१. ग्रामथेरा, २. नगरथेरा,

उ०—गौतम ! कौशलदेशोत्पन्न ऋषभदेव अरहन्त का
जितुना जिनपर्याय है उतने (एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व)
वर्ष तक भावी तीर्थंकरों में से अन्तिम तीर्थंकर का तीर्थ रहेगा ।

जिन के प्रकार—

४०८. जिन तीन प्रकार के कहे गये हैं—यथा—

- (१) अवधिज्ञानी जिन, (२) मनःपर्यवज्ञानी जिन,
(३) केवलज्ञानी जिन ।

केवली के प्रकार—

४०९. केवली तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

- (१) अवधिज्ञान केवली, (२) मनःपर्यवज्ञान केवली,
(३) केवलज्ञान केवली ।

अरिहन्त के प्रकार—

४१०. अरहन्त तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

- (१) अवधिज्ञानी अरहन्त, (२) मनःपर्यवज्ञानी अरहन्त,
(३) केवलज्ञानी अरहन्त ।

रात्तिक पुरुषों के प्रकार—

४११. पुरुष तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

- (१) ज्ञान पुरुष, (२) दर्शन पुरुष,
(३) चारित्र्य पुरुष ।

रात्तिक इन्द्रों के प्रकार—

४१२. इन्द्र तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

- (१) जानेन्द्र (विशिष्ट श्रुतज्ञानी या केवली),
(२) दर्शनेन्द्र (धार्मिक सम्यग्दृष्टि),
(३) चारित्र्येन्द्र (यथाव्याप्त चारित्रवान्) ।

स्थविर के प्रकार—

४१३. स्थविर तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

- (१) वय-स्थविर, (२) श्रुत-स्थविर,
(३) पर्याय-स्थविर ।
(१) साठ वर्ष की आयु वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ वय स्थविर हैं ।
(२) स्थानांग समवायांग के धारक श्रमण निर्ग्रन्थ श्रुत स्थविर हैं ।

(३) बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय के धारक श्रमण निर्ग्रन्थ पर्याय स्थविर हैं ।

स्थविर दस प्रकार के होते हैं—

- (१) ग्रामस्थविर, (२) नगरस्थविर,

३. रटुबेरा,
५. कुलबेरा,
७. संघबेरा,
८. सुअबेरा,
४. पसलबेरा,
६. गणबेरा,
८. जातिबेरा,
१०. परिपायबेरा ।

—ठाणं. अ. १०, सु. ७६१

महव्रत-धर्म-परूषगा—

४१४. प०—एएसु णं भंते ! पंचसु महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो पंचमहव्रतस्य सपडिक्कमणं धम्मं पणवयंति ?

उ०—णो हणदुंते समदुंते ।

एएसु णं पंचसु भरहेसु, पंचसु एरवरसु, पुरिम-पच्छिमगा कुवे अरहंता भगवंतो पंचमहव्रतस्य सपडिक्कमणं धम्मं पणवयंति ।

अवसेसा णं अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पणवयंति । एएसु णं पंचसु महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पणवयंति ।

—वि. स. २०, उ. ८, सु. ६

दुर्गम-सुगमठाणाइं—

४१५. पंच ठाणाइं पुरिम—पच्छिमगाणं जिणाणं दुर्गमं भवति, तं जहा—

१. बुआइक्खं,
२. बुविमज्जं,
३. बुपस्सं,
४. बुतितिक्खं,
५. बुरण्णचरं ।

पंच ठाणाइं सज्जिमगाणं जिणाणं सुगमं भवति, तं जहा—

१. सुआइक्खं,
२. सुविमज्जं,
३. सुपस्सं,
४. सुतितिक्खं,
५. सुरण्णचरं ।

—ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६६

पंचविहा व्यवहारा—

४१६. प०—कइविहे णं भंते ! व्यवहारे पणत्ते ?

उ०—गोयमा ! पंचविहे व्यवहारे पणत्ते, तं जहा—

१. आगम,
२. सुत,
३. आज्ञा,
४. धारणा,
५. जीए ।

महाव्रत धर्म के प्ररूपक—

४१४. प्र०—हे भगवन् ! पांच महाविदेह क्षेत्र में अरिहन्त भगवन् पांच महाव्रत और सप्रतिक्रमण धर्म का उपदेश करते हैं ?

उ०—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

पांच भरत और पांच देवता क्षेत्रों में प्रथम और अन्तिम ये दो अरिहन्त भगवन् पांच महाव्रत और सप्रतिक्रमण धर्म का उपदेश करते हैं ।

शेष अरिहन्त भगवन् चार याम रूप धर्म का उपदेश करते हैं और पांच महाविदेह क्षेत्र में भी अरिहन्त भगवान् चार याम रूप धर्म का उपदेश करते हैं ।

दुर्गम-सुगम स्थान—

४१५. प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन में पांच स्थान दुर्गम होते हैं । यथा—

- (१) धर्मतत्त्व का कथन करना दुर्गम होता है ।
- (२) तत्त्व का नय—विभाग से समझाना दुर्गम होता है ।
- (३) तत्त्व का युक्तिपूर्वक निर्देश करना दुर्गम होता है ।
- (४) उपसर्ग-परीषहादि का सहन करना दुर्गम होता है ।
- (५) धर्म का आचरण करना दुर्गम होता है ।

मध्यवर्ती (बाईस) तीर्थंकरों के शासन में पांच स्थान सुगम होते हैं, यथा—

- (१) धर्मतत्त्व का व्याख्यान करना सुगम होता है ।
- (२) तत्त्व का नय—विभाग से समझाना सुगम होता है ।
- (३) तत्त्व का युक्ति पूर्वक निर्देश करना सुगम होता है ।
- (४) उपसर्ग-परीषहादि का सहन करना सुगम होता है ।
- (५) धर्म का आचरण करना सुगम होता है ।

पांच प्रकार के व्यवहार—

४१६. प्र०—भन्ते ! व्यवहार (दोषानुसार प्रापश्चित्त का निर्णय) कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! व्यवहार पांच प्रकार का कहा गया है ।

यथा—

- (१) आगम,
- (२) श्रुत,
- (३) आज्ञा,
- (४) धारणा,
- (५) जीत ।

१. जहा से तत्थ आगमे सिया, आगमेण ववहारं पटुवेज्जा ।

२. जो से तत्थ आगमे सिया, जहा से तत्थ सुते सिया, सुएणं ववहारं पटुवेज्जा ।

३. जो से तत्थ सुए सिया, जहा से तत्थ आणा सिया, आणाए ववहारं पटुवेज्जा ।

४. जो से तत्थ आणा सिया, जहा से तत्थ धारणा सिया, धारणाए ववहारं पटुवेज्जा ।

५. जो से तत्थ धारणा सिया, जहा से तत्थ जीए सिया, जीएणं ववहारं पटुवेज्जा ।

इच्छेएहि पंचहि ववहारेहि ववहारं पटुवेज्जा, तं जहा —

१. आगमेणं, २. सुएणं, ३. आणाए,
४. धारणाए, ५. जीएणं ।

जहा जहा से आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए, तहा तहा ववहारं पटुवेज्जा ।^१

प०—से किमाहु भंते ?

उ०—आगमवत्तिथा समणा निगंधा ।

इच्छेयं पंचविहं ववहारं जया-जया, जहि-जहि, तथा-तथा, तहि-तहि अणिसिओवत्तिथं सम्मं ववहरमाणे समणे निगंधे आणाए आराहए भवइ ।

—वि. स. ८, उ. ८, सु. ८-९

अणुण्णापगारा—

४१७. तिबिधा अणुण्णा पणत्ता, तं जहा—

१. आयरियत्ताए, २. उवज्जायत्ताए,
३. गणित्ताए । —ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८०

समणुण्णा पगारा—

४१८. तिबिधा समणुण्णा पणत्ता, तं जहा—

१. आयरियत्ताए, २. उवज्जायत्ताए,
३. गणित्ताए । —ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८०

उवसंपया पगारा—

४१९. तिबिधा उवसंपया पणत्ता, तं जहा—

(१) जहाँ आगम (केवलज्ञान धारक—यावत्—नवपूर्व धारक) जानी हो वहाँ उनके निर्देशानुसार व्यवहार करें ।

(२) जहाँ आगम जानी न हों तो वहाँ श्रुत (जघन्य आचार प्रकल्प उत्कृष्ट नवपूर्व से कम के ज्ञाता) जानी के निर्देशानुसार व्यवहार करें ।

(३) जहाँ श्रुतज्ञानी न हों तो वहाँ गीतार्थों की आज्ञानुसार व्यवहार करें ।

(४) जहाँ गीतार्थों की आज्ञा न हो तो वहाँ स्थविरों की धारणानुसार व्यवहार करें ।

(५) जहाँ स्थविरों की धारणा ज्ञात न हो तो वहाँ सवन्तिमत परम्परानुसार व्यवहार करें ।

इन पाँच व्यवहारों के अनुसार व्यवहार करें ।

यथा—(१) आगम, (२) श्रुत, (३) आज्ञा,
(४) धारणा, (५) जीत ।

आगमज्ञानी, श्रुतज्ञानी, गीतार्थ आज्ञा, स्थविरों की धारणा और परम्परा इन में से जिस समय जो उपलब्ध हो उस समय उसी से क्रमशः व्यवहार करें ।

प्र०—भन्ते ! ऐसा क्यों कहा ?

उ०—धम्मण निर्यन्थ आगमानुसार व्यवहार करने वाले होते हैं ।

इन पाँच प्रकार के व्यवहारों में से जब-जब जिस-जिस विषय में जो प्रमुख व्यवहार उपलब्ध हों तब-तब उस-उस विषय में मध्यस्थ भाव से व्यवहार करने वाला धम्मण निर्यन्थ जिनाज्ञा का आराधक होता है ।

अनुशा के प्रकार—

४१७. अनुशा (आज्ञा) तीन प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) आचार्य की, (२) उपाध्याय की,
(३) गणी की ।

समनुज्ञा के प्रकार—

४१८. समनुज्ञा (विशेष आज्ञा) तीन प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) आचार्य की, (२) उपाध्याय की,
(३) गणी की ।

उपसम्पदा के प्रकार—

४१९. उपसम्पदा (समीप रहना) तीन प्रकार की कही गई है, यथा—

१ (क) ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४२१

(ख) वव. उ. १०, सु. ५

१. आयरियत्ताए,

२. उवज्जायत्ताए,

३. गणिताए ।

—ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८०

विजहणा पगारा—

४२०. तिबिधा विजहणा पणत्ता, तं जहा—

१. आयरियत्ताए,

२. उवज्जायत्ताए,

३. गणिताए ।

—ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८०

तिबिधा आयरक्खा—

४२१. तओ आयरक्खा पणत्ता, तं जहा—

१. धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवति,

२. तुसिणीए वा सिया ।

३. चट्ठिता वा जाताए एगंतमवक्कमेज्जा ।

—ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८०

हरदसमो आयरियो—

४२२. से वेमि, तं जहा—

अवि हराए पडिपुण्णे चिट्ठति समंति भोमे उवसंतरए सारक्खमाणे । से चिट्ठति सोतमज्जाए ।

से पास सव्वतो गुत्ते । पास लोए नहेसिणो । जे य पण्णाण-संता । पबुद्धा आरंभोवरत्ता सम्ममेतं ति पासहा । कालस्स कंछाए परिवर्धंति ।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. ५, सु. १६६

आयरियत्पगारा—

४२३. चत्तारि आयरिया पणत्ता, तं जहा—

१. पव्वावणायरिए नामेगे, नोउवट्ठावणायरिए,

२. उवट्ठावणायरिए नामेगे, नो पव्वावणायरिए,

३. एगे पव्वावणायरिए ति, उवट्ठावणायरिए वि,

४. एगे नो पव्वावणायरिए, नोउवट्ठावणायरिए-धम्मायरिए ।

चत्तारि आयरिया पणत्ता, तं जहा—

(१) आचार्य की,

(२) उपाध्याय की,

(३) गणी की ।

पदत्याग के प्रकार—

४२०. पद का परित्याग तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) आचार्य का,

(२) उपाध्याय का,

(३) गणी का ।

तीन प्रकार से आत्म-रक्षा---

४२१. तीन प्रकार से आत्म-रक्षा होती है, यथा--

(१) अकरणीय कार्य में प्रवृत्त व्यक्ति को धार्मिक बुद्धि से प्रेरित करने से ।

(२) प्रेरणा न देने की स्थिति में मौन धारण करने से ।

(३) मौन और उपेक्षा न करने की स्थिति में वहाँ से उठ-कर स्वयं एकान्त स्थान में चला जाने से ।

जलाशय जैसे आचार्य —

४२२. भगवान् ने आचार्य के गुणों का जैसा वर्णन किया वैसा मैं कहता हूँ । जैसे—

एक जलाशय जो जल से परिपूर्ण है, समभूभाग में स्थित है, कीचड़ रहित है अनेक जलचर जीवों का संरक्षण करता हुआ स्रोत के मध्य में स्थित है ।

हे शिष्य तू देख कि ऐसे ही आचार्य भी अनेक सद्गुणों से परिपूर्ण होते हैं तथा सर्व प्रकार से गुप्त होते हैं । हे शिष्य तू लोक में उन महर्षियों को देख ! जो उत्कृष्ट ज्ञानवान् हैं, प्रबुद्ध हैं और आरम्भ से विरत हैं । वे ही सम्यक् आराधना करने वाले हैं और पण्डित मरण की आकांक्षा करते हुए संयम में विचरण करते हैं ।

आचार्य के प्रकार—

४२३. चार प्रकार के आचार्य कहे गए हैं, यथा—

(१) कोई आचार्य (किसी एक शिष्य की अपेक्षा) प्रव्रज्या देने वाले होते हैं किन्तु महाव्रतों का आरोपण करने वाले नहीं होते हैं ।

(२) कोई आचार्य महाव्रतों का आरोपण करने वाले होते हैं किन्तु प्रव्रज्या देने वाले नहीं होते हैं ।

(३) कोई आचार्य प्रव्रज्या देने वाले भी होते हैं और महा-व्रतों का आरोपण करने वाले भी होते हैं ।

(४) कोई आचार्य न प्रव्रज्या देने वाले होते हैं और न महा-व्रतों का आरोपण करने वाले होते हैं । किन्तु केवल धर्मोपदेश देने वाले होते हैं ।

चार प्रकार के आचार्य कहे गए हैं, यथा—

१. उद्देशनायरिए नामेगे, नो वायणायरिए,
२. वायणायरिए नामेगे, नो उद्देशनायरिए,
३. एगे उद्देशनायरिए वि, वायणायरिए वि,
४. एगे नो उद्देशनायरिए, नो वायणायरिए-धम्मनायरिए ।^१
—वव. उ. १०, सु. १४-१५

अन्तेवासिस्सप्पगारा—

४२४. चत्तारि अन्तेवासी पण्णत्ता, तं जहा—

१. पक्खावण्तेवासी नामेगे नो उवट्ठावण्तेवासी,
२. उवट्ठावण्तेवासी नामेगे, नो पक्खावण्तेवासी,
३. एगे पक्खावण्तेवासी वि उवट्ठावण्तेवासी वि,
४. एगे नो पक्खावण्तेवासी, नो उवट्ठावण्तेवासी, धम्मन्तेवासी ।

चत्तारि अन्तेवासी पण्णत्ता, तं जहा—

१. उद्देशण्तेवासी नामेगे, नो वायण्तेवासी,
२. वायण्तेवासी नामेगे, नो उद्देशण्तेवासी,
३. एगे उद्देशण्तेवासी वि, वायण्तेवासी वि,
४. एगे नो उद्देशण्तेवासी, नो वायण्तेवासी, धम्मन्तेवासी ।^२
—वव. अ. १०, सु. १६-१७

विविहा गणवेयाधस्स करा—

४२५. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—

१. अट्ठकरे नामं एगे, नो माणकरे,
२. माणकरे नामं एगे, नो अट्ठकरे,
३. एगे अट्ठकरे वि, माणकरे वि,
४. एगे नो अट्ठकरे, नो माणकरे ।

(१) कोई आचार्य (किसी एक शिष्य की अपेक्षा) वाचना देने की आज्ञा देने वाले होते हैं, किन्तु वाचना देने वाले नहीं होते हैं ।

(२) कोई आचार्य वाचना देने वाले होते हैं किन्तु वाचना देने की आज्ञा देने वाले नहीं होते हैं ।

(३) कोई आचार्य वाचना देने वाले भी होते हैं और वाचना देने की आज्ञा देने वाले भी होते हैं ।

(४) कोई आचार्य वाचना देने वाले भी नहीं होते हैं और वाचना देने की आज्ञा देने वाले भी नहीं होते हैं वे केवल धर्माचार्य होते हैं ।

शिष्य के प्रकार —

४२४. अन्तेवासी (शिष्य) चार प्रकार के कहे गये हैं । जैसे—

(१) कोई प्रव्रज्या शिष्य है, परन्तु उपस्थापना शिष्य नहीं है ।

(२) कोई उपस्थापना शिष्य है, परन्तु प्रव्रज्या शिष्य नहीं है ।

(३) कोई प्रव्रज्या शिष्य भी है और उपस्थापना शिष्य भी है ।

(४) कोई न प्रव्रज्या शिष्य है और न उपस्थापना शिष्य है । किन्तु धर्मोपदेश से प्रतिबोधित शिष्य है ।

पुनः अन्तेवासी चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—

(१) कोई उद्देशन अन्तेवासी है, परन्तु वाचना अन्तेवासी नहीं है ।

(२) कोई वाचना-अन्तेवासी है परन्तु उद्देशन-अन्तेवासी नहीं है ।

(३) कोई उद्देशन-अन्तेवासी भी है और वाचना-अन्तेवासी भी है ।

(४) कोई न उद्देशन-अन्तेवासी है और न वाचना-अन्तेवासी है ।

किन्तु धर्मोपदेश से प्रतिबोधित शिष्य है ।

विविध प्रकार के गण की वैयावृत्य करने वाले -

४२५. चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गये हैं । जैसे—

(१) कोई साधु कार्य करता है किन्तु मान नहीं करता है ।

(२) कोई मान करता है किन्तु कार्य नहीं करता है ।

(३) कोई कार्य भी करता है और मान भी करता है ।

(४) कोई कार्य भी नहीं करता है और मान भी नहीं करता है ।

चत्वारि पुरिसजाया पणस्ता, तं जहा—

१. गणद्वक्रे नामं एगे, नो माणकरे,

२. माणकरे नामं एगे, नो गणद्वक्रे,

३. एगे गणद्वक्रे वि, माणकरे वि,

४. एगे नो गणद्वक्रे, नो माणकरे ।

चत्वारि पुरिसजाया पणस्ता, तं जहा—

१. गणसंगहकरे नामं एगे, नो माणकरे,

२. माणकरे नामं एगे, नो गणसंगहकरे,

३. एगे गणसंगहकरे वि, माणकरे वि,

४. एगे नो गणसंगहकरे, नो माणकरे ।

चत्वारि पुरिसजाया पणस्ता, तं जहा—

१. गणसोहकरे नामं एगे, नो माणकरे,

२. माणकरे नामं एगे, नो गणसोहकरे,

३. एगे गणसोहकरे वि, माणकरे वि,

४. एगे नो गणसोहकरे, नो माणकरे ।

चत्वारि पुरिसजाया पणस्ता, तं जहा—

१. गणसोहिकरे नामं एगे, नो माणकरे,

२. माणकरे नामं एगे, नो गणसोहिकरे,

३. एगे गणसोहिकरे वि, माणकरे वि,

४. एगे नो गणसोहिकरे, नो माणकरे ।

(पुनः) चार प्रकार के (साधु) पुरुष कहे गये हैं । जैसे—

(१) कोई गण का काम करता है, परन्तु मान नहीं करता है ।

(२) कोई मान करता है, परन्तु गण का काम नहीं करता है ।

(३) कोई गण का काम भी करता है और मान भी करता है ।

(४) कोई न गण का काम करता है और न मान ही करता है ।

(पुनः) चार प्रकार के (साधु) पुरुष कहे गये हैं । जैसे—

(१) कोई गण के लिए संग्रह करता है, परन्तु मान नहीं करता है ।

(२) कोई मान करता है, परन्तु गण के लिए संग्रह नहीं करता है ।

(३) कोई गण के लिए संग्रह भी करता है और मान भी करता है ।

(४) कोई न गण के लिए संग्रह करता है और न मान ही करता है ।

(पुनः) चार प्रकार के (साधु) पुरुष कहे गये हैं । जैसे—

(१) कोई गण की शोभा करता है, किन्तु मान नहीं करता है ।

(२) कोई मान करता है, किन्तु गण की शोभा नहीं करता है ।

(३) कोई गण की शोभा भी करता है और मान भी करता है ।

(४) कोई न गण की शोभा करता है और न मान ही करता है ।

(पुनः) चार प्रकार के (साधु) पुरुष कहे गये हैं । जैसे—

(१) कोई गण की शुद्धि करता है, परन्तु मान नहीं करता है ।

(२) कोई मान करता है, परन्तु गण की शुद्धि नहीं करता है ।

(३) कोई गण की शुद्धि भी करता है और मान भी करता है ।

(४) कोई न गण की शुद्धि करता है और न मान ही करता है ।

—यव. उ. १०, सु. ६-१० करता है ।

आचार्य के अतिशय—२

आयरियाह अहसया—

४२६. आयरिय-उवञ्जाए अंतो उवस्सयस्स पणत्ता, तं जहा —

१. आयरिय-उवञ्जाए अंतो उवस्सयस्स पाए निगिञ्जिय-निगिञ्जिय पण्कोजेमाणे वा पमउजेमाणे वा नाइक्कमइ ।

२. आयरिय-उवञ्जाए अंतो उवस्सयस्स उवञ्चार-पासवणं विगिञ्जमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ ।

३. आयरिय-उवञ्जाए पघ्गु इच्छा वेयावडियं करेज्जा, इच्छा णो करेज्जा ।

४. आयरिय-उवञ्जाए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा बुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ ।

५. आयरिय-उवञ्जाए बाहि उवस्सयस्स एगरायं वा बुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ ।^१

६. उवकरणात्तिसेसे ।

७. सत्तपाणात्तिसेसे ।

—ठाण. अ. ७, सु. ५७०

गणावच्छेदयस्स णं गणंसि वो अहसेसा पणत्ता, तं जहा—

१. गणावच्छेदए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा बुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ ।

२. गणावच्छेदए बाहि उवस्सयस्स एगरायं वा बुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ ।

—वव. उ. ६, सु. ११

इइहो पगारा—

४२७. गणिइही तिविहा पणत्ता, तं जहा—

१. णाणिइही,

२. वंसणिइही,

३. जरिसिइही ।

आचार्य आदि के अतिशय—

४२६. गण में आचार्य और उपाध्याय के सात अतिशय कहे गये हैं, यथा—

(१) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर धूल से भरे अपने पैरों को पकड़-पकड़ कर कपड़े से पोंछे या प्रमार्जन करे तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है ।

(२) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर मल-मूत्रादि को त्यागे तथा शुद्धि करे तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है ।

(३) सशक्त आचार्य या उपाध्याय इच्छा हो तो किसी की सेवा करे, इच्छा न हो तो न करे—फिर भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है ।

(४) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर (किसी विशेष कारण से) यदि एक दो रात अकेले रहें तो भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है ।

(५) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के बाहर (किसी विशेष कारण से) यदि एक दो रात अकेले रहें तो भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है ।

(६) आचार्य और उपाध्याय अन्य साधुओं की अपेक्षा उज्ज्वल वस्त्र मात्रादि रखें तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है ।

(७) आचार्य और उपाध्याय संविभाग किये बिना विशिष्ट आहार करे तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है ।

गण में गणावच्छेदक के दो अतिशय कहे गए हैं, यथा—

(१) गणावच्छेदक उपाश्रय के अन्दर (किसी विशेष कारण से) यदि एक दो रात अकेले रहे तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है ।

(२) गणावच्छेदक उपाश्रय के बाहर (किसी विशेष कारण से) यदि एक दो रात अकेले रहे तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है ।

ऋद्धि के प्रकार—

४२७. गणि-ऋद्धि तीन प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) ज्ञान ऋद्धि—विशिष्ट श्रुत-सम्पदा ।

(२) वर्मान ऋद्धि—प्रभावशाली प्रवचनशक्ति आदि ।

(३) चारित्र ऋद्धि—निरतिचार चारित्र प्रतिपालना ।

१ (क) ठाण. अ. ५, उ. २, सु. ४३८

(ख) वव. उ. ६, सु. १०

अथवा—गणिद्वयी त्रिविधा पण्यता, तं जहा—

१. सच्चिता,
२. अचिता,
३. सीसिता ।

—ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २१४

गणि संपदा—

४२८. अष्टविधा गणि-संपदा पण्यता, तं जहा—

१. आधार-संपदा, २. सुय-संपदा,
३. सरीर-संपदा, ४. वयण-संपदा,
५. वायणा-संपदा, ६. सह-संपदा,
७. वओग-संपदा, ८. संगह-परिणा नाम अष्टमा संपदा ।

—ठाणं. अ. ८, सु. ६०१

आधार संपदा—

४२९. प०—से किं तं आधार-संपदा ?

उ०—आधार-संपदा चतुर्विधा पण्यता, तं जहा—

१. संजम-धुव-जोग-जुसे यावि भवइ,
२. असंयगाहिब-अप्पा,
३. अणियत-विसी,
४. वुड्ढ-सीले यावि भवइ ।

से तं आधार संपदा । —दसा. द. ४, सु. ३

सुयसंपदा—

४३०. प०—से किं तं सुय-संपदा ?

उ०—सुय-संपदा चतुर्विधा पण्यता, तं जहा—

१. बहसुए यावि भवइ,
२. परिचिय-सुए यावि भवइ,
३. विविस-सुए यावि भवइ,
४. घोस-विसुद्धिकारए यावि भवइ ।

से तं सुय-संपदा । —दसा. द. ४, सु. ४

सरीर संपदा—

४३१. प०—से किं तं सरीर संपदा ?

उ०—सरीर-संपदा चतुर्विधा पण्यता, तं जहा—

१. आरोह-परिणाह-संपन्ने यावि भवइ,
२. अणोत्तप-सरीरे यावि भवइ,
३. धिरसंघयणे यावि भवइ,
४. बहूपडिपुण्णिदिए यावि भवइ ।

से तं सरीर-संपदा । —दसा. द. ४, सु. ५

अथवा गणि-ऋद्धि तीन प्रकार की कही गई है, यथा—

- (१) सचित्त-ऋद्धि—शिष्य-परिवार आदि ।
- (२) अभित्त-ऋद्धि—वस्त्र, पात्र, शास्त्र-संग्रहादि ।
- (३) निध-ऋद्धि—वस्त्र पात्रादि से युक्त शिष्य-परिवारादि ।

गणि सम्पदा—

४२८. आठ प्रकार की गणि सम्पदा कही गई है । जैसे—

- (१) आचारसम्पदा, (२) श्रुतसम्पदा,
- (३) शरीरसम्पदा, (४) वचनसम्पदा,
- (५) वाचनासम्पदा, (६) मत्तिसम्पदा,
- (७) प्रयोगसम्पदा, (८) संग्रहपरिज्ञासम्पदा

आचार-सम्पदा—

४२९. प्र० भगवन् ! वह आचारसम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—आचारसम्पदा चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) संयम क्रियाओं में ध्रुव योग युक्त होना ।
- (२) अहंकार रहित होना ।
- (३) अप्रतिबद्ध विहार करना ।
- (४) वृद्धों के समान गम्भीर स्वभाव वाला होना ।

यह आचार सम्पदा है ।

श्रुत-सम्पदा—

४३०. प्र०—भगवन् ! श्रुतसम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—श्रुतसम्पदा चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) अनेक शास्त्रों का ज्ञाता होना ।
- (२) सूत्रार्थ से भली-भाँति परिचित होना ।
- (३) स्व-समय और पर-समय का ज्ञाता होना ।
- (४) शुद्ध उच्चारण करने वाला होना ।

यह श्रुत सम्पदा है ।

शरीर-सम्पदा—

४३१. प्र०—भगवन् ! शरीर सम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—शरीर सम्पदा चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) शरीर की लम्बाई-चौड़ाई का उचित प्रमाण होना ।
- (२) लज्जास्पद शरीर वाला न होना ।
- (३) शरीर का संहतन सुदृढ़ होना ।
- (४) सर्व इन्द्रियों का परिपूर्ण होना ।

यह शरीर सम्पदा है ।

वयण संपदा—

४३२. प्र०—से किं तं वयण-संपदा ?

उ०—वयण-संपदा चतुर्विधा पणस्ता, तं जहा—

१. आवेय-वयणे यावि भवइ,
२. मधुर-वयणे यावि भवइ,
३. क्षणित्तिय-वयणे यावि भवइ,
४. असंदिग्ध यावि भवइ ।

से तं वयण-संपदा । —दसा. व. ४, सु. ६

वायणा संपदा

४३३. प्र०—से किं तं वायणा-संपदा ?

उ०—वायणा-संपदा चतुर्विधा पणस्ता, तं जहा—

१. विजयं उद्दिष्टइ,
२. विजयं वाएइ,
३. परिनिब्बाधियं वाएइ,
४. अत्थनिज्जावणं यावि भवइ,

से तं वायणा संपदा । —दसा. व. ४, सु. ७

मइ संपदा—

४३४. प्र०—से किं तं मइ-संपदा ?

उ०—मइ-संपदा चतुर्विधा पणस्ता, तं जहा—

१. उग्गह-मइ-संपदा,
२. ईहा-मइ-संपदा,

३. अवाय-मइ-संपदा,
४. धारणा-मइ-संपदा ।

प्र०—से किं तं उग्गह-मइ-संपदा ?

उ०—उग्गह-मइ-संपदा छविहा पणस्ता, तं जहा—

१. सिपपं उगिण्हेइ,
२. बहं उगिण्हेइ,
३. बहुविहं उगिण्हेइ,
४. धुवं उगिण्हेइ,
५. अणित्तियं उगिण्हेइ,

६. असंदिग्धं उगिण्हेइ ।

एवं ईहा-मई वि ।

एवं अवाय-मई वि ।

प्र०—से किं तं धारणा-मइ-संपदा ?

वचन-सम्पदा—

४३२. प्र०—भगवन् ! वचन सम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—वचन सम्पदा चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) सर्वजन-आदरणीय वचन वाला होना ।
- (२) मधुर वचन वाला होना ।
- (३) राग-द्वेष रहित वचन वाला होना ।
- (४) सन्देह-रहित वचन वाला होना ।

यह वचन-सम्पदा है ।

वाचना सम्पदा—

४३३. प्र०—भगवन् ! वाचना-सम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—वाचना सम्पदा चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) शिष्य की योग्यता का निश्चय करने वाला होना ।
- (२) विचार पूर्वक अध्यापन कराने वाला होना ।
- (३) योग्यतानुसार उपयुक्त पढ़ाने वाला होना ।
- (४) अर्थ संगति पूर्वक नय-प्रमाण से अध्यापन कराने वाला होना ।

होना ।

यह वाचना सम्पदा है ।

मति-सम्पदा—

४३४. प्र०—भगवन् ! मति-सम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—मतिसम्पदा चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) अवग्रह—सामान्य रूप से अर्थ को जानना ।
- (२) ईहा मतिसम्पदा-सामान्य रूप से जाने हुए अर्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा होना ।
- (३) ईहित वस्तु का विशेष रूप से निश्चय करना ।
- (४) ज्ञात वस्तु का कालान्तर में स्मरण रखना ।

प्र०—भगवन् ! अवग्रह-मतिसम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—अवग्रह-मतिसम्पदा छह प्रकार की कही गई है ।

जैसे—

- (१) प्रश्न आदि की शीघ्र ग्रहण करना ।
- (२) बहुते प्रश्नों को ग्रहण करना ।
- (३) अनेक प्रकार के प्रश्नों को ग्रहण करना ।
- (४) निश्चित रूप से ग्रहण करना ।
- (५) किसी के आधीन न रहकर अपनी प्रतिभा से ग्रहण करना ।

(६) सन्देह रहित होकर ग्रहण करना ।

इसी प्रकार ईहा-मतिसम्पदा भी छह प्रकार की होती है ।

इसी प्रकार अवाय-मतिसम्पदा भी छह प्रकार की होती है ।

प्र०—भगवन् ! धारणा-मतिसम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—धारणा-सदसंपदा छविहः पण्यता, तं जहा—

१. गहं धरेद्,
२. बहुविहं धरेद्,
३. पौराणं धरेद्,
४. दुद्धरं धरेद्,
५. अणिस्सयं धरेद्,
६. असंदिहं धरेद् ।

से तं सह-संपदा । —दसा. द. ४ सु. ८-१२

पयोग संपदा—

४३५. प्र०—से किं तं पयोग-संपदा ?

उ०—पयोग-संपदा चउखिहः पण्यता, तं जहा—

१. आयं विवाय वायं पउंजिहः भवद्,
२. परिसं विवाय वायं पउंजिहः भवद्,
३. क्षेत्रं विवाय वायं पउंजिहः भवद्,
४. वस्तुं विवाय वायं पउंजिहः भवद्,

से तं पयोग-संपदा । —दसा. द. ४, सु. १३

संग्रह परिणाम संपदा—

४३६. प्र०—से किं तं संग्रह-परिणाम नाम संपदा ?

उ०—संग्रह-परिणाम नाम संपदा चउखिहः पण्यता, तं जहा—

१. बहुजनः पाउगयाए वासावासेसु क्षेत्रं पडिले-हिसा भवद्,
२. बहुजन—पाउगयाए प्रातिहारिक-पीठ-फलक-सेज्जा संधारयं उणिगिहः भवद् ।
३. कालेण कालं समायरित्ता भवद्,
४. अहागुह संपूएता भवद् ।

से तं संग्रह-परिणाम नाम संपदा ।

—दसा. द. ४, सु. १४

सप्त संग्रह-असंग्रहस्थान

४३७. आयरिय-उवज्जायस्स णं गणंसि सप्त संग्रहस्थाना पण्यता, तं जहा—

१. आयरिय-उवज्जायस्स णं गणंसि आर्थं वा धारणं वा सम्मं पउंजिहः भवति,
२. आयरिय-उवज्जायस्स णं गणंसि आधारातिणिमाए कित्ति कम्मं सम्मं पउंजिहः भवति,

उ०—धारणाभतिसम्पदा छह प्रकार की कही गई है ।

जैसे—

- (१) बहुत अर्थों को धारण करना ।
- (२) अनेक प्रकार के अर्थों को धारण करना ।
- (३) पुरानी बात को धारण करना ।
- (४) कठिन से कठिन बात को धारण करना ।
- (५) अनुक्त अर्थ को अपनी प्रतिभा द्वारा धारण करना ।
- (६) ज्ञात अर्थ को सन्देह-रहित धारण करना ।

यह मतिसम्पदा है ।

प्रयोग-सम्पदा—

४३५. प्र०—भगवन् ! प्रयोग-सम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—प्रयोग सम्पदा चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) अपनी शक्ति को जानकर वाद-विवाद करना ।
- (२) परिषद् के भावों को जानकर वाद-विवाद करना ।
- (३) क्षेत्र को जानकर वाद-विवाद करना ।
- (४) वस्तु के (प्रतिपाद्य) विषय को जानकर वाद-विवाद करना ।

यह प्रयोग सम्पदा है ।

संग्रह-परिणाम-सम्पदा—

४३६. प्र०—भगवन् ! संग्रहपरिणाम नामक सम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—संग्रहपरिणाम नामक सम्पदा चार प्रकार की कही गई है । जैसे—

- (१) वर्षावास में अनेक मुनिजनों के रहने योग्य क्षेत्र का प्रतिलेखन करना ।
- (२) अनेक मुनिजनों के लिए प्रातिहारिक-पीठ-फलक-शय्या और संस्तारक ग्रहण करना ।
- (३) समयानुसार कार्य करना ।
- (४) गुरुजनों का यथायोग्य पूजा-सत्कार करना ।

यह संग्रह परिणाम नामक सम्पदा है ।

सात संग्रह-असंग्रह स्थान—

४३७. आचार्य तथा उपाध्याय के लिए गण में सात संग्रह स्थान कहे हैं । यथा—

- (१) आचार्य तथा उपाध्याय गण में आज्ञा व धारण का सम्यक् प्रयोग करते हैं ।
- (२) आचार्य तथा उपाध्याय गण में बड़े छोटे के क्रम से वन्दना का सम्यक् प्रयोग करते हैं ।

३. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि जे सुत्तपज्जवजाते धारेति ते काले काले सम्ममणुप्पवाइत्ता भवति ।

४. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि गिलाणसेह्वेयावच्चं सम्म-मग्गुट्ठिता भवति ।

५. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि आपुच्छियचारी यावि भवति, णो अणाणुपुच्छियचारी ।

६. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि अणुप्पणाइं उवगरणाइं सम्मं उप्पाइत्ता भवति ।

७. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि पुब्बुप्पणाइं उवगरणाइं सम्मं सारक्खेत्ता संगोवित्ता भवति, णो असम्मं सारक्खेत्ता संगोवित्ता भवति ।

आयरिय-उवज्झायस्स णं गणंसि सत्त असंगहठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

१. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि आणं वा धारणं वा णो सम्मं पडंजित्ता भवति ।

२. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि आधारातिणियाए किति-कम्मं णो सम्मं पडंजित्ता भवति ।

३. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि जे सुत्तपज्जवजाते धारेति ते काले काले णो सम्ममणुप्पवाइत्ता भवति ।

४. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि गिलाणसेह्वेयावच्चं णो सम्ममग्गुट्ठिता भवति ।

५. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि अणापुच्छियचारी यावि भवइ, णो अणाणुपुच्छियचारी ।

६. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि अणुप्पणाइं उवगरणाइं णो सम्मं उप्पाइत्ता भवति ।

७. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि पच्चुप्पणाण उवगरणाणं णो सम्मं सारक्खेत्ता संगोवेत्ता, भवति ।

—ठाणं. अ. ७, सु. ५४४

(३) आचार्य तथा उपाध्याय जिन-जिन सूत्र पर्यवजातों को धारण करते हैं, उनकी उचित समय पर गण को सम्यक् वाचना देते हैं ।

(४) आचार्य तथा उपाध्याय गण के ग्लान तथा नवदीक्षित साधुओं की यथोचित सेवा के लिए सतत जागरूक रहते हैं ।

(५) आचार्य तथा उपाध्याय गण को पूछकर अन्य प्रदेश में विहार करते हैं, उन्हें पूछे बिना विहार नहीं करते हैं ।

(६) आचार्य तथा उपाध्याय गण के लिए अनुपलब्ध उपकरणों को यथाविधि उपलब्ध करते हैं ।

(७) आचार्य तथा उपाध्याय गण में प्राप्त उपकरणों का सम्यक् प्रकार से संरक्षण तथा संगोपन करते हैं, असम्यक् प्रकार से संरक्षण और संगोपन नहीं करते हैं ।

आचार्य तथा उपाध्याय के लिए गण में सात असंगह स्थान हैं, यथा—

(१) आचार्य तथा उपाध्याय गण में आज्ञा व धारणा का सम्यक् प्रयोग नहीं करते हैं ।

(२) आचार्य तथा उपाध्याय गण में यथारहित कृतिकर्म का सम्यक् प्रयोग नहीं करते हैं ।

(३) आचार्य तथा उपाध्याय जिन-जिन सूत्र-पर्यवजातों को धारण करते हैं, उनकी उचित समय पर गण को सम्यक् वाचना नहीं देते हैं ।

(४) आचार्य तथा उपाध्याय ग्लान तथा नवदीक्षित साधुओं की यथोचित सेवा के लिए सतत जागरूक नहीं रहते हैं ।

(५) आचार्य तथा उपाध्याय गण को पूछे बिना अन्य प्रदेशों में विहार करते हैं, उसे पूछकर विहार नहीं करते हैं ।

(६) आचार्य तथा उपाध्याय गण के लिए अनुपलब्ध उपकरणों को यथाविधि उपलब्ध नहीं करते हैं ।

(७) आचार्य तथा उपाध्याय गण में प्राप्त उपकरणों का सम्यक् प्रकार से संरक्षण और संगोपन नहीं करते हैं ।



निर्ग्रन्थ पद-व्यवस्था—४

आयरिय उवज्झाय पदारिहा निर्ग्रन्था—

४३८. पंचवास परिघाए ससणे निर्ग्रन्थे—

आयार-कुसले, सजम-कुसले, पवयण-कुसले, पणसि-कुसले, संगह-कुसले, उवगह-कुसले,

आचार्य उपाध्याय पद योग्य निर्ग्रन्थ -

४३८. पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला भ्रमण निर्ग्रन्थ -

यदि आचारकुशल, संघसकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, मंग्रहकुशल और उपग्रहकुशल हो ।

अक्षयायारे, अमित्रायारे, असबलायारे, असंकलिष्टायारे,
बहुस्तुए, बभ्रमागमे ।

जहण्णेणं वसा-कल्प-ववहारधरे, कप्पइ आयरिय-उवज्जाय-
त्ताए उद्दिस्सिए ।

अट्ठवास-परियाए समणे निगंथे—

आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पणत्तिकुसले,
संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्षयायारे, अमित्रायारे,
असबलायारे, असंकलिष्टायारे, बहुस्तुए, बभ्रमागमे,

जहण्णेणं ठाणं-सभवाय-धरे, कप्पइ आयरियत्ताए उवज्जाय-
त्ताए गणावच्छेदयत्ताए उद्दिस्सिए ।

निरुद्धपरियाए समणे निगंथे कप्पइ तद्धिसं आयरिय-
उवज्जायत्ताए उद्दिस्सिए ।

प०—से हिमाहु मंते ! ?

उ०—अस्थि णं थेराणं तहाक्खाणि कुलाणि कजाणि, पत्ति-
याणि, थेज्जाणि वेसासियाणि, सम्मयाणि, सम्मुद्ध-
कराणि, अणुमयाणि बहुमयाणि भवन्ति ।

तेहि कब्बेहि, तेहि पत्तिएहि, तेहि थेज्जेहि,
तेहि वेसासिएहि, तेहि सम्मएहि, तेहि सम्मुद्धकरेहि,
तेहि अणुमएहि, तेहि बहुमएहि ।

अं से निरुद्धपरियाए समणे निगंथे,

कप्पइ आयरिय-उवज्जायत्ताए उद्दिस्सिए तद्धिसं ।

—वव. उ. ३, सु. १, ७, ९

आयरिय उवज्जायत्ताए उद्दिस्सिए निगंथा—

४३९. सच्छेव णं से पंचवासपरियाए समणे निगंथे—

नो आयार-कुसले, नो संजम-कुसले, नो पवयण-कुसले,
नो पणत्ति-कुसले, नो संगह-कुसले, नो उवग्गह-कुसले,
अयायारे मित्रायारे, सबलायारे,
संकलिष्टायारे, अप्पसुए, अप्पागमे,
नो कप्पइ आयरिय-उवज्जायत्ताए उद्दिस्सिए ।

सच्छेव णं से अट्ठवासपरियाए समणे निगंथे—

नो आयारकुसले, नो संजमकुसले, नो पवयणकुसले,
नो पणत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले,
अयायारे, मित्रायारे, सबलायारे,
संकलिष्टायारचित्ते, अप्पसुए, अप्पागमे,
नो कप्पइ आयरियत्ताए, उवज्जायत्ताए, गणावच्छेदयत्ताए
उद्दिस्सिए ।

अक्षत चारित्र वाला, अभिन्न चारित्र वाला, अशबल
चारित्र वाला और असंकलिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एवं
बहु आगमज्ञ हो,

एवं जघन्य दणा, कल्प एवं व्यवहार का धारक हो तो उसे
आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है ।

आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—

यदि आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल,
संग्रहकुशल और उपग्रहकुशल हो : अक्षत चारित्र वाला, अभिन्न
चारित्र वाला, अशबल चारित्र वाला और असंकलिष्ट आचार
वाला हो, बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ हो,

एवं जघन्य स्थानांग-समवायांग का धारक हो तो उसे आचार्य
उपाध्याय और गणावच्छेदक पद देना कल्पता है ।

निरुद्ध पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जिस दिन दीक्षित हो
उसी दिन उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है ।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—स्थविरो के द्वारा तथाकथ्य से भावित प्रीति युक्त,
स्थिर, विश्वस्त सम्मत, प्रमुदित, अनुमत और बहुमत अनेक
कुल होते हैं ।

उन भावित प्रीतियुक्त स्थिर विश्वस्त सम्मत प्रमुदित,
अनुमत और बहुमत कुल से दीक्षित जो निरुद्ध पर्याय वाला
श्रमण निर्ग्रन्थ है उसे उसी दिन आचार्य या उपाध्याय पद देना
कल्पता है ।

आचार्य उपाध्याय पद के अयोग्य निर्ग्रन्थ—

४३९. वह पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—

यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में
कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और संक्लिष्ट आचार वाला
हो, अल्पश्रुत और अल्प आगमज्ञ हो तो उसे आचार्य या उपा-
ध्याय पद देना नहीं कल्पता है ।

वह आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—

यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में
कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और संक्लिष्ट आचार
वाला हो, अल्पश्रुत और अल्प आगमज्ञ हो तो उसे आचार्य,
उपाध्याय और गणावच्छेदक पद देना नहीं कल्पता है ।

निवृत्तवास परिचाए समणे णिमांथे—

कप्पइ आयरिय-उवज्जायत्ताए उद्दिस्सिए, समुच्छेयकप्पंसि ।

तस्स णं आचार-पकप्पस्स वेसे अवट्ठिए,
से य “अहिज्जिस्सामि” त्ति अहिज्जेज्जा,
एवं से कप्पइ आयरिय-उवज्जायत्ताए उद्दिस्सिए ।

से य “अहिज्जिस्सामि” त्ति नो अहिज्जेज्जा,
एवं से नो कप्पइ आयरिय-उवज्जायत्ताए उद्दिस्सिए ।

—वव. उ. ३, सु. ६, प. १०

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स पददान विहाणं—

४४०. एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय-उवज्जायत्ताए
इत्तरियं विसं वा, अणुविसं वा, उद्दिस्सिए वा, धारेस्सए
वा, जहा वा तस्स गणस्स पत्तिं सिया ।

—वव. उ. २, सु. २६

गिलाण आयरियाइणा पददान निद्देशो—

४४१. आयरिय-उवज्जाए गिलायमाणे अन्नयरं वएज्जा—“अज्जो !
ममंसि णं कालगपंसि सत्ताणंसी अयं समुक्कसियब्बे ।”

से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियब्बे,

से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियब्बे,

अरिय य इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियब्बे,

नरिय य इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से चेव
समुक्कसियब्बे,

तंसि च णं समुक्कट्ठंसि परो वएज्जा—

“वुत्समूक्कट्ठं ते अज्जो ! निक्खिवाहि ।”

तस्स णं निक्खिवमाणस्स नरिय केइ छेए वा परिहारे वा ।

जे साहम्मिया अहाकप्पेणं नो उट्ठाए विहरंति सग्गेसि तेसि
तप्पत्तिं छेए वा परिहारे वा, —वव. उ. ४, सु. १३

आचार्य के दिवंगत होने पर निवृत्त वर्ष पर्याय वाले भ्रमण
को आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है ।

उसके आचार प्रकल्प का कुछ अंश अध्ययन करना शेष हो
और वह अध्ययन पूर्ण करने का संकल्प रखकर पूर्ण कर ले तो
उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है ।

किन्तु यदि वह शेष अध्ययन पूर्ण करने का संकल्प रखकर
भी उसे पूर्ण न करे तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना नहीं
कल्पता है ।

एकपक्षीय भिक्षु को पद देने का विधान—

४४०. आचार्य या उपाध्याय के स्थान पर एक पक्षीय अर्थात्
एक ही आचार्य के पास दीक्षा और श्रुत ग्रहण करने वाले भिक्षु
को ही अल्पकाल के लिए अथवा यावज्जीवन के लिए आचार्य
या उपाध्याय के पद पर स्थापित करना या उसे धारण करना
कल्पता है । अथवा परिस्थितिवश गण का हित हो वैसे भी किया
जा सकता है ।

ग्लान आचार्यादि के द्वारा पद देने का निर्देश—

४४१. रोगग्रस्त आचार्य या उपाध्याय किसी प्रमुख साधु से
कहे कि “हे आर्य ! मेरे कालगत होने पर अमुक साधु को मेरे
पद पर स्थापित करना ।”

यदि आचार्य निर्दिष्ट वह उस पद पर स्थापन करने योग्य
हो तो उसे स्थापित करना चाहिए ।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे
स्थापित नहीं करना चाहिए ।

यदि संघ में अन्य कोई साधु पद के योग्य हो तो उसे
स्थापित करना चाहिए ।

यदि संघ में अन्य कोई भी साधु उस पद के योग्य न हो
तो आचार्य निर्दिष्ट साधु को ही उस पद पर स्थापित करना
चाहिए ।

उस को उस पद पर स्थापित करने के बाद कोई भीतार्थ
साधु कहे कि—

“हे आर्य ! तुम इस पद के अयोग्य हो । अतः इस पद को
छोड़ दो” —(ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड़ दे तो
वह दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र नहीं होता है ।

जो साधुमिक साधु कल्प के अनुसार उसे आचार्यादि पद
छोड़ने के लिए न कहे तो वे सभी साधुमिक साधु उक्त कारण
से दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त पात्र होते हैं ।

ओहायमाण-आयरियाइणा पद-दाण निहेसो—

४४२. आयरिय-उवज्जाए ओहायमाणे अन्नयरं वएज्जा “अज्जो !
ममंसि ण ओहायियंसि समणंसि अयं समुक्कसियध्वे ।”

से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियध्वे,

से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियध्वे ।

अत्थि य इत्थ अग्ने केइ समुक्कसिणारिहे से समुक्कसियध्वे ।

नत्थि य इत्थ अग्ने केइ समुक्कसणारिहे से खेव समुक्क-
सियध्वे ।

तं सि ख णं समुक्किकट्ठंसि परो वएज्जा—

“वुत्समुक्किकट्ठं ते अज्जो निविण्णवाहि ।”

तस्स णं निविण्णवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा ।

जे साहम्मिया महाकप्पेणं नो उट्ठाए विहरंसि ।

सज्जेसि तेसि तप्पत्थियं छेए वा परिहारे वा ।

—वव. उ. ४, सु. १४

पावजीवी बहुस्सुयाणं पद-निसेहो—

४४३. भिक्खू य बहुस्सुए बभ्भागमे बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु
कारणेसु माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए
तस्स तप्पत्थियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइ-
यत्तं वा उट्ठिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

गणावच्छेइए बहुस्सुए बभ्भागमे बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु
कारणेसु माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए
तस्स तप्पत्थियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइ-
यत्तं वा उट्ठिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

आयरिय-उवज्जाए बहुस्सुए बभ्भागमे बहुसो-बहु-आगाढा-
गाढेसु कारणेसु माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जी-
वाए तस्स तप्पत्थियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणाव-
च्छेइयत्तं वा उट्ठिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

बह्वे भिक्खुणो बहुस्सुया बभ्भागमा बहुसो बहु-आगाढा-

संयम त्याग कर जाने वाले आचार्यादि के द्वारा पद देने
का निर्देश—

४४२. संयम का परित्याग कर जाने वाले आचार्य या उपाध्याय
किसी प्रमुख साधु से कहे कि — “हे आर्य ! मेरे चले जाने पर
अमुक साधु को मेरे पद पर स्थापित करना ।”

यदि आचार्य निर्दिष्ट वह साधु उस पद पर स्थापन करने
योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए ।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे
स्थापित नहीं करना चाहिए ।

यदि संघ में अन्य कोई साधु उस पद के योग्य हो तो उसे
स्थापित करना चाहिए ।

यदि संघ में अन्य कोई भी साधु उस पद के योग्य न हो तो
आचार्य निर्दिष्ट साधु को ही उस पद पर स्थापित करना
चाहिए ।

उस को उस पद पर स्थापित करने के बाद यदि गीतार्थ
साधु कहे कि—

“हे आर्य ! तुम इस पद के अयोग्य हो, अतः इस पद को
छोड़ दो” (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड़ दे तो
वह दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र नहीं होता है ।

जो सार्धमिक साधु कल्प के अनुसार उसे आचार्यादि पद
छोड़ने के लिए न कहें तो वे सभी सार्धमिक साधु उक्त कारण से
दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं ।

पाप जीवी बहुश्रुतो को पद देने का निषेध—

४४३. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ भिक्षु अनेक प्रगाढ़ कारणों के होने
पर यदि अनेक बार माया पूर्वक मृषा बोले या पाप श्रुतों से
अपवित्र आजीविका करे तो उसे उक्त कारणों से यावज्जीवन
आचार्य—यावत् - गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं
कल्पता है ।

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ गणावच्छेदक अनेक प्रगाढ़ कारणों के
होने पर यदि अनेक बार माया पूर्वक मृषा बोले या पाप श्रुतों से
अपवित्र आजीविका करे तो उसे उक्त कारणों से यावज्जीवन
आचार्य—यावत् - गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं
कल्पता है ।

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ आचार्य या उपाध्याय अनेक प्रगाढ़
कारणों के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या
पापश्रुतों से आजीविका करे तो उसे उक्त कारणों से यावज्जीवन
आचार्य - यावत् - गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं
कल्पता है ।

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक भिक्षु अनेक प्रगाढ़ कारणों के

गाढेसु कारणेसु माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी, जाव-
जजीवाए तेसि तप्पत्तिथं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-
गणावच्छेदयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

बह्वे गणावच्छेदया बहुसुया, बभ्भागमा, बहुसो बहु-
आगाढा गाढेसु कारणेसु माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी,
जावजजीवाए तेसि तप्पत्तिथं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-
गणावच्छेदयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

बह्वे आयरिय-उवज्जाया बहुसुया बभ्भागमा बहुसो बहु-
आगाढा गाढेसु कारणेसु माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी,
जावजजीवाए तेसि तप्पत्तिथं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-
गणावच्छेदयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

बह्वे भिक्खुणो, बह्वे गणावच्छेदया बह्वे आयरिय-उव-
ज्जाया बहुसुया बभ्भागमा बहुसो बहु-आगाढा गाढेसु
कारणेसु, माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावजजीवाए
तेसि-तप्पत्तिथं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव गणावच्छेदयत्तं
वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

—बव. उ. ३, सु. २३-२६

आचारकप्पपरिभट्टस्स पव वाण विहि-णिसेहो—

४४४. निर्गन्धस्स णं नव-उहर-तरुणस्स आचारकप्पे नामं अज्झयणे
परिभट्टे सिया, से य पुच्छियठवे—

“केण ते कारणेण अज्जो ! आचारकप्पे नामं-अज्झयणे
परिभट्टे ? किं आवाहेण उवाहु पमाएणं ?”

से य वएज्जा नो आवाहेणं, पमाएणं, जावजजीव तस्स
तप्पत्तिथं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं
वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

से य वएज्जा—“आवाहेणं, नो पमाएणं, से य “संठवेस्सा-
मित्ति” संठवेज्जा एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-
गणावच्छेदयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

से य ‘संठवेस्सामि’ त्ति नो संठवेज्जा, एवं से नो कप्पइ
आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं वा उद्दिसित्तए वा
धारेत्तए वा ।

—बव. उ. ५, सु. १५

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आचार-कप्पे नामं अज्झयणे परि-
भट्टे सिया, कप्पइ तेसि संठवेत्ताणं वा, असंठवेत्ताणं वा
आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं वा उद्दिसित्तए वा
धारेत्तए वा ।

होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या पापश्रुतों से
आजीविका करे तो उन्हें उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य
—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं
कल्पता है ।

बहुश्रुत, बहुआगमज अनेक गणावच्छेदक अनेक प्रगाढ़
कारणों के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या
पापश्रुतों से आजीविका करे तो उन्हें उक्त कारणों से यावज्जीवन
आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं
कल्पता है ।

बहुश्रुत, बहुआगमज अनेक आचार्य या अनेक उपाध्याय
अनेक प्रगाढ़ कारणों के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक
मृषा बोले या पापश्रुतों से आजीविका करे तो उन्हें उक्त कारणों
से यावज्जीवन आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या
धारण करना नहीं कल्पता है ।

बहुश्रुत, बहुआगमज अनेक भिक्षु अनेक गणावच्छेदक या
अनेक आचार्य उपाध्याय अनेक प्रगाढ़ कारणों के होने पर यदि
अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या पापश्रुतों से आजीविका
करे तो उन्हें उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य—यावत्—
गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

आचार प्रकल्प विस्मृत को पद देने का विधि-निषेध—

४४४. नव दीक्षित बाल एवं तरुण निर्गन्ध यदि आचारप्रकल्प
(निशीथ आदि) का अध्ययन विस्मृत हो जाए तो उसे पूछना
चाहिए कि—

“हे आर्य ! तুম किस कारण से आचार प्रकल्प अध्ययन को
भूल गए हो क्या व्याधि से भूले हो या प्रमाद से ?”

यदि वह कहे कि —“व्याधि से नहीं अपितु प्रमाद से विस्मृत
हुआ” तो उसे उक्त कारण से जीवन पर्वन्त आचार्य—यावत्—
गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

यदि वह कहे कि—“व्याधि से विस्मृत हुआ हूँ प्रमाद से
नहीं । अब मैं आचार प्रकल्प पुनः कण्ठस्थ कर लूँगा”—ऐसा
कहकर कण्ठस्थ कर ले तो उसे आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक
पद देना या धारण करना कल्पता है ।

यदि वह आचार प्रकल्प को पुनः कण्ठस्थ कर लेने का कह
कर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक
पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

स्थविरत्व प्राप्त स्वविर यदि आचार प्रकल्प अध्ययन विस्मृत
हो जाये और पुनः कण्ठस्थ करे या न करे तो भी उन्हें आचार्य
—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है ।

धेरानं धेरभूमिपत्तानं आयार-पकप्पे नामं अणसयणे परि-
क्कम्मे सिया कप्पइ सेसि सधिसण्णाणं वा, संतुपट्टाणं वा,
उत्ताणयाण वा, पासिल्लयाण वा आयारपकप्पं नाम
अणसयणं दोच्छपि तच्छपि पडिपुच्छित्तए वा, पडिसारे-
त्तए वा ।^१

—वव. उ. ५, सु. १७-१८

अब्रह्मसेवीणं पद-दाण विहि-णिसेहो—

४४५. भिक्षु य गणाओ अवक्कम्मं मेहुण धम्मं पडिसेवेज्जा, तिणि
संबच्छराणि तस्स तप्पसियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-
गणावच्छेदयत्तं वा उट्ठिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

तिहि संबच्छरेहि धोइक्कंतेहि चउत्थगंसि संबच्छरंसि पट्ठि-
यंसि ठियस्स उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निवि-
कारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं
वा उट्ठिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

गणावच्छेदए गणावच्छेदयत्तं अनिक्खविसा मेहुणधम्मं पडि-
सेवेज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पसियं नो कप्पइ आयरियत्तं
वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं वा, उट्ठिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

गणावच्छेदए गणावच्छेदयत्तं निक्खविसा मेहुणधम्मं पडि-
सेवेज्जा, तिणि संबच्छराणि तस्स तप्पसियं नो कप्पइ
आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं वा उट्ठिसित्तए वा धारे-
त्तए वा ।

तिहि संबच्छरेहि धोइक्कंतेहि चउत्थगंसि संबच्छरंसि पट्ठि-
यंसि ठियस्स उवसंतस्स, उवरयस्स पडिविरयस्स, निवि-
कारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं वा
उट्ठिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

आयरिय-उवज्झाए आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खविसा
मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पसियं नो
कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं वा उट्ठिसित्तए
वा धारेत्तए वा ।

आयरिय-उवज्झाए आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खविसा मेहुण-
धम्मं पडिसेवेज्जा, तिणि संबच्छराणि तस्स तप्पसियं नो
कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं वा उट्ठिसित्तए
वा धारेत्तए वा ।

तिहि संबच्छरेहि धोइक्कंतेहि चउत्थगंसि संबच्छरंसि पट्ठि-
यंसि ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निवि-
कारस्स, एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं
वा उट्ठिसित्तए वा धारेत्तए वा । — वव. उ. ३, सु. १३-१७

स्थविरत्व प्राप्त स्थविर यदि आचार प्रकल्प अध्ययन
विस्मृत हो जाये तो उन्हें बैठे हुए, शयन किये हुए, अधःशयन
किये हुए या पार्श्वशयन से गयन किये हुए को भी पुनः आचार
प्रकल्प अध्ययन का दो-तीन बार पूछकर श्रवण करना और याद
करना कल्पता है ।

अब्रह्मसेवी को पद देने के विधि-निषेध—

४४५. यदि कोई भिक्षु गण को छोड़कर मैथुन—धर्म का प्रति-
सेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य
—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं
कल्पता है ।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर
यदि वह वेदोदय से उपशान्त, मैथुन से निवृत्त, मैथुन सेवन से
ग्लानि प्राप्त और विषय-आसना रहित हो जाए तो उसे आचार्य
—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है ।

यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोड़े बिना मैथुन धर्म का
प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य—यावत्—
गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोड़कर मैथुन धर्म का
प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य
—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं
कल्पता है ।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने
पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो
जाए तो उसे आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या
धारण करना कल्पता है ।

यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपने पद को छोड़े बिना
मैथुन धर्म का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन
आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं
कल्पता है ।

यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपने पद को छोड़कर
मैथुन धर्म का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष
पर्यन्त आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण
करना नहीं कल्पता है ।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने
पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो
जाए तो उसे आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या
धारण करना कल्पता है ।

१ अल्पकाल का दीक्षित साधु स्थविर को आचार प्रकल्प अध्ययन का स्मरण कराए—इसकी "परिसारण" संज्ञा है और स्थविर
द्वारा स्मरण करने की "प्रतिच्छन" संज्ञा है ।

ओहावियाणं पद-दाण विहि-णित्तेहो —

४४६. भिक्षु य गणाओ अवकम्म ओहाएज्जा, तिणिण संवच्छ-
राणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणा-
वच्छेदयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्ताए वा ।

तिहि संवच्छरेहि वीइक्कत्तेहि चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठि-
यंसि ठियस्स उवसंतस्स, उवरयस्स, पट्ठिविरयस्स, निव्वि-
गारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं
वा उद्दिसित्तए वा धारेत्ताए वा ।

गणावच्छेदए गणावच्छेदयत्तं अनिक्खवित्ता ओहाएज्जा,
जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-
गणावच्छेदयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्ताए वा ।

गणावच्छेदए गणावच्छेदयत्तं निक्खवित्ता ओहाएज्जा,
तिणिण संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं
वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्ताए वा ।

तिहि संवच्छरेहि वीइक्कत्तेहि चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठि-
यंसि ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पट्ठिविरयस्स, निव्वि-
गारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं
वा उद्दिसित्तए वा धारेत्ताए वा ।

आयरिय-उवज्जाए आयरिय-उवज्जायत्तं अनिक्खवित्ता
ओहाएज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आय-
रियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्ताए
वा ।

आयरिय-उवज्जाए आयरिय-उवज्जायत्तं निक्खवित्ता ओहा-
एज्जा, तिणिण संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आय-
रियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्ताए
वा ।

तिहि संवच्छरेहि वीइक्कत्तेहि चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठि-
यंसि ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पट्ठिविरयस्स, निव्वि-
गारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेदयत्तं
वा उद्दिसित्तए वा धारेत्ताए वा । वव. उ. ३, सु. १८-२२

उवज्जाय पद-दाण विहि-णित्तेहो —

४४७. तिवासपरियाए समणे निगंथे -

आयारकुसले, संजमकुसले, पवणकुसले, पण्णासिकुसले,
संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिआयारे,
असबलायारे, अमंकिलिहयायारे, बहुस्सुए दइज्जागमे, जहण्णेणं
आयारपक्क-धरे, कप्पइ उवज्जायत्ताए उद्दिसित्तए ।

संयम त्याग कर जाने वालों को पद देने का विधि-निषेध —

४४६. यदि कोई भिक्षु गण व संयम का परित्याग कर वेष को
छोड़कर चला जावे और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो उसे
उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक
पद दे । या धारण करना नहीं कल्पता है ।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर
यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए
तो उसे आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण
करना कल्पता है ।

यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोड़े बिना संयम का
परित्याग कर चला जावे और बाद में पुनः दीक्षित हो जाये तो
उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक
पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोड़कर तथा संयम का
परित्याग कर चला जावे और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो
उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य—यावत्—गणाव-
च्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर
यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए
तो उसे आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण
करना कल्पता है ।

यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपना पद छोड़े बिना
संयम का परित्याग कर चला जावे और बाद में पुनः दीक्षित हो
जाए तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य—यावत्—
गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपना पद छोड़कर तथा
संयम का परित्याग कर चला जावे और बाद में पुनः दीक्षित हो
जाए तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य—यावत्—
गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर
यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए
तो उसे आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण
करना कल्पता है ।

उपाध्याय पद देने के विधि-निषेध —

४४७. तीन वर्ष की दीक्षा पर्याप्त वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—

यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रवृत्ति, संग्रह और उपग्रह
करने में कुशल हो तथा अक्षत, अभिन्न, अगम्य और अमंक्विष्ट
आचार वाला हो, बहुश्रुत एवं बहु आगमज हो और तथम्य
आचार प्रकल्पधर हो तो उसे उपाध्याय पद देना कल्पता है ।

सच्छेव णं से तिवास परिथाए समणे निगंघे—नो आचार-
कुसले, नो संजमकुसले, नो पवयणकुसले, नो पण्णास्सिकुसले,
नो संगहकुसले, नो उवग्गाहकुसले, छयायारे, भिष्सायारे,
सबलायारे, संकिसिाट्ठायारे, अप्पसुए, अप्पागसे नो कप्पइ
उवज्जायत्ताए उद्दिस्सिाए । —वव. उ. ३, सु. ३-४

अणवट्ठप्प-पारंक्षिक-भिक्षुस्स उवट्ठावणा—

४४८. अणवट्ठप्पं भिक्षुं अग्निहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदयस्स
उवट्ठावित्तए ।

अणवट्ठप्पं भिक्षुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेदयस्स
उवट्ठावित्तए ।

पारंक्षिकं भिक्षुं अग्निहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदयस्स
उवट्ठावित्तए ।

पारंक्षिकं भिक्षुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेदयस्स
उवट्ठावित्तए ।

अणवट्ठप्पं भिक्षुं पारंक्षिकं वा, भिक्षुं अग्निहिभूयं वा गिहि-
भूयं वा, कप्पइ तस्स गणावच्छेदयस्स उवट्ठावित्तए, जहा तस्स
गणस्स पत्तियं सिया । —वव. उ. २, सु. १८-२२

आयरिय अग्निस्साए विहरण णिसेहो—

४४९. निगंघस्स णं नव-उहर-तण्णस्स आयरिय-उवज्जाए बीसं-
भेज्जा । नो से कप्पइ अणायरिय-उवज्जाइए होस्तए ।

कप्पइ से पुण्वं आयरियं उद्दिस्सावेत्ता तओ पच्छा उवज्जायं ।

प० - से किमाहु षंते ?

उ०—दु-संगहिए समणे निगंघे, तं जहा—

१. आयरिएण, २. उवज्जाएण य ।

—वव. उ. ३, सु. ११

गणधारण अरिहा अणगारा—

४५०. छहि ठाणोहि संपणो अणगारे अरिहति गणं धारित्तए,
तं जहा—

१. सच्छे पुरिसजाते,	२. सच्छे पुरिसजाते,
३. मेधावी पुरिसजाते,	४. बहुसुते पुरिसजाते,
५. सत्तिमं	६. अप्पाधिकरणे,

—ठाणं. अ. ६, सु. ४७५

गणधारण विहि-णिसेहो—

४५१. भिक्षु य इच्छेज्जा गणं धारेत्तए, भगवं य से अपत्तिछम्मे
एवं से नो कप्पइ गणं धारित्तए ।

वह (तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला भ्रमण निर्ग्रन्थ) यदि
आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में कुशल न
हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और संविलिप्त आचार वाला हो,
अल्पश्रुत एवं अल्प आगमज्ञ हो तो उसे उपाध्याय पद देना
नहीं कल्पता है ।

अनवस्थाप्य और पारंक्षिक भिक्षु की उपस्थापना—

४४८. अनवस्थाप्य नामक नीचें प्रायश्चित्त के पात्र भिक्षु को
गृहस्थ वेष धारण कराए बिना पुनः संयम में उपस्थापन करना
गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है ।

अनवस्थाप्य भिक्षु को गृहस्थ वेष धारण कराके पुनः संयम
में उपस्थापन करना गणावच्छेदक को कल्पता है ।

पारंक्षिक नामक दक्षिणें प्रायश्चित्त के पात्र भिक्षु को गृहस्थ
वेष धारण कराए बिना पुनः संयम में उपस्थापन करना गणा-
वच्छेदक को नहीं कल्पता है ।

पारंक्षिक भिक्षु को गृहस्थ वेष धारण कराके पुनः संयम में
उपस्थापन करना गणावच्छेदक को कल्पता है ।

अनवस्थाप्य भिक्षु को और पारंक्षिक भिक्षु को (परिस्थिति-
बल) गृहस्थ का वेष धारण कराके या गृहस्थ का वेष धारण
कराए बिना ही पुनः संयम में उपस्थापित करना गणावच्छेदक
को कल्पता है जिससे कि गण का हित संभव हो ।

आचार्य के नेतृत्व के बिना विचरने का निषेध—

४४९. नवदीक्षित, बालक या तरुण निर्ग्रन्थ के आचार्य और
उपाध्याय की मृत्यु हो जावे तो उसे आचार्य और उपाध्याय के
बिना रहना नहीं कल्पता है ।

उसे पहले आचार्य की और बाद में उपाध्याय की निष्ठा
अधीनता स्वीकार करके ही रहना चाहिये ।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—भ्रमण निर्ग्रन्थ दो के नेतृत्व में ही रहते हैं—

यथा—(१) आचार्य (२) उपाध्याय ।

गणधारण करने योग्य अणगार—

४५०. छह स्थानों से सम्पन्न अणगार गण को धारण करने में
समर्थ होता है, यथा—

(१) श्रद्धाशील पुरुष,	(२) गत्यवादी पुरुष,
(३) मेधावी पुरुष,	(४) बहुश्रुत पुरुष,
(५) शक्तिशाली पुरुष,	(६) कलहरहित पुरुष ।

गणधारण करने का विधि-निषेध—

४५१. यदि कोई भिक्षु गण को धारण करना (अग्रणी होना)
चाहे और वह मूत्र जाग आदि योग्यता से रहित हो तो उसे
गणधारणा करना नहीं कल्पता है ।

सगलं च से पलिच्छन्ने,
एवं से कप्पइ गणं धारेत्तए,
भिक्षू य इण्ठेज्जा गणं धारेत्तए, नो से कप्पइ थेरे अण्णापु-
च्छिता गणं धारेत्तए ।
कप्पइ से थेरे आणुच्छिता गणं धारेत्तए ।
थेरा य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ गणं धारेत्तए ।

थेरा य नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ गणं धारेत्तए ।

जं णं थेरेहिं अविइण्णं गणं धारेज्जा से सन्तरा छेए वा
परिहारे वा ।

जे साहम्मिया उट्ठाए विहरन्ति, तत्थि णं तेसि केइ छेए वा
परिहारे वा ।

—बव. उ. २, सु. १-२

गणं पमुहस्स कालगए समाने भिक्षुस्स किञ्चाइ—

४५२. गामाणुगामं इडज्जमाणे भिक्षू जं पुरओ कट्ठु विहरइ, से
य आह्वच्च वीसंभेज्जा, अत्थि य इत्थ अग्ने केइ उवसंपज्ज-
णारिहे से उवसंपज्जियन्वे ।

नत्थि य इत्थ अग्ने केइ उवसंपज्जणारिहे तस्स अप्पणी
कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं
विसं अग्ने साहम्मिया विहरन्ति तं णं तं णं विसं उवत्तिस्सए ।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तिर्यं वत्थए ।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तिर्यं वत्थए ।

तंसि च णं कारणसि निट्ठियंसि परो वएज्जा —

‘वसाहि अज्जो ! एगरायं वा वुरायं वा’ एवं से कप्पइ
एगरायं वा वुरायं वा वत्थए । नो से कप्पइ परं एगरायाओ
वा वुरायाओ वा वत्थए । जे तत्थ एगरायाओ वा वुरायाओ
वा परं वसइ से सन्तरा छेए वा परिहारे वा ।

वासावासं पज्जोसविओ भिक्षू य जं पुरओ कट्ठु विहरइ
से य आह्वच्च वीसंभेज्जा अत्थि य इत्थ अग्ने केइ उवसंप-
ज्जणारिहे से उवसंपज्जियन्वे ।

नत्थि य इत्थ अग्ने केइ उवसंपज्जणारिहे तस्स अप्पणी
कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं
विसं अग्ने साहम्मिया विहरन्ति तं णं तं णं विसं उवत्तिस्सए ।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तिर्यं वत्थए ।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तिर्यं वत्थए ।

तंसि च णं कारणसि निट्ठियंसि परो वएज्जा —

यदि वह भिक्षु सूत्र ज्ञान आदि योग्यता से युक्त हो तो उसे
गणधारण करना कल्पता है ।

यदि योग्य भिक्षु गणधारण करना चाहे तो उसे स्थविरों को
पूछे बिना गणधारण करना करना नहीं कल्पता है ।

स्थविरों को पूछ करके ही गणधारण करना कल्पता है ।

यदि स्थविर अनुज्ञा प्रदान करें तो गणधारण करना
कल्पता है ।

यदि स्थविर अनुज्ञा प्रदान न करें तो गणधारण करना
नहीं कल्पता है ।

यदि स्थविरों की अनुज्ञा प्राप्त किये बिना ही गणधारण
करता है तो वह उक्त कारण से दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त
का पात्र होता है, किन्तु उसके साथ जो साधर्मिक साधु विचरते
हैं वे दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं ।

अग्रणी के काल करने पर भिक्षु का कर्तव्य —

४५२. ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ भिक्षु जिन को अग्रणी
मानकर विहार कर रहा हो उनके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष
भिक्षुओं में जो भिक्षु योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिए ।

यदि अन्य कोई भिक्षु अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं ने
भी आचार प्रकल्प का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग में
विश्राम के लिए एक एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा में अन्य
स्वधर्मी विचरते हों उस दिशा में जाना कल्पता है ।

मार्ग में उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता है ।

यदि रोगादि का कारण हो तो अधिक ठहरना कल्पता है ।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि —

‘हे आर्य ! एक या दो रात और ठहरो’ तो उसे एक या
दो रात ठहरना कल्पता है किन्तु एक या दो रात से अधिक
ठहरना नहीं कल्पता है । जो भिक्षु वहाँ (कारण समाप्त होने के
बाद) एक या दो रात से अधिक ठहरता है वह मर्यादा उल्लंघन
के कारण दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

वर्षावास में रहा हुआ भिक्षु जिन को अग्रणी मानकर रह
रहा हो उनके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष भिक्षुओं में जो
भिक्षु योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिए ।

यदि अन्य कोई भिक्षु अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं ने
भी निशीथ आदि का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग में
विश्राम के लिये एक एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा में अन्य
स्वधर्मी विचरते हों उस दिशा में जाना कल्पता है ।

मार्ग में उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता है ।

यदि रोगादि का कारण हो तो अधिक ठहरना कल्पता है ।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—

“वसाहि धञ्जो ! एगरायं वा कुरायं वा” एवं से कप्पइ एगरायं वा कुरायं वा वत्थए । नो से कप्पइ परं एगरायामो वा कुरायामो वा वत्थए ।
वे तत्थ एगरायामो वा कुरायामो वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा ।

—वव. उ. ४, सु. ११-१२

“हे आर्य ! एक या दो रात और ठहरो” तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है । किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता है । जो भिक्षु एक या दो रात से अधिक ठहरता है वह मर्यादा उल्लंघन के कारण दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।



निर्यन्थी पद व्यवस्था—४

ग्लान प्रवर्तिनिणा पद-दाण निद्देशो—

४५३. पवस्तिणी य ग्लायमाणी अन्नयरं वएज्जा—“मए णं अज्जे ! कालगयाए समाणीए इयं समुक्कसियब्बा ।”

सा य समुक्कसिणारिहा समुक्कसियब्बा ।

सा य नो समुक्कसिणारिहा नो समुक्कसियब्बा ।

अत्थि य इत्थं अस्मा काइ समुक्कसिणारिहा वा समुक्कसियब्बा ।

नत्थि या इत्थं अस्मा काइ समुक्कसिणारिहा सा चेव समुक्कसियब्बा ।

ताए णं समुक्कहाए परा वएज्जा—“दुस्समुक्कदंठं से अज्जे ! निक्खिवाहि” ताए णं निक्खिमाणाए नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा ।

आओ साहन्मिणीओ अहाकर्णं नो उट्ठाए विहरंति सम्भासि तासि तप्पत्तिं छेए वा परिहारे वा ।

—वव. उ. ५, सु. १३

ओहायमाणी पवस्तिणिणा पद-दाण निद्देशो—

४५४. पवस्तिणीय ओहायमाणी अन्नयरं वएज्जा—“मए णं अज्जे ! ओहाविद्याए समाणीए इयं समुक्कसियब्बा ।”

ग्लान प्रवर्तिनी के द्वारा पद देने का निर्देश—

४५३. ग्लान प्रवर्तिनी किसी प्रमुख साध्वी से कहे कि—“हे आर्य ! मेरे कालगत होने पर अमुक साध्वी को मेरे पद पर स्थापित करना ।”

यदि प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट वह साध्वी उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे उस पद पर स्थापित करना चाहिए ।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नहीं करना चाहिए ।

यदि समुदाय में अन्य कोई साध्वी उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए ।

यदि समुदाय में अन्य कोई भी साध्वी उस पद के योग्य न हो तो प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट साध्वी को ही उस पद पर स्थापित करना चाहिए ।

उस को उस पद पर स्थापित करने के बाद कोई गीतार्थ साध्वी कहे कि—“हे आर्य ! तुम इस पद के अयोग्य हो अतः इस पद को छोड़ दो ।” (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड़ दे तो वह दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र नहीं होती है ।

जो स्वधर्मिणी साध्वियाँ कल्प के अनुसार उसे प्रवर्तिनी आदि पद छोड़ने के लिए न कहें तो वे सभी स्वधर्मिणी साध्वियाँ उस कारण से दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती हैं ।

संयम परित्याग करने वाली प्रवर्तिनी द्वारा पद देने का निर्देश—

४५४. संयम परित्याग कर जाने वाली प्रवर्तिनी किसी प्रमुख साध्वी से कहे कि “हे आर्य ! मेरे चले जाने पर अमुक साध्वी को मेरे पद पर स्थापित करना ।”

सा य समुक्कसिणारिहा समुक्कसियव्वा,

सा य नो समुक्कसिणारिहा सो समुक्कसियव्वा ।

अत्थि य इत्थ अस्मा काइ समुक्कसिणारिहा सा समुक्क-
सियव्वा ।

नत्थि य इत्थ अस्मा काइ समुक्कसिणारिहा सा जेव
समुक्कसियव्वा ।

ताए य णं समुक्कट्ठाए परा वएज्जा—“हुस्समुक्कट्ठं ते
अज्जे । निक्खिवाहि ।” ताए णं निक्खिवमाणाए नत्थि केइ
छेए वा परिहारे वा ।

आओ साहम्मिणीओ अहाकप्पं नो उट्ठाए विहरंति सव्वासि
तासि तप्पत्तिवं छेए वा परिहारे वा ।

—वच. उ. ५, सु. १४

निर्ग्रन्थीए आयरिय-उवज्झाय पवारिह निर्ग्रन्थ—

४५५. तिवासपरियाए समणे निर्ग्रन्थे तीसं वासपरियाए समणीए
निर्ग्रन्थीए कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिस्सिए ।

पंचवासपरियाए समणे निर्ग्रन्थे सट्ठिवासपरियाए समणीए
निर्ग्रन्थीए कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिस्सिए ।

—वच. उ. ७, सु. १६-२०

आयार-पकप्प-पव्वट्ठाए निर्ग्रन्थीए पद-वाणं विहि-गिसेहो—

४५६. निर्ग्रन्थीए-नव-इहर-तरुणाए आयार-पकप्पे नामं अज्झयणे
परिभट्ठे सिया, सा य पुच्छियव्वा—

“केण भे कारणेणं अज्जे ! आयार-पकप्पे नामं अज्झयणे
परिभट्ठे ? कि आवाहेणं उवाहु पमाएणं ?”

सा य वएज्जा “नो आवाहेणं, पमाएणं” जावज्जीवं तीसे
तप्पत्तिवं नो कप्पइ पवत्तिगित्तं वा गणावच्छेदित्तं वा
उद्दिस्सिए वा, धारेत्तए वा ।

सा य वएज्जा—“आवाहेणं, नो पमाएणं”—सा य
“संठवेस्सामि” ति संठवेज्जा एवं से कप्पइ पवत्तिगित्तं वा
गणावच्छेदित्तं वा उद्दिस्सिए वा, धारेत्तए वा ।

यदि वह साध्वी उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे
उस पद पर स्थापित करना चाहिए ।

यदि वह उस पद पर स्थापित करने योग्य न हो तो उसे
स्थापित नहीं करना चाहिए ।

यदि समुदाय में अन्य कोई साध्वी उस पद के योग्य हो तो
उसे स्थापित करना चाहिए ।

यदि समुदाय में अन्य कोई भी साध्वी उस पद के योग्य न
हो तो प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट साध्वी को ही उस पद पर स्थापित
करना चाहिए ।

उस को उस पद पर स्थापित करने के बाद कोई गीतार्थ
साध्वी कहे कि—“हे आर्ये ! तुम इस पद के अयोग्य हो अतः
इस पद को छोड़ दो” (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को
छोड़ दे तो वह दीक्षा-छेद वा परिहार प्रायश्चित्त की पात्र नहीं
होती है ।

जो स्वधमिणी साध्वियाँ कल्प के अनुसार उसे प्रवर्तिनी
आदि पद छोड़ने के लिए न कहें तो वे सभी स्वधमिणी साध्वियाँ
उक्त कारण से दीक्षा-छेद वा परिहार प्रायश्चित्त की पात्र
होती हैं ।

निर्ग्रन्थी के लिए आचार्य उपाध्याय पद योग्य निर्ग्रन्थ—

४५५. तीस वर्ष की श्रमण पर्याय वाली निर्ग्रन्थियों की उपाध्याय
के रूप में तीन वर्ष के श्रमण पर्याय वाले निर्ग्रन्थ को स्वीकार
करना कल्पता है ।

साठ वर्ष की श्रमण पर्याय वाली निर्ग्रन्थिनी को आचार्य या
उपाध्याय के रूप में पाँच वर्ष के श्रमण पर्याय वाले निर्ग्रन्थ को
स्वीकार करना कल्पता है ।

आचार प्रकल्प विस्मृत निर्ग्रन्थी को पद देने का विधि-
निवेध—

४५६. नवदीक्षित, बाल एवं तरुण निर्ग्रन्थी यदि आचार प्रकल्प
अध्ययन विस्मृत हो जाये तो उसे पूछना चाहिए कि—

“हे आर्ये ! तुम किस कारण से आचारप्रकल्प अध्ययन भूल
गई हो ? क्या व्याधि से भूली हो या प्रमाद से ?”

यदि वह कहे कि मैं व्याधि से नहीं अपितु प्रमाद से विस्मृत
हुई हूँ—तो उसे उक्त कारण से जीवन पर्यन्त प्रवर्तिनी या गणा-
वच्छेदिनी पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

यदि वह कहे कि—“व्याधि से विस्मृत हुई हूँ, प्रमाद से
नहीं अब मैं पुनः आचारप्रकल्प को कण्ठस्थ कर लूँगी”—ऐसा
कहकर कण्ठस्थ करले तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद
देना या धारण करना कल्पता है ।

सा य 'संठवेत्सामि' त्ति नो संठवेज्जा, एवं से नो कप्पइ
पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेदणित्तं वा—उद्दिस्सिए वा
धारेत्तए वा । —वज. उ. ५, सु. १६

आयरियाइ अणित्ताए णिग्गंथीए विहार निसेहो—

४५७. निर्ग्रन्थीए णं नव-उहर-तरुणीए आयरिय-उवज्जाए, पव-
त्तिणी य वीसंभेज्जा नो से कप्पइ अणायरिय-उवज्जाइयाए
अपवत्तिणियाए होत्तए ।

कप्पइ से पुब्बं आयरियं उद्दिस्सित्ता तओ उवज्जायं सओ
पण्ठा पवत्तिणि ।

प०—से किमाहु भंसे ?

उ०—त्ति—संगहिंया समणी निर्ग्रन्थी, तं जहा—

१. आयरिएणं, २. उवज्जाएणं, ३. पवत्तिणीए य ।

—वज. उ. ३, सु. १२

गण पमुहाए कालगयाए समाणीए णिग्गंथीए किञ्चाइ—

४५८. गामानुगामं दूइज्जमाणी निर्ग्रन्थी य जं पुरओ काउं
विहरइ, सा य आहव्व वीसंभेज्जा अत्थि य इत्थ काइ अस्मा
उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा ।

नत्थि य इत्थ काइ अस्मा उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पाणो
कप्पाए असमत्ते एवं से कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जण्णं
जण्णं विसं अस्माओ साहम्मणीओ विहरंति तण्णं तण्णं विसं
उवत्तित्तए ।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए ।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए ।

तंसि च णं कारणंसि तिद्धियंसि परो वएज्जा—

“वसाहि अज्जे ! एगरायं वा बुरायं वा” एवं से कप्पइ
एगरायं वा बुरायं वा वत्थए । नो से कप्पइ परं एगरायाओ
वा बुरायाओ वा वत्थए । जा तत्थ एगरायाओ वा बुरा-
याओ वा परं वसइ सा सत्तरा छेए वा परिहारे वा ।

वासावासं पज्जोसविणो निर्ग्रन्थी य जं पुरओ काउं विहरइ,
सा आहव्व वीसंभेज्जा, अत्थि य इत्थ काइ अस्मा उवसंप-
ज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा ।

नत्थि य इत्थ काइ अस्मा उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पाणो
कप्पाए असमत्ते एवं से कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जण्णं
जण्णं विसं अस्माओ साहम्मणीओ विहरंति तण्णं तण्णं विसं
उवत्तित्तए ।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए ।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए ।

यदि वह आचारप्रकल्प को पुनः कण्ठस्थ कर लेने का कह
कर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद
देना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

आचार्यादि के नेतृत्व के बिना निर्ग्रन्थी के रहने का
निषेध—

४५७. नवदीक्षिता, बालिका या तरुणी निर्ग्रन्थी के आचार्य,
उपाध्याय और प्रवर्तिनी की यदि मृत्यु हो जावे तो उसे आचार्य
उपाध्याय और प्रवर्तिनी के बिना रहना नहीं कल्पता है ।

उसे पहले आचार्य की, बाद में उपाध्याय की और बाद में
प्रवर्तिनी की निश्चा आधीनता स्वीकार करके ही रहना चाहिये ।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—श्रमणी निर्ग्रन्थी तीन के नेतृत्व में ही रहती है ।

यथा—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तिनी ।

अग्रणी साध्वी के काल करने पर साध्वी का कर्तव्य—

४५८. ग्रामानुग्राम विहार करती हुई साध्वियाँ जिस को अग्रणी
मानकर विहार कर रही हों उनके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष
साध्वियों में जो साध्वी योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिए ।

यदि अन्य कोई साध्वी अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं
ने भी निशीथ आदि का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग
में एक-एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा में अन्य साध्विमणी
साध्वियाँ विचरती हों उस दिशा में जाना कल्पता है ।

मार्ग में उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता है ।

यदि रोगादि का कारण हो तो ठहरना कल्पता है ।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—

“हे आर्य ! एक या दो रात और ठहरो” तो उन्हें एक या
दो रात और ठहरना कल्पता है । किन्तु एक या दो रात से
अधिक ठहरना नहीं कल्पता है जो साध्वी एक या दो रात से
अधिक ठहरती है वह मर्मादि उत्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या
परिहार प्रार्थश्चित्त की पात्र होती है ।

वर्षावास में रही हुई साध्वियाँ जिसको अग्रणी मानकर रह
रही हों उनके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष साध्वियों में जो
साध्वी योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिए ।

यदि अन्य कोई साध्वी अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं
ने भी आचारप्रकल्प का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग
में एक-एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा में अन्य साध्विमणी
साध्वियाँ विचरती हों उस दिशा में जाना कल्पता है ।

मार्ग में उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता है ।

यदि रोगादि का कारण हो तो ठहरना कल्पता है ।

तंसि च णं कारणांसि निद्विष्यंसि परो वएज्जा—“वसाहि अज्जे ! एगरायं वा बुरायं वा”, एवं से कप्पइ एगरायं वा बुरायं वा वत्थए । नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा बुरायाओ वा वत्थए । जा तत्थ एगरायाओ वा बुरायाओ वा परं वसइ सांसंतरा छेए वा परिहारे वा ।

—वव. अ. ५, सु. ११-१२

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—

‘हे आर्य ! एक या दो रात और ठहरो तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है । किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता है । जो साध्वी एक या दो रात से अधिक ठहरती है वह मर्यादा उल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद वा परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती है ।



विनय-व्यवहार—५

पव्वज्जा परियायाणुककमेण वंदना विहाणो—

४५९. कप्पइ निर्गन्धाण वा निर्गन्धीण वा—अहारारणियाए किडकम्मं करेसए । —कण. उ. ३, सु. २०

सेहस्स राइणियस्स य व्यवहारा—

४६०. दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तं जहा—सेहे य, राइणिए य ।

तत्थ सेहतराए पलिच्छन्ने, राइणिए अपलिच्छन्ने ।

सेहतराएणं राइणिए उवसंपज्जियध्वे, चिक्खोववायं च इल्लयइ कप्पामं ।

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तं जहा—सेहे य, राइणिए य ।

तत्थ राइणिए पलिच्छन्ने, सेहतराए अपलिच्छन्ने ।

इच्छा राइणिए सेहतराणं उवसंपज्जेज्जा, इच्छा नो उवसंपज्जेज्जा, इच्छा चिक्खोववायं इलेज्जा कप्पामं, इच्छा नो इलेज्जा कप्पामं ।

—वव. उ. ४, सु. २४-२५

राइणियं उवसंपज्जित्ता विहार विहाणं—

४६१. दो भिक्खुणो एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए;

कप्पइ णं अहराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

प्रव्रज्या पर्याय के अनुक्रम से वन्दना का विधान—

४५९. निर्गन्धों और निर्गन्धियों को चारित्र पर्याय के क्रम से वन्दन करना कल्पता है ।

शैक्ष और रत्नाधिक का व्यवहार—

४६०. दो साधमिक भिक्षु एक साथ विचरते हों यथा—अल्प दीक्षा पर्याय वाला और अधिक दीक्षा पर्याय वाला ।

उनमें यदि अल्प दीक्षा पर्याय वाला श्रुत सम्पन्न तथा शिष्य सम्पन्न हो और अधिक दीक्षा पर्याय वाला श्रुत सम्पन्न तथा शिष्य सम्पन्न न हो ।

फिर भी अल्प दीक्षा पर्याय वाले को अधिक दीक्षा पर्याय वाले की विनय वैयावृत्य करना, आहार लाकर देना, समीप में रहना और अलग विचरने के लिए शिष्य देना आदि कर्तव्य पालन करना चाहिये ।

दो साधमिक भिक्षु एक साथ विचरते हों, यथा—अल्प दीक्षा पर्याय वाला और अधिक दीक्षा पर्याय वाला ।

उनमें यदि अधिक दीक्षा पर्याय वाला श्रुत सम्पन्न तथा शिष्य सम्पन्न हो और अल्प दीक्षा पर्याय वाला श्रुत सम्पन्न तथा शिष्य सम्पन्न न हो ।

तो अधिक दीक्षा पर्याय वाला इच्छा हो तो अल्प दीक्षा पर्याय वाले की वैयावृत्य करे इच्छा न हो तो न करे । इच्छा हो तो आहार लाकर दे इच्छा न हो तो न दे । इच्छा हो तो समीप में रहे इच्छा न हो तो न रहे । इच्छा हो तो अलग विचरने के लिये शिष्य दे इच्छा न हो तो न दे ।

रत्नाधिक को अग्रणी मानकर विचरने का विधान—

४६१. दो भिक्षु एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ में विचरना नहीं कल्पता है,

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है ।

दो गणावच्छेदका एग्यओ विहरंति, नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए.

कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

दो आयरिय-उवज्झाया एग्यओ विहरंति, नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

बहुवे भिक्षूणो एग्यओ विहरंति, नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

बहुवे गणावच्छेदका एग्यओ विहरंति, नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

बहुवे आयरिय-उवज्झाया एग्यओ विहरंति, नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

बहुवे भिक्षूणो, बहुवे गणावच्छेदका, बहुवे आयरिय-उवज्झाया एग्यओ विहरंति, नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सए ।

—वव. उ. ४, सु. २६-२२

दो गणावच्छेदक एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ में विचरना नहीं कल्पता है,

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है ।

दो आचार्य या दो उपाध्याय एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नहीं कल्पता है ।

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है ।

बहुत से भिक्षु एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नहीं कल्पता है,

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है ।

बहुत से गणावच्छेदक एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नहीं कल्पता है,

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है ।

बहुत से आचार्य या उपाध्याय एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नहीं कल्पता है,

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर विचरना कल्पता है ।

बहुत से भिक्षु, बहुत से गणावच्छेदक और बहुत से आचार्य या उपाध्याय एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नहीं कल्पता है,

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर विचरना कल्पता है ।



अध्यापन-व्यवस्था—६

समणस्स अज्झयणकमो—

४६२. तिवास-परियायस्स^१ समणस्स निगंथस्स कप्पइ आयाह-
पकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिस्सिए ।

चउवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ सूयगडे नामं
अंगे उद्दिस्सिए ।

पंचवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ-इसाकप्प-
ववहारे उद्दिस्सिए ।

अट्ठवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ ठाण-
समवाए उद्दिस्सिए ।

दसवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ खियाहे नामं
अंगे उद्दिस्सिए ।

एक्कारसवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ खुड्डिया
विमाण-पविमत्ती, महल्लिया-विमाण-पविमत्ती, अंगचूलिया,
वग्गचूलिया, खियाहचूलिया नामं अज्झयणे उद्दिस्सिए ।

बारसवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ अरुणो-
ववाए, गरुडोववाए, धरणोववाए, वरुणोववाए, वेसमणोव-
वाए, वेलंधरोववाए नामं अज्झयणे उद्दिस्सिए ।

तेरसवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ उट्ठाणसुए,
समुट्ठाणसुए, वेविदपरियावणिए, नागपरियावणिए नामं
अज्झयणे उद्दिस्सिए ।

चोदसवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ सुमिण-
भावणा नामं अज्झयणे उद्दिस्सिए ।

पन्नरसवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ चारण-
भावणा नामं अज्झयणे उद्दिस्सिए ।

सोलसवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ तेजो-
निसर्गो नामं अज्झयणे उद्दिस्सिए ।

सत्तरसवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ आसी-
विसमावणा नामं अज्झयणे उद्दिस्सिए ।

अट्ठारसवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ दिट्ठि-
विसमावणा नामं अज्झयणे उद्दिस्सिए ।

एगुणवीसवास-परियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ दिट्ठि-
वाए नामं अंगे उद्दिस्सिए ।

वीसवास-परियाए समणं निगंथे सव्वसुवाणुवाई भवइ ।

— वव. उ. १०, सु. २४-३५

श्रमण का अध्ययन क्रम—

४६२. तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले (योग्य) श्रमण-निर्ग्रन्थ को
आचार-प्रकल्प नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है ।

चार वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को सूयकृतांग
नामक दूसरा अंग पढ़ाना कल्पता है ।

पाँच वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को (१) दशा,
(२) कल्प, (३) व्यवहार सूत्र पढ़ाना कल्पता है ।

आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को स्थानांग
और समवायांग सूत्र पढ़ाना कल्पता है ।

दश वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को व्याख्या
प्रज्ञप्ति नामक अंग पढ़ाना कल्पता है ।

ग्यारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को क्षुल्लिका
विमानप्रविमत्ति, महल्लिका विमानप्रविमत्ति, अंगचूलिका, वर्ग-
चूलिका और व्याख्याचूलिका नाम का अध्ययन पढ़ाना कल्पता है ।

बारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को अरुणो-
पपात, गरुडोपपात, धरुणोपपात, वरुणोपपात, वैश्रमणोपपात,
वेलन्धरोपपात नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है ।

तेरह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को उत्थान-
श्रुत, समुत्थान श्रुत, देवेन्द्रपरियापनिका और नागपरियापनिका
नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है ।

चौदह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को स्वप्न-
भावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है ।

पन्द्रह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को चारण-
भावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है ।

सोलह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को तेजो-
निसर्ग नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है ।

सत्तरह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को आसी-
विष भावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है ।

अठारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को दृष्टि-
विष भावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है ।

उन्नीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को दृष्टि-
वाद नामक बारहवाँ अंग पढ़ाना कल्पता है ।

बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सर्वश्रुतानु-
वादी हो जाता है ।

१ व्यव. उ. ३, में तीन वर्ष की संयम पर्याय वाले उपाध्याय योग्य भिक्षु को बहुश्रुत बहु आगमज कहा तथा कम से कम आचार प्रकल्प धारण करने वाला कहा । अतः इस सूत्र का भावार्थ यह समझना योग्य है कि तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले योग्य भिक्षु को कम से कम इसका वाचन करा देना चाहिए ।

आचारप्रकल्पस्य अजस्रयण जोगो वओ—

४६३ नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुहुगस्स वा खुहु-
याए वा अखंजणजायस्स आचारप्रकल्पे णामं अजस्रयणे उहि-
सित्तए ।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुहुगस्स वा खुहुयाए
वा अखंजणजायस्स आचारप्रकल्पे णामं अजस्रयणे उहिसित्तए ।

—वज. उ. १०, सु. २२-२३

आचार प्रकल्प के अध्ययन योग्य वय का विधि निषेध—

४६३. अखंजनजात (अप्राप्त यौवन) बाल भिक्षु या भिक्षुणी को आचारप्रकल्प नामक अध्ययन पढ़ाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को नहीं कल्पता है ।

किन्तु यौवन प्राप्त भिक्षु-भिक्षुणी को आचार-प्रकल्प नामक अध्ययन पढ़ाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को कल्पता है ।



विचरण-व्यवस्था—७

आयरियाइ सह निग्गंथाणं संखा—

४६४. नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स एगगियस्स हेमन्त-गिम्हासु
चारए ।

कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पविइयस्स हेमन्त-गिम्हासु
चारए ।

नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पविइयस्स हेमन्त-गिम्हासु
चारए ।

कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए ।

नो कप्पइ आयरिय उवज्झायस्स अप्पविइयस्स वासावासं वत्थए ।

कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ।

नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ।

कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ।

से गामंसि वा-जाव-रायहणिसि वा-बहूणं आयरिय-उवज्झा-
याणं अप्पविइयाणं, बहूणं गणावच्छेइयाणं अप्पतइयाणं
कप्पइ हेमन्त-गिम्हासु चारए अन्नमन्नं निस्साए ।

से गामंसि वा-जाव-रायहणिसि वा, बहूणं आयरिय-उव-
ज्झायाणं अप्पतइयाणं बहूणं गणावच्छेइयाणं अप्पतइयाणं
कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्नं निस्साए ।

—वज. उ. ३, सु. १-१०

आचार्यादि के साथ रहने वाले निर्ग्रन्थों की संख्या—

४६४. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में आचार्य या उपाध्याय को अकेला विहार करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में आचार्य या उपाध्याय को एक साधु साथ लेकर विहार करना कल्पता है ।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदक को एक ही साधु के साथ विहार करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदक को दो अन्य साधु को साथ लेकर विहार करना कल्पता है ।

वर्षाकाल में आचार्य या उपाध्याय को एक साधु के साथ रहना नहीं कल्पता है ।

किन्तु वर्षा काल में आचार्य या उपाध्याय को अन्य दो साधुओं के साथ रहना कल्पता है ।

वर्षाकाल में गणावच्छेदक को दो साधुओं के साथ रहना नहीं कल्पता है ।

किन्तु वर्षाकाल में गणावच्छेदक को अन्य तीन साधुओं के साथ रहना कल्पता है ।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में अनेक आचार्य या उपाध्यायों को ग्राम—यावत्—राजधानी में अपनी-अपनी नेश्राय में एक-एक साधु के साथ और अनेक गणावच्छेदकों को दो-दो साधुओं के साथ रहकर विहार करना कल्पता है ।

वर्षा ऋतु में अनेक आचार्य या उपाध्यायों को ग्राम—यावत्—राजधानी में अपनी-अपनी नेश्राय में तीन-तीन साधुओं के साथ और अनेक गणावच्छेदकों को चार-चार साधुओं के साथ रहना कल्पता है ।

पवर्तिणि आईणं सहविहरमाणी निगन्थी संख्या—

४६५. नो कप्पइ पवर्तिणीए अप्प-विइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए ।

कप्पइ पवर्तिणीए अप्प-तइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए ।

नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प-तइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए ।

कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प-चउत्थाए हेमंत-गिम्हासु चारए ।

नो कप्पइ पवर्तिणीए अप्प-तइयाए वासावासं वत्थए ।

कप्पइ पवर्तिणीए अप्प-चउत्थाए वासावासं वत्थए ।

नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प-चउत्थाए वासावासं वत्थए ।

कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प-पंचमाए वासावासं वत्थए ।

से गामंसि वा-जाव-रायहाणिसि वा, बहूणं पवर्तिणीणं अप्प-तइयाणं, बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्प-चउत्थाणं कप्पइ हेमंत-गिम्हासु चारए अन्नमन्नं नीसाए ।

से गामंसि वा-जाव-रायहाणिसि वा, बहूणं पवर्तिणीणं अप्प-चउत्थाणं, बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्प-पंचमाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्नं नीसाए ।

—वध. उ. ५, सु. १-१०

एगाणियाए निगन्थीए वमण निसेहो

४६६. नो कप्पइ निगन्थीए एगाणियाए गाहावडकुलं पिण्डवाय पडियाए निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।

नो कप्पइ निगन्थीए एगाणियाए बहिया विचारभूमि वा विहारभूमि वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।

नो कप्पइ निगन्थीए एगाणियाए-गामाणुगामं दूइजित्तए वा, वासावासं वा वत्थए ।

—कप्प. उ. ६, सु. १६-१८

निगन्थ निगन्थीण विहार खेत्त मेरा —

४६७. कप्पइ निगन्थाण वा निगन्थीण वा —

पुरत्थिमेणं-जाव-अंगमगहाओ एत्तए,

वक्खिणेणं-जाव-कोसम्बीओ एत्तए,

पच्चत्थिमेणं-जाव-धूणाविसयाओ एत्तए,

प्रवर्तिनी आदि के साथ विचरने वाली निर्ग्रन्थियों की संख्या—

४६५. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में प्रवर्तिनी साध्वी को एक अन्य साध्वी को साथ लेकर विहार करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में प्रवर्तिनी को अन्य दो साध्वी साथ लेकर विहार करना कल्पता है ।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदिनी को अन्य दो साध्वी साथ लेकर विहार करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदिनी को अन्य तीन साध्वी साथ लेकर विहार करना कल्पता है ।

वर्षावास में प्रवर्तिनी को अन्य दो साध्वियों के साथ रहना नहीं कल्पता है ।

किन्तु वर्षावास में प्रवर्तिनी को अन्य तीन साध्वियों के साथ रहना कल्पता है ।

वर्षावास में गणावच्छेदिनी को अन्य तीन साध्वियों के साथ रहना नहीं कल्पता है ।

किन्तु वर्षावास में गणावच्छेदिनी को अन्य चार साध्वियों के साथ रहना कल्पता है ।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में अनेक प्रवर्तिनी को ग्राम-यावत्-राजधानी में अपनी-अपनी निधा में दो-दो अन्य साध्वियों के साथ और अनेक गणावच्छेदिनी को तीन-तीन अन्य साध्वियों के साथ रहकर विहार करना कल्पता है ।

वर्षावास में अनेक प्रवर्तिनी साध्वियों को ग्राम यावत्-राजधानी में अपनी-अपनी निधा में तीन-तीन अन्य साध्वियों के साथ और अनेक गणावच्छेदिनी साध्वियों को चार-चार अन्य साध्वियों के साथ रहना कल्पता है ।

अकेली निर्ग्रन्थी को जाने का निषेध—

४६६. अकेली निर्ग्रन्थी को आहार के लिए गृहस्थ के घर में आना-जाना नहीं कल्पता है ।

अकेली निर्ग्रन्थी को शीघ्र के लिए तथा स्वाध्याय के लिए उपाश्रय से बाहर जाना-आना नहीं कल्पता है ।

अकेली निर्ग्रन्थी को एक गाँव से दूसरे गाँव जाना तथा वर्षावास करना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के विचरण क्षेत्र की मर्यादा—

४६७. निर्ग्रन्थों को और निर्ग्रन्थियों को,

पूर्व दिशा में अंग-मगध तक,

दक्षिण दिशा में कोणार्क तक,

पश्चिम दिशा में मथुरा देश तक,

उत्तरेण-जाव-कुणालाविसयाओ एत्तए,
एतावताव कप्पइ,
एतावताव आरिए खेत्ते,
नो से कप्पइ एत्तो बाहि,
तेणं परं जरथ नाण-वंसण-वरिस्ताइं उस्सप्पन्ति

—कप्प. उ. १, सु. ३१

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीणं विहार करण विहि-णिसेहो—

४६८. नो कप्पइ निर्ग्रन्थाण वा, निर्ग्रन्थीण वा, वासावासासु
चारए ।

कप्पइ निर्ग्रन्थाण वा, निर्ग्रन्थीण वा हेमन्त-गिम्हासु चारए ।

—कप्प. उ. १, सु. ३७-३८

विहकिट्ठिय खेत्ते गमण विहि-णिसेहो—

४६९. नो कप्पइ निर्ग्रन्थीणं विहकिट्ठियं विसं वा अणुविसं वा उद्दि-
सित्तए वा धारेत्तए वा ।

कप्पइ निर्ग्रन्थाणं विहकिट्ठियं विसं वा अणुविसं वा उद्दिसित्तए
वा धारेत्तए वा ।

—वव. उ. ७, सु. १०-११

राइए बाहि गमणस्स विहि-णिसेहो—

४७०. नो कप्पइ निर्ग्रन्थस्स एगानियस्स राओ वा वियाले वा
बहिया विचारभूमि वा विहारभूमि वा निक्खमित्तए वा पवि-
सित्तए वा ।

कप्पइ से अप्पविद्दयस्स वा, अप्पत्तइयस्स वा, राओ वा
वियाले वा, बहिया विचारभूमि वा विहारभूमि वा निक्ख-
मित्तए वा पविसित्तए वा ।

नो कप्पइ निर्ग्रन्थीए एगानियाए राओ वा वियाले वा,
बहिया विचारभूमि वा विहारभूमि वा निक्खमित्तए वा
पविसित्तए वा ।

कप्पइ से अप्पविद्दयाए वा, अप्पत्तइयाए वा, अप्पचउत्थीए
वा राओ वा वियाले, वा बहिया विचारभूमि वा, विहार-
भूमि वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।

—कप्प. उ. १, सु. ४८-४९

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीणं सहविहार पायच्छित्त सुत्तं—

४७१. जे भिक्खू समणिच्चियाए वा, परमाणिच्चियाए वा, निर्ग्रन्-
थीए सद्धि गामाणुगामं बूद्धज्जमाणे पुरओ भच्छमाणे, विट्ठलो
रीयमाणे, ओहयमणसंकप्पे चित्ता-सोयसागरसंपविट्ठे, कर-
यत्तपल्हत्तमुहे, अट्ठज्जाणोवगए, विहारं वा करेइ-जाव-
असमणपाउग्गं कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

उत्तर दिशा में कुणाल देश तक विचरना कल्पता है ।

इतना ही विचरना कल्पता है ।

इतना ही आर्य क्षेत्र है ।

इससे बाहर विचरना नहीं कल्पता है ।

इसके उपरान्त भी जहाँ ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य अर्थात्
संयम की उन्नति हो वहाँ विचरना कल्पता है ।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के विहार करने का विधि-निषेध—

४६८. निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को वर्षावास में विहार करना
नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में
विहार करना कल्पता है ।

विकट क्षेत्र में जाने का विधि-निषेध—

४६९. निर्ग्रन्थियों को दूरस्थ या अति दूरस्थ विकट क्षेत्र की
ओर स्वयं जाना या अन्य को अनुज्ञा देना नहीं कल्पता है ।

किन्तु निर्ग्रन्थ को दूरस्थ या अति दूरस्थ विकट क्षेत्र की
ओर स्वयं जाना या अन्य को जाने के लिए अनुज्ञा देना
कल्पता है ।

रात्रि में उपाश्रय से बाहर जाने का विधि-निषेध —

४७०. अकेले निर्ग्रन्थ को रात्रि में या विकाल में शौच के लिए
या स्वाध्याय के लिए उपाश्रय से बाहर जाना-आना नहीं
कल्पता है ।

किन्तु उसे एक या दो निर्ग्रन्थों को साथ लेकर रात्रि में या
विकाल में शौच के लिए या स्वाध्याय के लिए उपाश्रय से बाहर
जाना-आना कल्पता है ।

अकेली निर्ग्रन्थी को रात्रि में या विकाल में शौच के लिए
या स्वाध्याय के लिए उपाश्रय से बाहर जाना-आना नहीं
कल्पता है ।

एक दो या तीन निर्ग्रन्थियों को साथ लेकर रात्रि में या
विकाल में शौच के लिए या स्वाध्याय के लिए उपाश्रय से बाहर
जाना-आना कल्पता है ।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के साथ विहार करने का प्रायश्चित्त
सूत्र—

४७१. जो भिक्षु स्वर्गण की या अन्य गण की साध्वी के साथ
आगे या पीछे ग्रामानुग्राम विहार करते हुए संकल्प विकल्प करता
है, चित्तातुर रहता है, शोक सागर में डूबा हुआ रहता है, हथेली
पर मुँह रखकर आर्त ध्यान करता रहता है—यावत्—साधु
के न कहने योग्य काम कथा कहता है या कहने वाले का अनु-
मोदन करता है ।

तं सेवमाण आवञ्जइ चाउस्मासिधं परिहारद्वान् अणुघाइयं ।

—नि. उ. ५, सु. ११

अन्तेउर पवेसे कारणाइ—

४७२. पंचहि ठाणेहि समणे निगंधे रायंतेउरमणुपविसमाणे णाइ-
ककमति, तं जहा—

१. नगरे सिया सव्वतो समता गुते, गुत्तहुवारे, बहुवे समण
माहणा णो संचाएति भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए
वा पविसित्तए वा तेसि विण्णवणदुयाए रायंतेउरमणुपवि-
सेज्जा ।

२. पाहिहारियं वा पीठ-फलक-सेज्जा-संधारण पच्चप्पिणमाण
रायंतेउरमणुपविसेज्जा ।

३. हयस्स वा गयस्स वा दुट्ठस्स आगच्छमाणस्स भीते
रायंतेउरमणुपविसेज्जा ।

४. परो वा नं सहसा वा, बलसर वा, बाहाए गहाप-रायंते-
उरमणुपविसेज्जा ।

५. बहिया वा नं आरामयं वा, उज्जाणगयं वा रायंतेउर-
जणो सव्वतो समता संपरिकित्ता नं संधिसेज्जा ।

इच्चतेहि पंचहि ठाणेहि समणे निगंधे रायंतेउरमणुपविसे-
माणे नाइककमति । —ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४१५

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

अन्तःपुर में प्रवेश के कारण—

४७२. पाँच कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ राजा के अन्तःपुर में प्रवेश
करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है । जैसे—

(१) यदि नगर सब ओर से घिरा हो, उसके द्वार बन्द हों,
बहुत से श्रमण माहण भक्त-पान के लिए नगर से बाहर न निकल
सकें या न प्रवेश कर सकें, तब उनका प्रयोजन बतलाने के लिए
राजा के अन्तःपुर में प्रवेश कर सकता है ।

(२) प्रातिहारिक पीठ, फलक, शय्या संस्तारक को वापिस
देने के लिए राजा के अन्तःपुर में प्रवेश कर सकता है ।

(३) दुष्ट बौद्ध या ह्याथी के सामने आने पर भयभीत साधु
रक्षा के लिए राजा के अन्तःपुर में प्रवेश कर सकता है ।

(४) कोई अन्य व्यक्ति सहसा या बलपूर्वक पकड़कर ले जाए
तो राजा के अन्तःपुर में प्रवेश कर सकता है ।

(५) कोई साधु बाहर पुष्पोद्यान या वृक्षोद्यान में ठहरा हो
और वहाँ राजा का अन्तःपुर (राजा की रानियाँ) आ जावे तथा
सर्व ओर से घेर कर बैठ जावे तो वहाँ बैठ सकता है ।

इन पाँच कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ राजा के अन्तःपुर में
प्रवेश करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है ।



निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के सामूहिक व्यवहार—८

निगंध-निगंधीणं आलाव-संलाव कारणाइ—

४७३. चउहि ठाणेहि निगंधे निगंधि आलवमाणे वा संलवमाणे
वा णाइककमइ, तं जहा—

१. पंथं पुच्छमाणे वा, २. पंथं देसमाणे वा,

३. असणं वा-जाव-साइमं वा बलवमाणे वा,

४. असणं वा-जाव-साइमं वा बलावेमाणे वा ।

—ठाणं. अ. ४, उ. २, सु. २१०

निगंध-निगंधीणं एगत्थ आवास कारणाइ—

४७४. पंचहि ठाणेहि निगंधा निगंधीओ य एगयओ ठाणं वा,
सेज्जं वा, णिसीहियं वा चेतेभाणा नातिककमति, तं जहा —

साधु-साध्वी के वार्तालाप करने के कारण —

४७३. निर्ग्रन्थ चार कारणों से निर्ग्रन्थी के साथ अलाप-संलाप
करता हुआ जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है । जैसे—

(१) मार्ग पूछता हुआ, (२) मार्ग बताता हुआ,

(३) अशन-यावत्-स्वाद्य देता हुआ ।

(४) गृहस्थों के घर से अशन—यावत्—स्वाद्य दिलाता
हुआ ।

साधु-साध्वी के एक स्थान पर ठहरने के कारण—

४७४. पाँच कारणों से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ एक स्थान पर
अवस्थान (ठहरना), शयन और स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का
अतिक्रमण नहीं करते हैं । जैसे—

१. अत्येगइया निगंधा य निगंधीओ य एगं सहं अगामियं छिन्नाधारं दीहमद्धमद्धविमणुपदिठा तत्थ एगयओ ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेत्येमाणा नातिक्कमंति ।

२. अत्येगइया निगंधा य निगंधीओ य गामंसि वा-जाव-रायहणिसि वा वासं उवागता एगइया तत्थ उवस्सयं लभंति, एगइया णो लभंति, तत्थ एगयओ ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेत्येमाणा नातिक्कमंति ।

३. अत्येगइया निगंधा य निगंधीओ य नागकुमारावासंसि वा, सुवणकुमारावासंसि वा वासं उवागता तत्थ एगयओ ठाणं वा सेज्जं वा, निसीहियं वा, चेत्येमाणा नातिक्कमंति ।

४. आमोसगा दीसंति, ते इच्छंति निगंधीओ चीवरपडियाए पडिगाहिसए तत्थ एगयओ ठाणं वा सेज्जं वा, निसीहियं वा चेत्येमाणा नातिक्कमंति ।

५. जुवाणा दीसंति, ते इच्छंति निगंधीओ मेहुणपडियाए पडिगाहिसए, तत्थ एगयओ ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेत्येमाणा नातिक्कमंति ।

इच्छंतेहि एंवहि ठाणेहि निगंधा निगंधीओ य एगयओ ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेत्येमाणा नातिक्कमंति ।

—ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४१७

सचेलिया सह अचेलस्स संवसणं कारणाहं—

४७५. एंवहि ठाणेहि समणे-निगंधे अचेलए, सचेलियाहि निगंधीहि

सद्धि संवसमाणे नातिक्कमंति, सं जहा—

१. वित्तचित्ते समणे-निगंधे निगंधीहि अविज्जमाणेहि "अचेलए सचेलियाहि" निगंधीहि सद्धि संवसमाणे नातिक्कमंति ।

२. वित्तचित्ते समणे-निगंधे निगंधीहि अविज्जमाणेहि "अचेलए सचेलियाहि" निगंधीहि सद्धि संवसमाणे नातिक्कमंति ।

३. जक्खाद्वट्ठे समणे-निगंधे, निगंधीहि अविज्जमाणे "अचेलए सचेलियाहि" निगंधीहि सद्धि संवसमाणे नातिक्कमंति ।

४. उम्मायपस्से समणे-निगंधे, निगंधीहि अविज्जमाणेहि "अचेलए सचेलियाहि" निगंधीहि सद्धि संवसमाणे नातिक्कमंति ।

(१) यदि कदाचित् कुछ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ किसी बड़ी भारी, ग्रामशून्य, आवागमन रहित लम्बे मार्ग वाली अटवी में अनुप्रविष्ट हो जावें तो वहाँ एक स्थान पर अवस्थान, शयन और स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते हैं ।

(२) यदि कुछ निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थियाँ किसी ग्राम-यावत्-राजधानी में पहुँचें, वहाँ दोनों में से किसी एक वर्ग को उपाश्रय मिला और एक को नहीं मिला तो वहाँ वे एक स्थान पर अवस्थान, शयन और स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते हैं ।

(३) कदाचित् कुछ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ नागकुमार या सुवर्ण-कुमार आदि देवालय में निवाग के लिए एक साथ पहुँचें तो वहाँ एक स्थान पर अवस्थान, शयन और स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते हैं ।

(४) जहाँ खोरों का उपद्रव दिखाई देवे और वे निर्ग्रन्थियों के वस्त्रों को चुराना चाहते हों तो वहाँ साधु-साध्वी एक स्थान पर अवस्थान, शयन और स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते हैं ।

(५) जहाँ गुंडे सुवक दिखाई दें और वे निर्ग्रन्थियों के साथ मैथुन सेवन की इच्छा से उन्हें पकड़ना चाहते हों तो वहाँ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ एक स्थान पर अवस्थान, शयन और स्वाध्याय क्रिया करें तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते हैं ।

इन पाँच कारणों से निर्ग्रन्थ एवं निर्ग्रन्थियाँ एक स्थान पर अवस्थान, शयन एवं स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते हैं ।

अचेलक के सचेलिका के साथ रहने के कारण —

४७५. पाँच कारणों से वस्त्ररहित श्रमण निर्ग्रन्थ सचेलक निर्ग्रन्थियों के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है । जैसे—

(१) शोक आदि से विक्षिप्त चित्त वाला अचेलक श्रमण-निर्ग्रन्थ अन्य निर्ग्रन्थों के अभाव में सचेलक निर्ग्रन्थियों के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

(२) हर्षातिरेक से उन्मत्तचित्त वाला अचेलक श्रमण-निर्ग्रन्थ अन्य निर्ग्रन्थों के अभाव में सचेलक निर्ग्रन्थियों के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

(३) यथाविष्ट कोई अचेलक श्रमण-निर्ग्रन्थ अन्य निर्ग्रन्थों के अभाव में सचेलक निर्ग्रन्थियों के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

(४) वायु के प्रकोपादि से सम्मोद को प्राप्त कोई अचेलक श्रमण-निर्ग्रन्थ अन्य निर्ग्रन्थों के अभाव में सचेलक निर्ग्रन्थियों के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

५. निगमंथोपवाहए सधणे, निगमंथेहि अविज्जमाणेहि “अचे लए सचेत्तिगहि” निगमंथोहि सद्धि संवसमाणे नातिक्कमति ।

—ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४१७

निगमंथि अवलंबणे कारणा --

४७६. पंचहि ठाणेहि समणे-निगमंथे निगमंथि गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नातिक्कमति, तं जहा—

१. निगमंथि च पं अण्यरे वसुजातिए वा, पक्खिजातिए वा, ओहवेज्जा, तत्थ निगमंथे निगमंथि गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नातिक्कमति ।

२. निगमंथे निगमंथि दुगंसि वा, विसंसि वा, पक्खलमाणि वा, पक्खमाणि वा, गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा नातिक्कमति ।

३. निगमंथे निगमंथे सेयंसि वा, पणंसि वा, पंकांसि वा, उदगंसि वा, उक्कसमाणि वा, उवुअमाणि वा, गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा नातिक्कमति ।

४. निगमंथे निगमंथि पावं अरुहमाणि वा, ओरोहमाणि वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नातिक्कमति ।

५. खित्तचित्तं, वित्तचित्तं, अक्खहादु, उम्मायत्तं, उवसगपत्तं, साहिगरणं, सपायच्छित्तं, असपाणपडियादक्खियं, अट्ठचार्यं वा निगमंथि निगमंथे गेहमाणे वा अवलंबमाणे वा नातिक्कमति^१ । —ठा. अ. ५, उ. २, सु. ४३७

निगमंथ-निगमंथीणं साहम्मिय अंत किञ्चाहं—

४७७. छहि ठाणेहि निगमंथा निगमंथीओ य साहम्मियं कालगतं समावरमाणा पाइक्कमति, तं जहा --

१. अंतोहितो वा बाहि णीणेमाणा ।

२. बाहीहितो वा निध्वाहि णीणेमाणा ।

३. उवेहेमाणा वा ।

४. उवासमाणा वा ।

५. अणुणवेमाणा वा ।

६. तुसिणीए वा संपव्वयमाणा । —ठाणं. अ. ६, सु. ४७७

निगमंथ-निगमंथीणं अणयण-वेयावच्च करण विहाणा—

४७८. निगमंथस य अहे पायंसि-खाणू वा, कंटए वा, हीरए वा, सक्करे वा परियावजेज्जा तं च निगमंथे नो संखाएइ

(५) निर्ग्रन्थी के द्वारा दीक्षित (पुत्र आदि) अचेलक भ्रमण अन्य निर्ग्रन्थों के अभाव में सचेलक निर्ग्रन्थियों के साथ रहता हुआ जिनाशा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

निर्ग्रन्थी को अवलम्बन देने के कारण --

४७६. पांच कारणों से भ्रमण-निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को अवलम्बन दे तो जिनाशा का अतिक्रमण नहीं करता है, जैसे—

(१) कोई पशु या पक्षी निर्ग्रन्थी पर आक्रमण करे तो वहाँ निर्ग्रन्थ उसे बचाता हुआ या सहारा देता हुआ जिनाशा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

(२) दुर्गम या विषम स्थान में फिसलती या गिरती हुई निर्ग्रन्थी को ग्रहण करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ जिनाशा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

(३) दल-दल में, कीचड़ में, काई में फंसी हुई या जल में गिरती हुई या डूबती हुई निर्ग्रन्थी को पकड़ता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ जिनाशा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

(४) नौका पर चढ़ती हुई या नौका से उतरती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ जिनाशा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

(५) त्रिषिप्त चित्त वाली, उन्मत्त चित्त वाली, भूत-प्रेतादि से पीड़ित, उन्माद प्राप्त, उपसर्ग से भयभीत, कलह में संलग्न, कठोर प्रायश्चित्त से चलचित्त, संथारा युक्त तथा दुर्लभ द्रव्यों की प्राप्ति या अप्राप्ति से अशान्त चित्त निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ पकड़ता हुआ या सहारा देता हुआ जिनाशा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के सामूहिक साधर्मिक अन्त्यकर्म—

४७७. छह प्रकार से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी साथ-साथ अपने काल-प्राप्त साधर्मिक के अन्तिम कार्य करते हुए जिनाशा का अतिक्रमण नहीं करते हैं । जैसे—

(१) उसे अन्दर से बाहर लाते हुए ।

(२) उपाश्रय से बाहर लाते हुए ।

(३) देखभाल करते हुए ।

(४) शव के समीप रहकर रात्रि भर जागरण करते हुए ।

(५) उसके स्वजन या गृहस्थों को संभालते हुए ।

(६) मौन भाव से परठने के लिए ले जाते हुए ।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के परस्पर सेवा करने के विधान—

४७८. निर्ग्रन्थ के पैर में तीक्ष्ण, मुष्क, दूँठ, कंटक, तीक्ष्ण काष्ठ या तीक्ष्ण पाषाण खण्ड लग जावे उसे निकालने में या शोधन

१ (क) ठाणं. अ. ६, सु. ४७६

(ख) कप्प. उ. ६, सु. ७-१८

नोहरित्तए वा विसोहेत्तए वा । तं च निगंथी नोहरमाणो वा विसोहेमाणो वा नाइक्कमइ ।

निगंथस्स य अचिच्छसि पाणे वा, बीये वा, रए वा परिधा-
वज्जेज्जा, तं च निगंथे नो संचाएइ नोहरित्तए वा, विसो-
हेत्तए वा । तं च निगंथी नोहरमाणो वा विसोहेमाणो वा
नाइक्कमइ ।

निगंथीए य अहे पायंसि खाणू वा, कट्टए वा, हीरए वा,
सक्करे वा, परिधावज्जेज्जा, तं च निगंथी नो संचाएइ,
नोहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं च निगंथे नोहरमाणे वा
विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ ।

निगंथीए य अचिच्छसि पाणे वा, बीये वा, रए वा परिधा-
वज्जेज्जा, तं च निगंथी नो संचाएइ नोहरित्तए वा, विसो-
हेत्तए वा, तं च निगंथे नोहरमाणे वा विसोहेमाणे वा
नाइक्कमइ ।

—कप्प. उ. ६, सु. ३-६

अण्णमण्ण वेयावच्च करण विहि-णित्तेहो—

४७९. जे निगंथा य निगंथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ
अन्नमन्नेणं वेयावच्चं कारवेत्तए ।

अत्थि य इत्थ णं केइ वेयावच्चंकरे, कप्पइ णं तेणं वेयावच्चं
कारवेत्तए,

नत्थि य इत्थ णं केइ वेयावच्चंकरे, एवं णं कप्पइ अन्नमन्नेणं
वेयावच्चं कारवेत्तए ।

—वव. उ. ५, सु. २०

अण्णमण्ण आलोयणा करण विहि-णित्तेहो—

४८०. जे निगंथा य निगंथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ
अन्नमन्नेस्स अंतिए आलोएत्तए ।

अत्थि य इत्थ णं केइ आलोयणारिहे कप्पइ णं तस्स अंतिए
आलोइत्तए,

नत्थि य इत्थ णं केइ आलोयणारिहे एवं णं कप्पइ अन्न-
मन्नेस्स अंतिए आलोएत्तए ।

—वव. उ. ५, सु. १६

अण्णमण्णस्स मोय गहण विहि-णित्तेहो—

४८१. नो कप्पइ निगंथाण वा निगंथीण वा अन्नमन्नेस्स मोयं
आपिचित्तए वा आयमित्तए वा मत्तत्थ गाढाग्गाढेसु रोगा-
यंकेसु ।

—कप्प. उ. ५, हु. ४६

करने में निर्ग्रन्थ समर्थ न हो उस समय यदि निर्ग्रन्थी निकाले
या शोधन करे तो जिनाजा का अतिक्रमण नहीं करती है ।

निर्ग्रन्थ की आँख में मच्छर आदि प्राणी, बीज या रज गिर
जावे उसे निकालने में या शोधन करने में निर्ग्रन्थ समर्थ न हो
उस समय यदि निर्ग्रन्थी निकाले या शोधन करे तो जिनाजा का
अतिक्रमण नहीं करती है ।

निर्ग्रन्थी के पैर में तीक्ष्ण-शुष्क, डूँठ, कंटक, तीक्ष्ण काष्ठ
या पापाण खण्ड लग जावे उसे निकालने में या शोधन करने में
निर्ग्रन्थी समर्थ न हो उस समय यदि निर्ग्रन्थ निकाले या शोधन
करे तो जिनाजा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

निर्ग्रन्थी की आँख में मच्छर आदि प्राणी, बीज या रज गिर
जावे उसे निकालने में या शोधन करने में निर्ग्रन्थी समर्थ न हो
उस समय यदि निर्ग्रन्थ निकाले या शोधन करे तो जिनाजा का
अतिक्रमण नहीं करता है ।

परस्पर सेवा करने का विधि-निषेध—

४७९. साधु और साध्वियाँ सांभोगिक हैं उन्हें परस्पर एक दूसरे
की वैयावृत्य कराना नहीं कल्पता है ।

यदि स्वपक्ष में कोई वैयावृत्य करने वाला हो तो उससे
वैयावृत्य करना कल्पता है ।

यदि स्वपक्ष में वैयावृत्य करने वाला कोई न हो तो साधु-
साध्वी को परस्पर वैयावृत्य करना कल्पता है ।

परस्पर आलोचना करने के विधि-निषेध—

४८०. जो साधु और साध्वियाँ सांभोगिक हैं उन्हें परस्पर एक
दूसरे के समीप आलोचना करना नहीं कल्पता है ।

यदि स्वपक्ष में कोई आलोचना सुनने योग्य हो तो उनके
समीप आलोचना करना कल्पता है ।

यदि स्वपक्ष में आलोचना सुनने योग्य कोई न हो तो साधु-
साध्वी को परस्पर आलोचना करना कल्पता है ।

परस्पर प्रस्रवण ग्रहण करने का विधि-निषेध—

४८१. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को एक दूसरे का मूत्र पीना या
शरीर के लगाना नहीं कल्पता है केवल उग्र रोग एवं आतंकी में
कल्पता है ।



सांभोगिक संबंध व्यवस्था—६

समणानं अणमण्य व्यवहारा—

४८२. बुभालसविहे संभोगे पणत्ते, तं जहा—

उवहि सुय भत्तपाणे, अजलीपग्गहे ति य ।
दायणे य मिकाए य, अभुट्ठाणे ति आवरे ॥

कितिकम्मस्त य करणे, वेपावच्चकरणे ति य ।
समोसरण सन्निसेवजा य, कहाए य पधंघणे ॥

—सम. सम. १२, सु. १

विसंभोगकरणे कारणा—

४८३. तिहि ठाणेहि समणे निगगंथे साहम्मियं संभोगियं विसंभो-
गियं करेमाणे जातिक्कमत्ति,
तं जहा—

१. सयं वा वट्ठु,
२. सङ्खिस्स वा निसम्म,
३. तच्च सोसं आउट्ठति, जउत्थं नो आउट्ठति ।

—ठाण. अ. ३, उ. ३, सु. १८०

पंचहि ठाणेहि समणे निगगंथे साहम्मियं संभोइयं विसंभोइयं
करेमाणे जातिक्कमत्ति,

तं जहा—

१. सकिरियट्ठाणं पडिसेवित्ता भवति ।
२. पडिसेवित्ता णो आलोएइ ।

३. आलोइत्ता णो पट्ठेति ।

४. पट्ठेत्ता णो निविस्संति ।

५. जाइ इमाइं येराणं ठित्तिपक्कपाइं भवन्ति ताइं अतियंचिय
अतिर्यंचिय पडिसेवेति, 'से हंवहं पडिसेवामि, किं मे येरा
करिस्सति ?'

—ठाण. अ. ५, उ. १, सु. ३६८

णवहि ठाणेहि समणे निगगंथे साहम्मियं संभोइयं विसंभोइयं
करेमाणे जातिक्कमत्ति, तं जहा—

१. आयरियपडिणीयं ।

श्रमणों के पारस्परिक व्यवहार—

४८२. व्यवहार बारह प्रकार के कहे गए हैं । यथा—

- (१) उपधि आदान प्रदान व्यवहार ।
- (२) श्रुत के अध्ययन अध्यापन का व्यवहार,
- (३) भक्त-पान आदान-प्रदान व्यवहार,
- (४) एक दूसरे को हाथ जोड़ने का व्यवहार,
- (५) शिष्य आदि के आदान-प्रदान का व्यवहार,
- (६) परस्पर निमन्त्रण देने का व्यवहार,
- (७) लड़े होकर आदर देने का व्यवहार,
- (८) परस्पर वन्दन व्यवहार,
- (९) परस्पर सेवा करने का व्यवहार,
- (१०) एक दूसरे से मिलने का व्यवहार,
- (११) आसन देने का व्यवहार,
- (१२) एक पाद पर बैठकर धर्म कथा करने का व्यवहार ।

सम्बन्ध विच्छेद करने के कारण—

४८३. तीन कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ अपने साधर्मिक, सांभोगिक
साधु को विसंभोगिक करता हुआ भगवान् की आज्ञा का अति-
क्रमण नहीं करता है । यथा—

- (१) स्वयं किसी को प्रतिकूल आचरण करता देखकर ।
- (२) विश्वस्त श्रावक या साधु से सुनकर ।
- (३) तीन बार असत्य भाषण क्षम्य होता है चौथी बार
असत्य भाषण क्षम्य नहीं होता है अतः विसंभोग करे ।

पाँच स्थानों से श्रमण निर्ग्रन्थ अपने साम्भोगिक साधर्मिक
को विसंभोगिक करे तो विनाशा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

यथा—

- (१) जो अकृत्य कार्य का प्रतिसेवन करता है ।
- (२) जो अकृत्य कार्य का प्रतिसेवन कर आलोचना नहीं
करता है ।
- (३) जो आलोचना कर प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करता है ।
- (४) जो प्रायश्चित्त का पूर्ण सेवन नहीं करता है ।
- (५) जो स्वविरो के आवश्यक आचार के विपरीत धृष्टता-
पूर्वक आचरण कर कहे कि "मैं इन दोषों का सेवन करता हूँ,
स्थविर मेरा क्या कर लेंगे ।"

नौ कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ अपने साधर्मिक को सांभोगिक
से विसंभोगिक करता हुआ अतिक्रमण नहीं करता है ।

- (१) आचार्य के प्रतिकूल आचरण करने वाले को ।

२. उपाध्यायपडिणीयं,
३. शेरपडिणीयं,
४. कुलपडिणीयं,
५. गणपडिणीयं,
६. संघपडिणीयं,
७. भाणपडिणीयं,
८. वंसणपडिणीयं,
९. चरित्तपडिणीयं ।

—ठाणं, अ. ६, सु. ६६१

विसंभोग करण विहि-णिसेहो—

४८४. जे निगंथा य निगंथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ निगंथं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ।

कप्पइ णं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ।

अथेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—

“अहं णं वज्जो ! तुमए सद्धि इमंमि कारणम्मि पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेमि ।”

से य पडित्तपेज्जा, एवं से नो कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ।

से य नो पडित्तपेज्जा, एवं से कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ।

जे निगंथा य निगंथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ निगंथीणं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ।

कप्पइ णं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ।

अथेव ताओ अप्पणो आयसिय-उवज्जाए पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—

“अहं णं भन्ते ! अमुगीए वज्जाए सद्धि इमंमि कारणम्मि पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेमि ।”

सा य पडित्तपेज्जा, एवं से नो कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ।

सा य नो पडित्तपेज्जा, एवं से कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए । —वध. उ. ७, सु. ४-५

(२) उपाध्याय के प्रतिकूल आचरण करने वाले को ।

(३) स्थगिर के प्रतिकूल आचरण करने वाले को ।

(४) कुल के प्रतिकूल आचरण करने वाले को ।

(५) गण के प्रतिकूल आचरण करने वाले को ।

(६) संघ के प्रतिकूल आचरण करने वाले को ।

(७) सम्यक्ज्ञान के प्रतिकूल आचरण करने वाले को ।

(८) सम्यक्दर्शन के प्रतिकूल आचरण करने वाले को ।

(९) सम्यक्चारित्र के प्रतिकूल आचरण करने वाले को ।

सम्बन्ध विच्छेद करने का विधि-निषेध —

४८४. जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियाँ सांभोगिक हैं, उनमें से किसी एक निर्ग्रन्थ को परोक्ष में सांभोगिक व्यवहार बन्द करके विसंभोगी करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु प्रत्यक्ष में सांभोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसंभोगी करना कल्पता है ।

जब एक दूसरे से मिले तब ही इस प्रकार कहे कि—

“हे आर्य ! मैं अमुक कारण से तुम्हारे साथ सांभोगिक व्यवहार बन्द करके तुम्हें विसंभोगी करता हूँ ।”

इस प्रकार कहने पर वह यदि पश्चात्ताप करे तो प्रत्यक्ष में भी उसके साथ सांभोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसंभोगी करना नहीं कल्पता है ।

यदि वह पश्चात्ताप न करे तो प्रत्यक्ष में उसके साथ सांभोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसंभोगी करना कल्पता है ।

जो निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थिनियाँ सांभोगिक हैं उनमें निर्ग्रन्थिनी को प्रत्यक्ष में सांभोगिक व्यवहार बन्द करके विसंभोगी करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु परोक्ष में सांभोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसंभोगी करना कल्पता है ।

जब वे अपने आचार्य या उपाध्याय की सेवा में पहुँचे तब उन्हें इस प्रकार कहें—

“हे भन्ते ! मैं अमुक आर्या के साथ अमुक कारण से परोक्ष रूप में सांभोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसंभोगी करना चाहती हूँ ।”

तब वह निर्ग्रन्थी यदि (आचार्य-उपाध्याय के समीप अपने सेवित दोष का पश्चात्ताप करे तो उसके साथ परोक्ष रूप में भी सांभोगिक व्यवहार बन्द करना व उसे विसंभोगी करना नहीं कल्पता है ।

यदि वह पश्चात्ताप न करे तो परोक्ष रूप में उसके साथ सांभोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसंभोगी करना कल्पता है ।

समणुण्ण-असमणुण्णार्ण व्यवहार—

४८५. से समणुण्णस्स वा असमणुण्णस्स वा असणं वा-जाव-साइमं वा, वत्थं वा-जाव-पायपुंछणं वा णो पाएज्जा, णो णिमं-तेज्जा, णो कुज्जा वेयावडियं-परं आहायमाणे ।

धुबं सेतं जाणेज्जा—असणं वा-जाव-साइमं वा, वत्थं वा-जाव-पायपुंछणं वा लभिय, भुंजिय, पयं वियसा विओ-कम्म ।

विभरतं सम्मं सोसेमाणे समेमाणे जलेमाणे पाएज्जा वा, णिमंतेज्जा वा, कुज्जा वेयावडियं परं अणाहायमाणे ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. १, सु. १९६

से समणुण्णे असमणुण्णस्स असणं वा-जाव-साइमं वा, वत्थं वा-जाव-पायपुंछणं वा णो पाएज्जा, णो णिमंतेज्जा, णो कुज्जा वेयावडियं परं आहायमाणे ।

धम्ममायाणह पवेदितं माहणेणं महमया समणुण्णे समणुण्णस्स असणं वा-जाव-साइमं वा, वत्थं वा-जाव-पायपुंछणं वा, पाएज्जा, णिमंतेज्जा, कुज्जा वेयावडियं परं आहायमाणे ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. २, सु. २०७-२०८

सरिसगस्स संवास अदाण पायच्छित्त सुत्ताहं—

४८६. जे णिमंथे णिमंथस्स सरिसगस्स “अंते ओवासे संते” ओवासं न देइ, न देंते वा साइज्जइ ।

जा णिमंथी णिमंथीए सरिसियाए “अंते ओवासे संते” ओवासं न देइ, न देंते वा साइज्जइ ।

—नि. उ. १७, सु. १२१-१२२

संभोगे पच्चक्खण फलं ।

४८७. प० - संभोगपच्चक्खणार्णेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ० - संभोगपच्चक्खणार्णेणं आलम्बणाहं खवेइ । निरालम्ब-णस्स य आययट्ठिया जीवा भवन्ति ।

सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसाएइ, नो लक्खेइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अत्थिलसइ । परलाभं अणास्साए-

समनोज-असमनोजों के व्यवहार—

४८५. भिक्षु समनोज (असांभोगिक) तथा असमनोज (शाक्यादि) को अशन—यावत्—स्वाद्य, वस्त्र—यावत्—पादप्रोक्षण आदर-पूर्वक न दे, न निमन्त्रित करे और न उनकी अन्य वैयावृत्य भी करे ।

यदि शाक्यादि भिक्षु मुनि से कहें कि—‘हे मुनिवर ! आपको अशन—यावत्—स्वाद्य, वस्त्र—यावत्—पादप्रोक्षण प्राप्त हो या न हो, उनका उपयोग कर लिया हो या न कर लिया हो, मार्ग सीधा हो या टेढ़ा हो, तो भी हमारे यहाँ अवश्य आना ।

भिक्षु धर्म का आचरण करने वाले ने कभी उपाश्रय में आकर कहे, कभी मार्ग में चलते हुए कहे, अथवा अशनादि दे या निमन्त्रित करे या वैयावृत्य करे तो मुनि उसके निमन्त्रण का आदर न करे ।

वह समनोज (मुनील) भिक्षु असमनोज (कुशील) साधु को अशन—यावत्—स्वाद्य, वस्त्र—यावत्—पादप्रोक्षण आदरपूर्वक न दे, न निमन्त्रित करे और न उनकी वैयावृत्य करे ।

दान धर्म के स्वरूप को जानकर केवलशानी भगवान् ने प्रतिपादित किया है कि समनोज साधु समनोज (समान आचार वाले सांभोगिक) साधु को आदरपूर्वक अशन—यावत्—स्वाद्य, वस्त्र—यावत्—पादप्रोक्षण आदि दे, उन्हें देने के लिये निमन्त्रित करें तथा उनकी वैयावृत्य भी करे ।

सदृश आचारवान् को स्थान न देने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४८६ जो निर्ग्रन्थ सदृश आचार वाले निर्ग्रन्थ को अपने उपाश्रय में अवकाश होते हुए भी ठहरने के लिये स्थान नहीं देता है या नहीं देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो निर्ग्रन्थी सदृश आचार वाली निर्ग्रन्थी को अपने उपाश्रय में अवकाश होते हुए भी ठहरने के लिए स्थान नहीं देती है या नहीं देने वाले का अनुमोदन करती है ।

(उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

संभोग प्रत्याख्यान का फल—

४८७. प्र० - भन्ते ! संभोग-प्रत्याख्यान (एक मांडलिक आहार का त्याग) करने वाला जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—संभोग-प्रत्याख्यान से जीव का परालम्बीपन छूट जाता है । उस परालम्बन के छूट जाने से मुनि के सारे कार्य स्वावलम्बन युक्त हो जाते हैं ।

वह स्वयं जो कुछ मिलता है उसी में सन्तुष्ट हो जाता है । दूसरे मुनियों के लाभ का आस्वादन उपयोग नहीं करता, कल्पना

माणे, अतस्केमाणे, अपीहेमाणे अपत्येमाणे, अणभिलसमाणे
बुच्चं गृहसेजं उखसंपञ्जित्तानं विहरइ ।

—उत्त. अ. २९, सु. ३५

नहीं करता, चाहना नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभि-
लाषा नहीं करता है । इस प्रकार दूसरे के लाभ का आस्वादन,
कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना और अभिलाषा न करता हुआ दूसरी
मुख-शय्या (संयम और स्वावलम्बीपन) को प्राप्त कर विचरण
करता है ।



गृहस्थ के साथ व्यवहार—१०

सर्पदंश तिमिच्छाए विहि-णिसेहो—

४८८. निमग्नं च णं राओ वा विद्याले वा बीहपट्टो लूसेज्जा,
इत्थो वा पुरिसस्स ओमावेज्जा, पुरिसो वा इत्थोए ओमा-
वेज्जा, एवं से कप्पइ, एवं से चिट्ठइ, परिहारं च से नो
पाउणइ, एस कप्पे षेरकप्पियाणं ।

एवं से नो कप्पइ, एवं से नो चिट्ठइ, परिहारं च से पाउणइ
एस कप्पे जिण-कप्पियाणं । —वव. उ. ५, सु. २१

गारत्थियार्हं हि सद्धिं भिक्खुद्वारा गमण निसेहो—

४८९. से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावड्ढकुलं पिडवाय पडियाए
पविसित्तु काले णो अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा,
परिहारो अपरिहारिएणं सद्धिं गाहावड्ढकुलं पिडवाय
पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा ।

—आ. सु. २, अ. १, उ. १, सु. ३२७

गारत्थियार्हं हि सद्धिं भिक्खुद्वारा गमण पायसिष्ठत्तं सुत्तं—

४९०. जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारो वा
अपरिहारिएणं सद्धिं गाहावड्ढकुलं पिडवाय पडियाए णिक्खमइ
वा पविसइ वा णिक्खमंतं वा, पविसंतं वा साइज्जइ ।
तं सेवमाणे आवज्जइ नासियं परिहारद्वारं उग्याइयं ।

—नि. उ. २, सु. ४०

गारत्थियार्हं असणाइ वाण निसेहो—

४९१. से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावड्ढकुलं पिडवाय पडियाए
अणुपविट्ठे समाणे णो अणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा
परिहारो अपरिहारियस्स वा असणं वा जाव-साइमं वा
हेज्जा वा अणुपवेज्जा वा ।

—आ. सु. २, अ. १, उ. १, सु. ३३०

सर्पदंश चिकित्सा के विधि-निषेध—

४८८. यदि किसी निमग्न या निर्ग्रन्थी को रात्रि या विकाल
(सन्ध्या) में सर्प उस ले तो स्त्री निमग्न की और पुरुष निर्ग्रन्थी
की सर्प दंशचिकित्सा करे तो इस प्रकार से उपचार कराना
उनको कल्पता है । इस प्रकार उपचार कराने पर भी उनकी
साधुता रहती है तथा वे प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं । वह
स्थविरकल्पी साधुओं का आचार है ।

जिनकल्प वालों को इस प्रकार उपचार कराना नहीं कल्पता
है । इस प्रकार उपचार कराने पर उनका जिनकल्प नहीं रहता
है, और वे प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं । जिनकल्पी साधुओं का
यही आचार है ।

गृहस्थ आदि के साथ भिक्षार्थ जाने का निषेध—

४८९. गृहस्थ के घर में भिक्षा के निमित्त प्रवेश करने का इच्छुक
भिक्षु या भिक्षुणी अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ, तथा पारि-
हारिक (उत्तम) साधु अपारिहारिक (पार्श्वस्थ) साधु के साथ
भिक्षा के लिए जावे आवे नहीं ।

गृहस्थ आदि के साथ भिक्षार्थ जाने का प्रायश्चित्त सूत्र —

४९०. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ तथा पारिहारिक
साधु अपारिहारिक साधु के साथ गृहस्थ के घरों में भिक्षा के
लिये जावे-आवे या जाने आने वाले का अनुमोदन करे ।

उसे उद्वातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

गृहस्थ आदि को अशनादि देने का निषेध—

४९१. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी
अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को तथा पारिहारिक भिक्षु अपारिहारिक
भिक्षु को अशन—यावत्—स्वाद्य, न तो स्वयं दे और न
किसी से दिलाए ।

ओभासिय जयणाए पायच्छित्त सुत्ताइं—

४६२. जे भिषङ्ग आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा, माहावद्-कुलेसु वा, परियावसहेसु वा अण्णजत्थियं वा मारत्थियं वा असणं वा-जाव-साइम वा ओभासिय-ओभासिय जायइ जायंतं वा साहुज्जइ ।

जे निक्खू आगंतारं सु या-जाव-परियावसहे सु वा अण्णजत्थिया
वा गारत्थिया वा असणं वा-जाव-साहमं वा ओभासिय-
ओभासिय जायह जायतं वा साइज्जह ।

जे भिक्षू आगतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु व अण्णउत्थिणीं
वा गारत्थिणीं वा असणं वा-जाव-साइय वा ओभासिय-
ओभासिय जायइ जायंतं वा साइयजइ ।

जे भिक्षू आगंतारेसु या-जाव-परियावसहेसु वा अणउत्थि-
णीओ वा गारुत्थिणीओ वा असणं वा-जाव-साइमं वा
ओभासिय-ओभासिय जायइ जायंतं वा साइउजहु ।

जे भिक्षू आगतारेसु वा-जाव-परिघावसहेसु वा “कोउत्तल
वडियाए पडियागयं समाणं” अणउत्थियं वा गारत्थियं वा
असणं वा-जाव-साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ
जायंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू आगंतारेसु वा-जाव-परियाससहेसु वा “कोठहल्ल
 वडियाए पडियागयं समार्णं” अण्णउत्थिया वा भारस्थिया
 वा असणं वा-जाव-साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ
 जायंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू आगंतरेसु वा-जाव-परियायसहेसु वा "कोउहल्ल-
वडियाए पडियागयं समाणं" अण्णउत्थिणीं वा गारत्थिणीं
वा असणं वा-जाव-साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ
जायंतं वा साइणइ ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाय-परियावसहेसु वा “कोउहल्ल-
वड्डियाए पड्डियागयं समाणं” अण्णउत्थिणीओ वा गारत्थि-
णीओ वा असणं वा-जाय-साइमं वा ओभासिय-ओभासिय
जायइ जायंतं वा राइजइ ।

जे भिन्नू आगन्तारेषु वा-जाय-परिधावसहेषु वा अण्वस्त्य-
एण वा गारत्थिएण वा असर्ण वा-जाय-साइमं वा अभिह्वं
आहृद्दु दिज्जमाणं पडिसेहेत्ता तमेव अणुवस्तिय-अण्वस्तिय,
परिबेदिय-परिबेदिय, परिजविय-परिजविय, ओभासिय-
ओभासिय जायहं, जायतं वा साइज्जइ ।

मांग-मांग कर याचना करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४६२. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में जधवा आश्रमों में अल्पतीर्थिक या गृहस्थ से अशन—घावत्—खाद्य मांग-मांग कर याचना करता है, करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है !

जो भिक्षु धर्मशालाओं में—यावत्—आश्रमों में, अन्य-
तीर्थिकों या गृहस्थों से अन्न—यावत्—स्वाद्य मांस-मांस कर
याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन
करता है।

जो भिक्षु धर्मशालाओं में—यावत्—आश्रमों में, अन्य-
तीर्थिक या गृहस्थ स्त्री से अशन—यावत्—स्वाद्य मांस-मांस कर
याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन
करता है ।

जो भिक्षु धर्मशालाओं में—यावत्—आश्रमों में, अन्य-
 तीर्थिक या गृहस्थ स्त्रियों से अशन—यावत्—स्वाद्य मांस-मांस
 कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन
 करता है ।

जो भिक्षु धर्मशास्त्राओं में—यावत्—आश्रमों में कौतुहलवश
अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से अशन—यावत्—स्वाक्ष मार्ग-मार्ग
कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन
करता है ।

जो भिक्षु धर्मशालाओं में—यावत्—आश्रमों में कौतूहलवश
अन्यतीर्थिकों से या गृहस्थों से अणन—यावत्—स्वाद्य मांस-मांस
काद याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन
करता है ।

जो भिक्षु धर्मशालाओं में—यावत्—आश्रमों में कौतूहलवश
अन्यतीर्थिक या गृहस्थ स्त्री से अशन—यावत्—स्वाद्य मांस-मांस
कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन
करता है ।

जो भिक्षु घर्मशालाओं में—यावत्—आश्रमों में, कौतूहलवश
अन्यतीर्थिक या गृहस्थ स्त्रियों से अज्ञान—यावत्—स्वाद्य मांग-
मांग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनु-
मोदन करता है ।

जो भिक्षु धर्मशालाओं में—यावत्—आश्रमों में, अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के द्वारा अशन—यावत्—स्वाद्य सामने लाकर देते हुए का निषेध करके पुनः उसी के पीछे-पीछे जाकर या उसी के आसपास व सामने जाकर या मिष्ट वचन बोलकर मांग-मांग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जे भिक्षू आगतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा अणउत्थि-
एहि वा गारत्थिएहि वा असणं वा-जाव-साइमं वा अभिहं
आहट्टु विज्जमाणं पडिसेहेत्ता तमेव अणुवत्तिय अणुवत्तिय
-जाव-ओभासिय ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू आगतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा अणउत्थि-
णीए वा गारत्थिणीए वा असणं वा-जाव-साइमं वा अभिहं
आहट्टु विज्जमाणं पडिसेहेत्ता तमेव अणुवत्तिय अणुवत्तिय
-जाव-ओभासिय ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू आगतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा अणउत्थि-
णीहि वा गारत्थिणीहि वा असणं वा-जाव-साइमं वा अभि-
हं आहट्टु विज्जमाणं पडिसेहेत्ता तमेव अणुवत्तिय-अणु-
वत्तिय-जाव-ओभासिय-ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारद्वानं उघाइयं ।

—नि. उ. ३, सु. १-१२

गारत्थिएहि उवहि बहावण पायच्छित्त सुत्ताइ—

४६३. जे भिक्षू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा उवहि बहावेइ,
बहावेतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू तण्णीसाए असणं वा-जाव-साइमं वा वेइ वेतं वा
साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वानं उघाइयं ।

—नि. उ. १२, सु. ४०-४१

गारत्थिया आहार दाण पायच्छित्त सुत्तं—

४६४. जे भिक्षू अणउत्थियस्स वा, गारत्थियस्स वा असणं वा
-जाव-साइमं वा वेइ वेतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वानं उघाइयं ।

—नि. उ. १५, सु. ७५

गारत्थिय सद्धि आहार करण पायच्छित्त सुत्ताइ—

४६५. जे भिक्षू अणउत्थिएहि वा गारत्थिएहि वा सद्धि भुंजइ
भुंजंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू अणउत्थिएहि वा गारत्थिएहि वा आवेदिय-परि-
वेदिय भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वानं उघाइयं ।

—नि. उ. १६, सु. ३७-३८

जो भिक्षु धर्मशालाओं में—यावत्—आश्रमों में, अन्यतीर्थिक
या गृहस्थों के द्वारा अशन - यावत्—स्वाद्य सामने लाकर देते
हुए का निषेध करके पुनः उसी के पीछे-पीछे जाकर—यावत्—
मांग-मांग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का
अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु धर्मशालाओं में—यावत्—आश्रमों में अन्यतीर्थिक
या गृहस्थ स्त्री के द्वारा अशन - यावत्—स्वाद्य सामने लाकर
देते हुए का निषेध करके पुनः उसी के पीछे-पीछे जाकर
—यावत्—मांग-मांग कर याचना करता है, करवाता है या
करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु धर्मशालाओं में—यावत्—आश्रमों में अन्यतीर्थिक
या गृहस्थ स्त्री के द्वारा अशन - यावत्—स्वाद्य सामने लाकर
देते हुए का निषेध करके पुनः उसी के पीछे-पीछे जाकर
—यावत्—मांग-मांग कर याचना करता है, करवाता है या
करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

गृहस्थ से उपधि वहन कराने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४६३. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से उपधि वहन करवाता
है, या करवाने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को उपधि वहन कराने के
बदले में अशन - यावत्—स्वाद्य देता है, दिलावाता है या देने
वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

गृहस्थ को आहार देने का प्रायश्चित्त सूत्र—

४६४. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को अशन - यावत्—
स्वाद्य देता है, दिलावाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

गृहस्थों के साथ आहार करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४६५. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों के साथ (समीप में
बैठकर) आहार करता है, करवाता है या करने वाले का अनु-
मोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों से घिरकर (कुछ दूर
बैठे या खड़े हों तो) आहार करता है, करवाता है या करने वाले
का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।



गण-पक्रमण—११

भिक्षुणा गणपरिच्छाओ—

४६६. सत्तविहे गणावकमणे पणस्से, तं जहा—

१. सव्वधम्मा रोएमि ।

२. एगइया रोएमि, एगइया णो रोएमि ।

३. सव्वधम्मा वित्तिगिच्छामि ।

४. एगइया वित्तिगिच्छामि, एगइया णो वित्तिगिच्छामि ।

५. सव्वधम्मा जुहुणामि ।

६. एगइया जुहुणामि, एगइया णो जुहुणामि ।

७. इच्छामि षं भन्ते ! एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जिता षं विहरिस्सए ।

—ठाणं. अ. ७, सु. ५४१

आयरिय उवज्झाएहि गणपरिच्छाओ—

४६७. षंवाहि ठाणेहि आयरिय-उवज्झायस्स गणावकमणे पणस्से, तं जहा—

१. आयरिय-उवज्झाए गणंसि अणं वा धारणं वा णो सम्मं पडंजिस्सा भवति ।

२. आयरिय-उवज्झाए गणंसि अधारायणियाए कित्तिक्कम्मं जेणइयं णो सम्मं पडंजिस्सा भवति ।

३. आयरिय-उवज्झाए गणंसि जे सुवपज्जवजाते धारेति, ते कासे णो सम्ममणुप्पवादेता भवति ।

४. आयरिय-उवज्झाए गणंसि समजियाए वा परगजियाए वा णिमांभीए बहिस्सेसे भवति ।

५. मित्ते जातिगणे वा से गणाओ अवकमणेज्जा, तेसि संगहो-पग्गहट्ठयाए गणावकमणे पणस्से ।

—ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४३६

शिक्षु द्वारा गण-परित्याग—

४६६. सात प्रकार का गणपरित्याग कहा गया है, यथा—

(१) सर्व श्रुत चारित्र धर्मों के पालन की रुचि रखना है (इस गण में सम्भव नहीं है अतः इस का परित्याग करता हूँ ।)

(२) इस गण के कुछ श्रुत चारित्र धर्मों के पालन में रुचि रखता हूँ और कुछ के पालन में रुचि नहीं रखता हूँ (अतः इस गण का परित्याग करता हूँ)

(३) इस गण के सभी श्रुत-चारित्र धर्मों के पालन में संशय रखता हूँ (अतः इस गण का परित्याग करता हूँ)

(४) इस गण के कुछ श्रुत-चारित्र धर्मों के पालन में संशय रखता हूँ और कुछ के पालन में संशय नहीं रखता हूँ (अतः इस गण का परित्याग करता हूँ)

(५) सभी श्रुत-चारित्र धर्म (योग्य पात्र को देना चाहता हूँ) इस गण में ऐसा योग्य पात्र कोई नहीं है अतः इस गण का परित्याग करना चाहता हूँ ।)

(६) कुछ श्रुत-चारित्र धर्म योग्य पात्र को देना चाहता हूँ और कुछ नहीं देना चाहता हूँ (इस गण में ऐसा कोई योग्य पात्र नहीं है अतः इस गण का परित्याग करना चाहता हूँ)

(७) भन्ते ! मैं एकल विहार पडिमा स्वीकार करता चाहता हूँ (अतः इस गण का परित्याग करता हूँ ।)

आचार्य-उपाध्याय द्वारा गणपरित्याग—

४६७. पाँच कारणों से आचार्य-उपाध्याय का गण परित्याग कहा गया है—

(१) गण में आचार्य या उपाध्याय की आज्ञा या धारणा का पूर्ण पाजन न होता हो तो वे गण का परित्याग करते हैं ।

(२) गण में दीक्षा पर्याय के क्रम से विनय तथा वन्दन व्यवहार न होता हो तो आचार्य या उपाध्याय गण का परित्याग कर देते हैं ।

(३) गण में जितने श्रुतधर हैं वे समय-समय पर (शिष्य समुदाय को) आगम वाचना न देते हों तो आचार्य या उपाध्याय गण का परित्याग कर देते हैं ।

(४) गण में स्वगण या परगण की निर्ग्रन्थी में आसक्ति रखने वाला कोई हो तो आचार्य या उपाध्याय गण का परित्याग कर देते हैं ।

(५) आचार्य या उपाध्याय के मित्र या स्वजन गण का परित्याग कर दें तो वे उन्हें गण में लाने के लिए या उन पर उपकार करने के लिए गण का परित्याग करते हैं ।

सुय ग्रहणद्वा अण-गण समण विहि-णिसैहो—

४६८. सिक्खु य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंप-
ज्जित्ता णं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता—

१. आयरियं वा, २. उवज्जायं वा, ३. पवत्तयं वा,
४. धेरं वा, ५. गणिं वा, ६. गणहरं वा,
७. गणावच्छेदयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेदयं वा
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

ते य से वियरैज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता
णं विहरित्तए।

ते य से नो वियरैज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंप-
ज्जित्ता णं विहरित्तए।

गणावच्छेदयं वा गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं
उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए—

नो से कप्पइ गणावच्छेदयत्तं अनिक्खित्ता अन्नं गणं उव-
संपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से गणावच्छेदयत्तं निक्खित्ता अन्नं उवसंपज्जित्ता
णं विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेदयं
वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेदयं वा
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता विहरित्तए।

ते य से वियरैज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता
णं विहरित्तए।

ते य से नो वियरैज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंप-
ज्जित्ता णं विहरित्तए।

आयरिय-उवज्जायं वा गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं
उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए—

नो से कप्पइ आयरिय-उवज्जायत्तं अनिक्खित्ता अन्नं गणं
उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से आयरिय-उवज्जायत्तं निक्खित्ता अन्नं गणं उव-
संपज्जित्ता णं विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेदयं
वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेदयं वा
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

ते य से वियरैज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता
णं विहरित्तए।

श्रुत ग्रहण के लिये अन्य गण में जाने का विधि-निषेध —

४६८. यदि कोई भिक्षु स्वगण को छोड़कर अन्यगण को श्रुत
ग्रहण के लिए स्वीकार करना चाहे तो उसे —

- (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तक,
(४) स्वधिर, (५) गणी, (६) गणधर या
(७) गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य गण को स्वीकार
करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछकर अन्य
गण स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्य गण को स्वीकार करना
कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य गण को स्वीकार करना नहीं
कल्पता है।

यदि गणावच्छेदक स्वगण को छोड़कर श्रुत ग्रहण के लिये
अन्य गण को स्वीकार करना चाहे तो—

उसे अपने पद का त्याग किए बिना अन्य गण को स्वीकार
करना नहीं कल्पता है।

उसे अपने पद का त्याग करके अन्य गण को स्वीकार करना
कल्पता है।

आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे बिना उसे अन्य
गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछकर अन्य
गण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो उसे अन्य गण को स्वीकार करना
कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो उसे अन्य गण को स्वीकार करना
नहीं कल्पता है।

आचार्य या उपाध्याय यदि स्व गण को छोड़कर अन्य गण
को श्रुत ग्रहण के लिये स्वीकार करना चाहे तो—

उन्हें अपने पद का त्याग किये बिना अन्य गण को स्वीकार
करना नहीं कल्पता है।

अपने पद का त्याग करके अन्य गण को स्वीकार करना
कल्पता है।

आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे बिना उन्हें अन्य
गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछकर अन्य
गण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो उन्हें अन्य गण को स्वीकार करना
कल्पता है।

ते य से नो विघरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंप-
ज्जित्ता णं विहरित्तए । —कप्प उ. ४, सु. २०-२२

भिक्षु य गणाओ अवकम्म अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं
विहरेज्जा,

तं च केइ साहम्मिए पात्तिता वएज्जा -

प०—“कं अज्जो ! उवसंपज्जित्ता विहरसि ?”

उ०—जे तत्थ सक्करावुणिए तं वएज्जा ।

प०—“अहं भन्ते ! कस्स कप्पाए ?”

उ०—जे तत्थ सव्व-बहुस्सुए तं वएज्जा, जं वा से भगवं
वक्खहं तस्स आणा-उववाय-वयणं निद्देसे
चिट्ठिस्सामि । —वव. उ. ४, सु. १८

संभोग वड्डियाए अण्ण-गण-गमण विहि-णित्तेहो -

४६८. भिक्षु य गणाओ अवकम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोग-
वड्डियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए - -

नो ये कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेदयं
वा, अन्नं गणं संभोगवड्डियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।

कप्पइ ते आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेदयं वा
जाव-गणावच्छेदयं वा अन्नं गणं संभोगवड्डियाए उवसंप-
ज्जित्ता णं विहरित्तए ।

ते य से विघरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगवड्डियाए
उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।

ते य से नो विघरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोग-
वड्डियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।

जस्युत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं
संभोगवड्डियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।

जस्युत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं
गणं संभोगवड्डियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।

गणावच्छेदए य गणाओ अवकम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं
संभोगवड्डियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए -

यदि वे आज्ञा न दें तो उन्हें अन्य गण को स्वीकार करना
नहीं कल्पता है ।

विशिष्ट ज्ञान प्राप्ति के लिए यदि कोई भिक्षु अपना गण
छोड़कर अन्य गण को स्वीकार कर विचर रहा हो उस समय—

उसे उस गण में देखकर कोई स्वधर्मी भिक्षु पूछे कि—

प्र०—‘हे आर्य ! तुम किस की निश्र्वा में विचर रहे हो ?’

उ०—तब वह उस गण में जो दीक्षा में सबसे बड़ा हो
उसका नाम कहे ।

प्र०—पुनः पूछे कि—‘हे भदन्त ! किस बहुश्रुत की प्रमुखता
में हो ?’

उ०— तब उस गण में जो सबसे अधिक बहुश्रुत हो उसका
नाम कहे तथा वे जिनकी आज्ञा में रहने के लिए कहें उनकी ही
आज्ञा एवं उनके समीप में रहकर उनके ही वचनों के निर्देशा-
नुसार में रहूँगा—ऐसा कहे ।

सांभोगिक व्यवहार के लिए अन्य गण में जाने का विधि-
निषेध—

४६९. भिक्षु यदि स्व-गण से निकलकर अन्य गण को सांभोगिक
व्यवहार के लिए स्वीकार करना चाहे तो—

उसे आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य
गण को सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नहीं
कल्पता है ।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछकर अन्य
गण को सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है ।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्य गण को सांभोगिक व्यवहार के
लिए स्वीकार करना कल्पता है ।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य गण को सांभोगिक व्यवहार के
लिए स्वीकार करना नहीं कल्पता है ।

यदि संयम धर्म की उत्पत्ति होती हो तो अन्य गण को
सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है ।

किन्तु यदि संयम धर्म की उत्पत्ति न होती हो तो अन्य गण
को सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नहीं कल्पता है ।

गणावच्छेदक यदि स्वगण से निकलकर अन्यगण को
सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना चाहे तो—

१ एक गण में अनेक आचार्य हों तो गण छोड़ने में वह अन्य बड़े आचार्य को पूछता है या अन्य प्रमुख गणावच्छेदक आदि कोई
पदवीधर हों तो उन्हें पूछता है ।

अथवा अन्य कोई पदवीधर गण में न हो तो अन्य को आचार्य बनाकर फिर उसे पूछकर उसकी आज्ञा लेकर अन्य
गण में जा सकता है ।

तो से कप्यद् गणावच्छेदयत् अनिबिखविता अन्नं गणं
संयोगपट्टियाए उवसंपज्जिता णं विहरितए ।

कप्यह से गणायच्छेदयत्तं निविष्यविस्तारं अन्नं गणं संभोग-
पडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।

नो से कथ्यइ अणापुच्छिता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेदयं
वा अन्नं गणं संभोगपट्टियाए उवसंपज्जिता णं विहरितए ।

कषह से आपुच्छिता आपरियं वा-जाव-गणावच्छेदयं वा
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरितए ।

तै य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपड्डियाए
उक्खसंपड्डिज्जा नं विहरिस्सए ।

ते ष से नो विग्रहेज्जा, एवं से नो कण्ठह अन्नं गणं संभोग-
पड्डियाए उवसंपड्डिज्जा णं विहरित्तए ।

जन्मभूतद्वयं धम्मविणयं लभेज्जा, एवं से कप्पइ अस्सं गणं
संभोगपड्डियाए उदयसंपज्जिता णं विहरितए ।

जस्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं
गणं संभोगपट्टियाए उवसंपज्जिता णं विहरित्तए ।

आथरिय-उद्यत्ताए य गणाओ अवपकम्म इच्छेज्जा अन्नं
गणं संभोगपट्टियाए उद्यसंपज्जित्ता णं विहरितए ।

नो से कण्ठ आयरिष-उवञ्सायत्तं अनिक्षिबित्ता अन्नं गणं
संभोगपञ्चियाए उवसंपञ्जित्ता णं विहरित्तए ।

कल्पइ से आयरिय-उवज्झायत्तं निष्कसित्तानं अन्नं मणं
संभोगपडियाए उवसंपज्जित्तानं विहरित्तए ।

नो से कल्पइ अणापुच्छिता वायरियं वा-जाव-गणायच्छेदयं
वा अन्नं गणं संभोगपट्टियाए उवसंपज्जिता णं विहरितए ।

कथ्यसे आपुच्छिता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेद्यं वा
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपञ्जिता णं बिहरितए ।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपड्डियाए
उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।

ते य से नो विचरेऊजा, एअं से नो कपह अक्षं गणं संभोग-
पडियाए उअसंपज्जिता णं विहरिस्सए ।

जन्तुत्तरियं धम्मविणयं समेज्जा, एवं से कण्ण्ड अन्नं गण
संभोगपडियाए उवसंपज्जिता णं विहरित्तए ।

जलसुतरियं धम्मविणयं तो लभेज्जा, एवं से तो कप्पइ
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जिता नं विहरित्तए ।

—कप्प. उ. ४, सु. २३-२५

उसे गणवच्छेदक का पद छोड़े बिना अन्य गण को सांभो-
गिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु गणावच्छेदक का पद छोड़कर अन्य गण को सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है ।

आचार्य—थावत्—गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य गण को सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पृष्ठकर अन्य गण को सांख्यिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य गण को सामौगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है ।

वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य गण को सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नहीं करपता है ।

यदि मंत्रम धर्म की उन्नति होती हो तो अन्य गण की सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है ।

किन्तु यदि संयम धर्म की उन्नति न होती हो तो अन्य गण को सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

को सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना चाहे तो—

उन्हें अपने पद का त्याग किए बिना अन्य गण को सम्मिलित
स्वयंसेवा के लिए स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु अपने पद का त्याग करके अन्य गण को सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है।

आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे बिना उन्हें अन्य गण को सांभोगिक व्यवहार के लिये स्वीकार करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणवच्छेदक को पूछकर अन्य गण वगे सांभोगिक व्यवहार के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य मण को सांभोगिक व्यवहार के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा न दें तो अस्पृशण को सामाजिक व्यवहार के लिये स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

यदि उत्कृष्ट श्रुत एवं चारित्र्य धर्म की प्राप्ति होती है तो अन्य ण को सांभोगिक व्यवहार के लिये स्वीकार करना कल्पता है ।

किन्तु यदि संयम धर्म की उन्नति न होती हो तो अन्य गण को सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

संभोग वह्नियाए गण संक्रमण प्रायश्चित्त सूत्र—

५००. जे भिक्षू बुसिराहयाओ गणाओ अबुसिराहयं गणं संक्रमइ, संक्रमंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वारं उपाइयं ।
—नि. उ. १६, सु. १६

आयरियाईणं वायणट्ठाए अण्ण-गण-भसण विहि-णिसेहो—

५०१. भिक्षू य इच्छेज्जा, अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए,

नो से कप्पइ अणापुच्छिता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए ।

कप्पइ से आपुच्छिता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए ।

ते य से विपरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए ।

ते य से नो विपरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए ।

नो से कप्पइ तेसि कारणं अवीवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए ।

कप्पइ से तेसि कारणं वीवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए ।

गणावच्छेइए य इच्छेज्जा अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए,

नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अनिखिखित्ता अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए ।

कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं निखिखित्ता अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए ।

नो से कप्पइ अणापुच्छिता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए ।

कप्पइ से आपुच्छिता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दिसावेत्तए ।

सांभोगिक व्यवहार के लिये गणसंक्रमण का प्रायश्चित्त सूत्र—

५००. जो भिक्षु विशेष चारित्र्य गुण सम्पन्न गण से अल्प चारित्र्य गुण वाले गण में संक्रमण करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

आचार्य आदि को वाचना देने के लिये अन्य गण में जाने का विधि-निषेध—

५०१. भिक्षु यदि अन्य गण के आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए (या उनका नेतृत्व करने के लिये) जाना चाहे तो—

अपने आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना नहीं कल्पता है ।

किन्तु अपने आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछ कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना कल्पता है ।

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना नहीं कल्पता है ।

उन्हें कारण बताये बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना नहीं कल्पता है ।

किन्तु उन्हें कारण बताकर ही अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

गणावच्छेदक यदि अन्य गण के आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये (या उनका नेतृत्व करने के लिये) जाना चाहे तो—

उसे अपना पद छोड़े बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है ।

किन्तु अपना पद छोड़कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना कल्पता है ।

अपने आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है ।

किन्तु अपने आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछ कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

ते य से विपरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दितावेत्तए ।

ते य से नो विपरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दितावेत्तए ।

नो से कप्पइ तेसि कारणं अबीवेत्ता अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दितावेत्तए ।

कप्पइ से तेसि कारणं बोवेत्ता अन्नं आयरियं वा उवज्जायं वा उद्दितावेत्तए ।

आयरिय-उवज्जाए य इच्छेज्जा अन्नं आयरिय-उवज्जायं-उद्दितावेत्तए,

नो से कप्पइ आयरिय-उवज्जायत्तं अनिक्खित्ता अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दितावेत्तए ।

कप्पइ से आयरिय-उवज्जायत्तं निक्खित्ता अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दितावेत्तए ।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेदयं वा अन्नं आयरियं-उवज्जायं उद्दितावेत्तए ।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेदयं वा अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दितावेत्तए ।

ते य से विपरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दितावेत्तए ।

ते य से नो विपरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दितावेत्तए ।

नो से कप्पइ तेसि कारणं अबीवेत्ता अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दितावेत्तए ।

कप्पइ से तेसि कारणं बोवेत्ता अन्नं आयरिय-उवज्जायं उद्दितावेत्तए ।

—कप्प. उ. ४, सु. २६-२८

अण्णगणाओ आगधरणं गणपवेसस्स त्रिहि-णित्तेहो—

५०२. नो कप्पइ निग्गंयाण वा निग्गंयोण वा निग्गंयि अण्णगणाओ आगयं पयायारं, सन्नलायारं, भिन्नायारं, संकिलिद्धायारं तस्स ठाणस्स अणालोभावेत्ता अपडिक्कमावेत्ता, अनिदावेत्ता, अगारहावेत्ता, अविउट्ठावेत्ता, अबिसोहावेत्ता, अकरणाए, अण्णमुट्ठावेत्ता, अहारिहं पायच्छित्तं अपडिक्कमावेत्ता उवहुग-वेत्तए वा, संभुजित्तए वा, संवसित्तए वा, सीसे इत्तरियं विसं वा, अणुविसं वा, उद्दिंसित्तए वा धारेत्तए वा ।

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है ।

उन्हें कारण बताए बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता ।

किन्तु उन्हें कारण बताकर ही अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

आचार्य या उपाध्याय अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये (या उनका नेतृत्व करने के लिये) जाना चाहें तो—

उन्हें अपना पद छोड़े बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है ।

किन्तु अपना पद छोड़कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

उन्हें अपने आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है ।

किन्तु उन्हें पूछकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है ।

अपने आचार्य या उपाध्याय को कारण बताए बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है ।

किन्तु उन्हें कारण बताकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

अन्य गण से आये हुआँ को गण में सम्मिलित करने के विधि-निषेध—

५०२. खण्डित शबल, भिन्न और संक्लिष्ट आहार वाली अन्य गण से आई हुई निर्ग्रन्थी को सेवित दोष की आलोचना, प्रति-क्रमण, निन्दा, गर्हा, व्युत्सर्ग एवं आरम-शुद्धि न करा लें और भविष्य में पुनः पापस्थान सेवन न करने की प्रतिज्ञा कराके दोष-नुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार न कराते तब तक निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को उसे पुनः चारित्र्य में उपस्थापित करना, उसके साथ सामो-गिक व्यवहार करना और साथ में रखना नहीं कल्पता है, तथा उसे अत्यकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

कप्यइ निगंधाण वा निगंधीण वा निगंधं अन्नगणाओ
आगयं खुयायारं सञ्जलायारं वा, भिन्नायारं संकिलिह्यायारं
तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता, पडिक्कमावेत्ता, निडावेत्ता,
गरहावेत्ता, विउट्ठावेत्ता, विसोहावेत्ता, अकरणाए अम्मट्ठा-
वेत्ता, अहारिहं पायच्छित्तं पडिक्कजावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा,
संभुजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं वा, विसं वा
अणुविसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

नो कप्यइ निगंधाण वा निगंधीण वा निगंधं अन्नगणाओ
आगयं खुयायारं-जाव-संकिलिह्यायारं तस्स ठाणस्स अणालो-
यावेत्ता-जाव-अहारिहं पायच्छित्तं अपडिक्कजावेत्ता उवट्ठा-
वेत्तए वा, संभुजित्तए वा, संवसित्तए वा, तस्स इत्तरियं
विसं वा अणुविसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

कप्यइ निगंधाण वा निगंधीण वा निगंधं अन्नगणाओ
आगयं खुयायारं वा-जाव-संकिलिह्यायारं तस्स ठाणस्स
आलोयावेत्ता-जाव-अहारिहं पायच्छित्तं पडिक्कजावेत्ता
उवट्ठावेत्तए वा, संभुजित्तए वा, संवसित्तए वा, तस्स
इत्तरियं विसं वा, अणुविसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

—वव. उ. ६, सु. १८-२१

जे निगंधा वा निगंधीओ य संभोइया सिया, नो कप्यइ
निगंधीणं निगंधे अणुपुच्छित्ता निगंधं अन्नगणाओ
आगयं खुयायारं-जाव-संकिलिह्यायारं तस्स ठाणस्स अणालो-
यावेत्ता-जाव-अहारिहं पायच्छित्तं अपडिक्कजावेत्ता पुच्छित्तए
वा, वाएत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुजित्तए वा, संवसित्तए
वा, तीसे इत्तरियं विसं वा अणुविसं वा उद्दिसित्तए वा
धारेत्तए वा ।

जे निगंधा य निगंधीओ य संभोइया सिया कप्यइ
निगंधीणं निगंधे अपुच्छित्ता निगंधं अन्नगणाओ आगयं
खुयायारं-जाव-संकिलिह्यायारं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता
-जाव-पायच्छित्तं पडिक्कजावेत्ता पुच्छित्तए वा, वाएत्तए वा,
उवट्ठावेत्तए वा, संभुजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं
विसं वा अणुविसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

जे निगंधा य निगंधीओ य संभोइया सिया, कप्यइ निगंध-
थाणं निगंधीओ अपुच्छित्ता वा, अणुपुच्छित्ता वा, निगंधं

खण्डित, शब्द, भिन्न और संक्लिष्ट आचार वाली अन्य
गण से आई हुई निर्ग्रन्थी को सेवित दोष की आलोचना, प्रति-
क्रमण, निन्दा, गद्दी, व्युत्सर्ग एवं आत्मशुद्धि करा ले तथा भविष्य
में पुनः पापस्थान सेवन न करने की प्रतिज्ञा के साथ दोषानुरूप
प्रायश्चित्त स्वीकार करा ले तो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को उसे पुनः
चारित्र्य में उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार
करना और साथ में रखना कल्पता है, तथा उसे अल्पकाल के
लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना
कल्पता है ।

खण्डित—यावत्—संक्लिष्ट आचार वाले अन्य गण से
आये हुए निर्ग्रन्थ को सेवित दोष की आलोचना—यावत्—
दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार न करा ले तब तक निर्ग्रन्थ-निर्ग्र-
न्थियों को उसे पुनः चारित्र्य में उपस्थापित करना, उसके साथ
साम्भोगिक व्यवहार करना और साथ में रखना नहीं कल्पता है
तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना
या धारण करना नहीं कल्पता है ।

खण्डित—यावत्—संक्लिष्ट आचार वाले अन्य गण से
आये हुए निर्ग्रन्थ को—यावत्—दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार
करा ले तो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को उसे पुनः चारित्र्य में उपस्था-
पित करना, उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार करना और साथ
में रखना कल्पता है, तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनु-
दिशा का निर्देश करना या धारण करना कल्पता है ।

जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ साम्भोगिक हैं और निर्ग्रन्थी के समीप
यदि कोई अन्य गण से खण्डित—यावत्—संक्लिष्ट आचार वाली
निर्ग्रन्थिनी आए तो निर्ग्रन्थ को पूछे बिना और उसके पूर्व सेवित
दोष की आलोचना—यावत्—दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार
कराये बिना उसकी सुख-शांता पूछना, उसे वाचना देना, चारित्र्य
में पुनः उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करना और
साथ रखना नहीं कल्पता है । तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा
या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना नहीं कल्पता है ।

जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ साम्भोगिक हैं और निर्ग्रन्थी के समीप
यदि कोई अन्य गण से खण्डित—यावत्—संक्लिष्ट आचार वाली
निर्ग्रन्थिनी आए तो निर्ग्रन्थ को पूछकर तथा सेवित दोष की
आलोचना—यावत्—दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार कराके उसे
सुख-शांता पूछना, वाचना देना, चारित्र्य में पुनः उपस्थापित करना,
उसके साथ बैठकर भोजन करना और साथ रखना कल्पता है ।
उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या
धारण करना कल्पता है ।

जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ साम्भोगिक हैं और निर्ग्रन्थ के समीप
यदि कोई अन्य गण से खण्डित—यावत्—संक्लिष्ट आचार वाली

अन्नगणाश्रो आगयं खुमायारं-जाव-संकलित्वाधारं तस्स
ठाणस्स आलोयावेत्ता-जाव-पायविष्ठसं पडिक्खआवेत्ता पुच्छि-
त्तए वा, वाएत्तए वा, उक्खट्ठावेत्तए वा, संसुजित्तए वा, संव-
सित्तए वा, तोसे हत्तरिथं विसं वा, अणुदिसं वा, उद्दिसित्तए
वा, घारेत्तए वा, तं च निगंधीओ नो इच्छेज्जा, सयमेव
नियं ठाणं ।

—वव. उ. ७, सु. १-३

निग्रन्थिनी आए तो निग्रन्थिनियों को पूछकर या बिना पूछे भी
सेवित दोष की आलोचना—यावत्—दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वी-
कार कराके उसकी सुख-शांति पूछना, उसे वाचना देना, चारित्र्य
में पुनः उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करने की
और साथ रखने की आज्ञा देना कल्पता है । उसे अल्पकाल के
लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना कल्पता
है । किन्तु यदि निग्रन्थिनियाँ उसे न रखना चाहें तो उसे चाहिए
कि वह पुनः अपने गण में चली जाए ।



एकल विहार अर्थ—५२

एकल विहारिस्स अट्ठ गुणा—

५०३. अट्ठहि ठाणेहि संपण्णे अणगारे एकल विहारपडिमं उव-
संपज्जित्तानं विहरित्तए, तं जहा—

१. सद्धी पुरिसजाते,	२. सच्चे पुरिसजाते,
३. मेधावी पुरिसजाते,	४. बहुसुते पुरिसजाते,
५. सत्तिमं,	
६. अल्पधिगरणे,	
७. धितिमं,	८. वीरिय संपण्णे ।

—ठाणं. अ. ८, सु. ५६४

एगागी समणस्स आवास विहि-णित्तेहो—

५०४. से गार्मसि वा-जाव-सन्निवेससि वा अभिनिव्वगडाए, अभि-
निव्वुवाराए अभिनिव्वमण-पवेसणाए,

नो कप्पइ बहुसुयस्स बभ्भागमस्स एगणियस्स भिक्खुस्स
वत्थए किमंगुण अप्सुयस्स अध्वागमस्स ?

से गार्मसि वा-जाव-सन्निवेससि वा एगवगडाए, एगवुवाराए,
एगनिव्वमण पवेसाए,

कप्पइ बहुसुयस्स बभ्भागमस्स एगणियस्स भिक्खुस्स वत्थए
बुहो कालं भिक्खुभावं पडिजागरमाणस्स ।

—वव. अ. ६, सु. १४-१५

अवियत्त एगागी भिक्खुस्स वोसाहं—

५०५. गामाणुगामं वूड्ढजमाणस्स बुज्जातं पुण्यरक्कतं भवति अबि-
यत्तस्स भिक्खुणो ।

एकलविहारी के आठ गुण—

५०३. आठ गुणों से सम्पन्न अणगार एकल विहार प्रतिज्ञा को
स्वीकार कर विहार करने के योग्य होता है, यथा—

१. श्रद्धावान् पुरुष,	२. सत्यशील पुरुष,
३. मेधावी पुरुष,	४. बहुश्रुत पुरुष,
५. शक्तिमान् पुरुष,	
६. अल्प कषाय या अल्प उपधि वाला पुरुष,	
७. धृतिमान् पुरुष,	८. वीर्य (उत्साह) सम्पन्न पुरुष,

अकेले भिक्षु के रहने का विधि-निषेध—

५०४. भिन्न-भिन्न बाड़, भिन्न-भिन्न प्राकार वाले, भिन्न-भिन्न द्वार
वाले और भिन्न-भिन्न निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम—यावत्—
सन्निवेश में,

अकेले बहुश्रुत और बहुआगमज भिक्षु को भी बसना नहीं
कल्पता है तो अल्पश्रुत और अल्पआगमज भिक्षु को बसना कैसे
कल्प सकता है ? अर्थात् नहीं कल्पता है ।

एक बाड़ या एक प्राकार वाले, एक द्वार वाले और एक
निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम—यावत्—सन्निवेश में,

अकेले बहुश्रुत और बहुआगमज भिक्षु को दोनों समय संयम
भाव की जागृति रखते हुए रहना कल्पता है ।

अपरिपक्व एकाकी भिक्षु के दोष—

५०५. जो भिक्षु अपरिपक्व अवस्था में है उसका अकेले ग्रामानु-
ग्राम विहार करना दुःखप्रद और पतन का कारण होता है ।

यस्यसा वि एगे बुद्धया कुप्पन्ति भाणवा ।
उण्णतमाये य नरे सहता मोहेण मुञ्जति ।

संवाहा बह्वे भुज्जो भुज्जो वुरत्तिकमा अजाणतो अपासतो ।

एधं ते मा होउ ।

एयं कुसलस्स वंसणं ।—आ. सु. १, अ. ५, उ. ४, सु. १६२

अववाए एगागी विहार विहाणं—

५०६. न वा लभेज्जा निउणं सहायं,

गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।

एधको वि रावाइ विवज्जयन्तो,

विहरेज्ज कामेहु अमज्जमाणो !!^१

—उत्त. अ. ३२, गा. ५

एगागी भिक्षुस्स पसत्था विहार चरिया

५०७. इहमेगोसि एगचरिया होति ।

तस्सितराइसरेहि कुलेहि सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेघाकी
परिव्वए, सुब्बि अदुवा बुब्बि अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे
किलेसन्ति । ते फासे पुट्ठो धोरो अहियासेज्जासि ।

—आ. सु. १, अ. ६, उ. २, सु. १८६

एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया ।

भिक्षू उवहाणवीरिए, बइगुसे अज्जप्पसंबुडे ॥

णो पीहे भावसंगुणे, बारं सुन्नघरस्स संजते ।

पुट्ठो ण उवाहरे वयं, न समुच्छे नो य संथरे तणं ॥

जत्थज्जमिए अणाउले, सम-विसमाणि मुणोऽहियासिए ।

चरया अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सिरोसिया सिया ॥

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽहियासिया ।

लोमावीयं पि ण हरिसे, सुन्नागारणसे भहामुणी ॥

णो अभिकंखेज्जा जीवियं, णो वि य पूयणपत्थए सिया ।

अवसथमुवेति भेरवा, सुन्नागारणस्स भिक्षुणो ॥

क्योंकि कुछ साधक प्रतिकूल वचन सुनकर भी कुपित हो जाते हैं । स्वयं को उन्नत मानते हुए कोई अभिमानी साधक प्रबल मोह से मूढ हो जाता है ।

उस अज्ञानी अतत्त्वदर्शी के लिए बार-बार आने वाली अनेक परीषद् रूप बाधाओं को पार करना अत्यन्त कठिन होता है ।

तीर्थंकर भगवान् का यह उपदेश है कि ऐसी अवस्था तुम्हारी न हो अतः अव्यक्त साधक को गुह के सान्निध्य में ही रहना चाहिए ।

अपवाद में एकाकी विहार का विधान—

५०६. यदि अपने से अधिक गुणवान् या अपने समान गुणी कोई निपुण सहायक न मिले तो भिक्षु पापों का वर्जन करता हुआ, विषयों में अनासक्त रहकर अकेला ही विहार करे ।

एकाकी भिक्षु की प्रशस्त विहार चर्या—

५०७. इस जिनशासन में कुछ साधुओं द्वारा एकाकी चर्या स्वीकृत की जाती है ।

उनमें मेधावी साधु विभिन्न कुलों से शुद्ध एषणा और सर्वेक्षण से संयम का पालन करता हुआ विचरे । अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में समभाव रखे । अथवा यदि इस चर्या में हिंसक प्राणी प्राणों को व्लेश पहुँचाए, तो उन दुःखों का स्पर्श होने पर भी धीर मुनि उन्हें सम्यक् प्रकार से सहन करे ।

भिक्षु वचन से गुप्त, मन से गुप्त तथा तपोबली होकर विचरण करे तथा कायोत्सर्ग, आसन और शयन भी अकेला ही करता हुआ समाधियुक्त होकर रहे ।

वह भिक्षु यदि शून्य गृह में ठहरा हो तो वहाँ द्वार न खोले और न ही बन्द करे, किसी से पूछने पर भी न बोले, उस मकान का कचरा न निकाले, और घास भी न बिछाए । (किन्तु अपने आवश्यक स्थान को पूज कर बैठे या सोवे) ।

जहाँ सूर्य अस्त हो जाए वहीं शोभ रहित होकर रह जाए । सम-विषम स्थान हो तो उसे सहन करे । वहाँ यदि डाँस-मच्छर आदि हों, अथवा भयंकर प्राणी या सर्प आदि हों तो भी मुनि इन परीषद्ओं को सम्यक् रूप से सहन करे ।

शून्य गृह में स्थित महामुनि तिर्यञ्च मनुष्य एवं देवजनित विविध उपसर्गों को सहन करे । किन्तु भय से रोमांचित न होवे ।

साधु न तो असंयम जीवन की आकांक्षा करे और न ही सत्कार-प्रशंसा का अभिलाषी बने । शून्य गृह स्थित भिक्षु को धीरे-धीरे भयानक प्राणी भी सह्य हो जाते हैं ।

उवणीततरस्स ताइणी, भयमाणस्स विविसमासर्णं ।
सामाद्वयमाहु तस्स जं, जो अप्पाणं षए ण वंसए ॥

उसिणोदगतत्तभोइणी, धम्मद्वियस्स मुणिस्स होमतो ।
संसग्गि असाहु रायिहिं, असमाहो उ तहागयस्स वि ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. २, गा. १२२-१२८

एकाकी भिक्षुस्स अपसत्था विहार चरिया—

५०८. इहमेगेसि एगवरिया भवति । से बहुकोहे, बहुमाणे, बहुमाए,
बहुसोभे, बहुरते, बहुगडे, बहुसडे, बहुसंकप्पे, आसवसक्की,
पलिओछण्णे, उट्ठित्तावं पवरमाणे, सा भे केइ अवक्खु,
अण्णाण-पयापबोसेणं । सतत्तं मूढे धम्मं गाभिजाणति ।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. १, सु. १५१

एकल विहारिस्स गणे पुनरागमण—

५०९. भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म एगत्तविहारपडिमं उवसंपज्जि-
त्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा बोच्चं पि तमेव गणं उव-
संपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा ।

पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ।

गणावच्छेदए य गणाओ अवक्कम्म एगत्तविहारपडिमं उव-
संपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा बोच्चं पि तमेव गणं
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,

पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,

पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ।

आयरिय-उवज्जाए य गणाओ अवक्कम्म एगत्तविहारपडिमं
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,

पुणो छेय-परिहारस्स उवट्ठाएज्जा ।

—वव. उ. १, सु. २३-२५

एगागिस्स समाहि—

५१०. एगत्तमेव अभिपत्थएज्जा, एवं पसोक्खो ण मुसं ति पास ।

एसप्पमोक्खो अमुसे वरे वो, अक्कोहणे सच्चरए तवस्सी ॥

—सूय. सु. १, अ. १०, गा. १२

जो संयम सम्पन्न छह काय रक्षक भिक्षु विविक्त-एकान्त स्थान
का सेवन करता है तथा जो भयभीत नहीं होता है उस साधु को
तीर्थकरों ने सामायिक चारित्रवान् कहा है ।

गर्भ जल पीने वाले तथा अग्निपक्व अचित्त आहार करने
वाले धर्म में स्थित संयमवान् मुनि को राजा आदि से संसर्ग
करना अच्छा नहीं है । क्योंकि उससे शास्त्रोक्त आचार-पालक
मुनि की समाधि भी भंग हो सकती है ।

एकाकी भिक्षु की अप्रशस्त विहार चर्या—

५०८. इस संसार में कुछ साधक विषय कषाय के कारण अकेले
विचरण करते हैं वे अत्यन्त क्रोध, अतीव मान, अत्यन्त माया,
अति लोभ करने वाले अति आसक्त नट के समान रूप बदलने
वाले, अत्यन्त धूर्त और बहुत संकल्प करने वाले होते हैं । वे
हिंसादि आश्रयों में आसक्त, कमों में लिप्त होते हैं, वे अपने को
धर्म के लिए उद्यत बताते हुए भी 'मुझे कोई न देख ले' इस
आशंका से छिप-छिपकर अनाचार सेवन करते हैं अज्ञान और
प्रमाद के दोष से सतत मूढ बने वे धर्म को नहीं जानते हैं ।

एकाकी विहारी का गण में पुनरागमन—

५०९. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर एकल विहार चर्या
धारण करके विचरण करे और बाद में वह पुनः उसी गण में
सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—

उस विचरण काल सम्बन्धी पूर्ण आलोचना प्रतिक्रमण करे ।

तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो छेद या तप रूप
प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे ।

यदि कोई गणावच्छेदक गण से निकलकर एकल विहार चर्या
को धारण करके विचरण करे और बाद में वह पुनः उसी गण में
सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—

उस विचरण काल सम्बन्धी पूर्ण आलोचना प्रतिक्रमण करे ।

तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो छेद या तप रूप
प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे ।

यदि कोई आचार्य या उपाध्याय गण से निकलकर एकल
विहार प्रतिज्ञा को धारण करके विचरण करे और बाद में वे पुनः
उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—

उस विचरण काल सम्बन्धी पूर्ण आलोचना प्रतिक्रमण करे ।

तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो छेद या तप रूप
प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे ।

एकाकी विहारी को समाधि—

५१०. साधु एकत्व (अकेलेपन) की इच्छा करे । ऐसा करने से
भी मोक्ष होता है इसे मिथ्या नहीं समझना चाहिये । यह एकत्व
से मुक्ति मिथ्या नहीं, सत्य और श्रेष्ठ भी है । जो साधु संयम में
रत एवं तपस्वी है । (वही समाधि भाव को प्राप्त करता है ।)

पारिवारिक के साथ व्यवहार व्यवस्था—१३

पारिवारिक सह भिक्षुणा नमण पायश्चित्तं सुत्तं—

५११. जे भिक्षू अपारिवारिकं^१ परिहारियं बूया—

एहि अज्जो ! तुम च अहं च एगओ असणं वा-जाव-साइमं वा पडिगाहेसा तओ पच्छा पत्तेयं-पत्तेयं भोक्खामो वा पाहामो वा जे तं एवं बन्दइ तंवंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारद्वानं उग्याइयं ।

—नि. उ. ४, सु. ११२

पासत्थस्स आयाण-पयाण करण पायश्चित्तं सुत्ताइं -

५१२. जे भिक्षू पासत्थस्स संघाडयं वेद देतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू पासत्थस्स संघाडयं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारद्वानं उग्याइयं ।

—नि. उ. ४, सु. २८-२९

जे भिक्षू पासत्थस्स असणं वा-जाव-साइमं वा वेद देतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू पासत्थस्स असणं वा-जाव-साइमं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउस्मासियं परिहारद्वानं उग्याइयं ।

—नि. उ. १५, सु. ७७-७८

जे भिक्षू पासत्थस्स वत्थं वा, पडिगाहं वा, कंबलं वा पाय-पुच्छं वा, वेद देतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू पासत्थस्स वत्थं वा, पडिगाहं वा, कंबलं वा, पायपुच्छं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउस्मासियं परिहारद्वानं उग्याइयं ।

—नि. उ. १५, सु. ८६-८७

ओसणस्स आयाण-पयाण करण पायश्चित्तं सुत्ताइं—

५१३. जे भिक्षू ओसणस्स संघाडयं वेद देतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू ओसणस्स संघाडयं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

पारिवारिक के साथ भिक्षार्थ जाने का प्रायश्चित्त सूत्र—

५११. जो अपारिवारिक भिक्षु पारिवारिक भिक्षु को कहे कि—

“हे आर्य चलो ! तुम और मैं एक साथ अशन—यावत्—स्वाद्य लेकर आर्य, उसके बाद अलग-अलग खायेंगे पीयेंगे”, जो ऐसा कहता है, कहलाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

पारिवारिक के साथ देन-लेन करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

५१२. जो भिक्षु पारिवारिक को संघाडा (साधु) देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु पारिवारिक से संघाडा लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु पारिवारिक को अशन—यावत्—स्वाद्य देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु पारिवारिक से अशन—यावत्—स्वाद्य लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु पारिवारिक को वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोष्ठन देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु पारिवारिक का वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोष्ठन लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

अवसन्न के साथ देन-लेन करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

५१३. जो भिक्षु अवसन्न को संघाडा देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अवसन्न से संघाडा लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

१. पारिवारिक—महाश्रतों के या समिति-गुप्ति आदि के अतिचारों का पूर्ण परिहार करने वाला पारिवारिक कहलाता है । अथवा परिहार तप रूप प्रायश्चित्त वहन करने वाला भी पारिवारिक कहलाता है ।

अपारिवारिक—महाश्रतों के या समिति गुप्ति आदि के अतिचारों का पूर्ण परिहार नहीं करने वाला अपारिवारिक कहलाता है अथवा परिहार तप रूप प्रायश्चित्त को वहन न करने वाला अपारिवारिक कहलाता है ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारद्वान् उग्घाइयं ।

—नि. उ. ४, सु. ३०-३१

जे भिक्षू ओसण्णस्स असणं वा-जाव-साइमं वा वेइ, वेत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू ओसण्णस्स असणं वा-जाव-साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वान् उग्घाइयं ।

—नि. उ. १५, सु. ७६-८०

जे भिक्षू ओसण्णस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा, वेइ, वेत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू ओसण्णस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वान् उग्घाइयं ।

—नि. उ. १५, सु. ६१-६२

कुशीलस्स आयाण-पयाण करण पायच्छित्त मुत्ताइ—

५१४. जे भिक्षू कुशीलस्स संघाइयं वेइ वेत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू कुशीलस्स संघाइयं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारद्वान् उग्घाइयं ।

—नि. उ. ४, सु. ३२-३३

जे भिक्षू कुशीलस्स असणं वा-जाव-साइमं वा वेइ, वेत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू कुशीलस्स असणं वा-जाव-साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वान् उग्घाइयं ।

—नि. उ. १५, सु. ८१-८२

जे भिक्षू कुशीलस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा पाय-पुंछणं वेइ, वेत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू कुशीलस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा पाय-पुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वान् उग्घाइयं ।

—नि. उ. १५, सु. ६३-६४

संसत्तस्स आयाण-पयाण करण पायच्छित्त मुत्ताइ—

५१५. जे भिक्षू संसत्तस्स संघाइयं वेइ, वेत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू संसत्तस्स संघाइयं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

उसे उद्घातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु अवसन्न को अशन—यावत्—स्वाद्य देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अवसन्न से अशन—यावत्—स्वाद्य लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु अवसन्न साधु को वस्त्र, पात्र, कम्बल या पाद-प्रोछन देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अवसन्न साधु के वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोछन लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

कुशील के साथ देन-लेन करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

५१४. जो भिक्षु कुशील को संघाडा देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कुशील से संघाडा लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु कुशील को अशन—यावत्—स्वाद्य देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कुशील से अशन—यावत्—स्वाद्य लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु कुशील साधु को वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोछन देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कुशील साधु का वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोछन लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

संसक्त के साथ देन-लेन करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

५१५. जो भिक्षु संसक्त को संघाडा देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु संसक्त से संघाडा लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारद्वणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. ४, सु. २६-३७

जे भिक्षू संसत्तस्स असणं वा-जाव-साइमं वा वेइ, वेत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू संसत्तस्स असणं वा-जाव-साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १५, सु. ८३-८४

जे भिक्षू संसत्तस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा वेइ, वेत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू संसत्तस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पाय-पुंछणं वा, पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १५, सु. ६७-६८

नितियस्स आयाण-पयाण करण पायश्चित्तं सुत्ताइ—

५१६. जे भिक्षू नितियस्स संघाइयं वेइ, वेत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू नितियस्स संघाइयं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारद्वणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. ४, सु. ३४-३५

जे भिक्षू नितियस्स असणं वा-जाव-साइमं वा वेइ, वेत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू नितियस्स असणं वा-जाव-साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १५, सु. ८५-८६

जे भिक्षू नितियस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा वेइ, वेत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू नितियस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पाय-पुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।^१

उसे उद्घातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु संसक्त को अशन—यावत्—स्वाद्य देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु संसक्त से अशन—यावत्—स्वाद्य लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु संसक्त को वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोक्षण देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु संसक्त का वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोक्षण लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

नित्यक को देने-लेने के प्रायश्चित्त सूत्र—

५१६. जो भिक्षु नित्यक को संघाडा देता है, दिलवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु नित्यक से संघाडा लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु नित्यक को अशन—यावत्—स्वाद्य देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु नित्यक से अशन—यावत्—स्वाद्य लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु नित्यक को वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोक्षण देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु नित्यक का वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोक्षण लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

१ निशीथ उद्देशक १३ में पार्श्वस्थ आदि ६ प्रकार के शिथिलाचारियों को वंदनादि करने के १८ प्रायश्चित्त सूत्र दर्शनाचार में लिये हैं ।

प्रस्तुत इस संघ व्यवस्था प्रकरण में भी वे सूत्र प्रसंग संगत हैं अतः उन सूत्रों को यहाँ भी समझ लेना चाहिए ।

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

तं सेवमाणे आश्रयञ्च चाडम्मासिधं परिहारद्वयं उग्राद्वयं ।

उसे उद्वातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)

—नि. उ. १५, सु. ६५-६६ बाता है ।

(शेष टिप्पण पिछले पृष्ठ का)

पार्श्वस्थादि को बंदनादि करने, संघाडा देने, आहार, वस्त्र, पात्रादि देने के प्रायश्चित्त सूत्रों की तालिका—

बंदन प्रशंसा का व्यवहार

नि. उ.

१०. अथाछंदा	गुरु चौ.
१३. पार्श्वस्थ	लघु चौ.
१३. अवसन्न	" "
१३. कुशील	" "
१३. संसक्त	" "
१३. नित्यक	" "
१३. काथिक	" "
१३. प्राश्निक	" "
१३. भासक	" "
१३. सांप्रसारिक	" "

आहार वस्त्रादि देने का व्यवहार

- | |
|---------------------------|
| १५. पार्श्वस्थ लघु चौमासी |
| १५. अवसन्न " " |
| १५. कुशील " " |
| १५. संसक्त " " |
| १५. नित्यक " " |

सिघाडा देने का व्यवहार

नि. उ.

- | |
|-------------------------|
| ४. पार्श्वस्थ लघु मासिक |
| ४. अवसन्न " " |
| ४. कुशील " " |
| ४. संसक्त " " |
| ४. नित्यक " " |

गच्छ से अलग विचरकर पुनः गच्छ में आने वाले को

१. एकल विहार चर्या

व्यव. उ. १

२. पार्श्वस्थ विहार चर्या

३. यथाछंद विहार चर्या

४. कुशील विहार चर्या

५. अवसन्न विहार चर्या

६. संसक्त विहार चर्या

७. परमासंद संन धारण ।

यथाछंद को बंदन व्यवहार के प्रायश्चित्त सूत्र नि. उ. १० में हैं किन्तु आहारादि लेन-देन सम्बन्धी प्रायश्चित्त सूत्र कहीं उपलब्ध नहीं है सम्भव है किसी युग में ये सूत्र विच्छिन्न हो गये होंगे । उन्हें दसवें उद्देशक में सम्मिलित लेना चाहिए ।

अतः बंदन व्यवहार के अनुसार उनके साथ आहारादि लेन-देन का भी गुरु चौमासी प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिए ।

पार्श्वस्थ अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाछंद ये अपनी आगम विपरीत प्रवृत्तियों के कारण गच्छ से अलग कर दिये जाते हैं या वे स्वयं अलग हो जाते हैं । यदि वे गण में आना चाहें और यत्किंचित् संयमी जीवन व्यतीत कर रहे हों तो उन्हें प्रायश्चित्त से मुक्त होने के बाद गण में वापिस लिए जा सकते हैं ।

पार्श्वस्थादि की परिभाषा —

१. पार्श्वस्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना में जो पुरुषार्थ नहीं करता है तथा अनेक अलिखारों या अनाचारों में प्रवृत्ति करता है वह “पार्श्वस्थ” कहा जाता है ।

२. अवसन्न—जो संयम समाचारी से विपरीत या अल्पाधिक आचरण करता है वह “अवसन्न” कहा जाता है ।

३. कुशील—संयम जीवन में जो मन्त्र, विद्या, निमित्त कथन या चिकित्सा आदि निषिद्ध कार्य हैं उन्हें करता है वह “कुशील” कहा जाता है ।

४. संसक्त—जैसों के साथ रहता है वैसा ही हो जाता है—अर्थात् उन्नत आचार वालों के साथ रहता है तो उन्नत आचार का पालन करने लगता है और जो शिथिलाचार वालों के साथ रहता है तो शिथिलाचारी हो जाता है । वह “संसक्त” कहा जाता है ।

५. नित्यक—जो अकारण, कल्प मर्यादा का भंग करके सदा एक स्थान पर रहता है वह “नित्यक” कहा जाता है ।

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

पासस्थ विहारिस्स गणे पुनरागमण -

५१७. भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म पासस्थविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्थए अत्थि य इत्थ सेसे । पुणो अलो-
एज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवहाएज्जा ।
—वव. उ. १, सु. २६

अहाछंद विहारिस्स गणे पुनरागमण—

५१८. भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म अहाछंद विहार-पडिमं उव-
संपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उव-
संपज्जित्ताणं विहरित्थए अत्थि य इत्थ सेसे पुणो आलो-
एज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवहाएज्जा ।
—वव. उ. १, सु. २७

कुशील विहारिस्स गणे पुनरागमण—

५१९. भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म कुशीलविहारपडिमं उवसंपज्जि-
त्ताणं विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उव-
संपज्जित्ताणं विहरित्थए अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलो-
एज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवहाएज्जा ।
—वव. उ. १, सु. २८

ओसन्न विहारिस्स गणे पुनरागमण—

५२०. भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म ओसन्नविहारपडिमं उवसंपज्जि-
त्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उव-
संपज्जित्ताणं विहरित्थए अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलो-
एज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवहाएज्जा ।
—वव. उ. १, सु. २९

संसत्त विहारिस्स गणे पुनरागमण—

५२१. भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म संसत्तविहारपडिमं उवसंपज्जि-
त्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उव-
(शेष टिप्पण पिछले पृष्ठ का)

६. काथिक—जो स्वाध्याय आदि आवश्यक कार्यों की उपेक्षा करके देश कथा आदि विषयों में समय लगाता है वह “काथिक” कहा जाता है ।

७. प्राश्निक प्रेक्षणिक—जो नाटक, नृत्य आदि दृश्य देखने की अभिलाषा रखता है व प्रवृत्ति करता है वह “प्रेक्षणिक” कहा जाता है । अथवा जो लौकिक प्रश्नों का समस्याओं का समाधान करता रहता है वह “प्राश्निक” कहा जाता है ।

८. मामक—जो शिष्य, श्रेय, उपधि आदि में “ममत्व” रखता है वह “मामक” कहा जाता है ।

९. साम्प्रसारिक—जो लेन-देन, गमनागमन आदि लौकिक कार्यों के मुहूर्तों का कथन करता है या उनमें विशेष वचि रखता है वह “साम्प्रसारिक” कहा जाता है ।

१०. यथाछंद—जो आगम विपरीत मनमाना प्ररूपण या आचरण करता है वह “यथाछंद” कहा जाता है ।

पार्श्वस्थ विहारी का गण में पुनरागमन—

५१७. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर पार्श्वस्थ चर्या को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह पार्श्वस्थ विहार छोड़कर उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र्य कुछ शेष हो तो पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे । तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर दीक्षा छेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे ।

यथाछन्दविहारी का गण में पुनरागमन—

५१८. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर यथाछन्द चर्या को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह यथाछन्द विहार छोड़कर उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र्य कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे । तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर दीक्षा छेद या तप रूप जो प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे ।

कुशील विहारी का गण में पुनरागमन—

५१९. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर कुशील चर्या को अंगी-
कार करके विचरे और बाद में वह कुशील विहार छोड़कर उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र्य कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे । तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर दीक्षा छेद या तप रूप जो प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे ।

अवसन्नविहारी का गण में पुनरागमन—

५२०. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर अवसन्न चर्या को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह अवसन्न विहार छोड़कर उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र्य कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो दीक्षा छेद या तप रूप जो प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे ।

संसत्तविहारी का गण में पुनरागमन—

५२१. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर संसत्त चर्या को अंगी-
कार करके विचरे और बाद में वह संसत्त विहार को छोड़कर

संपञ्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि य इत्थं सेसे, पुणो आलो-
एज्जा, पुणो पडिक्कसेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ।

—वच. उ. १, सु. ३०

अण्णलिङ्ग गह्णाणंतरे गणे पुणरागमण—

५२२. चिक्खू य गणाओ अवक्कम्म परपासंडपडिमं उवसंपञ्जित्ताणं
विहरेज्जा से य इत्थं ज्जा वोच्चं पि तमेव गणं उवसंपञ्जि-
त्ताणं विहरित्तए, नत्थि णं तस्स तत्पत्तियं केदं छेए वा परि-
हारे वा, नत्तत्थ एगाए आलोचनाए ।

—वच. उ. १, सु. ३१

उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका
चारित्र्य कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना
एवं प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर दीक्षा
छेद या तप रूप जो प्रायश्चित्त दें उसे स्वीकार करे ।

अन्यलिङ्ग ग्रहण के बाद गण में पुनरागमन—

५२२. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर किसी परिस्थिति से
अन्यलिङ्ग की धारण कर विहार करे और कारण समाप्त होने
पर पुनः स्वलिङ्ग की धारण कर गण में सम्मिलित होकर रहना
चाहे तो उसे आलोचना के अतिरिक्त लिङ्ग परिवर्तन का दीक्षा
छेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है ।



कलह और उसकी उपशान्ति—१४

संकिलेसप्पगारा—

५२३. वसविधे संकिलेसे पणत्ते, तं जहा—

१. उवहि-संकिलेसे,

२. उवस्सय-संकिलेसे,

३. कसाय-संकिलेसे,

४. भत्तपाण-संकिलेसे,

५. मण-संकिलेसे,

६. वड-संकिलेसे,

७. काय-संकिलेसे,

८. पाण-संकिलेसे,

९. वंसण-संकिलेसे,

१०. चरित्त-संकिलेसे^१ ।

—ठाणं. अ. १०, सु. ७३६

असंकिलेसप्पगारा—

५२४. वसविहे असंकिलेसे पणत्ते, तं जहा—

१. उवहिअसंकिलेसे,

२. उवस्सयअसंकिलेसे,

३. कसायअसंकिलेसे,

४. भत्तपाणअसंकिलेसे,

५. मणअसंकिलेसे,

६. वडअसंकिलेसे,

क्लेश के प्रकार—

५२३. दस प्रकार का कलह कहा गया है । यथा—

(१) उपधि के निमित्त से होने वाला क्लेश ।

(२) उपाथय के निमित्त से होने वाला क्लेश ।

(३) क्रोधादि के निमित्त से होने वाला क्लेश ।

(४) आहारादि के निमित्त से होने वाला क्लेश ।

(५) मन के निमित्त से होने वाला क्लेश ।

(६) वचन के निमित्त से होने वाला क्लेश ।

(७) शरीर के निमित्त से होने वाला क्लेश ।

(८) ज्ञान के निमित्त से होने वाला क्लेश ।

(९) दर्शन के निमित्त से होने वाला क्लेश ।

(१०) चारित्र्य के निमित्त से होने वाला क्लेश ।

असंक्लेश के प्रकार—

५२४. असंक्लेश (कलह का अभाव) दस प्रकार का कहा गया
है । जैसे—

(१) उपधि के निमित्त से क्लेश न होना ।

(२) निवासस्थान के निमित्त से क्लेश न होना ।

(३) कषाय के निमित्त से क्लेश न होना ।

(४) आहारादि के निमित्त से क्लेश न होना ।

(५) मन के निमित्त से क्लेश न होना ।

(६) वचन के निमित्त से क्लेश न होना ।

७. कामअसंकिलेसे,

८. पाणअसंकिलेसे,

९. दंसणअसंकिलेसे,

१०. चरित्तअसंकिलेसे ।^१ —ठाणं. अ. १०, सु. ७३९

अहितकारगा ठाणा—

५२५. तओ ठाणा निगंथाण वा निगंथीण वा अहियाए, असुभाए, अख्खमाए, अणित्थेयसाए, अणुगामियत्ताए भवति, तं जहा—

१. कूअणता,

२. कक्ककरणता,

३. अवज्झाणता ।

—ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८८

हितकारगा ठाणा—

५२६. तओ ठाणा निगंथाण वा निगंथीण वा हित्ताए, सुहाए, ख्खमाए, णित्थेयसाए, अणुगामियत्ताए भवति, तं जहा—

१. अकूअणता,

२. अकक्ककरणता,

३. अणवज्झाणता ।

—ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८८

गण वुग्गह कारणा—

५२७. आयरिय-उवज्झायस्स णं गणंसि पंच वुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

१. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि आणंढुवा धारणं वा णो सम्मं पउजित्ता भवति ।

२. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि अहाराइ णियाए कित्ति-कम्मं वेणित्तं णो सम्मं पउजित्ता भवति ।

३. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि जे सुत्तपज्जवजाते धारेति ते काले-काले णो सम्ममणुप्पवाहत्ता भवति ।

४. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि गित्ताणसेहवेयावच्चं णो सम्ममम्भट्ठित्ता भवति ।

५. आयरिय-उवज्झायाए णं गणंसि अणापुच्छियचारी यावि हवइ, णो आपुच्छियचारी ।

—ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६९

गण अबुग्गह कारणा —

५२८. आयरिय-उवज्झायस्स णं गणंसि पंच अबुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

१. ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. १९८ ।

(७) शरीर के निमित्त से बलेश न होना ।

(८) ज्ञान के निमित्त से बलेश न होना ।

(९) दर्शन के निमित्त से बलेश न होना ।

(१०) चारित्र्य के निमित्त से बलेश न होना ।

अहित करने वाले स्थान—

५२५. तीन स्थान निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के लिए अहितकर, अशुभ, अक्षम (अयुक्त) अकल्याणकर, अमुक्तिकारी होते हैं, यथा—

(१) आर्तस्वर से कण कन्दन करना ।

(२) शय्या उपधि आदि के दोष प्रकट करने के लिए बड़-बड़ाट करना ।

(३) आर्त और रोदरूपान करना ।

हित करने वाले स्थान—

५२६. तीन स्थान निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के लिए हितकर, शुभ, क्षम, कल्याण एवं मुक्ति-प्राप्ति के लिए होते हैं—

(१) आर्तस्वर में कण कन्दन नहीं करना ।

(२) शय्या आदि के दोषों को प्रकट करने के लिए बड़-बड़ाट नहीं करना ।

(३) आर्त-रोदरूप दुर्ध्यान नहीं करना ।

गण विग्रह के कारण—

५२७. आचार्य या उपाध्याय के गण में पाँच विग्रह (कलह) स्थान कहे गए हैं । यथा—

(१) आचार्य या उपाध्याय गण में आज्ञा तथा धारणा का सम्यक् प्रयोग नहीं करे ।

(२) आचार्य या उपाध्याय गण में दीक्षा पर्याय के क्रम से वन्दन तथा वित्त का सम्यक् प्रयोग नहीं करे ।

(३) आचार्य या उपाध्याय जितने सूत्रार्थ के धारक हैं उतने का गण में समय-समय पर सम्यक् प्रकार से अध्यापन नहीं करावे ।

(४) आचार्य या उपाध्याय गण में ग्लान और शीघ्र की समुचित सेवा नहीं करे (नहीं करावे) ।

(५) आचार्य या उपाध्याय गण को बिना पूछे ही प्रवृत्ति करे, पूछकर नहीं करे ।

गण में विग्रह न होने के कारण—

५२८. आचार्य और उपाध्याय के लिए गण में कलह न होने के पाँच कारण कहे गये हैं । जैसे—

१. आयरिय-उवज्जाए णं गणंसि आणं वा धारणं वा सम्मं पडंजित्ता भवति ।

२. आयरिय-उवज्जाए णं गणंसि अहारादणियाए सम्मं विहङ्गम्यं वेणइयं पडंजित्ता भवति ।

३. आयरिय-उवज्जाए णं गणंसि जे सुत्तपज्जवजाते धारेति ते काले-काले सम्मं अणुप्पवाइत्ता भवति ।

४. आयरिय-उवज्जाए णं गणंसि गिलाण सेह वेयावच्चं सम्मं अभुट्ठित्ता भवति ।

५. आयरिय-उवज्जाए णं गणंसि आपुच्छियचारी यावि भवति, णो अणापुच्छियचारी ।

—ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६६

कलह उपशमनस्स विहि-णिसेहो—

५२६. नो कप्पइ निगंथीणं विहकिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवेत्तए ।

कप्पइ निगंथीणं विहकिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवेत्तए ।

—वव. उ. ७, सु. १२-१३

अण्णस्स अणुवसंते वि अप्पणो उवसमण णिदेसो—

५३०. भिक्षू य अहिगरणं कट्ठं, तं अहिगरणं विओसवित्ता विओसविथपाहुडे ।

१. इच्छाए परो आढाएज्जा, इच्छाए परो णो आढाएज्जा ।

२. इच्छाए परो अभुट्ठेज्जा, इच्छाए परो णो अभुट्ठेज्जा ।

३. इच्छाए परो वन्देज्जा, इच्छाए परो नो वन्देज्जा ।

४. इच्छाए परो संभुजेज्जा, इच्छाए परो नो संभुजेज्जा ।

५. इच्छाए परो संवसेज्जा, इच्छाए परो नो संवसेज्जा ।

६. इच्छाए परो उवसमेज्जा, इच्छाए परो नो उवसमेज्जा ।

७. जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा ।

जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा,

तम्हा अप्पणा चेव उवसमियच्चं ।

प०—से किमाहु भन्ते !

उ०—“उवसमसारं खु सामण्यं ।”—कप्प. उ. १, सु. ३६

(१) आचार्य और उपाध्याय गण में आज्ञा तथा धारणा का सम्यक् प्रयोग करते हों ।

(२) आचार्य और उपाध्याय गण में यथारात्रिक वन्दन व विनय व्यवहार का सम्यक् प्रयोग करते हों ।

(३) आचार्य और उपाध्याय जिन सूत्र के अर्थ प्रकारों को धारण करते हैं, उनकी यथासमय गण को सम्यक् वाचना देते हों ।

(४) आचार्य और उपाध्याय गण में रोगी तथा नवदीक्षित साधुओं की वैयावृत्य कराने के लिए समुचित व्यवस्था करते हों ।

(५) आचार्य और उपाध्याय गण में अन्य को पूछकर कार्य करते हों, बिना पूछे नहीं करते हों ।

कलह उपशमन के विधि-निषेध—

५२६. निर्ग्रन्थों में यदि कलह हो जावे तो उन्हें दूरवर्ती क्षेत्र में रहे हुए उपशमन करना और समाना नहीं कल्पता है ।

किन्तु निर्ग्रन्थियों में यदि कलह हो जावे तो उन्हें दूरवर्ती क्षेत्र में रहे हुए उपशमन करना और समाना कल्पता है ।

अन्य के अनुपशान्त रहने पर भी स्वयं को उपशान्त होने का निर्देश—

५३०. भिक्षु किसी से कलह होने पर उस कलह को उपशान्त करके स्वयं सर्वथा कलह रहित हो जावे, उसके बाद जिसके साथ क्लेश हुआ हो—

(१) वह इच्छा हो तो आदर करे, इच्छा न हो तो आदर न करे ।

(२) वह इच्छा हो तो उसके सम्मान में उठे, इच्छा न हो तो न उठे ।

(३) वह इच्छा हो तो वन्दना करे, इच्छा न हो तो वन्दना न करे ।

(४) वह इच्छा हो तो उसके साथ भोजन करे, इच्छा न हो तो भोजन न करे ।

(५) वह इच्छा हो तो उसके साथ रहे, इच्छा न हो तो न रहे ।

(६) वह इच्छा हो तो उपशान्त होवे, इच्छा न हो तो उपशान्त न होवे ।

जो उपशान्त होता है उसके संयम की आराधना होती है ।

किन्तु जो उपशान्त नहीं होता है उसके संयम की आराधना नहीं होती है ।

इसलिए अपने आपको ही उपशान्त कर लेना चाहिए ।

प्र०—हे भन्ते ! ऐसा कहने का क्या तात्पर्य है ?

उ०—उपशान्त रहना ही श्रमण जीवन का सार है ।

अणुवसमस्स भिक्खुस्स पुणरवि सगणे पट्टवण—

५३१. भिक्खू य अहिगरणं कट्ठं तं अहिगरणं अविओसवेत्ता
अन्नं गणं उवसंपज्जित्तानं विहरस्सिए,
कप्पइ तस्स वंचराइंदियं छेयं कट्ठं परिणिब्बाविय परि-
णिब्बाविय दोच्चं पि तमेव गणं पड्डिनिज्जाएयस्वे सिया,
अहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया । —कण. उ. ५, सु. ५

समावणफलं—

५३२. प्र०—श्रमापनायाए वा भस्से ! जइये किं अपयइ ?

उ०—समावणयाए णं पट्हायणभावं जणयइ । पट्हायण-
भावमुक्कए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु, मित्तीभावमुप्पा-
एइ । मित्तीभावमुक्कए यायि जीवे भावविसोहि काउण
निब्भए भवइ । —उत्त. अ. २६, सु. १६

अहिगरणं करणं पायच्छित्तं सुत्ताइ—

५३३. जे भिक्खू भवाइं अणुप्पणाइं अहिगरणाइं उप्पाएइ, उप्पा-
एत्तं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू पोराणाइं अहिगरणाइं क्षामिय-विओसवियाइं पुणो
उदीरेइ, उदीरेत्तं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारद्धानं उग्घाइयं ।

—नि. उ. ४, सु. २५-२६

एगगो आगय सभणस्स संवसावणं पायच्छित्तं सुत्तं—

५३४. जे भिक्खू बहियावासियं आएसं परं तिरायाओ अविफालेत्ता
संवसावेइ, संवसावेत्तं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्धानं अणुग्घाइयं ।

—नि. उ. १०, सु. १३

कलहं कारोहिं सद्धिं आहारं करणं पायच्छित्तं सुत्तं—

५३५. जे भिक्खू साहिगरणं अविओसविय पाटुइं अकइपायच्छित्तं
परं तिरायाओ विफालिय अविफालिय संभुंजइ संभुंजत्तं
वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्धानं अणुग्घाइयं ।

—नि. उ. १०, सु. १४

अनुपशान्त भिक्षु को पुनः स्वगण में भेजना—

५३१. भिक्षु कलह करके उसे उपशान्त किये बिना अन्य गण में
सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उस गण के स्थविर को चाहिए
कि वह उसे पाँच दिन-रात की दीक्षा का छेद देकर और उसे
सर्वथा शान्त प्रशान्त करके पुनः उसी गण में लौटा दे । अथवा
जिस गण से वह आया है उस गण को जिस प्रकार की प्रतीति
हो उसे उसी तरह करना चाहिए ।

क्षमापना का फल—

५३२. प्र०—भस्ते ! क्षमा करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—क्षमा करने से वह मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त होता
है । चित्त प्रसन्नता को प्राप्त हुआ व्यक्ति सब प्राण, भूत, जीव
और सत्त्वों के प्रति मैत्री-भाव उत्पन्न करता है । मैत्री-भाव को
प्राप्त हुआ जीव भावों को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है ।

कलह करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

५३३. जो भिक्षु नवीन अनुत्पन्न कलह को उत्पन्न करता है, उत्पन्न
करवाता है या उत्पन्न करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु क्षमापना द्वारा उपशान्त पुराने झगड़ों को पुनः
उत्तेजित करता है, उत्तेजित करवाता है या उत्तेजित करने वाले
का अनुमोदन करता है ।

उसे मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

एकाकी आगन्तुक भिक्षु को बिना निर्णय रखने का प्राय-
श्चित्त सूत्र—

५३४. जो भिक्षु बाहर से आये हुए आगन्तुक अकेले भिक्षु को
पूछताछ कर निर्णय किये बिना तीन दिन से अधिक रखता है,
रखवाता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

कलह करने वालों के साथ आहार करने का प्रायश्चित्त
सूत्र—

५३५. कोई भिक्षु कलह करके उसका स्वयं उपशमन न करे और
न प्रायश्चित्त ले तो उसे उस सम्बन्ध में पूछताछ कर या बिना
पूछताछ किये तीन दिन से अधिक उसके साथ एक मण्डल में
बैठकर जो भिक्षु आहार करता है, करवाता है या करने वाले
का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

बुग्गह वक्कंताणं आयाण-पयाण करण पायच्छिस्त मुत्ताइं— कदाग्रही के साथ लेन-देन करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

५३६. जे भिक्खू बुग्गह वक्कंताणं असणं वा-जाव-साइमं वा देइ, वेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू बुग्गह वक्कंताणं असणं वा-जाव-साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू बुग्गह वक्कंताणं वसहिं वा-जाव-पायपुंछणं वा देइ, वेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू बुग्गह वक्कंताणं वसहिं वा-जाव-पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू बुग्गह वक्कंताणं वसहिं देइ, वेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू बुग्गह वक्कंताणं वसहिं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू बुग्गह वक्कंताणं वसहिं अणुपविसइ, अणुपविसंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू बुग्गह वक्कंताणं सज्जायं देइ, वेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू बुग्गह वक्कंताणं सज्जायं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाजस्मासियं परिहारद्वानं उग्घाडयं ।

—नि. उ. १६, सु. १७-२५

आगमानुसारी पायच्छिस्त दाण ग्रहण विहाणो—

५३७. भिक्खू य अहिगरणं कट्ठं, तं अहिगरणं अविओसवेत्ता,

नो से कप्पइ गाहावडकुत्तं भत्ताए वा पाणाए वा निक्ख-
मित्तए वा पविसित्तए वा,

नो से कप्पइ बहिया विहारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्ख-
मित्तए वा पविसित्तए वा,

नो से कप्पइ ग्रामानुगामं वा बुद्धजित्तए,

गणाओ वा गणं संकमित्तए, वासावासं वा वत्थए ।

जत्थेव अप्पणो आवरिय-उवज्जायं पासेज्जा बहुस्सुयं, वड्ढा-
गमं, कप्पइ से तस्संत्तिए आलोएत्तए, पडिक्कमित्तए, निन्दि-
त्तए, गरिहित्तए, विउट्ठित्तए, विसोहित्तए, अकरणाए,
अभुट्ठित्तए, अहारिहं तत्थोक्कमं पायच्छिस्तं पडिक्कजित्तए ।

से य सुएणं पट्ठविए आइयव्वे सिया, से य सुएणं नो पट्ठ-
विए नो आइयव्वे सिया ।

से य सुएणं पट्ठविज्जमाणे नो आइयइ से निज्जुहियव्वे
सिया ।

—कप्प. उ. ४, सु. ३७

५३६. जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओं को अशन—यावत्—स्वाद्य देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओं का अशन यावत्—स्वाद्य लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कदाग्रह से अलग विचरने वाले (निह्व आदि) को वस्त्र—यावत्—पादप्रोक्षण देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कदाग्रही से वस्त्र—यावत्—पादप्रोक्षण लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कदाग्रह से अलग विचरने वाले (निह्व आदि) को उपाश्रय देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कदाग्रही से उपाश्रय लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कदाग्रही के उपाश्रय में प्रवेश करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कदाग्रही की वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कदाग्रही से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्धातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

आगम के अनुसार प्रायश्चित्त देने व ग्रहण करने का विधान—

५३७. यदि कोई भिक्षु कलह करके उसे उपश्रान्त न करे तो—

उसे गृहस्थों के घरों में भक्त-पान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना नहीं कल्पता है ।

उसे उपाश्रय से बाहर स्वाध्याय भूमि में या उच्चार-प्रसवण भूमि में जाना आना नहीं कल्पता है ।

उसे ग्रामानुग्राम विहार करना नहीं कल्पता है । उसे एक गण से गणान्तर में संक्रमण करना और वर्षावास रहना नहीं कल्पता है ।

किन्तु जहाँ अपने बहुश्रुत और बहुआगमज आचार्य और उपाध्याय हों उनके समीप आलोचना करे, प्रतिक्रमण करे, निन्दा करे, गर्हा करे, पाप से निवृत्त होवे, पाप फल से शुद्ध होवे, पुनः पाप कर्म न करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होवे और यथा योग्य तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे ।

वह प्रायश्चित्त यदि श्रुतानुसार दिया जावे तो ग्रहण करना चाहिए । श्रुतानुसार न दिया जावे तो ग्रहण नहीं करना चाहिए ।

यदि श्रुतानुसार प्रायश्चित्त दिये जाने पर भी जो स्वीकार न करे तो उसे गण से निकाल देना चाहिए ।



संस्कृत-भाषा-अकादमी, दिल्ली द्वारा प्रकाशित

॥ लवायारो ॥

लवायारो लवायारो ति लवे,
सतिशतं लवायारो लवायारो ।
अनिमाल अनालीली,
लवायारो लवायारो ॥

— निमालावायारो, भाग १, पृष्ठ ४२

चरणुयो ग

[लवायारो]

१.

तपाचार (बाह्य)

तप का स्वरूप एवं प्रकार—१

[बाह्य]

तवसरूप—

५३८. जहा उ पावर्णं कर्म, रागद्वेष समज्जियं ।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगममणो मुण ॥

पाणवह धुसावाया, अवत्त-मेहुण-परिगहा विरओ ।
राईभोयण - विरओ, जोवो भवइ अणासवो ॥
पंचसमिओ तिगुतो, अकसाओ जिइन्दिओ ।
अगारवो य निस्सहलो, जोवो होइ अणासवो ॥
एएसि तु विवण्वासे, रागद्वेष-समज्जियं ।
जहा खवेइ भिक्खू, तं मे एगमणो मुण ॥

जहा महत्तसास्स सखिइहे- अलागमे ।
उत्तिसवणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे ॥

एवं तु संजयस्तापि पावकम्म निरासये ।
भवकोडी संचियं कम्मं, तवसा जिज्जरिज्जई ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. १-६

तेसि पि तवो सुद्धो, निवखंता जे महाकुला ।
अवभाणिते परेणं तु, ण सिलोमं वयंति ते ॥^१

—सूय. सु. १, अ. ८, गा. २४

धुणे उरालं अणुवेहमाणे, चेच्छाण सोयं अणुपेक्खमाणे ॥

—सूय. सु. १, अ. १०, गा. ११ (ख)

धुणिया कुलियं व लेखवं, कियए वेहमणसणादिहि ।
अविहिंसाभेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥

सउणी जह पंसु गुडिया, विधुणिय धंसयती सिधं रयं ।
एवं बविओवहाणवं, कम्मं खवति तवस्सो माहणे ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. १४-१५

गाठान्तर—

१ तेसि पि तवो ण सुद्धो निवखंता जे महाकुला । जं नेवन्ने वियाणन्ति, णं सिलोमं पवेयए ॥

तप का स्वरूप—

५३८. जिस तपानुष्ठान द्वारा भिक्षु राग-द्वेष से अजित पाप कर्मों का क्षय करता है, उस तप के स्वरूप को एकाग्र मन होकर सुनो ।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रि भोजन से विरत जीव अनास्रवी होता है ।

पाँच समिति एवं तीन मुप्ति से युक्त, कषाय रहित, जितेन्द्रिय, गर्व एवं शल्य से रहित जीव अनास्रवी होता है ।

उपरोक्त गुणों से विपरीत आचरण करने पर राग-द्वेष से जो कर्मोपाजन होता है, उन कर्मों को मुनि किस प्रकार क्षय करता है, उसको मुन से एकाग्र मन होकर सुनो ।

किसी बड़े तालाब में जल आने के भागों को रोक देने पर उसमें रहे हुए पानी को बाहर निकाल देने पर तथा सूर्य के ताप द्वारा सूखने पर जिस प्रकार उसका जल क्रमशः क्षीण हो जाता है ।

इसी प्रकार नवीन पाप कर्मों को रोक देने पर संयमी साधुओं के भी करोड़ों भवों के संचित कर्म तप के द्वारा क्षय हो जाते हैं ।

जो बड़े कुलों से अभिनिष्क्रमण कर मुनि बनते हैं और दूसरों के द्वारा अपमानित होने पर भी अपनी श्लाघा नहीं करते अर्थात् अपने बड़प्पन का परिचय नहीं देते उनका तप शुद्ध होता है ।

आस्रवों को छोड़कर किसी प्रकार की अपेक्षा न रखता हुआ साधु विवेकपूर्वक औदारिक शरीर को कृष्ण करे ।

जैसे गोबर आदि से लीपी हुई दीवार के लेप को उतार कर पतली कर दी जाती है, वैसे ही मुनि अनशन आदि के द्वारा देह को कृष्ण करे तथा अहिंसा आदि धर्मों का पालन करे । यह मोक्षानुकूल धर्म है, जिसका प्ररूपण सर्वज्ञ प्रभु ने किया है ।

जैसे धूल से भरी हुई पक्षिणी अपने पंखों को फड़फड़ाकर लगी हुई रज को झाड़ देती है, इसी प्रकार संयमवान् तपस्वी मुनि तपस्या के द्वारा कर्मों को क्षय कर देता है ।

तपस्यगारा—

५३६. बुद्धिहे तवे पणत्ते, तं जहा—

१. बाहिरए य, २. आन्धितरे य ।
—वि. स. २५, उ. ७, सु. १६६

प०—से किं तं बाहिरए ?

उ०—छविहे बाहिरए तवे पणत्ते, तं जहा—

१. अणसणं, २. ओभोयरिया, ३. भिक्षायरिया ।
४. रसपरित्याग, ५. कायकिलेसो, ६. पडिसंलीनता ।
—वि. स. २५, उ. ७, सु. १६७

आजीवियत तपस्यगारा—

५४०. आजीवियणं चउत्तिहे तवे पणत्ते, तं जहा—

१. उगतवे, २. घोरतवे,
३. रसगिउज्जुहणता, ४. निज्जिवियपडिसंलीनता ।
—ठाणं. अ. ४, उ. २, सु. ३०६

तप के प्रकार—

५३६ तप दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) बाह्य, (२) आन्धन्तर ।

प्र०—बाह्य तप क्या है ? कितने प्रकार का है ?

उ०—बाह्य तप छः प्रकार का कहा गया है,

यथा—(१) अनशन, (२) अवमोदरिका, (३) भिक्षाचर्या,
(४) रसपरित्याग, (५) कायकलेश, (६) प्रतिसंलीनता ।

आजीविक तप के प्रकार—

५४०. आजीविकों के तप चार प्रकार के हैं, यथा—

(१) उग्रतप, (२) घोरतप,
(३) रस परित्याग, (४) जिन्हेंन्द्रिय प्रतिसंलीनता ।



अनशन-तप—२

अणसणस्यगारा—

५४१. प०—से किं तं अणसणे ?

उ०—अणसणे बुद्धिहे पणत्ते, तं जहा—

१. इत्तरिए,
२. आक्कहिए य ।
—वि. स. २५, उ. ७, सु. १६८

इत्तरिया मरणकाला य, बुद्धिहा अणसणा भवे ।

इत्तरिया सावकंखा, निरवकंखा य निज्जिज्या ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. ६

इत्तरिय तवभैया —

५४२. प०—से किं तं इत्तरिए ?

१ (क) सो तवो बुद्धिहो वुत्तो, बाहिरउत्तरो तहा । बाहिरो छविहो वुत्तो, एवमन्धतरो तवो ॥

(ख) उत्त. अ. २८, गा. ३४

(ग) तेसि णं भगवस्ताणं एएणं विहारेणं विहरमाणं इमे एयाक्खे अब्भन्तरबाहिरए तवोवहाणे होस्था । तंजहा—अन्धितरे
छविहे, बाहिरए वि छविहे ।

२ (क) ठाणं. अ. ६, सु. ५११

(ग) उत्त. अ. ३०, गा. ८

३ उव. सु. ३०

अनशन के प्रकार—

५४१. प०—अनशन क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

उ०—अनशन दो प्रकार का है, यथा—

(१) इत्वरिक (मर्यादित समय के लिए आहार का त्याग)
(२) यावत्कथिक—(जीवन भर के लिए आहार का त्याग)

इत्वरिक और मरण पर्यन्त इस प्रकार अनशन दो प्रकार का होता है । इत्वरिक अनशन आहार की आकांक्षा सहित होता है और मरण काल का अनशन आहार की आकांक्षा रहित होता है ।
इत्वरिक तप के भेद—

५४२. प्र०—इत्वरिक तप क्या है ? वह कितने प्रकार का है ?

—उत्त. अ. ३०, गा. ७

(ख) सम. सम. ६, सु. १७

भिक्षायरिया के स्थान पर 'वित्ति संक्षेपो'

(घ) उव. सु. ३०

उ०—इत्तरिए अणेणधिहे एण्णसे, तं जहा—

१. चउत्थमत्ते,
२. छट्ठमत्ते,
३. अट्ठमत्ते,
४. दसममत्ते,
५. दुवात्तसमत्ते,
६. चउद्दसमत्ते,
७. सोलसमत्ते;
८. अद्धमासिएमत्ते,
९. मासिएमत्ते,
१०. दोमासिएमत्ते,
११. तेमासिएमत्ते,
१२. चउमासिएमत्ते,
१३. पंचमासिएमत्ते,
१४. छम्ममासिएमत्ते,

से तं इत्तरिए ।^१

—उव. सु. ३०

ओ सो इत्तरिय तवो, सो समासेण छट्ठिवहो ।

सेद्धितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गो य ॥

तत्तो य वग्गवग्गो उ, पंचमो छट्ठो पइण्णतवो ।

मणहच्छिय वित्तवो, नायवो होइ इत्तरिओ ॥^२

—उत्त. अ. ३०, गा. १०-११

तपस्वी भिक्षुस्त कप्पणिज्ज पाणगाइं—

५४३. चउत्थमत्तियस्स णं भिक्षुस्स कप्पंति तवो पाणगाइं पडि-
गाहितिए, तं जहा—

१. उस्सेइमे,

२. संसेइमे,

३. चाउलघोवणे ।

छट्ठमत्तियस्स णं भिक्षुस्स कप्पंति तवो पाणगाइं पडिगा-
हितिए, तं जहा—

१. तिलोदए,

२. तुषोदए,

३. यवोदए ।

१ वि. स. २५, उ. ७, सु. १६६

२ भगवती सूत्र तथा उववाई सूत्र में "इत्तरिय" तप के अनेक भेद हैं ऐसा कहा गया है पर किसी विशेष संख्या का उल्लेख नहीं है । यहाँ उत्तराध्ययन सूत्र में "इत्तरिय" तप के भेदों की संख्या ६ बताकर आगे इस संकलन में अनेक प्रकार के होते हैं यह भी कहा गया है । अतः रत्नावली आदि तर्पों का उल्लेख इत्वरिक तप में ही समझना चाहिए । इन रत्नावली, कनकावली आदि महातर्पों के लिए धर्मकथानुयोग—स्कन्ध ३, सूत्र २६८ से २७६ तक पृ. ११७-१२० देखें ।

उ०—इत्वरिक तप अनेक प्रकार का कहा गया है, यथा—

- (१) चतुर्थ भक्त—उपवास,
- (२) षष्ठभक्त—दो उपवास-बेला,
- (३) अष्टभक्त—तीन उपवास-बेला,
- (४) दशमभक्त—चार दिन के उपवास,
- (५) द्वादशभक्त—पाँच दिन के उपवास,
- (६) चतुर्विंशभक्त—छह दिन के उपवास,
- (७) षोडशभक्त—सात दिन के उपवास,
- (८) अर्द्ध मासिकभक्त—पन्द्रह दिन के उपवास,
- (९) मासिक भक्त—एक महीने के उपवास,
- (१०) द्वैमासिक भक्त—दो महीने के उपवास,
- (११) त्रैमासिक भक्त—तीन महीने के उपवास,
- (१२) चातुर्मासिक भक्त—चार महीने के उपवास,
- (१३) पंचमासिक भक्त—पाँच महीने के उपवास,
- (१४) षण्मासिक भक्त—छह महीने के उपवास ।

यह इत्वरिक तप है ।

जो इत्वरिक तप है वह संक्षेप में छह प्रकार का है—

- (१) श्रेणि-तप, (२) प्रतर-तप,
- (३) धम-तप, (४) वर्ग-तप
- (५) वर्ग-वर्ग-तप, (६) प्रकीर्ण-तप ।

इस प्रकार अपनी इच्छानुसार किया जाने वाला अनेक प्रकार का यह इत्वरिक तप जानना चाहिये ।

तपस्वी भिक्षु के कल्पनीय पानी—

५४३. चतुर्थभक्त (एक उपवास) करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी ग्रहण करना कल्पता है, यथा—

(१) उत्स्वेदिम—आटे का धोवन ।

(२) संस्वेदिम—सिक्काये हुए कैंर आदि का धोया हुआ पानी ।

(३) तम्बुलोदक—चावलों का धोवन ।

षष्ठ भक्त (दो उपवास) करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी ग्रहण करना कल्पता है—

(१) तिलोदक—तिलों का धोया हुआ जल ।

(२) तुषोदक—तुष-भूसे का धोया हुआ जल ।

(३) यवोदक—जौ का धोया हुआ जल ।

अट्टमभस्तिगस्त णं भिक्षुस्त कप्पति तओ पाणगाइं पडिगा-
हितए. तं जहा—

१. आयामए,
२. सोबीरए,
३. सुद्धविगडे ।

—उत्त. अ. ३. सु. १५८

आवकहिय अणसण—

५४४. जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा विधाहिया ।
सबियारा अवियारा, कायवेहुं पई भवे ॥

अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया ।
निहारीमनीहारी, आहारछेओ य वोस् वि ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. १२-१३

संलेखना करणकाल—

५४५. तओ बहणि वासाणि, सामणमणुपालिया ।
इमेण कमजोणेण, अप्पाणं संलिहे मुणी ॥
बारसेव उ वासाइं, संलेखकोसिया भवे ।
संवच्छरं भविमिया, छम्मासा य जहमिया ॥
पहमे वासजउक्कम्मि, विगईनिज्जहणं करे ।
बिहए वासजउक्कम्मि, विचित्तं तु तवं चरे ॥

एगन्तरसायामं, कट्टु संवच्छरे दुबे ।
तओ संवच्छरइं तु, नाइजिगिट्टुं तवं चरे ॥

तओ संवच्छरइं तु, विगिट्टुं तु तवं चरे ।
परिमियं खेव आयामं, तंमि संवच्छरे करे ॥
कोडी सहियमायामं, कट्टु संवच्छरे मुणी ।
मासइमासिएणं तु, आहारेण तवं चरे ॥

—उत्त. अ. ३६, गा. २५०-२५५

पंडित मरण सरूबं—

५४६. अणुपुब्बेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज ।
वसुमंतो मतिमंतो, सत्वं णच्छा अणेत्तिसं ॥

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ८, गा. १(१६)

तओ काले अभिपेए सइंढो तात्तिसमन्तिए ।
विणएज्ज-लोभ-हरिसं, भेयं वेहस्स कंखए ॥

अष्टम भक्त (तीन उपवास) करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी लेना कल्पता है —

- (१) आयामक—उबाले हुए चावलों का मांछ आदि ।
- (२) सोबीरक—कांजी छाछ के ऊपर का पानी ।
- (३) शुद्ध विकट—शुद्ध अचित्त शीतल जल ।

आजीवन अनशन—

५४४. जो मरणकालिक अनशन है वह शारीरिक चेष्टा की अपेक्षा से दो प्रकार का कहा गया है । यथा—(१) सविचार—शरीर की हलन-चलन आदि क्रिया युक्त, (२) अविचार—शरीर की हलन-चलन आदि क्रिया रहित ।

अथवा अन्य प्रकार से भी दो-दो भेद कहे गये हैं, यथा—

- (१) सपरिकर्म—शरीर की परिचर्या युक्त,
- (२) अपरिकर्म—शरीर की परिचर्या रहित ।

अथवा—(१) निर्हारिम, (२) अनिर्हारिम ।

इन सभी दो-दो भेदों में आहार का त्याग निश्चित है ।

संलेखना का काल क्रम—

५४५. मुनि अनेक वर्षों तक संयम का पालन कर इस क्रमिक तप से अपनी आत्मा की संलेखना करे ।

संलेखना उत्कृष्ट बारह वर्ष, मध्यम एक वर्ष तथा अधन्य छह मास की होती है ।

बारह वर्ष की संलेखना करने वाला मुनि पहले चार वर्ष में विषयों का परित्याग करे । दूसरे चार वर्षों में फुटकर विचित्र तप का आचरण करे ।

फिर दो वर्षों तक एकांतर तप करे व पारण के दिन आयंबिल करे । ग्यारहवें वर्ष के पहले छः महीनों में कठिन तप न करे ।

ग्यारहवें वर्ष के पिछले छः महीनों में कठिन तप करे । इस पूरे वर्ष में पारण के दिन आयंबिल करे ।

बारहवें वर्ष में मुनि कोटि सहित आयंबिल करे फिर पक्ष या मास का अनशन तप करे ।

पंडित मरण का स्वरूप—

५४६. मैं अनुक्रम से पंडित मरण का स्वरूप कहूंगा । धैर्यवान्, बुद्धिमान संयमी भिक्षु उसे पूर्ण रूप से जानकर तथा स्वीकार कर अनुपम समाधि को प्राप्त करे ।

जब मरण समय प्राप्त हो, उस समय जिस अद्धा से मुनि-धर्म को स्वीकार किया है, वैसी ही अद्धा से भिक्षु रोमांचकारी मृत्यु भय को दूर करके गुरु के समीप अनशन के द्वारा शरीर के त्याग की इच्छा करे ।

अहं कालमि संपत्ते, आद्यायाय समुत्सयं ।
सकाम-मरणं मरइ, तिण्हमद्ययर् भुणी ॥

—उत्त. अ. ५, गा. ३१-३२

पंडित मरणपगारा--

५४७. प०—से किं तं पंडितमरणे ?

उ०—पंडितमरणे बुविहे पणत्ते, तं जहा—

१. पाओवगमणे य,

२. भत्तपच्चक्खणो य ।^१

प०—से किं तं पाओवगमणे ?

उ०—पाओवगमणे बुविहे पणत्ते, तं जहा—

१. नीहारिमे य,

२. अनीहारिमे य,

नियमा अप्पडिकम्मे से तं पाओवगमणे ।

प०—से किं तं भत्तपच्चक्खणो ?

उ०—भत्तपच्चक्खणो बुविहे पणत्ते, तं जहा—

१. नीहारिमे य,

२. अनीहारिमे य,

नियमा सपडिकम्मे । से तं भत्तपच्चक्खणो ।^२

—विया. स. २, उ. १, सु. २७-२९

प०—से किं तं पाओवगमणे ?

उ०—पाओवगमणे बुविहे पणत्ते, तं जहा—

१. वाघाइमे य,

२. निध्वाघाइमे य ।

नियमा अप्पडिकम्मे । से तं पाओवगमणे ।

प०—से किं तं भत्तपच्चक्खणो ?

उ०—भत्तपच्चक्खणो बुविहे पणत्ते, तं जहा—

मुनि मरण-काल प्राप्त होने पर संलेखना के द्वारा शरीर का त्याग करता है, भक्त प्रत्याख्यान, इंगित मरण या पादोपगमन—इन तीनों में से किसी एक को स्वीकार कर सकाम-मरण से भरता है ।

पण्डित मरण के प्रकार—

५४७. प्र०—पण्डित मरण क्या है ?

उ०—पण्डित मरण दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) पादोपगमन—वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह निश्चल रहना ।

(२) भक्त-प्रत्याख्यान—यावज्जीवन तीन या चारों आहारों का त्याग करना ।

प्र०—पादोपगमन (मरण) क्या है ?

उ०—पादोपगमन दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) निर्हारिम—ग्रामादि में किया जाने वाला,

(२) अनिर्हारिम—जंगल गुफा आदि में किया जाने वाला ।

ये दोनों नियम से अप्रतिकर्म होते हैं । यह पादोपगमन का स्वरूप है ।

प्र०—भक्तप्रत्याख्यान (मरण) क्या है ?

उ०—भक्तप्रत्याख्यान मरण दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) निर्हारिम,

(२) अनिर्हारिम ।

ये दोनों नियम से सप्रतिकर्म होते हैं । यह भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप है ।

प्र०—पादोपगमन क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—पादोपगमन दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) व्याघातिम—(उपद्रव के कारण किया जाने वाला)

(२) निर्व्याघातिम—(बिना उपद्रव के किया जाने वाला)

ये दोनों नियम से अप्रतिकर्म होते हैं । यह पादोपगमन है ।

प्र०—भक्त प्रत्याख्यान क्या है ? उसके कितने भेद हैं ?

उ०—भक्त प्रत्याख्यान दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

१ पण्डित मरण के ये दो प्रकार यावत्कथिक तप के ही दो भेद हैं । जिनका कथन भगवती सूत्र स. २५, उ. ७ तथा उववाई सूत्र में इस प्रकार है—

(क) प०—से किं तं आवकहिण् ?

उ०—आवकहिण् बुविहे पणत्ते, तं जहा—

(१) पाओवगमणे य, (२) भत्तपच्चक्खणो य ।

(ख) उव. सु. ३०

२ (क) विया. स. १३, उ. ७, सु. ४२-४४

(ग) ठाणं. अ. २, उ. ४, सु. ११३

(ख) विया. स. २५, उ. ७, सु. २०१-२०२

—विया. स. २५, उ. ७, सु. २००

१. खाद्याहमे य, २. निश्वाद्याहमे य ।
नियमा सपञ्चिकम्पे । से तं भक्तपञ्चकल्याणे ।

—उद. सु. ३०

भक्त-पञ्चकल्याण-अणसणे—

५४८. कुविहं पि विदिता नं, बुद्धा धम्मस्स पारगा ।
अणुपुब्बीए संखाए, कम्मुणा य तिउट्टति ॥

कसाए पयणुए किच्चा, अप्पाहारो तितिव्खाए ।
अह भिक्खू गित्ताएज्जा, अहारस्सेव अंतियं ॥

जीविणं णामिकंसेज्जा, मरणं णो वि पत्थए ।
बुहतो वि ण सज्जेज्जा, जीविते मरणे तहा ॥

मज्झस्थो णिज्जरापेही, समाहिमणुपालए ।
अंतो बहिं वियासेज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥

जं किञ्चुवक्कमं जाणे, आउखेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अंतरद्धाए खिप्पं, सिक्खेज्ज पंडिते ॥

गामे अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया ।
अप्पपाणं तु विण्णाय, तणाहं संचरे सुणी ॥
अण्णाहारो तुवट्ठेज्जा, पुट्ठो तत्थऽहियासए ।
णातिवेलं उवचरे, माणुस्सेहि वि पुट्ठवं ॥

संसप्पगा य जे पाणा, जे य उद्धमहेचरा ।
भुंजते मंससोणियं, ण छणे ण पमज्जए ॥

पाणा देहं विहिसंति, ठाणातो ण वि उन्ममे ।
आसवेहिं विविस्सेहि, तिप्पमाणोऽहियासए ॥

गंथेहिं विवित्तेहिं, आयुकालस्स पारए ।
पग्गहियतरथं चेतं, ववियस्स विमाणतो ॥

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ८, गा. २-११ (१७-२७)

भक्त पञ्चकल्याण-अणमारस्स परभव आहारो—

५४९. प०—भक्तपञ्चकल्याणं न भंते ! अणमारो मुच्छिणं गिद्धे
गडिणं अज्झोववण्णे आहारमाहारेइ अहे णं वीससाए
कालं करेइ, तओ पच्छा अपुच्छिणं-जाव-अणज्झोव-
वण्णे आहारमाहारेइ ?

(१) व्याधातिम (२) निर्व्याधातिम ।

ये दोनों नियम से सप्रतिकर्म होते हैं । यह भक्त प्रत्या-
ख्यान है ।

भक्त-प्रत्याख्यान अनशन—

५४८. वे धर्म के पारगामी तत्वज्ञ मुनि आभ्यंतर और बाह्य
दोनों प्रकार की संलेखना जानकर अनुक्रम से विचार कर
आराधन करके कर्मों से मुक्त हो जाते हैं ।

संलेखना का इच्छुक भिक्षु कषायों को कृश करके, अल्पा-
हारी बनकर समय व्यतीत करे । ऐसा कस्ते हुए यदि ग्लानि
को प्राप्त हो तो आहार का त्याग कर तप स्वीकार करे ।

भिक्षु न तो जीने की अकांक्षा करे और न मरने की अभि-
लाषा करे । जीवन और मरण दोनों में से किसी में भी आसक्त
न हो ।

निर्जरा का इच्छुक मुनि—जीवन और मरण में माध्यस्थ
भाव रखकर समाधि भाव में रहे । कषाय और आहारादि का
त्याग करता हुआ शुद्ध आत्मवित्तन में लीन रहे ।

यदि अपनी आयु के क्षेम में जरा सा भी उपक्रम जान पड़े
तो पण्डित मुनि उस संलेखना काल के मध्य में ही शीघ्र पंडित
मरण को स्वीकार कर ले ।

ग्राम में अथवा वन में अनशन योग्य भूमि का प्रतिलेखन
करे, जीव अन्तु रहित स्थान जानकर मुनि वहाँ घास बिछा ले ।

फिर आहार का त्याग कर संस्तारक पर शयन करे ।
परीषर्णों और उपसर्गों से आक्रान्त होने पर सहन करे । मनुष्य
आदि के उपसर्गों से भी अपनी मर्मादा का उत्लंघन न करे ।

जो रेंगने वाले प्राणी हैं, जो ऊपर आकाश में उड़ने वाले हैं
या जो नीचे बिलों में रहते हैं, वे कदाचित् अनशनधारी मुनि के
शरीर का मांस नीचे और रक्त पीएँ तो मुनि न तो उन्हें मारे
और न ही रजोहरणादि से प्रमाज्जन करे ।

‘वे प्राणी मेरे शरीर का ही नाश कर रहे हैं, जानादि
आत्मगुणों का नहीं’, ऐसा विचार कर उन्हें न हटाए और न ही
स्थान से उठकर अन्यत्र जाए । आसर्गों से रहित अध्यवसायों के
द्वारा वेदना को अमृत के समान समझकर सहन करे ।

विद्वान् मुनि विभिन्न कष्टों को मृत्यु पर्यन्त सहन करे और
इस पण्डित मरण को मोक्ष का उत्तम साधन समझकर आराधन
करे ।

भक्त प्रत्याख्यात अणमार का परभव में आहार—

५४९. प्र०—भन्ते ! भक्तप्रत्याख्यान अनशन करने वाला अणमार
यदि उस अवस्था में काल कर जाये तो वह पहले मूर्च्छित, गूढ़,
अश्रित और अत्यन्त आसक्त होकर आहार करता है और इसके
बाद अमूर्च्छित—यावत्—अनासक्त होकर आहार करता है ?

उ०—हंता गोयमा ! भक्तपञ्चवक्ष्यामि नं अणगारे-जाव-
अणज्झोववण्णे आहारमाहारेइ ।

प०—से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ “भक्तपञ्चवक्ष्यामि नं
अणगारे-जाव-अणज्झोववण्णे आहारमाहारेइ ?”

उ०—गोयमा ! भक्तपञ्चवक्ष्यामि नं अणगारस्स मुच्छिअ-
-जाव-अणज्झोववण्णे आहारे भवइ, अहे नं वोससाए
कालं करेइ, तओ पच्छा अमुच्छिअ-जाव-अणज्झोववण्णे
आहारे भवइ ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-भक्तपञ्चवक्ष्यामि नं
अणगारे-जाव-अणज्झोववण्णे आहारमाहारेइ ।

—वि. स. १४, उ. ७, सु. ११

इंगिनीमरण अनशनस्स ग्रहण विधि—

५५० अयं से अवरे चस्से, णायपुत्तेण साहिते ।
आयवज्जं पट्टियारं, विज्जेज्जा तिधा तिधा ॥

हरिएसु ण विज्जेज्जा, थंजितं मुणिआ सए ।
विज्जेज्ज अणहारा, पुट्ठो तत्थ अहियासए ॥

इन्दिएहि गिलायतो, समियं साहरे मुणी ।
तहावि से अगारिहे, अचले जे समाहिए ॥

अभिककमे पडिक्कमे, संकुचए पसारए ।
कायासाहारणट्ठाए, एत्थं वा वि अचेयणे ॥

परिक्कमे परिकिलंते, अदुवा चिट्ठे अहायते ।
ठाणेण परिकिलंते, णिसीएज्ज य अंतसो ॥
आसीणेऽणेतिसं मरणं, इन्दियाणि समीरते ।
कीलावासं समासज्ज, वित्तुं पावुरेसए ॥

अतो वज्जं समुप्पज्जे, ण तत्थ अवलंबए ।
ततो उक्कसे अप्पार्णं, सज्जे फासे अहियासए ॥

आ. सु. १, अ. ८, उ. ८, ग. २७-३३

जस्स नं भिक्खुस्स एवं भवति—

“से गिलामि च खलु अहं इमंमि समए इमं सरीरं अणु-
पुब्बेण परिवह्तिअए” से अणुपुब्बेण आहारं संवट्ठेज्जा,

उ०—हौ गौतम ! भक्त प्रत्याख्यान अनशन करने वाला
अणगार—यावत्—अनासक्त होकर आहार करता है ।

प्र०—भन्ते ! ऐसा क्यों कहा गया है कि—‘भक्तप्रत्याख्यान
अनशन करने वाला अणगार—यावत्—अनासक्त होकर आहार
करता है ?’

उ०—गौतम ! भक्तप्रत्याख्यान अनशन करने वाला अणगार
यदि उस अवस्था में काल करे तो उसके स्वाभाविक ही प्रथम
सूच्छित—यावत्—अत्यन्त आसक्त भाव से आहार होता है और
बाद में असूच्छित—यावत्—अनासक्त भाव से आहार होता है ।

इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि—‘भक्तप्रत्याख्यान
अनशन करने वाला अणगार—यावत्—अनासक्त होकर आहार
करता है ।’

इंगिनीमरण अनशन ग्रहण विधि—

५५०. ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने यह दूसरा इंगितमरण
अनशन रूप धर्म का प्रतिपादन किया है । इस अनशन में भिक्षु
मन, वचन और काया से दूसरे का सहारा न ले, न लिवावे, न
लेने वाले का अनुमोदन करे ।

मुनि हरियाली पर शयन न करे, निर्दोष स्थण्डिल को देख
कर वहाँ सोए । आहार और शरीर आदि के समत्व का त्याग
कर परीषहों तथा उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे ।

मुनि इन्द्रियों से खान होने पर समित होकर हाथ-पैर
आदि सिकोड़े । यदि समाधि अचल रहती हो तो शरीर से चेष्टा
करता हुआ वह धर्म का अतिक्रमण नहीं करता है ।

भिक्षु शारीरिक समाधि के लिए तथा शरीर संधारणार्थ
गमन और आगमन करे, हाथ-पैर आदि को सिकोड़े और
पसारे । यदि शरीर में शक्ति हो तो अचेतन की तरह निश्चेष्ट
रहे ।

यदि घूमते हुए थक जाय तो कभी सीधा खड़ा रहे । यदि
खड़ा रहने में कष्ट होता हो तो अंत में बैठ जाए ।

इस अद्वितीय मरण की साधना में लीन मुनि अपनी इन्द्रियों
को सम्यक् रूप से प्रवृत्त करे । दीमक वाले काण्ठ पट्टे के प्राप्त
होने पर उससे भिन्न जीव रहित पाट का अन्वेषण करे ।

किन्तु जिससे पाप कर्म उत्पन्न हो, ऐसे दीमक आदि से युक्त
पाट आदि का सहारा न ले । उससे अपने आपको दूर हटा ले
और उपस्थित सभी दुःखदायी स्पर्शों को सहन करे ।

जिस भिक्षु के मन में ऐसा संकल्प होता है कि—

“मैं इस समय इस शरीर को वहन करते में क्रमशः असमर्थ
होता जा रहा हूँ”, तो वह क्रमशः आहार का संश्लेष करे ।

अणुपुष्पेण आहारं संवट्टिता कसाए पयणुए किच्चा, समाहि-
यच्चे, फलगाययट्ठी, उट्ठाथ भिक्खू अभिनिब्बुड्धच्चे ।

अणुपुष्पसित्ता गामं वा-जाव-रायहाणि वा तणाइं जाएज्जा,
तणाइं जाइत्ता सेत्तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्क-
मिता अप्पंडे-जाव-मवक्कडा-संतणए पडित्तेहिय-पडित्तेहिय
पमज्जिय-पमज्जिय तणाइं संघरेज्जा, तणाइं संघरेत्ता एत्थ
वि समए 'इत्तरियं' कुज्जा ।

तं सच्चं, सच्चवादी ओए तिण्णे छिण्णकहंकहे आतीतट्ठे
अणातीते,

खेच्चाण भिउरं कायं संविहणिय विरुवरुवे परीसहोवसग्गे
अस्सिविसंभणयाए भेरवमणुचिन्ते,

तत्थावि तस्स कात्तपरियाए से वि तत्थ विपत्तिकारए,

इच्चेतं विमोहायतणं-हियं, सुहं, खमं, निस्सेयसं, आणुगामियं ।
—आ. सु. १, अ. ८, उ. ६, सु. २२४

पादोपगमन अनशन ग्रहण विधि—

५५१. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति,

“से गिजामि च खलु अहं इमस्मि समए इमं शरीरं अणु-
पुष्पेण परिवहित्तए” से अणुपुष्पेण आहारं संवट्टेज्जा,

अणुपुष्पेण आहारं संवट्टेत्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहि-
यच्चे, फलगाययट्ठी, उट्ठाथ भिक्खू अभिनिब्बुड्धच्चे,

अणुपुष्पसित्ता गामं वा-जाव-रायहाणि वा तणाइं जाएज्जा
-जाव-तणाइं संघरेत्ता एत्थ वि समए कायं च जोगं च इरियं
च पच्चक्खाएज्जा ।

तं सच्चं-जाव-इच्चेतं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, निस्से-
यसं, आणुगामियं ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ७, सु. २२८

क्रमशः आहार को संक्षेप करते हुए कषायों को कुश कर
आत्मा को समाधि में स्थापित करे । फलकवत् सहनशील बनकर
पण्डित मरण के लिये उद्यत होकर शरीर के संताप से रहित बने ।

अनशन का इच्छुक भिक्षु ग्राम—यावत्—राजधानी में
प्रवेश करके घास की याचना करे, घास की याचना करके उसे
लेकर एकान्त में चला जाए, एकान्त स्थान में जाकर अण्डे
—यावत्—मकड़ी के जाले रहित स्थान का भली भाँति प्रति-
लेखन तथा प्रमार्जन करके घास को बिछाने, घास बिछाकर वहाँ
उचित अवसर देखकर इत्वरिक अनशन स्वीकार करे ।

वह अनशन सत्य है । वह अनशन स्वीकार करने वाला
सत्यवादी है । राग द्वेष रहित है, संसार-सागर को पार करने
वाला है । संशयों से मुक्त है । सर्वथा कुतार्थ है, परिस्थितियों से
अप्रभावित रहता है ।

वह शरीर को क्षणभंगुर जानकर विविध परीषहों और
उपसर्गों को सहन कर जिनवचन में श्रद्धा रखता हुआ अति
कठिन इंगितमरण अनशन का अनुपालन करता है ।

इस अनशन की आराधना से वह मृत्यु को प्राप्त करता है
और उस मृत्यु से वह अन्तर्क्रिया करने वाला होता है ।

यह मोह से मुक्त कराने वाला अनशन भिक्षु को हितकर,
सुखकर, कर्मक्षय करने में समर्थ, कल्याणकारी और भवान्तर में
(फलदायी) साथ चलने वाला होता है ।

पादोपगमन अनशन ग्रहण विधि—

५५१. जिस भिक्षु के मन में यह संकल्प होता है कि—

“मैं इस समय इस शरीर को क्रमशः वहन करने में असमर्थ
हो रहा हूँ”, तो वह भिक्षु क्रमशः आहार का संक्षेप करे ।

आहार को क्रमशः घटाता हुआ कषायों को स्वल्प कर
आत्मा को समाधि में स्थापित करे, फलकवत् सहनशील बनकर
पण्डित मरण के लिए उद्यत होकर शरीर के संताप से रहित बने ।

अनशन का इच्छुक भिक्षु ग्राम—यावत्—राजधानी में
प्रवेश करके घास की याचना करे—यावत्—घास का बिछौना
बिछाकर उसी समय शरीर, शरीर की प्रवृत्ति और गमनागमन
आदि का प्रत्यास्थान करे ।

यह अनशन सत्य है—यावत्—यह मोह से मुक्त कराने
वाला है । यह भिक्षु को हितकर, सुखकर, कर्मक्षय करने में समर्थ,
कल्याणकारी और भवान्तर में (फलदायी) साथ चलने वाला
होता है ।

पाओषगमन अणसणे—

५५२. अयं घाततरे सिया, जे एवं अणुपालए ।
सख-गाय-णिरोधे बि, ठाणातो ण वि उरुधमे ॥

अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे ।
अचिरं पडिलेहिता, विहरे चिट्ठ माहणे ॥

अचित्तं तु समासज्ज, ठावए तत्थ अप्पगं ।
ओसिरे सखसो कायं, ण मे देहे परीसहा ॥

जावज्जीवं परीसहा, उवस्सग्गा य संलाय ।
संपुणं देह भेदाए, इति पप्पज्जिह्वासए ॥

भेउरेसु णं रज्जेज्जा, कामेसु बहुतरेसु बि ।
इच्छालोभं ण सेवेज्जा, धुववण्णं सपेहिया ॥

सासएहि णिमंतेज्जा, विव्वमायं ण सद्धे ।
तं पडिबुज्ज माहणे, सखं नूनं विधूणिया ॥

सखट्ठेहि अमुच्छिण, आयुकायस्स पारए ।
तितिक्षं परमं गच्छा, विमोहणतरं हितं ॥

—आ. सु. १. अ. ८, उ. ८, गा. ३४-४०

अणसण गहणस्स विसाओ—

५५३. वो विसाओ अभिनिज्ज कप्पति णिमंथाण वा णिमंथीण वा
अपच्छिमभारणंतिवसंतेहणा झूसणा झूसियाणं, भत्तपाणपडि-
याइविज्जताणं पाओषगताणं कालं अणवकंखमाणं विह-
रिस्सए, तं जहा ...

१. पार्हणं चैव, २. उदीणं चैव ।

—ठाणं. अ. २, उ. १, सु. ६६(ख)

अणसण फलं—

५५४. निज्जह्ज्जुण आहारं, कालधम्मे उवदिठए ।
जहिऊण भाणुसं वीवि, पट्ट बुक्खे विमुच्चई ॥

—उत्त. अ. ३५, गा. २०

पादोपगमन अनशन—

५५२. यह पादोपगमन अनशन भक्त प्रत्याख्यान से और इंगित-
मरण से भी विशिष्टतर है । जिसका इस प्रकार पालन किया
जाता है, वह सारा शरीर कुचल दिये जाने पर भी अपने स्थान
से चलित नहीं होता है ।

यह पादोपगमन अनशन उत्तम धर्म है । यह पूर्व अनशनों से
प्रकृष्टतर है । भिक्षु जीव जन्तु रहित स्थण्डिल (स्थान) का
सम्यक् निरीक्षण करके वहाँ अचेतनवत् स्थिर होकर रहे ।

अचित्त स्थान को प्राप्त करके वहाँ अपने आपको स्थापित
कर दे । शरीर का सब प्रकार से व्युत्सर्ग कर दे । परीषह उप-
स्थित होने पर ऐसी भावना करे 'यह शरीर ही मेरा नहीं है,
तब परीषह जनित दुःख मुझे कैसे होंगे ?'

जब तक जीवन है तब तक ये परीषह और उपसर्ग होते हैं,
यह विचार कर शरीर को विसर्जित करने वाला तथा शरीरभेद
के लिए समुद्यत प्राप्त भिक्षु उन्हें समभाव से सहन करे ।

भिक्षु क्षणभंगुर विविध प्रकार के काम-भोगों में आशक्त न
होवे तथा संयम के स्वरूप का सम्यक् विचार करके इच्छा रूप
लोभ का भी सेवन न करे ।

कोई दिव्यभोगों के लिए निमन्त्रित करे तब भिक्षु उस देव
माया पर अट्टा न करे, उस माया को सर्व प्रकार से कर्म बन्ध
का कारण जानकर उससे दूर रहे ।

सभी प्रकार के विषयों में अनासक्त और मृत्युकाल के पार
तक पहुँचाने वाला मुनि तितिक्षा को सर्वश्रेष्ठ जानकर हितकर
अनशनों में से किसी एक का आराधन करे ।

अनशन ग्रहण करने की दिशाएँ—

५५३. जो निर्गन्ध और निर्भ्रन्धिया अपश्चिम मारणान्तिक-
संलेखना की आराधना से युक्त हैं, जो भक्त-पान का प्रत्याख्यान
कर चुके हैं जो पादोपगमन अनशन से युक्त हैं, जो मरणकाल
की आकांक्षा नहीं करते हुए विचार रहे हैं, उन्हें दो दिशाओं की
ओर मूँह कर रहना चाहिये । यथा—(१) पूर्व और (२) उत्तर ।

अनशन का फल—

५५४. समर्थ मुनि कालधर्म के उपस्थित होने पर आहार का
परित्याग करके मनुष्य शरीर को छोड़कर दुःखों से विमुक्त हो
जाता है ।



अवमोदरिका—३

ओमोयरियाए भेया—

५५५. प०—से कि तं ओमोयरिया ?

उ०—ओमोयरिया कुविहा पणत्ता, तं जहा—

१. दब्बोमोयरिया य,

२. भावोमोयरिया य^१—वि. स. २५, उ. ७, सु. २०३

ओमोयरियं पंचहा, समासेण विद्याहिंयं ।

दब्बो ओत्त-कालेणं भावेणं पञ्जवेहिं य ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. १४

दब्बोमोयरिया सख्खं—

५५६. जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे ।

अहम्मेणेग - सित्थाई, एवं दब्बेण उ भवे ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. १५

दब्बोमोयरियाए भेयप्पभेया—

५५७. प०—से कि तं दब्बोमोयरिया ?

उ०—दब्बोमोयरिया कुविहा पणत्ता, तं जहा—

१. उवगरण-दब्बोमोयरिया य,

२. भत्तपाण-दब्बोमोयरिया य,^२

प०—से कि तं उवगरण-दब्बोमोयरिया ?

उ०—उवगरण-दब्बोमोयरिया तिविहा पणत्ता, तं जहा—

१. एगे वत्थे, २. एगे पाए,

३. विद्यसोवकरण-साइज्जणया,^३

से तं उवगरण-दब्बोमोयरिया ।

प०—से कि तं भत्तपाण-दब्बोमोयरिया ?

उ०—भत्तपाण-दब्बोमोयरिया अणेगविहा पणत्ता, तं जहा—

अवमोदरिका के भेद—

५५५. प्र०—अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—अवमोदरिका के दो भेद बतलाये गये हैं, यथा—

(१) द्रव्य-अवमोदरिका—भूख से कम खाना ।

(२) भाव अवमोदरिका—कषाय कलह आदि कम करना ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय के भेद से ऊनीदरी तप संक्षेप में पाँच प्रकार का है ।

द्रव्य अवमोदरिका का स्वरूप—

५५६. जिसका जितना आहार है, उससे कम खाता है अर्थात् जबन्य एक कदल भी कम खाता है, वह द्रव्य से अवमोदर्यं तप होता है ।

द्रव्य अवमोदरिका के भेद-प्रभेद—

५५७. प्र०—द्रव्य-अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—द्रव्य-अवमोदरिका के दो भेद बतलाये गये हैं, यथा—

(१) उपकरण-द्रव्य अवमोदरिका—वस्त्र आदि उपयोगी सामग्री का कम उपयोग करना ।

(२) भक्त-पान अवमोदरिका—खाद्य, पेय पदार्थों का कम मात्रा में उपयोग करना ।

प्र०—उपकरण-द्रव्य अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—उपकरण-द्रव्य अवमोदरिका के तीन भेद बतलाये गये हैं, यथा—

(१) एक वस्त्र रखना, (२) एक पात्र रखना,

(३) ह्यवत (परिशुद्ध) उपकरण ग्रहण करना ।

यह उपकरण द्रव्य अवमोदरिका है ।

प्र०—भक्तपान-द्रव्य अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—भक्तपान-द्रव्य अवमोदरिका के अनेक भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१ उव. सु. ३०

२ भगवती सूत्र और औपपातिक सूत्र में ये भेद समान हैं किन्तु टाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे में ऊनीदरी तप के तीन भेद इस प्रकार किये हैं—

तिविधा ओमोयरिया पणत्ता, तं जहा—

(१) उवगरणोमोयरिय (२) भत्तपाणोमोयरिया, (३) भावोमोयरिया ।

३ ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८८ (ख)

—ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८८ (क)

१. अट्टकुक्कुडिअङ्गप्यमाणमेत्ते कवले आहारं आहारे-
माणे अप्पाहारे ।

२. बुवालस कुक्कुडिअङ्गप्यमाणमेत्ते कवले आहारं
आहारेमाणे अवड्ड मोयरिया ।

३. सोलस कुक्कुडिअङ्गप्यमाणमेत्ते कवले आहारं
आहारेमाणे कुमागपत्तोमोयरिया ।

४. चउधोस कुक्कुडिअङ्गप्यमाणमेत्ते कवले आहारं
आहारेमाणे तिभागपत्ते, असिया ओमोयरिया ।

५. एकतीस कुक्कुडिअङ्गप्यमाणमेत्ते कवले आहारं
आहारेमाणे किचूणोमोयरिया ।

६. वत्तीस कुक्कुडिअङ्गप्यमाणमेत्ते कवले आहारं
आहारेमाणे पमाणपत्ते ।

७. एत्तो एणेण वि घासेणं ऊणयं आहारमाहारेणाणे
समणे निग्गंथे णो पकामभोइत्ति वत्तव्वं तिया ।
से तं वत्तपाण-व्वोमोयरिया, से तं व्वोमोयरिया ।^१

वि. स. २५, उ. ७, सु. २०४-२०६

क्षेत्र ओमोयरिया—

५५८. गामे नगरे तह रायहाणि, निग्गमे व आगरे पत्तो ।
छेडे कळ्ळड - वोणमुह, पट्टण - मडम्ब संवाहे ॥

आसमपए विहारे, सन्नियेसे समाय-घोसे व ।
पलि सेणा खंधारे, सत्थे संवट्ट-कोट्टे व ॥

खाडेसु व रच्छासु व, घरेसु वा एवमित्तिवं खेत्तं ।
कप्पड उ एवमाई, एवं खेत्तेण ऊ भवे ॥

वेडा य अट्टपेडा, गोमुत्ति-पयंगवीहिथा जेव ।
सम्भुक्कावट्टायपगतुं, पळ्वागया छट्टा ॥^२

—उत्त. अ. ३०, गा. १६-१८

काल ओमोयरिया—

५५९. दिवसस्स पोरिसीणं चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं सुण्येय्वो ॥

(१) अपने मुख प्रमाण आठ कवल आहार करने से अल्पा-
हार कहा जाता है ।

(२) अपने मुख प्रमाण बारह कवल आहार करने से कुछ
कम अर्ध ऊनोदरिका कही जाती है ।

(३) अपने मुख प्रमाण सोलह कवल आहार करने से द्विभाग
प्राप्त अर्ध ऊनोदरी कही जाती है ।

(४) अपने मुख प्रमाण चौबीस कवल आहार करने से
त्रिभाग प्राप्त आहार और एक भाग ऊनोदरिका कही जाती है ।

(५) अपने मुख प्रमाण एकतीस कवल आहार करने से
किञ्चित् ऊनोदरिका कही जाती है ।

(६) अपने मुख प्रमाण वत्तीस कवल आहार करने से प्रमाण
प्राप्त आहार कहा जाता है ।

(७) इससे एक प्रास भी कम आहार करने वाला श्रमण-
तिग्रन्थ प्रकामभोजी नहीं कहा जा सकता है ।

यह भक्तपान द्रव्य अवमोदरिका है । यह द्रव्य अवमो-
दरिका है ।

क्षेत्र अवमोदरिका—

५५८. ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली, खेड़ा,
कबड, द्रोणमुख, पत्तन, मण्डप, संवाध,

आश्रम-पद, विहार, सन्नियेस, समाज, घोष, स्थली, सेना
का शिविर, सार्थ, संवर्त, कोट,

पाड़ा, गलियाँ अथवा घर आदि में “मुझे अमुक निर्धारित
क्षेत्र में भिक्षा के लिए जाना कल्पता है ।” ऐसी प्रतिज्ञा करने
पर क्षेत्र से अवमोदयं तप होता है ।

(प्रकारान्तर से)—(१) पेटा, (२) अर्द्ध पेटा,
(३) गोमूत्रिका, (४) पतंग-बीथिका, (५) शम्बूकावर्ता
और (६) जाते या पुनः आते ।

इस छह प्रकार की प्रतिज्ञा से आहार ग्रहण करना भी क्षेत्र
से अवमोदयं तप है ।

काल-अवमोदरिका—

५५९. दिवस के चार प्रहरों में जितना अभिग्रह-काल किया है,
उसमें ही भिक्षा के लिए विचरण करने वाले मुनि के काल से
अवमोदयं तप होता है ।

१ (क) वि. स. ७, उ. १, सु. १९

(ख) उव. सु. ३०

(ग) वव. उ. ८, सु. १७

२ (क) ठाण. अ. ६, सु. ५१४

(ख) दसा. द. ७, सु. ६

अहवा तद्वयाए पोरिसीए, जलह्वा वासमेसन्ने ।
चउभागूणाए वा, एवं कालेण ऊ भवे ॥
—उत्त. अ. ३०, गा. २०-२१

भाव ओमोयरिया—

५६०. इत्थी वा पुरिसी वा, अलंकिओवाऽणलंकिओ वा सि ।
अन्नपरवयत्थो वा, अन्नपरेण व वत्थेण ॥
धम्मेण विसेसेणं, वण्णेणं भावमणुमुयस्ते उ ।
एवं चरमाणो खलु, भावोभाणं मुणेयव्वो ॥
—उत्त. अ. ३०, गा. २२-२३

प०—से किं तं भावोमोयरिया ?

उ०—भावोमोयरिया अणेगविहा पणत्ता. तं जहा --

अप्पकोहे, अप्पमाणे, अप्पमाए, अप्पलोहे, अप्पसद्दे,
अप्पसंभे, अप्पसुमंतुमे । से तं भावोमोयरिया ।
से तं ओमोयरिया ।—वि. स. २५, उ. ७, सु. २०७

पज्जव ओमोयरिया—

५६१. वव्वे खेत्ते कासे भावम्मि य, आहिया उ जे भावा ।
एण्हि ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥
—उत्त. अ. ३०, गा. २४

अथवा तीसरे प्रहर में ही चतुर्थ भाग आदि न्यून करके
शेष काल में जो भिक्षा की एषणा करता है, ऐसा करने पर भी
काल से अवमोदर्य तप होता है ।

भाव-अवमोदरिका—

५६०. स्त्री वा पुरुष, अलंकृत या अनलंकृत, अमुक वय वाले या
अमुक वस्त्र वाले, अमुक वर्ण वाले या अमुक भाव वाले, इत्यादि
किसी भी विशेषता से युक्त हो ऐसे दाता से भिक्षा ग्रहण करेगा
अन्यथा नहीं—इस प्रकार की प्रतिज्ञा से चर्या करने वाले मुनि
के भाव से अवमोदर्य तप होता है ।

प्र०—भाव-अवमोदरिका क्या है ?

उ०—भाव-अवमोदरिका अनेक प्रकार की बतलाई गई है,
यथा—

क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्ति कम करना, क्रोध
आदि के आवेश से होने वाली शब्द प्रवृत्ति को, कलहोत्पादक
वचन को तथा तुमन्तुम की प्रवृत्ति को कम करना । यह भाव
अवमोदरिका का स्वरूप है, यह अवमोदरिका है ।

पर्यव अवमोदरिका—

५६१. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऊणोदरी में जो भाव कहे
गए हैं, जो भिक्षु एक साथ इन चारों प्रकार की ऊणोदरी से
चर्या करता है उसके पर्यव अवमोदर्य तप होता है ।



भिक्षाचर्या—४

भिक्षाचर्यासंख्यं—

५६२. अट्टविहगोयरभं तु, तहा सत्तेव एसणा ।
अभिगहा य जे अन्ने, भिक्षाचर्यासाहिया ॥
—उत्त. अ. ३०, गा. २५

भिक्षाचर्या का स्वरूप—

५६२. आठ प्रकार की भिक्षाचरी, सात प्रकार की पिंडेषणा तथा
और भी जो अन्य अभिग्रह हैं, उन्हें भिक्षाचर्या तप कहा
जाता है ।

१ (क) उव. सु. ३०

(ख) विवाहपण्णत्ती एवं उववाई सूत्र में “ऊणोदरी” तप के दो भेद हैं और उत्तराध्ययन में “ऊणोदरी” तप के संक्षेप में ५ भेद
हैं, यद्यपि ५ की अपेक्षा दो संख्या अल्प है फिर भी विवाहपण्णत्ती एवं उववाई सूत्र के दो भेदों में आहार, उपकरण और
कषाय आदि से सभी प्रकार की ऊणोदरी का कथन है और उत्तराध्ययन में केवल आहार की अपेक्षा ही पाँचों भेदों का
विवेचन किया गया है । उपकरण और कषाय ऊणोदरी का कथन नहीं किया है ।

२ उत्त. अ. ३० गा. १६ में क्षेत्र अवमोदरिका में गोचरी के ६ प्रकार कहे हैं । दशा. द. ७, सु. ६ में प्रतिमाधारी भिक्षु के ६
प्रकार की गोचरी कही है । उसे ही यहाँ एक अपेक्षा से आठ प्रकार की भिक्षाचरी कहा है । संस्कारों के आभ्यंतर व बाह्य दो
भेद करने से तथा गंतुप्रत्यागता के ‘जाते समय’ और ‘आते समय’ यों दो भेद करने से ये गोचरी के आठ प्रकार होते हैं ।

भिक्षाचर्या पगारा—

५६३. ५०—से किं स भिक्षाचर्या ?

उ०—भिक्षाचर्या अर्णवचिहा पणस्ता, तं जहा -

१. वग्धासिगहचरण ।

२. खेताभिगहचरण ।

३. कालाभिगहचरण ।

४. भावाभिगहचरण ।

५. उक्खित्तचरण ।

६. निक्खित्तचरण ।

७. उक्खित्त-निक्खित्तचरण ।

८. निक्खित्त-उक्खित्तचरण ।

९. वट्टिज्जमाणचरण ।

१०. साहरिज्जमाणचरण ।

११. उवणीयचरण ।

१२. अवणीयचरण ।

१३. उवणीय-अवणीयचरण ।

१४. अवणीय-उवणीयचरण ।

१५. संसट्टचरण ।

१६. असंसट्टचरण ।^१

भिक्षाचर्या के प्रकार—

५६३. प्र०—भिक्षाचर्या कितने प्रकार की है ?

उ०—भिक्षाचर्या अनेक प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) द्रव्यों की भर्थादा का अभिग्रह करके आहार लेना ।

(२) ग्रामादि क्षेत्रों में से किसी एक क्षेत्र का अभिग्रह करके आहार लेना ।

(३) दिन के अमुक भाग में आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(४) अमुक वय या वर्ण वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(५) किसी बर्तन में भोजन निकालने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(६) किसी बर्तन में भोजन डालने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(७) किसी एक बर्तन में भोजन लेकर दूसरे बर्तन में डालने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(८) किसी एक बर्तन में निकाले हुए भोजन को दूसरे बर्तन में लेने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(९) किसी के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(१०) थाली में ठारे हुए भोजन को अन्य बर्तन में लेने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(११) आहार की प्रशंसा करके देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(१२) आहार की निन्दा करके देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(१३) जो आहार की पहले प्रशंसा करके बाद में निन्दा करे उससे आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(१४) जो आहार की पहले निन्दा करके बाद में प्रशंसा करे उससे आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(१५) लिप्त हाथ, पात्र या चम्मच से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(१६) अलिप्त हाथ, पात्र या चम्मच से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

१ “भिक्षाचर्या” यद्यपि छः प्रकार के बाह्यतर्पों में से एक प्रकार का तर्प है और वह निर्जरा का हेतु है तथापि अभिग्रह युक्त भिक्षाचर्या ही तर्प रूप है अतः उसका वर्णन तपाचार में लिया गया है और सामान्य भिक्षाचर्या एषणा समिति का विषय है इसलिए उसका सम्पूर्ण वर्णन “एषणा समिति” में दिया है ।

२ असंसृष्ट चरक—अलिप्त हाथ, पात्र या चम्मच से आहार लेने का निषेध आ. श्रु. २, अ. १, उ. ६, सु. ३६० में तथा दशवैकालिक अ. ५, उ. १, गा. ३२ में है क्योंकि लिप्त हाथ आदि को धोने से पश्चात् कर्म दोष लगता है ।

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

१७. लज्जायसंसद्वचरण ।

(१७) देय पदार्थ से लिप्त हाथ, पात्र या चम्मच द्वारा दिये जाने वाले आहार को लेने का अभिग्रह करना ।

१८. अण्णावधरण ।

(१८) अज्ञात स्थान (जहाँ भिक्षु की प्रतीक्षा न करते हों) से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

१९. मोणचरण ।

(१९) मौन रखकर आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२०. दिट्ठलाभिए ।^१

(२०) दिखता हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२१. अदिट्ठलाभिए ।^२

(२१) नहीं दिखता हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२२. पुट्ठलाभिए,

(२२) "तुम्हें क्या चाहिए" इस प्रकार पूछकर देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२३. अपुट्ठलाभिए,

(२३) बिना पूछे देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२४. भिक्खलाभिए,^३

(२४) "मुझे भिक्षा दो" ऐसा कहने पर देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२५. अभिक्खलाभिए,^४

(२५) "भिक्षा दो" आदि कुछ भी कहे बिना ही स्वतः देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२६. अण्णगिलायए,^५

(२६) आज का घना हुआ नहीं लेने का अभिग्रह करना ।

२७. ओवणिहिए,

(२७) दाता के समीप में पड़ा हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना ।

२८. परिमित-पिडवाइए,

(२८) परिमित द्रव्यों के लेने का अभिग्रह करना ।

(शेष टिप्पण पिछले पृष्ठ का)

यदि कहीं पश्चात् कर्म दोष न लगने जैसा ज्ञात हो तो ही इस अभिग्रह वाले आहार ले सकते हैं । सभी व्याख्याकारों ने यही स्पष्टीकरण किया है ।

आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ११ में पिडवणा में भी पहली पडिमा (प्रतिज्ञा) है—'असंसुष्ट हाथ, पात्र या चम्मच से ही आहार लेना ।' भुने हुए घने, चावल, जी, ज्वार, मक्की आदि खाद्य पदार्थ अलिप्त आहार है । ऐसे अलेप आहार लेने पर पश्चात् कर्म दोष लगने की सम्भावना नहीं रहती है । भिक्षादाता यदि विवेक से लेप वाले पदार्थ दे तो लेप वाले पदार्थ लेने में भी पश्चात् कर्म दोष नहीं लगता ।

इस 'असंसुष्टचरक' अभिग्रह में ऐसे ही विवेकपूर्वक आहार लिया जाता है ।

१ दिट्ठलाभिए—गृहस्थ के घर में जितने खाद्य पदार्थ सामने दीख रहे हों उनमें से ही अपनी आवश्यकतानुसार आहार लेना 'दिट्ठलाभिए' अभिग्रह है ।

२ अदिट्ठलाभिए—गृहस्थ के घर में जो खाद्य पदार्थ सामने न दीखें ऐसे पड़े हों उनमें से ही आहार लेना 'अदिट्ठलाभिए' अभिग्रह है ।

३ भिक्खलाभिए—दाता अपनी ओर से भिक्षा न दे ऐसी स्थिति में श्रमण स्वयं गृहस्थ से कहे—प्रासुक एषणीय शुद्ध आहार हो तो मुझे दो—ऐसा कहने पर जो आहार दाता से मिले—वही ले, यह 'भिक्खलाभिए' अभिग्रह है ।

४ अभिक्खलाभिए—भिक्षु के कुछ भी कहे बिना दाता स्वयं जो कुछ प्रासुक एवं एषणीय आहार दे वही लेना 'अभिक्खलाभिए' अभिग्रह है ।

यद्यपि सभी श्रमण भिक्षावृत्ति से ही आहारादि लेते हैं फिर भी भिक्खलाभिए और अभिक्खलाभिए ये दोनों अभिग्रह हैं । अतः यहाँ इनकी यह विशेष व्याख्या की गई है ।

५ अण्णगिलायए—जो खाद्य पदार्थ रुचिकर न हों ऐसे खाद्य पदार्थों को या अनेक दिन पहले बने हुए खाद्य पदार्थों को लेना 'अण्णगिलायए' अभिग्रह है ।

२६. सुद्धेसणिए^१

३०. संखादत्तिए^२,

से सं भिक्षापरिया । — वि. स. २५, उ. ७, सु. २०५
पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणानं निर्गन्धानं
-जाव-अभ्रमणुसायाइं भवति, तं जहा—

१. उक्खित्तचरए,

२. निक्खित्तचरए,

३. अंतचरए,

४. पंतचरए,

५. सूहचरए ।

पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणानं निर्गन्धानं
-जाव-अभ्रमणुसायाइं भवति, तं जहा—

१. अणायचरए,

२. अणगित्तायचरए,

३. भोजचरए,

४. संसट्ठकप्पिए,

५. तज्जातसंसट्ठकप्पिए ।

पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणानं निर्गन्धानं
-जाव-अभ्रमणुसायाइं भवति, तं जहा—

१. उवणिहिए,

२. सुद्धेसणिए,

३. संखादत्तिए,

४. विट्ठलाभिए,

(२६) एषणा में कोई भी अपवाद सेवन न करने का अभि-
ग्रह करना ।

(३०) भिक्षा का परिमाण निश्चित करके आहार लेने का
अभिग्रह करना ।

यह भिक्षाचर्या तप है ।

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पाँच
अभिग्रह स्थान की—यावत्—आज्ञा दी है, यथा—

(१) उक्खित्तचरक—रांधने के पात्र से निकाला हुआ
आहार ग्रहण करना ।

(२) निक्खित्तचरक—रांधने के पात्र में से आहार ग्रहण
करना ।

(३) अन्तचरक—परिवार वालों के भोजन कर लेने के बाद
बचा हुआ आहार ग्रहण करना ।

(४) प्रान्तचरक—तुच्छ आहार लेने का अभिग्रह करना ।

(५) रुक्खचरक—सर्व प्रकार के रसों से रहित रुखा आहार
ग्रहण करना ।

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पाँच
अभिग्रह स्थान की—यावत्—आज्ञा दी है, यथा—

(१) अज्ञातचरक—अपनी जाति-कुलादि बताये बिना
अथवा त्यज्जात गृहस्थ से भिक्षा लेना ।

(२) अन्नग्लाय चरक—आज का बना हुआ न हो ऐसा
आहार लेना ।

(३) मौनचरक—मौन रहकर भिक्षा लेना ।

(४) संसुट्ठकल्पिक—लिप्त हाथ या कड़ली आदि से ही
भिक्षा लेना ।

(५) तज्जात-संसुट्ठकल्पिक—देय द्रव्य से लिप्त हाथ आदि
से ही भिक्षा लेना ।

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पाँच
अभिग्रह स्थान की—यावत्—आज्ञा दी है, यथा—

(१) औपनिघिक—समीप में रखे हुए आहार को ही लेना ।

(२) शुद्धेवणिक—निर्दोष आहार की ही गवेषणा करना ।

(३) संख्यादत्तिक—सीमित संख्या में दत्तियों का निया
करके आहार लेना ।

(४) वृष्टलाभिक—सामने रखा हुआ आहार-पानी ही
लेना ।

१ सुद्धेसणिए—आहार, उपस्थय, यस्त्र, पात्र, पीठ, फलक आदि आवश्यक सामग्री की सर्वदा अपवाद रहित शुद्ध एषणा ही करना
“सुद्धेसणिए” अभिग्रह है ।

२ (क) सूय सु. २, अ. २, सु. ७१४

(ख) उव. सु. ३०

५. पुट्टलामिह ।

पंच ठाण्डं समणेणं सगवया महावीरेणं समणाणं निमग्धाणं
-जाव-अवणुत्तायाइं भवन्ति, तं जहा—

१. आर्यबिलिए,

२. निव्विद्धिए,

३. पुरिमिद्धिए,

४. परिमिपिद्धिवाहिए,

५. पिण्ण पिद्धिवाहिए ।

—ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६६ भिक्षा लेने वाला ।



रस-परित्याग—५

रस-परिच्छाय सखं—

५६४. खीर-वहि-सप्पिमाई, पणीयं पाणभोजणं ।

परिवज्जणं रसाणं तु, मणिधं रसविज्जणं ॥

—उत्त. अ. ३०, भा. २६

रस-परिच्छाय-पगारा—

५६५. प०—से किं तं रसपरिच्छाए ?

उ०—रसपरिच्छाए अणेगविहे पणत्ते, तं जहा—

१. निव्वोद्धिए,

२. पणीय-रस-परिच्छाए,

३. आर्यबिलिए,

४. आयामसित्त्यमोई,

५. अरसाहारे,

६. विरसाहारे,

७. अन्ताहारे,

रस परित्याग का स्वरूप—

५६४. दूध, दही, घृत आदि स्निग्ध पान-भोजन और रसों के वर्जन को रसविवर्जन तप कहा जाता है ।

रस-परित्याग के प्रकार—

५६५. प्र०—रस-परित्याग क्या है ? वह कितने प्रकार का है ?

उ०—रस-परित्याग अनेक प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) निविकृतिक—विषय रहित आहार करना ।

(२) प्रणीत रसपरित्याग—अतिस्निग्ध और सरस आहार का त्याग करना ।

(३) आर्यबिलि—नमक आदि षट् रस तथा विषय रहित एक द्रव्य को अचित्त पानी में भिगोकर दिन में एक ही बार खाना ।

(४) आयाम सिक्कभोजी—ओसामन आदि के पानी में रहे हुए अन्न कणों को खाना । अथवा अल्प पदार्थ लेकर आर्यबिलि करना ।

(५) अरसाहार—बिना मिर्च मसाले का आहार करना ।

(६) विरसाहार—बहुत पुराने अन्न से बना हुआ आहार करना ।

(७) अन्ताहार—भोजन के बाद बचा हुआ आहार करना ।

८. पंताहारे,

९. सुहाहारे,^१

१०. से तं रसपरिच्चाए^२

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २०६

पंच ठाणाइं समजेणं भगवया महावीरेणं समणारणं निग्गंधाणं
जाव-अग्गणुत्तायाइं भवति, तं जहा--

१. अरसजीवी,

२. विरसजीवी,

३. अंत्यजीवी,

४. पंतजीवी,

५. लूहजीवी,

(८) प्रान्ताहार—मलिचा आदि तुच्छ धान्यों से बना हुआ
आहार करना ।

(९) रुक्षाहार—रूखा-भूखा आहार करना ।
ये रस परित्याग है ।

श्रमण भगवान महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पांच
अभिप्रह स्थान की—थावत्—आज्ञा दी है, यथा—

(१) अरसजीवी—जीवन पर्यन्त (या लम्बे समय तक) रस
रहित आहार लेना ।

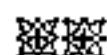
(२) विरसजीवी—जीवन पर्यन्त (या लम्बे समय तक)
विरस आहार लेना ।

(३) अंत्यजीवी—जीवन पर्यन्त (या लम्बे समय तक) बचा
हुआ आहार लेना ।

(४) प्रान्तजीवी—जीवन पर्यन्त (या लम्बे समय तक)
तुच्छ आहार लेना ।

(५) रुक्षजीवी—जीवन पर्यन्त (या लम्बे समय तक) रूखे-

—ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६६ सूखे आहार लेना ।



काय-क्लेश—६

कायक्लेश सख्यं—

५६६. ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा ।

जग्गा जहा घरिज्जग्गि, कायक्लेशं तमाहिर्य ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. २७

अणेगविहे कायक्लेशे—

५६७. प०—से किं तं कायक्लेशे ?

उ०—कायक्लेशे अणेगविहे पणत्ते, तं जहा—

१. ठाणट्ठिइए,

२. उक्कुटुयासणिए,

३. पडिमट्ठाई,

४. वीरासणिए,

काय-क्लेश का स्वरूप—

५६६. आत्मा के लिए सुखकर वीरासन आदि कठिन आसनों का
जो सेवन किया जाता है, उसे कायक्लेश तप कहा जाता है ।

काय-क्लेश के प्रकार—

५६७. प्र०—कायक्लेश क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

उ०—काय-क्लेश अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे—

(१) स्थानस्थितिक—एक आसन से स्थिर रहना ।

(२) उक्कुटुकासनिक—पृष्ठों को भूमि पर न टिकाते हुए
केवल पाँवों के बल पर बैठकर मस्तक पर अंजली करना ।

(३) प्रतिमास्थायी—एक रात्रि आदि का समय निश्चित
कर कायोत्सर्ग करना ।

(४) वीरासनिक—कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के नीचे से कुर्सी
निकालने पर जो स्थिति होती है उस आसन से स्थिर रहना ।

१ ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६६ में अरसाहारे आदि पाँच प्रकार हैं ।

२ उव. सु. ३०

५. नेसज्जिए,

६. आयावए,

७. अवाउडए,

८. अकङ्कयए,

९. अणिट्टुहए.

१०. सव्वगाय-परिकम्म-विभूसा य विज्जमुक्के,

से तं कायकिसेसं,^१ — वि. स. ३५, उ. ७, पु. २१०
 पंच ठाणाईं समणेणं भगवया महावीरेणं समणानं निग्गंथाणं
 -जाव-अब्भणुस्रायाइं भवंति तं जहा—

१. वंडायतिए,

२. लगंडसाईं,

३. आतावए,

४. अवाउडए,

५. अकङ्कयए,

—ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६६

पंच णिसिज्जाओ पण्णसाओ, त जहा—

१. उक्कुडया

२. गोवोहिया,

३. समपायपुत्ता,

४. पलियंका,

५. अट्ठपलियंका ।

—ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ४००

निर्ग्रन्थीणं णिसिद्धा विहियाय आयावणा—

५६८. तो कप्पइ निर्ग्रन्थीए बहियागामस्स वा-जाव-रायहाणस्स वा
 उड्ढं बाहाओ पणिज्जिमय-पणिज्जिय सूरभिपुहीए एगपाइ-
 याए ठिक्का आयावणाए आयावेत्तए ।

१ (क) उव. सु. ३०

(ख) पंच ठाणाईं समणेणं भगवया महावीरेणं समणानं निग्गंथाण-जाव-अब्भणुस्रायाइं भवंति तं जहा —

(१) ठाणातिए, (२) उक्कुडु आसणाए, (३) पडिमट्टाई, (४) वीरासणिए, (५) नेसज्जिए ।

—ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६६

(ग) सत्तविधे कायकिसेसे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) ठाणातिए, (२) उक्कुडुयासणिए,

(३) पडिमट्टाई,

(४) वीरासणिए,

(५) नेसज्जिए,

(६) वंडायतिए,

(७) लगंडसाई ।

—ठा. अ. ५, सु. ५३४

(५) नैषद्विक —पुट्टे टिकाकर पालथी लगाकर बैठना ।

(६) आतापक—धूप आदि की आतापना लेना ।

(७) अप्रावृतक—देह को कपड़े आदि से नहीं ढकना ।

(८) अकण्डूयक—खुजली चलने पर भी देह को नहीं खुजलाना ।

(९) अनिष्ठोवक—थूँक कफ आदि आने पर भी नहीं थूकना ।

(१०) सर्व-मात्र परिकर्म एवं विभूषा विप्रमुक्त—देह के सभी संस्कार तथा विभूषा आदि करने से मुक्त रहना ।

पट्ट काय-क्लेश का विस्तार है ।

श्रमण भगवन्त महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पाँच
 स्थान सदा आचरण योग्य कहे हैं— यावत्—स्वीकृत किये हैं ।
 यथा—

(१) दण्डायतिक—टन्हे के समान सीधे लम्बे पैर करके सोना ।

(२) लगण्डशायी—शिर और एड़ी की जमीन पर टिकाकर शेष शरीर को ऊपर उठाकर सोना ।

(३) आतापक—सरदी तथा गर्मी सहना ।

(४) अप्रावृतक—वस्त्र न रखना ।

(५) अकण्डूयक—खाज न खुजलाना ।

पाँच बंठने के प्रकार कहे हैं, यथा—

(१) उत्तकटुका—नितम्ब टिकाये बिना पैरों को टिकाकर बैठना ।

(२) गोदोहिका—गाय दुहने की तरह बैठना ।

(३) समपादपुता—दोनों पैरों को और नितम्बों को भूमि पर टिकाकर बैठना ।

(४) पर्यंका—पालथी लगाकर बैठना ।

(५) अर्ध पर्यंका—आधी पालथी लगाकर बैठना अर्थात् एक पैर से पालथी लगाकर और एक पैर लम्बा करके बैठना ।

निर्ग्रन्थियों के लिए आतापना का विधि-निषेध—

५६८. निर्ग्रन्थी को गाँव के बाहर—यावत्—राजधानी के बाहर
 भुजाओं को ऊपर की ओर करके, सूर्य की ओर मुँह करके तथा
 एक पैर से खड़े होकर आतापना लेना नहीं कल्पता है ।

कप्पइ से उबस्सयस्स अंतोवगइयाए संघाडिया पडिबइयाए
पल्लविपबाहुयाए समतलवाइयाए ठिन्ना आयावणाए आया-
वैसए । —कप्प. उ. ५, सु. २२

निर्ग्रन्थीणं निषिद्ध कायकिलेसे—

५६६. नो कप्पइ निर्गन्धीए ठाणाइयाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए पडिसइयाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए उक्कुडुयासणियाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए निसज्जियाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए वीरासणियाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए दण्डासणियाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए लगण्डासणियाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए ओमंथियाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए उत्तासणियाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए अम्बलुज्जियाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए एगपासियाए होत्तए ।

—कप्प. उ. ५, सु. २३-३३

नो कप्पइ निर्गन्धीए अचेलियाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए अपाइयाए होत्तए ।

नो कप्पइ निर्गन्धीए वोसट्टकाइयाए होत्तए ।

—कप्प. उ. ५, सु. १६-२१

किन्तु उपाश्रय के अन्दर पर्दा लगाकर के भुजाएँ नीची
लटकाकर दोनों पैरों को समतल कर तथा खड़े होकर आतापना
लेना कल्पता है ।

निर्ग्रन्थियों के लिए निषिद्ध कायकलेश—

५६६. निर्ग्रन्थी साध्वी को खड़े रहकर कायोत्सर्ग करने का
अभिग्रह करना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को एक रात्रि आदि का समय निश्चित
करके कायोत्सर्ग करने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को उक्कुडुकासन से स्थित रहने का अभि-
ग्रह करना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को निषद्याओं से स्थित रखने का अभिग्रह
करना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को वीरासन से रहने का अभिग्रह करना
नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को दण्डासन से स्थित रहने का अभिग्रह
करना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को लकुटासन से स्थित रहने का अभिग्रह
करना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को अधोमुखी सोकर स्थित रहने का अभि-
ग्रह करना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को उत्तानासन से स्थित रहने का अभिग्रह
करना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को आस्र-कृब्जिकासन से स्थित रहने का
अभिग्रह करना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को एक पार्श्व से शयन का अभिग्रह करना
नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को वस्त्र रहित होना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को पात्र रहित होना नहीं कल्पता है ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को निश्चित समय के लिए शरीर को
वोसिरा कर रहना नहीं कल्पता है ।



प्रतिसंलीनता—७

पडिसंलीणयाए भेया—

५७०. प०—से कि तं पडिसंलीणया ?

उ०—पडिसंलीणया चउब्बिहा पणणा, तं जहा—

१. इन्दियपडिसंलीणया, २. कसायपडिसंलीणया,

प्रतिसंलीनता के भेद—

५७०. प्र०—प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है ?

उ०—प्रतिसंलीनता चार प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) इन्दिय प्रतिसंलीनता, (२) कसाय प्रतिसंलीनता,

३. जोगपडिसंलीणया,

४. बिबिक्तसयणासनसेवणया ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २११

इन्द्रिय पडिसंलीणयाए भेदा—

५७१. प०—से किं तं इन्द्रियपडिसंलीणया ?

उ०—इन्द्रियपडिसंलीणया षंचविहा पणसर, तं जहा—

१. सोइन्द्रियविसयप्पयारनिरोहो वा, सोइन्द्रियविसय-
पत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा ।२. चक्खिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, चक्खिदिय-
विसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा ।३. घाणिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, घाणिदियविसय-
पत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा ।४. जिब्बिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, जिब्बिदिय-
पत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा ।५. फासिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, फासिदिय-
विसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा ।से तं इन्द्रियपडिसंलीणया ।^१

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २१२

कषाय पडिसंलीणयाए भेदा—

५७२. प०—से किं तं कषायपडिसंलीणया ?

उ०—कषायपडिसंलीणया चउत्थिहा पणत्ता, तं जहा—

१. कोहस्सुदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा कोहस्स
विफलीकरणं ।२. माणस्सुदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा माणस्स
विफलीकरणं ।३. मायाउदयनिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा मायाए
विफलीकरणं ।

१ (क) पंच पडिसंलीणा पणत्ता, तं जहा—

(१) सोत्तिदयपडिसंलीणे, (२) चक्खिदियपडिसंलीणे,

(३) घाणिदियपडिसंलीणे ।

(ख) उव. सु. ३०

(३) योग प्रतिसंलीनता,

(४) बिबिक्त शयनासन-सेवन प्रतिसंलीनता ।

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के भेद—

५७१. प्र०—इन्द्रिय प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार
की है ?उ०—इन्द्रिय प्रतिसंलीनता पांच प्रकार की कही गई है,
यथा—(१) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में प्रवृत्त रहने का निरोध करना
अथवा श्रोत्रेन्द्रिय के विषय प्राप्त होने पर उनमें राग-द्वेष का
निग्रह करना ।(२) चक्षुरिन्द्रिय के विषय में प्रवृत्त रहने का निरोध करना
अथवा चक्षुरिन्द्रिय के विषय प्राप्त होने पर उनमें राग-द्वेष का
निग्रह करना ।(३) घ्राणेन्द्रिय के विषय में प्रवृत्त रहने का निरोध करना
अथवा घ्राणेन्द्रिय के विषय प्राप्त होने पर उनमें राग-द्वेष का
निग्रह करना ।(४) जिह्वेन्द्रिय के विषय में प्रवृत्त रहने का निरोध करना
अथवा जिह्वेन्द्रिय के विषय प्राप्त होने पर उनमें राग-द्वेष का
निग्रह करना ।(५) स्पर्शेन्द्रिय के विषय में प्रवृत्त रहने का निरोध करना
अथवा स्पर्शेन्द्रिय के विषय प्राप्त होने पर उनमें राग-द्वेष का
निग्रह करना ।

यह इन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप है ।

कषाय प्रतिसंलीनता के भेद—

५७२. प्र०—कषाय प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार
की है ?

उ०—कषाय प्रतिसंलीनता चार प्रकार की है, यथा—

(१) क्रोध के उदय का निरोध करना अथवा उदय प्राप्त
क्रोध को निष्फल करना ।(२) मान के उदय का निरोध करना अथवा उदय प्राप्त
मान को निष्फल करना ।(३) माया के उदय का निरोध करना अथवा उदय प्राप्त
माया को निष्फल करना ।

(३) घाणिदियपडिसंलीणे, (४) जिब्बिदियपडिसंलीणे,

—ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४२७

४. लोहस्तुदयनिरोहो वा, उदयपतस्त वा लोहस्त
विफलीकरणं ।

से तं कषायपडिसंलीणया ।^१

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २१३

जोगपडिसंलीणयाए भेदा—

५७२. प०—से किं तं जोगपडिसंलीणया ?

उ०—जोगपडिसंलीणया तिविहा पणत्ता, तं जहा—

१. मणजोगपडिसंलीणया,
२. वयजोगपडिसंलीणया,
३. कायजोगपडिसंलीणया^२ ।

प०—से किं तं मणजोगपडिसंलीणया ?

उ०—मणजोगपडिसंलीणया तिविहा पणत्ता, तं जहा—

१. अकुसलमणनिरोहो वा,
२. कुसलमणउदीरणं वा,
३. मणस्त वा एगस्तीभाव करणं ।

से तं मणजोगपडिसंलीणया ।

प०—से किं तं वयजोगपडिसंलीणया ?

उ०—वयजोगपडिसंलीणया तिविहा पणत्ता, तं जहा—

१. अकुसलवयनिरोहो वा,
२. कुसलवयउदीरणं वा,
३. वयए वा एगस्ती भावकरणं ।

से तं वयजोगपडिसंलीणया ।

प०—से किं तं कायजोगपडिसंलीणया ?

उ०—कायजोगपडिसंलीणया जं ण सुसमाहित पसंत साह-
रिय साणियाए कुम्भो इव गुत्तिदिए अल्लोणे पल्लोणे
चिट्ठइ ।

से तं कायजोगपडिसंलीणया ।

से तं जोग पडिसंलीणया ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २१४-२१५

१ (क) उव. सु. ३०

(ख) चत्तारि पडिसंलीणा पणत्ता, तं जहा—

- (१) कोहपडिसंलीणे, (२) माणपडिसंलीणे, (३) मायापडिसंलीणे, (४) लोहपडिसंलीणे ।

—ठाणं. अ. ४, उ. २, सु. २७८

२ चत्तारि पडिसंलीणा पणत्ता, तं जहा—

- (१) मणपडिसंलीणे, (२) वयपडिसंलीणे, (३) कायपडिसंलीणे, (४) इंदियपडिसंलीणे ।

—ठा. अ. ४, उ. २, सु. २७८

(४) लोभ के उदय का निरोध करना अथवा उदय प्राप्त
लोभ को निष्फल करना ।

यह कषायप्रतिसंलीनता तप है ।

योग प्रतिसंलीनता के भेद—

५७३. प्र०—योग-प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार
की है ?

उ०—योग-प्रतिसंलीनता तीन प्रकार की बतलाई गई है,
यथा—

- (१) मनोयोग-प्रतिसंलीनता,
- (२) वचन योग-प्रतिसंलीनता ।
- (३) काययोग-प्रतिसंलीनता ।

प्र०—मनोयोग-प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार
की है ?

उ०—मनोयोग-प्रतिसंलीनता तीन प्रकार की है, यथा—

- (१) अशुभ मन का निरोध करना ।
- (२) शुभ मन का उदीरण करना ।
- (३) मन को एकाग्र करना ।

यह मनोयोग प्रतिसंलीनता है ।

प्र०—वचन योग-प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार
की है ?

उ०—वचन योग-प्रतिसंलीनता तीन प्रकार की है, यथा—

- (१) अशुभ वचन का निरोध अर्थात् दुर्वचन नहीं बोलना ।
- (२) सद्बचन बोलने का अभ्यास करना ।
- (३) मौन रहना ।

यह वचनयोग प्रतिसंलीनता है ।

प्र०—काययोग-प्रतिसंलीनता क्या है ?

उ०—हाथ, पैर आदि सुसमाहित शांत और संकुचित कर,
कछुए के सदृश अपनी इन्द्रियों को गुप्त कर, सारे शरीर को
संकुचित कर सुस्थिर होना काययोग प्रतिसंलीनता है ।

यह काययोग प्रतिसंलीनता है ।

यह योग-प्रतिसंलीनता है ।

विविक्त-सयणासन-सेवणया सार्व्वं

५७४. एगन्तमणायाए, इत्थी-पसुविविज्जिए ।
सयणासनसेवणया, विविक्तसयणासनं ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. २८

प०—से कि तं विविक्तसयणासन सेवणया ?

उ०—विविक्त-सयणासन-सेवणया जं णं आरासेसु वा, उज्जा-
णेषु वा, देवकुलेसु वा, सहासु वा, पद्मासु वा, पणिय-
गिहेसु वा, पणियसालासु वा, इत्थी-पसु-पंडगसंसस-
विरहियासु वसहीसु फासुएसणिज्जं पीठ-फलक-सेज्जा-
संधारणं उवसंपज्जिस्तानं विहरइ ।

से तं पडिसंलीणया ।

से तं बाहिरए तवे । —वि. स. २५ उ. ७, सु. २१६

विविक्तसयणासन सेवणया फलं—

५७५. प०—विविक्त सयणासनयाए णं भत्ते ! जीवे किं जणमइ ?

उ०—विविक्त सयणासनयाए णं चरित्तगुत्ति जणमइ, चरित्त
गुत्ते प णं जीवे विविक्ताहारे, बद्धचरित्तं एगंतरए
मोक्षभाव पडिवन्ते अट्टविह कम्मगंठि निज्जरेह ।

—उत्त. अ. २६, सु. ३३

अनेकविहा अपडिसंलीणा—

५७६. अस्तारि अपडिसंलीणा पणस्ता, तं जहा—

१. क्रोधअपडिसंलीणे,	२. माणअपडिसंलीणे,
३. मायाअपडिसंलीणे,	४. लोभअपडिसंलीणे ।

अस्तारि अपडिसंलीणा पणस्ता, तं जहा—

१. मनअपडिसंलीणे,	२. बद्धअपडिसंलीणे,
३. कायअपडिसंलीणे,	४. इन्द्रियअपडिसंलीणे ।

—ठाणं. अ. ४, उ. २, गु. २७८

पंच अपडिसंलीणा पणस्ता, तं जहा—

१. सोत्तिन्द्रिय अपडिसंलीणे,

२. चक्षुर्निन्द्रिय अपडिसंलीणे,

३. घ्राणेन्द्रिय अपडिसंलीणे,

एकाग्र शयनासन के सेवन का स्वरूप—

५७४. जहाँ कोई आता-जाता न हो ऐसे एकाग्र स्थान का तथा
स्त्री पशु आदि से रहित भयन और भासन का सेवन करना
विविक्त शयनासन तप है ।

प्र०—विविक्त शयनासन सेवनता क्या है ?

उ०—आरास-पुष्पप्रधान बगीचा, उद्यान, पुष्प फल युक्त
बगीचा, देवकुल, सभा स्थान, प्याऊ, क्रयविक्रयोचित वस्तुएँ
रखने के घर, क्रय-विक्रय योग्य वस्तुएँ रखने की शालाएँ । इन
स्थानों में जो स्त्री पशु तथा नपुंसक से रहित हो, प्रासुक एषणीय
पीठ, फलक, शय्या संस्तारक प्राप्त कर विचरण करना विविक्त
शय्यासन सेवनता है ।

यह प्रतिसंलीनता है ।

यह बाध्यतप का वर्णन सम्पन्न हुआ ।

विविक्त शयनासन के सेवन का फल—

५७५. प्र०—भत्ते ! विविक्त शयनासन के सेवन से जीव क्या
प्राप्त करता है ?

उ०—विविक्त शयनासन के सेवन से वह चारित्र की रक्षा
को प्राप्त होता है, चारित्र की सुरक्षा करने वाला जीव पौष्टिक
आहार का वर्जन करने वाला, बद्ध चारित्र वाला, एकाग्र में रत,
व्यस्त-करण से मोक्ष साधना में लगा हुआ आठ प्रकार के कर्मों
की गांठ को तोड़ देता है ।

अनेक प्रकार के अप्रतिसंलीन—

५७६. अप्रतिसंलीन चार प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

(१) क्रोध अप्रतिसंलीन,	(२) मान अप्रतिसंलीन,
(३) माया-अप्रतिसंलीन,	(४) लोभ-अप्रतिसंलीन ।

अप्रतिसंलीन चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—

(१) मन-अप्रतिसंलीन,	(२) वचन-अप्रतिसंलीन,
(३) काय-अप्रतिसंलीन,	(४) इन्द्रिय-अप्रतिसंलीन ।

अप्रतिसंलीन पाँच प्रकार का कहा गया है—

- (१) श्रोत्रेन्द्रिय-अप्रतिसंलीन—शुभ-अशुभ शब्दों में राग-
द्वेष करने वाला ।
(२) चक्षुरिन्द्रिय-अप्रतिसंलीन—शुभ-अशुभ रूपों में राग-द्वेष
करने वाला ।
(३) घ्राणेन्द्रिय अप्रतिसंलीन—शुभ-अशुभ गन्ध में राग-द्वेष
करने वाला ।

४. जिह्मिन्द्रिय अप्रतिसंलीने,

(४) जिह्मेन्द्रिय अप्रतिसंलीन—शुभ-अशुभ रसों में राग-द्वेष करने वाला ।

५. फासिन्द्रिय अप्रतिसंलीने ।

(५) स्पर्शेन्द्रिय अप्रतिसंलीन—शुभ-अशुभ स्पर्शों में राग-द्वेष करने वाला ।

—ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४२७



प्रतिमायें—८-(१)

अणोपाविद्वाओ पडिमाओ—

५७७. पंच पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. महा,	२. सुमहा,
३. महामहा,	४. सर्वतोभद्रा ^१ ,

५. सद्बुत्तरपडिमा । —ठा. अ. ५, उ. १, सु. ३६२

चत्तारि पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. समसिद्धिपडिमा,	२. उबहाणपडिमा,
३. विवेकपडिमा,	४. विउत्सगपडिमा ^२ ।

चत्तारि पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. लुट्ठिया मोयपडिमा,	२. महत्तिलिया मोयपडिमा,
३. ~~अवमत्तिया~~ ,	४. वहरमत्तिया ^३ ।

—ठाणं. अ. ४, उ. १, सु. २५१

अनेक प्रकार की प्रतिमायें—

५७७. प्रतिमाएँ पाँच प्रकार कही गई हैं, जैसे—

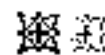
(१) भद्रा प्रतिमा,	(२) सुभद्रा प्रतिमा,
(३) महामहद्रा प्रतिमा,	(४) सर्वतोभद्रा प्रतिमा,
(५) सद्बुत्तर प्रतिमा ।	

प्रतिमा चार प्रकार की कही गई हैं, जैसे—

(१) समाधि प्रतिमा,	(२) उपधान-प्रतिमा,
(३) विवेक प्रतिमा,	(४) व्युत्सर्ग प्रतिमा ।

पुनः प्रतिमा चार प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) छोटी मोकप्रतिमा,	(२) बड़ी मोकप्रतिमा ।
(३) यवमध्या,	(४) वज्र मध्या ।



भिक्षु प्रतिमाएँ—८-(२)

भिक्षु पडिमाओ—४

५७८. बारस भिक्षु-पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. मासिया भिक्षु पडिमा,
२. दो-मासिया भिक्षु-पडिमा,
३. ति-मासिया भिक्षु-पडिमा,
४. चउ-मासिया भिक्षु-पडिमा,
५. पंच-मासिया भिक्षु पडिमा,
६. छ-मासिया भिक्षु-पडिमा,

भिक्षु प्रतिमायें -

५७८. बारह भिक्षु-प्रतिमाएँ कही गई हैं, यथा -

- (१) मासिकी भिक्षु-प्रतिमा ।
- (२) द्विमासिकी भिक्षु-प्रतिमा ।
- (३) त्रिमासिकी भिक्षु-प्रतिमा ।
- (४) चातुर्मासिकी भिक्षु-प्रतिमा ।
- (५) पंचमासिकी भिक्षु प्रतिमा ।
- (६) षण्मासिकी भिक्षु प्रतिमा ।

१ (क) ठाणं. अ. ४, उ. १, सु. २५१

२ ठाणं. अ. २, उ. ३, सु. ७७

४ उपासक पडिमाओं के वर्णन के लिये चारिवाचार भूहस्त धर्म प्रकरण देखें ।

(ख) ठाणं. अ. २, उ. ३, सु. ७७

(३) ठाणं. अ. २, उ. ३, सु. ७७

७. सप्त-मासिया भिक्षु-पडिमा,
८. पद्म-मासिया राहुविद्या भिक्षु-पडिमा,
९. वीरुवा सप्त-राहुविद्या भिक्षु-पडिमा,
१०. तवचा सप्त-राहुविद्या भिक्षु-पडिमा,
११. अहो राहुया भिक्षु-पडिमा,
१२. एग-राहुया भिक्षु-पडिमा। — सम. सम. १२, सु. १

पडिमा आराहणकाले उपसर्गा—

५७९. मासिपं णं भिक्षु-पडिमं पडिपत्तस्स धम्मगारस्स निक्खं
बोसहुकाए चियस वेहे^२ ओ केइ उपसर्गा उपवज्जेज्जा,
सं जहा—

- (७) सप्तमासिकी भिक्षु प्रतिमा ।
- (८) प्रथमा सप्त रात्रिदिवा भिक्षु प्रतिमा ।
- (९) द्वितीया सप्त रात्रिदिवा भिक्षु प्रतिमा ।
- (१०) तृतीया सप्त-रात्रिदिवा भिक्षु प्रतिमा ।
- (११) अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा ।
- (१२) एकरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा ।

प्रतिमा आराधन काल में उपसर्ग—

५७९. नित्य शरीर की परिचर्या एवं ममत्व भाव से रहित एक
मासिकी भिक्षु-प्रतिमाधारी जनगार को जो कोई उपसर्ग आवे,
जैसे कि—

१ (क) दसा. द. ७, सु. १-२

(ख) दशाश्रुतस्कन्ध की छठी दशा में धम्मगोपासक की इग्यारह प्रतिमाओं का कथन है, इनमें से पहली दूसरी तीसरी और चौथी प्रतिमा के आराधना काल का स्पष्ट कथन नहीं है, किन्तु पाँचवीं प्रतिमा से इग्यारहवीं प्रतिमा तक का जघन्य और उत्कृष्ट आराधना काल स्पष्ट कहा है। वह उत्कृष्ट काल इस प्रकार है—
पाँचवीं प्रतिमा का उत्कृष्ट आराधना काल पाँच मास और छठी प्रतिमा से इग्यारहवीं प्रतिमा तक एक-एक मास क्रमशः बढ़ाने पर इग्यारहवीं प्रतिमा का उत्कृष्ट आराधना काल इग्यारह मास होता है।
उपासक दशा के टीकाकार ने आनन्द श्रमणोपासक का संपूर्ण प्रतिमा आराधना काल साढ़े पाँच वर्ष का कहा है, वहाँ पहली प्रतिमा का आराधना काल एक मास और इसी क्रम से इग्यारहवीं प्रतिमा का आराधना काल इग्यारह मास कहा है।

दशाश्रुतस्कन्ध की सातवीं दशा में भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का वर्णन है, वहाँ उनका जघन्य उत्कृष्ट आराधना काल स्पष्ट नहीं कहा है। किन्तु पहली भिक्षु प्रतिमा का नाम मासिक भिक्षु प्रतिमा, दूसरी का दो मासिक भिक्षु प्रतिमा और क्रमशः सातवीं भिक्षु प्रतिमा का नाम सप्तमासिकी भिक्षु प्रतिमा कहा गया है।
तथा आठवीं-नौवीं और दसवीं का नाम प्रथम सप्तअहोरात्रिकी, द्वितीय सप्तअहोरात्रिकी, तृतीय सप्त अहोरात्रिकी प्रतिमा, इग्यारहवीं का एक अहोरात्रिकी और बारहवीं का एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा कहा है। किन्तु पहली प्रतिमा की आराधना के विधानों में प्रतिमा आराधक को परिचित क्षेत्र में एक रात से अधिक और अपरिचित क्षेत्र में एक या दो रात से अधिक रहने पर दीक्षा छेद का या परिहार तप का प्रापञ्चित विधान है। अतः चातुर्मास में इन प्रतिमाओं का आराधन नहीं किया जा सकता है।

टीकाकार आदि ने इन प्रतिमाओं का सम्पूर्ण आराधन काल नहीं बताया है अतः उसका तीन प्रकार से अनुमान किया जा सकता है।

१. पहली प्रतिमा से सातवीं प्रतिमा तक प्रत्येक प्रतिमा का नाम प्रथम मासिकी भिक्षु प्रतिमा—यावत्—सप्तम मासिकी भिक्षु प्रतिमा मान कर उनका एक-एक मास आराधन काल मानें तो आठ महिने में ही बारह प्रतिमाओं का आराधन हो सकता है।
२. उपलब्ध नाम के अनुसार काल मानकर तथा चातुर्मास में प्रतिमा आराधन न करने पर सम्पूर्ण आराधन काल ५ वर्ष होता है।
३. चातुर्मास में भी प्रतिमा आराधन करना माना जाये तो सम्पूर्ण आराधन काल २ वर्ष ५ मास होता है।
इनमें प्रथम अनुमान-सूत्र विधान से निर्विरोध है। दूसरा अनुमान कम दीक्षा पर्याय वालों के आराधन वर्णन से विरोध प्राप्त है। तीसरा अनुमान भी चातुर्मास में विहार करते रूप होने से निर्विरोध नहीं रहता है।

दिग्वा वा, माणसा वा, तिरिक्खजोणिया वा, ते उप्पण्णे
सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा, तित्तिक्खेज्जा, अहियासेज्जा ।

—दसा. द. ७, सु. ३

मासिया भिक्षु पडिमा -

५८०. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पति
एगा दत्तो भोयणस्स पडिगाहित्तए, एगा पाणयस्स ।
अण्णाय उच्छं, सुद्धोवहं,

निज्जुहिता बहवे दुप्पय-चउप्पय-समण-साहण-अतिहि-
किविण-वणीमगे,

कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहित्तए ।

णो दुण्हं, णो तिण्हं, णो चउण्हं, णो पंचण्हं, णो गुव्विणीए,
णो बालवच्छाए, णो दारमं वेज्जमाणीए ।

णो से कप्पई अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दसमाणीए
णो बाहि एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए ।

अह पुण एवं जाणेज्जा एगं पायं अंतो किच्चा, एगं पायं
बाहि किच्चा, एलुयं विक्खंभइत्ता, एवं से दलयति, कप्पति
से पडिगाहित्तए,

एवं से नो दलयति, नो से कप्पति पडिगाहित्तए ।

—दसा. द. ७, सु. ४

पडिमापडिवण्णस्स गोयरकाला

५८१. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स तओ गोयर-
काला पणत्ता, तं जहा—

१. आइमे, २. मज्जे,
३. चारमे ।

१. आइमे चरेज्जा, नो मज्जे चरेज्जा, नो चारिमे चरेज्जा ।

२. मज्जे चरिज्जा, नो आइमे चरिज्जा, नो चारिमे चरेज्जा ।

३. चारिमे चरेज्जा, नो आइमे चरेज्जा, नो मज्जिमे
चरेज्जा ।

—दसा. द. ७, सु. ५

पडिमापडिवण्णस्स गोयर चरिया

५८२. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स छव्विहा
गोयरचरिया पणत्ता, तं जहा—

१. पेडा,
२. अड्डपेडा,

देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी या तिर्यैच सम्बन्धी उन्हें वह
सम्बन्ध प्रकार से सहन करे, क्षमा करे, वैश्य भाव नहीं रखे,
वीरता पूर्वक सहन करे ।

मासिकी भिक्षु प्रतिमा—

५८०. मासिकी भिक्षु-प्रतिमा धारी अनगर को एक दत्ति भोजन
की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है—

वह भी अज्ञात स्थान से, अल्पमात्रा में और दूसरों के लिए
बना हुआ हो तथा—

अनेक द्विपद, चतुष्पद, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण
और भिक्षारी आदि भोजन लेकर चले गये हों उसके बाद
ग्रहण करना कल्पता है ।

जहाँ एक व्यक्ति भोजन कर रहा हो वहाँ से आहार-पानी
की दत्ति लेना कल्पता है ।

किन्तु दो, तीन, चार या पाँच एक साथ बैठकर भोजन
करते हों वहाँ से लेना नहीं कल्पता है । गर्भिणी, बालवत्सा
और बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री से लेना नहीं कल्पता है ।

जिसके दोनों पैर देहली के अन्दर या दोनों पैर देहली के
बाहर हों ऐसी स्त्री से लेना नहीं कल्पता है ।

किन्तु यह ज्ञात हो जाये कि एक पैर देहली के अन्दर है
और एक पैर बाहर है इस प्रकार देहली को पाँवों के मध्य में
किये हुए हो और वह देना चाहे तो उससे लेना कल्पता है ।

इस प्रकार न वे तो लेना नहीं कल्पता है ।

प्रतिमाधारी के भिक्षा काल—

५८१. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगर के भिक्षाचर्या
करने के तीन काल कहे गये हैं, यथा—

(१) दिन का प्रथम भाग, (२) दिन का मध्य भाग,
(३) दिन का अन्तिम भाग ।

(१) यदि दिन के प्रथम भाग में भिक्षाचर्या के लिए जावे
तो मध्य और अन्तिम भाग में न जावे ।

(२) यदि दिन के मध्य भाग में भिक्षाचर्या के लिए जावे
तो प्रथम और अन्तिम भाग में न जावे ।

(३) यदि दिन के अन्तिम भाग में भिक्षाचर्या के लिए जावे
तो प्रथम और मध्य भाग में न जावे ।

प्रतिमाधारी की गोचर चर्या—

५८२. एक मास की भिक्षु प्रतिमाधारी अनगर के छः प्रकार
की गोचरी कही गई है । यथा—

(१) चोकोर पेटी के आकार से भिक्षाचर्या करना ।
(२) अर्ध पेटी के आकार से भिक्षाचर्या करना ।

३. गोमुस्तिया,
४. पतंगवीहिया,
५. संवृक्कावट्टा,
६. संतुपल्लागया ।^१

—दसा. द. ७, सु. ६

पडिमापडिवणस्स वसइ वसण कालो—

५८३. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवणस्स अणगारस्स जत्थ णं केइ जाणइ कप्पइ से तत्थ एगराइयं वसित्तए ।
जत्थ णं केइ न जाणइ, कप्पइ से तत्थ एग-रायं वा, दु-रायं वा वसित्तए ।
नो से कप्पइ एग-रायाओ वा, दु-रायाओ वा परं वत्थए ।
जे तत्थ एग-रायाओ वा दु-रायाओ वा परं वसति, से संतरा छेए वा परिहारे वा ।

—दसा. द. ७, सु. ७

पडिमापडिवणस्स कप्पणिज्जाओ भासाओ—

५८४. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवणस्स अणगारस्स कप्पति चत्तारि भासाओ भासित्तए, तं जहा—
१. जायणी,
२. पुच्छणी,
३. अणुणवणी,
४. पुट्टस्स वागरणी ।^२

—दसा. द. ७, सु. ८

पडिमापडिवणस्स कप्पणीया उवस्सया—

५८५. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवणस्स अणगारस्स कप्पइ तओ उवस्सया पडिलेहित्तए, तं जहा—
१. अहे आराम-गिहंसि वा,
२. अहे बियड-गिहंसि वा,
३. अहे रुक्खमूल-गिहंसि वा,
एवं तओ उवस्सया अणुणवेत्तए, उवाइणित्तए य ।^३

—दसा. द. ७, सु. ९-११

पडिमापडिवणस्स कप्पणीया संथारगा—

५८६. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवणस्स अणगारस्स कप्पति तओ संथारगा पडिलेहित्तए, तं जहा—
१. पुट्ठवि सिलं वा,
२. कट्ठ-सिलं वा,
३. अहा-संथडमेव वा संथारगं ।^४
एवं तओ संथारगा अणुणवेत्तए, उवाइणित्तए य ।

—दसा. द. ७, सु. १२-१४

- (३) वेल के मूत्रोत्सर्ग के आकार से भिक्षाचर्या करना ।
- (४) पतंगिये के गमन के आकार से भिक्षाचर्या करना ।
- (५) शंखावर्त के आकार से भिक्षाचर्या करना ।
- (६) जाते या पुनः आते भिक्षाचर्या करना ।

प्रतिमाधारी का वसतिवास काल—

५८३. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को जहाँ कोई जानता हो तो वहाँ उसे एक रात रहना कल्पता है ।
जहाँ कोई नहीं जानता हो तो वहाँ उसे एक या दो रात रहना कल्पता है ।

किन्तु एक या दो रात से अधिक रहना नहीं कल्पता है ।

यदि एक या दो रात से अधिक रहता है तो वह इस कारण से दीक्षा छेद या परिहार तप का पात्र होता है ।

प्रतिमाधारी की कल्पनीय भाषायें—

५८४. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को चार भाषाएँ बोलना कल्पता है । यथा—

- (१) याचनी—आहारादि की याचना करने के लिए ।
- (२) पृच्छनी—भार्ग आदि पूछने के लिए ।
- (३) अनुज्ञापनी—आज्ञा लेने के लिए ।
- (४) पृष्ठ व्याकरणी—प्रश्न का उत्तर देने के लिए ।

प्रतिमाधारी के कल्पनीय उपाश्रय—

५८५. एक मास की भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार को तीन प्रकार के उपाश्रयों का प्रतिलेखन करना कल्पता है, यथा—

- (१) उद्यान में बने हुए गृह में,
- (२) चारों ओर से खुले हुए गृह में,
- (३) वृक्ष के नीचे या वहाँ बने हुए गृह में,

इसी प्रकार तीन उपाश्रय की आज्ञा लेना और ठहरना कल्पता है ।

प्रतिमाधारी के कल्पनीय संस्तारक—

५८६. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को तीन प्रकार के संस्तारकों का प्रतिलेखन करना कल्पता है, यथा—

- (१) पत्थर की शिला,
- (२) लकड़ी का पाट,
- (३) पहले से बिछा हुआ संस्तारक ।

इसी प्रकार तीन संस्तारक की आज्ञा लेना और ग्रहण करना कल्पता है ।

१ ठाणं. अ. ६, सु. ५१४

३ ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. १९६

२ ठाणं. अ. ४, उ. १, सु. २३७

४ ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. १९६

पडिमा पडिवण्णस्स इत्थी पुरिस उवसग्गो—

५८७. मासियं णं भिक्षुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स इत्थी वा, पुरिसे वा उवसस्यं उवागच्छेज्जा, णो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा । — दसा. द. ७, सु. १५

पडिमा पडिवण्णस्स अयणी उवसग्गो—

५८८. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स केइ उवसस्यं अणणिकाएणं कामेज्जा, णो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ।

तस्य णं केइ बाहाए गहाय आगसेज्जा, णो से कप्पति तं अवलंबित्तए वा पलंबित्तए वा, कप्पति अहारियं रिद्धसए ।

— दसा. द. ७, सु. १६

पडिमा पडिवण्णस्स खानूआइ-णिहरण-णिसेहो—

५८९. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स पायंसि खानू वा कंटए वा, हीरए वा, सक्करए वा अणुपवेसेज्जा, णो से कप्पि नोहरित्तए वा, विसोहित्तए वा, कप्पति से अहारियं रिद्धसए ।

— दसा. द. ७, सु. १७

पडिमापडिवण्णस्स पाणीआइ-णिहरण-णिसेहो—

५९०. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स अच्छिसि पाणाणि वा, ओयाणि वा, रए वा परियावज्जेज्जा, णो से कप्पति नोहरित्तए वा विसोहित्तए वा कप्पति से अहारियं रिद्धसए ।

— दसा. द. ७, सु. १८

सूरिए अत्थमिए विहार-णिसेहो—

५९१. मासियं णं भिक्षु-पडिवण्णस्स अणगारस्स जत्थेव सूरिए अत्थमेज्जा, जलंसि वा, थलंसि वा, दुग्गंसि वा, निण्णंसि वा, पटवयंसि वा, विसमंसि वा, गड्ढाए वा, वरिए वा, कप्पति से तं रयणी तत्थेव उवाइणावित्तए नो से कप्पति पयमवि गमित्तए ।

कप्पति से कल्लं पाउप्पभाए रयणीए जाव-जल्लंते पाइणाभि-मुहस्स वा, बाहिणाभिमुहस्स वा, पडोणाभिमुहस्स वा, उत्तराभिमुहस्स वा अहारियं रिद्धसए ।

— दसा. द. ७, सु. १९

सच्चित्त पुडवी समीवे णिहाइ-णिसेहो—

५९२. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णो से कप्पि अणंतरहियाए पुडवीए णिहाइत्तए वा पयलाइत्तए वा ।

प्रतिमाधारी को स्त्री-पुरुष का उपसर्ग—

५८७. एक मास की भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार के उपाश्रय में यदि कोई स्त्री या पुरुष आ जावे तो उन्हें देखकर उपाश्रय से बाहर जाना या बाहर हो तो अन्दर आना नहीं कल्पता है ।

प्रतिमाधारी को अग्नि का उपसर्ग—

५८८. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार के उपाश्रय में कोई अग्नि लगा दे तो उसे उपाश्रय से बाहर जाना या बाहर हो तो अन्दर आना नहीं कल्पता है ।

यदि कोई उसे भुजा पकड़कर बलपूर्वक बाहर निकालना चाहे तो उसका अवलम्बन प्रलम्बन करना नहीं कल्पता है किन्तु ईर्या समिति पूर्वक बाहर निकलना कल्पता है ।

प्रतिमाधारी को ठूठा आदि निकालने का निषेध—

५८९. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार के गैर में यदि तीक्ष्ण ठूठ लकड़ी तिनका आदि कांटा, कांज, फंकर लग जावे तो उसे निकालना या उसकी विशुद्धि करना नहीं कल्पता है, किन्तु उसे सावधानी से ईर्यासमिति पूर्वक चलते रहना कल्पता है ।

प्रतिमाधारी को प्राणी आदि निकालने का निषेध—

५९०. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार के आँख में सूक्ष्म प्राणी, बीज, रज आदि गिर जावे तो उसे निकालना या विशुद्ध करना नहीं कल्पता है, किन्तु उसे सावधानी से ईर्यासमिति पूर्वक चलते रहना कल्पता है ।

सूर्यास्त होने पर विहार का निषेध—

५९१. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को विहार करते हुए जहाँ सूर्यास्त हो जाये—

वहाँ चाहे जल हो या स्थल हो,

दुर्गम स्थान हो या निम्नस्थान हो,

पर्वत हो या विषम स्थान हो,

गर्त हो या गुफा हो,

तो भी उसे पूरी रात वहीं रहना कल्पता है किन्तु एक कदम भी आगे बढ़ना नहीं कल्पता है ।

रात्रि समाप्त होने पर प्रातःकाल में—यावत्—जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर उसे ईर्यासमिति पूर्वक गमन करना कल्पता है ।

सच्चित्त पृथ्वी के निकट निद्रा लेने का निषेध—

५९२. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार सूर्यास्त हो जाने के कारण यदि सच्चित्त पृथ्वी के निकट ठहरा हो तो उसे वहाँ निद्रा लेना या ऊँघना नहीं कल्पता है ।

केवली ब्रूया—“आयाणमेयं ।”

से तस्थ निद्रायमाणे वा, पयत्तायमाणे वा हर्षेहि भूमि परामुसेञ्जा ।

अहाविहिमेव ठाणं ठाहत्तए ।

—दसा. द. ७, सु. २०

मलावरोहण निसेहो—

५६३. उच्चार पासवणेणं उच्चाहिञ्जा, नो से कप्पति उमिण्हत्तए वा निमिण्हत्तए वा ।

कप्पति से पुम्बपडिलेहिए थंडिले उच्चार पासवणं वरिद्धा-
वित्तए तमेव उवस्सयं आगम्म अहाविहिमेव ठाणं ठाहत्तए ।

—दसा. द. ७, सु. २०

ससरक्खेण कायेण भिक्खायरियागमण निसेहो—

५६४. मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति ससरक्खेणं काएणं गाहावड-कुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।

अह पुण एवं जाणेञ्जा—ससरक्खे सेयत्ताए वा, जल्लत्ताए वा, मल्लत्ताए वा, पंकत्ताए वा वरिण्णे, एयं से कप्पति गाहावड-कुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पवि-
सित्तए वा ।

—दसा. द. ७, सु. २१

हत्थाइ पधोवण निसेहो—

५६५. मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति सोओवण-वियडेण वा, उसिणोवण-वियडेण वा, हत्थाणि वा, पायाणि वा, वंताणि वा, अण्छीणि वा, मुहं वा, उच्छो-
लित्तए वा, पधोइत्तए वा ।

नल्लथ सेवाल्लेखेण वा भत्तामासेण वा ।

—दसा. द. ७, सु. २२

बुद्ध आसाइ ओवयमाणे भय निसेहो—

५६६. मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति आसस्स वा, हत्थिस्स वा, गोणस्स वा, महिसस्स वा, सीहस्स वा, वग्घस्स वा, विगस्स वा, वीवियस्स वा, अण्छस्स वा, तरच्छस्स वा, परासरस्स वा, सीयालस्स वा, विरालस्स वा, कोकंतिस्स वा, ससगस्स वा, चित्ताचिल्लडयस्स वा, सुणगस्स वा, कोलमुणगस्स वा, बुद्धस्स आवयमाणस्स पयमवि पच्चोसकित्तए ।

अबुद्धस्स आवयमाणस्स कप्पइ जुगमित्तं पच्चोसकित्तए ।

—दसा. द. ७, सु. २३

केवली भगवान् ने कहा है—‘यह कर्मबन्ध का कारण है ।’

क्योंकि वहाँ पर गीद लेता हुआ या ऊँघता हुआ वह अपने हाथ आदि से सचित्त पृथ्वी का स्पर्श करेगा, जिससे पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा होगी ।

अतः उसे सावधानी पूर्वक वहाँ स्थिर रहना या कायोत्सर्ग करना कल्पता है ।

मलावरोध का निषेध—

५६३. यदि वहाँ उसे मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो धारण करना या रोकना नहीं कल्पता है । किन्तु पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र का त्याग करना कल्पता है और पुनः उसी स्थान पर आकर सावधानी पूर्वक स्थिर रहना या कायोत्सर्ग करना कल्पता है ।

सचित्त रज्युक्त शरीर से भोचरी जाने का निषेध—

५६४. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को सचित्त रज-युक्त वाया से गृहस्थों के घरों में आहार पानी के लिए जाना और आना नहीं कल्पता है ।

यदि यह जात हो जाये कि शरीर पर लगा हुआ सचित्त रज—पक्षीना, सूजा पक्षीना, मैल या पंक के रूप में परिणत हो गया हो तो उसे गृहस्थों के घरों में आहार पानी के लिए जाना-
आना कल्पता है ।

हस्तादि धोने का निषेध—

५६५. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को अचित्त नीतल या उष्ण जल से हाथ, पैर, दांत, नेत्र या मुख एक बार धोना अथवा बार-बार धोना नहीं कल्पता है ।

किन्तु किसी प्रकार के लेप युक्त अवयव को और आहार से लिप्त हाथ आदि को धोकर शुद्ध कर सकता है ।

दुष्ट अश्वादि का उपद्रव होने पर भयभीत होने का निषेध—

५६६. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार के सामने अश्व, हस्ती, वृषभ, महिष, सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, चीता, रीछ, तेंदुआ, अष्टापद, शृंगाल, बिल्ला, लोमड़ा, खरगोश, चिल्लडक, श्वान, जंगली शूकर आदि दुष्ट प्राणी आ जाये तो उनसे भयभीत होकर एक पैर भी पीछे हटना नहीं कल्पता है ।

यदि कोई दुष्टता रहित पशु स्वाभाविक ही मार्ग में सामने आ जाय तो उसे मार्ग देने के लिए युग्मात्र अर्थात् कुछ अलग हटना कल्पता है ।

सीतातप सहण विहाणो—

५६७. मासियं णं भिक्षु-पडिमं पडिवसस्स अणगारस्स कप्पति छायाओ 'सीयं ति' नो उण्हं एसाए, उण्हाओ 'उण्हं ति' नो छावं एसाए ।

जं अस्थ जया सिया तं तत्थ अहियासए ।

—दसा. द. ७, सु. २४

पडिमाणं सम्मंआराहणं—

५६८. एवं खलु एसा मासिया भिक्षु-पडिमा अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामगं, अहातच्चं, सम्मं काएणं, फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता, तीरित्ता, किट्टित्ता, आराहित्ता, आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

—दसा. द. ७, सु. २५

दो मासिया भिक्षुपडिमा—

५६९. दो-मासियं भिक्षु-पडिमं पडिवसस्स अणगारस्स-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

नवरं दो दत्तिओ भोगणस्स पडिगाहेत्तए दो पाणगस्स ।

—दसा. द. ७, सु. २६

तिमासिया भिक्षु पडिमा—

६००. ति-मासियं भिक्षु-पडिमं पडिवसस्स अणगारस्स-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

नवरं तओ दत्तिओ भोगणस्स पडिगाहेत्तए तओ पाणगस्स ।^१

—दसा. द. ७, सु. २७

चउमासिया भिक्षु पडिमा—

६०१. चउ मासियं भिक्षुपडिमं पडिवसस्स अणगारस्स-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

णवरं चत्तारि दत्तिओ भोगणस्स पडिगाहेत्तए चत्तारि पाणगस्स ।

—दसा. द. ७, सु. २८

पंचमासिया भिक्षुपडिमा—

६०२. पंच मासियं भिक्षु-पडिमं पडिवसस्स अणगारस्स जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

णवरं पंच दत्तिओ भोगणस्स पडिगाहेत्तए पंच पाणगस्स ।^२

—दसा. द. ७, सु. २९

छः मासिया भिक्षुपडिमा—

६०३. छः मासियं भिक्षु-पडिमं पडिवसस्स अणगारस्स-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

१ ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८८

२ ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४२४

सरदी और गरमी सहन करने का विधान—

५६७. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अणगार को—“यहाँ शीत अधिक है” ऐसा सोचकर छाया से धूप में तथा “यहाँ गर्मी अधिक है” ऐसा सोचकर धूप से छाया में जाना नहीं कल्पता है ।

किन्तु जब जहाँ जैसा हो वहाँ वैसे ही सहन करना चाहिए ।

भिक्षु प्रतिमाओं का सम्यग् आराधन—

५६८. इस प्रकार यह एक मास की भिक्षु प्रतिमा-सूत्र, कल्प और मार्ग के अनुसार यथातथ्य सम्यक् प्रकार कथा से स्पर्श कर, पालन कर, शोधन कर, पूर्ण कर, कीर्तन कर और आराधन कर जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

द्वि मासिकी भिक्षु-प्रतिमा—

५६९. दो मासिकी भिक्षु प्रतिमा प्रतिपक्ष अणगार के—यावत्—वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन दो दत्तियाँ आहार की ओर दो दत्तियाँ पानी की ग्रहण करना कल्पता है ।

त्रि मासिकी भिक्षु-प्रतिमा—

६००. तीन मास की भिक्षु प्रतिमा प्रतिपक्ष अणगार के—यावत्—वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन तीन दत्तियाँ भोजन की ओर तीन दत्तियाँ पानी की ग्रहण करना कल्पता है ।

चातुर्मासिकी भिक्षु-प्रतिमा—

६०१. चार मास की भिक्षु-प्रतिमा प्रतिपक्ष अणगार के—यावत्—वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन चार दत्तियाँ आहार की ओर चार दत्तियाँ पानी की ग्रहण करना कल्पता है ।

पंचमासिकी भिक्षु-प्रतिमा—

६०२. पाँच मास की भिक्षु प्रतिमा प्रतिपक्ष अणगार के—यावत्—वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की पाँच दत्तियाँ और पानी की पाँच दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है ।

षण्मासिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०३. छः मास की भिक्षु प्रतिमा प्रतिपक्ष अणगार के—यावत्—वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

नवरं छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए छ पाणगस्स ।

—दसा. द. ७, सु. ३०

सप्तमासिकी भिक्षुपडिमा—

६०४. सप्त मासियं भिक्षु पडिमं पडिवस्स अणगारस्स-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

नवरं सप्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए सप्त पाणगस्स ।

—दसा. द. ७, सु. ३१

पढमा सत्तराईदिया भिक्षु पडिमा—

६०५. पढमं सत्त-राईदियं भिक्षु-पडिमं पडिवस्स अणगारस्स-जाव-अहियासेज्जा ।

कप्पइ से चउत्थेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा-जाव-रायहाणिए वा उत्ताणस्स वा, पासित्तगस्स वा, नेसिज्जयस्स वा, ठाणं ठाइत्तए ।

तत्थ से दिव्व-साणुस्स-तिरिक्खजोणिया उवसग्गा समुप्प-ज्जेज्जा, ते णं उवसग्गा पयलेज्ज वा, पयलेज्ज वा, णो से कप्पइ पावत्तित्तए वा पवडित्तए वा ।

तत्थ णं उच्चार-पासवणेणं उव्वाहिज्जा, णो से कप्पइ उच्चार-पासवणं उगिण्हित्तए वा, णिगिण्हित्तए वा, कप्पइ से पुब्ब-पडिलेहिंसि अडित्तसि उच्चार-पासवणं भरिट्ठित्तए, अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए ।

एवं खलु एसा पढमा सत्त-राईदिया भिक्षु-पडिमा अहासुयं-जाव-अणुपालित्ता भवइ ।

—दसा. द. ७, सु. ३२

दोच्चा सत्तराईदिया भिक्षुपडिमा—

६०६. एवं दोच्चा सत्त-राईदिया त्रि ।

नवरं दंडाइयस्स वा, लगडसाइस्स वा, उक्कुडुयस्स वा, ठाणं ठाइत्तए, सेसं तं जेव-जाव-अणुपालित्ता भवइ ।

—दसा. द. ७, सु. ३३

तच्चा सत्तराईदिया भिक्षुपडिमा—

६०७. एवं तच्चा सत्त-राईदिया त्रि ।

नवरं-गोदीहियाए वा, बीरासणीयस्स वा, अंबलुज्जस्स वा, ठाणं ठाइत्तए । सेसं तं जेव-जाव-अणुपालित्ता भवइ ।

—दसा. द. ७, सु. ३४

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की छः दत्तियां और पानी की छः दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है ।

सप्तमासिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०४. सात मास की भिक्षु प्रतिमा प्रतिपक्ष अणगार के—यावत्—वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की सात दत्तियां और पानी की सात दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है ।

प्रथम सप्त अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०५. प्रथम सात दिन रात की भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार—यावत्—भारीरिक सामर्थ्य से सहन करे ।

उसे निर्जल उपवास करके ग्राम—यावत्—राजधानी के बाहर उत्तानासन, पार्श्वसन या निषद्यासन से कायोत्सर्ग करके स्थित रहना चाहिए ।

वहाँ यदि देव, मनुष्य या तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग हों और वे उपसर्ग उस अनगार को ध्यान से विचलित करें या पतित करें तो उसे विचलित होना या पतित होना नहीं कल्पता है ।

यदि मल-मूत्र की बाधा हो जाय तो उसे धारण करना या रोकना नहीं कल्पता है, किन्तु पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र त्यागना कल्पता है । पुनः यथाविधि अपने स्थान पर आकर उसे कायोत्सर्ग करना कल्पता है ।

इस प्रकार यह प्रथम सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा यथा सूत्र—यावत्—जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

द्वितीय सप्त अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०६. इसी प्रकार दूसरी सात दिन-रात की भिक्षु प्रतिमा का भी वर्णन है ।

विशेष यह है कि इस प्रतिमा के आराधन-काल में दण्डासन, लकुटासन और उत्कुट्टासन से स्थित रहना चाहिए । शेष वर्णन पूर्ववत्—यावत्—जिनाज्ञा के अनुसार यह प्रतिमा की जाती है ।

तृतीय सप्त अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०७. इसी प्रकार तीसरी सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा का भी वर्णन है ।

विशेष यह है कि इस प्रतिमा के आराधन-काल में गोदीह-निकासन, बीरासन और आम्बकुब्जासन से स्थित रहना चाहिए । शेष पूर्ववत्—यावत्—यह प्रतिमा जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

अहोरात्रिका भिक्षु पडिमा—

६०८. एवं आहोरात्र्यावि ।

नवरं-छट्ठेणभत्तेण अपाणएणं अहिया गामस्स वा-जाव-राय-
हाणिस्स वा ईसि पम्भारगएणं काएणं दो वि पाए साहदु
वाघारिय-पाणिस्स ठाणं ठाइत्तए । सेसं तं नेव-जाव-अणु-
पालित्ता भवइ । —दसा. द. ७, सु. ३५

एगाराइया भिक्षु पडिमा -

६०९. एग-राइयं भिक्षु-पडिमं पडिबत्तस्स अणगारस्स-जान-अहि-
यासेज्जा ।

कप्पइ से अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं अहिया गामस्स वा-जाव-
रायहाणिस्स वा ईसि पम्भारगएणं काएणं एग पोगलट्ठिताए
विट्ठोए अणिमिसनयणेहि अहापणिहिणेहि गुसेहि सविविण्हि
पुत्तेहि दो वि पाए साहदु वाघारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए ।

तत्थ से दिक्ख-माणुस्स-तिरिक्खजोणिया उवसग्गा समुप्प-
ज्जेज्जा ते णं उवसग्गा पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा नो से
कप्पइ पयलित्तए वा पवडित्तए वा ।

तत्थ णं उच्चार-पासवणेणं उव्वाहिज्जा, नो से कप्पइ
उच्चार-पासवणं उगिण्हित्तए वा णिगिण्हित्तए वा । कप्पइ
से पुक्कपडिलेहियंसि थंडिलंसि-उच्चारपासवणं परिट्टवित्तए ।
अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए ।

एगाराइयं भिक्षु-पडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स
इमे तओ ठाणा अहियाए, असुभाए, अक्खमाए, अणित्तेसाए,
अणुगामियत्ताए भवन्ति तं जहा—

१. उम्मायं वा लभेज्जा,
२. बीहकालिगं वा रोगायकं पाउणिज्जा,
३. केवलि-वणत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा ।

एग-राइयं भिक्षु-पडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स
इमे तओ ठाणा हियाए, सुहाए, लमाए, निस्सेसाए, अणुग-
मियत्ताए भवन्ति, तं जहा—

१. ओहिनाणे वा से समुप्पज्जेज्जा,
२. मण-पज्जवनाणे वा से समुप्पज्जेज्जा,
३. केवल-नाणो वा से असमुप्पन्नपुत्थे समुप्पज्जेज्जा ।

एवं खलु एगाराइयं भिक्षु-पडिमं, अहासुत्तं, अहाकप्पं,
अहासग्गं, अहातप्पं, सम्मं काएणं फासित्तए, पालित्ता,

अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०८. इसी प्रकार अहोरात्रिकी प्रतिमा का भी वर्णन है ।

विशेष यह है कि निर्जल षष्ठ भक्त करके ग्राम—यावत्—
राजधानी के बाहर शरीर को थोड़ा सा सुकाकर दोनों पैरों को
संकुचित कर और दोनों भुजाओं को जानु पर्यन्त लम्बी करके
कायोत्सर्ग करना चाहिए । शेष पूर्ववत् —यावत्—यह प्रतिमा
जिनाजा के अनुसार पालन की जाती है ।

एक रात्रिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०९. एक रात्रिकी भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार—यावत्—
शारीरिक क्षमता से उन्हें सहन करे ।

उसे निर्जल षष्ठ भक्त करके ग्राम—यावत्—राजधानी
के बाहर शरीर को थोड़ा सा भागे की ओर सुकाकर, एक
पदार्थ पर दृष्टि स्थिर रखते हुए अनिश्चय नेत्रों से और निश्चल
अंगों से सर्व इन्द्रियों को गुप्त रखते हुए दोनों पैरों को संकुचित
कर एवं दोनों भुजाओं को जानुपर्यन्त लम्बी करके कायोत्सर्ग से
स्थित रहना चाहिये ।

वहाँ यदि देव, मनुष्य या तिर्यच गम्बन्धी उपसर्ग हों और
वे उपसर्ग उस अनगार को ध्यान से विचलित करें या पतित
करें तो उसे विचलित होना या पतित होना नहीं कल्पना है ।

यदि मल मूत्र की बाधा हो जाय तो उसे रोकना नहीं
कल्पता है, किन्तु पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर मल मूत्र त्यागना
कल्पता है । पुनः यथाविधि अपने स्थान पर आकर उसे कायो-
त्सर्ग करना कल्पता है ।

एक रात्रिकी भिक्षु प्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन न
करने पर अनगार के लिए ये तीन स्थान अहितकर, अशुभ,
असामर्थ्यकर, अकल्याणकर एवं दुःखद भविष्य वाले होते हैं ।

- यथा—(१) उन्माद की प्राप्ति,
(२) चिरकालिक रोग एवं आतंक की प्राप्ति,
(३) केवली प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट होगा ।

एक रात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन
करने वाले अनगार के लिए ये तीन स्थान हितकर, शुभ, सामर्थ्य-
कर, कल्याणकर एवं सुखद भविष्य वाले होते हैं ।

- यथा—(१) अवधिज्ञान की उत्पत्ति,
(२) मनःपर्यवज्ञान की उत्पत्ति,
(३) अनुत्पन्न केवलज्ञान की उत्पत्ति ।

इस प्रकार यह एक रात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा यथासूत्र, यथा-
कल्प, यथामार्ग और यथान्ध्या रूप से सम्यक् प्रकार काया से

सोहिता, तीरिता, किट्टिता, आराहिता, आणाए अणुपा-
लिता या वि भवति^१ । — दसा. द. ७, सु. ३६-३६

पडिमाग्रहणेणं विमुक्ति—

६१०. पिण्डोग्रहणमासु, भयङ्गानेषु सत्तसु ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मण्डले ॥

—उत्त. अ. ३१, गा. ६

उवासमाणं पडिमासु, भिक्खूणं पडिमासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मण्डले ॥

—उत्त. अ. ३१, गा. ११

स्पर्श कर, पालन कर, शोधन कर, पूर्ण कर, कीर्तन कर और
आराधन कर जिनाजा के अनुसार पालन की जाती है ।

प्रतिमा ग्रहण करने से मुक्ति—

६१०. जो भिक्षु आहार-ग्रहण की सात प्रतिमाओं में और सात
भयस्थानों में सदा यत्न करता है वह संसार में नहीं रहता है ।

जो भिक्षु उपासकों की ग्यारह प्रतिमाओं तथा भिक्षुओं
की बारह प्रतिमाओं में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं
रहता ।



एषणा प्रतिमाएँ—८ (३)

सप्त आहारेण पडिमाओ—

६११. ऋच्चेयाई आयतणाई उवातिकम्म अह भिक्खु जाणेज्जा-
सप्त पिडेसणाओ^२

१. तत्थ खलु इमा पडमा पिडेसणा—असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे
मत्ते ।

तहप्पगारेण असंसट्ठेण हत्थेण वा, मत्तएण वा, असणं वा,
खाइमं वा, साइमं वा, सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से
वेज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । पडमा पिडेसणा ।

२. अहावरा बोच्चा पिडेसणा—संसट्ठे हत्थे, संसट्ठे मत्ते ।

तहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा, मत्तएण वा, असणं वा,
खाइमं वा, साइमं वा सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से
वेज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । बोच्चा पिडेसणा ।

३. अहावरा तच्चा पिडेसणा—इह खलु पाईणं वा-जात्र-उदीणं
वा, संतेणतिया सइवा भवति-गाहावती वा-जाव-कम्मकरो
वा ।

तेसि च णं अणतरेसु विरुक्खवेसु भायणजायेसु उवणिरिखत्त-
पुव्वे सिया । तं जहा—

आहार लेने की सात प्रतिमाएँ—

६११. पूर्वोक्त (पिडेपणा वर्णित) दोषों को छोड़ता हुआ भिक्षु,
ये सात पिडेपणाएँ (आहार की प्रतिमाएँ) जगें ।

(१) उन में से पहली पिडेपणा यह है कि 'असंसृष्ट हाथ
और असंसृष्ट पात्र' ।

यदि दाता का हाथ और वर्तन किसी भी वस्तु से अलिप्त
हो तो अशन, खाद्य, स्वाद्य, आहार की स्वयं याचना करे अथवा
गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत् ग्रहण कर ले । यह
पहली पिडेपणा है ।

(२) इसके बाद दूसरी पिडेपणा यह है कि 'संसृष्ट हाथ
और संसृष्ट पात्र' ।

यदि दाता का हाथ और वर्तन किसी वस्तु से लिप्त है तो
उससे वह अशन, खाद्य, स्वाद्य आहार की स्वयं याचना करे
अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत् ग्रहण कर
ले । यह दूसरी पिडेपणा है ।

(३) इनके बाद तीसरी पिडेपणा यह है कि इस क्षेत्र में
पूर्व—यावत्—उत्तर दिशा में कई श्रद्धालु व्यक्ति रहते हैं, जैसे
कि गृहपति—यावत्—नीकरानियाँ ।

उनके यहाँ अनेक प्रकार के वर्तनों में पहले से भोजन रखा
हुआ है । जैसे कि—

१ ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८८ ।

२ ठाणं. अ. ७, सु. ५४५ ।

धालंसि वा, पिडरगंसि वा, सरगंसि वा, परगंसि वा, वरगंसि वा ।

अह पुणेशं जाणेज्जा—असंसद्वे हत्ये संसद्वे मत्ते, संसद्वे वा हत्ये, असंसद्वे मत्ते । से य पडिग्गहारी सिया, पाणि-पडिग्गहा वा, से पुब्बामेव आलोएज्जा ।

“आउसो ! ति वा भणिणि ! ति वा, एतेण तुमं असंसद्वेण हत्येण, संसद्वेण मत्तेण, संसद्वेण वा हत्येण, असंसद्वेण मत्तेण अस्सि खलु पडिग्गहंसि वा, पाणिसि वा निहदु ओवित्तु दलयाहि ।

तहप्पगारं भोयणजातं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से वेज्जा । फासुर्यं-जाव-पडिगाहेज्जा । तच्छा पिडेसणा ।

४. अहावरा चउत्था पिडेसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे सेउजं पुणं जाणेज्जा-पिहुयं वा, बहुरयं वा, भुज्जियं वा, मयं वा, चाउलं वा, चाउलपलं वा,

अस्सि खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छकम्मे अप्पे पज्जवजाते ।

तहप्पगारं पिहुयं वा-जाव-चाउलपलं वा सयं वा णं जाएज्जा परो वा से वेज्जा फासुर्यं-जाव-पडिगाहेज्जा ।

चउत्था पिडेसणा ।

५. अहावरा पंचमा पिडेसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे उगगहियमेव भोयणजातं जाणेज्जा । तं जहा—

सरावंसि वा, डिडिमंसि वा, कोसगंसि वा ।

अह पुणेशं जाणेज्जा—बहुपरियावण्णे पाणीसु वगलेवे ।

तहप्पगारं असणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, सयं वा णं जाएज्जा परो वा से वेज्जा, फासुर्यं-जाव-पडिगाहेज्जा । पंचमा पिडेसणा ।

६. अहावरा छट्ठा पिडेसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे पग्गहियमेव भोयणजातं जाणेज्जा जं च सयद्वुए पग्गहितं, च परद्वुए पग्गहितं,

तं पायपरियावणं तं पाणिपरियावणं असणं वा, खाइमं वा, साइमं वा सयं वा णं जाएज्जा परो वा से वेज्जा फासुर्यं-जाव-पडिगाहेज्जा । छट्ठा पिडेसणा ।

धाली में, तपेली में, सूप में, छबड़ी में तथा बहुमूल्य पात्र में,

उस समय साधु यह जाने कि—गृहस्थ का हाथ अलिप्त है किन्तु वर्तन लिप्त है अथवा हाथ लिप्त है, वर्तन अलिप्त है, तब वह पात्रधारी या कर-पात्री साधु पहले ही उसे कहे—

“हे आयुष्मन् गृहस्थ ! या आयुष्मती बहन ! तुम इस असंसृष्ट हाथ और संसृष्ट वर्तन से अथवा संसृष्ट हाथ और असंसृष्ट वर्तन से लेकर इस पात्र में या हाथ में झुकाकर दो ।”

उस प्रकार के भोजन की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले । यह तीसरी पिडेसणा है ।

(४) इसके बाद चौथी पिडेसणा इस प्रकार है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि गृहस्थ के यहाँ अग्नि से सिके हुए या पूर्ण किये हुए अवित्त गेहूँ आदि के सिद्धे, ज्वार, जौ आदि के सिद्धे तथा चावल या उसके टुकड़े हैं ।

जिनके ग्रहण करने पर पात्र के लेप नहीं लगता है और न ही तुष आदि परठने पड़ते हैं ।

इस प्रकार के धान्य के सिद्धे—यावत्—भग्न शालि आदि अवित्त पदार्थ की साधु स्वयं याचना कर ले अथवा गृहस्थ दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले ।

यह चौथी पिडेसणा है ।

(५) इसके बाद पाँचवीं पिडेसणा इस प्रकार है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि गृहस्थ के यहाँ अपने खाने के लिए किसी वर्तन में भोजन ले रखा है । जैसे कि—

सकोरे में, कांसे के वर्तन में या मिट्टी के किसी वर्तन में ।

फिर यह भी जान जाये कि उसके हाथ कच्चे पानी से लिप्त नहीं हैं पूर्ण सूख गये हैं ।

उस प्रकार के अशन, खाद्य, स्वाद्य आहार की साधु स्वयं याचना कर ले या गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले । यह पाँचवीं पिडेसणा है ।

(६) इसके बाद छठी पिडेसणा इस प्रकार है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि गृहस्थ ने अपने लिए या दूसरे के लिए वर्तन आदि में या हाथ में भोजन ग्रहण किया है ।

ऐसा वह गृहस्थ के पात्र में या हाथ में रहा हुआ अशन, खाद्य, स्वाद्य साधु स्वयं याचना कर ले या गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले । यह छठी पिडेसणा है ।

७. अहावरा सत्तमा पिडेसणा—से भिक्खु वा-जाव-समाणे उज्झित-धम्मिय भोयणजायं जाणेज्जा,

जं चण्णे बह्वे कुपय-वउपय-समण-माहण-अतिहि-किवण-चणीमगा पावकंखंति ।

तहप्पगारं उज्झित-धम्मियं भोयणजायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से ेज्जा फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । सत्तमा पिडेसणा । —आ. सु. २, अ. १, उ. ११, सु. ४०६

सत्त-पाणेसण पडिमाओ—

६१२. इच्छेयाहं आयतणाहं उवातिकम्म अह भिक्खु जाणेज्जा-सत्त पाणेसणाओ^१—

१. तत्थ खलु इमा पढमा पाणेसणा—असंसद्वे हत्थे, असंसद्वे मत्ते ।

तहप्पगारेणं असंसद्वेण हत्थेण वा, असंसद्वेण मत्तेण वा पाणगजायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । पढमा पाणेसणा ।

२. अहावरा बोच्चा पाणेसणा—संसद्वे हत्थे, संसद्वे मत्ते ।

तहप्पगारेण असंसद्वेण हत्थेण वा असंसद्वेण मत्तेण वा, पाणगजायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । बोच्चा पाणेसणा ।

३. अहावरा तच्चा पाणेसणा—इह खलु पाईणं वा-जाव-उदीणं वा संतेगतिथा सड्ढा भवन्ति गाहावती वा-जाव-कम्मकरी वा ।

तेसिं च ण अणतरेसु विरुव रुवेसु भायणजायेसु उवणिक्खित्त-पुव्वे सिया, तं जहा—

थालंसि वा, पिडरगंसि वा, सरगंसि वा, परगंसि वा, वरगंसि वा ।

अह पुणेवं जाणेज्जा—असंसद्वे हत्थे-संसद्वे मत्ते, संसद्वे वा हत्थे असंसद्वे मत्ते । से थ पडिगाहधारी सिया पाणिपडिग-हए वा, से पुक्खामेव आलोएज्जा ।

“आउसो ! ति वा, भगिणी ! ति वा एतेण पुमं असंसद्वेण हत्थेण, संसद्वेण मत्तेण, संसद्वेण वा हत्थेण, असंसद्वेण मत्तेण, अस्सि खलु पडिगहंसि वा पाणिसि वा णिहट्ठ ओवित्तु वलपाहि । तहप्पगारं पाणगजायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । तच्चा पाणेसणा ।

(७) इसके बाद सातवीं पिडेसणा इस प्रकार है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि गृहस्थ के फेंकने योग्य आहार है ।

जिसे अन्य बहुत से द्विपद-चतुष्पद-श्रमण-ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्रो, और भिखारी लोग नहीं चाहते,

ऐसे फेंकने योग्य भोजन की स्वयं याचना करे अथवा वह गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले । यह सातवीं पिडेसणा है ।

पानी लेने की सात प्रतिमायें—

६१२. पूर्वोक्त (पाणैषणा वर्णित) दोनों को छोड़ता हुआ भिक्षु ये सात पाणैषणाएँ (पानी की प्रतिमा) जानें—

(१) इनमें से प्रथम पाणैषणा यह है कि—असंसृष्ट हाथ और असंसृष्ट पात्र ।

यदि दाता का हाथ और बर्तन किसी वस्तु से अलिप्त हो तो उससे पानी की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले । यह प्रथम पाणैषणा है ।

(२) इसके बाद दूसरी पाणैषणा यह है—संसृष्ट हाथ और संसृष्ट पात्र ।

यदि दाता का हाथ और बर्तन अचित्त वस्तु से लिप्त है तो उससे पानी की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले । यह द्वितीय पाणैषणा है ।

(३) इसके बाद तीसरी पाणैषणा यह है—इस क्षेत्र में पूर्व—यावत्—उत्तर दिशा में कई श्रद्धालु व्यक्ति रहते हैं, जैसे कि वे गृहपति—यावत्—नौकरानियाँ ।

उनके यहाँ अनेक प्रकार के बर्तनों में पहले से पानी रखा हुआ है, जैसे—

थाली में, तपेली में, सूप में, छत्रड़ी में, बट्टमूल्य पात्र में ।

उम समय साधु यह जाने कि—गृहस्थ का हाथ अलिप्त है किन्तु बर्तन लिप्त है अथवा हाथ लिप्त है और बर्तन अलिप्त है, तब वह पात्रधारी या कर-पात्री साधु पहले ही उसे कहे—

“हे आयुष्मन् गृहस्थ ! या गृहस्वामिनी ! तुम इस असंसृष्ट हाथ और संसृष्ट बर्तन से अथवा संसृष्ट हाथ और असंसृष्ट बर्तन से लेकर इस पात्र में या हाथ में पानी दो, इस प्रकार के पानी की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले ।

यह तीसरी पाणैषणा है ।

४ अहावरा चउत्था पाणसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे से उज्जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा । तं जहा—
तिलोदगं वा, तुसोदगं वा, जवोदगं वा, आयामं वा, सोवीरं वा, सुद्धवियडं वा ।

अस्सि खलु पडिगहियंसि अप्पे पळ्ळाकस्से, अप्पे पज्जव-जाए ।

तहप्पगारं तिलोदगं वा-जाव-सुद्धवियडं वा सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से वेज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । चउत्था पाणसणा ।

५. अहावरा पंचमा पाणसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे उग्गहियमेव पाणगजायं जाणेज्जा । तं जहा—

सरायंसि वा, डिडिमंसि वा, कोसगंसि वा ।
अह पुणेवं जाणेज्जा-बहुएरियावण्णे पाणीसु वगलेवे ।

तहप्पगारं पाणगजायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से वेज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । पंचमा पाणसणा ।

६. अहावरा छट्ठा पाणसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे पग्गहियमेव पाणगजायं जाणेज्जा-जं च सयट्ठाए पग्गहितं जं च परट्ठाए पग्गहितं ।

तं पायपरियावणं तं पाणिपरियावणं पाणगजायं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से वेज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । छट्ठा पाणसणा ।

७. अहावरा सत्तमा पाणसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे उज्जित धम्मियं पाणगजायं जाणेज्जा ।

जं चऽण्णे बहुवे दुपय-चउप्पय-समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा जावकंखंति ।

तहप्पगारं उज्जितधम्मियं पाणगजायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से वेज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । सत्तमा पाणसणा । —आ. सु. २, अ. १, उ. ११, सु. ४०६

पडिमा धारगस्स वयणं विवेको—

६१२. इच्छेयासि सत्तहं पिडेसणाणं, सत्तहं पाणसणाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे णो एवं वेवेज्जा—“सिच्छा पडिवण्णा खलु एते सयंतारो, अहमेमे सम्मं पडिवण्णे”

(४) इसके बाद चौथी पाणैषणा यह है । वह भिक्षु-यावत्-प्रवेश करने पर यह जाने कि—

यहाँ तिल का धोवन, तुष का धोवन, जो का धोवन, चावल आदि का ओसामण, कांजी का पानी या शुद्ध अचित्त शीतल जल है ।

इनमें से किसी प्रकार का पानी ग्रहण करने पर पात्र के अन्न आदि का लेप नहीं लगता है तथा कुछ भी फेंकना नहीं पड़ता है ।

ऐसे तिल का धोवन—यावत्—शुद्ध अचित्त शीतल जल की स्वयं याचना करे या गृहस्थ दे उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले । यह चौथी पाणैषणा है ।

(५) इसके बाद पाँचवीं पाणैषणा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि—यहाँ किसी बर्तन में पानी रक्ता हुआ है, यथा—

सकोरे में, कांसे के बर्तन में या मिट्टी के बर्तन में ।

फिर यह भी जान जाए कि पानी देने वाले के हाथ सचित्त पानी से अलिप्त हो गये हैं, पूर्ण सूख गये हैं ।

उस प्रकार के पानी की स्वयं याचना करे या वह गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले । यह पाँचवीं पाणैषणा है ।

(६) इसके बाद छठी पाणैषणा यह है—वह भिक्षु-यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि गृहस्थ ने अपने लिए या दूसरे के लिए पानी निकाला है ।

ऐसा वह गृहस्थ के पात्र में व हाथ में रक्ता हुआ पानी साधु स्वयं याचना करे अथवा वह गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले । यह छठी पाणैषणा है ।

(७) इसके बाद सातवीं पाणैषणा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि—

गृहस्थ के फेंकने योग्य पानी है जिसे अन्य बहुत से डिण्ड-चतुष्पद-श्रमण-ब्राह्मण, अतियि, दरिद्री और भिखारी लोग नहीं चाहते,

ऐसे फेंकने योग्य पानी की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले । यह सातवीं पाणैषणा है ।

प्रतिमा धारण करने वाले का वचन विवेक—

६१३. इन सात पिडेपणाओं और सात पाणैषणाओं में से किसी एक प्रतिमा को स्वीकार करने वाला भिक्षु इस प्रकार अवहेतना करता हुआ न कहे कि—“इन साधु भगवन्तों ने असम्यक् प्रतिमाएँ स्वीकार की हैं, एक मात्र मैंने ही सम्यक् प्रतिमा स्वीकार की है ।”

“जे एते सयंतारो एताओ पडिमाओ पडिबज्जित्तणं विहरंति,
जे य अहमंसि एयं पडिमं पडिबज्जित्तणं विहरामि, सच्चैवि
ते उ जिणाणाए उवट्ठिता अण्णोणसमाहीए, एवं च णं
विहरंति । —आ. सु. २, अ. १, उ. ११, सु. ४१०

चत्तारि संधारेण पडिमाओ—

६१४. इच्छेयाहं आयतणाहं उपातिकम्म अहं भिक्खू जाणेज्जा-
इमाहिं चउहिं पडिमाहिं संधारणं एसित्तए^१ ।

१. तत्थ खलु इमा पडिमा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी
वा उट्ठिसिय उट्ठिसिय संधारणं जाएज्जा, तं जहा—

१. इक्कडं वा,	२. कट्ठिणं वा,
३. अंतुयं वा,	४. परणं वा,
५. मोरणं वा,	६. तणं वा,
७. कुसं वा,	
८. कुच्चणं वा,	

९. पिप्पलगं वा, १०. पलालगं वा ।

से पुग्गामेव आलोएज्जा—“आउसो ! ति वा, भगिणी ! ति
वा, दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं संधारणं ?”

तहण्णारं संधारणं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा,
फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । पडिमा पडिमा ।

२. अहावरा वोच्चा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा
पेहाए संधारणं जाएज्जा । तं जहा—

माहावर्ति वा-जाव-कम्मकरि वा ।

से पुग्गामेव आलोएज्जा—“आउसो ! ति वा भगिणि ! ति
वा दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं संधारणं ।”

तहण्णारं संधारणं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा,
फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । वोच्चा पडिमा ।

३. अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा
जस्सुवस्सए संवसेज्जा जे तत्थ अहासमण्णागतं, तं जहा—

इक्कडं वा-जाव-पलाले वा,
तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुट्टुए वा पेसज्जिए
वा विहरेज्जा । तच्चा पडिमा ।

अपितु वह इस प्रकार कहे—“जो ये साधु भगवन्त इन
प्रतिमाओं को स्वीकार करके विचरण करते हैं और जो मैं इस
प्रतिमा को स्वीकार करके विचरण करता हूँ, ये हम सभी अपनी
अपनी शक्ति संपाधि के अनुसार जिनाजा में उद्यत होकर इस
प्रकार विचरण करते हैं ।

संस्तारक लेने की चार प्रतिमाएँ -

६१४. पूर्वोक्त (शव्येषणा में वर्णित) दोषों को छोड़कर भिक्षु इन
चार प्रतिमाओं से संस्तारक की एषणा करे ।

१. इनमें से पहली प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी
नामोल्लेख कर-करके संस्तारक की याचना करे, जैसे—

१. इक्कड नामक तृण से निष्पन्न,	२. बाँस की चटाई,
३. जन्तुक नामक तृण से निष्पन्न,	४. फूल गूंथने का तृण,
५. मोर की पाँखों से निष्पन्न,	६. सामान्य तृण,
७. कुश (दोब) से निष्पन्न,	
८. कूर्बक तृण से निष्पन्न (जिससे पुताई करने की कुंकी बनती है) ।	

९. पीपल के काष्ठ से निष्पन्न, १०. पराल शालि का तृण ।
साधु पहले से ही इस प्रकार कहे—“हे आयुष्मन् गृहस्थ या
बहू ! क्या तुम मुझे इन संस्तारकों में से अमुक संस्तारक दोगे ?”

इस प्रकार संस्तारक की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे
तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करले । यह प्रथम
प्रतिमा है ।

२. इसके बाद दूसरी प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी
गृहस्थ के मकान में सामने रखे दिखते हुए संस्तारक को देखकर
उसकी याचना करे । यथा—

गृहपति—यावत्—नौकरानियाँ,
उनसे पहले ही इस प्रकार कहे कि—“हे आयुष्मन् गृहस्थ !
या बहिन ! तुम मुझे इन संस्तारकों में से अमुक संस्तारक दोगे ?”
इस प्रकार के संस्तारक की स्वयं याचना करे या गृहस्थ दे
तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करले । यह द्वितीय
प्रतिमा है ।

३. इसके बाद तीसरी प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी
जिस उपाश्रय में निवास करे उसी उपाश्रय में जो संस्तारक
विद्यमान हों । यथा—

इक्कड—यावत्—पराल ।
इसके प्राप्त होने पर आज्ञा लेकर शयन करे । न प्राप्त होने
पर उत्कटकासन या निषद्यासन आदि आसनों से बैठकर रात्रि
व्यतीत करे । यह तीसरी प्रतिमा है ।

४. अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्षू वा भिक्षुणी वा अहासंयडमेव संधारणं जाएज्जा । तं जहा—

पुढविसित्तं वा, कट्टसित्तं वा अहासंयडमेव वा संधारणं,

तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा बिहरेज्जा । चउत्था पडिमा ।

इच्चेमाणं चउण्हं पडिमाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे जाव-अण्णोणसमाहीए एवं च णं बिहरंति ।

—आ. सु. २, अ. २, उ. ३, सु. ४५६-४५७

वस्तारि वत्येसण पडिमाओ—

६१५ इच्चेमाइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्षू जाणेज्जा—
इमाहि चउहि पडिमाहि वत्थं एसित्तए ।

१. तत्थ खलु इने पडिमा पडिमा—से भिक्षू वा भिक्षुणी वा उद्दिसिय उद्दिसिय वत्थं जाएज्जा, तं जहा—

१. जंगियं वा, २. भंगियं वा, ३. साणयं वा,
४. पोत्तगं वा, ५. खोमियं वा, ६. तुलकडं वा ।

तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । पडिमा पडिमा ।

२. अहावरा बोक्खा पडिमा—से भिक्षू वा भिक्षुणी वा पेहाए वत्थं जाएज्जा तं जहा— गाहावति वा-जाव-कम्मकरि वा, से पुक्खाभेव आलोएज्जा—“आउसो ति वा भणिणि ! ति वा बाहिसि मे एत्तो अण्णतरं वत्थं, तहप्पगारं वत्थं-सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । बोक्खा पडिमा ।

३. अहावरा तच्छा पडिमा—से भिक्षू वा-जाव-समाणे से उज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा, तं जहा—

अंतरिज्जगं वा उत्तरिज्जगं वा,

तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । तच्छा पडिमा ।

४. अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्षू वा-जाव-समाणे उज्जिय धम्मियं वत्थं जाणेज्जा,

जं चउण्णे बह्वे समण-जाव-वणीमहा जावकंखंति,

४. इसके बाद चौथी प्रतिमा यह है—भिक्षू वा भिक्षुणी उपाश्रय में पहले से ही बिछे हुए संस्तारक की याचना करे । यथा—

पत्थर की शिला, लकड़ी का पाट या बिछा हुआ तृण मय संस्तारक ।

इनके प्राप्त होने पर आज्ञा लेकर उस पर शयन करे । न मिले तो उत्कटकासन या निषद्यासन आदि आसनों से बैठकर रात्रि व्यतीत करे । यह चौथी प्रतिमा है ।

इन चारों प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करने वाला साधु—यावत्—सभी अपनी-अपनी समाधि के अनुसार विचरण करते हैं ।

वस्त्र लेने की चार प्रतिमाएँ—

६१५. पूर्वोक्त (वस्त्राण्णा में वर्णित) दोषों को छोड़कर भिक्षु इन चार प्रतिमाओं से वस्त्र की एषणा करे—

१. इनमें से पहली यह है—भिक्षु वा भिक्षुणी नामोल्लेख कर-करके वस्त्र की याचना करे, जैसे—

१. जांगमिक, २. भांगिक, ३. सानज,
४. पोत्रक, ५. सोमिक, ६. तुलनिमित्त वस्त्र

ऐसे वस्त्र की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ स्वयं दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे । यह प्रथम प्रतिमा है ।

२. उसके बाद दूसरी प्रतिमा यह है—भिक्षु वा भिक्षुणी वस्त्र को पहले ही देखकर गृहस्थामी—यावत्—नीकरानी आदि से इस प्रकार कहे—“हे आयुष्मन् गृहस्थ ! या बहन् ! क्या तुम इन वस्त्रों में से कोई वस्त्र मुझे दोगे ?”

इस प्रकार स्वयं वस्त्र की या ना करे अथवा वह गृहस्थ दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे । यह दूसरी प्रतिमा है ।

३. इसके बाद तीसरी प्रतिमा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर वस्त्र के सम्बन्ध में यह जाने—जैसे कि—

नीचे के भाग में पहना हुआ वस्त्र या ऊपर के भाग में पहना हुआ वस्त्र ।

ऐसे वस्त्र की स्वयं याचना करे या गृहस्थ स्वयं दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे । यह तीसरी प्रतिमा है ।

४. इसके बाद चौथी प्रतिमा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि गृहस्थ ने वस्त्र को पहन कर छोड़ दिया है ।

जिसे कि बहुत से अन्य श्रमण—यावत्—भिखारी लोग भी लेना न चाहते हों,

तहप्पगारं उज्झियधम्मियं वार्यं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । चउत्था पडिमा ।

इच्चेयासि चउण्हं पडिमाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे जाव-अण्णोणसमाहीए एयं च णं विहरंति ।

—आ. सु. २, अ. ५, उ. १, सु. ५५६-५६०

चत्तारि पत्तेसण पडिमाओ—

६१६. इच्चेयाहं आयतणाहं उवातिकम्म अहं भिक्खू जाणेज्जा—

इमाहि चउहि पडिमाहि पायं एसित्तए^१

१. तत्थ खलु इमा पटमा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा उद्दिसिय-उद्दिसिय पायं जाएज्जा, तं जहा—

१. लाउयपायं वा, २. वारुपायं वा,
३. मट्ठियापायं वा,

तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । पटमा पडिमा ।

२. अहावरा बोव्वा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा पेहाए पायं जाएज्जा तं जहा—

गाहावति वा-जाव-कम्मकरि वा,

से पुग्घामेव आलोएज्जा—“आउसो ! ति वा, सगिणी ! ति वा, वाहिसि से एत्तो अण्णतरं पायं, तं जहा—

लाउयपायं वा-जाव-मट्ठियापायं वा,

तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । दोच्चा पडिमा ।

३. अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खूवा-जाव-समाणे से उजं पुणं पायं जाणेज्जा-संगतियं वा, देजयंतियं वा,

तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । तच्चा पडिमा ।

४. अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे उज्झियधम्मियं पायं जाएज्जा—जं चउण्णे बह्वे सभण-जाव-वणीमभा नायकंखंति,

तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा चउत्था पडिमा ।

इच्चेयासि चउण्हं पडिमाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे जाव-अण्णोण समाहीए एयं च णं विहरंति ।

—आ. सु. २, अ. ६, उ. १, सु. ५६४-५६५

ऐसे छोड़े हुए वस्त्र की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे । यह चौथी प्रतिमा है ।

इन चारों प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करने वाला साधु—यावत्—सभी अपनी-अपनी समाधि के अनुसार विचरण करते हैं ।

पात्र लेने की चार प्रतिमाएँ—

६१६. पूर्वोक्त (वस्त्रोपणा में वर्णित) दोषों का परिहारा करके भिक्षु इन चार प्रतिमाओं से पात्र की एषणा करे—

१. इनमें से पहली प्रतिमा यह है कि—भिक्षु या भिक्षुणी नामोल्लेख पूर्वक प्रतिज्ञा करके पात्र की याचना करे, जैसे—

१. तुम्हे का पात्र, २. लकड़ी का पात्र,
३. मिट्टी का पात्र ।

ऐसे पात्र की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे । यह पहली प्रतिमा है ।

२. इसके बाद दूसरी प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी (सामने दिखते हुए पात्र को लेने की प्रतिज्ञा करके) पार्श्वों को पहले ही देखकर गृहपति—यावत्—कर्मकारिणी आदि से इस प्रकार कहे,

“हे आयुष्मन् गृहस्थ ! या बहन ! क्या मुझे इनमें से अमुक पात्र दोगे ?” जैसे कि—

तुम्हा, काष्ठ या मिट्टी का पात्र,

इस प्रकार के पात्र की स्वयं याचना करे या गृहस्थ स्वयं दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे । यह दूसरी प्रतिमा है ।

३. इसके बाद तीसरी प्रतिमा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर ऐसा पात्र जाने कि वह गृहस्थ के द्वारा उपयोग में लिया जा चुका है या उपयोग में लिया जा रहा है ।

ऐसे पात्र की स्वयं याचना करे अथवा वह गृहस्थ दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे । यह तीसरी प्रतिमा है ।

४. इसके बाद चौथी प्रतिमा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि—गृहस्थ ने पात्र को उपयोग में लेकर छोड़ दिया है । जिसे कि अन्य बहुत से भ्रमण—यावत्—भिक्षारी भी लेना नहीं चाहते,

ऐसे पात्र की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे । यह चौथी प्रतिमा है ।

इन चारों प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करने वाला साधु—यावत्—सभी अपनी-अपनी समाधि के अनुसार विचरण करते हैं ।

चत्वारि ठाणं-काउत्सर्ग पडिमा—

६१७. इच्छेयाहं आयतणाहं उवातिकम्म अहं भिक्षू इच्छेज्जा—
अउहि पडिमाहि ठाणं ठाइत्तए^१

१. तृतीयमा पडिमा पडिमा —“अचित्तं खलु उवसज्जिस्सामि, अवलंबिस्सामि, काएण विपरिकम्मिस्सामि, सवियारं ठाणं ठाइस्सामि ति ।” पडिमा पडिमा ।

२. अहावरा दोच्चा पडिमा - “अचित्तं खलु उवसज्जिस्सामि, अवलंबिस्सामि काएण विपरिकम्मिस्सामि, णो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि ति ।” दोच्चा पडिमा ।

३. अहावरा तच्चा पडिमा— “अचित्तं खलु उवसज्जिस्सामि, अवलंबिस्सामि णो काएण विपरिकम्मिस्सामि, णो सवियारं ठाइस्सामि ति ।” तच्चा पडिमा ।

४. अहावरा चउत्था पडिमा—“अचित्तं खलु उवसज्जिस्सामि, णो अवलंबिस्सामि, णो काएण विपरिकम्मिस्सामि, णो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि, वोसट्ठकाए वोसट्ठकेस-मंमु-रोम णहे संनिरुद्धं वा ठाणं ठाइस्सामि ति ।” चउत्था पडिमा ।

इच्छेयासि अउहं पडिमाणं अण्णत्तरं पडिमं पडिवज्जमाणे
-जाव-अण्णोण-समाहोए एवं च णं विहरंति ।

—आ. सु. २, अ. ८, उ. १, सु. ६३८-६३९

सत्त अवग्रह पडिमाओ—

६१८. इच्छेयाहं आयतणाहं उवातिकम्म अहं भिक्षू जाणेज्जा
इमाहि सत्तहि पडिमाहि उग्गहं ओगिहिहत्तए^२

१. जस्य खलु इमा पडिमा पडिमा—से आगंतारेसु वा-जाव-परिमाधसहेसु वा अण्णोइ उग्गहं जाएज्जा-जाव तेण परं विहरिस्सामो । पडिमा पडिमा ।

२. अहावरा दोच्चा पडिमा—जस्स णं भिक्षुस्स एवं भवति “अहं च खलु अण्णेसि भिक्षूणं अट्ठाए उग्गहं ओगिहिहस्सामि, अण्णेसि भिक्षूणं उग्गहिते उग्गहे उव-ह्तिस्सामि ।” दोच्चा पडिमा ।

१ ठाणं. अ. ४, उ. ३, सु. ३३१

२ ठाणं. अ. ७, सु. ५४५ ।

खड़े रहकर कायोत्सर्ग करने की चार प्रतिमाएँ—

६१७. पूर्वोक्त स्थान सम्बन्धी दोषों को छोड़कर भिक्षु इन चार प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा से कायोत्सर्ग करने की इच्छा करे—

१. उनमें से प्रथम प्रतिमा यह है—“मैं अचित्त मर्यादित स्थान में रहूँगा, दीवार आदि का सहारा लूँगा, हाथ-पैर आदि का संकोचन-प्रसारण करूँगा तथा वहीं पर थोड़ा-सा विचरण करूँगा,” यह प्रथम प्रतिमा है ।

२. इसके बाद दूसरी प्रतिमा यह है—“मैं अचित्त मर्यादित स्थान में रहूँगा, दीवार आदि का सहारा लूँगा, हाथ-पैर आदि का संकोचन प्रसारण करूँगा, किन्तु थोड़ा-सा भी विचरण नहीं करूँगा,” यह दूसरी प्रतिमा है ।

३. इसके बाद तृतीय प्रतिमा यह है—“मैं अचित्त मर्यादित स्थान में रहूँगा, दीवार आदि का सहारा लूँगा, किन्तु हाथ-पैर आदि का संकोचन-प्रसारण नहीं करूँगा तथा भ्रमण भी नहीं करूँगा,” यह तीसरी प्रतिमा है ।

४. इसके बाद चतुर्थ प्रतिमा यह है—“मैं अचित्त स्थान में स्थित रहूँगा । उस समय न तो दीवार आदि का सहारा लूँगा, न हाथ-पैर आदि का संकोचन-प्रसारण करूँगा और न ही भ्रमण करूँगा, अपितु शरीर का समस्त तथा केश, दाढ़ी, मूँछ, रोम और नख आदि के परिकर्म का त्याग कर सम्यक् प्रकार से काया का निरोध कर इस स्थान में कायोत्सर्ग करके स्थित रहूँगा,” यह चौथी प्रतिमा है ।

इन चारों प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करने वाला साधु—यावत्—सभी अपनी-अपनी सभाधि के अनुसार विचरण करते हैं ।

अवग्रह लेने की सात प्रतिमाएँ—

६१८. पूर्वोक्त अवग्रह सम्बन्धी दोषों का परित्याग करके भिक्षु इन सात प्रतिमाओं के अनुसार अवग्रह ग्रहण करे—

१. इनमें से पहली प्रतिमा यह है कि—वह साधु पथिक-शाला—यावत्—परिग्राजकों के आश्रम में सम्यक् विचार करके अवग्रह की याचना करे—यावत्—उसके बाद हम विहार कर देंगे, यह प्रथम प्रतिमा है ।

२. इसके बाद दूसरी प्रतिमा यह है कि—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अभिग्रह होता है कि “मैं अन्य भिक्षुओं के लिए अवग्रह की याचना करूँगा और अन्य भिक्षुओं के द्वारा याचित अवग्रह में निवास करूँगा ।” यह द्वितीय प्रतिमा है ।

३. अहावरा तृतीया पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति “अहं च खलु अण्णेसि भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं ओगिण्हिस्सामि, अण्णेसि च उग्गहिते उग्गहे णो उवल्लिस्सामि।” तच्चा पडिमा।

४. अहावरा चउत्था पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति “अहं च खलु अण्णेसि भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं णो ओगिण्हिस्सामि, अण्णेसि च उग्गहिते उग्गहे उवल्लिस्सामि” जउत्था पडिमा।

५. अहावरा पंचमा पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति “अहं च खलु अण्णेसि भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं णो ओगिण्हिस्सामि, णो दोहं, णो तिण्हं, णो चउत्तं, णो पंचण्हं” पंचमा पडिमा।

६. अहावरा छट्ठा पडिमा। से भिक्खू वा भिक्खूणी वा जस्सेव उग्गहे उवल्लिस्सामि, जे तत्थ अहासमण्णागते। तं जहा—

इक्कड्ढे वा-जाव-परात्ते वा, तस्स लामे संवसेज्जा, तस्स अलामे उक्कुड्ढे वा णेसज्जिण्णे वा विहरेज्जा। छट्ठा पडिमा।

७. अहावरा सत्तमा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा अहासंयड्ढेव उग्गहं जाएज्जा, तं जहा—

पुडविसिलं वा, कट्टु सिलं वा अहासंयड्ढेव वा संयारयं तस्स लामे संवसेज्जा, तस्स अलामे उक्कुड्ढे वा णेसज्जिण्णे वा विहरेज्जा। सत्तमा पडिमा।

इच्चेयासि सत्तण्हं पडिमाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे -जाव-अण्णेण-समाहीए एवं च णं विहरंति।

—आ. सु. २, अ. ७, उ. २, सु. ६३३-६३४

३. इसके बाद तीसरी प्रतिमा यह है कि—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अभिग्रह होता है कि “मैं दूसरे भिक्षुओं के लिए अवग्रह की याचना करूँगा परन्तु अन्य भिक्षुओं के द्वारा याचित स्थान में नहीं ठहरूँगा,” यह तृतीय प्रतिमा है।

४. इसके बाद चतुर्थ प्रतिमा यह है—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अभिग्रह होता है कि “मैं दूसरे भिक्षुओं के लिए अवग्रह की याचना नहीं करूँगा परन्तु अन्य साधु द्वारा याचित स्थान में ठहरूँगा।” यह चतुर्थ प्रतिमा है।

५. इसके बाद पाँचवीं प्रतिमा यह है—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अभिग्रह होता है कि—“मैं अपने लिए ही अवग्रह की याचना करूँगा अन्य दो, तीन, चार, पाँच के लिए नहीं।” यह पाँचवीं प्रतिमा है।

६. इसके बाद छठी प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी जिस अवग्रह की याचना करके ठहरता है उस स्थान में पहले से ही जो शय्यासंस्तारक विद्यमान है। जैसे—

इक्कड्ढ नामक वृण विशेष—यावत्—पराज आदि इनके मिलने पर उनका अवग्रह ग्रहण करके रहे और नहीं मिलने पर उत्कटुकासन या निषाद्यासन आदि आसनों से बैठकर रात्रि व्यतीत करे। यह छठी प्रतिमा है।

७. इसके बाद सातवीं प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी जिस स्थान की अनुज्ञा ने वहाँ यदि पृथ्वी शिला, काष्ठशिला तथा पराल आदि बिछा हुआ प्राप्त हो तो उसका अवग्रह ग्रहण कर वहाँ रहे यदि प्राप्त न हो तो उत्कटुका आसन या निषाद्यासन द्वारा रात्रि व्यतीत करे। यह सातवीं प्रतिमा है।

इन सात प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा की धारण करने वाला साधु—यावत्—सभी अपनी-अपनी समाधि के अनुसार विचरण करते हैं।



दत्ति-पडिमाएँ—८(४)

सत्त-सत्तमिया भिक्खुपडिमा—

६१९. सत्त-सत्तमिया णं भिक्खुपडिमा एगूणपत्ताए राइंविण्हि एगेणं छसज्जणं भिक्खासएणं अहामुत्तं-जाव-आणाए अणु-पालिता भवइ।^१

—ठाणं अ. ७, सु. ५४५

सप्तसप्तमिका भिक्षु प्रतिमा—

६१९. सप्त-सप्तदिवसीय भिक्षु-प्रतिमा (४९) उन्चास अहोरात्र में भिक्षा में प्राप्त हुए आहार की (१९६) एक सौ छियानवे दत्तियों से सूत्रानुसार—यावत्—जिन आज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

१ (क) सम. सम. ४९, सु. १

(ख) वव. उ. ९, सु. ३७

अट्ट-अट्टमिया भिक्षु पडिमा—

६२०. अट्ट-अट्टमिया णं भिक्षु-पडिमा षडसट्ठीए-राइंदिएहिं दोहि
य अट्टासिएहिं भिक्षासएहिं अहासुत्तं-जाव-आणाए अणुपा-
लिता भवइ ।^१ —ठाणं. अ. ८, सु. ६४५

नव-नवमिया भिक्षु पडिमा—

६२१. नव-नवमिया णं भिक्षु-पडिमा एगासीए राइंदिएहिं षडहिं
य पंचुत्तरेहिं भिक्षासएहिं अहासुत्तं-जाव-आणाए अणुपा-
लिता भवइ ।^२ —ठाणं. अ. ९, सु. ६८७

दस-दसमिया भिक्षु पडिमा—

६२२. दस-दसमिया णं भिक्षु-पडिमा एगेणं राइंदिवसएणं अट्ट
छट्ठेहिं य भिक्षासएहिं अहासुत्तं-जाव-आणाए अणुपालिता
भवइ ।^३ —ठाणं. अ. १०, सु. ७७७

द्वविहा चंदपडिमाओ—

६२३. दो पडिमाओ पणत्ताओ । तं जहा —

१. जवमज्झा य चंदपडिमा,

२. वड्ढमज्झा य चंदपडिमा ।^४ —वव. उ. १०, सु. १

जवमज्झा चंदपडिमा—

६२४. जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवसस्स अणगारस्स निच्चं मासं
वोसट्ठकाए त्रियत्तवेहे जे केइ परीसहोवसगा समुप्पज्जेज्जा
विष्वा वा, माणुस्सगा वा, तिरिण्णजोणिया वा, अणुलोमा
वा, पडिलोमा वा,

तत्थ अणुलोमा ताव वंदेज्जा वा, भमंसिज्जा वा, सक्का-
रेज्जा वा, सम्मण्णेज्जा वा, कल्लणं, मंगलं, देवयं, चेद्धं,
फणुवासेज्जा,

पडिलोमा ताव अन्नयरेणं वंझेण वा, अट्ठिणा वा, जोत्तेण
वा, वेस्सेण वा, कसेण वा काए आउट्ठेज्जा, ते सत्थे उप्पन्ने
सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा, तित्तिक्खेज्जा अहियासेज्जा ।

अष्ट-अष्टमिका भिक्षु प्रतिमा—

६२०. अष्ट-अष्टदिवसीय भिक्षु-प्रतिमा (६४) चौंसठ अहोरात्र
में भिक्षा में प्राप्त हुए आहार की (२८८) दो सौ अठ्यासी
दत्तियों से सूत्रानुसार—यावत्—जिनाजा के अनुसार पालन की
जाती है ।

नव-नवमिका भिक्षु प्रतिमा —

६२१. नौ-नौ दिवसीय भिक्षु प्रतिमा (८१) इक्कासी अहोरात्र
में भिक्षा में प्राप्त आहार की (८१) बार सौ पाँच दत्तियों से
सूत्रानुसार—यावत्—जिनाजा के अनुसार पालन की जाती है ।

दश-दशमिका भिक्षु प्रतिमा—

६२२. दश-दश दिवसीय भिक्षु-प्रतिमा (१००) सौ अहोरात्र में
भिक्षा में प्राप्त आहार की (५५०) पाँच सौ पचास दत्तियों में
सूत्रानुसार—यावत्—जिनाजा के अनुसार पालन की जाती है ।

दो प्रकार की चन्द्र प्रतिमाएँ—

६२३. दो प्रतिमायें कही गई हैं, यथा —

(१) यवमध्य चन्द्र प्रतिमा,

(२) वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा ।

यवमध्य चन्द्र प्रतिमा—

६२४. यवमध्य चन्द्रप्रतिमा स्वीकार करने वाला अणगार एक
मास तक शरीर के परिकर्म से तथा शरीर के ममत्व से रहित
होकर रहे और देव, मनुष्य एवं तिर्यचकृत अनुकूल या प्रतिकूल
जितने परीषह एवं उपसर्ग हों,

उनमें अनुकूल परीषह एवं उपसर्ग ये हैं—

कोई वन्दना नमस्कार करे, सत्कार सम्मान करे, कल्याण-
रूप, मंगलरूप, देवरूप और शान्तरूप मानकर धर्मुपासना करे ।

उनमें प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्ग ये हैं—

किसी दण्ड, हड्डी, जोत, बेंत और चाबुक से शरीर पर
प्रहार करे तो वह इन सब अनुकूल प्रतिकूल परीषह एवं उप-
सर्गों को (प्रसन्न या खिन्न न होकर) समभाव से, क्षमा भाव
युक्त, धीरता पूर्वक और शांति से सम्यक् सहन करे ।

१ (क) सम. सम. ६४, सु. १

२ (क) सम. सम. ८१, सु. १

३ (क) सम. सम. १००, सु. १

(ख) वव. उ. ९, सु. ३८

(ख) वव. उ. ९, सु. ३९

(ख) वव. उ. ९, सु. ४०

(ग) सप्तसप्तमिका भिक्षु प्रतिमा में प्रथम सात दिन में आहार की एक-एक दत्ति ग्रहण की जाती है, दूसरे सात दिन में आहार
की दो-दो दत्ति ग्रहण की जाती है, — यावत्—सातवें सात दिनों में आहार की सात-सात दत्तियाँ ग्रहण की जाती हैं ।

अष्ट अष्टमिका भिक्षु प्रतिमा में आठ-आठ दिन से एक-एक दत्ति की वृद्धि की जाती है ।

नवनवमिया भिक्षु प्रतिमा में नव नव दिन से एक-एक दत्ति की वृद्धि की जाती है ।

दशदशमिया भिक्षु प्रतिमा में दस दस दिन से एक-एक दत्ति की वृद्धि की जाती है ।

४ ठाणं. अ. २, उ. ३, सु. ७७

जवमज्जं णं चंदपडिमां पडियसस्स अणगारस्स
सुक्कपक्खस्स पाडियए से कप्पइ एगा वत्ती भोयणस्स पडिगा-
हेत्तए, एगा पाणस्स ।
सम्भेहिं धुप्पय चउप्पयाइएहिं आहारक्खीहिं सत्तेहिं पडिणि-
यत्तेहिं, अन्नायउंठं सुद्धोयहं

निज्जुहिंता बह्वे समण-जाव-अणीमगा ।

कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहेत्तए, नो दोहं, नो
तिहं, नो चउहं, नो पंचहं ।

नो गुम्बिणीए, नो बालवच्छाए, नो वारंगं ऐज्जमाणीए ।

नो अंतो एसुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए, नो बाहिं
एसुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए ।

अह पुण एवं जाणेज्जा एगं पायं अंतो किच्चा, एगं पायं
बाहिं किच्चा एसुयं विक्खम्मइत्ता—

एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एस-
णाए एसमाणे णो लभेज्जा, णो आहारेज्जा ।

विइयाए से कप्पइ दोणि वत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
दोणि पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा
आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा, नो
आहारेज्जा ।

तइयाए से कप्पइ तिणि वत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
तिणि पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा
आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा, नो
आहारेज्जा ।

चउत्थीए से कप्पइ चउवत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
चउपाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहा-
रेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहा-
रेज्जा ।

पंचमीए से कप्पइ पंचवत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच
पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा,
एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा ।

यवमध्य चन्द्र प्रतिमा के आराधक अणगार को,
शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन आहार और पानी की एक-
एक दत्ति ग्रहण करना कल्पता है ।

आहार की आकांक्षा करने वाले सभी द्विपद चतुष्पद प्राणी
आहार लेकर लौट गये हों तब उसे अज्ञात स्थान से शुद्ध (अल्प-
लेप वाला) अल्प आहार लेना कल्पता है ।

अनेक श्रमण—यावत्—भिक्षारी आहार लेकर लौट गये
हों अर्थात् वहाँ खड़े न हों तो आहार लेना कल्पता है ।

एक व्यक्ति के भोजन में से आहार लेना कल्पता है, किन्तु
दो, तीन, चार या पाँच व्यक्ति के भोजन में से लेना नहीं
कल्पता है ।

गर्भवती, छोटे बच्चों वाली और बच्चे को दूध पिलाने वाली
के हाथ से आहार लेना नहीं कल्पता है ।

दाता के दोनों पैर देहली के अन्दर हों या बाहर हों, उससे
आहार लेना नहीं कल्पता है ।

यदि ऐसा जाने कि—दाता एक पैर देहली के अन्दर और
एक पैर देहली के बाहर रखकर देहली को पैरों के बीच में करके
दे तो उसके हाथ से आहार लेना कल्पता है ।

इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो
तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए
आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

शुक्ल पक्ष के द्वितीया के दिन प्रतिमाधारी अणगार को
भोजन और पानी की दो-दो दत्तियाँ लेना कल्पता है—यावत्—
इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो
ले यदि इस प्रकार के नियमों से एषणा करते हुए आहार प्राप्त
न हो तो न ले ।

तीज के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तियाँ ग्रहण
करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा
करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले यदि इस प्रकार के नियमों से
एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले ।

चौथ के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तियाँ ग्रहण
करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा
करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमों से
एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले ।

पाँचम के दिन भोजन और पानी की पाँच-पाँच दत्तियाँ
ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से
एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के
नियमों से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले ।

एककारसमीए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
चउ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहा-
रेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा ।

दारसमीए से कप्पइ तिणि वत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
तिणि पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा
आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो
आहारेज्जा ।

तेरसमीए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो
पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा,
एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा ।

चउदसमीए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
एगा पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहा-
रेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा ।

आभावासाए से य अब्भत्तद्वे भवइ ।

एवं खलु एसा अवमज्ज चंदपडिमा अहासुत्तं-जाव-आणाए
अणुपालिया भवइ । —वव. उ. १०, सु. १०२

वहरमज्जा चंदपडिमा—

६२५. वहरमज्जं णं चंदपडिमं पडिबल्लस्स अणगारस्स निष्खं मासं
ओसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जेज्जा
-जाव-अहिपासेज्जा ।

वहरमज्जं णं चंदपडिमं पडिबल्लस्स अणगारस्स,
बहुलपक्खस्स पाडिबए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स
पडिगाहेत्तए पन्नरस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे
लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा
णो आहारेज्जा ।

त्रिदयाए से कप्पइ चउहस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
चउहस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा
आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो
आहारेज्जा ।

तइयाए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
तेरस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहा-
रेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहा-
रेज्जा ।

ग्यारस के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तियाँ
ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से
एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के
नियमों से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले ।

दारस के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तियाँ ग्रहण
करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा
करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमों से
एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले ।

तेरस के दिन भोजन और पानी की दो-दो दत्तियाँ ग्रहण
करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा
करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमों से
एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले ।

चौदस के दिन भोजन और पानी की एक-एक दत्ती ग्रहण
करना करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से
एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के
नियमों से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले ।

अमावस के दिन वह उपवास करता है ।

इस प्रकार यह जवमध्य चन्द्र प्रतिमा सूत्रानुसार—यावत्—
जिनाजा के अनुसार पालन की जाती है ।

वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा—

६२५. वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा स्वीकार करने वाला अणगार एक
मास तक शरीर के परिकर्म से तथा शरीर के समत्व से रहित
होकर रहे और जो कोई परीषद् एवं उपसर्ग हों—यावत्—
उन्हें शान्ति से सहन करे ।

वज्रमध्य-चन्द्र-प्रतिमा स्वीकार करने वाले अणगार को,

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन एन्द्रह-पन्द्रह दत्तियाँ भोजन
और पानी की लेना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह
से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे यदि इस
प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो ग्रहण
न करे ।

द्वितीया के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तियाँ
ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से
एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार
के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न
करे ।

तीज के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तियाँ ग्रहण
करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा
करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के
अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो ग्रहण न करे ।

चङ्कतीयै से कप्यइ बारस दसीओ भोयणत्स पङ्गिगाहेसए,
बारस पाणत्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहा-
रेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा ।

पंचमीए से कपड़इ एगारस बत्तीओ भोगनस्स पडिगहिल्लए,
एगारस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा
आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे भो लभेज्जा गो
आहारेज्जा ।

छट्टीए से कण्णइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस
पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा,
एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा ।

सत्तमोऽसौ कप्यद् नव वसीओ भोगणस्त पडिगहेत्तए, नव
माणस्त-जाव-एपाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा,
एपाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा ।

अद्वमीए से कप्यह अद्व दस्तीओ भोयणस्स पङ्गिाहेत्तए, अद्व
पाणस्स-ज्ज-एयाए एसणाए एसमाने लभेज्जा आहारेज्जा,
एयाए एसणाए एसमाने णो लभेज्जा णो आहारेज्जा ।

मवमीए से कप्पद्द सत्त वत्तीओ भोयणस्स पङ्गिआहेत्तए, सत्त पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसभाणे तभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसभाणे णो समेज्जा णो आहारेज्जा ।

इसमीए से कण्णइ छ वसीओ भोयणस्त पडिगाहेतए, छ
पाणस्त-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा,
एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा ।

एगारसमीए से कण्वइ पंथ दलीओ भोयणस्त षडिगाहेस्तए,
पंथ पाणस्त-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लमेज्जा आहा-
रेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लमेज्जा णो आहा-
रेज्जा ।

चौथ के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो ग्रहण न करे ।

पाँचम के दिन भोजन और पानी की म्यारह-म्यारह दत्तिमाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एपणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एपणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

छठ के दिन भोजन और पानी की दस-दस दस्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

सातम के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यद्यत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

आठम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दस्तियाँ ग्रहण करना कल्पना है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

नवमी के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तिर्था ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

दसमी के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

ग्यारस के दिन भोजन और पानी की पाँच-पाँच दत्तिय ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

चारसमीए से कप्पइ चउ दस्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए.
चउ पाणस्स-जाव-एवाए एसणए एसमाणे लभेज्जा आहा-
रेज्जा, एवाए एसणए एसमाणे णो सभेज्जा णो आहा-
रेज्जा ।

तेरसमोए से कृष्णइ तिमि वस्तीओ भोषणस्स पङ्गिगाहेत्तए,
 तिमि पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहा-
 रेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहा-
 रेज्जा ।

जउवसमीए से कएइ हो वलीओ भोधणस्स पडिगाहेत्तए,
वो भोधणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहा-
रेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णरे आहा-
रेज्जा ।

આમાવાસાએ સે કાપ્પડે એગા વત્તો મોયળસસ પઢિગાહેત્તે, એગા પાળસસ-જાવ-એથાએ એસળાએ એસમાળે લમેઝ્જા આહારેઝ્જા, એથાએ એસળાએ એસમાળે ણો લમેઝ્જા ણો આહારેઝ્જા ।

मुक्कयक्खस्स पडिअए से कप्पइ दो वस्तीओ भोयणस्स पडि-
गाहेत्तए, वो पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा
आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे वो लभेज्जा वो
आहारेज्जा ।

विद्वज्जाए से कप्पइ तिसि वस्तीओ भोगणस्स पडिगाहेत्तए,
तिसि पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहा-
रेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहा-
रेज्जा ।

तद्व्याए से कण्पइ चउ वस्तीओ भोयणस्स पङ्गिाहेत्तए, चउ
पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा,
एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा ।

चउत्थीए से कप्पह पंच वत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेसए, पंच
 षणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा,
 एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा ।

बारस के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

तेरस के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

चौदस के दिन भोजन और पानी की दो-दो दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

अमावस्या के दिन भोजन और पानी की एक-एक दली ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

मुख्यपक्ष की प्रतिपदा के दिन भोजन और पानी की दो-दो दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

द्वितीया के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दस्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

तोज के दिन भोजन और पानी की चार-चार दस्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

चौथ के दिन भोजन और पानी की पाँच-पाँच दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यमवत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

पंचमीए से कण्ड छ वत्तीओ भोगणस्स पडिगाहेसए, छ
पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा,
एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा ।

छट्ठीए से कप्पइ सत्तदत्तीओ भोयणस्स पङ्गिहाहेत्ताए, सत्त
पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा,
एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा ।

सत्तमीए से कप्पइ अट्ट दत्तोओ भोयणस्स वड्डिगाहेत्तए, अट्ट
पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लमेज्जा आहारेज्जा,
एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो वाहारेज्जा ।

अट्टमीए से क्षप्पइ नव वत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए नव
पाणस्स-जाव-एमाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा,
एमाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा ।

नवमीए से कण्णइ वस इत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस
पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा,
एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा ।

दसमीए से कप्पह एगारस दलीओ भोयणस्स पडियाहेत्तए,
एगारस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे तभेज्जा
आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो तभेज्जा णो
आहारेज्जा ।

एगारसमीए से कण्वइ वारस बत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेसए,
 वारस पाणस्स-जाव एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा
 आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो
 आहारेज्जा ।

बाह्यसमीए से कण्ठ तेरस वस्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
 तेरस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेवजा आहा-
 रेज्जा. एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेवजा णो आहा-
 रेज्जा ।

पाँचम के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

छठ के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

सातम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

आठवाँ के दिन भोजन और पानी की गव-गव दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

नवमी के दिन भोजन और पानी की दस-दस दलियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**— इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

दसमी के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तिमां ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

ग्यारस के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

बारस के दिन भोजन और पानी की तरह-तरह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

तेरसमीए से कप्पइ चउइस इत्तीओ भोयणस्त पडिगाहेसए,
चउइस पाणस्त-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा
आहारैज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णी लभेज्जइ णी आहा-
रैज्जा ।

जडहसमीए से कप्पइ पन्नरस इत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
पन्नरस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे सभेज्जा आहा-
रेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो सभेज्जा णो आहा-
रेज्जा ।

पुष्पिणमाए से य अबभत्तद्रे भवइ ।

सुखं वाहुः पृथक् पृथक् एव समाश्रित्य भवन्ति अहामुक्तं-जात्र-आणाय
अणपालिथा भवतु । —वव. उ. १०, रा. ३-४

इतिपरिमाण निरुद्धं—

६२६. संस्तुतिस्तु निबद्धस्तु पडिगहृद्यारिस्तु गाहायहकुलं
पिडवाय पडिद्याए अणपविट्टस्तु,

जायद्वयं जायद्वयं केदं अन्तो पक्षिगृहंसि सवदसा दलएज्जा
तावद्वयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया ।

तत्थ से केइ छब्बएणं वा, बूसएणं वा, आलएणं वा, अन्तो
पडिगाहंसि खवइत्ता वलएज्जा सब्बा वि णं सा एमा दत्ती
वत्तव्वं सिया ।

सत्य से बह्वे भुंजमाणा सव्ये ते सयं सयं पिबं साहजिय
 अन्तो पदिग्गहंसि उवइत्ता दसएज्जा, सव्वा वि णं सा एग्ग
 दस्सि कत्तव्वं सिया ।

संज्ञादत्तियस्स णं भिक्खुस्स पाणिपडिग्गहियस्स गाहावदकुलं
पिण्डवाय-पडियाए अणपविट्ठस्स.

आवइयं आवइयं केइ अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा,
तावइयाओ ताओ दत्तोओ वत्तुव्वं सिया ।

तस्य से केइ छत्रएणं वा, वृसएणं वा. वालएण वा अन्तो
पाणिंसि उवइत्ता वतएज्जा, सञ्चा यि णं सा एवा वत्ती
वसत्थं सिया ।

तत्पथ से बहूबे भुंजमाणा सध्वे ते सयं सयं पिण्डं साहसिथ
अस्तो पाणिंसि उवहत्ता वलएज्जा सव्वा वि णं एगा वत्ती
वत्तव्वं सिग्गा । —वव. उ. ६. स. ४३-४४

सोयपडिअर विह्वरणं—

६२७. सो पडिमाओ पणत्ताओ, तं जहा—

१. स्त्रुडिया वा मोयपडिमा, २. महल्लिया वा मोयपडिमा ।
 स्त्रुडियं वा मोयपडिमं पडिवसस्स अणगारस्स कप्पइ पडम-
 च्छरय-काल-समयंसि वा चरम-निदाह-काल-समयंसि वा,
 बहिया गामस्स वा-जाव-सन्निधेस्स वा वणंसि वा, वणुवुगंसि
 वा, पध्वयंसि वा, पध्वयवुगंसि वा ।

तेरस के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

शुक्ल पक्ष की चौदस के दिन भोजन और पानी की पन्द्रह पन्द्रह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे ।

पूर्णिमा के दिन वह उपवास करता है।

इस प्रकार यह वज्र-मध्य-चन्द्र-प्रतिमा मूशानुसार-यावत्-जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

दत्ति प्रमाण निरूपण—

६२३. दत्तियों की संख्या का अभिग्रह करने वाला पात्रधारी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश करे उस समय—

(१) आहार देने वाला गृहस्थ पात्र में जितनी बार झुकाकर (तमाकर) आहार दे उतनी ही “दत्तियां” कहनी चाहिये।

(२) आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबड़ी से, वस्त्र से या चलनी से बिना हुके पात्र में झुकाकर दे वह सब एक दत्ती कहनी चाहिए ।

(२) आहार देने वाले गृहस्थ जहाँ अनेक हों और वे सब अपना-अपना आहार सम्मिलित कर बिना रुके पात्र में झुकाकर दें वह सब "एक दत्ती" कहनी चाहिए ।

दत्तियों की संख्या का अभिग्रह करने वाला कर-पात्रभोजी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर में बाहार के लिए प्रवेश करे उस समय—

(१) आहार देने वाला गृहस्थ जितनी बार झुकाकर भिक्षु के हाथ में आहार दे उतनी ही "दत्तियाँ" कहनी चाहिए ।

(२) आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबड़ी से, बस्त्र से या चालनी से बिना रुके भिक्षु के हाथ में जितना आहार दे वह सब “एक दत्ती” कहनी चाहिए ।

(२) आहार देने वाले गृहस्थ जहाँ अनेक हों और वे सब अपना-अपना आहार सम्मिलित कर बिना एके भिक्षु के हाथ में शकाकर दे वह सब “एक दत्ती” कहनी चाहिए ।

मोक-प्रतिमा-विधान -

६२७. दो प्रतिमाएँ कहीं गई हैं, यथा —

(१) छोटी प्रसन्नवर्ण प्रतिमा, (२) बड़ी प्रसन्नवर्ण प्रतिमा ।

छोटी प्रसन्नवर्ण प्रतिमा शरदकाल के प्रारम्भ में अथवा ग्रीष्म-
काल के अन्त में ग्राम के बाहर—यात्रा—सन्निवेश के बाहर,
वन में या वन शुर्ग में, पर्वत पर या पर्वत दुर्ग में अणगार को
धारण करना कल्पता है ।

भोज्या आरुमह, चोदसमेण पारेह,

अभोज्या आरुमह, सोलसमेण पारेह ।

जाए जाए मोए आगच्छह, ताए ताए आईयव्वे ।

दिया आगच्छह आईयव्वे, रत्ति आगच्छह नो आईयव्वे ।

सपाणे मत्ते आगच्छह नो आईयव्वे, अपाणे मत्ते आगच्छह आईयव्वे ।

सबीए मत्ते आगच्छह नो आईयव्वे, अबीए मत्ते आगच्छह आईयव्वे ।

ससिणिट्ठे मत्ते आगच्छह नो आईयव्वे, अससिणिट्ठे मत्ते आगच्छह आईयव्वे ।

ससरक्खे मत्ते आगच्छह आईयव्वे, अससरक्खे मत्ते आगच्छह आईयव्वे ।

जावइए जावइए मोए आगच्छह, तावइए तावइए सब्बे आईयव्वे, तं जहा—

अप्पे वा, बहुए वा ।

एवं खलु एसा खुट्ठिया मोयपडिमा अहासुत्तं-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

महत्तिल्लं णं भोयपडिमं पडिवल्लस्स अणगारस्स कप्पह से पक्ख-सरय-काल-समयंसि वा, चरम-निदाह-काल-समयंसि वा, बहिया गामस्स वा-जाव-सन्निवेशस्स वा वर्षंसि वा, वणवुगंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वयवुगंसि वा,

भोज्या आरुमह, सोलसमेण पारेह,

अभोज्या आरुमह, अट्टारसमेण पारेह ।

जाए जाए मोए आगच्छह, ताए ताए आईयव्वे ।

दिया आगच्छह आईयव्वे, रत्ति आगच्छह नो आईयव्वे
-जाव-एवं खलु एसा महत्तिल्लया मोयपडिमा अहासुत्तं-जाव-
अणुपालित्ता भवइ ।

—वव. उ. ६, सु. ४१-४२

यदि भोजन करके उस दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो छह उपवास से इसे पूर्ण करता है ।

यदि भोजन किये बिना अर्थात् उपवास के दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो सात उपवास से इसे पूर्ण करता है ।

इस प्रतिमा में भिक्षु को जितनी बार मूत्र आवे उतनी बार पी लेना चाहिए ।

दिन में आवे तो पीना चाहिए किन्तु रात में आवे तो नहीं पीना चाहिए ।

कुंमि युक्त आवे तो नहीं पीना चाहिए, किन्तु कुमि रहित आवे तो पीना चाहिए ।

वीर्य सहित आवे तो नहीं पीना चाहिए किन्तु वीर्य रहित आवे तो पीना चाहिए ।

चिकनाई सहित आवे तो नहीं पीना चाहिए किन्तु चिकनाई रहित आवे तो पीना चाहिए ।

रज (रक्त कण) सहित आवे तो नहीं पीना चाहिए किन्तु रज रहित आवे तो पीना चाहिए ।

जितना-जितना मूत्र आवे उतना-उतना सब पी लेना चाहिए, यथा—

अल्प हो या अधिक ।

इस प्रकार यह छोटी प्रसवण प्रतिमा सूत्रानुसार—यावत्—जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

बड़ी प्रसवण प्रतिमा शरदकाल के प्रारम्भ में या ग्रीष्मकाल के अन्त में घास के बाहर—यावत्—सन्निवेश के बाहर वन में या वन दुर्ग में, पर्वत पर या पर्वत दुर्ग में अणगार को धारण करना कल्पता है ।

यदि भोजन करके उसी दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो सात उपवास से इसे पूर्ण करता है ।

यदि भोजन किये बिना अर्थात् उपवास के दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो आठ उपवास से इसे पूर्ण करता है ।

इस प्रतिमा में भिक्षु को जब-जब मूत्र आवे तब-तब पी लेना चाहिए ।

यदि दिन में आवे तो पीना चाहिए किन्तु रात में आवे तो नहीं पीना चाहिए—यावत्—इस प्रकार यह बड़ी प्रसवण प्रतिमा सूत्रानुसार—यावत्—जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।



प्रतिमा-संग्रह—८(५)

पडिमा संग्रहो—

प्रतिमाओं का संग्रह—

६२८. बाणउई पडिमाओ पण्णत्ताओ ।^१ —सम. स. ६२. सु. १ ६२८. प्रतिमाएँ ६२ (बानवें) कही गई हैं ।

१ समवायांग की टीका के अनुसार ६२ पडिमाओं का विवरण,

मूल पडिमाएँ पाँच—

(१) समाधि पडिमा, (२) उपधान पडिमा, (३) विवेक पडिमा (४) प्रतिसंलीनता पडिमा,
(५) एकल विहार पडिमा ।

समाधि पडिमा दो प्रकार की है—

(१) श्रुत समाधि पडिमा (२) चारित्र समाधि पडिमा ।

श्रुत समाधि पडिमा के ६२ भेद हैं—

आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध में ५ पडिमा,

द्वितीय श्रुत स्कंध में ३७ पडिमाएँ,

स्थानांग में २६ पडिमाएँ,

व्यवहार सूत्र में ४ पडिमाएँ,

इस प्रकार ५ + ३७ + २६ + ४ ये सब मिलकर ६२ पडिमाएँ हुई हैं ।

उपधान पडिमा के २३ भेद हैं—

भिक्षु पडिमा के १२ भेद,

श्रमणोपासक पडिमा के ११ भेद ये २३ हुए । एक विवेक पडिमा और एक प्रतिसंलीनता पडिमा ये २५ हुए । ५ चारित्र पडिमाएँ । सब मिलाकर ६२ पडिमाएँ हैं ।

ये ६२ भेद टीकाकार ने दशा. नियुक्ति से उद्धृत किये हैं ।

टीकाकार कृत इस विवरण में पाँच मूल पडिमाएँ किस आगम में कही गई हैं ऐसा स्पष्ट कथन नहीं है ।

पाँच मूल पडिमाओं में से पाँचवीं एकल विहार पडिमा को ६२ भेदों में लेने का निवेध करके शेष चार पडिमाएँ ही लेने का कथन है ।

यदि ऐसा ही अभीष्ट था तो स्थानांग अ. ४, उ. १ में उक्त चार पडिमाओं को मूल पडिमा क्यों नहीं कहा गया ?

समवायांग टीकाकार कृत विवरण में केवल पडिमाओं की संख्या का निर्देश है । किन्तु किस आगम में से कौन-सी पडिमाएँ यहाँ ली गई हैं— ऐसा स्पष्ट कथन नहीं है ।

विवरण में निर्दिष्ट पडिमाओं की संख्या और आगमों में उपलब्ध पडिमाओं की संख्या इस प्रकार है—

निर्दिष्ट संख्या

आचारांग श्रुत. १ में—५

आचारांग श्रुत. २ में—३७

ठाणं सूत्र में—१६

वव. सूत्र में—४

दशाश्रुत. सूत्र में—२३

उववाई-सूत्र—×

उपलब्ध संख्या

अभिग्रह—१८

एषणा पडिमाएँ—३७

पडिमाएँ और अभिग्रह—१८

पडिमाएँ—१५

पडिमाएँ—२३

मिक्षाचरी अभिग्रह अन्य अनेक अभिग्रह—३०

पाँच चारित्र, विवेक पडिमा और प्रतिसंलीनता पडिमा—ये अभिग्रह नहीं हैं फिर भी इन्हें पडिमाओं में गिना है ।

दशाश्रुतस्कन्ध दशा. ७ की नियुक्ति के अनुसार ये ६२ पडिमाएँ अभिग्रह रूप हैं अतः यहाँ अन्य प्रकार से ६२ पडिमाओं का संकलन किया गया है । वह इस प्रकार है—
(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

विनय वैयावृत्त पडिमाओ—

६२६. एककाणउई परवैयावृत्तकम्मपडिमाओ पणत्ताओ ।^१

—सम. सम. ६१, सु. १

(शेष टिप्पण पिछले पृष्ठ का)

आचा. श्रु. २ में—३७ एषणा पडिमायें

दसा. द. ७ में—१२ भिक्षु पडिमायें

वव. उ. ६, १० में—८ पडिमा (चार दत्ति पडिमा, दो चन्द्र पडिमा दो मोक पडिमा)

स्थानांग—अ. ५ भद्रा आदि ५ पडिमायें । औपपातिक सूत्र (भिक्षाचरी तप वर्णन) में ३० अभिग्रह पडिमा । ये सब मिलकर ६२ पडिमायें हैं । ये सब अभिग्रह रूप हैं । तथा ये सभी थमण की तप रूप ही पडिमायें हैं ।

१ पर-वैयावृत्य प्रतिमायें इक्यानवें कही गई हैं—वे इस प्रकार हैं—

(१) दर्शन ज्ञान चारित्र्यादि से गुणाधिक पुरुषों का सत्कार करना ।

(२) उनके आने पर खड़ा होना,

(३) वस्त्रादि देकर सम्मान करना,

(४) उनके बैठने के लिए आसन बिछाना,

(५) आसनानुप्रदान करना—उनके आसन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना,

(६) कृतिकर्म करना—वेन्दना करना,

(७) अंजली करना—हाथ जोड़ना,

(८) गुरुजनों के आने पर उनके सामने जाकर स्वागत करना,

(९) गुरुजनों के गमन करने पर उनके पीछे बसना,

(१०) उनके बैठने पर बैठना । यह दस प्रकार का शुश्रूषा—विनय है ।

तथा—(१) तीर्थकर,

(२) केवलि प्रज्ञप्त धर्म,

(३) आचार्य,

(४) आचक (उपाध्याय),

(५) स्थविर,

(६) कुल,

(७) गण,

(८) संघ,

(९) साम्भोगिक,

(१०) क्रिया (आचार) विशिष्ट,

(११) विशिष्ट मतिज्ञानी,

(१२) श्रुतज्ञानी,

(१३) अवधिज्ञानी,

(१४) मनःपर्ययज्ञानी और

(१५) केवलज्ञानी इन पन्द्रह विशिष्ट पुरुषों की,

(१) आशातना नहीं करना,

(२) भक्ति करना,

(३) बहुमान करना,

(४) और वर्णवाद (गुण-ज्ञान करना)

ये चार कर्तव्य उक्त पन्द्रह पद वालों के करने पर $(१५ \times ४ = ६०)$ साठ भेद हो जाते हैं ।

सात प्रकार का औपचारिक विनय कहा गया है—

(१) अभ्यासन—वैयावृत्य के योग्य व्यक्ति के पास बैठना,

(२) छन्दोजुवर्तन—उसके अभिप्राय के अनुकूल कार्य करना ।

(३) कृतप्रतिकृति—“पसन्न हुए आचार्य हमें सूत्रादि देंगे” इस भाव से उनको आहारादि देना ।

(४) कारितनिमित्तकरण—पढ़े हुए शास्त्र पदों का विशेष रूप से विनय करना और उनके अर्थ का अनुष्ठान करना ।

(५) दुःख से पीड़ित की गवेषणा करना ।

(६) देश-काल को जानकर तदनुकूल वैयावृत्य करना ।

(७) रोगी के स्वास्थ्य के अनुकूल अनुमति देना ।

पाँच प्रकार के आचार्यों के आचरण कराने वाले आचार्य पाँच प्रकार के होते हैं उनके सिवाय उपाध्याय, तपस्वी, शीक्ष, स्नान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्य करने से वैयावृत्य के १४ भेद होते हैं ।

इस प्रकार शुश्रूषा विनय के १० भेद, तीर्थकरादि के अनाशातनादि के ६० भेद, औपचारिक विनय के ७ भेद और आचार्य आदि के वैयावृत्य के १४ भेद । इन्हें मिचाने पर $(१० + ६० + ७ + १४ = ९१)$ इक्यानवें भेद हो जाते हैं ।

१०. प्रायश्चित्त (क) (आभ्यन्तर तप) (१)

अभितर-तप-परूपण—

६३०. एतो बाहिरं तपो, समासेन विद्याहिओ ।

अभितरं तपं एतो, खुच्छामि अपुपुण्वसो ।।

—उत्त. अ. ३०, गा. २६

अभितर-तप-भेदा—

६३१. प०—से किं सं अभितरं तपे ?

उ०—अभितरं तपे छविहे पणसे, तं जहा—

१. पायच्छित्तं,	२. विणओ,
३. वेयावृत्तं,	४. सज्जाओ,
५. ज्ञाणं,	६. विउसग्गो ^१ ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २१७

पायच्छित्त जोगा चरित्ता—

६३२. चत्तारि कुम्भा पणत्ता, तं जहा—

१. भिण्णे,	२. जज्जरिए,
३. परिस्ताई,	
४. अपरिस्ताई ।	

एवामेव चउव्विहे चरित्ते पणसे, तं जहा—

- | |
|----------------|
| १. भिण्णे, |
| २. जज्जरिए, |
| ३. परिस्ताई, |
| ४. अपरिस्ताई । |

—उत्त. अ. ४, उ. ४, सु. ३६०

पायच्छित्त-जोगा-पडिसेवणप्पमारा—

६३३. प०—कइविहा णं भन्ते ! पडिसेवणा पणत्ता ?

उ०—गोयमा ! वसविहा पडिसेवणा पणत्ता, तं जहा—

दप्प
प्पमाद
ग्गाभोगे,
आउरे

आवतीति य
संकिण्णे

१ (क) उत्त. अ. ६, सु. ५११

(ग) उत्त. सु. ३०

आभ्यन्तर तप का प्ररूपण—

६३०. यह बाह्य तप संक्षेप में कहा गया है । अब मैं अनुक्रम से आभ्यन्तर तप को कहूँगा ।

आभ्यन्तर तप के वेद—

६३१. प्र०—आभ्यन्तर तप क्या है—वह कितने प्रकार है ?

उ०—आभ्यन्तर तप छह प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) प्रायश्चित्त,	(२) विनय,
(३) वेयावृत्त्य,	(४) स्वाध्याय,
(५) ध्यान,	(६) व्युत्सर्ग ।

प्रायश्चित्त योग्य चारित्र—

६३२. कुम्भ चार प्रकार के कहे गये हैं । जैसे—

(१) भिन्न (फूटा) कुम्भ,	(२) जर्जरित (पुराना) कुम्भ,
(३) परिस्तावी (झरने वाला) कुम्भ,	
(४) अपरिस्तावी (नहीं झरने वाला) कुम्भ ।	

इसी प्रकार चारित्र भी चार प्रकार का कहा गया है ।

जैसे—

- | |
|---|
| (१) भिन्न-चारित्र—मूल प्रायश्चित्त के योग्य । |
| (२) जर्जरित-चारित्र—छेद प्रायश्चित्त के योग्य । |
| (३) परिस्तावी-चारित्र—सूक्ष्म अतिचार वाला । |
| (४) अपरिस्तावी-चारित्र—सर्वथा निर्दोष चारित्र । |

प्रायश्चित्त योग्य प्रतिसेवना के प्रकार—

६३३. प्र०—भन्ते ! प्रतिसेवना (दोष सेवन) कितने प्रकार की कही गई है ?

उ०—गौतम प्रतिसेवना दस प्रकार की कही गई है, यथा—

- | |
|--|
| (१) दपं प्रतिसेवना—अहंकार से दोष सेवन, |
| (२) प्रमाद प्रतिसेवना—आलस्य से दोष सेवन, |
| (३) अनाभोग प्रतिसेवना—असावधानी से दोष सेवन, |
| (४) आतुर प्रतिसेवना—भूख, प्यास आदि से पीड़ित होने पर दोष सेवन, |
| (५) आपत् प्रतिसेवना—आपत्ति आने पर दोष सेवन, |
| (६) संकीर्ण प्रतिसेवना—क्षेत्र की संकीर्णता से दोष सेवन, |

(ख) सम. स. ६, सु. १

(घ) उत्त. अ. ३०, गा. ३०

सहस्रकारे,

सप्त

पद्मोत्ता य

वीर्यता^१ ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. ११०

चत्वारि पुरिसजाया पण्यत्ता तं जहा—

१. संपागडपडिसेवी नामेगे, णो पच्छण्णपडिसेवी,

२. पच्छण्णपडिसेवी नामेगे, णो संपागडपडिसेवी,

३. एगे संपागडपडिसेवी वि, पच्छण्णपडिसेवी वि,

४. एगे णो संपागडपडिसेवी, णो पच्छण्णपडिसेवी ।

—ठाणं. अ. ४, उ. २, सु. २७२

चत्वारि पुरिसजाया पण्यत्ता, तं जहा —

१. संपागडपडिसेवी नामेगे,

२. पच्छण्णपडिसेवी नामेगे,

३. पट्ठपण्णपडिसेवी नामेगे,

४. गिस्सरणपडिसेवी नामेगे ।

—ठाणं. अ. ४, उ. २, सु. २६२ (१)

पायच्छित्तं सखं—

६३४. आलोचनारिहाईयं, पायच्छित्तं तु दसविहं ।

जे भिक्खू वहई सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. ३१

पायच्छित्तप्पगारा—

६३५. प०—से किं तं पायच्छित्तं ?

उ०—वसविहे पायच्छित्तं पण्यत्ते, तं जहा—

१. आलोचनारिहे, २. पडिक्कमणारिहे,

३. तदुभयारिहे^२, ४. विवेकारिहे,

५. विडसग्गारिहे, ६. तवारिहे^३,

७. छेदारिहे, ८. भूलारिहे^४

९. अणवट्ठणारिहे^५ १०. पारंशिकारिहे^६ ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. ११५

(७) सहस्रकार प्रतिसेवना—अकस्मात् अनजान से अनिच्छा से दोष सेवन,

(८) भय-प्रतिसेवना—भय से दोष सेवन,

(९) प्रद्वेष प्रतिसेवना—रोष या द्वेष से दोष सेवन,

(१०) विमर्श प्रतिसेवना—शिष्यों की परीक्षा के लिए दोष सेवन ।

पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

यथा—(१) कुछ पुरुष प्रकट में दोष सेवन करते हैं, किन्तु छिपकर नहीं करते,

(२) कुछ पुरुष छिपकर दोष सेवन करते हैं, किन्तु प्रकट में नहीं करते,

(३) कुछ पुरुष प्रकट में भी दोष सेवन करते हैं और छिपकर भी,

(४) कुछ पुरुष न प्रकट में दोष सेवन करते हैं और न छिपकर ही ।

पुरुष चार प्रकार के होते हैं, यथा—

(१) प्रकट में दोष सेवन करने वाला,

(२) छिपकर दोष सेवन करने वाला,

(३) दृष्ट वस्तु की उपलब्धि होने पर आनन्द मनाने वाला,

(४) दूसरों के चले जाने पर आनन्द मनाने वाला ।

प्रायश्चित्त का स्वरूप—

६३४. आलोचना के योग्य आदि जो दस प्रकार का प्रायश्चित्त है, जिनका भिक्षु सम्यक् प्रकार से पालन करता है, वही प्रायश्चित्त कहा जाता है ।

प्रायश्चित्त के प्रकार—

६३५. प्र०—प्रायश्चित्त क्या है, वह कितने प्रकार का है ?

उ०—प्रायश्चित्त दस प्रकार कहा गया है, यथा—

(१) आलोचना के योग्य, (२) प्रतिक्रमण के योग्य,

(३) तदुभय दोनों के योग्य, (४) विवेक के योग्य,

(५) व्युत्सर्ग के योग्य, (६) तप के योग्य,

(७) छेद के योग्य, (८) मूल के योग्य,

(९) अनवस्थाप्य के योग्य, (१०) पारांशिक के योग्य ।

१ ठाणं. अ. १०, सु. ७३२

२ ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. १६८

४ ठाणं. अ. ८, सु. ६०५

६ (क) वि. स. २५, उ. ७, सु. २१८

३ ठाणं. अ. ६, सु. ४८६

५ ठाणं. अ. ६, सु. ६८८

(ख) ठाणं. अ. १०, सु. ७३३

(ग) उव. सु. ३०

चञ्चविहे पायच्छित्ते पणत्ते, तं जहा—

१. पाण-पायच्छित्ते,
२. दंसण पायच्छित्ते,
३. चरित्त पायच्छित्ते,^१
४. वियत्तकिच्च पायच्छित्ते ।

चञ्चविहे पायच्छित्ते पणत्ते, तं जहा—

१. पञ्चसेवणा पायच्छित्ते,
२. संजोयणा पायच्छित्ते,
३. आरोपणा पायच्छित्ते

४. पल्लिजंजणा पायच्छित्ते ।

—ठाणं. अ. ४, उ. १, सु. २६३

पञ्चविहे आचारकप्पे पणत्ते, तं जहा—

१. मासिए उग्घातिए,
२. मासिए अणुग्घातिए,
३. चाळम्मासिए उग्घातिए,
४. चाळम्मासिए अणुग्घातिए,

५. आरोपणा ।

—ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४३३

प्रायश्चित्त चार प्रकार का कहा गया है, यथा—

- (१) ज्ञान रूप प्रायश्चित्त,
- (२) दर्शन रूप प्रायश्चित्त,
- (३) चारित्र्य रूप प्रायश्चित्त,
- (४) गीतार्थ रूप प्रायश्चित्त ।

प्रायश्चित्त चार प्रकार का कहा गया है,

यथा—(१) प्रतिसेवना (दोष सेवन का) प्रायश्चित्त,

(२) संयोजना (अनेक संयुक्त दोषों का) प्रायश्चित्त,

(३) आरोपणा (बहुत कराया जाने वाला अथवा, चल रहे प्रायश्चित्त के बीच में दिया जाने वाला) प्रायश्चित्त ।

(४) परिकुंचना (दोष छिपाने पर दिया जाने वाला विशेष)

प्रायश्चित्त ।

आचार प्रकल्प (निर्णीत सूत्रोक्त प्रायश्चित्त) पाँच प्रकार का कहा गया है । यथा—

- (१) मासिक-उद्घातिक-लघुमास रूप प्रायश्चित्त ।
- (२) मासिक-अनुद्घातिक-गुरुमास रूप प्रायश्चित्त ।
- (३) चातुर्मासिक-उद्घातिक-लघु चार मास रूप प्रायश्चित्त ।
- (४) चातुर्मासिक-अनुद्घातिक-गुरु चार मास रूप प्रायश्चित्त ।

(५) आरोपणा बहुत कराया जाने वाला आरोपणा रूप प्रायश्चित्त ।



आरोपणा-१(ख)

पञ्च-विहा आरोपणा—

६३६. आरोपणा पञ्चविहा पणत्ता, तं जहा—

१. पट्टविया,

२. ठविया,

३. कसिणा,

४. अकसिणा,

आरोपणा के पाँच प्रकार—

६३६. आरोपणा पाँच प्रकार की कही गई है, जैसे—

(१) प्रस्थापिता आरोपणा—बहुत कराई जाने वाली आरोपणा ।

(२) स्थापिता आरोपणा—कुछ समय स्थापित कर रखी जाने वाली आरोपणा ।

(३) कृत्स्ना आरोपणा—निरनुग्रह परिपूर्ण (एक मास की एक मास) दी जाने वाली आरोपणा ।

(४) अकृत्स्ना आरोपणा—अनुग्रह युक्त अपूर्ण (एक मास की १५ दिन, दो मास की २० दिन आदि) दी जाने वाली आरोपणा ।

५. हाडहडा ।

ठानं. अ. ५. ८. १. सु. ४५५

अठ्ठावीसह-विहा आरोपणा—

६३७. अठ्ठाविंशतिविहे आचारपक्षे पण्यत्ते, तं जहा —

१. मासिया आरोपणा,
२. सपंचरायमासिया आरोपणा,
३. सदसरायमासिया आरोपणा,
४. सपण्णरसरायमासिया आरोपणा,
५. सवीसइरायमासिया आरोपणा,
६. सपंचवीसइराय मासिया आरोपणा,
७. दोमासिया आरोपणा,
८. सपंचरायदोमासिया आरोपणा,
९. सदसरायदोमासिया आरोपणा,
१०. सपण्णरसरायदोमासिया आरोपणा,
११. सवीसइरायदोमासिया आरोपणा,
१२. सपंचवीसइरायदोमासिया आरोपणा,
१३. तेमासिया आरोपणा,
१४. सपंचरायतेमासिया आरोपणा,
१५. सदसरायतेमासिया आरोपणा,
१६. सपण्णरसरायतेमासिया आरोपणा,
१७. सवीसइरायतेमासिया आरोपणा,
१८. सपंचवीसइरायतेमासिया आरोपणा,
१९. चउमासिय आरोपणा,
२०. सपंचरायचउमासिया आरोपणा,
२१. सदसरायचउमासिया आरोपणा,
२२. सपण्णरसरायचउमासिया आरोपणा,
२३. सवीसइरायचउमासिया आरोपणा,
२४. सपंचवीसइरायचउमासिया आरोपणा,
२५. उग्घाइया आरोपणा,
२६. अणुग्घाइया आरोपणा,
२७. कलिणा आरोपणा,
२८. अकलिणा आरोपणा ।

—सम. सम. २८, सु. १

दो मासियस्स ठविहा-आरोपणा—

६३८. छम्मासियं परिहारद्वानं पट्टविए अणगारे अंतरा दो मासियं परिहारद्वानं पडिसेविता आलोएज्जा—अहावरा बीसइरा-इया आरोपणा आदिमज्झावसाने सवट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरिस्सं तेण परं सवीसइराइया दोमासा ।

(५) हाडहडा आरोपणा—प्रायश्चित्त प्राप्त होने के समय से ही कराई जाने वाली आरोपणा ।

आरोपणा के अठ्ठाईस प्रकार—

६३७. आचार प्रकल्प अठ्ठाईस प्रकार का है, यथा—

- (१) एक मास की आरोपणा,
- (२) एक मास पाँच दिन की आरोपणा,
- (३) एक मास दस दिन की आरोपणा,
- (४) एक मास पन्द्रह दिन की आरोपणा,
- (५) एक मास बीस दिन की आरोपणा,
- (६) एक मास पच्चीस दिन की आरोपणा,
- (७) दो मास की आरोपणा,
- (८) दो मास पाँच दिन की आरोपणा,
- (९) दो मास दस दिन की आरोपणा,
- (१०) दो मास पन्द्रह दिन की आरोपणा,
- (११) दो मास बीस दिन की आरोपणा,
- (१२) दो मास पच्चीस दिन की आरोपणा,
- (१३) तीन मास की आरोपणा,
- (१४) तीन मास पाँच दिन की आरोपणा,
- (१५) तीन मास दस दिन की आरोपणा,
- (१६) तीन मास पन्द्रह दिन की आरोपणा,
- (१७) तीन मास बीस दिन की आरोपणा,
- (१८) तीन मास पच्चीस दिन की आरोपणा,
- (१९) चार मास की आरोपणा,
- (२०) चार मास पाँच दिन की आरोपणा,
- (२१) चार मास दस दिन की आरोपणा,
- (२२) चार मास पन्द्रह दिन की आरोपणा,
- (२३) चार मास बीस दिन की आरोपणा,
- (२४) चार मास पच्चीस दिन की आरोपणा,
- (२५) उद्घातिकी आरोपणा,
- (२६) अनुद्घातिकी आरोपणा,
- (२७) कृस्सना आरोपणा,
- (२८) अकृस्सना आरोपणा ।

दो मास प्रायश्चित्त की स्थापिता आरोपणा—

६३८. छः मासिक प्रायश्चित्त बहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त बहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है ।

पंचमास्थिं परिहारद्वयं पट्टविण् अणगारे अंतरा दो मास्थिं
परिहारद्वयं पडिसेविता आलोएज्जा - अहावरा वीसराइया
आरोवणा आविमज्जावसाणे सअट्ठं सहेजं सकारणं अहीण-
मइरित्तं तेण परं सवीसइराइया दो मासा ।

आत्ममासियं परिहारद्वयं पट्टयिए अणगारे अंतरा दो मासियं
परिहारद्वयं पट्टियेवित्ता आलोपज्जा—अहारो दोसहराद्वय
आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेवं सकारणं अहीन-
मइरिसं तेण परं सवीसहराद्वया दो मासा ।

तेमासियं परिहारद्वयं पट्टकिए अणगारे अंतरा दो मासियं
परिहारद्वयं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा बीसइ-
राइया आरोवणा आदिमज्जावसाने सअदठं सहेउं सकारणं
अहीणमइरिसं तेण परं सवीसइराइया दो मासा ।

दो मासियं परिहारदूषणं पदठविण् अणगारे अंतरा दो
मासियं परिहारदूषणं पडितेविता आलोएज्जा अहावरा
घोसइराइया आरोषणा आदिमज्झावसाने सबद्धं सहेजं
सकारणं अहीणमद्वरित्तं तेण परं सबोसइराइया दो मासा ।

मासिद्यं परिहारदृष्टाणं पट्टविष्टु अणगारे अंतरा दो मासिद्यं
परिहारदृष्टाणं पडिसेविता आलोएज्जा-- अहावरा कीसइ-
राइया आरोवणा आदिमज्जावसाने सअट्ठं सहेजं सकारणं
अहीणमइरित्तं तेण परं सकीसइराइया दो मासा ।

नि. उ. २०, सु. २१-२६

दो मासियस्त पट्टविद्या आरोवणा बुद्धि —

६३६. सवीसद्वराद्वयं दो मासियं परिहारदूषणं पद्विष्टि ए अणमारे
अंतरा दो मासियं परिहारदूषणं पद्विष्टि ए अणमारे —
अहोवरा सवीसद्वराद्वया आरोधणा आदिमज्जावसाणे सअद्विष्टं
सहेजं सकारणं अहीणमद्विष्टं तेण परं सदसराधा तिणि-
मासा ।

पंचमास्तिक प्रायश्चित्त बह्वन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त बह्वन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद पुनः दोष सेवन कर ले तो दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है ।

चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ब्रह्म करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त ब्रह्म काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है ।

वैसासिक प्रायश्चित्त बह्म करने वाला अणगाय यदि प्रायश्चित्त बह्म काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है ।

दो मासिक प्रायश्चित्त बहान करने वाला अणभार यदि प्रायश्चित्त बहान काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है ।

मासिक प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त ग्रहण काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन हेतु कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके अलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस राजि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद पुनः दोष सेवन करसे तो दो मास और बीस राजि का प्रायश्चित्त आता है ।

दो मास प्रायश्चित्त की प्रस्थापिता आरोग्य वृद्धि -

६३६. दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणुगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का रोवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने पर तीन मास और दस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

सर्वसुराद्वय-तैमासिथं परिहारदृष्टाणं पट्टक्षिण् अणगारे अंतरा
द्वौ मासिथं परिहारदृष्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा - अहा-
यरा ओसइराइया आरौवणा आदिमज्झावसाथे सअदुठं सहेउं
सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं चत्तारि मासा ।

चाङ्गमासिपं परिहारदृढाणं पट्टविष्टं २० गमारे वंतरा दो
 मासिपं परिहारदृढाणं पडिसेविस्ता आलोएज्जा—अहावरा
 बीसइराइया आरोवणा आदिसज्जावसाणे सअट्ठं सहेत्तं
 सकारणं अहोणमइरित्तं तेण परं सबीसइराइया चत्तारि
 मासा ।

सवीसराद्य चाउम्मासियं परिहारदृष्टाणं पठविए अणगारे
अंतरा दो नासियं परिहारदृष्टाणं पडिसेविस्ता आलोएज्जा—
अहावरा बीसइराद्वया आरोवणा आदिमज्झायसाने सअदुठं
सहेजं सकारणं अहीणमइरित्त तेण परं सदसराया पंचभासा ।

सबसराइय पंचमासिधं परिहारदृष्टाणं पद्धविष्ट अणगारे
अंतरा दो मासिधं परिहारदृष्टाणं पद्धिसेधिता आलोएज्जा—
अहावरा बोसइराइया आरोवणा आदिमज्जावसाण्णे सअद्धं
सहेजं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं छम्मासा ।

—नि. ज. २०, सु. २७-२१

मासियस्स ठविया आरोवणा—

६४०. छम्मासियं परिहारट्ठाणं षट्ठवि ए अणगारे अंतरा मासियं
परिहारट्ठाणं पडिसेविस्सा आसोएज्जा—अहावरा पत्तिवया
आरोचना आदिमज्जावसाणे सवट्ठं सहेजं सकारणं अहीन-
महरित्तं तेण परं शिवइहो मासो ।

पंच मासिद्यं परिहारदृष्टाणं पट्टञ्चिए अणगारे अंतरा मासिद्यं
परिहारदृष्टाणं पञ्चमेवित्ता आलोएज्जा - अहामरा पक्खिया
आरोवणा आदिमज्जावसणे सअट्ठं सहेउं स कारणं अहीण-
महरित्तं तेण परं विवद्धो मासो ।

आजम्भासिथं परिहारदृष्टाणं पट्ठविण्णं अणगारे अंतरा मासिथं
परिहारदृष्टाणं पडिसेविस्ता आलोएव्जा—अहावरा पडिसेविता

तीन मास और दस रात्रि का प्रायश्चित्त बहन करने वाला अण्णगर यदि प्रायश्चित्त बहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने पर चार मास की प्रस्थापना होती है।

चातुर्मासिक प्रायश्चित्त बह्मन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त बह्मन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त क्षाता है। जिसे संयुक्त करने से चार मास और बीस दिन की प्रस्थापना होती है।

चार मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त बह्वन करने वाला अणनार यदि प्रायश्चित्त बह्वन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे कम न अधिक बीस रात्रि की आग्नेयणा का प्रायश्चित्त अज्ञात है : जिसे संयुक्त करने से पाँच मास और दस दिन की प्रस्थापना होती है ।

पञ्च मास और दस रात्रि का प्रायश्चित्त बह्व्व करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त बह्व्व काल के प्रारम्भ में मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । जिसे संयुक्त करने से छः मास की प्रस्थापना होती है ।

एक मास प्रायश्चित्त की स्थापिता आरोपणा—

६४०. छः मासिक प्रायश्चित्त बहून करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त बहून काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न काम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद पुनः दोष सेवन कर ले तो डेढ़ मास का प्रायश्चित्त आता है।

पंच मासिक प्रायश्चित्त बह्मन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त बह्मन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो डेढ़ मास का प्रायश्चित्त आता है।

चातुर्मासिक प्रायश्चित्त बहान करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त बहान काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयो-

आरोग्या आदिभज्जावसणे सद्दुष्टं सहेतुं सकारणं ज्ञानी-
महुरित्तं तेण परं विवद्वदो मासो ।

तेभासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविण्ण अणगारे अंतरा मासियं
परिहारट्ठाणं पडिसेविस्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया
आरोवणा आविमज्झावसाने सअट्ठं सहेजं सकारणं अहीण-
मइरित्तं तेण परं विवड्ढो भासो ।

दो मासियं परिहारदृष्टाणं पठविष्टं अणगारे अंतरा मासियं
परिहारदृष्टाणं पठिसेधित्ता आलोएज्जा— अहावरा पक्खिया
आरोक्षणा आदिमज्झायसाने सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीण-
ज्जरिज्जं तेण पयं दिग्गहो सग्गो :

भासियं परिहारदूषाणं पद्विष्टं अणगारे अंतरा भासियं
परिहारदूषाणं पद्विष्टं आलोच्यता— अहावरा पवित्रता
आरोचना आदिमन्त्रादिनां सवर्णं सहेतुं सकारणं अहीन-
मद्विष्टं तेन परं विवदलो भासो ।

—नि. छ. २०, सू. ३२-३७

मासियस्स पट्टविया आरोवणा वडिढ—

६४१. दिवङ्मृतमासिद्यं परिहारदृष्टाणं पठ्यन् अणगारे अंतरा
भासिद्यं परिहारदृष्टाणं पठ्यन्तेविता आलोचना -- अहावरा
पक्वित्वा आरोवणा आदिमज्जावसाणे समदृष्टं सहेजं सकारणं
अहीणमहरितं तेज परं वो मासा ।

बोमसियं परिहारद्वयं पटुष्वि अणगारे अंतरा मासियं
परिहारद्वयं पडिसेविता आलोएज्जा—अहायरा पविस्वया
आरोक्षणा आविमज्जावसणे सअट्ठं सहेजं सकारणं अहीन-
भइरित्तं तेजं परं अड्डाड्डणा मासा ।

अङ्गाङ्ग-मासियं परिहारद्वयं बहुविधं अण्वारे अंतरा
मासियं परिहारद्वयं पक्षिसेविता आलोप्यजा-अहावरा
पक्षिषया आरोधणा आदिमज्जावसाणे सभद्रं सहेजं सकारणं
अङ्गीणमद्रितं तेणं परं तिष्ठिमासा ।

जन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो डेढ़ मास का प्रायश्चित्त आता है।

तीन भास प्रायश्चित्त बह्मन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त बह्मन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष का आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो डेढ़ मास का प्रायश्चित्त आता है।

दो मास प्रायश्चित्त बहून करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त बहून काल के प्रारम्भ में, मध्य में वा अन्त में प्रयोजन, हेतु वा कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके बालोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो द्वेद मास का प्रायश्चित्त आता है।

मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला जणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो डेढ़ मास का प्रायश्चित्त आता है ।

एक मास प्रायश्चित्त की प्रस्थापिता आरोपणा बृद्धि—

६४१. डेढ़ मास प्रायश्चित्त बह्म करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त बह्मन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से दो मास की प्रस्थापना होती है।

दो मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगर यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । जिसे संयुक्त करने से ढाई मास की प्रस्थापना होती है ।

ढाई मास प्रायश्चित्त बह्मन करने वाला अणगर यदि प्रायश्चित्त बह्मन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । जिसे संयुक्त करने से तीन मास की प्रस्थापना होती है ।

आरोक्षणा आदिमज्जावसाणं सवट्ठं सहेतुं सकारणं अहीण-
महरिप्तं, तेण परं अङ्गाङ्गजा मत्ता ।

अङ्गहाइज्ज-भासियं परिहारट्ठणं पट्ठविण्ण अणगारे अंतरा
 वोमासियं परिहारट्ठणं पक्खिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा
 बीसदराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं
 सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं सयंचराइया तिण्णिमासा ।

सपंचराइय-तेमासिधं परिहारदृष्टाणं पठविए अणगारे अंतरा
मासिधं परिहारदृष्टाणं पडिसेविता आत्तोएज्जा-अहावरा
पक्खिया आरोधणा आविमज्झावसाने सअट्ठं सहेउं सकारणं
अहीणमइरित्तं, तेण परं सबोसइवराइया तिणिण मासा ।

सवीसद्वराद्वय तेमासियं परिहारदृष्टाणं पठ्ठविए अणगारे
अंतरा बोमासियं परिहारदृष्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-
अहावरा बीसद्वराद्वया आरोवणा आदिमज्झावसाने सअट्ठं
सहेअं सकारणं अहीणमइदित्तं, तेण परं सवसराहया
अत्तारि माता ।

सदसराइय-चाडम्मासियं परिहारदुष्टाणं पठविष्ट अणगारे
अंतरा मासियं परिहारदुष्टाणं पडिसेवित्ता आलोएउआ-
अहावरा पविष्यया आरोचना आविमज्झावसाणे सज्जदं
सहेउं सकारणं अहीणमदरित्तं, तेण परं पंचूणा पंचमासा ।

पञ्चूण-पञ्च-मासिं परिहारदृष्टाणं पट्टविष्णु अणगारे अंतरा
 दोमासिं परिहारदृष्टाणं पञ्चिसेविस्सा आलोएज्जा-अहावरा
 वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाण्णे समदुत्तं सहेउं
 सकारणं अहीणमइरिस्सं, तेण परं अदुच्छदुत्तामासा ।

अष्टादशमासि यं परिहारदृष्टाणं पटुविषं मणभारे अंतरा
मासि यं परिहारदृष्टाणं यक्षिसेविता आलोएज्जा-अहावरा
यक्षिण्या आरोचना आविभज्जावसाने सभट्ठं सहैडं सकारणं
अहीणमइरित्तं, तेण परं छम्मासा ।

हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । जिसे संयुक्त करने से द्वाई मास की प्रस्थापना होती है ।

ढाई मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । जिसे संयुक्त करने से तीन मास और पाँच रात्रि की प्रस्थापना होती है ।

तीन मास और पाँच रात्रि प्रायश्चित्त बह्म करने वाला अणुगार यदि प्रायश्चित्त बह्म काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से तीन मास और बीस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

तीन मास और बीस रात्रि प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणुगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त जाता है। जिसे संयुक्त करने से चार मास और दस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

चार मास और दस रात्रि प्रायश्चित्त बह्म करने वाला अणुगार यदि प्रायश्चित्त बह्म काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से पाँच मास में पाँच दिन कम की प्रस्थापना होती है।

पाँच मास में पाँच दिन कम प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणुगार यदि प्रायश्चित्त व न काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से साढ़े पाँच मास की प्रस्थापना होती है।

साढ़े पाँच मास प्रायश्चित्त बह्मन करवे वाला अथगार यदि प्रायश्चित्त बह्मन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । जिसे संयुक्त करने से छः मास की प्रस्थापना होती है ।

आलोचना—१(ग)

आलोचना कारण—

६४३. तिहि ठाणेहि मायी मायं कट्टु आलोएज्जा, पडिक्कमेज्जा, णिदेज्जा, गरिहेज्जा, विउट्टेज्जा, विसोहेज्जा, अकरणयाए अण्णुट्टेज्जा, अहारिहं पायस्सित्तं तवोक्कम्मं पडियज्जेज्जा, तं जहा—

१. मायिस्स णं अस्सि लोणे गरहिते भवति ।

२. उववासे गरहिते भवति,

३. आयाती गरहिता भवति,^१

तिहि ठाणेहि मायी मायं कट्टु आलोएज्जा-जाव-तवोक्कम्मं पडियज्जेज्जा, तं जहा—

१. अमायिस्स णं अस्सि लोणे पसत्थे भवति,

२. उववासे पसत्थे भवति,

३. आयाती पसत्था भवति,

तिहि ठाणेहि मायी मायं कट्टु आलोएज्जा-जाव-तवोक्कम्मं पडियज्जेज्जा तं जहा—

१. णाणट्ठयाए,

२. वंसणट्ठयाए,

३. चरिणट्ठयाए । —ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १७६

आलोचना दोसा—

६४४. दस आलोचनादोसा पण्णसा, तं जहा—

१. आकंपइसा,

२. अणुभाणइसा,

३. जं विट्ठं,

४. वायरं च,

५. सुट्ठमं वा,

६. छण्णं,

७. सहाउल्लगं,

८. बहज्जणं,

९. अव्वत्त,

१०. तस्सेयी^२ ।

—ठाणं. अ. १०, सु. ७३२

आलोचना के कारण—

६४३. तीन कारणों से मायावी माया करके आलोचना करता है, प्रतिक्रमण करता है, निन्दा करता है, गर्हा करता है, व्यावृत्ति करता है, विधुद्धि करता है, पुनः वैसा नहीं कहेंगा ऐसा कहने को उद्यत होता है, यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करता है, यथा—

(१) मायावी का यह लोक गहित होता है ।

(२) परलोक गहित होता है ।

(३) आगामी जीवन गहित होता है ।

तीन कारणों से मायावी माया करके आलोचना करता है —यावत्—तपःकर्म स्वीकार करता है । यथा—

(१) सरल मनुष्य का वर्तमान जीवन प्रशस्त होता है ।

(२) परलोक प्रशस्त होता है ।

(३) आगामी जीवन प्रशस्त होता है ।

तीन कारणों से मायावी माया करके आलोचना करता है —यावत्—तपः कर्म स्वीकार करता है । यथा —

(१) ज्ञान के लिए,

(२) दर्शन के लिए,

(३) चारित्र के लिए ।

आलोचना के दोष—

६४४. आलोचना के दश दोष कहे गये हैं । जैसे—

(१) सेवा आदि के द्वारा प्रसन्न करके आलोचना करना ।

(२) “मैं दुर्बल हूँ, मुझे अल्प प्रायश्चित्त देवें” इस भाव से अनुनय करके आलोचना करना ।

(३) दृष्ट दोष की आलोचना करना ।

(४) केवल बड़े दोषों की आलोचना करना ।

(५) केवल छोटे दोषों की आलोचना करना ।

(६) इस प्रकार से आलोचना करना कि गुरु सुनने न पावें ।

(७) जोर-जोर से बोलकर आलोचना करना ।

(८) एक के पास आलोचना कर फिर उसी दोष की दूसरे के पास आलोचना करना ।

(९) अगीतार्थ के पास आलोचना करना ।

(१०) अपने समान दोष वाले के पास आलोचना करना ।

१ ठाणं. अ. ८, सु. ५६७(स)

२ वि. स. २५, उ. ७, सु. १६१

आलोचना करण-कर्म—

६४५. भिक्षु य अन्नपरं अकिच्छद्दणं पडिसेवित्ता इच्छेज्जा आलोएत्तए, जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्जाए पासेज्जा, तस्संतियं आलोएज्जा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा ।

नो चेव अप्पणो आयरिय-उवज्जाए पासेज्जा, जत्थेव संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा-बहुस्सुयं ववभागमं तस्संतियं आलो-एज्जा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा ।

नो चेव संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं ववभागमं जत्थेव अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं ववभागमं, तस्संतियं आलोएज्जा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा ।

नो चेव णं अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं ववभागमं जत्थेव साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं ववभागमं, तस्संतियं आलोएज्जा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा ।

नो चेव णं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं ववभागमं जत्थेव समणोवासणं पच्छाकडं पासेज्जा-बहुस्सुयं ववभागमं, कप्पइ से तस्संतियं आलोएज्जा वा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पाय-च्छित्तं पडिवज्जेज्जा वा ।

नो चेव णं समणोवासणं पच्छाकडं पासेज्जा-बहुस्सुयं ववभागमं, जत्थेव सम्मं भाविद्याइं चेइयाइं पासेज्जा, कप्पइ से तस्संतियं आलोएज्जा वा पडिवज्जेज्जा वा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा वा ।

नो चेव सम्मं भाविद्याइं चेइयाइं पासेज्जा-बहिमा गामस्स वा-जाव-सन्निवेशस्स वा पाईणाभिमुहे वा, उदीणाभिमुहे वा, करयलपरिगाहियं सिरसावसं मत्थए अंजलि कट्टु एवं वएज्जा ।

‘एवइया मे अवराहा, एवइ-क्खुत्तो अहं अवरत्तो’ अरिहं-तार्णं सिद्धार्णं अत्तिए आलोएज्जा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा ।

वव. उ. १, सु. ३३

आलोचना करने का क्रम—

६४५. भिक्षु किसी अकृत्यस्थान का पतिसेवन कर उस की आलोचना करना चाहे तो जहाँ पर अपने आचार्य या उपाध्याय को देखे वहाँ उनके समीप आलोचना करे—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे ।

यदि अपने आचार्य या उपाध्याय न दिखे (न मिले) तो जहाँ पर साम्भोगिक (समान समाचारी वाले) सार्धमिक साधु को देखे (मिले) “जो कि बहुश्रुत एवं बहु आगमज्ञ हो” उसके समीप आलोचना करे—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे ।

यदि साम्भोगिक सार्धमी बहुश्रुत बहुआगमज्ञ साधु न दिखे (न मिले) तो जहाँ पर अन्य साम्भोगिक सार्धमिक साधु को देखे—“जो बहुश्रुत हो और बहुआगमज्ञ हो” वहाँ उसके समीप आलोचना करे—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे ।

यदि अन्य साम्भोगिक सार्धमिक बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ साधु न दिखे (न मिले) तो जहाँ पर अपने सारूप्य साधु को देखे (मिले) “जो बहुश्रुत हो और बहुआगमज्ञ हो” वहाँ उसके समीप आलोचना करे—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे ।

यदि सारूप्य साधु बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ न दिखे (न मिले) तो—जहाँ पर पश्चात्कृत (संयम त्यागी) श्रमणोपासक को देखे (मिले) जो बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ हो वहाँ उसके समीप आलोचना करे—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे ।

यदि पश्चात्कृत श्रमणोपासक बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ न दिखे (न मिले) तो जहाँ पर सम्यक् भावित ज्ञानी पुरुष (सम-भावी-स्व-पर-विवेकी सम्यक् दृष्टि व्यक्ति) को देखे (मिले) तो वहाँ उसके समीप आलोचना करे—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे ।

यदि सम्यक् भावित ज्ञानी पुरुष न दिखे (न मिले) तो प्रायः—यावत्—सन्निवेश के बाहर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख हो करतल जोड़कर मस्तक के आवर्तन करे और मस्तक पर अंजली करके इस प्रकार बोले—

“इतने मेरे दोष हैं और इतनी आर मैंने इन दोषों का सेवन किया है” इस प्रकार बोलकर अरहन्तों और सिद्धों के समीप आलोचना करे—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे ।

आलोचना सवण जोग्या—

६४६. दसहि ठाणोहि संपण्णे अणगारे अरिहति आलोयणं पडि-
स्सित्तए, तं जहा—

१. आधारवं,
२. आहारवं,

३. व्यवहारवं,

४. ओशीलए,

५. पकुव्वए,

६. अपरिस्साई,

७. निज्जावए,

८. अवायवसी,

९. पियघम्मे,

१०. दहयस्से^१ ।

—ठाणं. अ. १०, सु. ७३२

बहुआगम विज्ञाणा, समाहिउप्पायगा य गुणगाही ।

एएण कारणेणं, अरिहा आलोयणं सोउं ॥

—उत्त. अ. ३६, भा. २६२

आलोचना करण जोग्या—

६४७. दसहि ठाणोहि संपण्णे अणगारे अरिहद्द अत्तदोसं आलो-
इत्तए, तं जहा—

१. जाइसंपण्णे,

२. कुलसंपण्णे,

३. विणयसंपण्णे,

४. पाणसंपण्णे,

५. वंसणसंपण्णे,

६. चरित्तसंपण्णे,

७. खंते,

८. वंते,

९. अमायी,

१०. अयच्छाणुतावी^२

—ठाणं. अ. १०, सु. ७३२

साहम्मियाणं आलोचना तह पटुवणा विही -

६४८. दो साहम्मिया एगवओ विहरंति, एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्च-
ट्ठाणं पडिसेविता आलोएज्जा, ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं
वेयाधकिं ।

आलोचना श्रवण के योग्य—

६४६. दस स्थानों से सम्पन्न अणगार आलोचना सुनने के योग्य होता है, यथा -

(१) आधारवान्—जो ज्ञान आदि पंचाचार से युक्त हो ।

(२) आधारवान्—आलोचना लेने वाले के द्वारा आलोचना किये जाने वाले समस्त दोषों का जानने वाला हो ।

(३) व्यवहारवान् - आगम आदि पंच व्यवहारों का जानने वाला हो ।

(४) अपघ्नीक—लज्जा या संकोच छुड़ाने में कुशल हो ।

(५) प्रकुर्वक—आलोचना कराने में समर्थ हो ।

(६) अपरिग्रही—आलोचना करने वाले के दोष दूसरों के सामने प्रकट करने वाला न हो ।

(७) निर्यायक—प्रायश्चित्त के अनुसार तपाचरण कर सके ऐसा प्रायश्चित्त देने वाला हो ।

(८) अपायवर्सी—आलोचना न करने के दुष्कलों को बताने में समर्थ हो ।

(९) प्रियधर्मा - धर्म से प्रेम रखने वाला हो, धर्म में अस्पन्त अनुराग हो ।

(१०) बृद्धधर्मा—आपत्तिकाल में भी धर्म में दृढ़ रहने वाला हो ।

जो अनेक शास्त्रों के विज्ञाता, आलोचना करने वाले के मन में समाधि उत्पन्न करने वाले और गुणगाही होते हैं, वे अपने इन्हीं गुणों के कारण आलोचना सुनने के अधिकारी होते हैं ।

आलोचना करने के योग्य—

६४७. दस गुणों से युक्त आलोचना करने योग्य होते हैं, यथा—

(१) जाति सम्पन्न,

(२) कुल सम्पन्न,

(३) विनय सम्पन्न,

(४) ज्ञान सम्पन्न,

(५) दर्शन सम्पन्न,

(६) चारित्र्य सम्पन्न,

(७) धान्त,

(८) दान्त,

(९) अमायी,

(१०) अपश्चात्तापी ।

साधर्मिकों की आलोचना तथा प्रस्थापना विधि—

६४८. दो साधर्मिक साधु एक साथ विहरते हों और उनमें से यदि एक साधु किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे प्रायश्चित्त तप में स्थापित करके अन्य साधर्मिक भिक्षु को उसकी वैयावृत्य करनी चाहिए ।

१ (क) ठाणं. अ. ८, सु. ६०४

२ (क) ठाणं. अ. ८, सु. ६०४

(ख) वि. स. २५, उ. ७, सु. १६३

(ख) वि. स. २५, उ. ७, सु. १६२

दो साहस्रिण्या एगयओ विहरन्ति, दो वि ते अन्नयरं अकिच्च-
ट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एणं तत्थ कप्पाणं ठवइत्ता
एगे निव्विसेज्जा, अह पच्छा से वि निव्विसेज्जा ।

बहुते साहस्रिण्या एगयओ विहरन्ति, एगे तत्थ अन्नयरं
अकिच्चट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा ठवणिज्जं ठवइत्ता
करणिज्जं वेयावडियं ।

बहुते साहस्रिण्या एगयओ विहरन्ति, सन्वे वि अन्नयरं
अकिच्चट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एणं तत्थ कप्पाणं
ठवइत्ता अवसेसा निव्विसेज्जा, अह पच्छा से वि निव्वि-
सेज्जा ।

— वव. उ. २, सु. १-४

अणालोयणस्स अत्तज्ञाणं—

६४९. मायी णं मायं कट्ठु,

से जहाणामए—अयागरेति वा, तंवागरेति वा, सडआगरेति
वा, सीसागरेति वा, रुप्पागरेति वा, सुवण्णागरेति वा,
तिलागणीति वा, तुसागणीति वा, मुसागणीति वा, गलाग-
णीति वा, दलागणीति वा, सौंडियालिछाणि वा, बंडिया-
लिछाणि वा, गोलियालिछाणि वा, कुंभाराधाएति वा,
कवेत्तुआवाएति वा, इट्टावाएति वा, जंतयाडचुल्लोति वा,
लोहारंबरिसाणि वा ।

तत्ताणि, समजोतिभूताणि, किणुकफुल्लसमाणाणि उक्का-
सहस्साइं विणिम्मुयमाणाइं-विणिम्मुयभाणाइं, जालासहस्साइं
पमुंचमाणाइं-पमुंचमाणाइं इंगालसहस्साइं पविक्खिरमाणाइं-
पविक्खिरमाणाइं, अंतो अंतो मियायंति, एवमेव मायी मायं
कट्ठु अंतो अंतो सियाइ ।

जंवि य णं अण्णे केइ वदेति तं पि य णं मायी जाणाति,
“अहमेसे अभिसंकिज्जामि-अभिसंकिज्जामि ।”

—ठाणं. अ. ८, सु. ५९७(ग)

आलोयणा करणकारणाइं—

६५०. अट्ठाहिं ठाण्णेहिं मायी मायं कट्ठु आलोएज्जा-जाव-अहारिहं
पायच्छित्तं तथोकम्मं पडिक्खजेज्जा, तं जहा—

१. मायिस्स णं अस्सि लोए गरहिते भवति,

२. उववाए गरहिते भवति,

दो साधर्मिक साधु एक साथ विचरते हों और वे दोनों ही
साधु किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो
उनमें से एक को कल्पाक-अग्रणी स्थापित करे और एक परिहार-
तप रूप प्रायश्चित्त को वहन करे । उसका प्रायश्चित्त पूर्ण होने
के बाद वह (अग्रणी) भी प्रायश्चित्त को वहन करे ।

बहुत से साधर्मिक साधु एक साथ विचरते हों और उनमें से
एक साधु किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना
करे तो (उनमें जो प्रमुख स्थान हो वह) उसे प्रायश्चित्त वहन
करावे और दूसरे भिक्षु को उसकी वैयावृत्य के लिए नियुक्त करे ।

बहुत से साधर्मिक साधु एक साथ विचरते हों और वे सब
किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करें तो
उनमें से किसी एक को कल्पाक स्थापित करके शेष सब प्राय-
श्चित्त वहन करें । बाद में वह कल्पाक साधु भी प्रायश्चित्त
वहन करे ।

आलोचना न करने वाले का आर्तध्यान—

६४९. अकरणिय कार्य करने के बाद मायावी उसी प्रकार भीतर
ही भीतर जलता है,

जैसे—लोहे को गलाने की भट्टी, ताँबे को गलाने की भट्टी,
जस्ता को गलाने की भट्टी, शीशे को गलाने की भट्टी, चांदी को
गलाने की भट्टी, सोने को गलाने की भट्टी, तिल की अग्नि, तुष
की अग्नि, भूसा की अग्नि, नल की अग्नि, पत्ते की अग्नि,
मदिरा का चूल्हा, भण्डिका का चूल्हा, गोलिका का चूल्हा, घड़ों
का पजावा, खप्परो का पजावा, ईंटों का पजावा, गुड़ बनाने
की भट्टी, लोहकार की भट्टी,

तपती हुई, अग्निमय होती हुई, किणुक के फूल के समान
लाग होती हुई सहस्रों उल्काओं और सहस्रों ज्वालाओं को छोड़ती
हुई, सहस्रों अग्निकणों को फेंकती हुई, भीतर ही भीतर जलती
है उसी प्रकार मायावी माया करके भीतर ही भीतर जलता है ।

यदि कोई अन्य पुरुष आपस में बात करते हैं तो मायावी
समझता है कि “वे मेरे विषय में ही शंका कर रहे हैं ।”

आलोचना करने के कारण—

६५०. आठ कारणों से मायावी माया करके उसकी आलोचना
करता है—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार
करता है । जैसे—

(१) मायावी का यह लोक गहित होता है ।

(२) परलोक गहित होता है ।

३. आयाती गरहिता भवति ।^१

४. एगमवि मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा-जाव-अहारिहं
पायच्छित्तं तवोकम्मं णो पडिवज्जेज्जा णरिथ तस्स आराहणा ।

५. एगमवि मायी मायं कट्टु आलोएज्जा-जाव-तवोकम्मं
पडिवज्जेज्जा, अरिथ तस्स आराहणा ।

६. बहुओवि मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा-जाव-तवोकम्मं
णो पडिवज्जेज्जा, णरिथ तस्स आराहणा ।

७. बहुओवि मायी मायं कट्टु आलोएज्जा-जाव-तवोकम्मं
पडिवज्जेज्जा, अरिथ तस्स आराहणा ।

८. आपरिय उवज्जायस्स वा मे अतिसेसे णापवंसणे समुल्ल-
ज्जेज्जा से य सममालोएज्जा मायी णं एसे ।

—ठाणं. अ. ८, सु. ५६७(क)

आलोचना अकरण कारणाहं—

६५१. तिहि ठाणेहि मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा, णो पडि-
वकमेज्जा, णो णिवेज्जा, णो गरहेज्जा, णो विउट्टेज्जा, णो
विसोहेज्जा, णो अकरणयाए अङ्गुट्टेज्जा, णो अहारिहं
पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जेज्जा, तं जहा —

१. अकरिमु चाहं,

२. करेमि चाहं,

३. करिस्तामि चाहं,

तिहि ठाणेहि मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा-जाव-तवो-
कम्मं णो पडिवज्जेज्जा, तं जहा —

१. अकिंती वा मे सिया,

२. अवण्णे वा मे सिया,

३. अविणए वा मे सिया ।

तिहि ठाणेहि मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा-जाव-तवो-
कम्मं णो पडिवज्जेज्जा, तं जहा —

१. किंती वा मे परिहाइस्सह,

२. जसे वा मे परिहाइस्सह,^२

३. पूयासक्कारे वा मे परिहाइस्सह ।

—ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १७६

(३) भविष्य गहित होता है ।

(४) जो मायावी एक भी मायाचार करके आलोचना नहीं करता है—यावत्—तपःकर्म स्वीकार नहीं करता है, उसके आराधना नहीं होती है ।

(५) जो मायावी एक बार भी मायाचार करके उसकी आलोचना करता है—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त और तपः कर्म स्वीकार करता है, उसके आराधना होती है ।

(६) जो मायावी अनेक बार मायाचार करके उसकी आलोचना नहीं करता है—यावत्—तपःकर्म स्वीकार नहीं करता है, उसके आराधना नहीं होती है ।

(७) जो मायावी अनेक बार मायाचार करके उसकी आलोचना करता है—यावत्—तपःकर्म स्वीकार करता है, उसके आराधना होती है ।

(८) मेरे जन्मार्थ या उत्थाप्याय को अतिशय ज्ञान और दर्शन उत्पन्न हो जाय तो वे जान लेंगे कि यह मायावी है ।

आलोचना न करने के कारण—

६५१. तीन कारणों से मायावी माया करके न उसकी आलोचना करता है, न प्रतिक्रमण करता है, न निन्दा करता है, न गर्हा करता है, न श्वावृत्ति करता है, न विशुद्धि करता है, न पुनः वैसा नहीं कहेंगा ऐसा कहने को उद्यत होता है, न यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म को स्वीकार करता है । यथा—

(१) मैंने अकरणीय कार्य किया है ।

(२) मैं अकरणीय कार्य कर रहा हूँ ।

(३) मैं अकरणीय कार्य कहेंगा ।

तीन कारणों से मायावी माया करके न उसकी आलोचना करता है—यावत्—न तपःकर्म को स्वीकार करता है । यथा—

(१) मेरी अकीर्ति होगी,

(२) मेरा अवर्णवाद होगा ।

(३) मेरा अविनय होगा ।

तीन कारणों से मायावी माया करके न उसकी आलोचना करता है—यावत्—न तपःकर्म को स्वीकार करता है, यथा—

(१) मेरी कीर्ति कम हो जाएगी ।

(२) मेरा यश कम हो जायगा ।

(३) मेरा पूजा-सत्कार कम हो जायगा ।

१ ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १७६

२ ठाणं. अ. ८, सु. ५६७(क)

मालोचना अकरण फल—

६५२. मायो णं मायं कट्टु अजालोइय-अपडिक्कते कालभासे कालं किञ्चा अणत्तरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति, तं जहा—णो महिड्डिएसु-जाव-णो चिरट्ठितिएसु से णं तत्थ देवे भवइ, णो महिड्डिए-जाव-णो चिरट्ठिए ।

जावि य से तत्थ बाहिरंभंतरिया परिसा भवति, सावि य णं णो आढाति, णो परिज्जाणाति, णो महुरिहेणं आसणेणं उवणिमंतेति, भासं पि य से भासमाणस्स-जाव-वत्तारि पंच देवा अणुत्ता चैव अभुत्तेति “मा बहं देवे ! भासज-भासउ ।”

से णं ततो देवलोगाओ आउक्खएणं, भववक्खएणं, ठितिवक्खएणं, अणत्तरं चयं चइत्ता इहेव माणुस्सए भवे जाइं इमाइं कुलाइं भवन्ति, तं जहा—अंतकुलाणि वा, पंतकुलाणि वा, तुच्छ-कुलाणि वा, वरिहकुलाणि वा, भिक्खुमागकुलाणि वा, किक्खण-कुलाणि वा, तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ताए पच्चायाति ।

से णं तत्थ पुमे भवति वुरुद्धे वुवण्णे वुग्गंघे वुरसे वुफासे अणिट्ठे अंकते अणिए अमणुण्णे, हीणस्सरे, दीणस्सरे, अणिट्ठस्सरे, अंकतस्सरे, अण्णियस्सरे, अमणुण्णस्सरे, अम-णामस्सरे अण्णएज्जवयणे पच्चायाते ।

जावि य से तत्थ बाहिरंभंतरिया परिसा भवति, सावि य णं णो आढाति-जाव-वत्तारि पंच जणा अणुत्ता चैव अभु-ट्ठेति “मा बहं अज्जउत्तो । भासउ-भासउ ।”

—ठाणं. अ. ८, सु. ५६७(ब)

आलोचना करण फल—

६५३. मायो णं मायं कट्टु आलोइय पडिक्कते-जाव-चिरट्ठितिएसु । से णं तत्थ देवे भवति, महिड्डिए-जाव-चिरट्ठितिए ।

हार-विराडय वच्छे कडक-तुडित थंसित-भुए अंगव-कुंडल-मट्ट-गंडतल-कण्णपीठधारी विचित्तहत्थाभरणे, विचित्तवत्था-भरणे, विचित्तमातामउली कल्लाणग-पवर-वत्थ-परिहिते, कल्लाणग-पवर-गंध मल्लाणुलेखणंधरे-भासुरबोवो पलंस-वण-मालधरे, विव्वेणं

आलोचना न करने का फल—

६५२. कोई मायावी माया करके उसकी आलोचना या प्रतिक्रमण किये बिना ही काल-भास में काल करके किसी देवलोक में देव रूप से उत्पन्न होता है, किन्तु वह महाकृद्धि वाले—यावत्—दीर्घस्थिति वाले देव लोक में उत्पन्न नहीं होता । वह देव होता है, किन्तु महाकृद्धि वाला—यावत्—दीर्घ स्थिति वाला देव नहीं होता ।

वहाँ देवलोक में उसकी जो बाह्य और आभ्यन्तर परिषद होती है, वह भी न उसको आदर देती है, न उसे स्वामी के रूप में मानती है और न महान् व्यक्ति के योग्य आसन पर बैठने के लिए निमन्त्रित करती है । जब वह भाषण देना प्रारम्भ करता है, तब चार पाँच देव बिना कहे ही खड़े हो जाते हैं और कहते हैं—“देव ! बहुत मत बोलो, बहुत मत बोलो ।”

पुनः वह देव आयुक्षय, भवक्षय और स्थितिक्षय के अनन्तर देवलोक से च्युत होकर यहीं मनुष्य भव में जो ये अन्तकुल हैं, प्रान्तकुल हैं, तुच्छकुल हैं, दरिद्रकुल हैं, भिक्षुकुल हैं, कृपणकुल हैं, या इसी प्रकार के अन्य हीन कुल हैं, उनमें मनुष्य के रूप में उत्पन्न होता है ।

वहाँ वह कुरूप, कवर्ण, दुर्गन्ध देह वाला, अनिष्ट रस और कठोर स्पर्श वाला पुरुष होता है । वह अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ और अमनोहर होता है । वह हीनस्वर, दीनस्वर, अनिष्टस्वर, अकान्तस्वर, अप्रियस्वर, अमनोज्ञ स्वर, अरुचिकर स्वर और अनादेय वचन वाला होता है ।

वहाँ उसकी जो बाह्य आभ्यन्तर परिषद होती है वह भी उसका न आदर करती है—यावत्—चार-पाँच मनुष्य बिना कहे ही खड़े हो जाते हैं और कहते हैं—“आर्यपुत्र ! बहुत मत बोलो, बहुत मत बोलो ।”

आलोचना करने का फल—

६५३. कोई मायावी माया करके उसकी आलोचना प्रतिक्रमण कर—यावत्—दीर्घ स्थिति वाले देव लोक में उत्पन्न होता है । वहाँ वह महाकृद्धि वाला—यावत्—दीर्घ स्थिति वाला देव होता है ।

उसका वक्षःस्थल हार से सुशोभित होता है, वह भुजाओं में कड़े वृटित और बाजूबन्द पहने रहता है । उसके कानों में चंचल तथा कपोल तक कानों का स्पर्श करने वाले कुण्डल होते हैं । वह विचित्र हस्ताभरणों, विचित्र वस्त्राभरणों, विचित्र मालाओं और सेहरों वाले मांगलिक एवं उत्तम वस्त्रों को पहने हुए होता है, वह मांगलिक श्रेष्ठ सुगन्धित पुष्प और विलेपन को धारण किये हुए होता है । उसका शरीर तेजस्वी होता है, वह सम्बी लटकती हुई मालाओं को धारण किये रहता है । वह दिव्य वर्ण, दिव्य गन्ध, दिव्य

वर्णनेणं, दिव्येणं गंधेणं, दिव्येणं रसेणं, दिव्येणं फलेणं, दिव्येणं संधातेणं, दिव्येणं संठाणेणं, दिव्याए-इह्वीए, दिव्याए जुईए, दिव्याए पभाए, दिव्याए छायाए, दिव्याए अक्षीए, दिव्येणं तेएणं, दिव्याए लेसाए, वस विसाओ उज्जोवेमाणे, पभासेमाणे, मह्याहृत-णट्ट-गीत-वावित-तंती-तल-ताल-मुञ्जित-घण-मुहंग-पहुप्पाइय-सेणं-दिव्वाइं भोगभोगाइं भुजमाणे विहरइ ।

जावि य से तत्थ बाहिउत्तरिणा परिउ भवति, सावि य णं आहाइ-जाव-चत्तारि पंच देवा अणुत्ता वेव अबुद्धेति "वहुं देवे ! भासउ भासउ ।"

से णं ताओ देवलोकाओ आउक्खएणं-जाव-चइत्ता इहेव माणुस्सए मवे जाई इमाइं कुत्ताइं भवन्ति—अब्बाइं विसाइं विस्तिण्ण विउल-अवण-सयणासणं-जाणावाहणाइं बहुघण-बहुआयरूप-रययाइं आभोग-पभोग-संपउत्ताइं, विच्छडिइय पउर भक्षपाणाइं, बहुवासी-वास-गो-महिस-गवेलय-पभूयाइं, बहुअणस्स अपरिभूताइं, तहप्पगारेसु कुत्तेसु पुमत्ताए पच्चायाति ।

से णं तत्थ पुमे भवति सुक्खे, सुवण्णे, सुगंधे, सुरसे, पुफासे, इह्वे, फंते, पिए, मणुण्णे, मणाभे, अहीणस्सरे, अदीणस्सरे, इह्वस्सरे, कंतस्सरे, पियस्सरे, मणुण्णस्सरे, मणामस्सरे, आवेज्जवयणे पच्चायाते ।

जावि य से तत्थ बाहिरम्मंतरिणा परिता भवति, सा वि य णं आहाइ-जाव-चत्तारि पंच अणा अणुत्ता वेव अबुद्धेति "बहुअज्जउत्ते ! भासउ-भासउ ।"

—ठाणं. अ. ८, सु. ५६७ (४)

आलोचना फल—

६५४. प०—आलोचनाए णं भन्ते ! जीवे किं अणयइ ?

उ०—आलोचनाए णं मायानियाणं मिच्छावंसनसत्ताणं मोक्षमगगविघाणं अणन्तसंसारवज्जणं उद्धारणं करेइ । उज्जुमार्वं च णं अणयइ । उज्जुमावपडिवन्ते य णं जीवे अमाइ इत्योवेय-नपुंसगवेयं च न भन्धइ । पुणववद्धं च णं निज्जरेइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. ७

पलिउंचिय-अपलिउंचिय-आलोचयस्स पायच्छिस्त वाण विही—

६५५. जे निक्खू मासियं परिहारट्ठाणं पडितेविता आलोएज्जा,

रस, दिव्य स्पर्श, दिव्य संघात, दिव्य संस्थान और दिव्य श्रद्धि से युक्त होता है । वह दिव्य चूति, दिव्य प्रभा, दिव्य कांति, दिव्य अर्चि, दिव्य तेज और दिव्य लक्ष्म्या से दशों दिशाओं को उद्योतित करता है, प्रभासित करता है, वह नाट्यों शीतों तथा कुशल वादकों के द्वारा जोर से बजाये गये बादित्र, तंत्री, तल, ताल, मृदित, धन और मृदंग की महान ध्वनि से युक्त दिव्य भोगों को भोगता हुआ रहता है ।

वहाँ उसकी जो बाह्य आभ्यन्तर परिषद होती है वह भी उसका आदर करती है—यावत्—चार पाँच देव बिना कहे ही खड़े होकर कहते हैं—“देव ! अधिक बोलिए और अधिक बोलिए ।”

पुनः वह देव आयुक्षय—यावत्—देवलोक से च्युत होकर यहाँ मनुष्य भव में सम्पन्न दीप्त विस्तीर्ण और विपुल भवन, मयन, आसन, यान और वाहन वाले, बहुधन, बहु सुवर्ण और बहु चांदी वाले आयोग और प्रयोग में संप्रयुक्त अवशेष प्रचुर भक्तपान का सदा त्याग करने वाले, अनेक दासी-दास गाय-भैंस, भेड़ आदि रखने वाले और बहुत व्यक्तियों के द्वारा अपराजित ऐसे उच्च कुलों में मनुष्य के रूप में उत्पन्न होता है ।

वहाँ वह सुख, सुवर्ण, सुगन्ध और सुस्पर्श वाला होता है । वह दृष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मन के लिए मग्न होता है । वह उच्च स्वर, प्रखर स्वर, दृष्ट स्वर, कान्त स्वर, प्रिय स्वर, मनोज्ञ स्वर, सचिकार स्वर और आदेय वचन वाला होता है ।

वहाँ पर उसकी जो बाह्य आभ्यन्तर परिषद होती है, वह भी उसका आदर करती है—यावत्—चार पाँच मनुष्य बिना कहे ही खड़े हो जाते हैं और कहते हैं—“हे आर्यपुत्र ! और अधिक बोलिए और अधिक बोलिये ।”

आलोचना करने का फल—

६५४. प्र०—भन्ते ! आलोचना करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—आलोचना से वह अनन्त संसार को बढ़ाने वाले, मोक्षमार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले, माया, निदान तथा मिथ्या दर्शन-शून्य को निकाल फेंकता है और ऋजु-भाव को प्राप्त होता है, ऋजु भाव को प्राप्त हुआ व्यक्ति अमायी होता है, इसलिए वह स्त्री वेद और नपुंसक वेद कर्म का बन्ध नहीं करता और यदि वे पहले बन्धे हुए हों तो उनका क्षय कर देता है ।

कपट सहित तथा कपट रहित आलोचक को प्रायश्चित्त देने की विधि—

६५५. जो भिक्षु एक बार मासिक-परिहारस्थान की प्रतिनिधता

अपलिङ्घिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिङ्घिय आलोए-
माणस्स वोमासियं ।

ये मियाधू दो मासियं परिहृण्णानं पदितेविता आलोएक्या,
अपतिवंचिय आलोएमाणस्स दो मासियं, पलित्वंचिय आलो-
एमाणस्स तेमासियं ।

जे भिक्षू तेमासियं परिहृणं पडिसेविता आलोएज्जा,
अपलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचिय आलो-
एमाणस्स आउम्मासियं ।

जे भिवसू खाडम्मासियं परिहारद्वयं पडिसेवित्ता आलो-
एउजा-अपलिउंच्चिय आलोएमाणस्स खाडम्मासियं, पलिउं-
च्चिय आलोएमाणस्स पंचमासियं ।

जे भिक्खू पंचमासियं परिहारद्वानं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
अपसिउंघिय आलोएमाणस्स पंचमासियं पलिउंघिए आलो-
एमाणस्स छम्मासियं ।

तेषां परं पलिङ्गिणं वा, अपलिङ्गिणं वा ते यैव छम्नाता ।

जे भिषखू बहुसो धि मासियं परिहरट्टाणं पडिसेवित्ता आलो-
एज्जा, अपलिउंच्चिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंच्चिय
आलोएमाणस्स वो मासियं ।

जे मिकळू बहुसो बि दो नासियं परिहारद्वानं पडिसेबिता
आलोएउआ, अपलिउंविथ आलोएमाणस्त दो नासियं,
पलिउंचिय आलोएमाणस्त तेमासियं ।

जे भिक्षू बहुसो वि ते मासियं परिहारद्वानं पडिसेवित्ता
आलोएज्जा, अपलिउच्चिय आलोएमाणस्स ते मासियं, पलि-
उच्चिय आलोएमाणस्स आउम्मासियं ।

जे भिषक् बहसो वि चाउम्मासियं परिहारद्वणं यद्विसेवित्ता
आलोएज्जा, अपलिउंघिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं,
पलिउंघिय आलोएमाणस्स पंचमासियं ।

करके आलोचना करे तो उसे माया-रहित आलोचना करने पर एक मास का प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर दो मास का प्रायश्चित्त आता है ।

जो भिक्षु एक बार द्विमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे माया रहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

जो भिक्षु एक बार त्रैमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे माया-रहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है। और माया-सहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जो भिक्षु एक बार चातुर्मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे माया-रहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर पञ्चमासिक प्रायश्चित्त आता है।

जो भिक्षु एक बार पंचमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे माया-रहित आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है ।

इसके उपरान्त माया-सहित या माया-रहित आलोचना करने पर भी वही धार्मिक प्रायश्चित्त आता है।

जो भिक्षु अनेक बार मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे माया-रहित आलोचना करने पर एक मास का प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

जो विश्व अनेक बार द्विमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे माया-रहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

जो भिक्षु अनेक धार त्रैमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे माया-रहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जो भिक्षु अनेक बार चातुर्मासिक परिहारस्थान की प्रति-
 सेवना करके आलोचना करे तो उसे माया-रहित आलोचना
 करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित
 आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

अपलिङ्चिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा, साइरेग-
चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा,

पलिङ्चिय आलोएमाणस्स पंचमासियं वा, साइरेग-पंच-
मासियं वा, छम्मासियं वा ।

तेण परं पलिङ्चिए वा, अपलिङ्चिए वा ते चेव छम्मासा ।^१

—वव. उ. १, सु. १-१४

पटुवणाए पडिसेवणाकर्णे आरोपणा—

६५५. जे भिक्षू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा,
पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसि परिहारट्टा-
णाणं अण्णवरं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएम्मा—

अपलिङ्चिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं
वेयावज्जियं ।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयब्बे
सिया ।

१. पुब्बि पडिसेवियं पुब्बि आलोइयं,
२. पुब्बि पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
३. पच्छा पडिसेवियं पुब्बि आलोइयं,
४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
१. अपलिङ्चिए अपलिङ्चियं,

२. अपलिङ्चिए पलिङ्चियं,

३. पलिङ्चिए अपलिङ्चियं,

४. पलिङ्चिए पलिङ्चियं,

आलोएमाणस्स सध्वमेयं सकयं साहणियं आरुहेयब्बे,

जे एयाए पटुवणाए पटुविए निब्बिसमाणे पडिसेवेइ, ते वि
कसिणे तत्थेव आरुहेयब्बे सिया ।

माया-रहित आलोचना करने पर आरोपित परिहारस्थान के
अनुसार चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक
या कुछ अधिक पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और

माया-सहित आलोचना करने पर पंचमासिक या कुछ अधिक
पंचमासिक या छमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

इसके उपरान्त माया-सहित या माया-रहित आलोचना
करने पर वही छह मासिक प्रायश्चित्त आता है ।

प्रस्थापना में प्रतिसेवना करने पर आरोपणा—

६५६. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंच-
मासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—इन परिहारस्थानों में से
किसी एक परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलो-
चना करे तो उसे—

माया-रहित आलोचना करने पर आरोपित प्रतिसेवना के
अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करके उसकी
योग्य वैयावृत्य करनी चाहिये ।

यदि वह परिहार तप रूप में स्थापित होने पर भी किसी
प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व
प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिये ।

- (१) पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
- (२) पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,
- (३) पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
- (४) पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे से आलोचना की हो ।

(१) माया-रहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
रहित आलोचना की हो,

(२) माया-रहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
सहित आलोचना की हो,

(३) माया-सहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
रहित आलोचना की हो,

(४) माया-सहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
सहित आलोचना की हो ।

इनमें से किसी भी प्रकार के भंग से आलोचना करने पर
उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को संयुक्त करके पूर्व-
प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए ।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर बहुत
करते हुए भी पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका
सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देना
चाहिए ।

जे भिक्षू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएब्बा,

पलित्ठं चियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयब्बे सिया ।

१. पुत्थिं पडिसेवियं पुत्थिं आलोइयं,
२. पुत्थिं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
३. पच्छा पडिसेवियं पुत्थिं आलोइयं ।
४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ।
१. अपलित्ठं चिए अपलित्ठं चियं,

२. अपलित्ठं चिए पलित्ठं चियं,

३. पलित्ठं चिए अपलित्ठं चियं,

४. पलित्ठं चिए पलित्ठं चियं ।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणियं आरुहेयब्बे

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निविज्जसमाणे पडिसेविए से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयब्बे सिया ।

जे भिक्षू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा, एएसं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएब्बा—

अपलित्ठं चियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।

ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयब्बे सिया ।

१. पुत्थिं पडिसेवियं पुत्थिं आलोइयं,

जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंच-मासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

माया-सहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिए ।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए ।

- (१) पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
- (२) पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,
- (३) पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
- (४) पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो ।
- (१) माया-रहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-रहित आलोचना की हो,
- (२) माया-रहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-सहित आलोचना की हो,
- (३) माया-सहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-रहित आलोचना की हो,
- (४) माया-सहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-सहित आलोचना की हो ।

इनमें से किसी भी प्रकार के भंग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को संयुक्त करके पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए ।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देना चाहिए ।

जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंच-मासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

माया-रहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिए ।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए ।

- (१) पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,

२. पुर्वि पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
३. पच्छा पडिसेवियं पुर्वि आलोइयं,
४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ।
१. अपलिउन्चिए अपलिउन्चियं,

२. अपलिउन्चिए पलिउन्चियं,

३. पलिउन्चिए अपलिउन्चियं,

४. पलिउन्चिए पलिउन्चियं ।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहुणियं आरुहेयम्भे ।

जे एपाए पट्ठरणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से कसिणे तत्थेव आरुहेयम्भे सिया ।

जे भिक्खु बहुसो वि चाउम्मासियं वा बहुसो वि साइरेण-
चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि
साइरेण पंचमासियं वा एएसि परिहारट्ठानाणं अन्नयरं
पडिसेवित्ता आलोएज्जा,
पलिउन्चिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवदत्ता करणिज्जं वेया-
वडियं ।

ठाविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयम्भे
सिया ।

१. पुर्वि पडिसेवियं पुर्वि आलोइयं,
२. पुर्वि पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
३. पच्छा पडिसेवियं पुर्वि आलोइयं,
४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
१. अपलिउन्चिए अपलिउन्चियं,

२. अपलिउन्चिए पलिउन्चियं,

३. पलिउन्चिए अपलिउन्चियं,

४. पलिउन्चिए पलिउन्चियं ।

(२) पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,

(३) पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,

(४) पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो ।

(१) माया-रहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
रहित आलोचना की हो,

(२) प्राया-रहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
सहित आलोचना की हो,

(३) माया-सहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
रहित आलोचना की हो,

(४) माया-सहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
सहित आलोचना की हो ।

इन्में से किसी भी प्रहार के भंग से आलोचना करने पर
उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त संयुक्त करके पूर्व प्रदत्त
प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए ।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर
वहन करते हुए भी पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो
उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित
कर देना चाहिए ।

जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंच-
मासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—इन परिहारस्थानों में से
किसी एक परिहारस्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलो-
चना करे तो उसे

माया-सहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के
अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करके उसकी
योग्य वैयावृत्त्य करनी चाहिए ।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार
की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त
प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए ।

(१) पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,

(२) पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,

(३) पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,

(४) पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो ।

(१) माया-रहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
रहित आलोचना की हो,

(२) माया-रहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
सहित आलोचना की हो,

(३) माया-सहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
रहित आलोचना की हो,

(४) माया-सहित आलोचना करने का संकल्प करके माया-
सहित आलोचना की हो ।

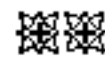
आलोचनास्त सव्यमेयं सकयं साहणियं आरुहेयम्,

जे एयाए पट्टवणाए पट्टविए निव्विसमाणे पडिसेवेह, से वि
कसिणे तत्तेव आरुहेयम्भे सिया^१ ।

—वव. उ. १, सु. १५-१८

इनमें से किसी भी प्रकार के भंग से आलोचना करने पर
उसके सर्व स्वकृत अपराध प्रायश्चित्त को संयुक्त करके पूर्व प्रदत्त
प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए ।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर बहन
करते हुए भी पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका
सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर
देना चाहिए ।



आलोचना और प्रायश्चित्त—१(घ)

अवसेव-कराणं पायच्छित्तं—

६५७ कप्पस्स छ पत्थरा पण्णात्ता, तं जहा—

१. पाणादवायस्स वायं वयमाणे,
२. मुसावायस्स वायं वयमाणे,
३. अबिधावाणस्स वायं वयमाणे,
४. अविरइवावायं वयमाणे,
५. अपुरिस्सवायं वयमाणे,
६. वासवायं वयमाणे ।

इच्छेए छ कप्पस्स पत्थारे पत्थरेत्ता सम्मं अप्पडिपूरेमाणे
तट्ठाण पत्ते सिया ।^२

—कप्प. उ. ६, सु. २

अणुघादय पायच्छित्तारिहा—

६५८. पंच अणुघादया पण्णात्ता, तं जहा—

१. हृत्थ कम्मं करेमाणे,
२. मेहुणं पडिसेवेमाणे,
३. राई भोयणं भुंजमाणे^३,
४. सागारियपिडं भुंजमाणे,
५. रायपिडं भुंजमाणे । —ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४१४

अणवठप्प पायच्छित्तारिहा—

६५९. तओ अणवठप्पा पण्णात्ता, तं जहा—

- १ नि. उ. २०, सु. १७-२०
- २ ठाणं. अ. ६, सु. ५२८
- ३ (क) ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २०३

आक्षेप लगाने वालों की प्रायश्चित्त—

६५७. कप्प साधवाचार के छह विशेष प्रकार के प्रायश्चित्त स्थान
कहे गये हैं । यथा—

- (१) प्राणात्तिपात का आरोप लगाये जाने पर ।
- (२) मृषावाद का आरोप लगाये जाने पर,
- (३) अदत्तादान का आरोप लगाये जाने पर,
- (४) ब्रह्मचर्य भंग करने का आरोप लगाये जाने पर,
- (५) नपुंसक होने का आरोप लगाये जाने पर,
- (६) दास होने का आरोप लगाये जाने पर,

संयम के इन विशेष प्रायश्चित्त स्थानों का आरोप लगाकर
उसे सम्यक् प्रमाणित नहीं करने वाला साधु उसी प्रायश्चित्त
स्थान का भागी होता है ।

अनुदघातिक प्रायश्चित्त के योग्य—

६५८. पांच अनुदघातिक (गुरु) प्रायश्चित्त के योग्य कहे हैं,
यथा—

- (१) हस्तकर्म करने वाला,
- (२) मैथुन-सेवन करने वाला,
- (३) रात्रि भोजन करने वाला,
- (४) शय्यातर पिण्ड को खाने वाला,
- (५) राजपिण्ड को खाने वाला ।

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य—

६५९. तीन अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य कहे गये हैं, यथा —

(ख) कप्प. उ. ४, सु. १

१. साहम्मियानं लेणं करेमाणे,

२. अण्णधम्मियानं लेणं करेमाणे,

३. हस्ततालं दलयमाणे ।^१ — ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २०३

अणवठप्प-गिलाणस्स-लहुपायच्छित्त-दाण-विहाणं—

६६०. अणवठप्पं भिक्षुं गिलायमाणं तो कप्पइ तस्स गणावच्छेद-
यस्स निज्जुहत्तए । अगिलाए तस्स करणियं वेपावडियं,
जाव-तओ रोगायकाआ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स
अहाल्लुसए नामं वव्हारे पट्टवियव्वे सिखा ।

—वव. उ. २, सु. ७

छेओवट्टावणा पायच्छित्तारिहा—

६६१. भिक्षु य गणाओ अथक्कम्म ओहावेज्जा, से य हच्छेज्जा
वोक्खं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्तानं विहरित्तए, नत्थि यं
तस्स तप्पसियं केइ छेए वा परिहारे वा, नअस्य एगाए
छेओवट्टावणियाए ।

—वव. उ. १, सु. ३२

पारंक्षिय पायच्छित्तारिहा—

६६२. पंचहिं ठाणेहिं समणे निगंवे साहम्मियं पारंक्षितं करेमाणे
णातिक्कमति, तं जहा—

१. कुत्ते वसति कुत्तस्स भेदाए अब्भुट्ठेत्ता भवति ।

२. गणे वसति गणस्स भेदाए अब्भुट्ठेत्ता भवति ।

३. हिंसप्येहि,

४. छिद्रप्येही,

५. अभिक्खणं अभिक्खणं पसिणाधतणाइं पउजित्ता भवति ।

—ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६८

तओ पारंक्षिया पणत्ता, त जहा—

१. बुट्ठे पारंक्षिए,

२. पमत्ते पारंक्षिए,

३. अन्नमन्नं करेमाणे पारंक्षिए ।^२

—ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २०३

(१) साधमिकों की चोरी करने वाला,

(२) अन्यधर्मिकों की चोरी करने वाला,

(३) हस्तताल देने वाला अर्थात् भारक प्रहार करने वाला ।

अनवस्थाप्य ग्लान भिक्षु को लघु प्रायश्चित्त देने का
विधान—

६६०. अनवस्थाप्य भिक्षु (नवमा प्रायश्चित्त को वहन करने
वाला साधु) यदि रोगादि से पीड़ित हो जाये (उस प्रायश्चित्त
को वहन न कर सके) तो उसे गण से बाहर करना नहीं कल्पता
है किन्तु जब तक वह रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी
अग्लान भाव से धैर्यावृत्य करानी चाहिए । बाद में (गणावच्छेदक)
उस अनवस्थाप्य साधु को अल्प प्रायश्चित्त दें ।

छेदोपस्थापनीय प्रायश्चित्त के योग्य—

६६१. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर संयम का त्याग कर दे
और बाद में वह उसी गण को स्वीकार कर रहना चाहे तो
उसके लिए केवल "छेदोपस्थापना" प्रायश्चित्त है इसके अति-
रिक्त उसे दीक्षा-छेद या परिहार तप आदि कोई प्रायश्चित्त
नहीं है ।

पाराज्विक प्रायश्चित्त के योग्य —

६६२. पाँच कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ अपने साधमिक को पारा-
ज्वित्त (दसवाँ) प्रायश्चित्त देता हुआ भगवान् की आज्ञा का
अतिक्रमण नहीं करता है । जैसे—

(१) जो साधु जिस कुल में रहता है, उसी में भेद डालने
का प्रयत्न करता है ।

(२) जो साधु जिस गण में रहता है, उसी में भेद डालने
का प्रयत्न करता है ।

(३) जो साधु कुल या गण के सदस्यों का घात करना
चाहता है ।

(४) जो कुल या गण के सदस्यों का एवं अन्य जनों का
छिद्रान्वेषण करता है ।

(५) जो बार-बार अंगुष्ठ आदि प्रश्न विद्याओं का प्रयोग
करता है ।

पाराज्विक प्रायश्चित्त के पात्र ये तीन कहे गये हैं, यथा —

(१) दुष्ट पाराज्विक,

(२) प्रमत्त पाराज्विक,

(३) परस्पर मैथुनसेवी पाराज्विक ।

१ (क) कप्प. उ. ४, सु. ३

२ कप्प. उ. ४, सु. २

(ख) ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २०३

पारंक्षिय गिलाणस्स लहपायच्छित्त-दाण-विहाणं —

६६३. पारं चियं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेद-
यस्स निज्जुहितए । अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं,
-जाव तओ रोगायकाओ बिप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहा-
ल्लसए नामं व्यवहारे पट्ठविमग्गे सिया ।

—बब. उ. २, सु. ८

लहृवायश्चित्त जोग्गा —

६६४. क्षित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेद-
यस्स निब्बूहिण्णए अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं,
-जाव-तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहा-
लहसए नामं ववहारे पढ्ठवियम्भे सिया ।

द्वित्वित्तं भिक्खुं गिलाथमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेद-
यस्स निज्जुह्तिअए अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं,
-जाव-तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहा-
सहसए नामं अवहारे पट्ठवियग्गे सिया ।

जक्खाइदुठं भिक्षुं गिंसायमाणं नो कप्पइ तस्स गणाक्खेइ-
यस्स निज्झूहिस्सए । अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं,
-जाव-तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहा-
ल्लहसए नामं बवहारे पठविमब्बे सिंथा ।

उन्माय-पत्तं शिवस्त्रुं गिलायभाणं नो कप्यद् तस्स गगावच्छे-
द्वयस्स निज्जुह्तिण्ण । अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं,
-जाव-सओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहा-
ल्लसए नामं पवहारे पट्ठवियस्से सिया ।

चक्रसङ्ग-पत्तं विस्त्रुं गिलायमाणं नो कल्पद तस्स यण.कच्छे-
इयस्स निज्जूहितए । अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं,
-जाव-तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहा-
लहसए नामं व्यवहारे पठ्ठवियस्से सिया ।

साहिगरणं भिषकुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेद-
यस्स निज्झहिस्सए अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयाषड्ढियं,
-जात्र-तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहा-
लहसए नामं व्यवहारे पट्ठवियस्वे सिया ।

पारंरित रलान भिक्षु को लधु प्रायश्चित्त देने का विधान -

६६३. पारंश्चित भिक्षु (दशवें प्रायश्चित्त तप को बहन करने वाला साधु) यदि रोगादि से पीड़ित हो जाय (उस प्रायश्चित्त को बहन न कर सके) तो गणावच्छेदक को उसे गण से बाहर करना नहीं कल्पता है । किन्तु जब तक वह रोग आतंक से मुक्त न हो जाय तब तक उसकी अस्थान भाव से वैवावृत्य करानी चाहिए । बाद में (गणावच्छेदक) उस पारंश्चित भिक्षु को बत्यल्प प्रायश्चित्त दें ।

लघु प्रायश्चित्त के योग्य—

६६४. विशिष्ट चित्त ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है । जब तक वह उस रोग आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए । उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे ।

दिष्ट चित्त गलान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है । जब तक वह उस रोग आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अगलान भाव से सेवा करानी चाहिए । उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे ।

यक्षाविष्ट ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है । जब तक वह उस रोग आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए । उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करें ।

उन्माद प्राप्त ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है । जब तक वह उस रोग आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए । उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे ।

एगसर्ग प्राप्त ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कलगा है । जब तक वह उस रोग आर्तक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए । उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे ।

कलह युक्त ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है । जब तक वह उस रोग आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए । उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे ।

सपायच्छित्तं भिक्षुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छे-
इयस्स निज्जुहत्तए । अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं,
-जाव-तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा अहालहु-
सए नामं ववहारे पट्ठवियन्वे सिया ।

भत्तपाणपडियाडक्खिमं भिक्षुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स
गणावच्छेइयस्स निज्जुहत्तए । अगिलाए तस्स करणिज्जं
वेयावडियं, -जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियन्वे सिया ।

अट्ठ-जायं भिक्षुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छे-
इयस्स निज्जुहत्तए । अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं,
-जाव-तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहा-
लहुसए नामं ववहारे पट्ठवियन्वे सिया ।

—वव. उ. २, सु. १-१७

पायच्छित्त फल—

६६५. प०—पायच्छित्त-करणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—पायच्छित्तकरणेणं पापकम्म विसोहिं जणयइ, निरइ-
यारे पावि भवइ । सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिबज्ज-
माणे सम्मं च सम्मफलं च विसोहेइ, आयारं च आधार
फलं च आराहेइ । —उत्त. अ. २१, सु. १८

अत्त-निंदा-फलं—

६६६. प०—निन्दणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—निन्दणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ । पच्छाणुतावेणं
विरज्जमाणे करणगुणसेहिं पडिबज्जइ । करणगुणसेहो
पडिबन्ते य णं अणगारे सोहणिज्जं कम्म उग्घाएइ ।

—उत्त. अ. २१, सु. ८

तिविहा गरहा —

६६७. तिविहा गरहा पणत्ता, तं जहा —

१. मणसा वेगे गरहति,
२. वयसा वेगे गरहति,
३. कायसा वेगे गरहति—पावाणं कम्माणं अकरणयाए ।

अहवा-गरहा तिविहा पणत्ता तं जहा—

१. कीहंपेगे अहं गरहति,

प्रायश्चित्त प्राप्त ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना
उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है । जब तक वह उस रोग
आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी
चाहिए । उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त में
प्रस्थापित करे ।

भक्त प्रत्याख्यानी ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना
उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है । जब तक वह उस रोग
आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी
चाहिए । उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त में
प्रस्थापित करे ।

प्रयोजनाविष्ट (आकांक्षा युक्त) ग्लान भिक्षु को गण से
बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है । जब तक
वह उस रोग आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव
से सेवा करानी चाहिए । उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प
प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे ।

प्रायश्चित्त का फल —

६६५. प्र०—भन्ते ! प्रायश्चित्त करने से जीव क्या प्राप्त
करता है ?

उ०—प्रायश्चित्त करने से वह पापकर्म की विशुद्धि करता
है और निरतिचार हो जाता है । सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त
स्वीकार करने वाला बीतराग मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्ग-फल
(ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चरित्र) और आचार
फल (मुक्ति) की आराधना करता है ।

आत्मनिंदा का फल—

६६६. प्र०—भन्ते ! आत्म-निंदा ! से जीव क्या प्राप्त
करता है ?

उ०—आत्म-निंदा से वह पश्चात्ताप को प्राप्त होता है ।
पश्चात्ताप से वैराग्य को प्राप्त होता हुआ वह जीव क्षपक श्रेणी
को प्राप्त होता है । क्षपक श्रेणी को प्राप्त हुआ अनगार मोह-
नीय कर्म को क्षीण कर देता है ।

अनेक प्रकार की गर्हा—

६६७. गर्हा तीन प्रकार की कही गई है, यथा—

पाप कर्मों को नहीं करने के लिए—

- (१) कोई मन से गर्हा करते हैं,
- (२) कोई वचन से गर्हा करते हैं,
- (३) कोई काया से गर्हा करते हैं ।

अथवा गर्हा तीन प्रकार की कही गई है—

पाप कर्मों को नहीं करने के लिए—

- (१) कोई दीर्घकाल तक पाप-कर्मों की गर्हा करते हैं,

२. रहस्यपेगे अर्द्धं गरहति,

३. कार्यपेगे पञ्चसाहरति—पापानां कर्मानां अकरणात् ।

—ठाणं. अ. ३, उ. १, सु. १३५

सचञ्चिहा गरहा पणत्ता, तं अहा—

१. उवसंपज्जाभिस्सेगा गरहा,

२. चित्तिगिच्छामिस्सेगा गरहा,

३. जं किञ्चिमिच्छामिस्सेगा गरहा,

४. एवं पि पणत्तेगा गरहा ।

—ठाणं. अ. ४, उ. २, सु. २८८

अत्त गरहणा फलं—

६६८. प०—गरहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—गरहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ । अपुरक्कारणाए णं जीवे अपसत्थेहिंती, जोगेहिंती निमत्तेइ पसत्थे य पवत्तइ । पसत्थजोगपडिक्खन्ते य णं अणगारे अणत्त घाइपज्जवे खवेइ । —उत्त. अ. २६ सु. ६

(२) कोई अल्प काल तक पाप-कर्मों की गृही करते हैं,

(३) कोई काया को पापकर्म से निवृत्त कर लेते हैं ।

गृही पाप-कर्मों की कही गई है । जैसे—

(१) अपने दोष को निवेदन करने के लिए गुरु के समीप जाऊँ इस प्रकार का विचार करना, यह एक गृही है ।

(२) अपने निन्दनीय दोषों का निराकरण करूँ इस प्रकार का विचार करना, यह दूसरी गृही है ।

(३) जो कुछ मैंने असद् आचरण किया है, वह मेरा मिथ्या हो, इस प्रकार के विचार से प्रेरित हो ऐसा कहना यह तीसरी गृही है ।

(४) ऐसा भी भगवान् ने कहा है कि अपने दोष की गृही करने से दोषों की शुद्धि होती है, ऐसा विचार करना यह चौथी गृही है ।

आत्म गृही का फल—

६६८. प्र०—भन्ते ! आत्म-गृही से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—आत्म गृही से वह जीव अवज्ञा को प्राप्त होता है । अवज्ञा को प्राप्त हुआ जीव अप्रशस्त प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है और प्रशस्त प्रवृत्तियों को अंगीकार करता है । प्रशस्त योगों से युक्त हुआ अनगार आत्मा के अनन्त ज्ञान दर्शनादि की बात करने वाली कर्म पथियों को क्षीण कर देता है ।



पारिहारिक तप—१ (उ)

पारिहारिक-अपारिहारिकानां निसेज्जाइ व्यवहारो—

६६९. बहुवे पारिहारिया बहुवे अपारिहारिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए, नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छिता एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए ।

कप्पइ णं थेरे आपुच्छिता एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए ।

थेरा य णं विथरेज्जा, एवं कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए ।

थेरा य णं विथरेज्जा, एवं णं नो कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए ।

पारिहारिक और अपारिहारिकों का निषद्यादि व्यवहार—

६६९. अनेक पारिहारिक भिक्षु और अनेक अपारिहारिक भिक्षु यदि एक साथ रहना या बैठना चाहें तो स्थविर भिक्षु को पूछे बिना एक साथ रहना या एक साथ बैठना नहीं कल्पता है ।

स्थविर भिक्षु को पूछ करके ही वे एक साथ रह सकते हैं या बैठ सकते हैं ।

यदि स्थविर भिक्षु आज्ञा दें तो उन्हें एक साथ रहना या एक साथ बैठना कल्पता है ।

स्थविर भिक्षु आज्ञा न दें तो उन्हें एक साथ रहना या बैठना नहीं कल्पता है ।

जो णं येरेहि अविद्वान्, अभिनित्तेज्जं वा अभिनिसीहिं वा
चेएइ, से संतथा छेए वा परिहारे वा ।

—बव. उ. १, सु. १६

पारिवारिक-अपारिवारिकों अणमणं आहारं व्यवहारं—

६७०. बह्वे पारिवारिया बह्वे अपारिवारिया इच्छेज्जा एगयओ
एगमासं वा, दुमासं वा, तिसासं वा, चाउमासं वा, पंचमासं
वा वत्थए । ते अन्नमन्नं संभुजंति, अन्नमन्नं नो संभुजंति ।
मासंते, तओ-पच्छा सव्वे वि एगयओ संभुजंति ।

परिवार-कप्पट्टियस्स भिक्षुस्स नो कप्पइ असणं वा-आव-
सादमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा ।

येरा य णं वएज्जा—'इमं ता अज्जो ! तुमं एएसि देहि वा
अणुप्पदेहि वा,'

एवं से कप्पइ दाउं वा, अणुप्पदाउं वा ।

कप्पइ से लेवं अणुजाणावेत्तए,

“अणुजाणह भंते ! लेवाए”

एवं से कप्पइ सेवं समासेवित्तए ।

परिवार-कप्पट्टिए भिक्षू सएणं पडिग्गहेणं बहिया अप्पणो
वेयावाडयाए गच्छेज्जा, येरा य णं वएज्जा ।

“पडिग्गाहेहि अज्जो ! अहं पि भोक्खामि वा पाहामि वा,”

एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

तस्य नो कप्पइ अपरिवारिएणं परिवारियस्स पडिग्गाहंसि
असणं वा-आव सादमं वा भोत्तए वा पायए वा ।

कप्पइ से सयंसि वा, पडिग्गहंसि, सयंसि वा पत्तासगंसि,
सयंसि वा कमण्डलगंसि, सयंसि वा खुम्भगंसि वा, सयंसि
वा पाणिसि उद्धट्ठ-उद्धट्ठ भोत्तए वा पायए वा ।

एस कप्पो अपरिवारियस्स परिवारियाओ ।

यदि स्थविर की आज्ञा के बिना वे एक साथ रहें या बैठें
तो उन्हें उस मर्यादा उल्लंघन का दोषा छेद या परिहार तप
प्रायश्चित्त जाता है ।

पारिवारिक और अपारिवारिकों के परस्पर आहार
सम्बन्धी व्यवहार—

६७०. अनेक पारिवारिक और अनेक अपारिवारिक भिक्षु यदि
एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः मास पर्यन्त एक साथ रहना
चाहें तो पारिवारिक भिक्षु पारिवारिक भिक्षु के साथ और
अपारिवारिक भिक्षु अपारिवारिक भिक्षु के साथ बैठकर आहार
कर सकते हैं और पारिवारिक भिक्षु अपारिवारिक भिक्षु के साथ
बैठकर आहार नहीं कर सकते हैं, किन्तु छः मास तप के और
एक मास पारणे का बीतने पर वे सभी (पारिवारिक और अपारि-
वारिक) भिक्षु एक साथ बैठकर आहार कर सकते हैं ।

अपारिवारिक भिक्षु को पारिवारिक भिक्षु के लिए अशन
—यावत्—स्वादिम आहार देना या निमन्त्रण करके देना नहीं
कल्पता है ।

यदि स्थविर कहे कि—“हे आर्य ! तुम इन पारिवारिक
भिक्षुओं को यह आहार दो या निमन्त्रण कर के दो ।”

ऐसा कहने पर उसे आहार देना या निमन्त्रण करके देना
कल्पता है ।

परिवार कल्पस्थित भिक्षु यदि लेप (घृतादि विकृति) लेना
चाहे तो स्थविर की आज्ञा से उसे लेना कल्पता है ।

“हे भगवन् ! मुझे घृतादि विकृति लेने की आज्ञा प्रदान
करें ।”

इस प्रकार स्थविर से आज्ञा लेने के बाद उसे घृतादि विकृति
का सेवन करना कल्पता है ।

परिवारकल्प में स्थित भिक्षु अपने पात्रों को ग्रहण कर
अपने लिए आहार लेने जावे, उसे जाते हुए देखकर स्थविर
कहे कि—

“हे आर्य ! मेरे योग्य आहार पानी भी लेते आना मैं भी
खाऊँगा पिऊँगा ।”

ऐसा कहने पर उसे स्थविर के लिए आहार लाना
कल्पता है ।

अपारिवारिक स्थविर को पारिवारिक भिक्षु के पात्र में
अशन—यावत्—स्वादि खाना पीना नहीं कल्पता है ।

किन्तु उसे अपने ही पात्र में, पलासक में, जलपात्र में, दोनों
हाथ में या एक हाथ में ले-ले कर खाना-पीना कल्पता है ।

यह अपारिवारिक भिक्षु का पारिवारिक भिक्षु की अपेक्षा से
आचार कहा गया है ।

परिहारकल्पद्विष्टे भिक्षू धेराणं पडिग्गहेणं बहिमा धेराणं
वेयावडियाए गच्छेज्जा धेरा य णं वएज्जा—

“पडिग्गहेहि अज्जो ! तुमपि पच्छा भोक्खसि वा पाहिसि
वा”

एवं से कप्पइ पडिग्गहेत्तए ।

तस्य नो कप्पइ परिहारिणं अपरिहारियस्स पडिग्गहंसि
असणं वा-जाव-साइमं वा भोसए वा पायए वा ।

कप्पइ से सयंसि वा पडि गहंसि, सयंसि वा पलासगंसि,
सयंसि वा कमण्डलगंसि, सयंसि वा खुब्बगंसि, सयंसि वा
पाणिसि उड्ढट्ठ-उड्ढट्ठ भोसए वा पायए वा ।

एस कप्पो परिहारियस्स अपरिहारियाओ ।

—त्र. उ. २, सु. २७-३०

परिहारकल्पद्विष्टस्स गिलाणस्स तहु पायच्चित्त दाण
विहाणं—

६७१. परिहार-कल्पद्विष्टे भिक्षू गिलाणमाणे अन्नयरं अकिच्च-
ट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

१. से य संथरेज्जा ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।

२. से य नो संथरेज्जा अणुपरिहारिणं तस्स करणिज्जं
वेयावडियं ।

३. से य संते बले अणुपरिहारिणं कीरमाणं वेयावडियं
साइज्जेज्जा, से वि कसिणे तथेव आरुहेयस्से सिया ।

परिहार-कल्पद्विष्टं भिक्षू गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स
गणावच्छेदयस्स निज्जुहत्तए । अगित्ताए तस्स करणिज्जं
वेयावडियं, -जाव-तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को । तओ
पच्छा तस्स अहालहुसए नामं बवहारे पट्ठवियस्से सिया ।

—त्र. उ. २, सु. ५-६

परिहारकल्पद्विष्टे भिक्षू बहिमा धेराणं वेयावडियाए
गच्छेज्जा, से य आहस्स अइक्कमेज्जा, तं च धेरा जाणिज्जा
—अप्पणो आगमेणं, अन्नेसि वा अंतिए सोच्चा, तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए नामं बवहारे पट्ठवियस्से सिया ।

—कप्प. उ. ५, सु. ५१

परिहार कल्प में स्थित भिक्षु स्थविर के पात्रों को लेकर
उसके लिए आहार-पानी लाने को जावे तब स्थविर उसे कहे
कि—

“हे आर्य ! तुम अपने लिए भी साथ में ले आना और बाद
में खा लेना पी लेना ।”

ऐसा कहने पर उसे स्थविर के पात्रों में अपने लिए भी
आहार लाना कल्पता है ।

अपारिहारिक स्थविर के पात्र में पारिहारिक भिक्षु को अशन
— यावत् — स्वाद्य खाना-पीना नहीं कल्पता है ।

किन्तु उसे अपने ही पात्र में, पलाशक में, कमण्डल में,
दोनों हाथ में या एक हाथ में ले लेकर खाना-पीना कल्पता है ।

यह पारिहारिक भिक्षु का अपारिहारिक भिक्षु की अपेक्षा
में आक्षार कहा गया है ।

परिहारकल्पस्थित रुग्ण भिक्षु को अल्प प्रायश्चित्त देने
का विधान—

६७१ परिहार तप रूप प्रायश्चित्त करने वाला भिक्षु यदि रुग्ण
होने पर किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना कर आलोचना करे
तो - उसके प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में तीन विकल्प हैं—

(१) यदि वह परिहार तप करने में समर्थ हो तो आचार्यादि
उसे परिहार तप रूप प्रायश्चित्त ४ और उसकी आवश्यक सेवा
करावे ।

(२) यदि वह समर्थ न हो तो आचार्यादि उसकी वैयावृत्य
के लिए अनुपारिहारिक भिक्षु को नियुक्त करे ।

(३) यदि वह पारिहारिक भिक्षु सबल होते हुए भी अनु-
पारिहारिक भिक्षु से वैयावृत्य करावे तो उस का प्रायश्चित्त भी
पूर्व प्रायश्चित्त के साथ आरोपित करे ।

परिहार तप रूप प्रायश्चित्त करने वाला भिक्षु यदि रोगादि
से पीड़ित हो जाय तो गणावच्छेदक को उसे गण से बाहर करना
नहीं कल्पता है । किन्तु जब तक वह रोग के आतंक से मुक्त न
हो तब तक उसकी अग्लान भाव से वैयावृत्य करानी चाहिए
बाद में गणावच्छेदक उस पारिहारिक भिक्षु को अत्यल्प
प्रायश्चित्त दे ।

परिहारकल्पस्थित भिक्षु यदि स्थविरों की वैयावृत्य के लिए
कहीं बाहर जावे और कदाचित् कोई दोष सेवन कर ले— यह
वृत्तांत स्थविर अपने ज्ञान से या अन्य से सुनकर जान ले तो
वैयावृत्य से निवृत्त होने के बाद उसे अल्प प्रायश्चित्त दे ।

परिहारकल्पस्थित वैयावृत्य --

६७२. परिहारकल्पस्थितस्य णं भिक्षुस्तस्य कल्पइ आयरिय-उववञ्जा-
याणं सद्धिवसं एगगिहंसि पिडवायं दवावेत्तए ।

तेणं परं नो से कप्पइ असणं वा-जाव-साइमं वा दाउं वा
अणुप्पदाउं वा कप्पइ से अन्नयरं वैयावृत्यं करेत्तए,
तं जहा—

उट्ठावणं वा, निसीयावणं वा, तुयट्ठावणं वा, उच्चार-
पासवण-खेल-अहलसिघाणाणं विगिच्चणं वा विसोहेणं वा
करेत्तए ।

अह पुण एवं जाणेज्जा—छिन्नावाएमु पथेमु आउरे सिंसिए
पिवांसिए तवस्सी दुस्ससे किल्ले सुच्छेज्ज वा पवडेज्ज वा,
एवं से कप्पइ असणं वा-जाव-साइमं वा दाउं वा, अणुप्प-
दाउं वा ।

—कप्प. उ. ३, सु. ३१-३३

परिहार कल्पस्थित भिक्षु की वैयावृत्य—

६७२. जिस दिन परिहार तप स्वीकार करे उस दिन परिहार
कल्पस्थित भिक्षु को एक वर से बाहार दिलाना आचार्य या
उपाध्याय को कल्पता है ।

उसके बाद उसे अशन—यावत्—स्वादिम देना या बार-बार
देना नहीं कल्पता है—किन्तु आवश्यक होने पर कोई वैयावृत्य
करना कल्पता है यथा—

परिहार कल्पस्थित भिक्षु को उठावे, बिठावे, करबट बद-
लावे, उसके मल मूत्र श्लेष्मादि परठे, मल-मूत्रादि से लिप्त
उपकरणों को शुद्ध करे ।

यदि आचार्य या उपाध्याय यह जाने कि—स्नान कुशुक्षित
तृषित तपस्वी दुर्बल एवं क्लान्त होकर गमनागमन-रहित मार्ग
में कहीं मूर्च्छित होकर गिर जायेगा तो अशन—यावत्—स्वा-
दिम देना या बार-बार देना कल्पता है ।



नोट :—विनय के लिए देखिए ज्ञानाचार -- चरणानुयोग प्रथम भाग पृष्ठ ७० से ६६ तक

वैयावृत्य-२

वैयावृच्च सख्वं—

६७३. आयरियमाईए, वैयावृच्चस्मिदसविहे ।
आसेवणं जहायामं, वैयावृच्चं तमाहियं ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. ३३

वैयावृच्च करण चउभंगो—

६७४. चत्तारि पुरिसजाया पणत्ता, तं जहा—

१. आतवेयावृच्चकरे णाममेगे, णो परवेयावृच्चकरे,

२. परवेयावृच्चकरे णाममेगे, णो आतवेयावृच्चकरे,

३. एगे आतवेयावृच्चकरे वि, परवेयावृच्चकरे वि,

४. एगे णो आतवेयावृच्चकरे, णो परवेयावृच्चकरे ।

—टाणं. अ. ४, उ. ३, सु. ३१६

वैयावृच्च पगारा—

६७५. तिविहे वैयावृच्चे पणत्ते, तं जहा

१. आयवेयावृच्चे,

वैयावृत्य स्वरूप—

६७३. आचार्य आदि सम्बन्धी दस प्रकार की वैयावृत्य का यथा-
शक्ति आसेवन करने को वैयावृत्य कहा जाता है ।

वैयावृत्य करने वालों की चौभंगी—

६७४.

(१) कई अपनी सेवा करते हैं किन्तु दूसरों की सेवा नहीं
करते ।

(२) कई दूसरे की सेवा करते हैं किन्तु अपनी सेवा नहीं
करते हैं ।

(३) कई अपनी सेवा करते हैं और दूसरे की सेवा भी
करते हैं ।

(४) कई अपनी सेवा भी नहीं करते और दूसरे की सेवा
भी नहीं करते हैं ।

वैयावृत्य के प्रकार—

६७५. वैयावृत्य तीन प्रकार का है, यथा—

(१) आत्मवैयावृत्य—अपनी सेवा

२. परवेयावृत्ते,

३. तदुभयवेयावृत्ते । —ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १६४

प० — से किं तं वेयावृत्ते ?

उ० — वेयावृत्ते वसविहे पणत्ते, तं जहा —

१. आयरिय-वेयावृत्ते, २. उवज्जाय-वेयावृत्ते,

३. थेर-वेयावृत्ते, ४. तवस्सी-वेयावृत्ते,

५. गिलाण-वेयावृत्ते, ६. सेह-वेयावृत्ते,

७. कुल-वेयावृत्ते, ८. गण-वेयावृत्ते,

९. संघ-वेयावृत्ते, १०. साहम्मिय-वेयावृत्ते १

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २३५

वेयावृत्त विहाणं—

६७६. इमं च वम्ममावाय कासवेण पवेवितं ।

कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिण्ण ॥^२

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. ३, सु. २०

चित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए ।

जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चहं कुव्वई सया ॥

—उत्त. अ. १, गा. ४४

गिलाणट्ठापेसियं आहारस्स विहि-णिसेहो—

६७७. भिक्खाया णामेगे एवमाहंसु सभाणे वा वतमाणे वा गामाणु-
गामं वृद्धज्जमाणे वा मणुष्णं भोयणजातं लमिस्सा ।

“से य भिक्खु गिलाइ, से हंदह णं तस्साहरह से य भिक्खु
णो भुंजेज्जा तुमं वेव णं भुंजेज्जासि ।”

“से एगित्तो ‘भोव्खामि’ सि कट्ठ पलिउंचिय पलिउंचिय
आलोएज्जा, तं जहा—” इमे पिडे, इमे लोए, इमे तित्तए,
इमे कडुयए, इमे कसाए, इमे अंबिले, इमे महुरे, णो खलु
एत्तो किचि वि गिलाणस्स सदति” सि माइट्ठणं संफासे ।
णो एवं करेज्जा । तहाठितं आलोएज्जा जहाठितं गिलाणस्स
सदति, तं जहा—तित्तयं तित्तए ति वा-जाव-महुरे महुरे ति ।

(२) पर-वैयावृत्य—दूसरे की सेवा,

(३) तदुभय वैयावृत्य—दोनों की सेवा ।

प्र० —वैयावृत्य क्या है, उसके कितने भेद हैं ?

उ० —वैयावृत्य दश प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) आचार्य-वैयावृत्य, (२) उपाध्याय-वैयावृत्य,

(३) स्थविर-वैयावृत्य, (४) तपस्वी-वैयावृत्य,

(५) ग्लान-वैयावृत्य, (६) शैक्ष-वैयावृत्य,

(७) कुल-वैयावृत्य, (८) गण-वैयावृत्य,

(९) संघ-वैयावृत्य, (१०) साधमिक-वैयावृत्य ।

वैयावृत्य-विधान—

६७६. भगवान् महावीर के द्वारा बढाये गये दश धर्म की स्वी-
कार कर भिक्षु ग्लान भाव से समाधिपुक्त होकर रुग्ण भिक्षु
की वैयावृत्य करे ।

विनयवान् शिष्य सदा गुरु के द्वारा प्रेरणा किये बिना ही
उनका कार्य करता है और गुरु के प्रेरणा करने पर शीघ्र ही
उस कार्य को कर देता है तथा सर्वत्र गुरु के आदेशानुसार ही
सभी कार्य भलीभाँति सम्पन्न कर लेता है ।

ग्लान के निमित्त भेजे गये आहार का विधि निबंध—

६७७. एक क्षेत्र में स्थिरवासी अथवा मास कला आदि रहने
वाले वा ग्रामाणुग्राम विचरण करके पहुँचने वाले शत्रु भिक्षा में
मनोज्ञ भोजन प्राप्त होने पर किसी भिक्षु से कहे कि—

“वह भिक्षु रुग्ण है अतः आप उसके लिए यह आहार से
जाकर दे दो, अगर वह रोगी भिक्षु न खाए तो तुम खा लेना ।”

मनोज्ञ आहार में लोलुपी कोई भिक्षु “इस आहार को मैं
ही खाऊँ” ऐसा सोचकर रोगी के पास कपट युक्त कहे, यथा—
“यह आहार तो मात्र पिंड रूप है, यह तो रुक्ष है, यह तो तीखा
है, यह तो कड़वा है, यह तो कसीला है, यह तो खट्टा है, यह
तो भीठा है इसमें कुछ भी ग्लान के अनुकूल नहीं लगता है ।”
इस प्रकार कपटाचरण करने वाला भिक्षु माया का स्पर्श करता
है । भिक्षु को ऐसा नहीं करना चाहिए । किन्तु जिस तरह
ग्लान को अनुकूल हो तथा जैसा आहार हो, वैसा ही दिखलाए,
यथा—तित्त को तित्त—यावत्—मीठे को मीठा बताए ।

१ (क) वव. उ. १०, सु. ३६

(ख) उव. सु. ३०

(ग) ठाणं. अ. १०, सु. ५१२

(ब) पर वैयावृत्य कर्म प्रतिमा के ६१ प्रकार भी हैं । —सम. सम. ६१ सु. १

(ङ) ठाणं अ. १०, सु. ७१२ तथा ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६७ तथा वि. ण. २५, उ. ७, सु. २३५ में उपरोक्त क्रम है
किन्तु उववाई और व्यवहार सूत्र में कुछ व्युत्क्रम से १० प्रकार के वैयावृत्य कहे गये हैं ।

२ सूय. सु. १, अ. ३, उ. ४, गा. २१

भिक्षाया नामेने एवमाहं सु समाणे वा वसमाणे वा गामाणु-
गामं दूहज्जमाणे वा मणुणं भोजणजातं लभित्ता—

“से य भिक्षू गिलाइ, से हंइह णं तस्साहरह,
से य भिक्षू णो भुंजेज्जा, आहरेज्जासि ।”

से य — “णो खलु मे अंतराए आहरिस्सामि ।”

— आ. सु. २, अ. १, उ. ११, सु. ४०७-४०८

विशिष्ट चर्याए सेवाकरण संकल्पा—

६७८. जस्स णं भिक्षूस्स अयं पगप्पे,

अहं च खलु पडिण्णत्तो अपडिण्णत्तेहि गिलाणो अगिलाणेहि
अभिकंख साहम्मिण्हि कोरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि,

अहं चाचि खलु अपडिण्णत्तो पडिण्णत्तस्स अगिलाणो गिसाण-
स अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए ।

१. आहट्टु परिणं आणक्खेस्सामि आहं च सातिज्जि-
स्सामि,

२. आहट्टु परिणं आणक्खेस्सामि आहं च नो साति-
ज्जिस्सामि,

३. आहट्टु परिणं नो आणक्खेस्सामि आहं च साति-
ज्जिस्सामि ।

४. आहट्टु परिणं णो आणक्खेस्सामि आहं च णो साति-
ज्जिस्सामि ।

लाघवियं आगमाणे तवे से अभिसमण्णागते भवति ।

जहेतं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेज्जा सव्वतो सव्वताए
सम्मसमेव समभिजाणिया ।

एवं से अहाकिट्टियमेव घम्मं समभिजाणमाणे संते विरते
सुसमाहितलेस्से । तत्थावि तस्स कालपरियाए से वि तत्थ
वियन्तिकारए ।

स्थिरवासी साधु अथवा मासकल्प आदि रहने वाले या
ग्रामानुगाम विचरण करके पहुँचने वाले साधुओं को मनोज्ञ भोजन
प्राप्त होने पर किसी भिक्षु से कहे कि—

वह भिक्षु रोगी है उसके लिए यह मनोज्ञ आहार ले जाओ,
अगर वह रोगी भिक्षु इसे न खाए तो यह आहार वापस हमारे
पास ले आना क्योंकि हमारे यहाँ भी रोगी साधु है ।

इस पर आहार लेने वाला साधु ऐसा कहे कि — “यदि मुझे
आने में कोई बिघ्न उपस्थित न हुआ तो यह आहार वापस ले
आऊँगा ।”

विशिष्ट चर्या में सेवा करने के संकल्प—

६७८. जिस भिक्षु की यह आचार मर्यादा (प्रतिज्ञा) होती है कि—

यदि मैं रोगादि से पीड़ित हो जाऊँ तो अन्य साधु को यह
नहीं कहूँगा कि तुम मेरी वैयावृत्त करो । किन्तु कोई निरोग
साधु बिना कहे ही वैयावृत्त करना चाहेगा तो मैं उसे
स्वीकार करूँगा ।

यदि मैं निरोग अवस्था में होऊँ तब कोई साधु रोगादि से पीड़ित हो और वह सेवा कराना चाहे तो मैं भी
उसके बिना कहे उसकी वैयावृत्त करूँगा ।

इस प्रकार के विकल्प रखते हुए कोई भिक्षु ऐसी प्रतिज्ञा
लेता है कि—

(१) मैं अपने साधुमिक भिक्षु के लिए आहारादि लाऊँगा
और उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार भी करूँगा ।

(२) मैं अपने साधुमिक भिक्षु के लिए आहारादि लाऊँगा
लेकिन उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार नहीं करूँगा ।

(३) मैं साधुमिकों के लिये आहारादि नहीं लाऊँगा किन्तु,
उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूँगा ।

(४) मैं साधुमिकों के लिए आहारादि नहीं लाऊँगा और
उनके द्वारा लाये हुए को स्वीकार भी नहीं करूँगा ।

उक्त प्रतिज्ञाओं में से किसी प्रतिज्ञा को ग्रहण करने पर
भिक्षु लाघवता को प्राप्त कर तब को प्राप्त करता है ।

भगवान ने जिस रूप में इसका प्रतिपादन किया है उसे
उसी रूप में जानकर सब प्रकार से सर्वथा समत्व का आचरण
करे ।

इस प्रकार वह भिक्षु तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट (भक्त प्रत्या-
ख्यान) धर्म को सम्प्रकृ रूप से जानता हुआ और आचरण करता
हुआ शान्त विरत और प्रशस्त श्रेष्ठता में अपनी आत्मा को सुख-
माहित करने वाला होता है । इस प्रकार आराधना काल में
मरण को प्राप्त करता है और वह मरण भी उसे अन्तक्रिया
कराने वाला होता है ।

इच्छेयं विमोहायतणं हितं सुहं क्षमं निस्सेपसं आणुगामियं ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ५, सु. २१६

१. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति 'अहं च खलु अण्णेसि भिक्खुणं असणं वा-जाव-साइमं वा आहट्ठं दलपिस्सामि आहं च सातिज्जिस्सामि' ।

२. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—'अहं च खलु अण्णेसि भिक्खुणं असणं वा-जाव-साइमं वा आहट्ठं दलपिस्सामि आहं च णो सातिज्जिस्सामि' ।

३. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—'अहं च खलु अण्णेसि भिक्खुणं असणं वा-जाव-साइमं वा आहट्ठं णो दलपिस्सामि आहं च सातिज्जिस्सामि' ।

४. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—'अहं च खलु अण्णेसि भिक्खुणं असणं वा-जाव-साइमं वा आहट्ठं णो दलपिस्सामि आहं च णो सातिज्जिस्सामि' ।

अहं च खलु तेण अहातिरित्तेण—अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिण्ण असणेण वा-जाव-साइमेण वा अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वैयावडियं करणाए ।

अहं वावि तेण अहातिरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिण्ण असणेण वा-जाव-साइमेण वा अभिकंख साहम्मियस्स कौरम्माणं वैयावडियं सातिज्जिस्सामि ।

लाघवियं आगममाणे-जाव-सम्मत्तमेव समभिजाणिया

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ७, सु. २२७

वैयावृत्त फलं

६७६. पंचहिं ठाणेहि समणे गिरांथे महाणिज्जरे महापज्जसणे भवति, तं अहा—

१. अगिलाए आयरिय वैयावृत्तं करेमाणे,

२. अगिलाए उवज्जाय वैयावृत्तं करेमाणे,

३. अगिलाए धेरे वैयावृत्तं करेमाणे,

४. अगिलाए तवस्सि वैयावृत्तं करेमाणे,

५. अगिलाए गिलाण वैयावृत्तं करेमाणे ।

इस प्रकार यह मरण भिक्षुओं को कर्मों से विमुक्त कराने में आश्रय रूप है, हितकर है, सुखकर है, सक्षम है, कल्याणकर है और परलोक में भी साथ चलने वाला है ।

(१) जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि 'मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन—यावत्—स्वाद्य लाकर दूंगा और उनके द्वारा लाये हुए का सेवन करूँगा ।

(२) जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि 'मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन—यावत्—स्वाद्य लाकर दूंगा, लेकिन उनके द्वारा लाये हुए का सेवन नहीं करूँगा ।'

(३) जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि 'मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन—यावत्—स्वाद्य लाकर नहीं दूंगा, लेकिन उनके द्वारा लाये हुए का सेवन करूँगा ।'

(४) जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि 'मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन—यावत्—स्वाद्य लाकर नहीं दूंगा और उनके द्वारा लाया हुआ सेवन भी नहीं करूँगा ।'

मैं अपनी आवश्यकता से अधिक एषणीय एवं लाए हुए अशन—यावत्—स्वाद्य में से यदि कोई साधर्मिक साधु सेना चाहेगा तो उसे वैयावृत्य की भावना से दूँगा ।

अथवा कोई साधर्मिक मुनि अपनी आवश्यकता से अधिक एषणीय ग्रहण कर लाए हुए अशन—यावत्—स्वाद्य में से वैयावृत्य की भावना से देना चाहेगा तो उसे स्वीकार करूँगा ।

इतमें से कोई भी प्रतिज्ञा धारण करने वाला भिक्षु लाघवता को प्राप्त कर यावत्—समत्वं का आचरण करता है ।

वैयावृत्य का फल—

६७६. पांच स्थानों से भ्रमण-निग्रन्थ महान निजंरा करने वाला और महापर्यवसान (संसार का सर्वथा उच्छेद करने वाला) होता है । जैसे—

(१) ग्लानि—रहित होकर आचार्य की वैयावृत्य करता हुआ ।

(२) ग्लानि—रहित होकर उपाध्याय की वैयावृत्य करता हुआ ।

(३) ग्लानि—रहित होकर स्थविर की वैयावृत्य करता हुआ ।

(४) ग्लानि—रहित होकर तपस्वी की वैयावृत्य करता हुआ ।

(५) ग्लानि—रहित होकर रोगी-मुनि की वैयावृत्य करता हुआ ।

पंचहिं ठाणेहि समणे निगंधे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे
भवति, तं जहा—

१. अगिलाए सेहवेयावच्चं करेमाणे,

२. अगिलाए कुलवेयावच्चं करेमाणे,

३. अगिलाए गणवेयावच्चं करेमाणे,

४. अगिलाए संघवेयावच्चं करेमाणे,

५. अगिलाए साहम्मियवेयावच्चं करेमाणे ।^१

—ठाणं. अ. ५, उ. १, सु. ३६७

प०—वेयावच्चेषं सन्ते ! जीवे कि जणयह ?

उ०—वेयावच्चेषं तित्थयरनामगोसं कम्मं निबन्धइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. ४५

वेयावच्चअकरणाइ पायच्छित्त सुत्ताइ—

६८०. जे भिक्षू गिलाणं सोच्चा गच्छा वा गवेसइ ण गवेसंतं वा
साइज्जइ ।

जे भिक्षू गिलाणं सोच्चा गच्छा उप्पगं वा पडिपहं वा
गच्छइ गच्छंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू गिलाण-वेयावच्चे अम्भुट्टिए सएणं लाभेणं असंथ-
रमाणे जो तस्स न तडितप्पइ न पडितप्पंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू गिलाण-वेयावच्चे अम्भुट्टिए गिलाणपाज्जगे दध्म-
जाए अलभमाणे जो तं न पडियाइत्तइ न पडियाइत्तंतं
वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ वाउम्मासियं परिहारद्वारं अणुग्घाइयं ।

—नि. उ. १०, सु. ३६-३६

असमर्थेण वेयावच्चकारावण पायच्छित्त सुत्तं—

६८१. जे भिक्षू नायगेण वा अनायगेण वा, उवासएण वा, अणु-
वासएण वा अणत्तेण वेयावच्चं कारेइ कारेतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ वाउम्मासियं परिहारद्वारं अणुग्घाइयं ।

—नि. उ. ११, सु. ८६

पांच स्थानों से श्रमण-निर्ग्रन्थ महान् कर्म निजंरा करने वाला
और महापर्यवसान वाला होता है । जैसे—

(१) ग्लानि रहित होकर नवदीक्षित की वैयावृत्य करता
हुआ ।

(२) ग्लानि रहित होकर कुल (एक आचार्य के शिष्य
समूह) की वैयावृत्य करता हुआ ।

(३) ग्लानि रहित होकर गण की वैयावृत्य करता हुआ ।

(४) ग्लानि रहित होकर संघ की वैयावृत्य करता हुआ ।

(५) ग्लानि रहित होकर साधर्मिक की वैयावृत्य करता
हुआ ।

प्र०—भन्ते ! वैयावृत्य से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—वैयावृत्य करने से यह तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपा-
जन करता है ।

वैयावृत्य न करने आदि का प्रायश्चित्त सूत्र—

६८०. जो भिक्षु रोगी के सम्बन्ध में सुनकर या जानकर उसकी
गवेषणा नहीं करता या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु रोगी के सम्बन्ध में सुनकर या जानकर उन्मार्ग से
या अन्य मार्ग से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु रोगी की सेवा के लिए उद्यत हुआ है और अपने
लाये हुए आहार से रोगी सन्तुष्ट नहीं हो तो उसका खेद प्रकट
नहीं करता है या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है ।

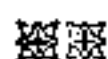
जो भिक्षु रोगी की सेवा के लिए उद्यत हुआ है उसे रोगी
योग्य द्रव्य न मिलने पर उसको पुनः आकर नहीं कहता है या
नहीं कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

असमर्थ से सेवा करवाने का प्रायश्चित्त सूत्र—

६८१. जो भिक्षु असमर्थ स्वजन से, अन्य से, उपासक से या
अनुपासक से वैयावृत्य करवाता है या करवाने वाले का अनु-
मोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।



स्वाध्याय—३

सज्जायभेदा—

६८२. प्र०—से कि तं सज्जाए ?

उ०—पंचविहे सज्जाए पक्षसे, तं जहा—

१. वायणा,

२. पङ्क्तिपुच्छणा,

३. परियट्टणा,

४. अणुप्पेहा—

५. धम्मकहा^१ ।

से तं सज्जाए । —वि. सं. २५, उ. ७, सु. २३६

सुत्त-सिक्खण-हेउणो—

६८३. पंचहि ठाणेहि सुत्तं सिक्खेज्जा, तं जहा—

१. णाणहुयाए,

२. वंसणहुयाए,

३. चरिस्सहुयाए,

४. सुग्गहविमोयणहुयाए,

५. जहरथे वा भावे जाणिस्सामीति कट्ठ^२ ।

—ठाणं. अ. ५, उ. ३, सु. ४६७

सज्जाय फलं—

६८४. प्र०—सज्जाएणं भन्ते ! जीवे कि जणयह ?

उ०—सज्जाए नाणावरणिज्जं कम्मं सवेह ।

—उत्त. अ. २६, सु. २०

तव चिमं संजमजोगयं च,

सज्जायजोमं च सया अहिट्टए ।

सूरे व सेणाए समत्तमाजहे,

अलमप्पणो होइ अलं परेसि ॥

सज्जाय सज्जाणरयस्स साइणो,

अपावभाणस्स तवे रयस्स ।

विमुज्झई जंसि मलं पुरेकडं,

समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥

स्वाध्याय के भेद —

६८२. प्र०—स्वाध्याय क्या है—उसके कितने प्रकार हैं ?

उ०—स्वाध्याय पाँच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है —

(१) वाचना—यथाविधि यथासमय श्रुत-वाङ्मय का अध्ययन और अध्यापन ।

(२) प्रतिपुच्छना—अध्ययन किये हुए विषय में विशेष स्पष्टीकरण हेतु पूछना, शंका-समाधान करना ।

(३) परिचर्तना—सीखे हुए ज्ञान को बार-बार दुहराना ।

(४) अनुप्रेक्षा—आगम तत्त्वों का चिन्तन मनन करना ।

(५) धर्मकथा—श्रुत-धर्म की व्याख्या-विवेचना करना ।

यह स्वाध्याय का स्वरूप है ।

सूत्र सीखने के हेतु—

६८३. पाँच कारणों से सूत्र को सीखना चाहिए । जैसे—

(१) ज्ञानार्थ—नये-नये तत्त्वों के परिज्ञान के लिए ।

(२) दर्शनार्थ—श्रद्धान के उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए ।

(३) चारित्र्यार्थ—चारित्र्य की निर्मलता के लिए ।

(४) व्युत्प्रेक्षविमोचनार्थ—दूसरों के दुराग्रह को छुटाने के लिये ।

(५) यथार्थ भाव ज्ञानार्थ—सूत्र शिक्षण से मैं यथार्थ भावों को जानूँगा, इसलिए ।

स्वाध्याय का फल—

६८४. प्र०—भन्ते ! स्वाध्याय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—स्वाध्याय से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है ।

जो मुनि इस तप, संयम योग और स्वाध्याय योग में सदा प्रवृत्त रहता है, वह सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित वीर की तरह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में समर्थ होता है ।

स्वाध्याय और सद्ध्यान में लीन, छः काय रक्षक, निष्पाप मन वाले और तप में रत मुनि का पूर्वसंचित मल उसी प्रकार विमुक्त होता है जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मल ।

१ (क) उव. सु. ३०

(ग) उत्त. अ. ३०, गा. ३४

(ख) ठाणं. अ. ५, उ. ३, सु. ४६५

(घ) विशेष विस्तार ज्ञानाचार में देखें ।

से तारिसे दुष्णसहे जिइइए.

सुयेण जुत्ते अममे अकिचण ।

विरायई कम्मयणम्मि अवगए.

कसिणऽब्भपुडावगमे व चंदिमे ॥

—दस. अ. ८, गा. ६१-६३

सज्जायभूमिसु अण्णउत्थिआइ सद्धिगमण पायच्छित्त सुत्त—

६८५. जे भिक्षू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण सद्धि बहिआ विपारभूमि वा विहारभूमि वा निवसइ वा, पविसइ वा, निवसमंतं वा, पविसतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. २, सु. ४१

दुगुन्धिअ कुलेसु सज्जाय उद्देशण पायच्छित्त सुत्त—

६८६. जे भिक्षू दुगुन्धिअकुलेसु सज्जायं उद्दिअइ उद्दिअंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्भासियं परिहारट्ठणं उग्घाइयं ।

—नि. उ. १६, सु. ३०

सुत्त वायणाहेउणो—

६८७. पंचहि ठाणोहि सुत्तं वाएज्जा, तं जहा —

१. संगहट्ठयाए.

२. उवग्गहट्ठयाए.

३. गिज्जरट्ठयाए.

४. सुत्ते वा मे भज्जवयाते भविस्सइ ।

५. सुत्तस्स वा अबोन्निउत्ति-णयट्ठयाए ।

—ठाणं. अ. ५, उ. ३, सु. ४६७

सुयवायणिज्जा—

६८८. चत्तारि वायणिज्जा पणत्ता. तं जहा—

१. विणीए,

२. अविगतिपडिबद्धे,

३. विओसवियपाहुडे,

४. अमाई ।^१

—ठाणं. अ. ४, उ. ३, सु. ४६७

१ (क) तओ कप्पंति वाएताए, तं जहा—

(१) विणीए,

(२) नो विगइ पडिबद्धे,

(ख) ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २०४

जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, दुःखों को सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान है, ममत्व-रहित और अकिंचन है, वह कर्म समूह के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्रपटल से रहित चन्द्रमा ।

अन्यतीर्थिकादि के साथ स्वाध्याय भूमि गमन प्रायश्चित्त सूत्र —

६८५. जो भिक्षू अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ तथा पारिवारिक साधु अपारिवारिक के साथ (उपाश्रय से) बाहर की स्वाध्याय-भूमि में या मल विसर्जन भूमि में प्रवेश करता है या निष्क्रमण करता है, प्रवेश कराता है या निष्क्रमण कराता है, प्रवेश करने वाले का या निष्क्रमण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

निन्दित कुल में स्वाध्याय देने का प्रायश्चित्त सूत्र—

६८६. जो भिक्षू घृणित कुलों में स्वाध्याय का उद्देश (मूल पाठ वाचन करना) करता है, करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

सूत्र-वाचना के हेतु—

६८७. पाँच कारणों से सूत्र की वाचना देनी चाहिए । जैसे—

(१) शिष्यों को श्रुत-सम्पन्न बनाने के लिए ।

(२) शिष्य वर्ग पर अनुग्रह पूर्वक उपकार करने के लिए ।

(३) कर्मों की निर्जरा के लिए ।

(४) वाचना देने से मेरा श्रुत परिपुष्ट होगा, इस कारण से ।

(५) श्रुत के पठन-पाठन की परम्परा अविच्छिन्न रखने के लिए ।

सूत्र वाचना के योग्य—

६८८. चार वाचना देने के योग्य होते हैं, यथा—

(१) विनीत—सुवार्थदाता के प्रति वन्दनादि विनयभाव करने वाला ।

(२) विकृति अप्रतिबद्ध—धृतादि विकृतियों में आसक्त न रहने वाला ।

(३) व्यवशमित प्राभृत—उपशान्त कलह वाला ।

(४) अमायावी ।

(३) विओसवियपाहुडे । —कप्प. उ. ४, सु. ११

सुथ अवायणिज्जा—

६८६. चत्तारि अवायणिज्जा पणत्ता, तं जहा—

१. अविणीए,

२. विगह-पडिबद्धे,

३. अविओसविय पाहुडे,

४. मायी^१ ।

—ठाणं. अ. ४, उ. ३, सु. ३२६

सुयवायणाए फलं—

६९०. ए०—वायणाए षं भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

उ०—वायणाए निज्जरं जणयइ । सुयस्स य अणासायणाए
वट्ठइ । सुयस्स अणासायणाए वट्ठमाणे तित्थसम्मं
अवलम्बइ । तित्थसम्मं अवलम्बमाणे महानिज्जरे
महापज्जवसाने भवइ । —उत्त. अ. २६, सु. २१

दुगुंछिय कुले-वायणादाणादाण पायच्छित्त सुत्ताइं—

६९१. जे भिक्षू दुगुंछिय कुलेसु सज्जायं वाएइ, वाएतं वा
साइज्जइ ।जे भिक्षू दुगुंछिय कुलेसु सज्जायं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा
साइज्जइ ।तं सेवमाणे आबज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वारं उग्घाइयं ।
—नि. उ. १६, सु. ३१-३२

अविहीए वायणा-दाणे पायच्छित्त-सुत्ताइं—

६९२. जे भिक्षू हेट्ठित्ताइं समोसरणाइं अवाएसा उक्खरित्ताइं
समोसरणाइं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ।जे भिक्षू णवधंभचेराइं अवाएसा उत्तमं सुयं वाएइ वायंतं
वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू अपत्तं वाएइ वाएतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू पत्तं ण वाएइ णं वाएतं वा साइज्जइ ।

सूत्र वाचना के अयोग्य—

६८६. चार वाचना देने के योग्य नहीं होते हैं, यथा—

(१) अविनीत—सूत्रार्थदाता के प्रति वन्दनादि विनय भाव
न करने वाला ।(२) विकृति प्रतिबद्ध—वृत्तादि विकृतियों में आसक्त रहने
वाला ।

(३) अव्यवर्त्तित प्राप्नुत—अनुपशान्त कलह वाला ।

(४) मायावी ।

सूत्र वाचना का फल—

६९० प्र०—भन्ते ! वाचना (अध्यापन) से जीव क्या प्राप्त
करता है ?

उ०—वाचना से वह कर्मों को क्षीण करता है । श्रुत की
आशातना के दोष से बच जाता है । श्रुत की आशातना से बचने
वाला तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है, तीर्थ-धर्म का अवलम्बन
करने वाला जीव कर्मों की महा निर्जरा और संसार का अन्त
करने वाला होता है ।

घृणित कुल में वाचना देने-लेने के प्रायश्चित्त सूत्र—

६९१. जो भिक्षु घृणित कुलों में स्वाध्याय की वाचना (सूत्रार्थ)
देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।जो भिक्षु घृणित कुलों में स्वाध्याय की वाचना लेता है,
लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।उसे चातुर्मासिक उव्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

अविधि से वाचना देने के प्रायश्चित्त सूत्र—

६९२. जो भिक्षु प्रारम्भ के समोसरण (अंग सूत्र, श्रुतस्वन्ध,
अध्ययन, उद्देशक) की वाचना न देकर बाद के समोसरण
(अध्ययन उद्देशों) की वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले
का अनुमोदन करता है ।जो भिक्षु नव ब्रह्मचर्य (आचारांग सूत्र प्रथम श्रुतस्वन्ध)
की वाचना न देकर छेद सूत्र आदि की वाचना देता है, दिलवाता
है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।जो भिक्षु अपात्र (अयोग्य) को वाचना देता है, दिलवाता
है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।जो भिक्षु पात्र (योग्य) को वाचना नहीं देता है, नहीं दिल-
वाता है या नहीं देने वाले का अनुमोदन करता है ।

१ (क) तथो नो कप्पंति वाएत्तए, तं जहा—

(१) अविणीए, (२) विगह-पडिबद्धे, (३) अविओसविय पाहुडे ।

(ख) ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २०४

—कण उ. ४, सु. १०

जे भिक्षू अव्यक्तं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू वत्तं न वाएइ न वाएंतं वा साइज्जइ ।^१

जे भिक्षू बोधुं सरिसगाणं एकं सच्चिक्खावेइ, एकं न सच्चिक्खावेइ, एक वाएइ, एकं न वाएइ, तं करंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू आयरिय-उवज्जाएहिं अविविण्णं गिरं आइयइ आइयंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वानं उग्घाइयं ।

— नि. उ. १६, सु. १७, २०

पासत्थाईणं वायणा दाणे प्रायश्चित्त सूत्रार्थ—

६६२. जे भिक्षू पासत्थं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू पासत्थं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू ओसणं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू ओसणं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू कुसीलं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू कुसीलं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू संसत्तं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू संसत्तं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू नितियं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्षू नितियं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

जो भिक्षु अव्यक्त (अप्राप्त यौवन वय वाले) को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु व्यक्त (प्राप्त यौवन वय वाले) को वाचना नहीं देता है, नहीं दिलवाता है, या नहीं देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु दो समान योग्यता वाले शिष्यों में से एक को शिक्षित करता है और एक को नहीं करता है, एक को वाचना देता है एक को नहीं देता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु आचार्य और उपाध्याय के दिये बिना वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

पार्श्वस्थादि को वाचना देने के प्रायश्चित्त सूत्र—

६६३. जो भिक्षु पार्श्वस्थ को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु पार्श्वस्थ से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अवसन्न को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अवसन्न से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कुशील को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कुशील से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु संसक्त को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु संसक्त से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु नित्यक को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु नित्यक से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

१ भाष्य में २१-२२ एवं २५-२६ सु. १६-२० के समान हैं, पुनरावृत्ति हुई है ।

तं सेवमाणे आचरन्नाहं चादम्मासियं परिहारद्वयं उपाहयं ।

—नि. उ. १६, सु. ३१-४०

पडिपुच्छणा फलं—

६६४. प०—पडिपुच्छणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—पडिपुच्छणाए णं सुत्तरथ-तदुभयाई विसीहेइ । कंखा-
भोहजिज्जं कम्मं बोधिच्छन्दइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. २२

परियट्ठणा फलं—

६६५. प०—परियट्ठणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—परियट्ठणाए णं वंजणाई जणयइ, वंजणलब्धिं च उप्पा-
एइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. २३

अणुप्येहा फलं—

६६६. प०—अणुप्येहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—अणुप्येहाए णं आउपपज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ
अणियवग्घणवद्धाओ सिद्धिलवग्घणवद्धाओ पकरेइ ।

दीहकालट्ठिइयाओ हसकालट्ठिइयाओ पकरेइ ।

तिग्घाणुभावाओ मन्वाणुभावाओ पकरेइ ।

बहुपएसग्गाओ अप्पएसग्गाओ पकरेइ ।

आउयं अ णं कम्मं सिय वन्धइ सिय नो वन्धइ ।

असायावेयणिज्जं अ णं कम्मं नो मुज्जओ मुज्जओ उव-
धिणाइ,

अणाइयं अ णं अणववग्गं दीहमद्धं जाउरन्त संसार
कम्मरं विप्पामेव वीइवयइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. २४

कहाए भेया—

६६७. तिबिहा कहा पणत्ता, तं अहा—

१. अत्थकहा,

२. धम्मकहा,

३. कामकहा ।

—ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १६४

तिबिहे धम्मे पणत्ते, तं अहा—

१. सुयधम्मे,

२. चरिसधम्मे,

३. अतिथकायधम्मे । —ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १६४(६)

उसे चातुर्भासिक सद्व्यक्तिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

प्रतिप्रश्न का फल—

६६४. प्र०—भन्ते ! प्रतिप्रश्न करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—प्रतिप्रश्न करने से वह सूत्र, अर्थ और उन दोनों से
सम्बन्धित सन्देहों को दूर करता है और कांक्षा-भोहनीय कर्म का
विनाश करता है ।

पुनरावृत्ति का फल—

६६५. प्र०—भन्ते ! परावर्तना (पठित पाठ के पुनरावर्तन) से
जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—परावर्तना से वह अक्षरों को उत्पन्न करता है अर्थात्
स्मृत को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यंजन-
लब्धि (पदानुसारिणि लब्धि) को प्राप्त करता है ।

अनुप्रेक्षा का फल—

६६६. प्र०—भन्ते ! अनुप्रेक्षा (अर्थ चिन्तन) से जीव क्या प्राप्त
करता है ?

उ०—अनुप्रेक्षा से वह आयुष-कर्म को छोड़कर शेष सात
कर्मों की गाढ़-बन्धन से बन्धी हुई प्रकृतियों को शिथिल-बन्धन
वाली कर देता है ।

उनकी दीर्घ-कालीन स्थिति को अल्प कालीन कर देता है,

उनके तीव्र अनुभाग को मन्द कर देता है ।

उनके बहु-प्रदेशों को अल्प कर देता है ।

आयुष-कर्म का बन्धन कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं
भी करता है ।

असाता-वेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता है ।

अनादि-अनन्त लम्बे-भाग वाली तथा चतुर्गति-रूप संसार
अटवी को तुरन्त ही पार कर जाता है ।

कथा के भेद—

६६७. कथा तीन प्रकार की कही गई है । यथा—

(१) अर्थ कथा—धन के उत्पादन उपार्जन विषयक कथा ।

(२) धर्म कथा—जिसके कहने सुनने से धर्म की भावना
बढ़े वह कथा ।

(३) काम कथा—जिसके श्रवण करने से विषय वासना
उत्पन्न हो वैसी कथा ।

धर्म तीन प्रकार का होता है—

(१) श्रुत-धर्म,

(२) चरित्र-धर्म,

(३) अस्तिकाय-धर्म ।

चउद्विहा कहा पणत्ता, तं जहा —

१. अक्खेवणी,

२. विक्खेवणी,

३. संवेगणी,

४. निव्वेज्जणी ।

अक्खेवणी कहा चउद्विहा पणत्ता, तं जहा—

१. आचार अक्खेवणी,

२. व्यवहार अक्खेवणी,

३. प्रशस्ति अक्खेवणी,

४. दिट्ठिवाय अक्खेवणी ।

विक्खेवणी कहा चउद्विहा पणत्ता, तं जहा—

१. ससमयं कहेति, ससमयं कहेत्ता, परसमयं कहेति,

२. परसमयं कहेत्ता, ससमयं ठावत्तिता भवति,

३. सम्मावातं कहेति, सम्मावातं कहेत्ता, मिच्छावातं कहेति,

४. मिच्छावातं कहेत्ता, सम्मावातं ठावत्तिता भवति ।

संवेगणी कहा चउद्विहा पणत्ता, तं जहा—

१. इहलोकसंवेगणी,

२. परलोकसंवेगणी,

३. आतसरीरसंवेगणी,

४. परसरीरसंवेगणी ।

निव्वेज्जणी कहा चउद्विहा पणत्ता, तं जहा—

१. इहलोगे दुक्खिञ्जा कम्मा इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवति,

२. इहलोगे दुक्खिञ्जा कम्मा परलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवति,

कथा चार प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) आक्षेपणी—ज्ञान और चारित्र के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने वाली कथा ।

(२) विक्षेपणी—सन्मार्ग की स्थापना करने वाली कथा ।

(३) संवेगणी - जीवन की नश्वरता और दुःख बहुलता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा ।

(४) निर्वेदनी—कृत कर्मों के शुभाशुभ फल दिखाकर संसार के प्रति उदासीन बनाने वाली कथा ।

आक्षेपणी कथा चार प्रकार की कही गई है । यथा—

(१) आचार आक्षेपणी—साधु और श्रावक के आचार का वर्णन वाली ।

(२) व्यवहार आक्षेपणी - वृत्तों के दोष लगने पर प्रायश्चित्त का वर्णन करने वाली ।

(३) प्रशस्ति आक्षेपणी—संशयग्रस्त श्रोता को मधुर वचनों से उपदेश देकर संशय दूर करने वाली ।

(४) दृष्टिपात आक्षेपणी—श्रोता की योग्यता के अनुसार विविध नयों (दृष्टियों) से तत्त्व का निरूपण करने वाली ।

विक्षेपणी कथा चार प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) वक्ता अपने सिद्धांत का कथन कर फिर दूसरों के सिद्धांत का कथन करता है ।

(२) दूसरों के सिद्धांत का कथन कर फिर अपने सिद्धांत की स्थापना करता है ।

(३) वक्ता सम्यग्वाद का कथन कर फिर मिथ्यावाद का कथन करता है ।

(४) वक्ता मिथ्यावाद का कथन कर फिर सम्यग्वाद की स्थापना करता है ।

संवेगणी कथा चार प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) इहलोक संवेगणी—मनुष्य जीवन की असारता तथा अनित्यता दिखाने वाली कथा ।

(२) परलोक संवेगणी—देवादि भवों में जो नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं उनकी कथा ।

(३) आत्म शरीर संवेगणी—अपने शरीर की अशुचिता का प्रतिपादन करने वाली कथा ।

(४) परशरीर संवेगणी—दूसरे के शरीर की अशुचिता का प्रतिपादन करने वाली कथा ।

निर्वेदनी कथा चार प्रकार की कही गई है, यथा -

(१) इस लोक में किये हुए दुष्कर्म इसी लोक में दुःखरूप फल देने वाले होते हैं ।

(२) इस लोक में किये हुए दुष्कर्म परलोक में दुःखरूप फल देने वाले होते हैं ।

३. परलोके बुद्धिज्ञा कम्मा इहलोके दुहफलविभागसंजुता भवन्ति,

४. परलोके बुद्धिज्ञा कम्मा परलोके दुहफलविभागसंजुता भवन्ति,

१. इहलोके सुत्थिज्ञा कम्मा इहलोके सुहफलविभागसंजुता भवन्ति,

२. इहलोके सुत्थिज्ञा कम्मा परलोके सुहफलविभागसंजुता भवन्ति,

३. परलोके सुत्थिज्ञा कम्मा इहलोके सुहफलविभागसंजुता भवन्ति,

४. परलोके सुत्थिज्ञा कम्मा परलोके सुहफलविभागसंजुता भवन्ति ।

—ठाण. अ. ४, उ. २, सु. २८२

पवयण सरूवं—

६६८ इमं च णं सस्यजगजीव-रक्खणवयडुयाए पावयणं भगवया सुकहियं, अत्तहियं, पेक्खा भावियं, आगनेसिभदं, सुद्धं, जेयाउवं, अकुडिलं, अणुत्तरं सस्यदुवणवावाण, विउसमणं ।

—प. सु. २, अ. १, सु. ६

प०—पवयणं भंते ! पवयणं, पावयणी पवयणं ?

उ०—गोयमा ! अरहा ताव नियमं पावयणी, पवयणं पुण बुवात्तसगे गणिपिट्ठगे, तं नहा—आयारो-जाव-विट्ठिवाओ ।

—विद्या. स. २०, उ. ८, सु. १५

धम्मकहाए विही णिसेहो—

६६९. से धिक्खू धम्मं किट्ठमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो सेणस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो अन्नोसि विरुय-क्खवाणं काम-भोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा,

अगिस्ताए धम्ममाइक्खेज्जा,

गणणस्स कम्मणिज्जरहुयाए धम्मं आइक्खेज्जा ।

—सूय. सु. २, अ. १, सु. ६६०

धम्मकहाविवेगो—

७००. जहा पुण्णस्स कस्थति तथा तुण्डस्स कस्थति ।

जहा तुण्डस्स कस्थति तथा पुण्णस्स कस्थति ।

(३) परलोक में किये हुए दुष्कर्म इस लोक में दुःखरूप फल देने वाले होते हैं ।

(४) परलोक में किये हुए दुष्कर्म परलोक में ही दुःखरूप फल देने वाले होते हैं ।

(१) इस लोक में किये हुए शुभ कर्म इसी लोक में सुखमय फल देने वाले होते हैं ।

(२) इस लोक में किये हुए शुभ कर्म परलोक में सुखमय फल देने वाले होते हैं ।

(३) परलोक में किये हुए शुभ कर्म इस लोक में सुखमय फल देने वाले होते हैं ।

(४) परलोक में किये हुए शुभ कर्म परलोक में सुखमय फल देने वाले होते हैं ।

प्रवचन का स्वरूप—

६६८. यह प्रवचन श्रमण भगवान् महावीर ने जगत के समस्त जीवों की रक्षा दया के लिए समीचीन रूप में कहा है । यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, परलोकगाभी है, भविष्यत् काल में भी कल्याणकर है, शुद्ध है, स्वावयुक्त है, मुक्ति प्राप्ति का सरल सीधा मार्ग है, सर्वोत्तम है तथा समस्त दुःखों और पापों को उपशान्त करने वाला है ।

प्र०—भगवन ! प्रवचन को ही प्रवचन कहते हैं, अथवा प्रवचनी को प्रवचन कहते हैं ?

उ०—गौतम ! अरिहन्त तो निश्चित रूप से प्रवचनी है और द्वादशांग गणिपिट्ठक प्रवचन हैं । यथा आचारांग—यावत्—दृष्टिवाद ।

धर्मकथा के विधि-निषेध—

६६९. धर्मोपदेश करता हुआ भिक्षु, आहार के लिए, पानी के लिए, वस्त्र-प्राप्ति के लिए, आवास स्थान के लिए, शयनीय पदार्थों की प्राप्ति के लिए तथा दूसरे विविध प्रकार के काम-भोगों (भोग्य पदार्थों) के लिए धर्म कथा न करे ।

अग्लान भाव से (प्रसन्नता पूर्वक) धर्मोपदेश करे ।

कर्मों की निर्जंश (आत्मशुद्धि) के उद्देश्य के सिवाय अन्य किसी भी फलाकांक्षा से धर्मोपदेश न करे ।

धर्म-कथा विवेक—

७००. साधक जैसे सम्पन्न व्यक्ति को धर्म-उपदेश करता है, वैसे ही दरिद्र को भी धर्म उपदेश करता है ।

जैसे दरिद्र को धर्मोपदेश करता है, धैसे ही सम्पन्न को भी धर्मोपदेश करता है ।

अत्रि य हणे अणादीयमाणे । एत्थं पि जाण सेयं ति गत्थि ।

केऽत्रं पुरिसो ऋं य णए ।

—आ. सु. १, अ. २, उ. ६, सु. १०२

वर्य लोगस्स जाणिता पार्हेणं पडोणं वाहिणं उदीणं आइक्खे
विमए किट्टए वेदवी ।

से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सुसमाणेसु पवेवए-संति,
विरति, उषसमं, निव्वणं, सोयवियं, अज्जवियं, महवियं,
लाघवियं, अणत्तिवत्तियं ।

सख्वेसि पाणाणं सख्वेसि भूताणं, सख्वेसि जीवाणं, सख्वेसि
सत्ताणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा ।

अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेमाणे णो अत्ताणं आसाएज्जा,
णो परं आसाएज्जा, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं
सत्ताइं आसाएज्जा ।

से अणासायए अणासायमाणे वज्जमाणणं भूताणं जीवाणं
सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवति सरणं महामुणी ।

—आ. सु. १, अ. ६, उ. ५, सु. १६६-१६७

आघाति पाणी इह माणवाणं संसारपडिक्खणाणं संबुज्ज-
माणणं विपणाणं पत्ताणं ।

अट्टा वि संता अबुद्धा पमत्ता ।

अहासच्चमिणं ति वेमि ।

वाऽणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छापणीता अंकाणिकेया,
कालगहोता निजये निविट्ठा पुढो पुढो जाइं पक्कपेति ।

इहमेगेसि तत्थ तत्थ संयवो भवति । अहोवर्षातिए फासे
पडिसंवेधयंति ।

—आ. सु. १, अ. ४, उ. २, सु. १३४-१३५^१

केसिचि तक्काइ अबुज्ज पाव,

खुड्डं पि गच्छेज्जा असइहाणे ।

आपुस्स कालातिपारं वघातं,

लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥

कदाचित् तत्त्व को सम्यक् ग्रहण न करते हुए ओता भिक्षु
को मारने भी लग सकता है । अतः भिक्षु को यह जाने बिना
धर्मकथा करना श्रेयस्कर नहीं होता है कि—

‘ओता कौन है और किस सिद्धान्त को मानने वाला है?’

आगमज्ञ मुनि प्राणी जगत पर दया अनुकम्पा भावपूर्वक
पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण आदि दिशाओं में विचरता
हुआ धर्म का आख्यान करे, उसका विभेद करके समझावे तथा
धर्माचरण से सुफल का प्रतिपादन करे ।

वह मुनि धर्माचरण युक्त या धर्माचरण रहित जो भी पुरुष
धर्म श्रवण के लिए उपस्थित हो उन्हें शान्ति, विरति, उपशम,
निर्वृत्ति, पवित्रता, सरलता, कोमलता, अपरिग्रह एवं अहिंसा
आदि धर्मों का प्रतिपादन करे ।

वह भिक्षु समस्त प्राणियों, सभी भूतों, सभी जीवों और
समस्त सत्त्वों का हित चिन्तन करके धर्म का व्याख्यान करे ।

भिक्षु विवेक पूर्वक धर्म का व्याख्यान करता हुआ अपने
आपको बाधा न पहुँचाए, न दूसरों को बाधा पहुँचाए और न ही
अन्य प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को बाधा पहुँचाए ।

किसी भी प्राणी को बाधा न पहुँचाते हुए धर्म कहने वाला
वह महामुनि संसार-प्रवाह में डूबते हुए प्राणों, भूतों, जीवों
और सत्त्वों के लिए असंदीन (नहीं डूबने वाले) द्वीप की तरह
शरणभूत होता है ।

ज्ञावी पुरुष इस संसार में स्थित, सम्यक् बोध प्राप्त के लिए
उत्सुक एवं विज्ञान प्राप्त मनुष्यों को उपदेश करते हैं ।

जो आर्त अथवा प्रमत्त होते हैं, वे भी धर्म का आचरण कर
सकते हैं ।

यह यथातथ्य सत्य है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

‘जीव मृत्यु के मुख में नहीं जायेंगे, ऐसा सम्भव नहीं है ।
फिर भी कुछ लोग इच्छाओं के द्वारा प्रेरित होकर असंयम में
संलग्न रहते हैं । वे मृत्यु की पकड़ में आ जाने पर भी कर्म-
संचय करने या धन संग्रह में लगे रहते हैं । ऐसे लोग विभिन्न
योनिधियों में बारम्बार जन्म ग्रहण करते रहते हैं ।

ऐसे मनुष्यों का इस लोक में उन-उन जन्म-मरण के स्थानों
का अति सम्पर्क होता है । वे वहाँ जन्म-मरण के अनेक दुःखों
का अनुभव करते हैं ।

तत्त्व धर्मा करने पर कोई अश्रद्धानु मनुष्य भावों को न
समझकर क्रोध को प्राप्त हो सकता है और वक्ता को मार
सकता है या कष्ट दे सकता है इसलिए मुनि अनुमान के द्वारा
दूसरों के भावों को जानकर धर्म कहें ।

कम्मं च छंदं च विगिञ्च धीरे,
विणएण उ सत्त्वतो आयभावं ।
एवेहि सुप्पति भयावहेहि,
विज्जं गहाय तसथावरेहि ॥

न पूयजं चेव सिलोयकामो,
पियमप्पियं कस्सइ णो कहेज्जा ।
सब्बे अणट्ठे परिवज्जयन्ते,
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥
—सूय. सु. १, अ. १३, गा. २०-२२

ओबुज्जममाणे इह भाषवेसु आघाइ से णरे जस्स इमाओ
जाईओ सत्त्वओ सुपडिलेहियाओ अत्तंति आघाइ से णाण-
मणेसिंसं ।

से किट्ठति तेसिं समुट्ठिताणं निक्खित्तवड्डाणं समाहियाणं
पण्णाणमंताणं इह सुसिमगं ।

एवं पेने महावीरा विप्परिवक्कमंति ।
—आ. सु. १, अ. ६, उ. १, सु. १७७-१७८
आययुस्से सया वंते, छिण्णसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमवस्थाति, पडिपुण्णमणेसिंसं ॥
—सूय. सु. १, अ. ११, गा. २४

जे भिक्खू भायणो अण्णतरं विसं वा अणुविसं वा एडिवण्णे
धम्मं आइक्खे विभए किट्ठए उवट्ठितेसु वा अणुवट्ठितेसु वा
सुस्सुसमाणेसु पवेदए ।

संति विरति उवसमं निष्ठाणं सोयवियं अउज्जवियं मइवियं
लाघवियं अणंतिवातियं सत्थेसिं पाणाणं-जाव-सत्ताणं अणुबीइ
किट्ठए धम्मं । —सूय. सु. २, अ. १, सु. ६८६

धम्मकथा पभावो—

७०१. इह खसु तस्स भिक्खुस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म उट्ठाए
वीरा अस्सि धम्मे समुट्ठिता, जे ते तस्स भिक्खुस्स अंतियं
धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाए वीरा अस्सि
धम्मे समुट्ठिता, ते एवं सव्वोसगता, ते एवं सव्वोवरता, ते
एवं सव्वोवसंता, ते एवं सव्वत्ताए परिनिब्बुडे ।

—सूय. सु. २, अ. १, सु. ६६१

धीर साधक श्रोता के कर्म और अभिप्राय को सम्यक् प्रकार
से जानकर उनके मिथ्यात्व अज्ञान आदि आत्मीय भावों को
सब तरह से दूर करे, तथा उन्हें यह समझावे कि—'मनोहर
रूप उत्तरनाक होते हैं इनमें लब्ध जीवन विनष्ट हो जाते हैं ।'
इस प्रकार विद्वान् पुरुष श्रोता के अभिप्राय को जानकर भक्त
स्थावर जीवों का कल्याणकारी उपदेश दे ।

भिक्षु धर्मोपदेश से पूजा और श्लाघा की इच्छा न करे ।
किरी का प्रिय या अप्रिय न करे तथा इन सब अनर्थों का परि-
वर्जन करता हुआ आकुलता रहित एवं कषाय रहित होकर
उपदेश दे ।

जिसने सद्बोध को प्राप्त किया है वह इस लोक में मनुष्यों
को धर्म का उपदेश दे । जिसने इन जन्म-मरण के स्थानों को सब
प्रकार से भली भाँति जान लिया है, वही विनिष्ट ज्ञान का
कथन कर सकता है ।

दण्डों (पापों) का त्याग करने वाला समाधि भाव से युक्त
प्रज्ञावान् जो पुरुष धर्म सुनने के लिए उपस्थित हो उन्हें भिक्षु
मुक्ति मार्ग का कथन करता है ।

कुछ महान् वीर पुरुष इस प्रकार के कथन को सुनकर
संयम मार्ग में पराक्रम करते हैं ।

जो आत्मा को संवृत करने वाला, सदा जितेन्द्रिय, हिंसा
आदि के आश्रयों को छिन्न करने वाला आश्रय रहित साधक है
वही शुद्ध प्रतिपूर्ण और अनुपम धर्म का उपदेश करता है ।

वह मात्रा को जानने वाला भिक्षु किसी दिशा या अनुदिशा
में पहुँचकर धर्माचरण से युक्त या धर्माचरण से रहित जो भी
पुरुष धर्म श्रवण के लिये उपस्थित हों उन्हें धर्म का आस्थान
करे, पद विभाग कर कहे, उसका निरूपण करे ।

मुनि सभी प्राणियों—यावत्—सभी सत्त्वों के हित का
विचार कर शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आर्जव,
मार्दव, लाघव और अहिंसा आदि धर्मों का प्रतिपादन करे ।

धर्मकथा का प्रभाव—

७०१. इस जिन शासन में भिक्षु के पास धर्म सुनकर मनन कर
सम्यग् उत्थान से उत्थित हो कई वीर पुरुष इस धर्म की श्रद्धा
में उत्थित हुए हैं । जो वीर पुरुष भिक्षु के पास धर्म सुनकर
जानकर सम्यग् उत्थान से उत्थित हो संयम धर्म में उत्थित हुए
हैं वे इस प्रकार सर्वात्मना मोक्ष मार्ग को प्राप्त कर सर्वस्मिन्ना
पापों से उपरत होकर सर्वात्मना उपशान्त हो जाते हैं वे सम्पूर्ण
कर्म श्रय कर परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

धम्मकहा फल—

७०२. प०—धम्मकहाए णं भन्ते जीवे किं जणयइ ?

उ०—धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ । धम्मकहाए णं पव-
धयं पसावेइ । एवमपभावे णं जीवे जागमिस्स भइ-
ताए कम्मं निवण्णइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. २५

इत्थि परिसाए रथणीए धम्मकहाकरण पायच्छित्त सुत्तं -

७०३. जे भिक्षू राओ वा, विद्यासे वा, इत्थिमज्झणए. इत्थि संसत्ते
इत्थि-परिवुत्ते अपरिमाणाए कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आहज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

—नि. उ. ८, सु. १०

धर्मकथा का फल—

७०२. प्र०—भन्ते ! धर्मकथा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—धर्मकथा से वह कर्मों की निर्जरा करता है । धर्म-
कथा से वह प्रवचन की प्रभावना करता है । प्रवचन की प्रभा-
वना करने वाला जीव भविष्य में कल्याणकारी फल देने वाले
कर्मों का अर्जन करता है ।स्त्री परिषद में रात्रि धर्मकथा करने का प्रायश्चित्त
सूत्र—७०३. जो भिक्षु रात्रि में या संध्याकाल में (१) स्त्री परिषद
में, (२) स्त्रीयुक्त परिषद में, (३) स्त्रियों से घिरा हुआ अपरि-
मित कथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।उसे चातुर्मासिक अनुद्वातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त)
आता है ।

ध्यान—५

निषिद्ध ज्ञाणा—विहित ज्ञाणा—

७०४. अट्ठहाणि वज्जित्ता, ज्ञाएज्जा सुसमाहिण ।

धम्मसुक्काहं ज्ञाणाइं. ज्ञाणं तं तु बुहावण ॥^१

—उत्त. अ. ३०, गा. ३५

ज्ञाण भेदा -

७०५. प०—से किं तं ज्ञाणे ?

उ०—ज्ञाणे चउत्थिहे पणत्ते, तं जहा—

१. अट्ठे ज्ञाणे,
२. रोद्धे ज्ञाणे,
३. धम्म्ये ज्ञाणे,
४. सुक्के ज्ञाणे^२ ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २३७

अट्ठज्ञाण भेदा—

७०६. अट्ठे ज्ञाणे चउत्थिहे पणत्ते, तं जहा—

१. अमणुण्णसंपयोगसंपत्तत्ते, तस्स विध्ययोग सत्तिसमझागते
यावि भवति,

१ उत्त. अ. ३४, गा. ३१

२ (क) सम. सम. ४, सु. १

निषिद्ध ध्यान और विहित ध्यान—

७०४. सुसमाहित मुनि आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़ कर धर्म
और शुक्ल ध्यान का चिन्तन करे । इसे ही तत्त्वज्ञ पुरुष ध्यान
कहते हैं ।

ध्यान के भेद—

७०५. प्र०—ध्यान क्या है, उसके कितने भेद हैं ?

उ०—ध्यान (एकाग्र चिन्तन) के चार भेद हैं, यथा—

- (१) आर्त ध्यान—रागादि भावना से अनुप्रेरित ध्यान,
- (२) रौद्र ध्यान—हिसादि भावना से अनुरंजित ध्यान,
- (३) धर्म ध्यान—धर्म भावना से अनुप्राणित ध्यान,
- (४) शुक्ल ध्यान—शुभ-अशुभ से अतीत आत्मोन्मुख शुद्ध

ध्यान ।

आर्तध्यान के भेद—

७०६. आर्त ध्यान चार प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) अमनोश वस्तु की प्राप्ति होने पर उसके वियोग की
चिन्ता करना ।

(ख) ठाणं. अ. ४, उ. १, सु. २४७

२. मणुष्यसंपयोगसंपदसे, तस्स अविष्ययोग सतिसमन्नागते यावि भवति,
 ३. आयकसंपयोगसंपदसे, तस्स विष्ययोग सतिसमन्नागते यावि भवति,
 ४. परिशुसियकामभोगसंपदसे तस्स अविष्ययोग सतिसमन्नागते यावि भवति^१ । —वि. स. २५ उ. ७, सु. २३८

अट्ट साण लक्खणा—

७०७. अट्टस्स णे साणस्स चत्तारि लक्खणा पप्पत्ता, तं जहा —

१. कंदणया,
 २. सोयणया,
 ३. तिप्पणया,
 ४. परिदेवणया^२ । —वि. स. २५, उ. ७, सु. २३९

रुद्ध साण भेया—

७०८. रोद्धे साणे चउच्चिहे पप्पत्ते, तं जहा—

१. हिंसाणुबन्धी,
 २. मोहाणुबन्धी,
 ३. तेयाणुबन्धी,
 ४. सारवखणानुबन्धी^३ । —वि. स. २५, उ. ७, सु. २४०

रुद्ध साण लक्खणा—

७०९. रोद्धस्स साणस्स चत्तारि लक्खणा पप्पत्ता, तं जहा—

१. उस्सन्न दोसे,
 २. बहुदोसे,
 ३. अण्णाणदोसे,
 ४. आमरण्तदोसे^४ ।

— वि. स. २५, उ. ७, सु. २४१

धम्मसाण भेया—

७१०. धम्मे साणे चउच्चिहे चउप्पजीयारे पप्पत्ते, तं जहा—

१. आणाविजये,

(२) मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति होने पर उसके अवियोग की चिन्ता करना ।

(३) आर्तक (रोग) होने पर उसके वियोग की चिन्ता करना ।

(४) प्रीति उत्पन्न करने वाले काम भोग आदि की प्राप्ति होने पर उनके अवियोग की चिन्ता करना ।

आर्तध्यान के लक्षण—

७०७. आर्तध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं, यथा—

- (१) क्रन्दनता—आक्रन्द करना,
 (२) शोचनता—शोक करना ।
 (३) तेपनता—आंसू गिराना ।
 (४) परिदेवनता—बार-बार विलाप करना ।

रौद्रध्यान के भेद—

७०८. रौद्रध्यान चार प्रकार का कहा गया है, यथा—

- (१) हिंसानुबन्धी—हिंसा को उद्दिष्ट कर एकाग्र चिन्तन करना ।
 (२) मृषानुबन्धी—असत्य को उद्दिष्ट कर निरन्तर चिन्तन करना ।
 (३) स्तेयानुबन्धी—चोरी से सम्बद्ध एकाग्र चिन्तन करना ।
 (४) संरक्षणानुबन्धी—धन आदि के संरक्षण हेतु अनिष्ट चिन्तन करना ।

रौद्रध्यान के लक्षण—

७०९. रौद्रध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं । यथा—

- (१) ओसन्न दोष—हिंसादि किसी एक दोष में लीन रहना ।
 (२) बहुल दोष—हिंसादि बहुत दोषों में प्रवृत्त रहना ।
 (३) अज्ञान दोष—अज्ञान के कारण हिंसादि में धर्म-बुद्धि से प्रवृत्ति करना ।
 (४) आमरणान्त दोष—हिंसादि कार्यों का मरण पर्यन्त पश्चात्ताप न करना एवं उसमें प्रवृत्त रहना ।

धर्मध्यान के भेद—

७१०. धर्मध्यान चार प्रकार के चार पदों में अवतरित होता है, यथा—

- (१) आज्ञाविनय—बीतराग की आज्ञा का या उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों का चिन्तन करना ।

१ ठाणं. अ. ४, उ. १, सु. २४७

२ (क) उव. सु. ३० में चौथा लक्षण "विलवणया" है ।

३ ठाणं. अ. ४, उ. १, सु. २४७

४ ठाणं. अ. ४, उ. १, सु. २४७

(ख) ठाणं. अ. ४, उ. १, सु. २४७

२. अपायविजये,

३. विवागविजये,

४. संठाणविजये ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २४२

धम्मज्ञाण लक्षण—

७११. धम्मस्स णं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्षणा पन्नता, तं जहा—

१. आणारुई,

२. निसग्गरुई,

३. सुत्तरुई,

४. ओगाढरुई ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २४३

धम्मज्ञाणस्स आलम्बणा—

७१२. धम्मस्स णं ज्ञाणस्स चत्तारि आलम्बणा पन्नता, तं जहा—

१. वायणा,

२. पडिपुच्छणा^१,

३. परियट्टणा,

४. धम्मकहा ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २४४

धम्मज्ञाणस्स अनुपेहाओ—

७१३. धम्मस्स णं ज्ञाणस्स चत्तारि अनुपेहाओ पन्नताओ, तं जहा—

१. एगत्ताणुपेहा,

२. अणिल्लणुपेहा,

३. असरणणुपेहा,

४. संसारणुपेहा ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २४५

सुक्कज्ज्ञाण भेदा—

७१४. सुक्के ज्ञाणे चउल्लिहे चउप्पडोयारे पन्नत्ते, तं जहा—

१. पुहत्तवियक्के सविचारी,

(२) अपायविचय - राग-द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि आलस्यों का चिन्तन करना ।

(३) विपाकविचय—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से उत्पन्न आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं का चिन्तन करना ।

(४) संस्थानविचय—ऊर्ध्व-अधोसोक, द्वीप समुद्र आदि के विषय में चिन्तन करना ।

धर्मध्यान के लक्षण—

७११. धर्मध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं । यथा—

(१) आज्ञारुचि—वीतराग की आज्ञा में रुचि होना,

(२) निसर्ग रुचि—किसी के उपदेश के बिना स्वभाव से ही जिनभाषित तत्त्वों पर श्रद्धा होना ।

(३) सूत्र रुचि—आगमों के अध्ययन व श्रवण में रुचि होना ।

(४) अवगाह रुचि—(उपदेश रुचि) धर्मोपदेश श्रवण में उत्पन्न रुचि होना ।

धर्मध्यान के आलम्बन—

७१२. धर्मध्यान के चार अवलम्बन कहे गये हैं, यथा—

(१) वाचना,

(२) पृच्छना,

(३) परिवर्तना,

(४) धर्म कथा ।

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएँ—

७१३. धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गयी हैं । यथा—

(१) एकत्वानुप्रेक्षा—आत्मा के एकत्व भाव का चिन्तन करना ।

(२) अनित्यानुप्रेक्षा—शरीर, जीवन आदि की अनित्यता का चिन्तन करना ।

(३) अशरणानुप्रेक्षा—आत्मा की अशरणदशा का चिन्तन करना ।

(४) संसारानुप्रेक्षा—संसार परिभ्रमण का चिन्तन करना ।

शुक्लध्यान के भेद—

७१४. शुक्लध्यान के चार प्रकार और चतुष्टयावतार कहे हैं, यथा—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी—एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायों का पृथक् पृथक् चिन्तन करना ।

१ उव. सु. ३० में चौथा लक्षण "उवएसुहई है"

२ उव. सु. ३०, दूसरा आलम्बन (पृच्छणा) है ।

२. एगस्तद्विषयके अविव्यारी,

३. सुहृत्प्रतिकरिण अनियट्टी,

४. समोच्छिन्नकरिण अप्यडिवाई^१ ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २४६

सुक्कसाण लक्षणं—

७१५. सुक्कस्स णं साणस्स चत्तारि लक्षणा पञ्चत्ता, तं जहा—

१. खंती,

२. मुत्ती,

३. अज्जवे,

४. मद्धे ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २४७

सुक्कसाणस्स आलम्बणं—

७१६. सुक्कस्स णं साणस्स चत्तारि आलम्बणा पञ्चत्ता, तं जहा—

१. अक्खहे,

२. असम्मोहे,

३. विवेगे,

४. विओसन्ने^२ ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २४८

सुक्कसाणस्स अणुपेक्षाओ—

७१७. सुक्कस्स णं साणस्स चत्तारि अणुपेक्षाओ पञ्चत्ताओ, तं जहा—

१. अणंतवत्तिआणुपेहा,

२. विपरिणामाणुपेहा,

३. असुमाणुपेहा,

४. अवायाणुपेहा ।

से तं ज्ञाणे ।^३

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २४९

(२) एकत्व-वितर्क-अविचारी—किसी एक पदार्थ के गुण या पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करना ।

(३) सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती—योग निरोध में प्रवृत्त आत्मा की परिणाम अवस्था ।

(४) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती—सम्पूर्ण योग निरोध हो जाने पर प्राप्त शौद्धर्षे गुणस्थान की आत्म-परिणाम अवस्था ।

शुक्लध्यान के लक्षण—

७१५. शुक्लध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं, यथा—

(१) क्षमा,

(२) निर्लोभता,

(३) सरलता,

(४) मृदुता ।

शुक्लध्यान के अवलम्बन—

७१६. शुक्लध्यान के चार अवलम्बन कहे गये हैं । यथा—

(१) अक्खय—व्यथित नहीं होना ।

(२) असम्मोह—देवादि कृत माया में मोहित नहीं होना ।

(३) विवेक—आत्मा और देह के भिन्नता की अनुभूति होना ।

(४) अमुत्तर्ग—शरीर और उपधि में बनासक्त भाव होना ।

शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाएँ—

७१७. शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं । यथा—

(१) अनन्तवत्तिआनुप्रेक्षा—अनन्त भव परम्परा का चिन्तन करना ।

(२) विपरिणामानुप्रेक्षा—वस्तुओं के विपरिणामन पर चिन्तन करना ।

(३) असुमानुप्रेक्षा—संसार के अशुभ स्वरूप पर चिन्तन करना ।

(४) अवायानुप्रेक्षा—जीव जिन कारणों से दुःखी होता है उन विविध अपायों का चिन्तन करना ।

यह ध्यान का स्वरूप है ।



१ उव. सु. ३० में शुक्लध्यान के प्रकारों में ३-४ प्रकार में स्थानान्तर “अनियट्टी” की जगह “अप्पडिवाई” और अप्यडिवाई की जगह “अनियट्टी” है ।

२ उव. सु. ३० में शुक्लध्यान के लक्षणों को आलम्बन और आलम्बन को लक्षण कहा गया है ।

३ (क) ठाणं, अ. ४, उ. १, सु. २४७

(ख) उव. सु. ३०

कायोत्सर्ग—५

विउत्सर्गस्वरूपं—

७१८. सयणासण्ठाणे वा, जे उ भिक्षु न वावरे ।
कायस्स विउत्सर्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ।।

—उत्त. अ. ३०, गा. ३६

विउत्सर्गस्स भेयप्पभेया—

७१९. प०—से किं तं विओसग्गे ?

उ०—विओसग्गे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. दब्बविओसग्गे, २. भावविओसग्गे य ।

प०—से किं तं दब्बविओसग्गे ?

उ०—दब्बविओसग्गे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. गणविओसग्गे,

२. सरीरविओसग्गे,

३. उव्विहविओसग्गे,

४. भत्तपाणविओसग्गे ।

से तं दब्बविओसग्गे ।

प०—से किं तं भावविओसग्गे ?

उ०—भावविओसग्गे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. कसायविओसग्गे,

२. संसारविओसग्गे,

३. कम्मविओसग्गे ।

प०—से किं तं कसायविओसग्गे ?

उ०—कसायविओसग्गे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. कोहविओसग्गे,

२. माणविओसग्गे,

३. मायाविओसग्गे,

४. लोहविओसग्गे ।

से तं कसाय विओसग्गे ।

प०—से किं तं संसार विओसग्गे ?

उ०—संसारविओसग्गे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

व्युत्सर्ग का स्वरूप—

७१८. सोने, बैठने या खड़े रहने के समय जो भिक्षु शरीर की बाह्य प्रवृत्ति नहीं करता है। उसके काया की चंष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता है। वह आभ्यन्तर तप का छटा प्रकार है।

व्युत्सर्ग के भेद प्रभेद—

७१९. प्र०—व्युत्सर्ग क्या है, उसके कितने भेद हैं ?

उ०—व्युत्सर्ग के दो भेद बतलाये गये हैं, यथा—

(१) द्रव्य-व्युत्सर्ग, (२) भाव-व्युत्सर्ग,

प्र०—द्रव्य व्युत्सर्ग क्या है, उसके कितने भेद हैं ?

उ०—द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेद कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) गण व्युत्सर्ग—गण एवं गण के ममत्व का त्याग।

(२) शरीर व्युत्सर्ग—यह तप दैहिक सम्बन्धों की ममता या आसक्ति का त्याग।

(३) उपधि-व्युत्सर्ग—उपधि का त्याग करना एवं साधन सामग्रीगत ममता का, साधन सामग्री को मोहक तथा आकर्षक बनाने हेतु प्रयुक्त होने वाले साधनों का त्याग।

(४) भक्त-पानव्युत्सर्ग—आहार पानी का तथा तद्गत आसक्ति या लोलुपता आदि का त्याग। यह द्रव्य व्युत्सर्ग का विवेचन है।

प्र०—भाव व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं, यथा—

(१) कषाय-व्युत्सर्ग,

(२) संसार-व्युत्सर्ग,

(३) कर्म-व्युत्सर्ग।

प्र०—कषाय-व्युत्सर्ग क्या है उसके कितने भेद हैं ?

उ०—कषाय-व्युत्सर्ग के चार भेद कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) क्रोध-व्युत्सर्ग—क्रोध का त्याग।

(२) मान-व्युत्सर्ग—अहंकार का त्याग।

(३) माया-व्युत्सर्ग—छल कपट का त्याग।

(४) लोभ-व्युत्सर्ग—लालच का त्याग। यह कषाय व्युत्सर्ग का विवेचन है।

प्र०—संसार व्युत्सर्ग क्या है वह किसने प्रकार का है ?

उ०—संसार व्युत्सर्ग (चार गति के बन्ध के कारणों का त्याग) चार प्रकार का बतलाया गया है। वह इस प्रकार है—

१. शेरहय संसारविओसग्गे,

२. तिरिय संसारविओसग्गे,

३. मणुय संसारविओसग्गे,

४. देव संसारविओसग्गे,

से सं संसारविओसग्गे ।

प०—से किं सं कम्मविओसग्गे ?

उ०—कम्मविओसग्गे अट्ठविहे पणस्से, सं जहा—

१. णाणावरणिअकम्मविओसग्गे,

२. वरिसणावरणिअकम्मविओसग्गे,

३. वेयणिअकम्मविओसग्गे,

४. मोह्णिअकम्मविओसग्गे,

५. आयुअकम्मविओसग्गे,

६. णामकम्मविओसग्गे,

७. गोयअकम्मविओसग्गे,

८. अंतरायअकम्मविओसग्गे ।

से सं कम्मविओसग्गे,

से सं णावविओसग्गे ।^१

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २५०-२५५

काउसग्ग फलं—

७१०. प०—काउसग्गेणं भन्ते ! जीवे किं भणयइ ?

(१) तैरयिक-संसारव्युत्सर्ग—नरक गति बंधने के कारणों का त्याग ।

(२) तिर्यक्-संसारव्युत्सर्ग—तिर्यच गति बंधने के कारणों का त्याग ।

(३) मनुज-संसारव्युत्सर्ग—मनुष्य गति बंधने के कारणों का त्याग ।

(४) देवसंसार-व्युत्सर्ग—देव गति बंधने कारणों का त्याग । यह संसार व्युत्सर्ग का वर्णन है ।

प्र०—कर्म व्युत्सर्ग क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

उ०—कर्म व्युत्सर्ग आठ प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार है—

(१) ज्ञानावरणीयकर्म व्युत्सर्ग—(आत्मा के ज्ञान गुण के आवरक कर्म पुद्गलों के बंधने के कारणों का त्याग)

(२) दर्शनावरणीय कर्म व्युत्सर्ग—(आत्मा के दर्शन (सामान्य ज्ञान गुण) के आवरक कर्म पुद्गलों के बंधने के कारणों का त्याग ।)

(३) वेदनीय कर्म व्युत्सर्ग—(साता असाता दुःखरूप वेदना के हेतुभूत पुद्गलों के बंधने के कारणों का त्याग । सुख दुःखात्मक अनुकूल-प्रतिकूल वेदन में आत्म को तद्-अभिन्न मानने का उत्सर्जन ।)

(४) मोहनीय कर्म व्युत्सर्ग—(आत्मा के स्वप्रतीति-स्वानुभूति स्वभाव रमणरूप गुण के आवरक कर्म पुद्गलों के बंधने के कारणों का त्याग ।)

(५) आयुष्य कर्म व्युत्सर्ग—(किसी भव में—पर्याय में रोक रखने वाले आयुष्यकर्म के पुद्गलों के बंधने के कारणों का त्याग ।)

(६) नाम-कर्म-व्युत्सर्ग—(आत्मा के अभूतत्व गुण के आवरक कर्म पुद्गलों के बंधने के कारणों का त्याग ।)

(७) गोत्र-कर्म-व्युत्सर्ग—(आत्मा के अगुरुलघुत्व (न भारी-पन न हलकापन) रूप गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बंधने के कारणों का त्याग ।)

(८) अन्तराय-कर्म-व्युत्सर्ग—(आत्मा के शक्ति रूप गुण के आवरक (अवरोध) कर्म पुद्गलों के बंधने के कारणों का त्याग ।)

यह कर्म व्युत्सर्ग है ।

इस प्रकार भाव व्युत्सर्ग का विवेचन है ।

कायोत्सर्ग का फल—

७२०. प्र०—भन्ते ! कायोत्सर्ग (ध्यान की मुद्रा) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—काउसगोणं तीयपङ्कपन्नं पायच्छित्तं विसोहेद ।

विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वयहियए ओहरियमारो

‘य’ भारबहे पसत्थज्झाणोवगए सुहंसुहेणं विहरइ ॥

—उत्त. अ. २६, सु. १४

उ०—कामोत्सर्ग से वह अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त

योग्य कार्यों का विशोधन करता है । ऐसा करने वाला व्यक्ति

भार को नीचे रख देने वाले भार-वाहक की भाँति स्वस्थ हृदय

वाला हो जाता है और प्रशस्त ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक

विवरण करता है ।



तप समाधि एवं फल—६

तपाचरण उद्देशो—

७२१. अउब्बिहा खलु तवसमाही भवइ, तं जहा—

१. नो इहलोगद्वयाए तवमहिद्वेज्जा,

२. नो परलोगद्वयाए तवमहिद्वेज्जा,

३. नो कित्ति-वण-सद्-सिलोगद्वयाए तवमहिद्वेज्जा,

४. नअत्थ निज्जरद्वयाए तवमहिद्वेज्जा ।

अउरथं पयं भवइ । मयय य इत्थ सिलोगो—

विविहगुणतवोरए य निच्छं, भवइ निरासए निज्जरद्विए ।

तवसा छुणइ पुराणपावणं, जुत्तो सया तवसमाहिए ॥

—दस. अ. ६, उ. ४, सु. ६-१०

तप-चरण फल—

७२२. अभिगम अउरो समाहिओ, सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ ।

विजलहियसुहावहं पुणो, कुब्बइ सो पयखेममप्पणो ॥

जाइमरणाओ मुक्खई, इत्थयं अ अयइ सम्बसो ।

सिद्धे वा भवइ सासए, देवे वा अप्परए महिद्विए ॥

—दस. अ. ६, उ. ४, सु. १३-१४, गा. ६-७

पण्ठा वि ते पयाया, छिप्पं गच्छति अमरभयणाहं ।

जेसि पिओ तवो संजमो य, खत्तो य बन्धचैरं अ ॥

—दस. अ. ४, गा. २७

अहं जे संयुद्धे भिक्खू, वोण्हं अन्नपरे सिया ।

सम्भुक्ख-प्पहीणे वा, देवे वावि महिद्विए ॥

उत्तराहं विमोहाहं, जुइमन्ताणुपुक्खसो ।

समाइणाहं जक्खेहिं, आवासाहं असंसिणो ॥

तपाचरण का उद्देश्य—

७२१. तप समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

(१) इहलौकिक सुख के निमित्त तप नहीं करना चाहिए ।

(२) पारलौकिक सुख के निमित्त तप नहीं करना चाहिए ।

(३) कीर्ति पथ प्रसिद्धि और प्रशंसा के लिए तप नहीं करना चाहिए ।

(४) निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए ।

यह चतुर्थ पद है और यहाँ एक श्लोक है ।

सदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला मुनि पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है । वह केवल निर्जरा का इच्छुक होता है, तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है और तप-समाधि में सदा मुक्त हो जाता है ।

तप आचरण का फल—

७२२. जो चारों समाधियों को जानकर सुविशुद्ध और सुसमाहित चित्त वाला होता है वह अपने लिए हितकर और सुखकर मोक्ष स्थान को प्राप्त करता है ।

वह जन्म-मरण से मुक्त होता है, नरक आदि अवस्थाओं को पूर्णतः त्याग देता है । इस प्रकार वह या तो शाश्वत सिद्ध हो जाता है अथवा अल्प कर्म वाला महश्चिक देव होता है ।

जो पिछली अवस्था में प्रव्रजित हुए हों किन्तु उन्हें तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है तो वे शीघ्र ही स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ।

जो संवृत भिक्षु होता है, वह दोनों में से एक अवस्था को प्राप्त होता है, यथा—(१) सब दुःखों से मुक्त (२) महान् ऋद्धि वाला देव ।

देवताओं के आवास क्रमशः उत्तरोत्तर मोह रहित द्युतिमान् और यशस्वी देवों से आकीर्ण होते हैं ।

दीहाडया इष्टिहस्ता, समिद्धा काम-रुविणो ।
अष्टुणोववन्नो - संज्ञाया, मुञ्जो गच्छन्ति-पुण्या ॥

ताणि ठाणाणि गच्छन्ति, सिद्धिहस्ता संज्ञमं तवं ।
भिक्षाए वा गिहस्थे वा, जे सन्ति परिनिब्बुद्धा ॥

—उत्त. अ. ५, गा. २५-२८

खवेत्ता पुण्वकम्माइं, संज्ञमेण तवेण य ।
सध्वदुक्खपणीणट्ठा, पक्कमन्ति नहेसिणो ॥

—उत्त. अ. २८, गा. ३६

एयं तवं तु दुषिहं, जे सम्मं आयेरे मुणी ।
सो छिप्पं सच्चसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. ३७

तवाइ-तेणाणं दुग्गइ—

७२३ तवतेणे वयतेणे, रुवतेणे य जे नरे ।
आयारभावतेणे य, कुण्वई वेधकिम्बिसं ॥

सद्धूण वि देवत्तं, उयवन्नो वेधकिम्बिसे ।
तत्था वि से न याणाइ, किं से किच्चा इमं फलं ॥
तत्तो वि से चइत्ताणं, लब्धिही एलभूयणं ।
नरयं तिरिक्खजोणि वा, बोही जत्थ मुहुल्लहा ॥

एयं च दोसं दद्धूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
अणुभायं वि मेहावी, सयानोसं विवज्जए ॥

—उत्त. अ. ५, उ. २, गा. ४६-४६

तवस्मिथाणं नेरइयाणं कम्मणिज्जरणाए तुलणा—

७२४. प्र०—जावइयं णं भंते ! अग्रगिस्सायए समणे निग्गंथे कम्मं
निज्जरेइ, एवइयं कम्मं नरएसु नेरइया वासेण वा,
वासेहि वा, वाससएहि खवयंति ?

उ०—नो तिण्ठे समट्ठे ।

प्र०—जावइयं णं भंते ! चउरथभत्तिए समणे निग्गंथे कम्मं
निज्जरेइ, एवइयं कम्मं नरएसु नेरइया वास-सएणं
वा, वास-सएहि वा, वास-सहस्सेण वा खवयंति ?

उ०—नो तिण्ठे समट्ठे ।

प्र०—जावइयं णं भंते ! छट्ठभत्तिए समणे निग्गंथे कम्मं
निज्जरेइ, एवइयं कम्मं नरएसु नेरइया वास-सहस्सेण
वा, वास-सहस्सेहि वा, वास-सहस्सेण वा, वास-सहस्सेण वा,
खवयंति ?

वे देव दीर्घायु, कृद्धिमान, दीप्तिमान, इच्छानुसार रूप
धर्माण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हों, ऐसी कान्ति वाले सृष्टे
के प्रधान अति-तेजस्वी होते हैं ।

जो भिक्षु या गृहस्थ उपशान्त होते हैं वे संयम और तप का
आराधन कर इन उपरोक्त देव-आवास स्थानों में जाते हैं ।

सर्व दुःखों से मुक्ति पाने के लिए महर्षि संयम और तप के
द्वारा पूर्व कर्मों को क्षय कर सिद्धि को प्राप्त होते हैं ।

इस प्रकार जो पण्डित मुनि दोनों प्रकार के तपों का सम्यक्
रूप से आचरण करता है, वह शीघ्र ही समस्त संसार से मुक्त
हो जाता है ।

तपादि के चोरों की दुर्गति—

७२३. जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर,
आचार का चोर और भाव का चोर होता है, वह कित्तिवधिक
देव योग्य कर्म बन्ध करता है ।

कित्तिवधिक देव के रूप में उत्पन्न जीव देवत्व को पाकर भी
वहाँ वह नहीं जानता कि यह मेरे किस कार्य का फल है ।

वहाँ से च्युत होकर वह ऐसे मूक बकरे आदि योनि को
प्राप्त करता है अथवा नरक या तिर्यचयोनि को प्राप्त करता है
जहाँ जिन धर्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ होती है ।

ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने कहा कि इन पूर्वोक्त दोषों की
जानकर मेधावी मुनि संयम पालन में अणु-मात्र भी माया-मृषा
न करे ।

तपस्वियों और नैरयिकों के कर्म निर्जरा की तुलना—

७२४. प्र०—भन्ते ! पर्युषित (शीतल अभनोज्ञ) आहार करने
वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है क्या उतने
ही कर्मों का नैरयिक जीव नरक में एक वर्ष, अनेक वर्ष या सौ
वर्ष में क्षय करता है ?

उ०—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प्र०—भन्ते ! चतुर्थ भक्त (एक उपवास) करने वाला श्रमण
निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है क्या उतने ही कर्मों का
नैरयिक जीव नरक में सौ वर्ष, अनेक सौ वर्ष या हजार वर्ष में
क्षय करता है ?

उ०—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प्र०—भन्ते ! छट्ठ भक्त (दो उपवास) करने वाला श्रमण
निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है क्या उतने ही कर्मों का
नैरयिक जीव नरक में हजार वर्ष, अनेक हजार वर्ष या एक लाख
वर्ष में क्षय करता है ?

उ०—नो तिणट्टे समट्टे ।

प०—जावइयं णं भंते ! अट्टमभसिए समणे निगंथे कम्मं निज्जरेइ, एवइयं कम्मं नरएसु नेरइया वास-सय-सहस्सेण वा, वास-सय-सहस्सेहि वा, वासकोडीए वा खवयन्ति ?

उ०—नो तिणट्टे समट्टे ।

प०—जावइयं णं भंते ! दसमभसिए समणे निगंथे कम्मं निज्जरेइ, एवइयं कम्मं नरएसु नेरइया वास-कोडीए वा वास कोडीहि वा, वास-कोडाकोडीए वा खवयन्ति ?

उ०—नो तिणट्टे समट्टे ।

प०—से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जावइयं धम्मगिला-यए समणे निगंथे कम्मं निज्जरेइ एवइयं कम्मं नरएसु नेरइया वासेण वा, वासेहि वा, वास-सएणं वा, नो खवयन्ति-जाव-वास कोडाकोडीए वा नो खवयन्ति ?

उ०—गोयमा ! से जहानामए केइ-पुरिसे बुन्ने, जराजज्ज-रियवेहे, सिद्धिजतयावन्ति तरंग-संपणिद्धगत्ते, पविरल-परिसडिय-वंत-सेढी, उग्हाभिहए, तण्हाभिहए, आउरे, भुंतिहए, पिधांसिहए, दुग्धसं, किलंते, एवं सहं कीसंब-गंडियं सुक्कं जडिलं गंडिलं चिककणं वाइडं अपत्तिथं मूत्रेण परसुणा अक्कमेज्जा, तए णं से सहंताइं सहंताइं सदाइं करेइ, नो सहंताइं सहंताइं दलाइं अवहालेइ ।

एवामेव गोयमा ! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढी-कयाइं चिककणी-कयाइं सिलिट्ठी-कयाइं खिलीभूताइं भवन्ति, संपगाइं पि य णं ते वेदणं वेदेमाणा नो महा-निज्जरा णो महापज्जवसाणा भवन्ति ।

२. से जहानामए केइ-पुरिसे अहिकरणि आउवेमाणे महया महया सहेणं, महया-महया घोसेणं, महया महया परंपराधाएणं, नो संचाएइ तीसे अहिगरणिए केइ अहमायरे पीगले परिसाडित्तए,

एवामेव गोयमा ! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढी-कियाइं-जाव-नो महापज्जवसाणाइं भवन्ति ।

३. से जहानामए केइ-पुरिसे तदणं बलवं-जाव-मेहावी निउणसिप्पोवगए एवं सहं सामलिगंडियं उल्लं, अज-डिलं, अगंडिलं, अधिक्कणं, अवाइडं, सपत्तिथं तिकखेण परसुणा अक्कमेज्जा, तए णं से पुरिसे नो सहंताइं सहंताइं सदाइं करेइ सहंताइं सहंताइं दलाइं अवहालेइ ।

उ०—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प्र०—भन्ते ! अष्टम भक्त (तीन उपवास) करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है क्या उतने ही कर्मों का नैरयिक जीव नरक में एक लाख वर्ष, अनेक लाख वर्ष या एक करोड़ वर्ष में क्षय करता है ?

उ०—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प०—भन्ते ! दशम भक्त (चार उपवास) करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है क्या उतने ही कर्मों का क्षय नैरयिक जीव नरक में एक करोड़ वर्ष, अनेक करोड़ वर्ष या कोटा-कोटी वर्ष में क्षय करता है ?

उ०—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प्र०—भन्ते ! यह किस कारण से कहते हैं कि अन्नग्लायक श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है उतने ही कर्मों को नैरयिक जीव नरक में एक वर्ष, अनेक वर्ष या सौ वर्ष में भी क्षय नहीं कर सकता—यावत्—कोटा कोटी वर्ष पर्यन्त क्षय नहीं कर सकता ?

उ०—हे गौतम ! जिस प्रकार कोई वृद्ध, जरा जर्जरित शरीर वाला, क्षिथिल रक्ता से सलबटें युक्त शरीर वाला, कति-पय गिरे हुए दांतों वाला, गरमी से व्याकुल, तृषा से पीड़ित, दुःखी, बुभुक्षित-तृपित, दुर्बल और मानसिक क्लेश वाला पुरुष हो और वह एक बड़ी कोणच नाम के वृक्ष की सूखी टुट्टी, वक्र ग्रन्थियों वाली निकनी और निराधार रही हुई लकड़ी पर एक मोटे कुल्हाड़े द्वारा प्रहार करे तो वह पुरुष बहुत जोर-जोर से शब्द करता है किन्तु अनेक टुकड़े नहीं कर सकता ।

इसी प्रकार हे गौतम ! नैरयिकों के अपने कर्म गाढ़ बंधे हुए चिकने किये हुए निधत्त हुए एवं निकाचित किए हुए होते हैं इसलिए वे सम्प्रगाढ़ वेदना को भोगते हुए भी महानिर्जरा वाले तथा महापर्यवसान वाले नहीं होते हैं ।

(२) जिस प्रकार कोई एक पुरुष जोरदार शब्दों के साथ, महाशोक के साथ एरण पर घन की चोट मारता है, बहुत जोर-जोर से आघात करता है किन्तु एरण के स्थूल पुद्गलों को तोड़ने में समर्थ नहीं होता है ।

इसी प्रकार हे गौतम ! नैरयिकों के अपने पापकर्म गाढ़ बंधे हुए होते हैं—यावत्—वे महापर्यवसान वाले नहीं होते ।

(३) जिस प्रकार कोई तरुण पुरुष बलवान—यावत्—मेघावी और निपुण शिल्पकार एक बहुत बड़े शारुमली वृक्ष की गिली, अजटिल, अगंडिल, (गांठ रहित) चिकनाई से रहित सीधी और आधार सहित लकड़ी पर तीक्ष्ण परशु से प्रहार करता हुआ वह पुरुष बहुत जोर-जोर से शब्द नहीं करता है किन्तु अनेक टुकड़े कर देता है ।

एवामेव गोयमा ! समणानं निर्गन्थाणं अहावायराहं कम्माहं सिद्धिलोकयाहं निद्रियाहकयाहं विपरिणामि-
याहं खिप्पामेव परिविद्धत्थाहं भवन्ति । जावहमं ताइयं
पि ते वेदणं वेदेमाणा महानिज्जरा महापज्जवसाणा
भवन्ति ।

४. प०—से जहा वा केह पुरिसे सुक्कतणहत्थणं जायतेयसि
पक्खिजेज्जा से मूणं गोयमा ! से सुक्के तणहत्थणं
जायतेयसि पक्खित्ते समाने खिप्पामेव मसमता दिग्गह ?

उ०—हंता मसमताविज्जइ ।

एवामेव गोयमा ! समणानं निर्गन्थाणं अहावायराहं
कम्माहं सिद्धिलोकयाहं-जाव-महापज्जवसाणा भवन्ति ।

५. प०—से जहानामए केह पुरिसे तत्तंसि अयकस्संसि उवग-
धिदु पक्खिजेज्जा से नूणं गोयमा ! से उवगधिदु तत्तंसि
अयकस्संसि पक्खित्ते समाने खिप्पामेव विद्धंसं
आगच्छइ ?

उ०—हंता विद्धंसं आगच्छइ ।

एवामेव गोयमा ! समणानं निर्गन्थाणं अहावायराहं
कम्माहं सिद्धिलोकयाहं-जाव-महापज्जवसाणा भवन्ति ।
से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुक्कइ-जावइयं अन्नगित्ता-
यए समणे निर्गन्थे कम्मं निज्जरेइ एवइयं कम्मं नरएमु
नेरइया-जाव-वास-कोडाकोडीए वा नो खवयन्ति ।

—वि. स. १६, उ. ४, सु. २-७

तथेणपत्त चारण लब्धिस्स वर्णओ—

७२५. प०—कतिविहा णं भंते ! चारणा पणत्ता ?

उ०—गोयमा ! कुविहा चारणा पणत्ता, तं जहा—

१. विज्जाचारणा य, २. जंघाचारणा य ।

प०—से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुक्कइ-विज्जाचारणे-विज्जा-
चारणे ?

उ०—गोयमा ! तस्स णं छट्ठंछट्ठेणं अणिकित्तेणं तवो-
कम्मेणं विज्जाए लब्धिं खममाणस्स विज्जाचारणलब्धी
नामं लब्धी समुप्पज्जइ ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुक्कइ विज्जाचारणे-
विज्जाचारणे ।

प०—विज्जाचारणस्स णं भंते ! कहं सीह गती, कहं सीहे
गतिविसए पणत्ते ?

उ०—गोयमा ! अयणं जंबुदीपे दीपे-जाव-किञ्चिद्विसेसाहिए
परिक्षेवेणं । देवे णं महिइहोए-जाव-महेसक्खे-जाव-
'इणामेव-इणामेव सि कट्ठ' केवलकप्पं जंबुदीपं दीपं

इसी प्रकार हे गौतम ! श्रमण निर्ग्रन्थों के स्थूल कर्म शिथिल,
प्रभावहीन और विपरिणाम को प्राप्त शीघ्र ही ध्वस्त होते हैं ।
इसलिए सामान्य वेदना का वेदन करते हुए भी श्रमण निर्ग्रन्थ
महानिज्जरा एवं महापर्यवसान को प्राप्त होते हैं ।

(४) प०—हे गौतम ! जिस प्रकार कोई पुरुष शुष्क तृण
हाथ में लेकर अग्नि में डाले, डालते ही वे शुष्क तृण शीघ्र ही
जल जाते हैं ?

उ०—हां भन्ते ! जल जाते हैं ।

इसी प्रकार हे गौतम ! श्रमण निर्ग्रन्थों के स्थूलकर्म शिथिल
होते हैं—यावत्—वे महापर्यवसान को प्राप्त होते हैं ।

(५) प०—जिस प्रकार कोई पुरुष तप्त तवे पर पानी का
बिन्दु डाले, डालते ही वह उदक बिन्दु तप्त तवे पर शीघ्र ही
ध्वस्त हो जाता है ?

उ०—हां भन्ते ! वह बिन्दु शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

इसी प्रकार हे गौतम ! श्रमण निर्ग्रन्थों के स्थूलकर्म शिथिल
होते हैं—यावत्—महापर्यवसान को प्राप्त होते हैं ।

हे गौतम ! इसी कारण ऐसा कहा जाता है कि अन्नलायक
श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है उतने कर्मों का क्षय
नैरयिक जीव तरक में—यावत्—कोटा कोटी वर्ष में भी नहीं
करते ।

तप से प्राप्त चारण लब्धि का वर्णन—

७२५. प्र०—भगवन् ! चारण कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

उ०—गौतम ! चारण दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

(१) विद्याचारण और (२) जंघाचारण ।

प्र०—भगवन् ! विद्याचारण मुनि को “विद्याचारण” क्यों
कहते हैं ?

उ०—गौतम ! निरस्तर बेले-बेले के तपश्चरणपूर्वक पूर्व-
श्रुतरूप विद्या द्वारा उत्तरगुणलब्धि अर्थात् तपोलब्धि को प्राप्त
मुनि को विद्याचारणलब्धि नाम की लब्धि उत्पन्न होती है ।

इस कारण से गौतम ! वे विद्याचारण कहलाते हैं ।

प्र०—भगवन् ! विद्याचारण की शीघ्र गति कैसी होती
है ? और उसका गति विषय कितना शीघ्र होता है ?

उ०—गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप, जो सर्वद्वीपों में
(आभ्यन्तर है)—यावत्—जिसकी परिधि (तीन लाख सोलह
हजार दो सौ सत्ताईस योजन से) कुछ विशेषाधिक है, उस

तिहि अच्छरानिवाएहि तिक्खुत्तो अणुपरिमट्ठिता णं
हृद्वमागच्छेज्जा, विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! तहा
सीहा गतो, तहा सीहे गतिविसए पण्णत्ते ।

प०—विज्जाचारणस्स णं भंते ! तिरिचं केवत्तियं गतिविसए
पण्णत्ते ?

उ०—गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं भाणुसुरे पव्वए
समोसरणं करेति, करेत्ता, तहि चेइयाइं वंदति वंदित्ता
वित्तिएणं उप्पाउणं नंदीपरवरे दीये समोसरणं करेति,
करेत्ता तहि चेइयाइं वंदति, वंदित्ता तओ पडिनिय-
सत्ति, पडिनियत्तित्ता इहमागच्छइ, आगच्छित्ता इह
चेइयाइं वंदति । विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! तिरिचं
एवत्तिए गतिविसए पण्णत्ते ।

प०—विज्जाचारणस्स णं भंते ! उइहं केवत्तिए गतिविसए
पण्णत्ते ?

उ०—गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं नंदणवणे समो-
सरणं करेति, करेत्ता तहि चेइयाइं वंदति, वंदित्ता
वित्तिएणं उप्पाएणं पंडणवणे समोसरणं करेति, करेत्ता
तहि चेइयाइं वंदति, वंदित्ता तओ पडिनियत्तित्ति, पडि-
नियत्तित्ता इहमागच्छइ, आगच्छित्ता इहं चेइयाइं
वंदति । विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! उइहं एवत्तिए
गतिविसए पण्णत्ते ।

से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेति
नत्थि तस्स आराहणा । से णं तस्स ठाणस्स आलोइय-
पडिक्कंते कालं करेति अत्थि तस्स आराहणा ।

प०—से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ-जंघाचरणे-जंघाचरणे ?

उ०—गोयमा ! तस्स णं अट्ठमंअट्ठमेणं अणिकिस्सत्तेणं तवो-
कस्सेणं अट्ठाएणं आवेभाणस्स जंघाचारणलब्धी नामं
लब्धी समुपपज्जति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ
जंघाचरणे-जंघाचरणे ।

प०—जंघाचारणस्स णं भंते ! कहां सीहा गति, कहां सीहे
गतिविसए पण्णत्ते ?

सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के चारों ओर कोई महद्विक—यावत्—महा-
सौख्य-सम्पन्न देव—यावत्—“यह चक्कर लगा कर आता हूँ ।”
यों कहकर तीन चूटकी बजाए उतने समय में, तीन बार चक्कर
लगाकर आ जाये, ऐसी शीघ्र गति विद्याचारण की है और
उसका इस प्रकार का शीघ्रगति का विषय कहा है ।

प्र०—भगवन ! विद्याचारण की तिरछी गति का विषय
कितना कहा है ?

उ०—गौतम ! वह (विद्याचारण मुनि) यहाँ से एक उत्पात
(उडान) से मानुषोत्तर पर्वत पर समवसरण करता है (अर्थात्
वहाँ जाकर ठहरता है) फिर वहाँ चैत्यों (ज्ञानियों) की स्तुति
करता है । तत्पश्चात् वहाँ से दूसरे उत्पात में नन्दीश्वरद्वीप में
समवसरण करता है, फिर वहाँ पर भी चैत्यों (ज्ञानियों) की
वन्दना (स्तुति) करता है, तत्पश्चात् वहाँ से (एक ही उत्पात
में) वापस लौटता है और यहाँ आ जाता है । यहाँ आकर चैत्य
(ज्ञानियों) की वन्दना करता है । गौतम ! विद्याचारण मुनि की
तिरछी गति का विषय ऐसा कहा गया है ।

प्र०—भगवन ! विद्याचारण की ऊर्ध्वगति का विषय कितना
कहा है ?

उ०—गौतम ! वह (विद्याचारण मुनि) यहाँ से एक
उत्पात से नन्दनवन में समवसरण करता है । वहाँ ठहर कर वह
चैत्यों (ज्ञानियों) की वन्दना करता है । फिर वहाँ से दूसरे
उत्पात से पण्डकवन में समवसरण करता है वहाँ भी वह चैत्य
(ज्ञानियों) की स्तुति (वन्दना) करता है । फिर वहाँ से वह
लौटता है और वापस यहाँ आ जाता है । यहाँ आकर वह चैत्यो
(ज्ञानियों) की स्तुति वन्दना करता है । हे गौतम ! विद्याचारण
मुनि की ऊर्ध्वगति का विषय ऐसा कहा गया है ।

यदि वह विद्याचारण मुनि उस स्थान की आलोचना और
प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाये तो उसकी चारित्र्य
आराधना नहीं होती और यदि वह विद्याचारण मुनि उस
(प्रमाद) स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता
है तो उसकी (चारित्र्य) आराधना होती है ।

प्र०—भगवन ! जंघाचारण को जंघाचारण क्यों कहते हैं ?

उ०—गौतम ! निरन्तर तेले-तेले तपश्चरण-पूर्वक आत्मा
को भावित करते हुए मुनि को जंघाचारण नामक लब्धि उत्पन्न
होती है, इस कारण से गौतम ! उसे “जंघाचारण” कहते हैं ।

प्र०—भगवन ! जंघाचारण की शीघ्र गति कौसी होती है ?
और उसकी शीघ्रगति का विषय कितना होता है ?

उ०—गोयमा ! अयणं जंबुद्वीपे दीवे एवं जहेव विज्ज-
चारणस्स नवरं तिससल्लुत्तो अणुपरियट्ठिता णं हव्व-
मागच्छेज्जा, जंघाचारणस्स णं गोयमा ! तहा सीहा
गति तहा सीहे गतिविसए पणत्ते ।

प०—जंघाचारणस्स णं भंते ! तिरियं केवलिए गतिविसए
पणत्ते ?

उ०—गोयमा ! से णं इओ एगेण उप्पाएणं रुमगवरे दीवे
समोसरणं करेति, करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदति वंदित्ता
तओ पडिनिवत्तमाणे वितिएणं उप्पाएणं नंदीसरवर-
नीते सगोसत्तं करेति, करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदति,
वंदित्ता इहमागच्छइ, आगच्छित्ता इहं चेइयाइं वंदति !
जंघाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवलिए गतिविसए
पणत्ते ।

प०—जंघाचारणस्स णं भंते ! उड्ढं केवलिए गतिविसए
पणत्ते ?

उ०—गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं पंडगवणे समो-
सरणं करेति, करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदति वंदित्ता
तओ पडिनिवत्तमाणे वितिएणं उप्पाएणं नंदगवणे
समोसरणं करेति, करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदति, वंदित्ता
इहमागच्छइ, आगच्छित्ता इहं चेइयाइं वंदति, जंघा-
चारणस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवलिए गतिविसए
पणत्ते ।

से णं तस्स ठाणस्स अणालोइय-पडिक्कत्ते कालं
करेति नत्थि तस्स आराहणा । से णं तस्स ठाणस्स
आलोइय-पडिक्कत्ते कालं करेति अत्थि तस्स
आराहणा ।

—विया. स. २०, उ. ६

उ०—गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप—यावत्—(जिसकी
परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन से कुछ)
विशेषाधिक है, इत्यादि समग्र वर्णन विद्याचारण के समान
जानना चाहिए । विशेष यह है कि कोई महद्दिक—यावत्—
चुटकी बजाए, उतने समय में एक समग्र जम्बूद्वीप की (इक्कीस
बार परिक्रमा करके शीघ्र वापस लौटकर आ जाता है, हे गौतम !
जंघाचारण की इतनी शीघ्रगति और इतना शीघ्रगति विषय
कहा है । शेष कथन सब पूर्ववत् है ।

प०—भगवन ! जंघाचारण की तिरछी गति का विषय
कितना कहा है ?

उ०—गौतम ! वह (जंघाचारण मुनि) यहाँ से एक उत्पात
से रुचकवरद्वीप में समवसरण करता है फिर वहाँ ठहरकर वह
चैत्य (ज्ञानियों) की स्तुति वन्दना करता है । चैत्य (ज्ञानियों) की
स्तुति करके लौटते समय दूसरे उत्पात से नन्दीश्वर द्वीप में
समवसरण करता है तथा वहाँ स्थित होकर चैत्य (ज्ञानियों) की
स्तुति करता है । तत्पश्चात् वहाँ से लौटकर यहाँ आता है ।
यहाँ आकर वह चैत्य (ज्ञानियों) की स्तुति करता है । हे गौतम !
जंघाचारण की तिरछी गति का ऐसा (शीघ्र) गतिविषय कहा है ।

प०—भगवन ! जंघाचारण की ऊर्ध्व-गति का विषय कितना
कहा गया है ?

उ०—गौतम ! वह (जंघाचारण मुनि) यहाँ से एक उत्पात
में पण्डकवन में समवसरण करता है । फिर वहाँ ठहर कर चैत्य
(ज्ञानियों) की स्तुति करता है । फिर वहाँ से लौटते हुए दूसरे
उत्पात से तन्दनवन में समवसरण करता है । फिर वहाँ चैत्य
(ज्ञानियों) की स्तुति करता है । तत्पश्चात् वहाँ से वापस यहाँ
आ जाता है । इतना ऊर्ध्वगति का विषय कहा गया है ।

वह जंघाचारण उस (लब्धि-प्रयोग-सम्बन्धी प्रमाद) स्थान
की आलोचना तथा प्रतिक्रमण किये बिना यदि काल कर जावे
तो उसकी (चारित्र) आराधना नहीं होती । (इसके विपरीत)
यदि वह जंघाचारण उस प्रमाद स्थान की आलोचना और प्रति-
क्रमण करके काल करता है तो उसकी आराधना होती है ।



॥ वीरियाधारो ॥

अणिगूहयत्तवीरिओ
परत्तकमली जो जहुत्तमाजत्तो ।
जुत्तइ य जहत्थामे,
पायत्तवो वीरियाधारो ॥

—निशोषभाष्य, भाग १, गा० ४३

च र णा नु यो ग

[वी र्य धा र]

वीर्याचार

वीर्य का स्वरूप—१

वीर्य सार्व—

७२६. कुहा चेयं सुयक्त्वायं, वीर्यं ति पवुचचति ।
किं नु वीरस वीरत्तं, केण वीरो ति वुचचति ॥

कम्ममेगे पवेवेति, अकम्मं वा वि सुव्वता ।
एतेहि वोहि ठाणेहि, जेहि विस्संति मच्चिया ॥

एसायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तव्वावावेसतो वा वि, बालं पंडितमेव वा ॥

—सूय. सु. १, अ. ८, गा. १-३

बालवीर्याईणं विवक्षा—

७२७. प०—अण्णउत्थिया णं भन्ते ! एवंआइक्खंति, एवं भासंति,
एवं पण्णवेति, एवं पक्खेति "समणा पंडिया, समणो-
वासया बालपंडिया" ? जस्स णं एगपाणाए वि वंके
अणिक्खित्ते से णं "एगंतबाले" ति वत्तव्वं सिया ।
से कहमेयं भन्ते ! एवं ?

उ०—गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एवं आइक्खंति-जाव-
एगंतबाले ति वत्तव्वं सिया, जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते
एवमाहंसु ।

अहं पुण गोयमा ! एवं आइक्खामि-जाव-पक्खेमि
"एवं खलु समणा 'पंडिया', समणोवासया 'बालपंडिया'
जस्स णं एगपाणाए वि वंके णिक्खित्ते से णं भो एगंत-
बाले ति वत्तव्वं सिया" ।

—वि. स. १७, उ. २, सु. १०

बालवीर्यसार्व—

७२८. जे वाऽबुद्धा महाभाया, वीरा असम्मसवंसिणो ।
असुख तेसि परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥

—सूय. सु. १, अ. ८, गा. २२

बुते हु बाले गव्भासिसु रज्जति ! अस्सि चेतं पवुचचंति
रुव्वंसि वा छणंसि वा ।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. ३, सु. १५६

वीर्य का स्वरूप—

७२६. तीर्थंकर भगवान् के द्वारा प्ररूपित जिन मार्ग में वीर्य दो प्रकार का कहा गया है । धीरे पुरुष की वीरता क्या है और उसका वर्णन किस प्रकार है ?

तीर्थंकर भगवान् दो प्रकार के वीर्य का प्रतिपादन करते हैं—कर्मवीर्य और अकर्मवीर्य । सभी मनुष्य इन दो स्थानों में विद्यमान हैं ।

तीर्थंकरों ने प्रमाद को कर्मवीर्य (कर्मों की वृद्धि कराने वाला) और अप्रमाद को अकर्मवीर्य (कर्म रहित बनाने वाला) कहा है । कर्मवीर्य के सद्भाव की अपेक्षा से मनुष्य 'बाल' और अकर्मवीर्य के सद्भाव की अपेक्षा से वह 'पंडित' कहलाता है ।

बालवीर्य आदि की विवक्षा—

७२७. प्र०—भन्ते ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार विशेष रूप से कहते हैं, इस प्रकार बताते हैं और इस प्रकार प्ररूपित करते हैं कि—“श्रमण पण्डित कहलाते हैं और श्रमणोपासक बाल-पण्डित कहलाते हैं तथा जिस के एक जीव के वध की भी अविरति है वह 'एकान्त बाल' कहलाता है, भन्ते ! क्या अन्यतीर्थियों का यह कथन सत्य है ?

उ०—हे गौतम ! अन्यतीर्थिकों ने जो इस प्रकार कहा है कि—“श्रमण पण्डित” है—यावत्—“एकान्त बाल” कहलाता है, उनका यह कथन मिथ्या है ।

हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ—यावत् प्ररूपित करता हूँ कि “श्रमण पण्डित है और श्रमणोपासक बाल-पण्डित है और जिस जीव ने एक भी प्राणी के वध की विरति की है, वह जीव एकान्त बाल नहीं कहलाता है” (किन्तु वह बाल पण्डित कहलाता है ।)

बालवीर्य का स्वरूप—

७२८. जो महाभाग वीर पुरुष अबुद्ध और असम्यक्त्वदर्शी है; उनका पराक्रम अशुद्ध और सर्वथा कर्मबन्धयुक्त होता है ।

मोक्ष-साधना से अष्ट होने वाला अज्ञानी साधक गर्भ आदि में फँस कर दुःख पाता है । इस बार्हत शासन में यह कहा गया है कि—‘रूप में एवं हिंसा में आसक्त होने वाला गर्भादि में जाता है ।’

उभयं च पासं हह भन्निहहि,
आरंभजीवी उभयाणुदस्यी ।
कामेषु गिह्या निचयं करेति,
संसिञ्चमाणा पुनर्रेति भवम् ॥

अत्रि से हासमासज्ज, हुंता णंदोति णण्णति ।
अत्तं वात्तस्स संगेणं, वेरं वड्ढेति अप्पणो ॥
—आ. सु. १, अ. ३, उ. २, सु. ११३-११४

बालो ही उवएस ओगो—

७२६. उद्देसो पासगस्स णत्थि ।

बाले पुण गिहे कामसमणुणे असमित्तुक्खे वुक्खी वुक्खानमेव
आवहं । अणुपरियट्ठति ।

—आ. सु. १, अ. २, उ. ३, सु. ८०

सकम्मवीरियं सरुवं—

७३०. सत्थमेगे सुसिक्खंति, अतिवायाय पाणिणं ।
एगे भंते अहिण्वंति, पाणभूयविहेड्डिणो ॥

माइणो कट्ठु मायाओ, कामभोणे ससारभे ।
हुंता छेत्ता पकसित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥

भणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ।
आरत्तो परतो यावि, बुहा वि य असंजता ॥

वेराइ कुव्वती वेरी, ततो वेरेहि रज्जती ।
पावोवगा य आरंभा, वुक्खकासा य अंतसो ॥

संपरागं णियच्छंति, अत्तनुक्कडकारिणो ।
राग-दोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते वड्ढं ॥

एवं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेदितं ।
एत्तो अकम्मवीरियं, पंडियाणं सुणेह मे ॥

—सूय. सु. १, अ. ८, गा. ४-६

अकम्मवीरियं सरुवं—

७३१. बविए वंछणुम्भुक्के, सख्खतो छिण्णबंधणे ।
पणोल्ल पावरां कम्मं, सत्तं कंतति, अंतसो ॥

इस संसार में मनुष्यों के साथ रागादि बन्धनों को तोड़ डाल, क्योंकि वे आरम्भजीवी हैं, शारीरिक भौतिक उभय सुखों के या काम-भोगों के अभिलाषी हैं, वे काम-भोगों में आसक्त होकर कर्मों का संन्यास करते रहते हैं और कर्मों का पंचय कर वे पुनः पुनः जन्म धारण करते हैं ।

वह अज्ञानी मनुष्य अज्ञान के कारण हास्य विनोद द्वारा प्राणियों का वध करके सुखी मनाता है ऐसे अज्ञानी वृक्षों का संसर्ग भी नहीं करना चाहिए । जिससे अपनी आत्मा के साथ वैर भाव की वृद्धि होती है ।

अज्ञ ही उपदेश योग्य है—

७२६. जो द्रष्टा (सत्यदर्शी) है उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं होती ।

अज्ञानी पुरुष जो स्नेह के बन्धन में बंधा है, काम-सेवन में अनुरक्त है, वह कभी दुःख का भजन नहीं कर पाता । वह दुःखी होकर दुःखों के आवर्त में बार-बार भटकता रहता है ।

सकर्मवीर्य का स्वरूप—

७३०. कुछ लोग प्राणियों को मारने के लिए शस्त्र चलाने की अधवा धनुर्वेद आदि की शिक्षा प्राप्त करते हैं और कुछ लोग प्राणियों और भूतों के विघातक मन्त्रों का अध्ययन करते हैं ।

मायावी मनुष्य छल कपट करके काम भोगों को प्राप्त करते हैं । वे अपने सुख के अनुगामी होकर प्राणियों को मारते काटते और चीरते हैं ।

असंयमी मनुष्य मन से, वचन से और काम से अशक्त होने पर भी इस लोक के लिए या परलोक के लिए जीवों की हिंसा करते हैं, करवाते हैं ।

हिंसा करने वाला पुरुष अनेक जीवों के साथ वैर का अनु-बन्ध करता है । जिससे वह नये वैर में संलग्न हो जाता है । (वास्तव में) हिंसा की प्रवृत्तियाँ मनुष्य को पाप की ओर ले जाती हैं अन्त में उनका परिणाम दुःखदायी होता है ।

स्वयं हिंसा आदि दुष्कृत करने वाले मनुष्य संसार (जन्म-मरण) को प्राप्त होते हैं । फिर राग-द्वेष के बन्धीभूत होकर बहुत पाप करते हैं ।

यह बाल मनुष्यों का सकर्मवीर्य बतलाया गया है । अब पण्डित मनुष्यों के अकर्मवीर्य को मुझसे सुनो ।

अकर्मवीर्य का स्वरूप—

७३१. संयमी पुरुष बन्धन से मुक्त होकर प्रमाद या हिंसा में सर्वतः प्रवृत्त नहीं होता है वह पाप-कर्म को दूर कर सम्पूर्ण शक्य रूप कर्मों को काट देता है ।

नेषाउयं सुयकृतात्, उवावाय समोहते ।
भुजो भुजो बुहावासं, असुभसं तहा तहा ॥

ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति न संसओ ।
अणितिए अयं वासे, पायएहि य सुहीहि य ॥

एवसायाय मेहावी, अप्पणो गिहिमुदरे ।
आरिअं उअसेपअं सम्भदम्मभकीविअं ॥

सहसम्मुहए णत्ता, धम्मसारं सुणेंसु वा ।
समुवट्ठिते अणगारे, पच्चवक्खाय पावए ॥

जं किञ्चुक्ककमं जाणें, आउक्खेमहस अप्पणो ।
तस्सेअ अंतरा णिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिते ॥

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए वेहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेधावी, अत्तप्पेण समाहरे ॥

साहरे हत्थ-पावे य, मणं सत्तिवत्तिमाणि य ।
पावणं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं ॥
अणु माणं च मायं च, तं परिणाय पंडिए ।
सातागारं य णिहुते, उअसंते गिहे अरे ॥^१

पाणे य णाइवातेज्जा, अदिण्णं पि य णादिए ।
सावियं ण नुसं बुया, एस धम्मे बुसीमतो ॥
अतिक्कमं ति वायाए, मणसा वि ण पत्थए ।
सअत्तो संबुडे वंते, आयाणं सुसमाहरे ॥

कइं च कज्जमाणं च, आगमेस्सं च पावणं ।
सअं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिहविया ॥

—सूय. सु. १, अ. ८, गा. १०-२१

पण्डितवीर्य सखं—

७३२. जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुअं तेसि परक्कतं, अकलं होइ सव्वसो ॥

—सूय. सु. १, अ. ८, गा. २३

१ पाठान्तर—अणुमाणं च मायं च, तं परिणाय पंडिए ।

सुअं मे इहमेगेसि, एयं वीरस्स वीरियं ॥

वह मोक्ष की ओर ले जाने वाले सु-आस्थात धर्म को पाकर चिन्तन करता है कि—“प्राणी बार-बार दुःखमय आवासों को प्राप्त होता है और उसके जैसा-जैसा अशुभ कर्म होता है वैसा-वैसा अशुभ फल प्राप्त होता है ।”

विविध स्थानों में रहे हुए जीव अपने स्थानों को अवश्य छोड़ेंगे इसमें कोई संशय नहीं है । ज्ञानिजनों और मित्रों के साथ यह संवास (संयोग) नित्य नहीं है ।

अनित्यता का विचार कर मेधावी मनुष्य अपनी आसक्ति को छोड़ दे और सब दूषणों से रहित निर्मल आर्य धर्म को स्वीकार करे ।

धर्म के सार को अपनी मति से जानकर अथवा दूसरों से सुनकर उसके आचरण के लिए उपस्थित अणगार सम्पूर्ण पापों का त्याग कर दे ।

पण्डित अणगार अपनी आयु के क्षीण होने का कारण जान कर उस के अन्तराल (शेष बचे काल) में भी शीघ्र ही संलेखना ग्रहण करे ।

जैसे कछुवा अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है, इसी प्रकार पण्डित पुरुष अपनी आत्मा को पापों से बचाकर अध्यात्म में ले जाए ।

वह हाथ, पैर, मन और पाँचों इन्द्रियों का, बुरे परिणामों का और भाषा के दोषों का संयम करे ।

पण्डित पुरुष कषाय के परिणामों को जानकर अणुमात्र भी मान और माया का आचरण न करे । विवेकी साधक सुख सुविधा तथा प्रतिष्ठा आदि में उद्यत न हो तथा उपशान्त व निस्पृह होकर विचरण करे ।

कभी भी प्राणियों का अतिपात न करे, अदत्त भी न ले, कपट-सहित झूठ न बोले यह मुनि का धर्म है ।

प्राणियों के प्राणों का अतिपात (पीड़न) वाणी से भी न करे, तथा मन से भी प्राणों का अतिपात न चाहे । सब ओर से संवृत होकर रहे और इन्द्रियों का दमन करता हुआ मोक्ष मार्ग का सम्यक् आराधन करे ।

आत्म गुप्त और जितेन्द्रिय मुनि किये हुए, किये जाते हुए और भविष्य में किए जाने वाले इन समस्त पापों का अनुमोदन भी नहीं करते हैं ।

पण्डित वीर्य का स्वरूप—

७३२. जो महाभाग वीर पुरुष बुद्ध और सम्यक्त्वदर्शी हैं उनका पराक्रम शुद्ध और सर्वथा कर्म बन्ध से मुक्त होता है ।

तितिक्षया मोक्षं—

७३३. अप्पपिडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वते ।
खंतेऽभिनिव्वुडे वंते, बीसगेही सदा जये ॥

प्राणजोगं समाहृद्दु, कार्यं पिडसेज्ज सव्वसं ।

तितिक्षं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥

—सूय. सु. १, अ. ८, गा. २५-२६

समाहिजुत्तस्स सिद्धगई—

७३४. ओयं चित्तं समादाय, माणं समणुपज्जइ ।
धम्मं ठिओ अविमणो, निब्बानमभिगच्छइ ॥

ण इमं चित्तं समादाय, जुज्जो लोयंसि जायइ ।

अप्पणो उत्तमं ठाणं, सण्णि-गार्थेण जाणइ ॥

अहातच्चं तु सुमिणं, खिप्पं पासेइ संवुडे ।

सव्वं वा ओहं तरत्ति, बुक्खाओ य विमुच्चइ ॥

पंताइं भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं ।

अप्पाहारस्स वंतस्स, देवा वंसेति ताइणो ॥

सव्वकाम - विरत्तस्स, खमतो भय - भेरवं ।

तओ से ओही भवइ, संजयस्स तवस्सिणो ॥

तवसा अवहइ लेस्सस्स, वंसणं परिसुज्जइ ।

उड्ढं अहे तिरियं च, सव्वं समणुपस्सति ॥

सुसमाहिप्लेस्सस्स, अवितक्कस्स मिक्खणो ।

सव्वतो विप्पमुक्कस्स, आया जाणइ पज्जवे ॥

जया से णाणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं ।

तया लोममलोगं च, जिणो जाणति केवली ॥

जया से वंसणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं ।

तया लोममलोगं च, जिणो पासति केवली ॥

तितिक्षा से मोक्ष—

७३३. सुव्रत पुरुष थोड़ा भोजन करे, थोड़ा जल पीए, थोड़ा बोलें, सदा क्षमाशील, शांत, दांत और अनासक्त होकर सदा संयम में पुरुषार्थ करे ।

ध्यानयोग की सम्यग् स्वीकार कर सभी प्रकार से काया का व्युत्सर्ग करे, परीषद्भोपसर्ग सहन रूप तितिक्षा मोक्ष का परम साधन है—यह जानकर जीवन पर्यन्त संयम की साधना में पराक्रम करे ।

समाधि युक्त की सिद्धगति—

७३४. राग-द्वेष से रहित निर्मल चित्त को धारण करने पर एकाग्रतारूप ध्यान उत्पन्न होता है और शंका-रहित धर्म में स्थित आत्मा निर्वाण को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार चित्त-समाधि को धारण कर आत्मा पुनः पुनः लोक में उत्पन्न नहीं होता और अपने उत्तम स्थान को जाति-स्मरण ज्ञान से जान लेता है ।

संवृत-आत्मा यथातथ्य स्वप्न को देखकर शीघ्र ही सर्व संसार रूपी समुद्र से पार हो जाता है, तथा शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःखों से छूट जाता है ।

अल्प आहार करने वाले, अन्त-प्रान्तभोजी, विविक्त शयन-आसनसेवी, इन्द्रियों का निग्रह करने वाले और बट्कायिक जीवों के रक्षक संयत साधु को देव-दर्शन होते हैं ।

सर्वकाम-भोगों से विरक्त, भीम-भैरव परीषद्-उपसर्गों के सहन करने वाले तपस्वी संयत की अवधिज्ञान उत्पन्न होता है ।

जिसने तप के द्वारा अशुभ लेश्याओं को दूर कर दिया है उसका अवधिदर्शन अतिविशुद्ध हो जाता है और उसके द्वारा वह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक में रहे हुए जीवादि सभी पदार्थों को देखने लगता है ।

सुसमाधियुक्त प्रशस्त लेश्या वाले, विकल्प से रहित भिक्षा-वृत्ति से निर्वृत्ति करने वाले और सर्वप्रकार के बन्धनों से विप्र-मुक्त आत्मा मन के पर्यवों को जानता है अर्थात् भूतः पर्यवज्ञानी हो जाता है ।

जब समस्त ज्ञानावरण कर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है, तब वह मुनि केवली जिन होकर समस्त लोक और अलोक को जानता है ।

जब समस्त दर्शनावरण कर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है, तब वह मुनि केवली जिन होकर समस्त लोक और अलोक को देखता है ।

पडिमाए विमुद्धाए, मोहणिज्जे खयं गए ।
असेसं लोगमलोगं च, पासेति सुसमाहिण् ॥

जहा मरथय सुइए, हताए हम्मइ तले ।
एवं कम्माणि हम्मन्ति, मोहणिज्जे खयं गए ॥

सेणावहम्मि निहए, जहा सेणा पणहसति ।
एवं कम्माणि णहसन्ति, मोहणिज्जे खयं गए ॥

धूमहीणो जहा अग्गी, खीयति से निरिच्छणे ।
एवं कम्माणि णहसन्ति, मोहणिज्जे खयं गए ॥

सुक्क-भूले जहा रुक्खे, सिचमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा ण रोहन्ति, मोहणिज्जे खयं गए ॥

जहा दड्ढाणं बीयाणं, न जायन्ति पुणकुरा ।
कम्म बीएसु दड्ढेसु न जायन्ति भवकुरा ॥

चिच्छा ओरालियं बीदि, नाम-गोयं च केवली ।
आउयं वेचणिज्जं च, छित्ता भवति तीरए ॥

एवं अभिसमागम्म, चित्तमादाय आउसो ! ।
सेणि - सुद्धिमुखागम्म, आया सोधिमुवेहइ ॥

—दसा. द. ५, सु. ६, गा. १-१७

विद्वन्त चित्ताणं वीरियहाणी—

७३५. किमणेण णो जणेण करिस्सामि ? त्ति मण्णभाणा एवं पेवे
वविस्सा, भातरं पितरं हेक्खा णातओ य परिगहं, वीराय-
माणो समुद्धाए अविहिंसा सुव्वता दंता ।

पस्स वीणे उप्पइय पडिबयमाणे । वसट्ठा कायरा जणा लूसगा
भवन्ति ।

अहमेगेसि सिलोए पावए भवति—“से समणविद्वन्ते, से समण-
विद्वन्ते ।”

भिक्षु प्रतिमाओं के विषुद्ध रूप से आराधन करने पर और
मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर सुसमाहित आत्मा सम्पूर्ण
लोक और अलोक को देखता है ।

जिस प्रकार ताल वृक्ष के अग्र भाग को तीक्ष्ण शस्त्र से
छेदन किये जाने पर वह सम्पूर्ण वृक्ष नीचे गिर जाता है, इसी
प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सर्व कर्म भी ही
विनष्ट हो जाते हैं ।

जैसे सेनापति के मारे जाने पर सारी सेना अस्त-व्यस्त हो
जाती है इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष
सर्व कर्म विनष्ट हो जाते हैं ।

जैसे धूम-रहित अग्नि ईन्धन के अभाव से स्वतः शान्त हो
जाती है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष
सभी कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं ।

जैसे शुष्क जड़ वाला वृक्ष जल-सिंचन किये जाने पर भी
पुनः अंकुरित नहीं होता है, इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय हो
जाने पर शेष कर्म भी उत्पन्न नहीं होते हैं ।

जैसे जले हुए बीजों से पुनः अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं, इसी
प्रकार कर्म बीजों के जल जाने पर भवरूप अंकुर उत्पन्न नहीं
होते हैं ।

औदारिक शरीर का त्याग कर तथा नाम, गोत्र, आयु और
वेदनीय कर्म का छेदन कर केवली भगवान् कर्म रज से सर्वथा
रहित हो जाते हैं ।

हे आयुष्मान् शिष्य इस प्रकार समाधि के भेदों को जान-
कर राग और द्वेष से रहित चित्त को धारण कर क्षपक-श्रृंखली
को प्राप्त कर आत्मा शुद्धि को प्राप्त करता है, अर्थात् मोक्ष पद
को प्राप्त कर लेता है ।

भ्रान्त चित्त वालों की वीर्यहानि—

७३५. “ओ आत्मन् ! इन स्वार्थी खजनों से मैं क्या लाभ प्राप्त
करूँगा ?” यह मानते और कहते हुए कुछ लोग माता-पिता,
जातिजन और परिग्रह को छोड़कर वीर वृत्ति से मुनि धर्म में
सम्यक् प्रकार से प्रव्रजित होते हैं और पूर्णरूप से अहिंसक,
सुव्रती और दांत वन जाते हैं ।

संयम में उत्थित होकर दीन बनकर गिरते हुए कुछ मुनियों
को तू देख, वे विषयों से पीड़ित कायरजन संयम को नष्ट करने
वाने हो जाते हैं ।

इस कारण से कुछ साधकों की अपकीर्ति हो जाती है कि
“यह श्रमण धर्म से च्युत हो गया है, यह श्रमणधर्म से च्युत हो
गया है ।”

पासहेगे समण्णागतेहि सह असमण्णागए, णममाणेहि अणम-
माणे, विरतेहि अविरते, वसितेहि अवसिते ।

अभिसमेज्जा पंडिते मेधाधी णिट्ठियट्ठी खीरे आगमेणं सदा
परिक्कमेज्जासि ।

—आ. सु. १, अ. ६, उ. ४, सु. १६३-१६५

यह भी देख ! संयम से व्युत्त होने वाले कई मुनि उत्कृष्ट
आचार वासों के बीच शिथिलाचारी समर्पित मुनियों के बीच
असमर्पित, विरत मुनियों के बीच अविरत तथा साधुओं के बीच
चारित्रहीन होते हैं ।

इस प्रकार संयम-छष्ट साधकों को तथा संयम-छष्टता के
परिणामों को भली भाँति जानकर पण्डित बुद्धिमान और मौल्यार्थी
वीर मुनि सदा संयम में पराक्रम करे ।



परीषह-जय—२

परीसहेहि कम्मल्लओ—

७३६. य वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंती लोमंसि पाणिणो ।

एवं स हिण्णधिपासते, अणिहे से पुट्ठोऽधिसाए ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. १३

न य संखयमाहु जीविर्यं, तह वि य बालजणे पपक्कमती ।

बाले पावेहि मिज्जती, इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥

छडेण पलेतिमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा ।

विषयणेण पलेति माहणे, सोउण्हं वयसा हियासए ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. २, गा. २१-२२

परीसहप्पमारा—

७३७. बावीस परीसहा पणत्ता, तं जहा—

१. विगिच्छा-परीसहे,	२. पिवासा परीसहे,
३. सोय-परीसहे,	४. उसिण-परीसहे,
५. वंस-मसय-परीसहे,	६. अचेल-परीसहे,
७. अरइ-परीसहे,	८. इरथी-परीसहे,
९. अरिया-परीसहे,	१०. निसीहिया-परीसहे,
११. सेज्जा-परीसहे,	१२. अक्कोस-परीसहे,
१२. वह-परीसहे,	१४. जायणा-परीसहे,
१५. अलाभ-परीसहे,	१६. रोग-परीसहे,
१७. तणकास-परीसहे,	१८. जल-परीसहे,
१९. सक्कारपुरवकार-परीसहे,	२०. पप्पा-परीसहे,

परीषह सहने से कर्मों का क्षय—

७३६. “इस संसार में मैं ही केवल दुःखों से पीड़ित नहीं हूँ,
परन्तु लोक में दूसरे प्राणी भी पीड़ित हैं”—इस प्रकार ज्ञान
सम्पन्न पुरुष अन्तर्दृष्टि से देखे और वह परीषहों से स्पृष्ट होने
पर राग द्वेष रहित होकर उन्हें सहन करे ।

टूटे हुए जीवन-सूत्र को जोड़ा नहीं जा सकता । फिर भी
अज्ञानी मनुष्य (हिंसा आदि करने में) घृष्ट होता है । वह अज्ञ
जीव अपने पाप-कर्मों से मरता जाता है—यह जानकर मुनि मद
नहीं करता ।

अत्यन्त माया और मोह से घिरे हुए ये प्राणी अपनी इच्छा-
नुसार आचरण कर विभिन्न गतियों में पर्यटन करते हैं किन्तु
मुनि सरल भाव से संयम में लौट रहकर मन वचन और कर्मा
से शीत और उष्ण आदि परीषहों को सहन करता है ।

परीषह के प्रकार—

७३७. बावीस परीषह कहे गये हैं, यथा—

(१) क्षुधा-परीषह,	(२) पिपासा-परीषह,
(३) शीत-परीषह,	(४) उष्ण-परीषह,
(५) वंश-ममक-परीषह,	(६) अचेल-परीषह,
(७) अरति-परीषह,	(८) स्त्री-परीषह,
(९) चर्या-परीषह,	(१०) निषद्या-परीषह,
(११) शय्या-परीषह,	(१२) आक्रोश-परीषह,
(१३) बध-परीषह,	(१४) याचना-परीषह,
(१५) अलाभ-परीषह,	(१६) रोग-परीषह,
(१७) लृण-स्पर्श-परीषह,	(१८) जल-परीषह,
(१९) सत्कार-पुरस्कार परीषह,	(२०) प्रज्ञा-परीषह,

२१. अज्ञान-परीसहे,

२२. दंसण-परीसहे ।^१

(२१) अज्ञान-परीषद्,

(२२) दंसण-परीषद्,

—सम. सम. २२, सु. १

परीसह प्ररूपणा—

७३८. परीसहाणं पविमत्ती, कासवेणं पवेहया ।

सं मे उवाहरिस्सामि, आण्णुपुत्थि सुणेह मे ॥

—उत्त. अ. २, गा. ३

१. खुहा परीसहे—

७३९. विंगिछा परिगए वेहे, तवस्सो सिक्खु यामवं ।

न छिन्वे न छिन्दावए, न पए न पयावए ॥

कालो पव्वंगसंकासे, किसे धमणि संतए ।

मायन्ने असण-पाणस्स, अदीण-मणसो चरे ॥

—उत्त. अ. २, गा. ४-५

२. पिपासा परीसहे—

७४०. तओ पुट्ठो पिपासए, दोगुंछो लज्ज-संजए ।

सीओदमं न सेविज्जा, खियदस्सेसणं चरे ॥

छिन्नावाएसु पंथेसु, आउरे सुविवासिए ।

परिसुक्कमुहे दोणे, तं तित्तिक्खे परीसहं ॥

—उत्त. अ. २, गा. ६-७

३. सीय परीसहे—

७४१. चरन्तं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एयाया ।

नाइवेत्तं मुणी गच्छे, सोच्छाणं जिणसासणं ॥

न मे विचारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जई ।

अहं तु अग्निं सेवामि, इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

—उत्त. अ. २, गा. ८-९

जया हेमंतभासम्मि, सीतं फुसति सवात्तगं ।

तत्थ भंवा विसोयन्ति, रज्जहीणा व खसिया ॥

—सुद. सु. १, अ. ३, उ. १, गा. ४

परीषद् प्ररूपणा—

७३८. परीषद्‌हों का जो विभाग काश्यप गोत्रीय भगवान के द्वारा प्रवेदित या प्ररूपित है उसे मैं क्रमशः कहता हूँ। तुम मुझसे सुनो ।

(१) क्षुधा-परीषद्—

७३९. देह में क्षुधा व्याप्त होने पर भी तपस्वी और धैर्यवान भिक्षु फल आदि का सेवन न करे, न कराए तथा अन्न आदि न पकाए और न पकवाए ।

शरीर के अंग भूख से सूखकर काकजंघा के समान दुर्बल हो जायें, शरीर कुंश होकर नसें दीख जायें तो भी आहार-पानी की मर्यादा को जानने वाला साधु अदीनभाव से विचरण करे ।

(२) पिपासा-परीषद्—

७४०. असंयम से घृणा करने वाला लज्जावान संयमी साधु प्यास से पीड़ित होने पर भी सचित्त पानी का सेवन न करे, किन्तु प्रासुक जल की एषणा करे ।

निर्जन मार्ग में जाते समय प्यास से अत्यन्त आकुल हो जाने पर मुँह सूख जाने पर भी साधु अदीनभाव से उस प्यास के परीषद् को सहन करे ।

(३) शीत-परीषद्—

७४१. विरत होकर रुक्ष वृत्ति से संयम में विचरते हुए कभी शीत का स्पर्श हो तो जिनागम को सुनने वाला मुनि संयम की किसी भी मर्यादा का उल्लंघन न करे ।

शीत से प्रताड़ित होने पर मुनि ऐसा न सोचे कि—मेरे पास शीत-निवारक घर आदि नहीं है और शरीर की सुरक्षा के लिए वस्त्रादि भी नहीं है, इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूँ ।

जब जाड़े के महीनों में बर्फोली हवा और सर्दी लगती है तब मन्द पराक्रमी साधक वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे कि राज्य से ज्युत राजा ।

१ (क) उत्त. अ. २, सु. २

(ख) समवायांग और उत्तराध्ययन में १९ परीषद्‌हों के नामों का क्रम समान है केवल २०वें, २१वें और २२वें परीषद्‌हों के नामों में व्युत्क्रम है ।

समवायांग

(२०) अण्णाण परीसह

(२१) दंसण परीसह,

(२२) पण्णापरीसह,

विभिन्न प्रकाशनों में इन नामों का विभिन्न क्रम भी मिलता है ।

उत्तराध्ययन

(२०) पण्णापरीसह,

(२१) अण्णाण परीसह,

(२२) दंसण परीसह ।

४. उसिणपरीसहे—

७४२. उसिण - परिषावेणं, परिदाहेण तज्जिए ।
धिसु वा परिषावेणं, सायं नो परिदेवए ॥

उष्णहृत्तमे मेधावी, सिनारणं नो वि पत्थए ।
सायं नो परिंसिचेज्जा, न खीएज्जा य अप्पयं ॥

—उत्त. अ. २, गा. १०-११

पुट्टे गिम्हामितावेणं, विमणे मुण्णिवासिए ।
तत्थ मंवा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. १, गा. ५

५. दंसमसपरीसहे—

४३. पुट्टो य दंसमसएहि, समरे व महामुणी ।
नागो संगाम-सीसे वा, सूरु अमिहणे परं ॥

न संतसे न वारेज्जा, मणं पि न पओसए ।
उवेहे न हणे पाणे, भुज्जंतं मंस-साणिधं ॥

—उत्त. अ. २, गा. १२-१३

पुट्टो य दंस-मसएहि, तणफासमवाइया ।
न मे दिट्ठे परे लीए, जइ परं सरणं सिया ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. १, गा. १२

६. अचेलपरीसहे—

७४४. परिजुणोहि वस्सोहि, होक्खामि ति अचेलए ।
अबुवा सचेलए होक्खं, इइ भिक्खू न चितए ॥
एगया अचेलइ होइ, सचेले यावि एगया ।
एयं धम्म हिंयं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥

—उत्त. अ. २, गा. १४-१५

जे भिक्खू अचेले परिवुसिते तस्स णं एवं भवति—

“आएमि अहं तण-फासं अहिवासित्तए, सीतफासं अहिवा-
सित्तए, तेजफासं अहिवासित्तए, दंस मसगफासं अहिवा-
सित्तए, एगतरे अण्णतरे विरुवहवे फासे अहिवासित्तए,
हिरियपडिच्छादणं च हं णो संचाएमि अहिवासित्तए” एव
से कप्पति कडिबध्दं धारित्तए ।

(४) उष्ण परीषह—

७४२. गरमी के परित्ताप से तथा दाह से पीड़ित होकर अथवा
ग्रीष्म कालीन सूर्य के परित्ताप से परितप्त होने पर भी मुनि सुख
के लिए विलाप न करे ।

गरमी से अभितप्त होने पर भी मेधावी मुनि स्नान की
इच्छा न करे । शरीर को गीला न करे । पंखे से शरीर पर हवा
भी न करे ।

गरमी में धूप से स्पृष्ट होकर तथा प्यास से व्याकुल बने
साधक वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे कि थोड़े पानी में
मछली ।

(५) दंस मशक परीषह—

७४३. डांस और मच्छरों का उपद्रव होने पर भी महामुनि सम-
भाव में रहे । जैसे युद्ध के अग्रभाग में रहा हुआ शूरवीर हाथी
बाणों की नहीं गिनता हुआ शत्रुओं का हनन करता है, उसी
प्रकार मुनि परीषहों पर विजय प्राप्त करे ।

भिक्षु उन डांस और मच्छरों को न भ्राम देवे और न हटाए
तथा मन में भी उनके प्रति द्वेष न लगे । मांस और रक्त खाने
पीने पर भी उनकी उपेक्षा करे, किन्तु हनन न करे ।

मुनि डांस और मच्छरों के काटने पर तथा तृण स्पर्श को न
सह सकने के कारण ऐसा सोचने लगता है कि —“परलोक तो
मैंने देखा ही नहीं है परन्तु इस कष्टमय जीवन से मरण तो
साक्षात् ही दीजता है ।”

(६) अचेल-परीषह -

७४४. ‘वस्त्रों के जीर्ण हो जाने पर मैं अचेल हो जाऊँगा अथवा
वस्त्र मिलने पर मैं सचेल हो जाऊँगा’ मुनि ऐसा न सोचे ।

वस्त्र न मिलने पर मुनि कभी अचेलक भी होता है और
वस्त्र मिलने पर कभी सचेलक भी होता है । सचेलत्व और
अचेलत्व धर्म को हितकर जानकर शानी मुनि किसी प्रकार का
क्षेद न करे ।

जो भिक्षु वस्त्र रहित रहता है उसे इस प्रकार का संकल्प
हो कि—

मैं घास के तीखे स्पर्श को सहन कर सकता हूँ, सर्दों का
स्पर्श सहन कर सकता हूँ, गर्मों का स्पर्श सहन कर सकता हूँ,
डांस और मच्छरों के काटने को सहन कर सकता हूँ और भी
अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करने में समर्थ हूँ, किन्तु मैं
लज्जा निवारणार्थ वस्त्र को छोड़ने में समर्थ नहीं हूँ ।” ऐसी
स्थिति में वह भिक्षु कटिबन्धन (चोलपट्टा) धारण कर सकता है ।

अहंसा तत्प परवकर्मतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीत-
फासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, वंस मसगफासा फुसंति,
एगत्तरे अण्णयरे विक्कवरुवे फासे अहियासेति ।

अचेलसे लाभविषय आगममाणे । तवे से अभिसमण्णागते
भवति ।

जहेयं भगवया पवेदितं तमेव अभिसमेव्वा सव्वतो सव्वयाए
सम्भसमेव समभिजाणिया ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ७, सु. २२५-२२६
एवं ए मुणी आदाणं सुयवजातधम्मो विवूतकप्पे भिज्जो-
सइत्ता ।

जे अचेले परिवुसिते तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवति—

“परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सुइं
जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उवकसिस्सामि,
वोधकसिस्सामि, परिहिं सामि, पाउणिस्सामि ।”

अबुवा तत्प परवकर्मतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीत-
फासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, वंस-मसगफासा फुसंति एग-
त्तरे अण्णयरे विक्कवरुवे फासे अहियासेति ।

अचेलसे लाभविषय आगममाणे तवे से अभिसमण्णागए भवति ।

जहेयं भगवया पवेदितं । तमेव अभिसमेव्वा सव्वतो सव्व-
ताए सम्भसमेव समभिजाणिया ।

—आ. सु. १, अ. ६, उ. ३, सु. १८७

अचेलस्स पसत्थ परिणामो—

७४५. पंचहिं ठाणोहिं अचेलए पसत्थे भवति, तं जहा—

१. अप्पा पडिलेहा,
२. लाभविए पसत्थे,
३. रुवे वेसासिए,
४. तवे अणुण्णाते,
५. विउले इंदियणिग्गहे ।

—ठाणं. अ. ५ उ. ३, सु. ४५५

अरइ परीसहे

७४६. गामाणुगामं रीयंतं, अण्णगरं अक्किचणं ।
अरइ अणुप्पविसे तं तितिक्षे परीसहं ॥

इस चर्या में पराक्रम करते हुए कभी अचेल भिक्षु को अनेक
बार घास के तीखे स्पर्श चुभते हैं, शीत का स्पर्श होता है, गर्मी
का स्पर्श होता है, डांस और मच्छर काटते हैं फिर भी वह उन
अनेक प्रकार के स्पर्शों को सहन करता है ।

इस प्रकार वह अचेल भिक्षु कर्म लाभ को प्राप्त होता
हुआ कायक्लेश आदि तप लाभ को प्राप्त करता है ।

अतः साधक जैसा भगवान् ने प्रतिपादन किया है, उसे उसी
रूप में जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना समत्व को ही भली
भाँति आचरण में लाये ।

मुनि तीर्थंकर भगवान् द्वारा संयम में सदा स्थिर रहकर
कर्मक्षय करने में आत्म शक्ति लगा देता है ।

इसलिए जो अचेलक रहता है, उस साधु को वस्त्र सम्बन्धी
इस प्रकार के संकल्प उत्पन्न ही नहीं होते कि—

“मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, वस्त्र की याचना करूँगा,
डोरे की याचना करूँगा, सूई की याचना करूँगा, उससे वस्त्र
को सार्धूँगा, सीऊँगा, छोटे वस्त्र को जोड़कर बड़ा बनाऊँगा,
बड़े वस्त्र को फाड़कर छोटा बनाऊँगा फिर उसे पहनूँगा और
शरीर को ढकूँगा ।”

किन्तु अचेलत्व-साधना में पराक्रम करते हुए निर्वस्त्र मुनि
को अनेक बार घास के तृणों का स्पर्श, सर्दों और गर्मी का स्पर्श
तथा डांस और मच्छरों का स्पर्श पीड़ित करता है । अन्य भी
अनेक प्रकार के कष्ट आते हैं । उन्हें वह सहन करता है ।

इस प्रकार यह अचेलक भिक्षु कर्मलाभ को प्राप्त होता
हुआ कायक्लेश आदि तप के लाभ को प्राप्त करता है ।

अतः साधक जैसा भगवान् ने प्रतिपादन किया है, उसे उसी
रूप में जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना समत्व को भलीभाँति
जानकर आचरण में लाये ।

अचेलत्व का प्रशस्त परिणाम—

७४५. पाँच स्थानों से अचेलक प्रशस्त होता है, यथा—

- (१) उसके प्रतिलेखना अल्प होती है,
- (२) उसका लाभ प्रशस्त होता है,
- (३) उसका रूप विश्वास-योग्य होता है,
- (४) उसका तप विनानुमत होता है,
- (५) उसके विपुल इन्द्रिय-नियह होता है ।

अरति-परीषह —

७४६. एक गाँव से दूसरे गाँव में विहार करते हुए अकिचन
मुनि के चित्त में संयम के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाय तो उस
परीषह को सहन करे ।

अरुं पिबुवो किञ्चा, विरए आयरविस्सए ।
धम्मारामे निरारम्भे; उवसन्ते मुणी चरे ॥

—उत्त. अ. २, गा. १६-१७

इत्थो परीसहे—

७४७. संगो एस मणस्साणं, जाओ लोगंसि इत्थिओ ।
अस्स एया परिआया, सुकळं तस्स सामणं ॥

एवमावाय मेहाओ, पंकभूया उ इत्थिओ ।
नो ताहि विणिहम्भेज्जा, चरेज्जत्तमवैसए ॥

—उत्त. अ. २, गा. १८-१९

अहा नई वेयरओ, कुत्तरा इह सम्मत्ता ।
एवं लोगंसि मारीओ, कुत्तरा अमईमया ॥

जेहि नारीण संजोगा, पूयणा पिह्वतो कता ।
सज्जमेयं निराकिञ्चा, ते ठित्ता सुसभाहिए ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. ४, गा. १६-१७

जे मातरं च पितरं च, विप्पजहाय पुब्बसंयोगं ।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणे विविसेसी ॥

सुहमेण तं परवक्कम, छल्लपवेण इत्थिओ मंदा ।
उवायं पि ताओ जाणिमु, अह लिस्संति भिक्खुणो एगे ॥

पासे भिसं निसीर्यंति, अभिक्खणं पोसवत्थं परिहंति ।
कायं अहे वि वंसेंति, बाहुमुट्ठट्ठ कण्ठमणुक्खउत्ते ॥

सयणाऽऽसणेहि जोगेहि, इत्थिओ एगया निमंसेंति ।
एताणि चेव से जाणे, पासाणि विरुक्खवाणि ॥

नो तासु चक्खु संघेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे ।
नो सद्धियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥

यामंतियं ओसवियं वा, भिक्खुं आयसा निमंसेंति ।
एताणि चेव से जाणे, सहाणि विरुक्खवाणि ॥

मज्जबंधणेहि जोगेहि, कलुणविणीयमुवगसिप्ताणं ।
अमु मंजुसाइं भासंति, आणवयंति भिक्खकहाहि ॥

हिंसा आदि से विरत रहने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला, धर्म में रमण करने वाला, अस्त-प्रवृत्ति से दूर रहने वाला अगशान्त मुनि अरति को दूर कर संयम में विचरण करे ।

स्त्री-परीषद्—

७४७. लोक में जो स्त्रियाँ हैं, वे मनुष्यों के लिए आसक्ति का कारण हैं ; जिसने इसका शंग जायपूर्वक त्याग दिया है उसका आमण्य सफल है ।

“स्त्रियाँ ब्रह्मचारी के लिए दल-दल के समान हैं” यह जानकर मेधावी मुनि उनमें न फँसे किन्तु आत्म शोधना करता हुआ विचरण करे ।

जैसे वैतरणी नदी को पार करना अत्यन्त दुष्कर माना गया है वैसे ही मन्द बुद्धि वाले पुरुष के लिए इस लोक में स्त्रियाँ दुस्तर होती हैं ।

जिन्होंने विकृति पैदा करने वाले स्त्रियों के संयोगों से पीठ फेर ली है । वे इन समग्र परीषद्ओं को निरस्त करके समाधि में स्थित रहते हैं ।

जो भिक्षु माता-पिता और पूर्व-संयोगों को छोड़कर संकल्प करता है कि—“मैं अकेला आत्मस्थ और मैथुन से विरत होकर एकान्त स्थान में विचरण करूँगा ।”

कई मन्द स्त्रियाँ निपुण और गूढ़ार्थ वाले पदों का प्रयोग करती हुई उस मुनि के पास आती हैं । वे उस उपाय को भी जानती हैं जिससे कोई भिक्षु उनका संग कर लेता है ।

वे उस भिक्षु के समीप बारम्बार बैठती हैं, अधोवस्त्र को बार-बार ढीला कर उसे बांधती हैं, शरीर के अधोभाग को दिखलाती हैं और भुजाओं को ऊपर उठाकर काँख को दिखाती हुई साधु के सामने से जाती हैं ।

वे स्त्रियाँ कालोचित शयन और आसन के लिए कभी उसे निमन्त्रित करती हैं । मुनि इन नाना प्रकार के उपक्रमों को काम-जाल में फँसाने वाले बन्धन समझे ।

मुनि उन स्त्रियों से आँख न मिलाए, उनकी मैथुन भावना के साहस को स्वीकार न करे, उनके साथ विचरण भी न करे, इस प्रकार से आत्मा सुरक्षित रहती है ।

स्त्रियाँ भिक्षु को आमन्त्रित कर तथा विश्वास पैदा कर स्वयं सहवास का निमन्त्रण देती हैं । अतः भिक्षु नाना प्रकार के निमन्त्रण रूप शब्दों को बन्धन समझे ।

वे मन को बांधने वाले अनेक उपायों के द्वारा दीन भाव प्रदर्शित करती हुई विनयपूर्वक भिक्षु के समीप जाकर मीठी बोली बोलती हैं और संयम से विमुख करने वाली कथाओं के द्वारा उसे वश में करती हैं ।

सीहं अहा व कुणिसेणं, णिब्बममेगचरं पासेणं ।
एविस्थिया उ बंधंति, संबुद्धं एगतिममणगारं ॥

अह तत्थ पुणो नमयंति, रहकारुव्व नेमि आणुपुब्बीए ।
बद्धे मिए व पासेणं, फंदंते वि ण मुच्चसी ताहे ॥

—सूय. सु. १, अ. ४, उ. १, गा. १-६

सुतमेयमेवमेगेसि, इत्थीजेवे सि ह सुअण्णायं ।
एवं पि ता वदिस्सणं, अनुया कम्मणा अवकरंति ॥

अन्नं मणेण चित्तेति, अन्नं वाथाइ कम्मणा अन्नं ।
तम्हा ण सहहे भिक्खु, बहुमायाओ इत्थिओ गच्छा ॥

कुवतो समणं ब्रूया, विसल्लकारवत्थणाणि परिहेत्ता ।
विरता चरिस्सहं तूहं धम्ममाइक्खणे भयंतारो ।

अनु साविथा पथावेण, अहं साधम्मिणी य समणाणं ।
जतुकुम्मे जहा उवण्णोती, संवासे विह्व विसीएक्खा ॥

जतुकुम्मे जोतिमूवगूदे, आसुऽमित्ते णासमुपपाति ।
एविस्थियाहि अणगारा, संवासेण णासमुवपति ॥

कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगे एवमाहंसु ।
नाहं करेवि पावं ति, अंकेसाइणी ममेस सि ॥

बालस्स मंदर्यं वितियं, जं च कडं अवजाणई पुज्जो ।
बुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामए विसण्णेसी ॥

संलोकणिज्जमणगारं, आयगतं णिमंतणेणाऽऽहंसु ।
वत्थं च ताइ ! पायं वा, अन्न पाणगं पडिग्गाहे ॥

प्रीवारमेय कुज्जेज्जा, णो इच्छे अगारमागंतुं ।
बद्धे ये विसयणासेहि, मोहमागच्छती पुणो मदे ॥

—सूय. सु. १, अ. ४, उ. १, गा. २३-३१

जैसे निर्धन और अकेले रहने वाले सिंह को शंभ का प्रलो-
भन देकर पिंजड़े में बांध दिया जाता है वैसे ही स्त्रियाँ संवृत
और अकेले भिक्षु को शब्द आदि विषयों का प्रलोभन देकर
बांध लेती हैं ।

वे स्त्रियाँ उस भिक्षु को वैसे ही झुका देती हैं जैसे बड़ई
कमलः चक्के की पुट्टी को झुका देता है । उस समय वह पाश
से बँधे हुए मृग की भाँति स्पर्धित होता हुआ भी बन्धन से छूट
नहीं पाता ।

लोकश्रुति में सुना गया है और स्त्री वेद (कामशास्त्र) में
भी कहा गया है कि “स्त्री किसी बात को बाणी से स्वीकार
करती है किन्तु कर्म से उसका पालन नहीं करती है यह उसका
स्वभाव है ।”

वह मन से कुछ और ही सोचती है; वचन से कुछ और ही
कहती है तथा कर्म से कुछ और ही करती है । इसलिए भिक्षु
स्त्रियों को बहुमायाविनी जानकर उन पर विश्वास न करे ।

कोई भुवती विचित्र वस्त्र और आभूषण से विभूषित होकर
श्रमण से कहे कि—“हे भदन्त ! मुझे धर्म का उपदेश दें । मैं
विरत होकर संयम का पालन करूँगी ।”

अथवा आविका होने के बहाने वह कहती है—“मैं तुम्हारी
साधर्मिणी हूँ, (किन्तु मुनि इन बातों में न फँसे) जैसे आग के
पास रखा हुआ लाख का घड़ा पिघल जाता है वैसे ही स्त्री के
संवास से विद्वान् पुरुष भी संयम से क्षिणिल हो जाते हैं ।

जैसे अग्नि से छूता हुआ लाख का घड़ा शीघ्र ही तप्त
होकर नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार अनगर पुरुष भी स्त्रियों
के संसर्ग से संयम भ्रष्ट हो जाते हैं ।

कुछ भिक्षु अन्नहाचर्य-सेवन करके भी किसी के पूछने पर
कहते हैं कि—“मैंने अन्नहाचर्य-सेवन नहीं किया है । यह स्त्री
तो वचन से ही मेरी गोद में सोती रही है ।”

उस मूर्ख साधक की यह दूसरी मूर्खता है कि वह किए हुए
पाप को पुनः छिपाता है । वह पूजा का इच्छुक और असंयम का
आकांक्षी होकर दुना पाप करता है ।

दिखने में सुन्दर और आत्म ज्ञानी अनगर को स्त्रियाँ
निमन्त्रण देती हुई कहती हैं—“हे भवसागरश्राता ! आप वस्त्र,
पात्र, अन्न या पान को मेरे घर से स्वीकार करें ।”

भिक्षु उपरोक्त प्रलोभनों को सूजर फँसाने वाले चावल के
दाने के समान समझे और उनके घर जाने की इच्छा भी न
करे । किन्तु कोई मन्द साधक इन विषय-बन्धनों में फँसकर पुनः
मोह को प्राप्त हो जाते हैं ।

एवं तु तानु विषण्णं, संघवं संवासं च चएज्जा ।
सज्जातिया इमे कामा, वज्जकरा य एवमवखाता ॥

एवं भयं न सेयाए, इति से अप्पणं निचम्भिता ।
णो इत्थि णो वसुं भिक्खू, णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा ॥

सुधिसुद्धवलेस्से मेधावी, परकिरियं वज्जए णाणे ।
मणसा वयसा कायेण, सव्वकाससहे अनगारे ॥

इच्छेवमाहु से धीरे,
धूतरए धूमसोहे से भिक्खू ।
तम्हा अज्झत्थविमुद्धे,
सुविमुक्के आभोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥
—सूय. सु. १, अ. ४, उ. २, गा. १६-२२

६. चरिया परीसहे—

७४८. एग एव चरे नाढे, अभिभूय परीसहे ।
गासे वा नगरे जालि, निगमे वा रायहाणि ॥

असमाणो चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिगहं ।
असंसतो गिहत्थेहि, अणिओ परिस्वए ॥
—उत्त. अ. २, गा. २०-२१

१०. निसीहिया परीसहे—

७४९. सुताणे सुन्नगारे वा, ह्वल्ल-भूले व एगओ ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥

तत्थ से चिट्ठसाणस्स, उवसमम्मि धारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठेत्ता अन्नमासणं ॥
—उत्त. अ. २, गा. २२-२३

११. सेज्जा परीसहे—

७५०. उज्जावमाहि सेज्जाहि, तवस्सी भिक्खु थामवं ।
नाइवेलं बिहम्मेज्जा, पाचविट्ठी बिहसई ॥

पइरिक्खुवस्सयं लद्धं, कल्लणं अबुव पावणं ।
किमेगरायं करिस्सइ, एवं तत्थ हियासए ॥
—उत्त. अ. २, गा. २४-२५

इन उपरोक्त दोषों को जानकर स्त्रियों के साथ परिचय और सहवास का परित्याग करे, क्योंकि ये काम-भोग सेवन करने से बढ़ते हैं और तीर्थंकरों ने उन्हें कर्म-बन्धन का कारण बतलाया है ।

ये कामभोग भय उत्पन्न करने वाले हैं किन्तु कल्याणकारी नहीं हैं । इसलिये भिक्षु अपने आप को स्त्री संसर्ग से रोक कर स्त्री और पशु का अपने हाथ से स्पर्श भी न करे ।

विशुद्ध अन्तःकरण वाला मेधावी ज्ञानी भिक्षु मन, वचन और काया से स्त्री सम्पर्क सम्बन्धी क्रियाएँ न करे वास्तव में जो स्त्री सम्बन्धी परीषद्ओं को सहन करता है वही अनगार है ।

भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—जो राग और मोह को धुन डालता है, वह भिक्षु होता है । इसलिए शुद्ध अन्तःकरण वाला भिक्षु काम बांछा से मुक्त होकर मोक्ष पर्यन्त संयमानुष्ठान में प्रवृत्ति करे ।

(६) चर्या-परीषद्—

७४८. संयम के लिए जीवन-निर्वाह करने वाला मुनि परीषद्ओं को जीतकर गाँव में या नगर में, निगम में या राजधानी में अकेला आसक्ति रहित होकर विचरण करे ।

भिक्षु अप्रतिबद्ध होकर विहार करे । कहीं भी भ्रमत्वभाव न करे । गृहस्थों से निलिप्त रहे । स्थायी निवास न करता हुआ संयम में विचरण करे ।

(१०) निसीधिका परीषद्—

७४९. राग-द्वेष रहित मुनि चपलताओं का वर्जन करता हुआ कभी समान, शून्यगृह अथवा वृक्ष के नीचे बैठे, दूसरों की त्रास न दे ।

वहाँ बैठे हुए साधु को कोई उपसर्ग आ जावे तो उसे सहन करे, किन्तु किसी प्रकार की शंका से भयभीत होकर वहाँ से उठ कर दूसरे स्थान पर न जाए ।

(११) शय्या परीषद्—

७५०. तपस्वी और धैर्यवान् भिक्षु अनुकूल या प्रतिकूल शय्या को पाकर मर्यादा का अतिक्रमण न करे अर्थात् हर्ष या शोक न लाए । 'यह अच्छा है यह बुरा है' इस प्रकार की पाप दृष्टि रखने वाला साधु संयम की मर्यादा का हनन कर देता है ।

स्त्री पशु आदि से रहित अच्छी या बुरी शय्या के प्राप्त होने पर 'एक रात में क्या होना जाता है' ऐसा सोचकर शय्या सम्बन्धी जो भी सुख दुःख हो, उसे सहन करे ।

१२. अक्रोश परीषहे—

७५१. अक्रोशेज्ज परो सिषण्णं, न तेसि पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खु न संजले ॥

सोचवाणं कइसा मासा, दासणा गाम-कण्डगा ।
सुसिणीओ उबेहेज्जा, न ताओ मणसोकरे ॥

—उत्त. अ. २, गा. २६-२७

अप्येगे पडिमासंति, पाडिपंधियमागता ।
पडिधारयया एते, जे एते एवजोविणो ॥

अप्येगे भइं जुंजंति, नगिणा पिडोलगाहमा ।
सुंदा कंडूविणट्टगा, उज्जल्ला असमाहिपा ॥

एवं विप्वडिबण्णेगे, अप्पणा तु अजाणगा ।
तमाओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउडा ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. १, गा. ६-११

तमेगे परिमासंति, भिक्खुणं साहुजोविणं ।
जे ते उ परिभासंति, अन्तए ते समाहिए ॥

संबद्ध-समकल्पा ह, अन्नमग्नेधु सुचिछत्ता ।
पिडवायं गिस्साणस्स, जं सारेह वलाह य ॥

एवं तुम्हे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा ।
नट्ट - सप्पह - सक्खाया, संसारस्स अपारगा ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. ३, गा. ८-१०

एते सहे अचायन्ता, गामेषु नगरेसु वा ।
तत्थ मंदा विसीयन्ति, संगमंसि व भीरुणो ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. १, गा. ७

सक्का सहेवं आसाए कंटया,
अओमया उच्छहया नरेण ।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वईमए कणसरे स पुज्जो ॥

मुहुसुक्खा ह हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वायाकुत्ताधि दुरुद्धराणि,
वेरत्तुबंधीणि सहक्खयाणि ॥

(१२) आक्रोश परीषह—

७५१. कोई मनुष्य भिक्षु को गाली आदि आक्रोश वचन कहे तो भिक्षु उसके प्रति क्रोध न करे, क्योंकि क्रोध करने से भिक्षु अज्ञानियों के सदृश हो जाता है, इसलिए भिक्षु क्रोध न करे ।

मुनि कंटक के समान चुभने वाली, दासण कठोर भाषा को सुनकर मौन रहता हुआ उसकी उपेक्षा करे, उसे मन में न लाए ।

साधु-चर्या से द्वेष रखने वाले कुछ लोग सामने आकर कहते हैं कि—“इस प्रकार का जीवन जीने वाले ये अपने किये हुए कर्मों का फल भोग रहे हैं ।”

कुछ लोग कहते हैं—“ये नग्न हैं, पिंड मांग कर खाने वाले हैं, अधम हैं, मुंझित हैं, खुजली के कारण विकृत शरीर वाले हैं, मैले हैं और असमाधि उत्पन्न करने वाले हैं ।”

इस प्रकार धर्म मार्ग से हट कर रखने वाले स्वयं ही अज्ञानी हैं । वे विवेकशून्य मनुष्य मिथ्यात्व से आवृत होकर स्वयं ही अन्धकार से अन्धकार की ओर अर्थात् पुर्नगति में जाते हैं यह विचार कर भिक्षु उन पर द्वेष न करे, समभाव रखे ।

साधु का आचार पालन करने वाले के विषय में कई लोग इस प्रकार के आक्षेपात्मक वचन कहते हैं किन्तु वे आक्षेप करने वाले स्वयं ही समाधि से कोसों दूर हैं ।

वे कहते हैं कि “आप लोग एक दूसरे में भूचिछत होकर परस्पर गृहस्थों के समान आचरण करते हैं क्योंकि आप रोगी के लिए स्वयं आहार लाकर उन्हें देते हैं ।”

इस प्रकार आप लोग सरागी हैं, परस्पर एक दूसरे के बण-वर्ती रहते हैं, अतः सत्य की उपलब्धि से रहित हैं तथा संसार को पार नहीं कर सकते हैं ।

जन साधारण द्वारा कहे गये इन शब्दों को सहन न करते हुए कई मन्द साधक ग्राम नगर आदि में विचरते हुए वैसे ही विवाद को प्राप्त होते हैं जैसे संग्राम में गया हुआ डरपोक सैनिक ।

धन आदि की आशा से मनुष्य लोहमय कांटों को सहन कर सकता है परन्तु जो किसी प्रकार की आशा रखे बिना जानों में तीर के समान चुभते हुए वचन रूपी कांटों को सहन करता है, वह पूज्य है ।

लोहमय कांटे अस्पृकास तक दुःखदायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं किन्तु दुर्बचनरूपी कांटे सहजतया नहीं निकाले जा सकते, वे और की परम्परा को बढ़ाने वाले और महाभयानक होते हैं ।

समावर्षता वयणामिधाया,
कण्ठंशया दुम्भगिर्यं जणंति ।
धम्मो त्ति किञ्चा परमग्गवूरे,
जिदंदिए जो सहई स पुज्जो ॥

—दस. अ. ६, उ. ३, गा. ६-८

१३. वधपरोसहे

७५२. हओ न संजसे भिक्खू, मणं पि न पओसए ।
तित्तिक्खं परमं नच्छा, भिक्खू धम्मं विचित्ते ॥

समणं संजयं दन्तं, हणेज्जा कोइ कत्थई ।
नत्थि जीवस्स नासु त्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥

—उत्त. अ. २, गा. २८-२९

अप्पेगे भुंसुयं भिक्खुं, सुणी दंसति लूसए ।
तत्थ संदा विसीयन्ति, तेउपुट्ठा व पाणिणो ॥

सूय. सु. १, अ. ३, उ. १, गा. ८

आथदण्डसमाधारा, मिच्छासंठिय भावणा ।
हरिसप्पदोससमावणा, केइय लूसंतिऽणारिया ॥

अप्पेगे पलियंतसि, चारो चोरोत्ति सुब्बयं ।
अंतंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥

तत्थ वंडेण संधीते, मुट्ठिणा अकु फलेण वा ।
शात्तीणं सरती बाले, इत्थी वा कुट्ठगामिणी ॥

सूय. सु. १, अ. ३, उ. १, गा. १४-१६

हम्मभाणो न कुप्पेज्जा, बुच्चभाणो न संजसे ।
सुमणो अहिंयासेज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥

—सूय. सु. १, अ. ६, गा. ३१

१४. जायणा परीसहे —

७५३. बुक्करं ललु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सब्बं से जाइयं होइ, नत्थि किञ्चि अजाइयं ॥

गोयरग्गपच्चिट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए ।
सेओ अगार-वासुत्ति, इह भिक्खु न चिन्तए ॥

—उत्त. अ. २, गा. ३०-३१

सया दत्तेसणा बुक्खं, जायणा कुप्पणोत्तिसया ।
कम्मत्ता बुक्कगा खेज, इच्छाहंसु पुढो जणा ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. १, गा. ६

सन्मुख आते हुए वचन के प्रहार कानों तक पहुँचकर मन के परिणामों को दूषित कर देते हैं। जो शूरवीरों में अग्रणी जिते-न्द्रिय मुनि उन वचन प्रहारों को ‘सम्यक् सहन करना मेरा धर्म है’—ऐसा मानकर उन्हें सहन करता है, वह पूज्य है।

(१३) वध परीषद्—

७५२. मारे जाने पर भी मुनि क्रोध न करे। मन को भी दूषित न करे। क्षमा को परम साधन जानकर मुनि धर्म का चिन्तन करे।

संयत और दान्त श्रमण को कोई कहीं पीटे तो वह ‘आत्मा का नाश नहीं होता’ ऐसा चिन्तन करे। (परन्तु प्रतिशोध की भावना न लाये)

भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए किसी क्षुधित भिक्षु को क्रूर कुत्ता काटने लगता है तो उस समय मन्द साधक जैसे ही विषाद को प्राप्त होता है जैसे कि अग्नि के स्पर्श से प्राणी।

आत्मा को दण्डित करने के आचरण वाले, मिथ्यात्व से ग्रस्त भावना वाले तथा हर्ष-शोक या राग-द्वेष से युक्त कुछ अनार्य मनुष्य भुनियों को कष्ट देते हैं।

सीमान्त प्रदेश में रहने वाले कुछ अज्ञानी मनुष्य सुदृती भिक्षु को ‘यह गुप्तचर है, यह चोर है’ ऐसा समझकर बाँध देते हैं और कटु वचन कहकर हैरान करते हैं।

वहाँ डंडे, मुक्के या थप्पड़ से पीटे जाने पर असमर्थ साधक जैसे ही अपने ज्ञातिजनों को याद करता है जैसे क्रोधित होकर घर से भाग जाने वाली स्त्री कष्ट आने पर अपने ज्ञातिजनों को याद करती है।

साधु किसी के द्वारा पीटे जाने पर क्रोध न करे, दुर्वचन कहने पर मन में जले नहीं किन्तु प्रसन्नचित्त से उन्हें सहन करे और किसी प्रकार का कोलाहल न करे।

(१४) याचना परीषद्—

७५३. अहो ! अनगर भिक्षु की यह चर्या वास्तव में दुष्कर है कि—‘उसे सब कुछ याचना से ही प्राप्त होता है, बिना याचना के उसे कुछ भी सहन करना नहीं होता है।’

‘गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि के लिए गृहस्थों के सामने हाथ पसारना आसान नहीं है। अतः गृहवास ही श्रेष्ठ है’ मुनि ऐसा चिन्तन न करे।

‘सदा दत्त भोजन की एषणा करना कष्टकर है, प्रत्येक वस्तु की याचना करना भी दुष्कर है। साधारण अज्ञानी जन भी भिक्षा के लिये घूमते हुए भिक्षु को यह कहते हैं कि—‘ये अभाग हैं और पूर्वकृत कर्मों के फल से दुःखी हो रहे हैं।’

१५. अलाभपरीसहे—

७५४. परेसु धाससेसेज्जा, भोयणे परिणिट्ठिय ।
सद्धे पिण्डे अलद्धे वा, नाणुत्तपेज्ज संजए ॥

अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥

—उत्त. अ. २, गा. ३२-३३

१६. रोग परीसहे—

७५५. नन्हा उप्पहयं दुक्खं वेयणाए बुहट्ठिए ।
करीकरो दाण्णं भण्णं, दुद्धो उत्तहियासए ॥

सेगिच्छं नाभिनन्देज्जा, सच्चिक्खत्तगवेसए ।
एवं खु तस्म सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥

—उत्त. अ. २, गा. ३४-३५

१७. तणफास परीसहे—

७५६. अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो ।
तण्हेसु सयमाणस्स, होज्जा-गाय-विराहणा ॥
आयवस्स निदाएणं, अउला हवइ वेयणा ।
एवं तच्छा न सेवन्ति, तन्तुज्जं तण-तज्जिया ॥

—उत्त. अ. २, गा. ३६-३७

१८. जल्ल परीसहे—

७५७. किलिअगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा ।
घिसु वा परित्तावेणं, सायं नो परिवेवए ॥

वेएज्ज निज्जरा-पेही, आरियं धम्मऽणुत्तरं ।
जाव-सरीरमेवो सि, जल्लं काएण धारए ॥

—उत्त. अ. २, गा. ३८-३९

१९. सत्कार पुरस्कार परीसहे—

७५८. अभिवायणमभूट्ठार्णं, सामी कुज्जा निमन्तणं ।
जे ताइं पडिसेवन्ति, न तेसि पीहए मुणी ॥

अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अघाएसी अलोलुए ।
रसेसु नाणुगिज्जेज्जा, नाणुत्तपेज्ज पन्नवं ॥

—उत्त. अ. २, गा. ४०-४१

२०. पण्णा परीसहे—

७५९. से नूणं पुत्थि कस्माऽणाणफला कडा ।
जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्ठुई ॥

(१५) अलाभ परीषह—

७५४. गृहस्थों के घर भोजन तैयार हो जाने पर मुनि उसकी एषणा करे । आहार थोड़ा मिलने या न मिलने पर संयमी मुनि पश्चात्ताप न करे ।

“आज मुझे भिक्षा नहीं मिली है परन्तु संभव है कल मिल जायेगी” जो इस प्रकार से सोचता है उसे अलाभ का दुःख नहीं होता है ।

(१६) रोग-परीषह—

७५५. रोग को उत्पन्न हुआ जानकर तथा वेदना से पीड़ित होने पर दीन न बने । व्याधि से विचलित होती हुई प्रज्ञा को स्थिर बनाये रखे और प्राप्त दुःख को समभाव से सहन करे ।

आत्म मवेक्षक मुनि चिकित्सा का अनुमोदन न करे । रोग हो जाने पर समाधि पूर्वक रहे । उसका श्रामण्य यही है कि वह रोग उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा न करे, न कराए ।

(१७) तृण-स्पर्श परीषह—

७५६. अचेलक और रुक्ष शरीर वाले संयत तपस्वी के घास पर सोने से शरीर में चुभन होती है ।

गर्मी पड़ने से अतुल वेदना होती है—यह जानकर भी तृण से पीड़ित मुनि वस्त्र का सेवन नहीं करते ।

(१८) जल-परीषह—

७५७. मैल, कीचड़, रज या ग्रीष्म के परित्ताप से शरीर के क्लिन्न (शीला) हो जाने पर मेघावी मुनि मुख के लिए बिजाप न करे ।

निर्जरार्थी मुनि अनुत्तर आर्य धर्म को पाकर देह-विनाश पर्यन्त काया पर खेद जनित मैल को धारण करे और तज्जनित परीषह को सहन करे ।

(१९) सत्कार पुरस्कार परीषह—

७५८. जो राजा आदि के द्वारा किए गए अभिवादन, सत्कार अथवा निमन्त्रण का सेवन करते हैं, उनकी मुनि इच्छा भी न करे ।

अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छा वाला, अज्ञात स्थल से भिक्षा लेने वाला अलोलुप भिक्षु रसों में गृद्ध न हो । प्रज्ञावान् मुनि दूसरों को सम्मानित देख मन में खेद न करे ।

(२०) प्रज्ञा-परीषह—

७५९. निश्चय ही मैंने पूर्वकाल में अज्ञानरूप फल देने वाले कर्म किये हैं । उन्हीं के कारण मैं किसी के कुछ पूछे जाने पर भी उत्तर देना नहीं जानता ।

अहं पञ्चा उद्वज्जन्ति, कम्मा णाणफला कडा ।
एवमस्सारि अप्पणं, नच्चा कम्म-विवागयं ॥

—उत्त. अ. २, गा. ४२-४३

२१. अज्ञान परीसहे—

७६०. निरट्ठगम्भि विरओ, मेह्णुणाओ सुसंयुओ ।
ओ सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कस्साण थावणं ॥

तथोवहाणमादाय, पडिम्मं पडिक्खजओ ।
एवं पि विहरओ मे, छउमं न नियट्ठई ॥

—उत्त. अ. २, गा. ४४-४५

२२. वंसण परीसहे—

७६१. नत्थि नृपं परे लोए, इक्खी थावि तवस्सिणो ।
अवुवा वविओ मि त्ति, इह भिक्खू न चिन्तए ॥

अमू जिणा अत्थि जिणा, अवुवा वि वविस्सई ।
मुसं ते एवमाहंसु, इह भिक्खू न चिन्तए ॥

—उत्त. अ. २, गा. ४६-४७

सत्त्व परीसहजय निहेसो

७६२. एए परीसहा सव्वे, कासवेण पवेइया ।
ओ भिक्खू न विहन्नेज्जा, पुट्ठो केणइ कण्डुई ॥

—उत्त. अ. २, गा. ४८

परीसह अपराजिओ मुणी—

७६३. उट्ठिमणगारमेसणं समणं ठाणठियं तवस्सिणं ।
वहरा बुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभे जणा ॥

जइ कासुणिमाणि कासिथा,
जइ रोवन्ति व पुत्तकारणा ।
ववियं भिक्खुं समुट्ठितं,
णो लब्धन्ति ण संठवित्तए ॥

जइ वि य कामेहिं लाविया,
जइ णेज्जाहि णं वंघिहं घरं ।

जइ जीविय णावकंत्तए,
णो लब्धन्ति ण संठवित्तए ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. १६-१८

“अज्ञान रूप फल देने वाले ये कर्म उदय में आकर इसके बाद क्षीण हो जायेंगे ।” कर्म के विपाक को जानकर मुनि इस प्रकार आत्मा को आपवासन दे (किन्तु प्रज्ञा (बुद्धि) की कमी का खेद न करे ।)

(२१) अज्ञान-परीषद्—

७६०. मैंने व्यर्थ ही मैथुनादि से निवृत्ति और इन्द्रियों के दमन का प्रयत्न किया जब कि मैं अभी तक “धर्म कल्याणकारी है या दुःखकर है” यह प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं जान पाया (अर्थात् अभी तक मुझे कोई अवधिज्ञानादि प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ ।)

“तपस्या और उपघ्नान को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमा का पालन करता हूँ । इस प्रकार विशेष चर्या से विचरण करने पर भी मेरा छद्मस्थ भाव दूर नहीं हो रहा है ।” ऐसा खेद युक्त चिन्तन न करे ।

(२२) दर्शन-परीषद्—

७६१. “निश्चय ही परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि भी नहीं है इसलिए संयम लेकर मैं ठगा गया हूँ” भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे ।

“जिन हुए थे, जिन हैं और जिन होंगे ऐसा जो भी कहते हैं वे असत्य बोलते हैं” इस प्रकार भी भिक्षु चिन्तन न करे ।

सभी परीषद् जीतने का निर्देश—

७६२. इन सभी परीषद्ओं का काश्यप गोत्रीय भगवान् महावीर ने प्ररूपण किया है, इन्हें जानकर, इनमें से किसी परीषद् के द्वारा कहीं भी स्पृष्ट होने पर मुनि इनसे पराजित न हो ।

परीषद्ओं से अपराजित मुनि—

७६३ मोक्ष की एषणा के लिए उत्थित, चारित्र्य आराधना आदि में स्थित तपस्वी अणगर को यदि उसके पुत्र अथवा वृद्ध माता पिता पुनः घर में आने की प्रार्थना करें और वे प्रार्थना करते-करते थक जायें तो भी भिक्षु को अधीन नहीं कर सकते ।

यदि कौटुम्बिक उस श्रमण के पास आकर कष्टाजनक शब्द बोले, पुत्र प्राप्ति के लिए रुदन करे फिर भी वे राग-द्वेष रहित संयम में तत्पर उस श्रमण को पुनः गृहवास में स्थापित नहीं कर सकते ।

यदि वे कौटुम्बिक उस श्रमण को काम-भोग के लिए निमंत्रित करे अथवा उसे बांध कर घर ले आये, परन्तु यदि वह असंयम जीवन की आकांक्षा नहीं करे तो उसे वे पुनः गृहवास में स्थापित नहीं कर सकते ।

परीसहपराजिओ मुणी—

७६४ सेहंति य णं ममाहणो,

माया पिमा य सुता य भारिया ।

पोसाहि णे पासओ तुमं,

लोयं परं पि जहाहि पोसणे ॥

अग्ने अग्नेहि मुच्छित्ता,

मोहं जंति नरा असंबुद्धा ।

विसमं विसमेहि गाहिया,

ते पावेहि पुणो पणवित्ता ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. १६-२०

संतप्ता केसलोएणं, बंधवेरपराजिया ।

तत्थ मंदा विसीयन्ति, मच्छा पविट्ठा व केपणे ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. १, गा. १३

परीसहसहगो भिक्षू—

७६५. से गिहेसु वा, गिहंतरेसु वा, गामेसु वा, गामंतरेसु वा,
णगरेसु वा, णगरंतरेसु वा, जणवएसु वा, जणवतरेसु वा,
संतेगतिपा जणा लूसगा भवन्ति अनुवा फासा कुसन्ति । ते
फासे पुट्ठो धीरो अहिंसासए ओए समितवंसणे ।

—आ. सु. १, अ. ६, उ. ५, सु. १६६

ओ सहइ तु गामकंटए,

अक्कोस पहार-तवज्जाओ य ।

अथ - भेरवसहसपहासे,

समसुह कुवससहे य जे स भिक्षू ॥

पडिमं पडिवज्जिया मसाणे,

नो भीयए भयभेरवाइं विस्स ।

विधिहगुणतवोरए य निच्चं,

न सरीरं वाभिकंखए जे स भिक्षू ॥

असइ सोसट्ठचत्तवेहे,

अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ।

पुठवि समे मुणी हवेज्जा,

अनियाणे अक्कोलहल्ले व जे स भिक्षू ॥

अभिसूय काएण परीसहाइं,

समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं ।

विदत्तु जाइमरणं सहम्मयं,

तवे रए सासणिए जे स भिक्षू ॥

—दस. अ. १०, गा. ११-१४

परीषद्‌ओं से पराजित मुनि—

७६४. ममत्व रखने वाले माता, पिता, पुत्री और पत्नी आदि उस श्रमण को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि —“तू समझदार है हमारी सेवा कर । क्योंकि हमारी सेवा से वंचित रहकर तू परलोक को सफल नहीं कर पायेगा । इसलिए तू हमारा पोषण कर ।”

संयम भाव रहित कुछ मुनि (माता, पिता, पत्नी या पुत्री आदि) में मूर्च्छित होकर मोह को प्राप्त होते हैं तथा अव्ययी पारिवारिक जनों के द्वारा संयम रहित किये जाते हैं और वे पुनः पाप करने में प्रवृत्त हो जाते हैं ।

केसलोच से संतप्त और ब्रह्मचर्य पालन में पराजित असमर्थ साधक संयम में वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं, जैसे जाल में फँसी हुई मछलियाँ तड़फती हैं ।

परीषद्‌ सहन करने वाला भिक्षु—

७६५. घरों में, गृहान्तरों में, ग्रामों में, ग्रामान्तरों में, नगरों में, नगरान्तरों में, जनपदों में या जनपदान्तरों में कुछ विद्वेषीजन हिंसक (उपद्रवी) होते हैं, वे उपसर्ग देते हैं अथवा सदीं, गर्मी, ठंडा मच्छर आदि के कण्ट प्राप्त होते हैं, उनसे स्पृष्ट होने पर धीर समदर्शी मुनि उन सबको राग द्वेष रहित होकर सहन करे ।

जो हन्द्रियों को कांटे के समान चुभने वाले—(१) आक्रोश वचनों को, (२) प्रहारों को, (३) तर्जनाओं को और (४) बैताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख और दुःख को समभावपूर्वक सहन करता है—वह भिक्षु है ।

जो श्मशान में प्रतिमा को ग्रहण करके अत्यन्त भयजनक दृश्यों को देखकर भी नहीं डरता, जो विविध गुणों और तपों में रत रहता है और जो शरीर पर भी ममत्व नहीं रखता, वह भिक्षु है ।

जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है, किसी के द्वारा आक्रोश वचन कहने पर, पीटने पर अथवा कण्ट देने पर पृथ्वी के समान सहनशील होता है, निदान नहीं करता है, कुतूहलवृत्ति नहीं करता है, वह भिक्षु है ।

जो शरीर से परीषद्‌ओं को जीतकर संसार समुद्र से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभयकारी अर्थात् दुःखों का कारण जानकर संयम और तप में रत रहता है—वह भिक्षु है ।

अणुस्सुओ उरालेसु, जयसाणो परिब्बए ।
सरियाए अप्पमसो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥

—सूय. सु. १, अ. ६, गा. ३०

ऐसे ओ कसिणा फासा, फरसा बुरहिपासया ।
हत्थी वा सरसंवीता, कीवाऽवसगता मिहं ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. १, गा. १७

परीषद्-जयफल—

७६६. खुहं पिवासं दुस्सेजं, सीउण्हं अरई षयं ।
अहियासे अप्पहिओ, बेहे दुक्खं महाफलं ॥

—दस. अ. ८, गा. २७

भिक्षु सुन्दर पदार्थों के प्रति उत्सुक न होता हुआ संयम में यतनापूर्वक प्रवृत्ति करे। संयम चर्या में अवमत्त होकर रहे तथा परीषद्-जय और उपसर्गों के होने पर उन्हें सहन करे।

हे वरस ! ये पूर्वोक्त सारे परीषद् कठोर और दुःसह हैं इससे विवश होकर पौरुषहीन भिक्षु वैसे ही घर लौट आता है, जैसे संघाम में बाणों से बीधा हुआ हाथी।

परीषद्-जय का फल—

७६६. क्षुधा, प्यास, दुःशय्या, शीत, उष्ण, अरति और भय को मुनि अश्लील भाव से सहन करे। क्योंकि शारीरिक कष्टों को सहन करना मोक्ष महाफल का हेतु है।



उपसर्ग-जय—२

अणुगविहा उवसग्गा—

७६७. चउध्विहा उवसग्गा पणत्ता, तं जहा—

१. दिव्वा,
२. माणुसा,
३. तिरिक्खज्जीणिया,

४. आयसंघेयणिज्जा ।

—ठाणं. अ. ४, उ. ४, सु. ३६१(१)

दिव्वा उवसग्गा—

७६८. दिव्वा उवसग्गा चउध्विहा पणत्ता, तं जहा—

१. हासा,
२. पओसा,
३. बीमंसा,
४. पुडोबेमाया ।

—ठाणं. अ. ४, उ. ४, सु. ३६१(२)

माणुसा उवसग्गा—

७६९. माणुसा उवसग्गा चउध्विहा पणत्ता, तं जहा—

१. हासा,
२. पओसा,
३. बीमंसा,
४. कुसील पडिसेवणया ।

—ठाणं. अ. ४, उ. ४, सु. ३६१(३)

अनेक प्रकार के उपसर्ग—

७६७. उपसर्ग चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—

- (१) देव के द्वारा किया जाने वाला उपसर्ग ।
- (२) मनुष्यों के द्वारा किया जाने वाला उपसर्ग ।
- (३) तिर्यच्योनि के जीवां के द्वारा किया जाने वाला उपसर्ग ।

(४) स्वयं अपने द्वारा होने वाला उपसर्ग ।

देवकृत उपसर्ग—

७६८. दिव्य उपसर्ग चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—

- (१) कुतूहल-वश किया गया उपसर्ग ।
- (२) पूर्वभाव के दैर से किया गया उपसर्ग ।
- (३) परीक्षा लेने के लिए किया गया उपसर्ग ।
- (४) हास्य प्रदोषादि अनेक मिले-जुले कारणों से किया गया उपसर्ग ।

मानवकृत उपसर्ग—

७६९. मानुष उपसर्ग चार प्रकार के कहे गये हैं । जैसे—

- (१) हास्य से किया गया उपसर्ग ।
- (२) द्वेष से किया गया उपसर्ग ।
- (३) परीक्षार्थ किया गया उपसर्ग ।
- (४) कुशील सेवन के लिए किया गया उपसर्ग ।

तिरिक्खजोणिया उवसग्गा --

७७०. तिरिक्खजोणिया उवसग्गा ँउळ्विहा पणत्ता, तं जहा --

१. भया,
२. पदोत्ता,
३. आहारहेजं,
४. अवच-सेण सारक्खणया ।

—ठाणं. अ. ४, उ. ४, सु. ३६१(४)

अविबेगुभुया उवसग्गा --

७७१. अविबेगुभुया उवसग्गा ँउळ्विहा पणत्ता, तं जहा --

१. घट्टणता,
२. पवडणता,
३. थंभणता,

४. सेसणता । —ठाणं. अ. ४, उ. ४, सु. ३६१(५)

पडिकूलोवसग्गा --

७७२. सूरं मझति अप्पाणं, जाव जेतं न पस्सति ।
जुज्झतं दडधम्मणं, सिसुपाले व महारहं ॥

पयासा सुरा रथसीसे, संगामम्मि उवड्डिते ।
माता पुत्तं ण याणाइ, जेतेंण परिविचछए ॥

एवं सेहे वि अप्पुड्ढे, भिक्खञ्जरिया अकोविए ।
सूरं मझति अप्पाणं, जाव जूहं न सेवई ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. १, सु. १-३

मोहजासंगा उवसग्गा --

७७३. अहिमे सुहमा संगं, भिक्खूणं जे वुरुत्तरा ।
जस्थ एगे विसीर्यंति, ण चर्यंति जाविस्सए ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. २, सु. १

अप्पेगे णायओ विस्स, रोयंति परिवारिया ।
पोसणे तात पुट्ठोऽसि, कस्स तात चयासि जे ॥

पिता ते येरओ तात, ससा ते खुड्डिया इमा ।
मायरा ते सगा तात, सोयरा किं चयासि जे ॥

तिर्य्यचकृत उपसर्ग --

७७०. तिर्य्यचकृत उपसर्ग चार प्रकार के कहे गये हैं । जैसे --

- (१) भय से किया गया उपसर्ग ;
- (२) क्रोध से किया गया उपसर्ग ;
- (३) आहार के लिए किया गया उपसर्ग ।
- (४) अपने बच्चों के एवं आवास-स्थान की सुरक्षा के लिए किया गया उपसर्ग ।

अविबेकोद्भूत उपसर्ग --

७७१. अपने द्वारा होने वाले उपसर्ग चार प्रकार के कहे गये हैं । जैसे --

- (१) आँख में रज-कण चले जाने पर उसे मलने से होने वाला कष्ट ।
- (२) मार्ग में चलते हुए असावधानी से गिर पड़ने का कष्ट ।
- (३) हस्त-पाद आदि के शून्य हो जाने से उत्पन्न हुआ कष्ट ।
- (४) सन्निध स्थलों के जुड़ जाने से होने वाला कष्ट ।

प्रतिकूल उपसर्ग --

७७२. जब तक जुझते हुए दृढ़ सामर्थ्य वाले विजेता को नहीं देखता तब तक कायर मनुष्य भी अपने आपको शूर मानता है, जैसे कि कृष्ण को देखने से पूर्व शिशुपाल ।

अपने आपको शूर मानने वाले वे युद्ध के उपस्थित होने पर उसके अग्र भाग में जाते हैं । किन्तु भयंकर दुःख से धबकाकर माताएँ भी अपने पुत्र को भूल जाती हैं और उन्हें छोड़कर भाग जाती हैं वैसे ही भयंकर युद्ध में विजेता पुरुष के द्वारा घायल कर दिये जाने पर वे भान भूल कर दीन बन जाते हैं ।

इसी प्रकार भिक्षु की चर्या में अनिपुण तथा परीषर्ही और उपसर्गों को अप्राप्त नव दीक्षित भी तब तक अपने आपको शूर-वीर मानता है जब तक वह संयम की कठिनाइयों का सेवन नहीं करता ।

मोह संग सम्बन्धी उपसर्ग --

७७३. ये सूक्ष्म ज्ञातिजन सम्बन्धी संग भिक्षुओं के लिये दुस्तर होते हैं । वहाँ कुछ साधक विषाद को प्राप्त होते हैं, वे संयम-जीवनयापन करने में समर्थ नहीं होते ।

साधु के ज्ञातिजन उसे देखकर रोते हुए कहते हैं “हे तात ! हमने तुम्हारा पालन पोषण किया है, अब तुम हमारा पोषण करो । फिर तुम हमें क्यों छोड़ रहे हो ?

हे तात ! ये तुम्हारे पिता बूढ़ हो रहे हैं, तुम्हारी यह बहिन छोटी है । ये तुम्हारे सहोदर सगे भाई हैं, फिर तुम हमें क्यों छोड़ रहे हो ?

मातरं पितरं पोस, एवं लोगो भविष्यद्व ।
एवं तु लोदयं ताय, जे पोसे पिउ-मातरं ॥

उत्तरा मनुखलावा, पुता ते तात खुहुगा ।
भारिथा ते गवा तात, भा सा अणं जणं गमे ॥

एहि ताव गं जाल्ले, भा तं कम्म-ताहा नदं ।
बोयं पि तात पासाभो, जामु ताव सयं गिहं ॥

संतं तात पुणऽऽगच्छे, न तेणऽसमणो सिया ।
अकाममं परकम्मं, को ते वारेउमरहति ॥

अं किचि अणगं सात, तं पि सव्वं समोक्तं ।
हिरण्णं ववहारावी, तं पि वासासु ते वयं ॥

इच्छेव नं सुसेहंति, कालुणिय समुत्थिया ।
विमदो नातिसंगेहि, ततोऽगारं पधावति ॥

जहा श्वखं वणे जायं, मासुया पडिबंघति ।
एवं नं पडिबंघति पायवो असमाहिणा ॥
विमदो नातिसंगेहि, हस्यो वा वि नवगहे ।
विट्ठसो परिसप्यंति, धूतीगो व्व अबूरगा ॥

एते संगं भणुस्सणं, पाताला व अतारिमा ।
कीवा जस्य य कीसंति, नातिसंगेहि पुच्छिता ॥
तं च भिक्खू परिणाय, सव्वे संगं महासवा ।
जीवितं भाभिकंसेज्जा, सोस्वा धम्ममणुत्तरं ॥
अहिमे संति आवट्टा, कासवेण ववेवित्ता ।
बुद्धा जत्थावसप्यंति, सोऽंति अबुहा जहि ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. २, सु. २-१४

रायाणो रायमच्चा व, माहणा अनुव खत्तिया ।
निमंतयंति मोगेहि, भिक्खुयं साहुजोषिणं ॥
हत्थस्स रह जाणेहि, विहारगमणेहि य ।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी पूजयामु तं ॥

वत्थगंधमसंकारं, वत्थीओ सयणाणि य ।
भुंजाहिमाई भोगाई, आउमो पूजयामु तं ॥

हे तात ! तुम माता-पिता का पोषण करो, इस प्रकार तुम्हारा यह लोक और परलोक सफल हो जायेगा । लौकिक आचार भी यही है कि पुत्र माता-पिता का पालन करे ।

हे तात ! तुम्हारे उत्तम और मधुरभाषी वे छोटे-छोटे पुत्र हैं । तुम्हारी पत्नी भी यवयीवता है । वह कहीं दूसरे मनुष्य के पास न चली जाये ।

शाओ तात ! घर चले । तुम काम मत करना । हम काम करने में समर्थ हैं, हम पुनः तुम्हें घर में देखना चाहते हैं । आओ अपने घर चले ।

हे तात ! घर जाकर तुम पुनः आ जाना । इतने मात्र से तुम अश्रमण नहीं हो जाओगे । घर के काम में इच्छा रहित रह कर अपनी रुचि अनुसार करने में तुमको कौन रोक सकेगा ।

हे तात ! तुम्हारा जो कुछ कृण था उस सबको हमने चुका दिया है । आवश्यक कार्य के लिए तुम्हें जो धन की आवश्यकता होगी, वह भी हम तुम्हें देंगे ।

इस प्रकार वे कृण क्रन्दन करते हुए उपरोक्त प्रकार से शिक्षा देते हैं । तब ज्ञातिजनों के सम्बन्धों से बँधा हुआ वह घर लौट आता है ।

जिस प्रकार वन में उत्पन्न वृक्ष को लता वेष्टित कर लेती है, उसी प्रकार ज्ञातिजन उसको असमाधि में जकड़ देते हैं ।

जैसे नया पकड़ा हुआ हाथी बांधा जाता है वैसे ही वह ज्ञातियों के संग से बँध जाता है तथा ज्ञातिजन उसके पीछे वैसे ही चलते हैं जैसे नई ब्याई हुई गाय अपने बछड़े के पीछे ।

मनुष्यों के लिए ये ज्ञाति-सम्बन्ध समुद्र की भ्रांति दुस्तर हैं । उनमें मूर्च्छित होकर असमर्थ साधक क्लेश पाते हैं ।

सभी संग महान कर्म बंध के हेतु हैं इसे जानकर तथा अनुसर धर्म को सुनकर भिक्षु गृहवासी-जीवन की आकांक्षा न करे ।

काश्यप गौत्रिय भगवान् महावीर ने और भी ये आवर्त कहे हैं । जिनसे ज्ञानी दूर रहते हैं और अज्ञानी उनमें फँस जाते हैं ।

राजा, राजमन्त्री, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय संयमजीवी भिक्षु को भोगों के लिए निमन्त्रित करते हैं ।

‘हे महर्षि ! तुम हाथी, घोड़े, रथ और पालकी आदि में बैठकर उद्यान क्रीड़ा के द्वारा इन पलायनीय भोगों को भोगो । महर्षि ! हम आपका आदर सत्कार करते हैं ।

हे वायुष्मन् ! वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, स्त्रियां, पलंग और शयन सामग्री आदि इन भोगों को भोगो, हम आपका आदर सत्कार करते हैं ।

ओ तुमे नियमो विष्णो, भिक्षुसाधम्मि सुखता ।
अगारमावसंतस्स, सख्खो संवज्जिए तहा ॥

धिरं ब्रह्मजमानस्स, दोसो वाणि कुतो तव ।
इच्छेव ण निमंतेति, नीवारेण व सुयरं ॥

ओइया भिक्खुवरियाए, अचयंता ज्वित्तए ।
तत्थ मंदा विसीयन्ति, उज्जाणंसि व कुम्बला ॥

अचयंता व सुहेण, उवहाणेण तज्जिता ।
तत्थ मंदा विसीयन्ति, उज्जाणंसि जरग्गवा ॥

एवं निमंतणं लद्धं, मुच्छिपा गिद्ध इत्थीमु ।
अज्झोद्वेवणा कामेहि, ओइज्जंता गिहं गया ॥

—सूय. सु. १. अ. ३, उ. २, गा १५-२२

उपसर्ग अणाहो मुणो—

७७४. जहा संगमकालम्मि, पिटुतो भीरु पेहति ।
वसयं गहण नूनं, को आणेइ पराजयं ॥

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होति तारिस्सो ।
पराजियाज्वसप्पामो, इति भीरु ज्वेहति ॥

एवं तु समणा एगे, अवलं नरुत्ताण अप्पयं ।
अणागतं भयं विस्स, अवकप्पंतिमं भुयं ॥

को आपति विओवात्तं, इत्थीओ उदगाधो वा ।
ओइज्जंता पक्खलामो, न णे अरिथ एकप्पितं ॥

इच्छेवं पडिसेहंति, वलाइ पडिलेहिणो ।
वित्तिगिच्छ समावण्णा, पंथाणं व अकोविधा ॥

जे उ संगमकालम्मि, नात्ता सुरपुरंगमा ।
ण ते पिटुमुवेहंति, किं परं मरणं सिधा ॥

एवं समुट्ठिए भिक्खू, ओसिज्जा गारबंघणं ।
आरंभं तिरियं कट्ठं, अत्तत्ताए परिव्वए ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. ३, गा. १-७

हे सुव्रत ! तुमने भिक्षु जीवन में जिस नियम का आचरण किया है, वह सब घर में बस जाने पर भी वैसे ही विद्यमान रहेगा ।

तुम चिरकाल से मुनिचर्या में विहार कर रहे हो, अब तुम्हें भोगों के सेवन से दोष कैसे आयेगा ? वे भिक्षु को इस प्रकार निमन्त्रित करते हैं जैसे चावल डालकर सूअर को ।

भिक्षु चर्या में चलने वाले किन्तु उसका निर्वाह करने में असमर्थ मन्द पुरुष वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे ऊँची चढ़ाई में दुर्बल बैल ।

संयम-पालन में असमर्थ तथा तपस्या से कष्ट पाने वाले मन्द पुरुष वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे कीचड़ में बूढ़ा बैल ।

विषयों में मूर्च्छित, स्त्रियों में शृद्ध और कामों में आसक्त भिक्षु इस प्रकार का निमन्त्रण पाकर समझाने बुझाने पर घर चले जाते हैं ।

उपसर्गों से अपीडित मुनि—

७७४. जैसे युद्ध के समय डरपोक सैनिक पीछे की ओर गड़बड़े, खाई और गुफा को देखता है, इस विचार से कि—‘कौन जाने पराजय हो जाये ?’

घड़ी और घड़ियों में कोई एक घड़ी जय या पराजय की होती है, पराजित होने पर हम भागकर छिप सकें ऐसे स्थान को डरपोक सैनिक देखकर रखता है ।

इसी प्रकार कुछ भ्रमण अपने को जीवन पर्यन्त संयम पालन करने में असमर्थ जानकर भविष्य के भय को देखकर ज्योतिष आदि शास्त्रों का अध्ययन जीवन निर्वाह के लिए करते हैं ।

कौन जाने स्त्री या जल के परीषह न सह सकने के कारण संयम से पतन हो जाये ऐसी स्थिति में हमारे पास पूर्वोपाजित धन भी नहीं है इसलिए किसी के कुछ पूछने पर निमित्त आदि बताकर जीवा निर्वाह कर सकेंगे ।

छिपने के स्थान देखने वाले उपरोक्त प्रकार से सोचा करते हैं । इस प्रकार संदेह से युक्त बने हुए वे वास्तव में मोक्ष मार्ग को नहीं समझते हैं ।

जो पुरुष जगत् प्रसिद्ध व शूरवीरों में अग्रणी हैं वे संग्राम काल में पीछे मुड़कर नहीं देखते । वे यह सोचते हैं कि—‘मरने से अधिक क्या होगा ?’

इसी प्रकार घर के बन्धन को छोड़कर व आरम्भ का त्याग कर उपस्थित भिक्षु आत्म-हित के लिए संयम में पराक्रम करे ।

पुण्य पुरिसिद्धिदत्तेण संबोमुणी—

७७५. आहंसु महापुरिसा, पुण्य तत्तत्तपोधना ।
उवण्ण सिद्धिमावण्णा, तत्थ मंदे विसीयती ॥

अभुंजिया णमी वेवेहो, रामउत्ते य भुंजिया ।
बाहुए उदगं भोज्जा, तहा तारागणे रिसी ॥

आसिले वेविले वेव, बीयाण महारिसी ।
पारासरे दगं भीञ्जा, बीयाणि हरियाणि य ॥

एते पुण्यं महापुरिसा, आहिता इह संमता ।
भीञ्जा बीओवणं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुतं ॥

तत्थ मंदा विसीयति, बाह्छिप्पा व गहमा ।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पीठसप्पी व संभमे ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. ४, गा. १-५

इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विञ्जती ।
जे तत्थ आरियं मगं, परमं च समाहियं ॥

मा एयं अवसन्नंता, अप्पेणं तुम्पहा बहुं ।
एतस्स अमोक्खाए, अयहारिख्व जूरहा ॥

पाणाइवाए वट्ठन्ता, मुसावाए असंजता ।
अविस्सावाणे वट्ठन्ता, मेष्ठुणे य परिगह्हे ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. २, गा. ६-८

एवमेगे तु पासत्था, पण्णवेति अणारिया ।
इत्थीवसं गता बात्ता, जिणसासणपरम्मुहा ॥
जहा गंढं पित्थानं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं ।
एवं विण्णवणित्थीसु, वोसो तत्थ कुतो सिया ॥

जहा मंघादए नाम, धिमितं भुंजती दगं ।
एवं विण्णवणित्थीसु, वोसो तत्थ कुतो सिया ॥

जहा विहंगमा पिगा, धिमितं भुंजती दगं ।
एवं विण्णवणित्थीसु, वोसो तत्थ कुतो सिया ॥

पूर्व पुरुषों के दृष्टान्त से संयम शिथिल मुनि—

७७५. कई अज्ञानी पुरुष कहते हैं कि—‘अतीत काल में तात तपोधनी महापुरुष सचित्त जल का सेवन आदि करते हुए सिद्धि को प्राप्त हुए हैं ।’ यह सोचकर मन्द भिक्षु अस्तान आदि व्रतों में शिथिल हो जाता है ।

विदेह जनपद के राजा नमि ने भोजन छोड़कर, रामपुत्र ने भोजन करते हुए तथा बाहुक और तारागण ऋषि ने केवल जल पीते हुए सिद्धि प्राप्त की ।

आसिल, देविल, डोषायन और पाराशर आदि भर्षियों ने सचित्त जल, बीज और हरित का सेवन करते हुए सिद्धि प्राप्त की ।

कई अन्यतीथिक कहते हैं कि—‘अतीत में हुए वे महापुरुष जगत् प्रसिद्ध थे जो अभी भी लोक-सुख हैं, इन्होंने सचित्त बीज और जल का सेवन कर सिद्धि प्राप्त की ऐसा हमने परम्परा से सुना है ।’

इस प्रकार के भ्रांतिजनक वचनों को सुनकर मन्द भिक्षु विषाद को प्राप्त होते हैं । वे भार से दुःखी होने वाले गधे की भांति संयम में दुःख का अनुभव करते हैं तथा लकड़ी के सहारे चलने वाले पंगु की भांति संयम में पीछे रह जाते हैं ।

कुछ दार्शनिक कहते हैं—‘सुख से ही सुख प्राप्त होता है’ किन्तु वास्तव में जो तीर्थंकरों का प्रतिपादित मार्ग है उससे ही परम समाधि प्राप्त होती है ।

तुम बीतराग मार्ग को छोड़कर अल्प सुखों के लिए मोक्ष के सुखों को बिगाड़ने वाले न बनो, क्योंकि अल्प सुखों को नहीं छोड़ने से लोह बणिक की तरह पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।

शाश्वत सुखों के लिए विषय सुख न त्यागने वाले ही प्राणा-तिपात, मृषावाद, अवत्तादान, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त न होकर उनमें ही प्रवृत्त रहते हैं ।

स्त्रियों के वशवर्ती, अज्ञानी और जिनशासन से पराङ्मुख सन्मार्ग से भ्रष्ट कुछ अनार्य लोग इस प्रकार कहते हैं—

“जिस प्रकार गांठ या फोड़े को दबाकर मवाद को निकाल देने से पीड़ा शांत हो जाती है उसी प्रकार सहवास के बाद काम-पीड़ा शांत हो जाती है अतः इसमें क्या दोष है ?

“जैसे भेड़ जल को हिलाये बिना धीमे से उसे पी लेती है, वैसे ही प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ सहवास कर लिया जाय तो उसमें दोष क्या है ?

“जैसे पिग नामक पक्षिणी आकाश में रहती हुई ही जल को झुब्झ किये बिना उसे पी लेती है, वैसे ही प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ सहवास कर लिया जाये तो उसमें दोष क्या है ?”

एवमेव उ पासत्वा, मिच्छादिदो गणारिमा ।
अज्जोववसा कामेहि, पुत्तणा इव तरुणए ।

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. ४, गा. ६-१३

उवसग्गसहण निद्देशो—

७७६. संखाय पेसत्तं धम्मं, दिट्ठिं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियमित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥

—सूय. सु. १, अ. ३, उ. ४, गा. २२

उवसग्गसहण फलं—

७७७. विव्वे य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छमाणसे ।
जे भिक्खू सहई निच्छं, से न अच्छइ मण्डसे ॥

—उत्त. अ. ३१, गा. ५

इस प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य पार्श्वस्थ काम-भोगों में
वैसे ही आसक्त होते हैं 'जैसे भेड़ अपने बच्चे में' ।

परीषद् सहने का निर्देश—

७७६. सम्यग्दृष्टि सम्पन्न और प्रशान्त भिक्षु पवित्र धर्म को जान-
कर मोक्षप्राप्ति तक उपसर्गों को सहता हुआ संयम में पराक्रम
करे ।

परीषद् सहने का फल—

७७७. जो भिक्षु देव, तिर्यच और मनुष्य सम्बन्धी उपसर्गों को
सदा सहता है, वह संसार में भ्रमण नहीं करता ।



पंचेन्द्रिय विरतिकरण—४

सद्दामत्तिगिसेहो—

७७८. सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति,
तं रागहेउं तु मणुस्समाहु ।
तं दोसहेउं अमणुस्समाहु,
समो य जो तेसु स वीयरगो ॥
सद्दस्स सोयं गहणं वयन्ति,
सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति ।
रागस्स हेउं समणुस्समाहु,
दोसस्स हेउं अमणुस्समाहु ॥
सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिब्बं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे,
सद्दे अत्तिसे समुवेइ मच्चुं ॥
जे यावि दोसं समुवेइ तिब्बं,
तस्सिक्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
बुद्धन्तदोसेण सएण जन्तु,
न किञ्चि सद्दं अवरज्जई से ॥
एगन्तरत्ते रुहरसि सद्दे,
अतालसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण सुणी विरागो ॥

शब्द की आसक्ति का निषेध—

७७८. श्रोत्रेन्द्रिय के विषय को शब्द कहते हैं, जो शब्द राग का
हेतु है उसे 'मनोज्ञ' कहा है । जो शब्द द्वेष का हेतु है उसे
अमनोज्ञ कहा है । इन दोनों में जो समभाव रखता है वह वीर-
राग है ।

शब्द के ग्रहण करने वाले को श्रोत्र कहते हैं, श्रोत्र से ग्रहण
होने वाले को शब्द कहते हैं । राग के हेतु को समनोज्ञ शब्द कहा
है । द्वेष के हेतु को अमनोज्ञ शब्द कहा है ।

जिस प्रकार शब्दों में अवृष्ट रागातुर मुग्ध हरिण मृत्यु को
प्राप्त होता है उसी प्रकार मनोज्ञ शब्दों में जो तीव्र आसक्ति
रखता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है ।

जो अमनोज्ञ शब्दों से तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण
दुःख को प्राप्त होता है । इस प्रकार स्वयं के ही तीव्र द्वेष से
प्राणी दुःखी होता है किन्तु उसके दुःखी होने में शब्द का कोई
अपराध नहीं है ।

जो मनोहर शब्द में सर्वथा अनुरक्त रहता है और अमनोहर
शब्द से द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखों की पीड़ा को प्राप्त
होता है । किन्तु विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता ।

सद्गुणगानुगं य जीवे,
 चराचरे हिंसइ णेरुवे ।
 चित्तेहि ते परियावेइ वासे,
 पोलेइ अत्तद्वगुण किलिह्वे ॥
 सद्गुणगएण परिगहेय,
 उप्पायणे रक्खणसत्तिओसे ।
 वए विओगे य काहं सुहं से ?
 संभोगकाले य अत्तिसिखासे ॥
 सहे अत्तिसे य परिगहे य,
 सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि ।
 अतुट्ठिदोसेण वुही परस्स,
 लोभाविले आययई अवत्तं ॥
 सद्गुणभूयस्स अदत्तहारिणो,
 सहे अत्तित्थस्स परिगहे य ।
 मायान्त्तं चड्ढइ लोभदोसा,
 तत्थावि दुक्खं न विमुच्चई से ॥
 भोसस्स एच्छा य पुरस्सओ य,
 पओगकाले य वुही वुरस्से ।
 एवं अदत्ताणि (ममाययन्तो,
 सहे अत्तिओ वुहिओ अग्निस्सो ॥
 सद्गुणुरस्सस्स नरस्स एवं,
 कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किलि ? ।
 तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
 निव्वत्तई अस्स कएण दुक्खं ॥
 एमेव सद्गुणि गओ पओसं,
 उवइ बुवस्सोहपरंपराओ ।
 पवुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
 जं से पुणो होइ वुहं विवारे ॥
 सहे विरत्तो मणुओ विसोगो,
 एएण बुवस्सोहपरंपरेण ।
 न लिप्पई भवमज्जे वि सत्तो,
 जलेण वा पोक्खरिणीपत्तासं ॥

—उत्त. अ. ३२, गा. ३५-४७

रूपासक्ति निषेधो—

७७८. चक्षुस्स रुवं गहणं वयन्ति, तं रागहेउं तु मणुअमाहु ।
 तं दोसहेउं अमणुअमाहु, समो उ जो तेसु स जीयरारो ॥

मनोहर शब्दों में आसक्त जीव अनेक प्रकार के द्रव्य स्थावर जीवों की हिंसा करता है, वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाता प्रकार से उन चराचर जीवों को परिताप पहुँचाता है ।

शब्द में अनुराग और ममत्व बुद्धि होने से उसके उत्पादन में, रक्षण करने में, व्यवस्थित रखने में और उसके विनाश या वियोग होने पर कैसे सुखी हो सकता है ? उसके उपयोग करने के समय भी तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है ।

जो शब्द में अतृप्त और उसके परिग्रहण में अत्यन्त आसक्त होता है, उसे कभी संतुष्टि नहीं हो सकती । वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी बना हुआ मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर दूसरे की शब्द वाली वस्तुएँ चुरा लेता है ।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और शब्द परिग्रहण में अतृप्त होता है । अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है तथा माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता ।

असत्य ओलने के पहले और पीछे तथा बोलते समय भी जीव दुःखी होता है इसी प्रकार शब्द में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ भी वह आश्रय हीन होकर दुःखी ही होता है ।

इस प्रकार शब्द में अनुरक्त पुरुष को अल्प सुख भी कष्ट और कैसे हो सकता है ? क्योंकि मनोज शब्दों को पाने के लिए भी वह दुःख उठाता है और उनके उपभोग में भी अतृप्ति का क्लेश और दुःख बना ही रहता है ।

इसी प्रकार जो शब्द से द्वेष रखता है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है । द्वेषयुक्त चित्त से वह जिन कर्मों का बन्ध करता है वे कर्म भी उदयकाल में उसके लिए दुःख रूप होते हैं ।

किन्तु जो पुरुष शब्द से विरक्त होता है वह शोक रहित रहता है । जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल जल से अलिप्त रहता है उसी प्रकार वह भी संसार में रहते हुए इन दुःख की परम्पराओं से अलिप्त रहता है ।

रूप की आसक्ति का निषेध—

७७९. चक्षुन्दित्र्य के विषय को रूप कहते हैं । जो रूप राग का हेतु है उसे मनोज कहा है, जो रूप द्वेष का हेतु है उसे अमनोज कहा है । इन दोनों में जो समभाव रखता है वह वीतराग होता है ।

रुक्मस्स चक्षुं गृह्णं व्यथितं, चक्षुस्स रुक्मं गृह्णं व्यथितं ।
रागस्स हेउं समणुसमाहु, दोसस्स हेउं असणुसमाहु ॥

रुक्मे जो गिद्धिमुवेइ तिथ्यं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पयंगे, आलोपलोले समुवेइ मरुच्चं ॥

जे पावि दोसं समुवेइ तिथ्यं, तस्सिक्खणे से उउवेइ बुक्खं ।
बुद्धिबोसेण सएण जन्तु, न किञ्चि रुक्मं अवरज्जई से ॥

एगन्तरस्से रहुरंसि रुक्मे, अतालसे से कुणई पओसं ।
बुक्खस्स संपीलमुवेइ बासे, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

इयाणूगासाणुगए य जोवे, चराचरे हिंसइ पंगरुक्मे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बासे, पीलेइ अत्तट्टुपुक्क किलिद्धे ॥

रुक्काणुवाएण परिगहेण, उप्पायणे रक्खणसस्सिओओ ।
वए विओगे य कहं मुहं से ? संभोगकाले य अतिस्सिलाभे ॥

रुक्मे अतिसे य परिगहंमि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि ।
अनुट्ठिबोसेण बुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥

सहार्हमिभूयस्स अदत्तहारिणो, रुक्मे अतिसस्स परिगहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्था वि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

मोसस्स पच्छा य पुरस्सओ य, पओगकाले य बुही दुरन्ते ।
एवं अवत्ताणि समाययन्तो, रुक्मे अतिसो दुट्ठिओ अणित्तो ॥

रुक्काणुरस्स नरस्स एवं, कसो मुहं होअ कयाइ किञ्चि ।
सत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निवत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

एमेव रुक्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ ।
पडुट्ठिस्सो य विणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ इहं विवागे ॥

रूप के ग्रहण करने वाले को चक्षु कहते हैं, चक्षु से ग्रहण होने वाले को रूप कहते हैं । राग के हेतु को समनोज रूप कहा है, द्वेष के हेतु को असमनोज रूप कहा है ।

जिस प्रकार प्रकाश लोलुप पतंगा रूप में आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है उसी प्रकार जो पुरुष रूप में तीव्र आसक्ति रखता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है ।

जो असमनोज रूपों से तीव्र द्वेष करता है वह उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है । इस प्रकार स्वयं के ही तीव्र द्वेष से प्राणी दुःखी होता है किन्तु उसके दुःखी होने में रूप का कोई अपराध नहीं है ।

जो मनोहर रूप में सर्वथा अनुरक्त रहता है और असमनोहर रूप में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखों की पीड़ा को प्राप्त होता है । किन्तु विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता ।

मनोज रूप में आसक्त जीव अनेक प्रकार के क्षम-स्थावर जीवों की हिंसा करता है, वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परिताप पहुंचाता है ।

रूप में धनुर्गा और ममत्व वृद्धि होने से उसके उत्पादन में, रक्षण करने में, व्यवस्थित रखने में और उसके विनाश या वियोग होने पर कैसे सुखी हो सकता है ? उसके उपयोग करने के समय भी तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है ।

जो रूप में अतृप्त है और उसके परिग्रहण में अत्यन्त आसक्त होता है, उसे कभी सन्तुष्टि नहीं हो सकती, वह असन्तुष्टि के दोष से अत्यन्त दुःखी बना हुआ मनुष्य लोभ के बन्धी-भूत होकर दूसरों की रूपवान वस्तुएं चुरा लेता है ।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप-परिग्रहण में अतृप्त होता है । अतृप्ति दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है तथा माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता ।

असत्य बोलने के पहल और पीछे तथा बोलते समय भी जीव दुःखी होता है इसी प्रकार रूप में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ भी वह आश्रयहीन होकर दुःखी ही होता है ।

इस प्रकार रूप में अनुरक्त पुरुष को किञ्चित् सुख भी कब और कैसे हो सकता है ? क्योंकि मनोज रूपों को पाने के लिए भी वह दुःख उठाता है और उनके उपभोग में भी अतृप्ति का क्लेश और दुःख बना ही रहता है ।

इसी प्रकार जो रूप से द्वेष रखता है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है । द्वेष-युक्त चित्त से वह जित्त कर्मों का बन्ध करता है, वे कर्म भी उदय काल में उसके लिए दुःख रूप होते हैं ।

रुच्ये विरक्तो मण्यो विसो गौ, एएण दुक्खोहपरम्परेण ।
न लिप्पहं मदमन्ने वि सग्गो, जलेण वा पोषण्णिणीपलासं ॥

—उत्त. अ. ३२, गा. २२-२४

गन्धासक्ति निसेहो—

७८०. घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति,
तं रागहेउं तु मणुप्पमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुप्पमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरगो ॥
गन्धस्स घाणं गहणं वयन्ति,
घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति ।
रागस्स हेउं समणुप्पमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुप्पमाहु ॥
गन्धेसु जो गिद्धिमुवेइ तिब्बं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे ओसहि-गन्ध-गिद्धे,
सप्ये बिलाओ विव निक्खमन्ते ॥
जे यावि दोसं समुवेइ तिब्बं,
संसिक्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्धन्तवोसेण सएण जम्पू,
न किञ्चि गन्धं अवरज्जई से ॥
एगन्तरस्से इडरंसि गग्गवे,
अत्ताल्लिसे से कुण्हं पओसं ।
दुक्खस्स संपीतमुवेइ बाले,
न लिप्पहं तेण मुणी विरागो ॥
गन्धाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ योगरुखे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ असट्ठगुरु किलिद्धे ॥
गन्धाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसस्सिओगे ।
अए विओगे य क्हं सुहं से ?
संभोगकाले य अतिसिलाभे ॥
गन्धे अतिसे य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ पुट्ठि ।
अतुट्ठिवोसेण कुही परस्स,
लोभाबिले आययई अवसं ॥
तण्हाभिभूयस्स अवसहारिणो,
गन्धे अतिसस्स परिग्गहे य ।

किन्तु जो पुरुष रूप से विरक्त होता है वह शोक-मुक्त बन जाता है । जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वह भी संसार में रहते हुए इन दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता ।

गन्ध की आसक्ति का निषेध—

७८०. घ्राणेन्द्रिय के विषय को गन्ध कहते हैं । जो गन्ध राग का हेतु है उसे मनोज्ञ कहा है जो गन्ध द्वेष का हेतु है उसे अमनोज्ञ कहा है । इन दोनों में जो समभाव रखता है वह वीतराग होता है ।

गन्ध के ग्रहण करने वाले को घ्राण कहते हैं, घ्राण से ग्रहण होने वाले को गंध कहते हैं । राग के हेतु को समनोज्ञ गंध कहा है, द्वेष के हेतु को अपनोज्ञ गंध कहा है ।

जिस प्रकार नाग-वमनी आदि औषधियों के गंध में गृध्र होकर बिल से निकलता हुआ रामानुर सर्प दुःखी होता है उसी प्रकार जो मनोज्ञ गंध में तीव्र आनक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है ।

जो अमनोज्ञ गंध से तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है । इस प्रकार स्वयं के ही तीव्र द्वेष से प्राणी दुःखी होता है किन्तु उसके दुःखी होने में गन्ध का कोई अपराध नहीं है ।

जो मनोहर गन्ध में सर्वथा अनुरक्त रहता है और अमनोहर गन्ध से द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखों की पीड़ा को प्राप्त होता है । किन्तु विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता ।

मनोज्ञ गन्ध में आसक्त जीव अनेक प्रकार के प्रस स्यावर जीवों की हिंसा करता है वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेशयुक्त अज्ञानी नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परित्याग पहुँचाता है ।

गन्ध में अनुराग और समत्व बुद्धि होने से उसके उत्पादन में, रक्षण करने में, व्यवस्थित रखने में और उसके विनाश या विधोष होने पर कैसे सुखी हो सकता है ? उसके उपयोग के समय भी तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है ।

जो गन्ध में अतृप्त है, उसके परिग्रहण में अत्यन्त आसक्त होता है, उसे कभी सन्तुष्टि नहीं हो सकती है । वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी बना हुआ मनुष्य लोभ के बन्धीभूत होकर दूसरों की गन्धवान वस्तुएँ चुरा लेता है ।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और गन्ध-परिग्रहण में अतृप्त होता है । अतृप्ति दोष के कारण उसके

मायामुसं वद्धं लोचनोसा,
तस्यापि दुःखा न विमुञ्चई से ॥
सौमस्त पच्छा य पुरस्त्रो य,
पोगकाले य वृही दुरन्ते ।
एवं अवस्ताणि समापयन्तो,
गन्धे अतित्तो बुहिओ अणित्तो ॥
गन्धानुरस्तस्त मरस्त एवं,
कत्तो मुहं होज्ज कयाइ किञ्चि ?
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्त एण दुक्ख ॥
एमेव गन्धम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ ।
पदुट्ठचित्तो य विणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ कुहं विवागे ॥
गन्धे विरत्तो मणुओ विसोगे,
एएण दुक्खोहपरम्परेण ।
न लिप्पई भवमज्जे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणोपत्तासं ॥

—उत्त. अ. ३२, गा. ४८-६०

रसासक्तिनिषेधो—

७८१. जिह्माए रसं गहणं वयन्ति, तं रागहेजं तु भणुन्तमाहु ।
तं वोसहेजं अमणुन्तमाहु, समो य जो तेसु स बीवरागो ॥

रसस्स जिह्मं गहणं वयन्ति, जिह्माए रसं गहणं वयन्ति ।
रागस्स हेजं समणुन्तमाहु, वोसस्स हेजं अमणुन्तमाहु ॥

रसेसु ओ गिड्ढिमुवेइ तिब्बं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे वड्डिस विमिन्नकाए, मच्छे जहा आमिस-भोगगिद्धे ॥

जे यावि होसं समुवेइ तिब्बं, तंसिक्खण्णे स उ उवेइ दुक्खं ।
दुहत्तदोसेण सएण जन्तू, रसं न किञ्चि अवरण्णई से ॥

एगन्तरस्से वड्डरे रसम्मि, अत्तालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलनुवेइ आसे, न लिप्पई तेण सुणी विरागो ॥

रसाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ जेगुब्बे ।
चित्तेहिं से परित्तावेइ वाले, पीलेइ अत्तदुशुक्क किलिद्धे ॥

माया-मृषा की वृद्धि होती है तथा माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता ।

अदृश्य बोलने के पहले और पीछे तथा बोलते समय भी जीव दुःखी होता है । इसी प्रकार वह गन्ध से अनृप्त होकर चोरी करता हुआ भी आश्रयहीन होकर दुःखी ही होता है ।

इस प्रकार गन्ध में अनुरक्त पुरुष को किञ्चित् सुख भी कब और कैसे हो सकता है ? क्योंकि मनोज्ञ गन्धों को पाने के लिए वह दुःख उठाता है तथा उनके उपभोग में भी अवृष्टि का वेश और दुःख बना ही रहता है ।

इसी प्रकार जो गन्ध से द्वेष रखता है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है । द्वेष युक्त चित्त से वह जिन कर्मों का बन्ध करता है वे कर्म भी उदय काल में उसके लिए दुःख रूप होते हैं ।

किन्तु जो पुरुष गन्ध से विरक्त होता है वह शोक-भुक्त बन जाता है । जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वह भी संसार में रहते हुए इन दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता ।

रस की आसक्ति का निषेध—

७८१. रसनेन्द्रिय के विषय को रस कहते हैं । जो रस राग का हेतु है उसे मनोज्ञ कहा है, जो द्वेष का हेतु है उसे अमनोज्ञ कहा है । इन दोनों में जो समभाव रखता है वह बीतराग होता है ।

रस के ग्रहण करने वाली को जिह्वा कहते हैं, जिह्वा से ग्रहण होने वाले को रस कहते हैं । राग के हेतु को समनोज्ञ रस कहा है, द्वेष के हेतु को अमनोज्ञ रस कहा है ।

जिस प्रकार भोस खाने में गृद्ध बना हुआ रागातुर मत्स्य कटि से बीधा जाता है उसी प्रकार मनोज्ञ रसों में तीव्र आसक्ति करने वाला अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है ।

जो अमनोज्ञ रस से तीव्र द्वेष करता है वह उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है, इस प्रकार स्वयं के ही तीव्र द्वेष से प्राणी दुःखी होता है किन्तु उसके दुःखी होने में रस का कोई अपराध नहीं है ।

जो मनोहर रस में सर्वथा अनुरक्त रहता है और अमनोहर रस में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखों की पीड़ा को प्राप्त होता है । किन्तु विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता ।

मनोहर रस में आसक्त जीव अनेक प्रकार के अस स्थावर जीवों की हिंसा करता है, वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परित्याग पहुँचाता है !

रसाणुवाहण परिग्रहेण,
उत्पायणे रक्षणसन्निधौ ।
य ए विओगे य कहे सुहं से,
संभोगकासे य अतिसिलासे ॥
रसे अतिले य परिग्रहे य,
सतोवसतो न उवेद दुष्टि ।
अतुष्टिबोसेण वुही परस्त,
लोभाविले आययई अवत्त ॥
तण्हाभिभूयस्स अवत्तहारिणो,
रसे अतिलस्स परिग्रहे य ।
मायापुसं बद्धइ लोभबोसा,
तत्थावि दुक्खं न विमुच्यइ से ॥
मोसस्स पच्छा य पुरत्तओ य,
पओगकाले य वुही कुरस्से ।
एवं अवत्ताणि समापयन्तो,
रसे अतिलो वुहिओ अपिस्सो ॥
रसाणुवत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ? ।
तत्थोवओगे वि किलेसकुक्खं,
निष्पत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥
एमेव रसन्ति गओ पओसं,
उवेद दुक्खोहपरम्पराओ ।
पवुट्ठिस्सो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ वुहं विवागे ॥
रसे विरसो मण्ओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरम्परेण ।
न तिप्पई भवमण्णे वि सन्तो,
जलेण वा पोषणरिणीपलासं ॥
—उत्त. अ. ३२, गा. ६१-७३

फरिसासत्ति णिसेहो—

७८२. कायस्स फासं गहणं वयन्ति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स बीयरओ ॥
फासस्स कायं गहणं वयन्ति,
कायस्स फासं गहणं वयन्ति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

रस में अनुराग और समत्व बुद्धि होने से उसके उत्पादन में, रक्षण करने में व्यवस्थित रखने में और उसके विनाश या वियोग होने पर कैसे सुखी हो सकता है ? उसके उपयोग के समय भी तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है ।

जो रस में अतृप्त है और उसके परिग्रहण में अत्यन्त आसक्त होता है । उसे कभी सन्तुष्टि नहीं हो सकती । वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी बना हुआ मनुष्य लोभ के बशीभूत होकर दूसरों की रसवान् वस्तुएँ चुरा लेता है ।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रस-परिग्रहण में अतृप्त होता है । अतृप्ति दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है तथा माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता ।

असत्य बोलने के पहले और पीछे तथा बोलते समय भी जीव दुःखी होता है । इसी प्रकार वह रस में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ भी आश्रयहीन होकर दुःखी ही होता है ।

इस प्रकार रस में अनुरक्त पुरुष को किंचित् सुख भी कब और कैसे हो सकता ? क्योंकि मनोज्ञ रसों को पाने के लिए वह दुःख उठाता है और उनके उपभोग में भी अतृप्ति का बलेश और दुःख बना ही रहता है ।

इसी प्रकार जो रस से द्वेष रखता है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है, द्वेष युक्त चित्त से वह जिन कर्मों का बन्ध करता है वे कर्म भी उदय काल में उसके लिए दुःख रूप होते हैं ।

किन्तु जो पुरुष रस से विरक्त होता है वह शोक-मुक्त बन जाता है । जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल जल से लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार वह संसार में रहते हुए भी इन दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता ।

स्पर्श की आसक्ति का निषेध—

७८२. स्पर्शेन्द्रिय के विषय को काया कहते हैं, जो स्पर्श राग वा हेतु है उसे मनोज्ञ कहा है, जो द्वेष का हेतु है उसे अमनोज्ञ कहा है । इन दोनों में जो समभाव रखता है वह बीतराग होता है ।

स्पर्श के ग्रहण करने वाले को काया कहते हैं, काया से ग्रहण होने वाले को स्पर्श कहते हैं । राग के हेतु को मनोज्ञ स्पर्श कहा है, द्वेष के हेतु को अमनोज्ञ स्पर्श कहा है ।

फासेसु जो गिद्धिमुवेह तिष्ठं,
 अकालियं पावड से विनासं ।
 रागादरे सीय-जलावसन्ने,
 गाहगहोए सहिसे व रन्ते ॥
 जे पावि बोसं समुवेह तिष्ठं,
 तस्सिक्खणे से उ उवेह दुक्खं ।
 दुद्धन्तबोसेण सएण जन्तु,
 न किंचि फासं अवरज्जई से ॥
 एगन्तरत्ते रहरेसि फासे,
 अतालसे से कुणई पओसं ।
 दुक्खस्स संपीलमुवेह बाले,
 न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥
 फासाणुगासाणुगए य जीवे,
 चराचरे हिसइ णेगस्सवे ।
 चित्तेहि ते परित्तावेह बाले,
 पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥
 फासाणुवाएणं परिग्गहेण,
 उप्पाम्भं रक्खणसन्निओगे ।
 वए विओगे य व्हं सुहं से,
 संभोगकाले य अतिसिंताभे ॥
 फासे अतित्ते य परिग्गहे य,
 सत्तोवसत्तो न उवेह तुट्ठि ।
 अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
 लोभावित्ते आययई अवत्ते ॥
 तत्थाभिपूयस्स अदत्तहारिणो,
 फासे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
 मायामुसं वड्ढइ सोमबोसा,
 तत्थावि दुक्खं न विमुच्चई से ॥
 मोसस्स पण्छा य पुरस्सओ य,
 पओगकाले य दुही वुरन्ते ।
 एवं अदत्ताणि समाययन्तो,
 फासे अतित्तो दुहिओ अणित्तो ॥
 फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
 कसो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
 तत्थोवभोगे वि कित्तेसदुक्खं,
 निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥
 एमेव फासम्मि गओ पओसं,
 उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ ।
 पवुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
 जं से पुणो होइ वुहं विवारो ॥

जिस प्रकार घड़ियाल के द्वारा पकड़ा हुआ अरण्य-जलाशय के शीतल जल के स्पर्श में मग्न बना रागातुर भेसा विनाश को प्राप्त होता है उसी प्रकार मग्नोक्त स्पर्शों में तीव्र आसक्ति करने वाला वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है ।

जो अमनोज स्पर्श से तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है इस प्रकार स्वयं के ही तीव्र द्वेष से प्राणी दुःखी होता है किन्तु उसके दुःखी होने में स्पर्श का कोई अपराध नहीं है ।

जो मनोहर स्पर्श में सर्वथा अनुरक्त होता है और अमनोहर रणों से द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखों की पीड़ा को प्राप्त होता है । किन्तु विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता ।

मनोहर स्पर्श में आसक्त जीव अनेक प्रकार के प्रस स्थावर जीवों की हिंसा करता है वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेश युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को गरिस्ताप पहुँचाता है ।

स्पर्श में अनुराग और ममत्व वृद्धि होने से उसके उत्पादन में, रक्षण करने में, व्यवस्थित रखने में और उसके विनाश या वियोग होने पर कैसे सुखी हो सकता है ? उसके उपयोग के समय भी तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है ।

जो स्पर्श में अतृप्त है और उसके परिग्रहण में अत्यन्त आसक्त होता है, उसे कभी सन्तुष्टि नहीं हो सकती । वह अस्-तुष्टि के दोष से दुःखी बना हुआ मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर दूसरों की स्पर्शवान वस्तुएँ चुरा लेता है ।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और स्पर्श परिग्रहण में अतृप्त होता है, अतृप्ति दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है तथा माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता ।

असत्य बोलने के पहले और पीछे तथा बोलते समय भी जीव दुःखी होता है । इसी प्रकार वह स्पर्श में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ भी आश्रयहीन होता हुआ दुःखी ही होता है ।

इस प्रकार स्पर्श में अनुरक्त पुरुष को किंचित् भी सुख कब और कैसे हो सकता है ? अल्प सुख भी कहाँ से होगा क्योंकि मनोज रसों को पाने के लिए वह दुःख उठाता है और उनके उपभोग में भी अतृप्ति का क्लेश और दुःख बना ही रहता है ।

इसी प्रकार जो स्पर्श से द्वेष रखता है वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है । द्वेषयुक्त चित्त से वह जिन कर्मों का बन्ध करता है । वे कर्म भी उदय काल में उसके लिए दुःख रूप होते हैं ।

फासे विरक्तो मणुओ विसोयो,

एएण दुक्खोहपरम्परेण ।

न लिप्पई भवमज्झो वि सन्तो,

जलेण य पोवखरिणीपलासं ॥

—उत्त. अ. ३२, गा. ७४-८६

सुहं सुहं मोह-गुणे जयस्ते,

अणेग-रूवा सभणं चरन्ते ।

फासा फुसन्ती असमंजसं च,

न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से ॥

मन्वा य फासा बहु-लोहणिज्जा,

सहपगारेसु मणं न कुज्जा ।

रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं,

मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ॥

जे संखया तुच्छ परप्पवाद्,

ते पिज्ज बोसाणुगया परज्जा ।

एए अहस्से सि दुगुंछमाणो,

कस्से गुणे-जाव-सरीर-भेओ ॥

—उत्त. अ. ४, गा. ११-१३

किन्तु जो पुरुष स्पर्श से विरक्त होता है वह शोक मुक्त बन जाता है । जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वह संसार में रहते हुए भी इन दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता ।

बार-बार प्रवृत्ति मोह-गुणों पर विजय पाते हुए और संयम मार्ग में विचरते हुए श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्श पीड़ित करते हैं । किन्तु भिक्षु उन पर मन से भी द्वेष न करे ।

काम-भोगों के अल्प स्पर्श भी बहुत लुभावने होते हैं किन्तु संयमी उन स्पर्शों में मन को न लगावे, क्रोध से अपने को बचावे, मान को दूर करे, माया का सेवन न करे और लोभ का त्याग करे ।

जीवन साधा जा सकता है ऐसा कहने वाले अन्यतीर्थिक निस्सार वचन बोलने वाले हैं, वे राग द्वेष युक्त होने से पराधीन हैं । ये लोग धर्म-रहित हैं ऐसा सोच कर उनसे दूर रहता हुआ मुमुक्षु अन्तिम सांस तक संयम गुणों की आराधना करे ।



वीर्य-शक्ति—५

समत्तधिया वीरियपाउरणं -

७८३. जहेत्थ मए संघी ओसिते, एवमणत्थ संघो दुज्झोसए भवति,
तस्सा वेमि—'णो विण्हेज्ज वीरियं' ।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. ३, सु. १५७(ग)

अपवीरिएण चत्तारि दुल्लभंगा—

७८४. चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।

माणुसत्तं सुई सद्धा, संजममि य वीरियं ॥

—उत्त. अ. ३, गा. १

अपवीरिएण कम्माण-धुणणं—

७८५. माणुसत्तंमि आयाओ, जो धम्मं सोच्छा सद्धे ।

तवस्सी वीरियं लद्धं, संबुडे निद्धणे रयं ॥

—उत्त. अ. ३, गा. ११

मोणेण कम्मधुणणं—

७८६. जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा, जं मोणं ति पासहा
तं सम्मं ति पासहा ।

समत्व बुद्धि से आत्म-शक्ति का समुत्थान -

७८३. जैसे मैंने इस ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से कर्म संतति को क्षय किया है वैसे अन्य मत में कर्म संतति को क्षय करना कठिन है । इसलिए मैं कहता हूँ कि—“मुमुक्षु साधक शक्ति का गोपन न करे ।”

आत्म-वीर्य में चार अंग दुर्लभ—

७८४. इस संसार में प्राणियों के लिए चार परम-अंग दुर्लभ हैं --
मनुष्य जन्म, धर्म श्रवण, धर्म में श्रद्धा और संयम में पराक्रम ।

आत्म-बल से कर्म क्षय -

७८५. मनुष्य भव को प्राप्त कर जो व्यक्ति धर्म को सुनता है और उसमें श्रद्धा करता है, वह तपस्वी संयम में पुरुषार्थ कर संवृत हो जाता है और कर्म-रज को नष्ट कर डालता है ।

मुनित्व से कर्म क्षय—

७८६. जो समत्व को देखता है वह मुनित्व को देखता है, जो मुनित्व को देखता है वह समत्व को देखता है ।

ण इमं सर्वकं सिद्धिलेहि, अहिंसासाधनेहि, गुणासाधनेहि, वंश-
समाधारेहि पमत्तेहि गारमावसंतेहि ।

मुनी भोजं समादाय धुक्ते कम्म सरीरगं ।

पतं लूहं सेवति वीरा सम्मसदंसिणो ।

एत ओहंतरे मुनी तिण्णे मुत्ते विरते विधाहिंते ।

—आ सु १, अ. ५, उ. ३, सु. १६१

अप्रमत्तभावेण करणिज्ज किञ्चाइ—

७८७. अट्ठहिं ठाणेहि सम्मं धडितव्वं जतित्तव्वं, परवकमित्तव्वं,
अस्सि च षं अट्ठे णो पभाएतव्वं भवति ।

१. असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणताए अट्ठुट्ठेयव्वं भवति ।

२. सुतारणं धम्माणं ओगिण्हणयाए, उवधारणयाए अट्ठुट्ठे-
यव्वं भवति ।

३. णव्वारणं कम्माणं संजनेणमकरणताए अट्ठुट्ठेयव्वं भवति ।

४. पोराणाणं कम्माणं तवसा विमिच्चणयाए, विसोहणयाए
अट्ठुट्ठेयव्वं भवति ।

५. असंगिहीय परिणसस संगिण्हणयाए अट्ठुट्ठेयव्वं भवति ।

६. सेहं आयागोशरं गाहणताए अट्ठुट्ठेयव्वं भवति ।

७. गित्ताणसस अगिलाए वेयावक्ककरणयाए अट्ठुट्ठेयव्वं
भवति ।

८. साहम्मियणमधिकरणंसि उप्पणंसि तस्य अगिस्सितो-
वस्सिते अपक्खमाही भज्जत्थभावभूते 'कहं णु साहम्मिया
अप्पसहा अप्पसंजा अप्पसंतुमा उवसासणताए' अट्ठुट्ठेयव्वं
भवति ।

—ठाणं, अ. ८, सु. ६४६

आणाणुसरणं उवएसो—

७८८. अणाणाए एगे सोवट्ठाणा, आणाए एगे गिरुवट्ठाणा एतं ते
मा होधु ।

समत्व का आचरण करना उन साधकों द्वारा शक्य नहीं है
जो मन्द पुरुषार्थी हैं, पदार्थों में स्नेह रखते हैं, विषय लोलुप हैं,
सायाचारी हैं, प्रमादी हैं और गृहवास में लीन हैं ।

किन्तु मुनि संयम ग्रहण करके स्थूल और सूक्ष्म शरीर को
कृष्ण करने में पुरुषार्थ करे ।

समत्वदर्शी वीर मुनि प्रान्त (बासी या बचा खुचा थोड़ा
सा) और रस (नीरस, विकृति-रहित) आहारादि का सेवन
करते हैं ।

ऐसे मुनि जन्म-मृत्यु के प्रवाह को पार करने वाले होते हैं
वे ही मुनि तीर्ण-मुक्त और विरत कहलाते हैं ।

अप्रमत्त भाव से करणीय कृत्य—

७८७. आठ स्थानों में साधक सम्यक् आचरण करे, सम्यक्
प्रयत्न करे, सम्यक् पराक्रम करे और इन आठों स्थानों में कुछ
भी प्रमाद नहीं करे ।

(१) अश्रुत धर्मों को सम्यक् प्रकार से सुनने के लिए जाग-
रूक रहे ।

(२) सुने हुए धर्मों को मन से ग्रहण करे और उनकी स्थिर-
स्मृति के लिए जागरूक रहे ।

(३) संयम के द्वारा नवीन कर्मों का निरोध करने के लिए
जागरूक रहे ।

(४) तपश्चरण के द्वारा पुराने कर्मों को पृथक् करने और
विशोधन करने के लिए जागरूक रहे ।

(५) असंगृहीत परिजनों (शिष्यों) का संग्रह करने के लिए
जागरूक रहे ।

(६) शोक (नवदीक्षित) मुनि को आचार-भोचर का सम्यक्
बोध कराने के लिए जागरूक रहे ।

(७) ग्लान साधु की ग्लानि-भाव से रहित होकर बैयावृत्त्य
करने के लिए जागरूक रहे ।

(८) साधर्मिकों में परस्पर कलह उत्पन्न होने पर "वे मेरे
साधर्मिक किस प्रकार गद्द, कलह और तू तू मैं मैं से मुक्त हों"
ऐसा विचार करते हुए राग-द्वेष से रहित होकर किसी का पक्ष
न लेकर मध्यस्थ भाव को स्वीकार कर उसे उपशान्त करने के
लिए जागरूक रहे ।

आज्ञानुसार आचरण करने का उपदेश —

७८८. कुछ साधक आज्ञा में उद्यमी होते हैं किन्तु आज्ञा में
उद्यमी नहीं होते हैं । यह अवस्था तुम्हारे जीवन में न हो तीर्थ-
कर भगवान का यह आदेश है ।

एतं कुसलस्स वंसणं तद्धिद्वीए. तम्मत्तोए, तण्णुकारे, तस्सण्णी,
तण्णिवेसणं ।

अभिभूय अवक्खू अभभिसूते वम्मू जिरालंबणताए ।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. ६, सु. १७२

पमाय परिचचाग उवएसो—

७८९. समयं तत्थवेहाए. अप्पाणं विप्पसावए ।

अणणपरमं णाणी, णो पमाए कयाइ वि ।।

आयगुत्ते सदा वीरे, जायामायाए जावए ।

विरागं रुवेहि गच्छेज्जा, महता खुड्डएहि वा ।।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ३, सु. १२३

तिविहा धम्म जागरणा—

७९०. 'मन्ते ! ति' भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति
नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वशासी—

प०—कद्विधा णं मन्ते ! जागरिया पन्नत्ता ?

उ०—गोयमा तिविहा जागरिया पन्नत्ता, तं जहा—

१. बुद्धजागरिया,

२. अबुद्धजागरिया,

३. सुवक्खुजागरिया ।

प०—से केणद्वेणं मन्ते ! एवं वुच्चति 'तिविहा जागरिया
पन्नत्ता', तं जहा—

१. बुद्धजागरिया,

२. अबुद्धजागरिया,

३. सुवक्खुजागरिया ?

उ०—गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंतो उप्पन्नानाण-वंसण-
धरा जहा खंवए-जाव-सव्वण्णु सव्ववरिसी एए णं
बुद्धा बुद्धजागरियं जागरंति ।

जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया-जाव-गुत्तबंभयारी,
एए णं अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागरंति ।

जे इमे समणोवासगा अभिगय जीवाजीवा-जाव-विहरंति एते
णं सुवक्खुजागरियं जागरंति ।

से तेणद्वेणं गोयमा ! एवं वुच्चति तिविहा जागरिया-जाव-
सुवक्खुजागरिया ।

—वि. स. १२, उ. १, सु. २५

एगत्त अण्णत्त भावणा—

७९१. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—'एगो अहमंति, ण मे
अरिय कोइ, ण याहमवि कस्सइ एवं से एगागिणमेव अप्पाणं

मुनि उसी में अपनी दृष्टि नियोजित करे, उसी में तन्मय
हो, उसे ही प्रभुत्व बनाए, उसी के स्मरण में संलग्न रहे, उसी
में दत्तचित्त होकर उसका अनुसरण करे ।

जिसने परीषद्-उपसर्गों पर विजय प्राप्त कर तर्कों का
साक्षात्कार किया है वह परीषद्-से अभिभूत नहीं होता और
वही निरालम्बी होकर संयम पालन में समर्थ होता है ।

प्रमाद परित्याग का उपदेश—

७८९. साधना काल में मुनि समत्व का विचार करके आत्मा को
मदा प्रसन्न रखे, ज्ञानी मुनि संयम में कदापि प्रमाद न करे ।

सदा आत्मगुप्त और पराक्रमी साधक परिमित भोजन से
संयम यात्रा चलावे, अल्प या अधिक रूप आदि विषयों से पूर्ण
विरक्त रहे ।

तीन प्रकार की धर्म जागरणा—

७९०. 'हे भगवन !' इस प्रकार सम्बोधित करते हुए भगवान्
गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन नम-
स्कार किया और वंदना नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—

प्र०—भगवन ! जागरिका कितने प्रकार की कही गई है ?

उ०—गौतम ! जागरिका तीन प्रकार की कही गई है ।

यथा—

(१) बुद्धजागरिका,

(२) अबुद्धजागरिका,

(३) सुदर्शनजागरिका ।

प्र०—भगवन ! किस हेतु से कहा जाता है कि जागरिका
तीन प्रकार की है, जैसे—

(१) बुद्ध-जागरिका,

(२) अबुद्ध-जागरिका

(३) सुदर्शन-जागरिका ?

उ०—हे गौतम ! जो उत्पन्न हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन के
धारक अरिहन्त भगवान् हैं—यावत्—स्कन्दक प्रकरण के अनु-
सार जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं, वे बुद्ध हैं, वे बुद्ध जागरिका करते हैं ।

जो वे अनभार भगवन्त ईर्यासमिति युक्त—यावत्—गुप्त
ब्रह्मचारी हैं, वे अबुद्ध छद्मस्थ हैं । वे अबुद्धजागरिका करते हैं ।

जो वे श्रमणोपासक जीव अजीव आदि तत्त्वों के ज्ञाता हैं
—यावत्—पोषधादि करते हैं वे सुदर्शन जागरिका करते हैं ।

इसी कारण से हे गौतम ! तीन प्रकार की जागरिका
—यावत्—सुदर्शन जागरिका कही गई है ।

एकत्व अभ्यत्व भावना—

७९१ जिस भिक्षु के मन में ऐसा अध्यवसाय हो जाय कि 'मैं
अकेला हूँ मेरा कोई नहीं है और न मैं किसी का हूँ' वह अपनी

समभिजाणेषुजा । साधवियं आगममाणे तवे से अभिसमण्णा-
गते सवति ।

जहेयं भगवता एवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सवतो सवताए
सम्मत्तमेव समभिजाणिया ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ६, सु. २२२

समाए पेहाए परिक्खयन्तो. सिधा मणो निस्सरई बहिद्धा ।

न सा महं नोवि अहं पि तीसे, इच्छेव ताओ विणएज्ज रागं ॥

—दस. अ. २, पा. ४

अहेगे धम्ममावाय आवाण्णवित्ति सुव्वणिहिए चरे अप्पलीय-
वहे ।

सव्वं रोहि परिणाय एस पणए महामुणी ।

अतियच्च सव्वओ संगं, “ण महं अस्थि सि एगो अहमंसि”
जयमाणे ।

एत्थ विरते अणगारे सव्वतो भुंहे रीयंते जे अचेले परिवसिते
संचिक्खति ओमायरियाए ।

से अकुट्ठे वा, हत्ते वा, लूसिते वा, पलियं पणंथं, अनुवा-
पणंथं, अतहेहि सहफासेहि ।

इति संखाए एगतरे अणगतरे अभिणाय तित्तिक्खमाणे
परिक्खए ।

जे य हिरी जे य अहिरीयणा जेक्खा सव्वं विसोसियं संफासे
फासे समितवंसणे ।

एते भो ! णगिणा वुत्ता जे सोगंसि अणायसण धम्मिणो ।

—आ. सु. १, अ. ६, उ. २, सु. १८४-१८५

अणिच्चा भावणा—

७६२. आहारोवया वेहा परीसह पणंगुरा । पासह एगे सविदिण्हि
परिगिलायमाणेहि । ओए वयं वयति ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ३, सु. २१०(क)

असरण भावणा—

७६३. विसं पसवो य नाइओ, सं चाले सरणं ति मसई ।

एते मम तेषुभी अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥

आत्मा को एकाकी भाव में ही रखे इस प्रकार वह साववता को
प्राप्त करता हुआ तप के लाभ को प्राप्त करता है ।

भगवान ने जिस रूप में प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप
में जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना सम्यक् प्रकार से क्रियान्वित
करे ।

सम्यक्तया सावधानीपूर्वक संयम पालन करते हुए यदि
कदाचित् मन संयम से बाहर निकल जाए तो साधु यह विचार
करके राग भाव को दूर करे कि “वह मेरा नहीं है और न मैं
ही उसका हूँ ।”

कई साधक मुनि धर्म को ग्रहण करके धर्माचरण में इन्द्रिय
और मन को समाहित करके चंचलतारहित हो स्थिरतापूर्वक
विचरण करते हैं ।

वे महामुनि समग्र आसक्ति को छोड़कर संयम में पुरुषार्थ
करते हैं ।

फिर सर्वथा संघ का त्याग करके “मेरा कोई नहीं है इस-
लिए मैं अकेला हूँ” ऐसा चिन्तन कर संयम में यत्न करते हैं ।

वह संयम में स्थित विरत अनगार सब प्रकार से भुण्डित
होकर विचरण करता हुआ अवमोदरिका के हेतु अल्प वस्त्र या
निर्वेश रहता है ।

उसे कोई आक्रोश वचन कहे, मारे, पीटे, केश आदि खींचे,
पहले किए हुए किसी घृणित दुष्कर्म की याद दिलाकर अथवा
तथ्यहीन शब्दों द्वारा दोषारोपण करे ।

ऐसी स्थिति में मुनि उन अनेक उपसर्गों को अपने कर्मोदय
का फल जानकर सम्यक् चिन्तन द्वारा समभाव से सहन करता
हुआ संयम में विचरण करे ।

वे उपसर्ग सज्जाकारी हों या बलज्जाकारी हों सम्यग्दर्शी
मुनि सभी बाधाओं को दूर करता हुआ उन कष्टों को सम्यक्
प्रकार से सहन करे ।

हे भानवो ! धर्म क्षेत्र में उन्हें ही भावनमन निर्गन्ध कहा
गया है जो मुनिधर्म में दीक्षित होकर पुनः गृहवास में नहीं आते ।
अनित्य-भावना—

७६२. यह शरीर आहार से परिपुष्ट होता है और भूख प्यास
आदि परीषहों के आने से यह क्षीण हो जाता है । ऐसी स्थिति
में कायर साधक सभी इन्द्रियों से दुःख का अनुभव करते हुए
देखे जाते हैं, किन्तु राग द्वेष रहित समभावी मुनि इस अवस्था
में भी संयम का पूर्णरूपेण पालन करते हैं ।

अशरण भावना—

७६३. अज्ञानी जीव धन, पशु और जातिजनों को अपना शरण-
भूत समझता है । ये मेरे हैं मैं इनका स्वामी हूँ, किन्तु वास्तव में
वे उसके लिए न त्राणरूप हैं और न शरणरूप हैं ।

अन्त्यागमितमि वा बुद्धे, अहवा उपकमिते भवन्ति ।

एगस्स भई य आगई, विदुसंता सरणं ण ममई ॥

—सूय सु. १, अ. २, उ. ३, सु. १६-१७

मैत्री भावना—

७६४. पुरिसा ! तुमनेव तुमं मितं, किं बहिया मितमिच्छसि ?

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ३, सु. १२५

जावन्तविज्जपुरिसा, सव्वे ते वुक्खसंभवा ।

लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारंसि अण्णत्ते ॥

समिक्ख पडिअे तम्हा, पासजाईपहे बहू ।

अण्णणा सव्वसेसेज्जा, मैत्ति भूएसु कप्पए ॥

—उत्त. अ. ६, गा. १-२

संवर भावना—

७६५. सम्हाऽतिविज्जो परमं ति गच्छा,

आयंकवंसी न करेह पार्थ ।

अगं च मूर्खं च विगिच्च धीरे,

एलिच्छिदियाणं णिकम्मवंसी ॥

एस सरणा पमुच्यति, से ह्व विहुमये मुणी ।

लोगंसि परमवंसी विचित्तजीवी उवसन्ते, समिते सदा-जते
कालवकली एरिअए ।

—अ. सु. १, अ. ३, उ. २, सु. ११५-११६

जब प्राणी के ऊपर किसी प्रकार का दुःख आ पड़ता है तब वह उसे अकेला ही भोगता है तथा उपक्रम के कारणों से आयु नष्ट होने पर या मृत्यु उपस्थित होने पर वह अकेला ही परलोक में जाता है तथा वहाँ से मरकर पुनः अकेला ही जाता है । इस-लिए विद्वान् पुरुष किसी को अपना शरण नहीं मानते ।

मैत्री भावना—

७६४. हे पुरुष ! तुम ही तुम्हारे मित्र हो फिर बाहर अपने से भिन्न मित्र क्यों ढूँढ़ रहे हो ?

जितने भी अविद्यावान् अज्ञानी पुरुष हैं, वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करने वाले हैं । वे मूढ़ बने हुए इस अनन्त संसार में बार-बार दुःखों से पीड़ित होते हैं ।

इसलिए पण्डित पुरुष अनेक बन्धनों और जन्म मरण के स्थानों की समीक्षा कर स्वयं सत्य धर्म की गवेषणा करे और सब जीवों के प्रति मैत्री का आचरण करे ।

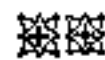
संवर भावना—

७६५. हिंसादि पाप के फल का जाता विद्वान् मुनि परम-मोक्ष पद को जानकर कभी भी पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता ।

हे धीर ! तू अग्र अघाति कर्म (और मूल) घाति कर्म को दूर कर, उन कर्मों को उन्मूलन करने से निष्कर्मदर्शी हो जाता है ।

वह आत्मदर्शी मुनि मरण से मुक्त हो जाता है, वही वास्तव में कर्म और संसार भय का द्रष्टा है । अथवा मोक्ष मार्ग का ज्ञाता है ।

लोक में जो परमदर्शी है, राग-द्वेष रहित शुद्ध जीवन जीता है, उपशान्त है, पाँच समितिओं से समित है, जानादि से सहित है और सदा संयमशील होकर पण्डित मरण की आकांक्षा करता हुआ विचरण करता है ।



संयम में पराक्रम—६

पण्णावन्ताण परक्कम—

७६६. एवं तेसि महावीरानं चिररायं पुब्बाइं वासाइं रीथमाण्णं
दवियाणं पास अहियासिअं ।

आगतपण्णाणानं किंसा आहा भवन्ति, पयणुए य मंससोणिए ।

प्रज्ञावानों का पराक्रम—

७६६. चिरकाल तक पूर्वों या वर्षों पर्यन्त संयम में विचरण करने वाले, चारित्र्य संपन्न तथा संयम में प्रगति करने वाले महान् वीर साधुओं ने जो परीषदादि सहन किये हैं । उसे तू देख ।

उन प्रज्ञावान् मुनियों की भुजाएँ कृश होती हैं, उनके शरीर में रक्त मांस बहुत कम हो जाते हैं ।

विहसेणि कट्टु परिणाय एस तिण्णे मुत्ते विरत्ते विघाहिते ।

—आ. सु. १, अ. ६, उ. ३, सु. १८७-१८८(घ)

पंडियस्स परक्कमं --

७६७. एवं जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सातं । अणभिककं च खलु वयं
संपेहाए खणं जाणाहि पंडिते ।

-जाव-सोयपणाणा अपरिहीणा, -जाव-जेसपणाणा अपरि-
हीणा, -जाव-घणपणाणा अपरिहीणा, -जाव-जोहपणाणा
अपरिहीणा, -जाव-फासपणाणा अपरिहीणा इच्छेतेहि विक्ख-
ह्वेहि पणाणेहि अपरिहीणेहि कायट्ठं सम्मं समणुवा-
सेज्जासि । —आ. सु. १, अ. २, उ. २, सु. ६८

समत्तदंसिस्स परक्कमं—

७६८. मुणी मोर्ण समावाय, धुणे कम्म-सरीरगं ।
पसं लूहं सेवति, वीरस समत्तदंसिणो ॥

एस ओघंतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरत्ते विघाहिते सि भेमि ।

—आ. सु. १, अ. २, उ. ६, सु. ६९ (ख-ग)

जातिं च वुद्धिं च इहज्ज ! पासे,

भूतेहि जाण पडिसेह सातं ।

तम्हा तिचिज्जे परमं सि णच्चा,

समत्तदंसी ण करेति पावं ॥

—आ. सु. १, अ. ३, उ. २, सु. ११२

का भरद के बाणवे ? एत्थं पि अगगहे खरे ।

सम्भं हासं परिक्खज्ज अस्सीणगुत्तो परिक्खए ॥

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ३, सु. १२४

मुत्तत्त सरूबं—

७६९. जं जाणेज्जा उक्खालइयं तं जाणेज्जा वूरालइयं, अं जाणेज्जा
वूरालइयं तं जाणेज्जा उक्खालइयं ।

—आ. सु. १, अ. १, उ. ३, सु. १२५

वीरस्स परक्कमं—

८००. एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिभोयए ।

उद्धं अहं तिरिपं विसाभु से सक्कती सत्त्वपरिणामारी ण
सिप्पति छणपेण वीरे ।

—आ. सु. १, अ. २, उ. ६, सु. १०३

संसार-वृद्धि कराने वालो राग-द्वेष कषायरूप खेणी संतति
को प्रज्ञा से जानकर उसे छिन्न-भिन्न करता है । वही मुनि तीर्ण,
मुक्त एवं विरत कहलाता है ।

पण्डित का पराक्रम—

७६७. 'प्रत्येक प्राणी का सुख और दुःख अपना-अपना अलग है',
यह जानकर तथा 'वीर्य एवं शक्ति अभी समाप्त नहीं हुई है'
पण्डित पुरुष ऐसा विचार कर अवसर को जानकर धर्म का
आचरण करे ।

जब तक श्रोत्र-प्रज्ञान, नेत्र-प्रज्ञान, घ्राण-प्रज्ञान, रसना-
प्रज्ञान और स्पर्श-प्रज्ञान परिपूर्ण है, इन अनेक प्रकार की शारी-
रिक शक्तियों के परिपूर्ण रहते हुए आत्महित के लिए सम्यक्
प्रकार से प्रयत्नशील बने ।

समत्तदंशी का पराक्रम—

७६८. मुनि संयम स्वीकार कर कर्म-शरीर को प्रकम्पित करे
अर्थात् कर्म क्षय करने में पुरुषार्थ करे । यह जानकर समत्तदंशी
वीर नीरस और रुक्ष आहार आदि का सेवन करते हैं ।

संसार समुद्र को पार करने वाला मुनि तीर्ण, मुक्त और
विरत कहलाता है ।

हे आर्य ! तू इस संसार में जन्म और जरा के दुःखों को
देख ! तथा सभी जीवों के विषय में जान कि वे सभी सुख ही
चाहते हैं । अतः मोक्ष मार्ग को जानकर समत्तदंशी विद्वान् मुनि
किसी भी पाप कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है ।

योगी के लिए भला क्या अरति (शोक) है और क्या
आनन्द है ? इन दोनों अवस्थाओं से रहित होकर विचरण करे ।
वह सभी प्रकार के हास्य आदि का त्याग करके इन्द्रियनिग्रह
तथा मन-वचन-काया को गुप्त करते हुए विचरण करे ।

मुक्तात्मा का स्वरूप—

७६९. जिसे तुम परम तत्व में स्थित जानते हो, उसे मोक्ष मार्ग
में स्थित जानो । जिसे तुम मोक्ष मार्ग में स्थित जानते हो उसे
ही परम तत्व में स्थित जानो ।

वीर पुरुष का पराक्रम—

८००. वह वीर प्रशंसा के योग्य है, जो कर्मों से बंधे हुए मनुष्यों
को मुक्त करता है ।

वह कुशल साधक ऊँची दिशा, नीची दिशा और तिरछी
दिशाओं में सब प्रकार के समग्र विवेक के साथ चलता है । वह
वीर हिंसा आदि पाप स्थान से लिप्त नहीं होता ।

जे खलु भो ! वीरा समिया सदा जया संघडवसिणो आतो-
वरता अहा तथा सोगं उवेहमाणा पाईणं पडीणं दाहिणं
उवीणं इय सच्चंसि परिविचिद्धिसु । साहिस्तामो णाणं वीराणं
समियाणं सहियाणं सदा जयाणं संघडवसीणं आतोवरताणं
अहा तथा सोगमुवेहमाणाणं ।

प०—किमस्ति उवाही पासगस्स ण विज्जति ?

उ० णत्थि । —आ. सु. १, अ. ४, उ. ४, सु. १४६
आधीलए पवीलए णिप्पीलए जहिस्ता पुब्बसंजोगं हिंवा
उवसमं ।

तन्हा अविमणे वीरे सारए समिए सहिए सदा जए ।

बुरणुचरो मग्गो वीराणं अणियट्टमासीणं, विणिच्च मंस
सोणितं ।

एस पुरिसे दविए वीरे आयाणिज्जे विद्याहिते जे सुणाति
समुत्सयं वसिस्ता बंभचेरति ।

—आ. सु. १, अ. ४, उ. ४, सु. १४३

कोहाइमाणं हुणिया य वीरे,
लोभस्स पासे निरयं महंतं ।

तन्हा य वीरे विरते बहाओ,
छिद्विज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥

मंभं परिणाय इहज्ज वीरे,
सोयं परिणाय चरेज्ज वन्ते ।

उप्पुमा लहुं इह माणवेहि,
जो पाणिणं पाणे समारंभेज्जाति ॥

—आ. सु. १, अ. ३, उ. २, गा. १२०-१२१

तन्हा ववि इवस्स पंडिए,
पावाओ विरतेज्जनिज्जुबे ।

पणया वीरा महावीहि,
सिद्धिपहं जेयाजयं धुवं ॥

वेतालियमग्गमागओ, मणं वयसा काएण संबुडो ।
खेज्जा विसं च पायओ, आरंभं च सुसंबुडे चरेज्जाति ॥

—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. २१-२२

“हे आर्यो ! जो साधक वीर हैं, पांच समितियों से सम्पन्न
हैं, ज्ञानादि से सहित हैं, सदा संयत हैं, सतत जागरूक हैं, पापों
से उपरत हैं, यथान्वस्थित लोक के स्वरूप को देखते हैं, पूर्व,
पश्चिम, दक्षिण और उत्तर सभी दिशाओं में सर्वत्र सत्य (संयम)
में स्थित हैं, उन वीर समित, सहित, सदा यतनाशील, सतत
जागरूक, पापों से उपरत, लोक के यथार्थ द्रष्टा ज्ञानियों के
सम्यक् ज्ञान की हम भी आराधना करेंगे” ऐसा साधक विचार
करे ।

प्र०—सत्यद्रष्टा वीर के कोई उपाधि होती है या नहीं ?

उ०—उसके कोई उपाधि नहीं होती है ।

मुनि पूर्व संयोग का त्याग कर संयम स्वीकार करके पहले
कर्म व शरीर का आपीडन करे, फिर प्रपीडन करे और तदनन्तर
निष्पीडन करे अर्थात् उत्तरोत्तर तप वृद्धि करे ।

इसलिए वीर मुनि सदा विषयों के प्रति रति और शोक से
मुक्त आत्मरत समितियों से मुक्त और ज्ञानादि से सहित होकर
सदा संयम में यत्न करे ।

मोक्षगामी वीर पुरुषों के मार्ग पर चलना कठिन होता है ।
अतः हे शिष्य ! तू तपश्चर्या के द्वारा मांस और खून को
सुखा दे ।

जो साधक संयम स्वीकार कर कर्म क्षय करने में पुरुषार्थ
करता है वही पुरुष मोक्षार्थी वीर और संयमवान् कहा जाता है ।

वीर पुरुष कषाय के आदिभूत अंग क्रोध और मान को नष्ट
करे । लोभ को महान नरक के रूप में देखे । अतः लघुभूत मोक्ष-
गामी वीर हिंसा से विरत होकर विषय-वासना रूप आश्वय
स्थानों को छिन्न-भिन्न कर डाले ।

वीर पुरुष इस लोक में राग-द्वेष आदि कर्म बन्ध के कारणों
को अपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से तत्काल ही छोड़
दे, इसी प्रकार इन्द्रिय विषयों को भी जानकर दमितेन्द्रिय बन
कर संयम में विचरण करे । इस मनुष्य जन्म में ही जीव को
कर्मों से उन्मुक्त होने का अवसर मिलता है । अतः प्राणियों के
प्राणों का संहार आदि सावध कार्य न करे ।

इसलिए राग-द्वेष रहित पण्डित मुनि गुण दोषों का विचार
कर पाप से विरत और कषायों से उपशान्त हो जाए । वीर
पुरुष लक्ष्य तक ले जाने वाले उस आश्वय महापथ के प्रति
उद्यमशील होते हैं जो कि सिद्धि का मार्ग है ।

कर्मों का नाश करने वाले संयम मार्ग को प्राप्त कर मुनि
मन, वचन और काया से सर्वत होकर धन स्वजन और आरम्भ
का सम्पूर्ण त्याग कर संयम में ही विचरण करे ।

सुस्पृशमाणो जवासेज्जा, सुप्पण्णं सुत्तवस्सियं ।
वीरा जे अत्तपण्णेसी, धितिमंता जित्तिदिया ॥
गिहे वीरमपस्संता, पुरिसावाणिमा नरा ।
ते वीरा बंक्षणुम्मुक्का, नावकंखति जीवितं ॥

—सुय. सु. १, अ. ६, गा. २३-२४

दुक्खं लोगस्स जाणित्ता, बंता लोगस्स संजोगं, जंति वीरा
महाजाणं । परेण परं जंति, नावकंखति जीवितं ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ४, सु. १२६

भिक्षुस्स परक्कमं --

८०१. पारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा,

कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू ।

बुक्खेण पुट्ठे धुयमातिएज्जा,

संगमसीसे व परं दमेज्जा ॥

अब्बि हम्ममाणे फत्तवावतट्ठी,

समागमं कंखति अंतगस्स ।

जिक्खुय कम्मं ण पवंचुवेति,

अवसव्वए वा सगगं ति जेमि ॥

—सुय. सु. १, अ. ७, गा. २६-३०

आयगुत्त भिक्खुस्स परक्कमं—

८०२. भिक्खुं च कल्लु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहक्ख गंथा
फुसंति से हंता हणह, खणह, छिक्खह, वहह, पक्खह, आलुंणह,
बिलुंणह, सहसक्कारेह, विप्पराभुसह । ते फासे पुट्ठो धीरो
अहियासए ।

अनुवा आयाग्गोयरमाइक्खे तविकयाणभणेलिसं । अनुवा वड-
गुत्तीए गोयरस्स अणुपुब्बेण सम्मं पडिसेहाए आयगुत्ते बुद्धेहि
एयं पवेदितं ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. २, सु. २०६

अप्पमत्तो कामेहि उवरतो पावकम्मेहि, वीरे आयगुत्ते खेयण्णे,

जे पज्जवजायसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे । जे
असत्थस्स खेयण्णे से पज्जवजायसत्थस्स खेयण्णे ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. १, सु. १०६

जो आत्मप्रज्ञा के अन्वेषी, धृतिमान और जितेन्द्रिय वीरमुनि
हैं वे प्रज्ञावान तपस्वी गुरु की सेवा भक्ति युक्त उपासना करें ।

गृहवास में प्रकाश न देने वाले मनुष्य प्रव्रजित होकर पुरुषा-
दानीय (आदर्शीय पुरुष) हो जाते हैं । वे वीर मनुष्य बन्धन से
मुक्त हो जाते हैं और कभी असंयमी जीवन की इच्छा नहीं करते ।

लोक के दुःखों को जानकर वीर साधक लोक संयोगों का
परित्याग कर मोक्षपथ को प्राप्त करते हैं । वे आगे से आगे
बढ़ते जाते हैं, किन्तु असंयम जीवन की आकांक्षा नहीं करते ।

भिक्षु का पराक्रम—

८०१. मुनि संयम-भार को वहन करने के लिए भोजन करे ।
पाप से सदा दूर रहने की इच्छा करे । दुःख से स्पृष्ट होने पर
शांति रखते हुए संयम का आनरण करे, कुछ भूमि में जैसे सुभट
पुरुष शत्रु के योद्धा का दमन करता है, उसी तरह साधु कर्म
रूपी शत्रु का दमन करे ।

किसी के द्वारा सारे जाने पर भी काष्ठ पलक की भाँति
रहकर मुनि पण्डित मरण की आकांक्षा करता है । वह कर्मों को
क्षीण कर जन्म-मरण के प्रपंच से छूट जाता है । जैसे कि धुरा
के टूट जाने पर भाड़ी का गमनागमन रुक जाता है ।

आत्मगुप्त भिक्षु का पराक्रम—

८०२. भिक्षु से पूछकर या बिना पूछे ही बग़ाए हुए आधाकर्मों
आहार के न लेने पर कोई गृहस्थ भिक्षु को कदाचित् रस्ती
आदि से बांध दे और आक्रोश में आकर नौकर आदि से कहे
कि—'इस को पीटो, घायल कर दो, हाथ-पैर आदि अंग काट
डालो, इसे जला दो, इसका मांस पकाओ, इसके वस्त्रादि छीन
लो, इसका सब कुछ लूट लो, जल्दी ही इसे मारो, इसे अनेक
प्रकार से पीड़ित करो', उन दुःख रूप कष्टों के आ पड़ने पर
धैर्यवान मुनि उन्हें समभाव से सहन करे ।

आत्मगुप्त मुनि उस पुरुष की योग्यता का विचार कर उसे
साध्व्याचार समझावे अथवा अनुपम धर्म का स्वरूप समझावे ।
योग्य न हो तो मौन पूर्वक रहे । इस प्रकार अनुक्रम से पर्या-
लोचना करते हुए एषणा समिति का सम्यक् रूप से पालन करे ।
ऐसा तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया है ।

जो काम भोगों के प्रति अप्रमत्त है और पापकर्मों से उपरत
है वह पुरुष वीर आत्मगुप्त और खेदज होता है ।

जो शब्दादि विषयों की विभिन्न पर्यायों से होने वाले
असंयम को जानता है वह संयम-स्वरूप को जानता है जो संयम
के स्वरूप को जानता है वह विषयों की विभिन्न पर्यायों से होने
वाले असंयम को जानता है ।

पुरिता ! असाणमेव अभिणिगिज्ज, एवं बुक्खा पमोक्खसि ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ३, सु. १२६

इमेव चेव जुज्झाहिं, किं ते जुज्झेण वज्जसतो ?

जुज्झारिहं अक्षु बुक्खभं । जहेत्थ कुसलोहिं परिण्णाविधेये भासिते ।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. ३, सु. १५६

संभवत्थ संमत्तं पावं ! तमेव उवातिकम्म एस मंहं विवेके विद्याहिते । —आ. सु. १, अ. ५, उ. १, सु. २०२ (क-स्त)

से ह एगे संविद्धपहे मुणी अण्णहा लोगमुवेहमाणे ।

इति कम्मं परिणाय सञ्चसो ! से ण हिंसति, संगमहे, गो पगमति, उवेहमाणे पत्तेयं सातं, वण्णाएसी णारमे कञ्चणं सञ्चलोए ।

एगप्पमुहे विदित्तपत्तिणो णिविण्णायारी अरसे पयामु ।

से असुमं सञ्चसमण्णागत पण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं तं णो अण्णेसी ।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. ३, सु. १५६-१६०

अप्पा चेव दमेयस्सो, अप्पा ह ललु बुद्धो ।
अप्पा वसो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥

वरं मे अप्पा वन्तो, संजमेण तवेण य ।

मार्हं परेहि वसन्तो बन्धणेहि वहेहि य ॥

—उत्त. अ. १, सु. १५-१६

मेधावी मुनिस्त पराक्रम—

८०२. सङ्खी आणाए मेधावी ।

लोगं च आणाए अभित्तमेच्छा अकुतोभयं ।

अत्थि सत्थं परेण परं, णत्थि असत्थं परेण परं ।

जे कोह्वंसी से माणवंसी,

जे माणवंसी से मायावंसी ।

जे मायावंसी से लोमवंसी ।

हे पुरुष ! तू अपनी आत्मा का ही निग्रह कर ऐसा करने से तू दुःख से मुक्ति प्राप्त कर सकेगा ।

इस कर्म-शरीर के साथ ही युद्ध कर, दूसरों के साथ युद्ध करने में तुझे क्या मिलेगा ?

भाव युद्ध के योग्य मनुष्य शरीर प्राप्त होना अवश्य ही दुर्लभ है । इस जिन शासन में तीर्थंकरों ने जिस प्रकार से परिज्ञा और विवेक बताये हैं ।

पाप सर्वत्र सम्मत है मैं उसी पाप का निकट से अतिक्रमण करके स्थित हूँ यह मेरा विवेक कहा गया है ।

वास्तव में वही मुनि मोक्षपथ पर प्रगतिशील होता है जो वीतराग मार्ग से विपरीत आचरण करने वाले लोगों की उपेक्षा करता रहता है ।

इसी प्रकार कर्मों और कारणों को सम्यक् प्रकार से जान कर भिक्षु किसी प्रकार की हिंसा नहीं करता और संयम का आचरण करता है पाप कार्य में घृष्टता नहीं करता, प्रत्येक प्राणी के सुख का विचार करते हुए संयम का इच्छुक मुनि समस्त लोक में कुछ भी धारम्भ न करे ।

वह एक मात्र मोक्ष को चाहने वाला संसार मार्ग से प्रतीर्ण और विरक्त होकर विचरने वाला मुनि स्त्रियों के प्रति अनासक्त रहे ।

विशिष्ट प्रज्ञावान संयमधारी मुनि के लिए अन्तःकरण से पाप कर्म अकरणीय है, अतः साधक उनका अन्वेक्षण न करे ।

आत्मा का ही दमन करना चाहिए क्योंकि आत्मा का दमन करना बड़ा कठिन है आत्म दमन करने वाला ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है ।

अच्छा प्रहो है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूँ दुमरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नहीं है ।

मेधावी मुनि का पराक्रम—

८०३. वीतराग की आज्ञा में श्रद्धा रखने वाला मेधावी होता है ।

वह जिनवाणी के अनुसार षट्जीवनिकाय रूप लोक को जानकर पूर्ण अभयदाता हो जाता है ।

शस्त्र (असंयम) एक से एक बढ़कर तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होता है किन्तु अशस्त्र (संयम) एक से एक बढ़कर नहीं होता अर्थात् वह एक रूप होता है ।

जो क्रोधदर्शी होता है, वह मानदर्शी होता है,

जो मानदर्शी होता है, वह मायादर्शी होता है,

जो मायादर्शी होता है, वह लोभदर्शी होता है ।

जे लोभवंसी से पेज्जवंसी,
जे पेज्जवंसी से दोसवंसी,
जे दोसवंसी से मोहवंसी,
जे मोहवंसी से गर्भवंसी,
जे गर्भवंसी से जन्मवंसी,
जे जन्मवंसी से मारवंसी,
जे मारवंसी से निरयवंसी,
जे निरयवंसी से तिरियवंसी,
जे तिरियवंसी से दुक्खवंसी ।

से मेहावी अभिनिवट्टेज्जा कोहं च, माणं च, मायं च, लोभं
च, पेज्जं च, दोसं च, मोहं च, गर्भं च, जन्मं च, मारं च,
निरयं च, तिरियं च, दुक्खं च ।

एयं पासगस्स वंसण उवरयसत्थस्स एतियंतकरस्स,

आयाणं निसिद्धा सगडम्मि,

५०—किसत्थि उवाही पासगस्स, ण विज्जति,

उ०—णत्थि ।—आ. सु. १, अ. ३, उ. ४, सु. १२६-१२९

वट्ठं च खलु पावं कम्मं पगडं ।

सच्चंमि धिति कुब्बह । एत्थोवरह मेहावी सच्चं पावं कम्मं
सोसेति । —आ. सु. १, अ. ३, उ. २, सु. ११६-११७

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि । सच्चस्स आणाए उव-
ट्ठिए से मेहावी मारं तरति ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ४, सु. १२७

जे सहं अबहिमणे ।

पवाएण पवायं जाणेज्जा सहसम्मुद्धयाए परागरणेणं अण्णोति
वा अंतिए सोच्चा ।

णिद्वेसं नातिवलेज्ज मेहावी,

सुपडिलेहिय सध्वओ सव्वताए सम्ममेव समभिजाणिया ॥

इह आरामं परिणाय अल्लोणगुत्तो परिक्खए निट्ठियट्ठी कीरे
आगमेणं सदा परवकमेज्जासि ।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. ६, सु. १७२-१७३

अकम्मस्स व्यवहारो ण विज्जति ।

कम्मुणा उवाही जायति ।

जो लोभदर्शी होता है, वह रागदर्शी होता है,
जो रागदर्शी होता है, वह द्वेषदर्शी होता है,
जो द्वेषदर्शी होता है, वह मोहदर्शी होता है,
जो मोहदर्शी होता है, वह गर्भदर्शी होता है,
जो गर्भदर्शी होता है, वह जन्मदर्शी होता है,
जो जन्मदर्शी होता है, वह मृत्युदर्शी होता है,
जो मृत्युदर्शी होता है, वह नरकदर्शी होता है,
जो नरकदर्शी होता है, वह तिर्यचदर्शी होता है,
जो तिर्यचदर्शी होता है, वह दुःखदर्शी होता है ।

वह मेधावी क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, मोह, गर्भ,
जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यच और दुःख को छोड़ दे ।

यह समस्त कर्मों का अन्त करने वाले, हिंसा आदि असंयम
से उपरत एवं निरावरण द्रष्टा तीर्थंकर भगवान का उपदेश है ।

जो पुरुष कर्म बन्ध के कारणों को गोक देता है, वही स्व-
कृत कर्मों का भेदन कर पाता है ।

प्र०—क्या सर्व-द्रष्टा को कोई उपाधि होती है या नहीं ?

उ०—नहीं होती है ।

इस जीव ने भूतकाल में अनेक प्रकार के पापकर्मों का बन्ध
किया है ।

अतः धैर्य रखते हुए संयम पालन करते रहना चाहिए ।
संयम में लीन रहने वाला मेधावी समस्त पापकर्मों का क्षय कर
डालता है ।

हे पुरुष ! तू सत्य को ही भलीभाँति समझ । सत्य की आज्ञा
में उपस्थित रहने वाला मेधावी संसार को पार कर लेता है ।

जो महान होता है, उसका मन बाहर नहीं होता ।

पूर्वजन्म की स्मृति से, तीर्थंकर से प्रश्न का उत्तर पाकर
या किसी अतिशय ज्ञानी से सुनकर तीर्थंकरों के वचन से विभिन्न
दार्शनिकों के वाद को जानना चाहिए ।

मेधावी भगवदाज्ञा का अतिक्रमण न करे ।

किन्तु सब प्रकार से भली भाँति विचार करके सम्पूर्ण रूप
से सम्यक् पालन करे ।

इस जिनशासन में संयम की स्वीकार कर सर्व प्रकार से
आत्मगुप्त होकर विचरण करे, तथा मोक्षाभिलाषी वीर मुनि
सदा आगम निर्दिष्ट आदेश के अनुसार ही पराक्रम करे ।

कर्मों से मुक्त आत्मा के लिए कोई व्यवहार अर्थात् संसार
भ्रमण नहीं होता ।

संसार भ्रमण रूप उपाधि (दुःख) कर्म से ही होती है ।

कर्मं च पङ्क्तिहाए कम्ममूलं च जं छणं, पङ्क्तिहेहियं सव्वं
समायाय वोहि अंतेहि अवित्तमाणे ।

तं परिणाय मेहावी विदित्ता लोभं अंता लोसणं से सत्तिम
परवकमेज्जासि ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. १, सु. ११०-१११

महेस्सिस्स परवकर्म—

८०४. अवरेण पुब्बं ण सरंति एगे,

किम्मस्स तीतं किं वाऽऽगमिस्सं ?

मासंति एगे इह माणवा तु,

अस्मस्स तीतं तं आगमिस्सं ॥

यातीतमहुं ण य आगमिस्सं,

अट्ठं णियच्छंति तथागता उ ।

विधूतकप्पे एताणुपस्सी,

णिज्झोसहत्ता खण्णे महेसी ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ३, सु. १२४

परिग्रहं परिच्छाए अपमत्तस्स परवकर्म—

८०५. से सुपडिबुद्धं सुवणीयं ति भव्वा पुरिसा ! परमवक्खू !
विपरिवक्खम । एतेसु चैव बंभवेरं ।

से सुतं च मे अज्झत्थं च मे—“बंभपमोक्खो अज्झत्थेव ।”

एत्थ विरत्ते अणगारे दीहरायं तित्तिक्खए ।

पमत्ते बहिया पास, अपमत्तो परिक्खए ।

एयं मोषं सम्भं अणुवासेज्जासि ।

—आ. सु. १, अ. ४, उ. २, सु. १५५-१५६

कम्म भेयणे परवकर्म—

८०६. से वंता कोहं च, माणं च, मायं च, लोभं च, एवं पासगस्स
वंसणं उव्वरतसत्थस्स पत्तिवतंकरस्स, आयाणं सगडविम ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ४, सु. १२८

अतः कर्म का भली भाँति परालोचन करे तथा कर्म का मूल
हिंसा आदि है, उनका भी भली भाँति निरीक्षण करके संयम
ग्रहण करे तथा राग और द्वेष दोनों से दूर होकर रहे ।

इस प्रकार सम्यक् परिज्ञान कर सतिमान साधक लोक को
जानकर लोकसंज्ञा का त्याग करके संयम तप में सम्यक् पराक्रम
करे ।

महर्षि का पराक्रम—

८०४. कुछ अज्ञानी पूर्व या पश्चात् काल का स्मरण नहीं करते ।
वे इसकी चिन्ता नहीं करते कि—‘इसका अतीत क्या था,
भविष्य क्या होगा ?’ नाशक मूल भविष्य में आत्मा के अस्तित्व
को स्वीकार नहीं करते ।

कुछ अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि—‘जो अतीत में जैसा होता
है भविष्य में भी वैसा ही बनता है’ किन्तु सर्वज्ञों का सिद्धांत यह
है कि ‘अतीत की अवस्था वर्तमान में होने का और वर्तमान की
अवस्था ही भविष्य में होने का नियम नहीं है अर्थात् कर्मानुसार
अवस्था परिवर्तित होती है ।’ इस सिद्धांत का विचार कर विधूत
कल्प (संयम) में उपस्थित महर्षि सम्पूर्ण कर्म क्षय कर मोक्ष प्राप्त
करता है ।

परिग्रह के परित्याग में अप्रमत्त का पराक्रम—

८०५. वह परिग्रह से विमुक्त मुनि सम्यक् प्रकार से प्रतिबुद्ध है
उसी का संयम परिपुष्ट है वह जानकर, हे परम चक्षुष्मान
पुरुष ! तू परिग्रह त्याग में सम्यक् पराक्रम कर, ऐसा पराक्रम
करने वाले में ही ब्रह्म-र्य (संयम) स्थित रहता है ।

मैंने सुना है और अनुभूत किया है कि ‘बन्धन से मुक्ति
संयमी आत्मा द्वारा ही सम्भव है ।’

इस परिग्रह से विरत अनगार परीषहों को जीवन पर्यन्त
सहन करे ।

जो प्रमत्त है, उन्हें निर्ग्रन्थ धर्म से बाहर समझ । अतएव
मुनि अप्रमत्त होकर संयम में विचरण करे ।

इस प्रकार पराक्रम द्वारा मुनि धर्म का सम्यक् पालन करे ।

कर्म भेदन में पराक्रम—

८०६. संयमनिष्ठ मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का वसन
करे, हिंसा से उपरत तथा समस्त कर्मों का अन्त करने वाले
सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर प्रभु का यह वचन है कि—‘जो कर्म
बन्ध के कारणों का निरोध करता है, वही स्वकृत कर्मों का नाश
करने वाला है ।’

कषाय पयण करने परवकमो -

८०७. इह अणाकंखी पंडिते अणिहे, एगमप्याणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं । जहा जुसाइं कट्ठाइं हव्वथाहो पमत्थत्ति एवं अत्तसमाहिते, अणिहे ।

विभिन्न कोहं अविकंपमाणे, इमं निरुद्धाउयं संपेहाए । दुक्खं च जाण अदुवा गमेस्सं, पुढो फात्ताइं च फासे । लोयं च पास विप्फंदमाणं ।

जे निध्वुडा पायेहि कम्मेहि, अणिदाणा ते विद्याहिता । तम्हाइतिविज्जो णो पडिसंजलेज्जासि ।

—आ. सु. १, अ. ४, उ. ३, सु. १४१-१४२

बंधन विमुक्ति परवकमं—

८०८. बुद्धिअज्ज तिउट्टेज्जा, बंधणं परिजाणिया । किमाह बंधणं वीरे ? कि वा जाणं तिउट्टई ॥

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्ज कितामवी । अन्नं वा अणुजाणाति, एवं दुक्खा ण मुच्छई ॥

सपं तिवायए पाणे, अदुवा अण्णेहि धायए । हणंतं वाणुजाणाइ, वेरं अट्ठेति अप्पणो ॥

जस्सि कुले समुप्पन्ने, जेहि वा संवसे णरे । ममाति लुप्पती भाले, अन्नमन्नेहि मुच्छिइ ॥

चित्तं सोयरिया चेष, सखमेतं न ताणए । संखाए जीवियं-चेव, कम्मणा उ तिउट्टति ॥

एए गंघे चित्तकम्म, एगे समण-माहणा । अयाणंता विउत्तिसता, सत्ता कामेहि माणया ॥

—सूय. सु. १, अ. १, उ. १, शा. १-६

कषायों को कृश करने का पराक्रम—

८०७. इस वीतराग आज्ञा का आकांक्षी पण्डित मुनि अनासक्त होकर एकमात्र आत्मा को देखता हुआ कर्मण शरीर को प्रकम्पित कर डाले । अपने कषाय-आत्मा को कृश करे, जीर्ण कर डाले । जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को क्षीघ्र जला डालती है, वैसे ही समाहित आत्मा स्नेह रहित होकर तप रूप अग्नि से कर्म-शरीर को जला कर नष्ट कर डाले ।

मनुष्य जीवन अल्पायु है यह विचार करता हुआ साधक स्थिरचित्त होकर क्रोध का त्याग करे । वर्तमान में अथवा भविष्य में क्रोध से उत्पन्न होने वाले दुःखों को जाने । क्रोधी पुरुष भिन्न-भिन्न नरकादि में विभिन्न दुःखों का अनुभव करता है । संसार के प्राणी दुःखों से संवस्त होकर इधर-उधर भटक रहे हैं उन्हें तू देख !

जो पुरुष पापकर्मों से निवृत्त है, वे अनिदान (दुःख रहित) कहे गये हैं । इसलिए विद्वान् पुरुष ! विषय-कषाय की अग्नि से प्रज्वलित न होवे ।

बन्धन से मुक्त होने का पराक्रम—

८०८. बोधि को प्राप्त करो और बन्धन को जानकर उसे तोड़ डालो । शिष्य पूछता है कि—'महावीर स्वामी ने बन्धन किसे कहा है ? किस तत्त्व को जान लेने पर उसे तोड़ा जा सकता है ?'

जो मनुष्य चेतन या अचेतन पदार्थों में तनिक भी परिग्रह-बुद्धि रखता है और दूसरों के परिग्रह का अनुमोदन करता है वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता ।

जो परिग्रही मनुष्य प्राणियों का स्वयं हनन करता है, दूसरों से हनन करवाता है अथवा हनन करने वाले का अनुमोदन करता है वह अपने बंधन को बढ़ाता है ।

जो मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न होता है और जिनके साथ निवास करता है वह उनमें ममत्व रखता है । इस प्रकार परस्पर होने वाली भूच्छा से भूच्छित होकर वह अज्ञानी नष्ट होता रहता है ।

धन और भाई-बहन ये सब रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं तथा जीवन भी क्षणभंगुर है यह जानकर मनुष्य कर्म के बन्धन को तोड़ डालता है ।

कुछ श्रमण ब्राह्मण इन उक्त धन-परिवार का परित्याग कर देते हैं किन्तु विरति और अविरति के स्वरूप को नहीं जानते हुए भी गर्व करते हैं । वे अज्ञानी पुरुष कामभोगों में आसक्त हो जाते हैं ।

लोगविष्णु एव अत्तविष्णु -

८०६. लोगं च प्राणाए अबिसमेज्जा अकुतोभयं ।

से बेमि-मेध सयं लोगं अबिसमेज्जा, पेज अत्ताणं अबिस-
मेज्जा ।

जे लोगं अबिसमेज्जा से अत्ताणं अबिसमेज्जा, जे अत्ताणं
अबिसमेज्जा से लोगं अबिसमेज्जा ।^१

—आ. सु. १, अ. १, उ. ३, सु. २२

आयावाइस्स सम्मं परक्कमं—

८१०. जे आया से विज्जाता, जे विज्जाता से आया ।

जेण विज्जाणंति से आया ।

तं पडुक्ख पडिसंखाए ।

एस आयावादी समियाए परियाए विमहिस्से ।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. ५, सु. १७१

णाणाइ सहियस्स परक्कमं—

८११. सहित्ते धम्ममादाय सेयं समणुपस्सति ।

बुहतो जीवियस्स परिवंदण-भाणण-पूयणाए अंसि एगे
पमायंति ।

सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो संखाए ।

पासिमं दविए लोगालोगपबंवातो मुच्चति ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ३, सु. १२७

समाही कामी समणस्स परक्कमं—

८१२. जहा य अण्हण्णमवा बलाया, अण्हं बलागण्णमवा जहा य ।

एमेव मोहायतणं खु तण्हं, मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥

रागो य दोसो वि थ कम्मवीयं, कम्मं च मोहण्णमवा वयन्ति ।

कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति ।

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,

मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।

तण्हा हया जस्स न होइ सोहो,

लोहो हओ जस्स न किज्जणाई ॥

लोकज्ञ ही आत्मज्ञ—

८०६. मुनि अप्काय रूप लोक को भगवान की आज्ञा से जानकर
उन्हें किसी भी प्रकार का भय उत्पन्न न करे ।

मैं कहता हूँ—‘मुनि स्वयं अप्कायिक जीवों के अस्तित्व का
निवेध न करे । न अपनी आत्मा का अपलाप करे ।’

जो अप्काय रूप लोक का अपलाप करता है, वह वास्तव
में अपना ही अपलाप करता है । जो अपना अपलाप करता है,
वह अप्काय रूप लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है ।

आत्मवादी का सम्यक् पराक्रम—

८१०. जो आत्मा है वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वही आत्मा
है, क्योंकि स्व-पर को जानता है इसलिए वह आत्मा है ।

उस ज्ञान की विभिन्न परिणतियों की अपेक्षा से आत्मा की
पहचान होती है ।

इस प्रकार जो आत्म स्वरूप का ज्ञाता है उसी का संयम
पर्याय सम्यक् कहा गया है ।

ज्ञानादि से युक्त मुनि का पराक्रम—

८११. ज्ञानादि से युक्त साधक धर्म को ग्रहण करके आत्म हित
का सम्यक् प्रकार से अवलोकन करता है ।

राग और द्वेष से कलुषित कई एक प्राणी जीवन निर्वाह के
लिये वन्दना सम्मान और पूजा के लिए हिंसादि प्रमाद कार्यों में
प्रवृत्ति करते हैं ।

ज्ञानादि से युक्त साधक दुःख के अनेक प्रसंग उपस्थित होने
पर व्याकुल नहीं होता ।

अतः हे शिष्य ! तू देख कि—‘ऐसा संयमी साधक इस भव
और परभव के समस्त प्रपंचों से मुक्त हो जाता है ।’

समाधि के इच्छुक श्रमण का पराक्रम—

८१२. जैसे बगुली अण्डे से उत्पन्न होती है और अण्डा बगुली से
उत्पन्न होता है उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और
मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है : ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं ।

राग और द्वेष ये दोनों ही कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से
उत्पन्न होता है और कर्म ही जन्म मरण का मूल है । जन्म-
मरण ही दुःख का मूल है ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं ।

जिसके मोह नहीं हैं उसने दुःख का नाश कर दिया । जिसके
तृष्णा नहीं हैं उसने मोह का नाश कर दिया । जिसके लोभ नहीं
हैं उसने तृष्णा का नाश कर दिया । जिसके पास कुछ भी परिग्रह
नहीं है उसने लोभ का नाश कर दिया ।

रागं च दोषं च तद्द्वेष भोहं, उद्धतुकामेण समूलजातं ।
जे जे उशया पडिबजियववा, ते कितइस्सामि अहाणुपुड्वि ॥

—उत्त. अ. ३२, गा. ६-६

जे इन्द्रियार्थं विसया मणुष्सा,
न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।
न या मणुन्नेसु मणं पि कुज्जा,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥

—उत्त. अ. ३२, गा. २१

संजमे परक्कंतस्स विमुत्ति—

८१३. एवं संसंकल्प-विकल्पणासुं,

संजायई समयमुवट्ठियस्स ।

अत्थे य संकल्पधमो तवो से,

एहीए कामगुणेषु तण्हा ॥

स वीयरगो कयसव्वकिण्णो, खवेइ नाणावरणं खण्णेण ।

तद्द्वेष जं वंसणमावरेइ ज अन्तरायं एकरेइ कम्मं ॥

सव्वं तवो जाणइ पासए य,

अमोहणे होइ निरन्तराए ।

अणासवे शाणसमाहिजुत्ते,

आउवखए मोक्खसुवेइ सुद्धे ॥

सो तस्स सव्वस्स बुहस्स मुक्को,

जं बाहइ सधर्यं जन्तुमेयं ।

बोहामयविप्पमुक्को पसस्यो,

तो होइ अच्चतसुही कयस्यो ॥

अणाहकालप्पसव्वस्स एसो,

सव्वस्स बुक्खस्स पमोक्खमग्गो ।

विवाहिओ जं समुविच्च सत्ता,

कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥

—उत्त. अ. ३२, गा. १०७-१११

णिम्ममो निरहंकारो, वीतरागो अणासवो ।

संपत्तो केवलं णाणं, सासयं परिणिव्वुडे ॥

—उत्त. अ. ३५, गा. २१

तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।

परीसहे जिणंतस्स, सुत्तहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥

—दस. अ. ४, गा. २७

अणुत्तरे य ठाणं से,

कासवेण पवेदिते ।

जं किप्पवा निव्वुत्ताएणे,

णिद्धं पार्वेति पडिया ॥

राग-द्वेष और मोह का समूल उन्मूलन चाहने वाले मुनि को जिन-जिन उपायों को स्वीकार करना चाहिए उन्हें मैं क्रमशः कहूंगा ।

समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं उनमें कभी भी राग न करे और अमनोज्ञ विषयों में मन से भी द्वेष न करे ।

संयम में पराक्रम करने वाले की मुक्ति—

८१३. इस प्रकार राग-द्वेषात्मक संकल्प-विकल्पों से निवृत्त होने पर मन में समता उत्पन्न होती है तथा इन्द्रिय विषयों के प्रति संकल्प-विकल्प के न रहने से काम गुणों में होने वाली तृष्णा भी नष्ट हो जाती है ।

फिर वह वीतराग बना हुआ जीव पूर्ण कृतकृत्य होकर क्षण भर में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय-कर्म का क्षय कर देता है ।

तत्पश्चात् वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है तथा मोह और अन्तराय से रहित हो जाता है । अन्त में वह सम्पूर्ण आश्रय रहित होकर ध्यान के द्वारा समाधि में लीन बन कर कर्म मल से शुद्ध होकर आयुष्य का क्षय होते ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

वह मुक्त जीव संसार में प्राणियों को सतत पीड़ित करने वाले सम्पूर्ण दुःखों से रहित हो जाता है तथा दीर्घकालीन कर्म-रोग से वह मुक्त हो जाता है । वह प्रशस्त और कृतार्थ बना हुआ जीव अत्यन्त सुखी हो जाता है ।

अनादिकालीन समस्त दुःखों से मुक्त होने का यह मार्ग बताया गया है उसे स्वीकार कर जीव क्रमशः पुरुषार्थ कर शाश्वत सुखी हो जाते हैं ।

मुनि ममत्व और अहंकार से रहित बन कर आश्रय रहित हो जाता है, फिर वीतराग बनकर केवलज्ञान को प्राप्त कर शाश्वत मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है ।

जो श्रमण तपो-गुण से प्रधान, ऋजुमति, शांति तथा संयम में रत और परीयहां को जीतने वाला होता है उसके लिए सुगति सुलभ है ।

काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित संयम स्थान सबसे प्रधान है । जिस संयम की आराधना करके अनेक महापुरुष अपनी कषायग्नि बुझाकर शीतल बने हैं और वे पापभीरु मुनि संसार के अस्त को प्राप्त करते हैं ।

पंडिण् क्षीरियं लङ्गुं निगधापाय पवत्तनं ।
धुणे पुष्पकञ्चं कम्मं, णवं चावि णं कुब्बइ ॥

ण कुब्बई महावीरे,
अणुपुष्पकञ्चं रयं ।
रयसा संमूहीभूते,
कम्मं हेन्वाण जं मतं ॥

जं मतं सव्वसाहूणं,
तं मतं सत्तल्लत्तणं ।
साहूइत्ताण तं तिण्णा,
देवा वा अभविमु ते ॥

अभविमु पुरा वीरा, आगमिस्सा वि सुव्वया ।
दुण्णिबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउकरा तिण्णे ॥

—सूय. सु. १, अ. १५, गा. २१-२५

धम्मस्स परवकमट्ठा एलक दिट्ठन्तो—

८१४. जहाएसं समुद्दिस्स, कीइ पोसेज्ज एलयं ।
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्ज वि सयंगणे ॥

तओ से पुट्टे परिवूढे, जायमेए महोदरे ।
पोणिए चिउले वेहे, आएसं परिकंखए ॥
जाव न एह आएसे, ताव जीवइ से कुही ।
बह पत्तमि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई ॥
जहा से खलु उरब्भे, आएसाए समीहिए ।
एवं वाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं ॥

हिंसे वाले मुसावाई, अट्ठाणमि विलोवए ।
अध्वस्सहरे तेणे, माई कण्ठहरे सडे ॥

हरयोधिसयनिद्धे य, महारम्भपरिगहे ।
भुजभाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ॥

अयकवकरभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए ।
आउयं नरए कंखे, जहाएसं व एलए ॥

आसणं सयणं जाणं, वित्ते कामे य भुजिया ।
बुस्साह्वं धणं हिन्वा, बहं संचिणिया रयं ॥

कर्म को विदारण करने में समर्थ वीर्य को प्राप्त करके पण्डितसाधक पूर्वकृत कर्मों को नष्ट करे और नवीन कर्मवन्ध न करे ।

कर्म विदारण करने में समर्थ धर्मवीर अनादि काल से किये जाने वाले पापकर्म को नहीं करता है, वह पापकर्म पूर्वकृत पाप के प्रभाव से ही किया जाता है । परन्तु वह पुरुष अपने पूर्वकृत पापकर्मों को रोक कर मोक्ष के सम्मुख हो जाता है ।

समस्त साधुओं को मान्य जो संयम है, वह कर्मरूप शल्य को काटने वाला है । इसलिए अनेक साधक उस संयम की आराधना करके संसार सागर से पार हुए हैं अथवा वे देव हुए हैं ।

प्राचीनकाल में बहुत से वीर पुरुष हुए हैं और भविष्य में भी होंगे वे दुर्लभ सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग के अन्त को पाकर तथा दूसरों के सामने उस मार्ग को प्रकाशित करके संसार से पार हुए हैं ।

धर्म में पराक्रम के लिए एलक का दृष्टांत—

८१४. जैसे मेहमान के उद्देश्य से कोई बकरे का पोषण करता है । उसे चावल, मूंग, उड़द आदि खिलाता है और अपने घर के आंगन में ही उसका पालन करता है ।

इस प्रकार वह पुष्ट, बलवान, मोटा, बड़े पेट वाला, तृप्त और विपुल देह वाला होकर पाहुने की आकांक्षा करता है ।

जब तक पाहुना नहीं आता है तब तक ही वह बेचारा जीता है । पाहुने के आने पर वह मस्तक छेदन करके खाया जाता है ।

जैसे पाहुने के लिए निश्चित किया हुआ वह बकरा यथार्थ में उसकी आकांक्षा करता है, वैसे ही अधर्मिष्ठ अज्ञानी जीव वास्तव में नरक के आयुष्य की इच्छा करता है ।

हिंसक, अज्ञानी, मृषावादी, मार्ग में लूटने वाला, दूसरों की वस्तु को हरण करने वाला चोर, मायावी, किसका धन हरण करे—ऐसे विचार करने वाला धूर्त—

स्त्री और विषयों में मग्न महाभारम्भ और महापरिग्रह वाला, सुरा और मांस का उपभोग करने वाला, बलवान, दूसरों का दमन करने वाला ।

बकरे की भाँति कर्कर शब्द करते हुए मांस को खाने वाला, बड़े पेट वाला और उपचित सोही वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकांक्षा करता है जिस प्रकार मेमना पाहुने की ।

आसन, समय, यान, धन और विषयों को भोगकर दुःख से एकत्रित किये हुए धन का परित्याग कर बहुत कर्मों को संचित करता है ।

तओ कम्मगुठ जन्तु, पच्चुप्पपरायणे ।
अयं एव आगयाएसे, मरणंतम्मि सोयई ॥

तओ आउपरिक्खीणे, चुया देहा विहिसया ।
आसुरियं तिसं बाला, गच्छन्ति अवसा तमं ॥

—उत्त. अ. ७, गा. १-१०

धम्मस्स परक्कमट्ठा अंबकागिणी दिट्ठन्तो—

८१५ जहा कागिणिए हेउं, सहस्सं हारए नरो ।
अपत्थं अम्वगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥

एवं माणुस्सया कामा, देवकामाण अन्तिए ।
सहस्सगुणिया मुज्जो, आउं कामा य दिव्विया ॥

अणेगवासान्तया जा सा पन्नवओ ठिई ।
जाइं जीगन्ति दुम्मेहा, ऊणे वासतयाउए ॥

—उत्त. अ. ७, गा. ११-१३

धम्मस्स परक्कमट्ठा वणिग-दिट्ठन्तो—

८१६ जहा य तिप्पि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽस्थं तहईं लाहं, एगो मूलेण आगओ ॥
एगो मूलं पि हारिता, आगओ तत्थ वणिओ ।
वव्हारे उवसा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥
माणुसुत्तं भवे मूलं, सामो देवगईं भवे ।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिवत्तणं धुवं ॥

बुहओ गईं बालस्स, आषईं वहभूलिया ।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं लिए लोलयासवे ॥

तओ जिए सईं होइ, बुविहं सोयईं गए ।
बुत्तहा तस्स उम्मगा, बद्धाए सुचिरादवि ॥
एवं जियं सपेहाए, तुलिया बालं च पंडियं ।
मूलियं ते पवेसन्ति, माणुसं जोणिसेन्ति जे ॥

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुब्बया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिओ ॥

जेसिं तु विउत्ता सिक्खार, मूलियं ते अइच्छिया ।
सीलवन्ता सवितेसा, अवीणा जन्ति देवयं ॥

कर्मों से भारी बना हुआ एवं वर्तमान सुखों में तल्लीन वह जीव मरणान्त काल में उसी प्रकार शोक करता है जिस प्रकार पाहुने के आने पर मेमना ।

फिर आयु क्षीण होने पर वे नाना प्रकार की हिंसा करने वाले अज्ञानी जीव देह छूटने पर परवश होकर अन्धकारपूर्ण नरक में जाते हैं ।

धर्म में पराक्रम के लिए काकिणी और आम्र का दृष्टांत—

८१५. जैसे कोई मनुष्य काकिणी के लिए हजार मोहरों को गंवा देता है और जैसे कोई राजा अपथ्य आम को खाकर राज्य से हाथ धो बैठता है ।

इसी प्रकार देव सम्बन्धी कामभोगों के सामने मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग भी काकिणी और आम के समान तुच्छ हैं । दिव्य आयु और दिव्य-काम-भोग मनुष्य की आयु और काम-भोगों से हजार गुणा अधिक हैं ।

प्रजावान पुरुष को देवलोक में अनेक वर्षों की स्थिति होती है—यह ज्ञात होने पर भी सुख मनुष्य भी वर्षों से कम जीवन के लिए उन दीर्घकालीन सुखों को हार जाता है ।

धर्म में पराक्रम के लिये वणिक का दृष्टांत—

८१६. जैसे तीन वणिक पूंजी को लेकर निकले । उनमें से एक लाभ प्राप्त करता है, एक मूल धन लेकर लौटता है ।

और एक मूल को भी गंवाकर वापस आता है, यह व्यापार की उपमा है । इसी प्रकार धर्म के विषय में भी जानना चाहिए ।

मनुष्यत्व यह मूलधन है और देवगति लाभ रूप है अतः मूल के नाश से जीव निश्चित ही नरक और तिर्यच गति में जाते हैं ।

अज्ञानी जीव की ये दो प्रकार की गति होती हैं, वहाँ उसे वध बन्धन आदि कष्ट प्राप्त होते हैं । वह लोलुप और वंचक पुरुष देवत्व और मनुष्यत्व को पहले ही हार जाता है ।

द्विविध दुर्गति में गया हुआ जीव सदा हारा हुआ होता है । उसका उनसे बाहर निकलना दीर्घकाल के बाद भी दुर्लभ है ।

इस प्रकार हारे हुए को देखकर तथा बाल पण्डित की तुलनाकर जो मानुषी योनि में आते हैं वे मूलधन के साथ प्रवेश करते हैं ।

जो मनुष्य विविध परिणाम वाली गिद्धाओं द्वारा घेर में रहते हुए भी सुव्रती हैं, वे मानुषी योनि में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि प्राणी अपने किये हुए कर्म का फल अवश्य पाते हैं ।

जिनके पास विपुल शिक्षा है, वे सील-सम्पन्न और उत्तरोत्तर गुणों को प्राप्त करने वाले पराक्रमी अदीन पुरुष मनुष्यत्व का अतिक्रमण करके देवत्व को प्राप्त होते हैं ।

एवमवीणवं भिक्षुं, अगारिं च वियाणिश ।
कहणुं जिच्चमेतिक्खं, जिच्चमाणे न संविदे ॥

—उत्त. अ. ७, गा. १४-२२

धम्मस्स परक्कमद्वा दिव्व मणस्स भोग तुलणा —

८१७. जहा कुसग्गे उवगं, समुद्देण समं मिणे ।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए ॥

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सच्चिद्वस्मि आउए ।
कस्स हेउं पुराकाउं, जोगक्खेसं न संविदे ॥

इह कामाणि यट्ठस्स, अत्तट्ठे अव्वरज्जई ।
सोक्खा नेयाउयं भग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई ॥

इह कामाणि यट्ठस्स, अत्तट्ठे नाव्वरज्जई ।
पूव्वेहेनिरोहेणं भवे देवे त्ति मे सुयं ॥

इउडो जुई जसो वण्णो, आउं सुहमणुत्तरं ।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उव्वज्जई ॥

—उत्त. अ. ७, गा. २३-२७

धम्मस्स परक्कमद्वा उवएसो—

८१८. बालस्स पस्स बालसं, अहम्मं पडिच्चिज्जया ।
चिच्चर धम्मं अहम्मिट्ठे, सरए उव्वज्जई ॥

धीरस्स पस्स धीरसं, सत्त्वधम्ममाणुवत्तिणो ।
चिच्चा अयम्मं धम्मिट्ठे, देवेषु उव्वज्जई ॥

तुत्तिवाण बालभावं, अब्बालं सेव पण्डिए ।
चउडण बालभावं, अब्बालं सेवए मुणि ॥

—उत्त. अ. ७, गा. २८-३०

धम्मस्स परक्कम कालो—

८१९. जरा जाव न पोलेइ याही जाव न वड्ढइ ।
जराविन्दिया न हायन्ति, ताव धम्मं समापरे ॥

—दस. अ. ८, गा. ३५

इस प्रकार भिक्षु और गृहस्थ के पराक्रम-फल को जानकर विवेकी पुरुष ऐसे लाभ को कैसे सोएगा ? वह कषायों के द्वारा पराजित होता हुआ क्या यह नहीं जानता कि मैं पराजित हो रहा हूँ । यह जानते हुए उसे पराजित नहीं होना चाहिए ।

धर्म में पराक्रम के लिये दिव्य मानुषिक भोग की तुलना—

८१७. मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग देव सम्बन्धी काम-भोगों की तुलना में वैसे ही है, जैसे कोई व्यक्ति कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिन्दु की समुद्र से तुलना करता है ।

इस अति-संक्षिप्त आयु में वे काम-भोग कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु जितने हैं फिर भी किस हेतु को सामने रखकर मनुष्य योग-क्षेम को नहीं समझता ?

इस मनुष्य भव में काम-भोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है । वह पार ले जाने वाले वीतराग मार्ग को सुनकर भी बार-बार भ्रष्ट होता है अर्थात् जन्म मरण करता है ।

इस मनुष्य भव में काम-भोगों से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म प्रयोजन नष्ट नहीं होता है । वह औदारिक शरीर का निरोध कर देव होता है—ऐसा मैंने सुना है ।

(देवलोक से च्युत होकर) वह जीव विपुल ऋद्धि, यश, वर्ण, आयु और अनुत्तर सुख वाले मनुष्य—कुलों में उत्पन्न होता है ।

धर्म में पराक्रम के लिए उपदेश —

८१८. तू अज्ञानी जीव की सूक्ष्मता को देख कि वह अधर्म को ग्रहण करता है । और धर्म को छोड़कर अधर्मिष्ठ बन कर नरक में उत्पन्न होता है ।

सब धर्मों का पालन करने वाले धीर-पुरुष की धीरता को देख कि वह अधर्म को छोड़कर धर्मिष्ठ बनकर देवों में उत्पन्न होता है ।

पण्डित मुनि बाल-भाव और अबाल-भाव की तुलना करके बाल-भाव को छोड़कर अबाल-भाव का सेवन करता है ।

धर्म में पराक्रम का समय—

८१९. जब तक बुढ़ापा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियाँ क्षीण न हों तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए ।



वीतराग-भाव—७

वीतरागभाव परवर्ण—

८२०. मगरस भाव गहणं वयन्ति,
 तं रागहेउं तु मणुसमाहु ।
 तं दोसहेउं अमणुसमाहु,
 समो य जो तेसु स वीयरानो ॥
 भावस्स मणं गहणं वयन्ति,
 मणस्स भावं गहणं वयन्ति ।
 रागस्स हेउं समणुसमाहु,
 दोसस्स हेउं अमणुसमाहु ॥
 भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिब्बं,
 अकालियं पावइ से विनासं ।
 रागाउरे कामणुणेसु गिद्धे,
 करेणमुगाऽवहिणं च नागे ॥
 जे थावि वांसं समुवइ तिब्बं,
 तंसिक्खणे से उ उवेइ बुक्खं ।
 वृद्धन्तदोसेण सएण जन्तु,
 न किञ्चि भावं अवरज्जई से ॥
 एगन्तरस्से च्छरंसि भावे,
 अत्ताल्लिसे से कुणई पओसं ।
 बुद्धस्स संवीलमुवेइ बाले,
 न लिप्पई तेण सुणी विरागो ॥
 भावाणुमासाणुगए य जीवे,
 चराचरे हिंसइ णेरुक्खे ।
 चित्तेहि ते परित्तावेइ बाले,
 पीलेइ अत्तट्टगुरु किलिद्धे ॥
 भावाणुमाएणं परिग्गहेण,
 उप्पायणे रक्खणसस्सिओणे ।
 वए विओणे य कहं सुहं से ?
 संभोगकाले य अतित्थिलाभे ॥
 भावे अत्तिसे य परिग्गहे य,
 सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि ।
 अतुट्ठिदोसेण बुही परस्स,
 लोमाविले आइयई अदत्तं ॥
 तत्थाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
 भावे अत्तिस्स परिग्गहे य ।
 मायाभुसं वड्ढइ लोमदोसा,
 तत्थावि बुक्खा न विमुच्चई से ॥

वीतराग भाव की प्रकृपणा—

८२०. मन के विषय को भाव (अभिप्राय) कहते हैं। जो भाव राग का हेतु है उसे मनोज्ञ कहा है जो द्वेष का हेतु है उसे अमनोज्ञ कहा है। इन दोनों में जो समभाव रखता है वह वीतराग होता है।

भाव के ग्रहण करने वाले को मन कहते हैं, मन से ग्रहण होने वालों को भाव कहते हैं। राग के हेतु को मनोज्ञ कहा है, द्वेष के हेतु को अमनोज्ञ भाव कहा है।

जिस प्रकार हथिनी के पथ में आकृष्ट काम-गुणों में शुद्ध बना हुआ हाथी दुःखी होता है। उसी प्रकार जो मनोज्ञ भावों में तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

जो अमनोज्ञ भाव से तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है इस प्रकार स्वयं के ही तीव्र द्वेष से प्राणी दुःखी होता है किन्तु उसके दुःखी होने में भाव का कोई अपराध नहीं है।

जो मनोहर भाव में सर्वथा अनुरक्त रहता है और अमनोहर भाव में द्वेष करता है वह अज्ञानी दुःखों की पीड़ा को प्राप्त होता है। किन्तु विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

मनोहर भाव में आसक्त जीव अनेक प्रकार के बल स्थावर जीवों की हिंसा करता है, वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेश युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परित्याग पहुँचाता है।

भाव में अनुराग और ममत्व वृद्धि होने से उसके उत्पादन में, रक्षण करने में, व्यवस्थित रखने में और उसके विनाश या वियोग होने पर वह कैसे सुखी हो सकता है? उसके उपयोग के समय भी तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख ही होता है।

जो भाव में अतृप्त है और उसके परिग्रहण में अत्यन्त आसक्त है, उसे कभी सन्तुष्टि नहीं हो सकती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी बना हुआ मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर दूसरों की वस्तुएँ चुरा लेता है।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और भाव-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है तथा माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

मोक्षस्त पच्छा य पुरस्त्वओ य,
पओगकाले य दुहो दुरन्ते ।
एवं अवस्ताणि समाधयन्तो,
भावे अतिसो दुहो अणित्तो ॥

भावाणुरत्तस्त नरस्त एवं,
कत्तो मुहं होज्ज कयाइ किञ्चि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निवत्तइ जस्त कएण दुक्खं ॥

एमेव भावन्ति गओ पओसं,
उवेह दुक्खोहपरम्पराओ ।
पदुट्ठचित्तो य जिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवाओ ॥

भावे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरम्परेण ।
न लिप्पइ मयमवसे वि सत्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

—उत्त. अ. ३२, गा. १३-६६

एविन्धियत्था य सणस्त अत्था,
दुक्खस्त हेजं मणुयस्त रागिणो ।
ते वेव थोव पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरोगस्त करेणित्ति किञ्चि ॥

न कामभोगा सभयं उव्वेत्ति,
न यावि भोगा विगइ उव्वेत्ति ।
जे तप्पओसी य परिगही य,
सो तेसु मोहा विगइ उवेइ ॥

कोहं थ मायं न तहेव मायं,
लोहं दुगुलं अरइ रइ थ ।
हासं भयं सोग पुमिन्धिवेयं,
नपुंसवेयं विविहे य भावे ॥

आवज्जइ एवमभेगखे,
एवविहे कामगुणेषु सत्तो ।
अम्मे य एवप्पभवे विसेते,
काएणधीणे हिरिमे वइस्से ॥

कप्पं न इच्छेज्ज सहायत्तिण्णु,
पच्छाणुताथेय तवप्पसावं ।
एवं विपारे अमियप्पसारे,
आवज्जइ हन्वियवोरवस्से ॥

असत्य बोलने के पहले और पीछे तथा बोलते समय भी जीव दुःखी होता है। इसी प्रकार वह भाव में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ भी आश्रयहीन होकर दुःखी होता है।

इस प्रकार भाव में अनुरक्त पुरुष को किञ्चित् भी सुख कब और कैसे हो सकता है? मनोज्ञ भावों को पाने के लिए वह दुःख उठाता है, उनके उपभोग में भी उसे अतृप्ति का क्लेश और दुःख बना ही रहता है।

इसी प्रकार जो भाव से द्वेष रखता है वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेष युक्त चित्त से वह जिन कर्मों का बन्ध करता है, वे कर्म भी उदय काल में उसके लिए दुःख रूप होते हैं।

किन्तु जो पुरुष भाव से विरक्त होता है वह शोक-मुक्त हो जाता है जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वह संसार में रहते हुए भी इन दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

इस प्रकार इन्द्रिय और मन के विषय, रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु होते हैं। वे वीतराग के लिए कभी किञ्चित् भी दुःखदायी नहीं होते।

काम-भोग समता के हेतु भी नहीं होते और वे विकार के हेतु भी नहीं होते। जो पुरुष उनके प्रति द्वेष या राग करता है, वह तद्विषयक मोह के कारण विकार को प्राप्त होता है।

जो काम-गुणों में आसक्त होता है, वह क्रोध, मान, माया, लोभ तथा जुशुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री-वेद, नपुंसक-वेद तथा हर्ष विषाद आदि विविध भावों और इसी प्रकार के अनेक रूपों को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त और भी उत्पन्न अन्य परिणामों को प्राप्त होता है जिससे वह कष्टास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय बन जाता है।

यह मेरी शारीरिक सेवा करेगा—इस सिद्धा से कल्पयोम्य शिष्य की भी इच्छा न करे। संयम तप का कोई प्रभाव न देख कर पश्चात्ताप न करे। क्योंकि इस प्रकार के संकल्प करने वाला इन्द्रिय रूपी चोरों का दशवर्ती बना हुआ अनेक प्रकार के विकारों को प्राप्त होता है।

ततो से जायन्ति पथोयणाह,
 तिमज्जिजं भोहमहणवम्मि ।
 सुहेसिणो दुक्खविमोयणाह,
 तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ॥
 विरज्जमाणस्स य इन्द्रियस्था,
 सहाइया तावइयप्पगारा ।
 न तस्स सख्खे धि मणुप्पयं या,
 निव्वसयंती अमणुप्पयं वा ॥

—उत्त. अ. ३२, गा. १००-१०६

कम्मणिज्जरा फल

८२१. प०—बोदाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—बोदाणेणं अकिरियं जणयइ । अकिरियाए भवित्ता
 ततो पक्खा सिज्जइ, बुज्जइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ,
 सव्वबुक्खाणमंतं करेइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. ३०

वीयरगया-फलं—

८२२. प०—वीयरगयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—वीयरगयाए णं नेहाणुबंधणाणि, सव्वहाणुबंधणाणि य
 बोचिच्छन्दइ, मणुणा मणुन्नेसु सइफरिसरसककगंधेसु
 वेव विरज्जइ ।

—उत्त. अ. २६, सु. ४७

उपसंहारी—

८२३. एवं उवाहु निगाथे, महावीरे महामुणी ।

अथंतणाणवंसी से, धम्मं वेसितवं सुतं ॥

—सूय. सु. १, अ. ६, उ. ४, गा. २४

विकारों की प्राप्ति के पश्चात् उसके समक्ष उसे मोह रूपी
 सागर में डुबोने वाले विषय-सेवन के प्रयोजन उपस्थित होते हैं ।
 फिर वह सुख की प्राप्ति और दुःख के विनाश के लिए अनुरक्त
 बनकर उन विषयों संयोगों की पूर्ति के लिए उत्तम करता है ।

जितने शब्द आदि इन्द्रिय-विषय हैं, वे सब मनोज्ञ हों या
 अमनोज्ञ हों, विरक्त मनुष्य के मन में कुछ भी विकार उत्पन्न
 नहीं करते ।

कर्म निर्जरा का फल—

८२१. प्र०—भन्ते ! व्यवदान (पूर्व संबित कर्म विनाश) से जीव
 को क्या लाभ होता है ?

उ०—पूर्वकृत कर्म के क्षय से जीव अक्रिय हो जाता है,
 अक्रिय होने के पश्चात् जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है,
 परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त
 करता है ।

वीतरागता का फल—

८२२. भन्ते ! वीतरागता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वीतरागता से वह स्नेह के अनुबन्धनों और तृष्णा के अनु-
 बन्धनों का विच्छेद करता है तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द,
 स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से विरक्त हो जाता है ।

उपसंहार—

८२३. अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी निर्ग्रन्थ महामुनि महावीर ने
 श्रुतधर्म का उपदेश दिया ।



॥ धरणानुयोग समाप्त ॥

संकलन में प्रयुक्त आगमों के सन्दर्भ स्थल

चरणानुयोग : भाग १

मंगलाचरण

सूत्रकृतांग सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	गा.
४-७	१	६	१-२९

भगवती सूत्र

पृष्ठ	स.	अ.	सु.
१	१	१	१
९	१	१	१
९	१	१	३
९	१७	१	१
९	२६	१	१
७	४१	१९६	२
९	अंतिम सूत्र- १		
९	अंतिम सूत्र- १-२		
९	अंतिम सूत्र-		
७	अंतिम सूत्र-		

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र

१	टि.	व. १	१

सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र

पृष्ठ	पा.	सु.
१	१	१
४	२०	१०७ गा. ६

चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र

पृष्ठ	पा.	गा.
४	१	१
१	१	१
१	१	२

प्रज्ञापना सूत्र

पृष्ठ	पद	गा.
४	१	१

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ	अ.	सु.
१०	२९	११
१०	२९	१२
१०	२९	१६

नदी सूत्र

पृष्ठ	गा.
४	१-३
७-८	४-१७

३	१८-१९
७	२०-२१
७	२२

आवश्यक-सूत्र

पृष्ठ	अ.	सु.
१	१	१
१	१	१
३	२	१-९
१-२	४	१२-१४

धर्म प्रज्ञापना

आचारांग सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	सु.
३६	१	२	३	७७
३६	१	३	१	१०८
३३	१	४	१	१३२-१३३
३४	१	४	१	सं १३३
परि. (७३९)				
३०	१	५		३१५७
(सं-ग)				
३५	१	६	२	१८४ (क)
३१	१	६		१८५
(अ)				
३७	१	६	३	१८९ (क)
३५	१	६	४	१९१
४०	१	८		१२०२
(ग-घ)				
परि. (७३९) ३०	टि. १८	३		२०९ (स)
३५	१	८	८	२३०
परि. ७३९ १५	२	१५	-	७७५

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	गा.
४१	१	२	२	२३-२४
३६	१	२	२	२५-२८
३५	१	२	२	२६
३५	१	२	२	२८
३५	१	२	२	२९-३०
३६	१	२	२	३१-३२
३७	१	३	३	३१ (क)
३५	१	३	४	३५
३५	१	८	-	१३-१४
३५	१	९	-	१
३०	१	१५	-	४-५
४२	१	१५	-	१५-१७
४२	१	१५	-	१९-२०
४५	२	५	-	१४

ठाणांग-सूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	सु.
३७	२	१	५४
३७	२	१	५५
३०	२	१	६१

परि. (७३९) ३०	२	१	७८
४८-४९	३	१	१४३
१५	३	२	१६१
४०	३	२	१६३ (१)
४०	३	२	१६३ (२)
४६	३	२	१९१ (१-७)
४५	३	३	१९४ (२)
३१	३	३	१९४ (१)
परि. (७३९) ३१	३	४	१९८ (२-३)
४५	३	४	२१६
३१	३	४	२१७
४९-५०	४	३	३१५ (५१-५३)
टि. ३१	४	४	३७२
टि. ३१	५	१	३९६ (३-४)
टि. ३१	५	१	४००
४५	५	३	४४७
४२	६		४८५
१६	६		५३७
३१	१०		७१२ (२)
३१	१०		७६०

समवायांग सूत्र

टि. प. ३१	सम. १०	सु. १

२ भगवती सूत्र (विवाह प्रज्ञप्ति)

पृष्ठ	स.	उ.	सु.
१५-१६	१	१	१०
टि. ३९	१	४	१२-१५
४०	१	४	१६-१८
टि. ३९	५	५	१
टि. ४०	७	८	१
३७	९	११	२
टि. ३८	९	३१	१३
३८-३९	९	३१	३२
४६-४८	१७	३	१-९
३५	२०	६	१६

उपासकदसा-सूत्र

पृष्ठ	सु. ९
१५ टि.	

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	सु.
३१	२	५	९

उपवाहय-सूत्र

पृष्ठ	उ.	सु.
११-१५		१६
१५		५६

रायप्रश्नीय-सूत्र

पृष्ठ	सु. २३४
४३	

दशवैकालिक-सूत्र				ठाणाग-सूत्र			
पृष्ठ	अ.	उ.	सु.	पृष्ठ	अ.	उ.	सु.
१४	अ. १	गा. १		६१	२	१	५३
उत्तराध्ययन-सूत्र				परि. (७४०)			
पृष्ठ	अ.	गा.		५६	२	१	५४-५५ (७)
४९	१	४२		टि. १११	२	३	८४
टि. ४२	३	१		५५-५६	२	२	१६३ (१-८)
४२-४३	३	२-७		५५	२	२	१६३
४३	३	८		(१३-१४)			
४४	३	९-१०		१२२	३	३	१७७
४३-४४	३	१२-२०		१०९	३	३	१७७
४१	५	१४-१५		८७	३	३	१९३ (६)
४४	१०	४-२०		टि. १०२	५	६	१९५
४१	१४	२४		टि. ८९	३	४	२०८
४१	१४	२५		१२३	३	४	२१८ (१)
३४	१६	१७		१२३	३	४	२१८ (२)
३४	१६	१९		१२३	३	४	२१८ (३)
४१-४२	१९	१९-२४		१२३	३	४	२१९
टि. ३७	२३	६५-६८		टि. ६०	३	४	२२०
३०	२९	५		टि. १११	४	१	२३५
३३	२९	२८-२९		११८	४	१	२३६ (६)
३२	२९	४४		११८	४	१	२३६ (१६)
३२	२९	४८-५१		१२२	४	१	२३६ (२)
३२	२९	५२-५४		११९	४	१	२३९
टि. ११	३१	१०		११९	४	१	२४१ (६)
अनुयोगद्वार-सूत्र				टि. १११	४	१	२५१
पृष्ठ		सु.		८०-८१	४	१	२५६ (५, ९)
१६		२०७		परि. (७४१) ८०	४	१	२५६ (६-८)
१७		४२७		१२०	४	१	२५६ (१०)
१८		४३५		१२०	४	१	२५६ (११)
१८		४३६-४३९		१२०	४	१	२५६ (१२)
१८		४२०-४५७		१२०	४	१	२५६ (१३)
२१		४५८-४६६		१२२	४	१	२५६ (१४)
२२		४६७-४६८		११९	४	२	२७९ (१)
२३		४७१		११९	४	२	२८० (२)
२३-२४		४७२		११४	४	२	२८१ (१)
२४		४७३		११४	४	२	२८४ (१)
२४-२५		४७४		११५	४	२	२८४ (२)
२५-२६		४७५		६३	४	२	२८५ (१)
२७-२९		४७६		६३	४	२	२८५ (२)
व्यवहार-सूत्र				६३	४	२	२८५ (३)
पृष्ठ	उ.	सु.		१०१	४	३	३१९ (४३)
टि. ५०	१०	११-१३		११७	४	३	३१९ (८)
निशीथ-सूत्र				११७	४	३	३१९ (४)
पृष्ठ	उ.	सु.		११८	४	३	३१९ (५)
५०	११	९		११८	४	३	३१९ (६)
५०	११	१०		१२२	४	३	३१९ (२५)
आचार प्रज्ञप्ति				१२२	४	३	३१९ (३०)
ठाणाग-सूत्र				१२२	४	३	३१९ (३७)
पृष्ठ	अ.	उ.	सु.	१२२	४	३	३१८ (३४)
टि. ५१	२	३	७६ (१-४)	टि. ७०	४	३	३२०
				११४	४	३	३२७ (२)
				११४	४	३	३२७ (७)
				११५	४	३	३२७ (१४)
				११७	४	२	३२७ (८-९)
				११३	४	४	३२४ (३-६)
				१०१	४	४	३४८
				१०१	४	४	३४९
				११६	४	४	३५२ (४-५)
				१२१	४	४	३६० (१)

१२१	४	४	३६० (२)	१००	९	१	१७	१०३	२९	६
१२१	४	४	३६० (३)	७२	९	२	१-२	६९	२९	१७
१२१	४	४	३६० (४)	८९	९	२	३-४	५९	२९	२६
१२१	४	४	३६० (५)	१११	९	२	६	५९	२९	६१
११६	५	१	३९४ (१)	९१	९	२	५-१२	टि. ६१	२९	७२
११६	५	१	३९४ (२)	९२	९	२	१३-१८	७५	३०	१२
११८	५	२	४२०	९०	९	२	१९			
१२५	६		४९९ (१-३)	९२	९	२	१९			
टि. ८०	७		५८५	८१	९	२	२०			
टि. १११	७		५८७	९२	९	२	(२०)			
६५	१०		७१४ (२)	९२	९	२	२१			
६७-६८	१०		७१४ (१)	९१	९	२	२२-२३	पूजक	४	७
६६	१०		७१८	८२	९	३	१-२	९३-९५	३	१-३
टि. १०	१०		७४६	८४	९	३	१३	७२-७३	४	१५-१९
१२३	१०		७८१	८४	९	३	१४-१५	७३-७५	४	२०-२५
				८५-८६	९	४	सु. १६			
				५५	९	४	७-८			

समवायांग-सूत्र				उत्तराध्ययन-सूत्र				वशाश्रुतस्कंध-सूत्र			
पूजक	सम.	सु.		पूजक	अ.	पा.		पूजक	अ.	सु.	
टि. ९६	३३	१		७०	१	१		६२	७	१४	
१२३	१०	१२		८१	१	१		६३	७	१५	
				८६	१	३		६३	७	१६	
				८९	१	४-६		६३	७	१७	
				८६	१	७		६६	७	१८	
				८२	१	८-१०					
				८३	१	११					
				८९	१	१२					
				८२	१	२१					
				९२	१	१३					
				८४	१	१४					
				८३	१	१७					
				८३	१	१८-१९					
				८३	१	२०					
				८२	१	२१					
				८३	१	२२					
				८४	१	२२					
				८४	१	२३					
				८४	१	२५					
				८४	१	२७-२९					
				८३	१	३०					
				८५	१	३७					
				९३	१	३८-३९					
				८३	१	४०					
				८५	१	४१					
				८१	१	४३					
				८६	१	४५-४८					
				११०	११	२					
				९३	११	३					
				८२	११	४-५					
				८७	११	६-९					
				८२	११	१०-११					
				१११	११	१४					
				१०९-११०	११	१५-१२					
				८६	१७	४-५					
				६२	२६	१३					
				६२	२६	१२					
				६२	२६	१९-२०					
				६२	२६	४४					
				१०-११	२७	३-१६					
				५८	२८	३०					

समवायांग-सूत्र				उत्तराध्ययन-सूत्र				वशाश्रुतस्कंध-सूत्र			
पूजक	अ.	ज.	सु.	पूजक	अ.	पा.		पूजक	अ.	सु.	
१०२	२	५	२६	७०	१	१		६२	७	१४	
१०२	५	६	१९	८१	१	१		६३	७	१५	
८९	८	८	१-७	८६	१	३		६३	७	१६	
५६	९	३१	८	८९	१	४-६		६३	७	१७	
५६	९	३१	१३	८६	१	७		६६	७	१८	
५८	९	३१	१४	८२	१	८-१०					
५६	९	३१	१२	८३	१	११					
६६	९	३१	-	८९	१	१२					
टि. ६१	१७	३	१	८२	१	२१					
टि. ८०	२५	७	२१९-२३४	८४	१	१३					

समवायांग-सूत्र				उत्तराध्ययन-सूत्र				वशाश्रुतस्कंध-सूत्र			
पूजक	अ.	ज.	सु.	पूजक	अ.	पा.		पूजक	अ.	सु.	
१०२	२	५	२६	७०	१	१		६२	७	१४	
१०२	५	६	१९	८१	१	१		६३	७	१५	
८९	८	८	१-७	८६	१	३		६३	७	१६	
५६	९	३१	८	८९	१	४-६		६३	७	१७	
५६	९	३१	१३	८६	१	७		६६	७	१८	
५८	९	३१	१४	८२	१	८-१०					
५६	९	३१	१२	८३	१	११					
६६	९	३१	-	८९	१	१२					
टि. ६१	१७	३	१	८२	१	२१					
टि. ८०	२५	७	२१९-२३४	८४	१	१३					

समवायांग-सूत्र				उत्तराध्ययन-सूत्र				वशाश्रुतस्कंध-सूत्र			
पूजक	अ.	ज.	सु.	पूजक	अ.	पा.		पूजक	अ.	सु.	
१०२	२	५	२६	७०	१	१		६२	७	१४	
१०२	५	६	१९	८१	१	१		६३	७	१५	
८९	८	८	१-७	८६	१	३		६३	७	१६	
५६	९	३१	८	८९	१	४-६		६३	७	१७	
५६	९	३१	१३	८६	१	७		६६	७	१८	
५८	९	३१	१४	८२	१	८-१०					
५६	९	३१	१२	८३	१	११					
६६	९	३१	-	८९	१	१२					
टि. ६१	१७	३	१	८२	१	२१					
टि. ८०	२५	७	२१९-२३४	८४	१	१३					

समवायांग-सूत्र				उत्तराध्ययन-सूत्र				वशाश्रुतस्कंध-सूत्र			
पूजक	अ.	ज.	सु.	पूजक	अ.	पा.		पूजक	अ.	सु.	
१०२	२	५	२६	७०	१	१		६२	७	१४	
१०२	५	६	१९	८१	१	१		६३	७	१५	
८९	८	८	१-७	८६	१	३		६३	७	१६	
५६	९	३१	८	८९	१	४-६		६३	७	१७	
५६	९	३१	१३	८६	१	७		६६	७	१८	
५८	९	३१	१४	८२	१	८-१०					
५६	९	३१	१२	८३	१	११					
६६	९	३१	-	८९	१	१२					
टि. ६१	१७	३	१	८२	१	२१					
टि. ८०	२५	७	२१९-२३४	८४	१	१३					

समवायांग-सूत्र				उत्तराध्ययन-सूत्र				वशाश्रुतस्कंध-सूत्र			
पूजक	अ.	ज.	सु.	पूजक	अ.	पा.		पूजक	अ.	सु.	
१०२	२	५	२६	७०	१	१		६२	७	१४	
१०२	५	६	१९	८१	१	१		६३	७	१५	
८९	८	८	१-७	८६	१	३		६३	७	१६	
५६	९	३१	८	८९	१	४-६		६३	७	१७	
५६	९	३१	१३	८६	१	७		६६	७	१८	
५८	९	३१	१४	८२	१	८-१०					

१३५	१	५	३	१६१ (१)
१३५	१	५	३	१६१ (२)
१३८	१	५	५	१६७
टि. १२५	१	५	५	१६८
१३९	१	५	५	१६९
१९९	१	५	६	१७६
१३५-१३६	१	६	१	१७८ (क)
१६५	१	६	१	१७८-१८०
परि. (७४१)				
१६५	१	८	१	२००-क
परि. (७४१)				
१६५	१	८	१	२००-ग
परि. (७४१)				
१६५	१	८	१	२०१-क

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	मा.
१९८	१	१५		१-५
टि. १५४	१	१	१	७-८
१६०	१	१	१	९-१०
टि. १५०	१	१	१	११-१२
१६०	१	१	१	१३-१४
१६१	१	१	१	१५-१६
१६२	१	१	१	१७-१८
१६३	१	१	१	१९-२०
टि. १५९	१	१	२	१-५
१७८-१८०	१	१	२	६-२३
१६८	१	१	२	२४-२९
१६३	१	१	२	३०-३५
१६०	१	१	३	५-१०
टि. १५७	१	१	३	६
१६१	१	१	३	११-१२
१६२	१	१	३	१३-१६
१६१	१	१	४	५-८
टि. १६५	१	२	३	१९-१२
१३०	१	२	३	१९
१९२-१९४	१	३	३	११-२०
१९१-१९२	१	७		१२-२०
१३८	१	९		२८
परि. (७४१)				
१७८	१	१०		१६-१७
१९६-१९७	१	११		१-६
१९७	१	११		११-१२
१९४	१	११		२२
१२५	१	११		२३
१९२	१	११		२५-२८
१९५	१	११		२९-३१
१९५-१९६	१	११		३२-३८
१६७	१	१२		१
१८०	१	१२		२
१८१	१	१२		३-४/१
१७०	१	१२		४-१०
१६७	१	१२		११-१७
१७०	१	१२		१८-२२
१९७	१	१५		१-२
१९७	१	१५		३-५
१३०	१	१५		१८
१८२	२	१		६३८
१८२-१८४	२	१		६३९-६४२
१८५	२	१		६४३
१८६-१८७	२	१		६४४-६४५
१४८	२	१		६४६-६४७

१४९-१५३	२	१	६४७-६५३
१५३	२	१	६५४-६५८
१५५-१५७	२	१	६५९-६६२
१५७-१५९	२	१	६६३-६६६
१३८	२	१	६६७-६७१
१४०	२	१	६७२-६७६
१८६	२	१	६९२-६९३
१८७-१९०	२	५	७-२८
१७८	२	५	२९-३२

ठाणांग-सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
१३१	२	१	५४-५५
१२७	२	१	५६-(२-४)
टि. १२७	२	१	५९ (१)
१६४	२	१	५९ (५-क)
१२९	३	२	१६३ (३)
१२९	३	२	१६३ (१५)
टि. १२७	३	३	१९० (३)
१२७	३	३	१९०/१
१६३	३	३	१९३
१३०	३	४	२०४ (९)
१३०	३	४	२०४ (१०)
१३२	३	४	२२३ (२)
१३२	३	४	२२३ (१)
२०१	४	१	२३६(७)
२०१	४	१	२३६ (१७)
२०३	४	१	२३९
२००	४	१	२४१ (७)
२००	४	१	२४१ (१७)
२०१	४	१	२७१
२०१	४	२	२८०
१२९	५	२	४२६ (१)
१२९	५	२	४२६ (२)
१२९	६	-	४९९ (१-२)
१६७	६		५१२
टि. १२७	७		५६५
टि. १२७	८		६१९
१६५	१०	-	७३४
टि. १२६	१०	-	७५१

भगवती-सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
१२५	१	३	६
टि. १२५	१	३	१५ (३)
१३७	१	३	१५
१२९	९	३१	३२
१२८	९	३१	३
१२९	९	३१	१३
१३४	१७	३	२२

दशवैकालिक-सूत्र

पृ.	अ.	उ.	मा.
१४२	२		१
१४२	१०	१०	१-४
१४६	१०	१	१

१४३	१०	१	१-९
१४५	१०	१	१०-११
१४२	१०	१	१२-१४
१४५	१०	१	१५-१८
१४२	१०	२	१-४

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ.	अ.	मा.
१७८	६	९-१०
१३०	८	१४-१५
१९४	१०	३१-३४
टि. १४१	१३	२३
१३८	१७	२७
१९८-१९९	१८	३२-५४
१४३-१४५	२०	३९-५२
१४२	२२	४४-४५
१९६	२३	६०-६३
१२५	२८	१४-१५
१२६	२८	१६-२७
१३६	२८	२८
१९४	२८	२९-३०
१२६	२८	३१
१३२-१३४	२९	१-२
१३४	२९	३
१३५	२९	४
१२७	२९	६२
१४७	२९	७३-७५
१९५	३२	१-३
१३०	३६	२५७-२५९

दशाश्रुतस्कंध-सूत्र

पृ.	उ.	सु.
१७०	६	३-५
१७३	६	६
१७५	६	७-८
१७६	६	९-११
१७८	६	१२-१४
१६७-१६८	६	१५-१६

बृहत्कल्प-सूत्र

१३० टि.	कण	उ.४	सु. १२
१३० टि.	-	४	१३

निशीथ-सूत्र

पृ.	उ.	सु.
१६७	११	६८-६९
१९०-१९१	१३	४६-६३

आवश्यक-सूत्र

१९७	६	६५

चारित्राचार

आचारांग-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	उ.	सु.
२०७	१	४	२	१३४-१३५

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	उ.	गा.
पृ. २१०	१	१		३१
२०६	१	१	३	१०
२०७	१	१२	-	२१
पृ. २११	१	१६	-	४
२०५	२	५	-	१७
२०५	२	६	-	६

ठाणांग-सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
२०५	२	१	११
पृ. (७४२) २०५	२	१	१४-१५
२०५ टि.	२	१	११
२०५	३	२	१११
(१७)			
पृ. (७४१) २०५	३	२	१६३
(२१)			
२१० टि.	५	१	३८९
२११ टि.	५	२	४१८
२१२ टि.	५	२	४२७
२१२ टि.	६	-	४८७
२१३ टि.	५	६	४२८
२१३ टि.	६	-	४८७
२१२	१०	-	७०९
२१३	१०	-	७०९
२१३	१०	-	७११
२१३	१०	-	७११

समवायांग-सूत्र

पृ.	सम.	सु.
२१२	५	१
२११ टि.	५	१

विवाह-प्रज्ञप्ति

पृ.	सु.	अ.	उ.	सु.
२१४	१	१		११
२१५	१	१		११
२१० टि.	१	६		२६
२१२	१	९		१
२१२	१	९		२-३
२०७ टि.	१	९		२१-२४
२१०	३	३		१२-१४
२०६	९	३१		७
२०६	९	३१		१३
२०६	९	३१		३२
२१२ टि.	१२	२		१४

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	उ.	सु.
२११	२	१		१
२११	२	१		१ टि.
२११	२	५		१८-टि.

दशवैकालिक-सूत्र

पृ.	अ.	गा.
२११ टि.	६	८-२१
२११ टि.	१३	११

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ.	अ.	गा.
२१५	६	८
२१०	२३	टि. ७०-७३
टि. २१३	१२	४२
२११	२३	टि. ८७
२१५	२५	६३
२०५	३१	१
टि. २१०	३५	३

आवश्यक-सूत्र

पृ.	अ.	सु.
२११	४	२४ (३)

अहिंसा महाव्रत का स्वरूप एवं प्रतिज्ञा

आचारांग-सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	सु.
२३०	१	१	२	१०-१८
२३३	१	१	३	२३-३१
२३५	१	१	४	३२-३९
२३९	१	१	५	४२-४४
२४०	१	१	५	४५
२४०	१	१	५	४६-४८
२४१	१	१	६	४९
२४३	१	१	६	५०-५५
२४४	१	१	७	५६
२४७	१	१	७	५७-६१
२४७	१	१	७	६२
२४४	१	२	८	७८ (म)
२४७	१	२	६	१०४
२५२	१	२	५	९४
२५२	१	२	६	९५-९७
टि. २१६	१	४	१	१३२
२४५	१	४	२	१३६-१३९
२४६	१	४	१	१४०
२४६	१	५	१	१४७-१४८
२४४	१	५	५	१४०
२४६	१	८	३	२११-२१२
२५३	२	१३		७०८-७१३
२५४	२	१३		७००
२५४	२	१३		६९९
२५४	२	१३		७२४
२५३	२	१३		७१५-७१९
२५४	२	१३		७२०
२५४	२	१३		७२८
पृ. (७४२) २२५	२	१५		७७६
२१८	२	१५		७७७-७७९

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	गा.
२१६	१	१	४	९-१०
२४६	१	७	-	१-४
२१६	१	७	-	५-७

२४०	१	७	-	८-९
२४८	१	७	-	१०-११
२२६	१	९	-	८-९
२२६	१	११	-	७-९
२१६ टि.	१	११	-	१०
२२७	१	१४	-	१४
२४४	२	१	-	सु. ६७९
२१६	२	१	-	सु. ६८०
२१६	२	१	-	सु. ६८४

ठाणांग-सूत्र

पृ.	अ.	सु.
२८२	७	५७१
२८३	७	५७२
२८६	७ टि.	५७१
२८७	७ टि.	५७१
२३९	८ टि.	६१४
२८६	८ टि.	६१५
२८७	८ टि.	६१५
२८६	८ टि.	६१५
२८७	१० ७०९	
२८६	१० ७०९	
२८६	१० ७१५	
२८७	१० ७१५	
२३९	१० ७३३	

समवायांग-सूत्र

पृ.	सम.	सु.
२७९	२५	१
२१८	२५ टि.	१

विवाह-प्रज्ञप्ति-सूत्र

पृ.	अ.	उ.	अ.	सु.
२८८	म.	८	उ.	१६-२४

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	सु.
२२१	२	१	२
२२२	२	१	३
२२४	२	१	४
२१८	२	१	७ ११
२८२	२	१	७-११
२८२	२	१	१२-१४

दशवैकालिक-सूत्र

पृष्ठ	अ.	सु.
२२५	४	१-३
२२७	४	४
२३१	४	५
२३३	४	६
२३६	४	७
२३८	४	८
२४२	४	९
२२५	४	१०

२१६	४	११
२२८	४	१८
२३१	४	१९
२३४	४	२०
२३६	४	२१
२३८	४	२२
२४२	४	२३
२४७	४	गा.२४-३२
२२६	४	गा.५१
२१७	६	गा.९-१०
२२६	८ टि	गा.२-३
२२८	८	गा.४
२२८	८	गा.५
२३१	८ टि	गा.७
२३१	८ टि	गा.८
२३७	८	गा.९
२३९	८	गा.१०-११
२४३	८	गा.१२
२८३	८	गा.१३-१६

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ.	अ.	गा.
२४४	६	६
२८७	१७	६
२१७ टि	१९	२६
२३४	३५	२२

वशाश्रुतस्कन्ध

पृ.	अ.	सु.
२८३ टि	८	५०
२८३	८	५१
२८४	८	५२
२८४	८	५३
२८४	८	५४
२८४	८	५५
२८५	८	५६
२८५	८	५७
२८५	८	५८

निशीथ-सूत्र

पृष्ठ	अ.	सु.
२७४	१	११-१४
२७६	१	१५-१८
२७७	१	१९-२२
२७७	१	२३-२६
२७७	१	२७-३०
२७८	१	३१-३४
२७८	१	५७
२७४	२	१०
२७४	२	११
२७४	२	१२
२७६	२	१४-१७
२७५	२	२६
२५५	३	२८-३३
२५६	३	३४-३६
२६०	३	४०
२५५	४	६१-६६
२५८	४	६७-७२
२६०	४	७३

२४८	५	१-११
२७५	५	२५-३३
२७१	११	२३-२८
२७२	११	२९-३४
२७४	११	३५
२४९	१२	१-२
२५०	१२	८
२४९	१२	९
२६०	१२	१३
२५०	१३	१-७
२५०	१३	८
२५१	१३	९-११
२६०	१३	४२-४५
२६८	१५	२५-३०
२७०	१५	३१-३६
२७०	१५	३७
२६१	१७	१५-६७
२६१	१७	६८-१२०
		(१८०-२३४)
२६२	१७	२७-३२
२६४	१७	३३-३८
२६४	१७	३९
२६५	१७	८०-८५
२६७	१७	८६-९१
२६७	१७	९२
२५१	१८	६४-७०

द्वितीय महाव्रत

आचारंग-सूत्र

पृष्ठ २८९ सु. २ अ. १५ सु. ७८०-७८२

ठाणांग-सूत्र

पृ.	अ.	सु.
२९९ टि	६	५२७
२९१ टि	१०	७४१
२९३ टि	१०	७४१

समवायांग-सूत्र

पृष्ठ	सम.	सु.
२९६	२५	१
२९१ टि	२५	१

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	सु.
२९१	२	२	१-३
२९१ टि	२	२	१-३
२९१	२	२	४
२९२	२	२	५-९
२९३	२	२	७-८
२९३	२	२	९
२९३	२	२	१०
२९१ टि	२	२	११-१५
२९६	२	२	११-१५
२९८	२	२	१६-१८

प्रज्ञापना-सूत्र

पृष्ठ	यव.	सु.
२९३ टि	११	८६२
२९३ टि	११	८६६
२९३ टि	११	८९६

दशवैकालिक-सूत्र

पृ.	अ.	सु.
२८९	४	१२
२८९ टि.	६	गा. १२

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ.	अ.	गा.
२९५	२४	९-१०
२८९ टि	१९	२७

कण्य-सूत्र (बृहत्कल्प-सूत्र)

पृ.	अ.	सु.
२९८	६	१

निशीथ-सूत्र

पृ.	अ.	सु.
२९४	२	१९
२९४	१६	१३-१४
२९४	५	६३
२९४	१०	१५-३०

तृतीय-महाव्रत

आचारंग-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	अ.	सु.
३००	२	७	१	१०७ (क-ख)
३०६	२	७	१	६०७ (ग)
३०९	२	१५	-	७८३-७८५

समवायांग-सूत्र

पृ.	सम.	सु.
३०७	२५	१
३०२ टि	२५	१

विवाह-प्रज्ञप्ति

३१०	स. ८	अ. ७	सु. १-१५

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	सु.
३०३	२	३	१
३०३	२	३	२-७
३०४	२	३	८
३०५	२	३	९
३०२ टि	२	३	१०-१५
३०९	२	३	१०-१५
३०९	२	३	१६

दशवैकालिक-सूत्र

पृ.	अ.	सु.
३००	४	१३
३०० टि.	६	गा. १३

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ.	अ.	गा.
३०३	६	७
३०० टि.	१९	२८

व्यवहार-सूत्र

३०६	ज. ७ सु. २६-२७

निशीथ-सूत्र

पृ.	ज.	सु.
३०६	२	२०
३०६	१०	९-१०
३०६	१०	११-१२

चतुर्थ महावत

आचारांग-सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	ज.	सु.
३३४	१	५	१	१४९
३३२	१	५	४	१६४-१६५
३३७	२	१३		६९०
३३८	२	१३		६९१-६९८
३३८	२	१३	-	७०१-७०७
३४०	२	१३	-	७२१-७२२
३४०	२	१३	-	७२३
३३९	२	१३	-	७२५-७२६
३३९	२	१३		७२७
३४०	२	१४		७३०
३४०	२	१४		७३१
३३४	२	१५		७८६-७८८

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	ज.	गा.
३३४	१	४	१	१०-२२
३२६	१	४	१	१६
३२७	१	४	१	२७
३३५	१	४	२	१-२२
३३४	१	१५	-	८-९

ठापांग-सूत्र

पृ.	अ.	ज.	सु.
पटि (७४२)			
३२२	२	१	५४-५५
३२२	३	२	१६३
३२२	३	२	१६३
३२८	९	-	६६३
४२८	९	-	६६३

समवायांग-सूत्र

पृ.	सम.	सु.
४२८ टि.	९	१
३१६ टि.	२५	१
३३३	१८	१
४२४	५	१

मगवती-सूत्र

पृ.	स.	ज.	सु.
सु. ३२२	९	३१	५
३२२ टि.	९	३१	१३
३२३	९	३१	३२

प्रश्न व्याकरण-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	सु.
३१६	२	४ १	
३१९	२	४ २	
३१९	२	४ २-३	
३१९	२	४ ३-४	
३२१	२	४ ५	
३२१	२	४ ६	
३२१	२	४ ७	
३१६ टि.	२	४ ८-१२	
४२४	२	४ ८-१२ (क)	
४२७	२	४ १२ (ख)	

दशवैकालिक-सूत्र

पृ.	अ.	ज.	सु.
३१४	४	-	१४
३३२	५	१	गा. ९-११
३३३	६	-	सु. १५-१६
३२५	८	-	गा. ५१
३३१	८	-	गा. ५२
३२६	८	-	गा. ५३
३२५ टि.	८	-	गा. ५४
३२७	८	-	गा. ५५
३३१	८	-	गा. ५६
३२७	८ टि.	-	गा. ५७

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ.	अ.	गा.
३२७	१	२६
३३४	८	१८-१९
३२३	१६	सु. १
३२४	१९	२
३२६	१६	३
३२६	१९	सु. ३
३२६	१६	सु. ४
३२७	१६	सु. ५
३२८	१६	सु. ६
३२९	१६	सु. ७
३२९	१६	सु. ८
३३०	१६	सु. ९
३३०	१६	सु. १०
३२६	१६	सु. ११
३२७	१६	गा. ४-५
		६

३२८	१६	७
३२९	१६	८
३२९	१६	९
३३०	१६	१०
३३०	१६	११
३३१	१६	१२
३२४	१६	१३-१५
३३१	१६	१६
३२३	१६	१७
३२७	१६	१८
टि. ३१४	१६	२९
३२५	२९	३३
टि. ३३३	३१	१४
३२९	३२	१०-११
३२५	३२	१२-१३
३२७	३२	१४-१५
३२५	३२	१६-१७
३३१	३२	१९-२०
३२५	३५	४-५

व्यवहार-सूत्र

पृ.	ज.	सु.
४२३	२	२४-२५
४१९	६	१६-१७

कल्प-सूत्र

पृ.	ज.	सु.
४१३	४	१४-१५
४१४	५	१-४
४१९	५	१३-१४

निशीथ-सूत्र

उद्देशक-१

पृ.	ज.	सु.
४१८	१	१
४१६	१	२-९

उद्देशक-३

३५२	३	१६-२१
३५१	३	२२-२७
३५३	३	४१
३५३	३	४२-४६
३५५	३	४७-४९
३५४	३	५०-५५
३५५	३	५६
३५५	३	५७
३५५	३	५८-६३
३५६	३	६४-६५
३५६	३	६६
३५२	३	६७-६८
३५७	३	६९
४२३	३	७०

उद्देशक-४

३५८	४	४९-५४
३५७	४	५५-६०
३५९	४	७४
३५९	४	७५-७९
३६१	४	८०-८२

३६०	४	८३-८८	परि(७४४)	४१४-६	७	८२-८४	३७२	१७	४१-४५		
३६१	४	८९	परि(७४५)	४१४-७	७	८५-८८	३७६	१७	४६-४८		
३६२	४	९०	परि (७४५)	४१४-८	७	८९-९०	३७३	१७	४९-५४		
३६३	४	९१-९६	परि (७४५)	४१४-९	७	९१	३७४	१०	५५		
३६४	४	९७-९८	उद्देशक-८				३७६	१७	५६		
३६५	४	९८	परि (७४८)	४२३	८	१-९	३७५	१७	५७-६२		
३५८	४	९९-१००	उद्देशक-११				३७६	१७	६३-६४		
३६६	४	१०१	३८६	११	११-१६		३७६	१७	(६४)		
उद्देशक-६			३८४	११	१७-२२		३७६	१७	६५		
४१६	६	१	३८७	११	३६		३७१	१७	६५-६६		
४१९	६	२	३८७	११	३७-४१		३७७	१७	६७		
४१७	६	३-१०	३८९	११	४२-४४		३७७	१७	६८-७३		
४१६	६	११	३८८	११	४५-५०		३७९	१७	७४-७९		
४१६	६	(११)	३८८	११	५१		३८०	१७	९१		
४२२	६	१२	३८८	११	५२		३८०	१७	९४-९८		
४२२	६	१३	३९०	११	(५३)		३८२	१७	९९-१०१		
४१४	६	१४-१८	३९१	११	५४-५८		३८०	१७	१०२-१०७		
४१९	६	१९-२३	३८९	११	५९-६०		३८३	१७	१०८		
३९९	६	२४-२९	३९०	११	६१-६२		३८२	१७	१०९		
३९८	६	३०-३५	३८५	११	६३		३८३	१७	११०-११५		
३४४	६	३६-४१	३९१	११			३८४	१७	११६-११७		
३४५	६	४२-४७	उद्देशक-१५				३७८	१७	(११७)		
३४७	६	४८	पु.	उ.	सु.		३८४	१७	११८-११९		
४००	६	४९	३६४	१५	१३-१८		अपरिग्रह महाव्रत				
४००	६	५०-५४	३६४	१५	१९-२४		आचारंग-सूत्र				
४०१	६	५५-५७	३६५	१५	२८		पु.	सु.	म.	उ.	सु.
४०१	६	५८-६३	३६५	१५	३९-४३		४४८	१	१	५	४१
४०२	६	६४	३६७	१५	४४-४६		४५१	१	२	१	६३-६४
४०४	६	६५	३६६	१५	४७-५२		४५४	१	२	१	६६-७१-७७
४०३	६	६६-७१	३६७	१५	५३		४५४	१	२	२	६९
४०४	६	७२-७३	३६८	१५	५४		४५१	१	२	२	७३-७४
४०५	६	(७३)	३६८	१५	५५-६०		४५५	१	२	३	७५-७६
३९९	६	७४-७५	३६९	१५	६१-६२		४५१	१	२	३	(७७क)
४०५	६	७६	३६९	१५	६३		४३८	१	२	३	७९
४२३	६	७७	३६४	१५	६५-६४		४४२	१	२	४	८१-८२
उद्देशक-७			३६९	१५	६५		४३६	१	२	४	८३
४२१	७	१-३	३९२	१५	१००-१०५		४४२	१	२	४	८४-८५
४२२	७	४-६	३९१	१५	१०६-१११		४३९	१	२	५	८९ (घ)
४२०	७	७-९	३४१	१५	११२-११७		४४७	१	२	५	९०-९१
परि (७४५) ४२०	७	१०-१२	३४२	१५	११८-१२३		४३४	१	२	५	९२
परि (७४५) ४१८	७	१३	३४३	१५	१२४		४५२	१	२	५	९३
४०७	७	१४-१९	३९३	१५	१२५		४४४	१	२	६	९७अ-९९-क
४०५	७	२०-२५	३९३	१५	१२६-१३०		४५१	१	२	६	१०५-अ
३४७	७	२६-३१	३९५	१५	१३१-१३३		४३५	१	३	१	१०८ (ग)
३४८	७	३२-३७	३९४	१५	१३४-१३९		४३५	१	३	२	११९
३५०	७	३८	३९५	१५	१४०		४४८	१	५	१	१४९-ग
४०८	७	३९	३९७	१५	१४१		४५१	१	५	१	१४९ (घ)
४०८	७	४०-४४	३९६	१५	१४२-१४७		४३८	१	५	२	१५४
४२०	७	४५-४७	३९७	१५	१४८-१४९		४३९	१	५	२	१५५
४०९	७	४८-५३	३९७	१५	(१४९)		४३४	१	५	३	१५७
४१०	७	५४	३९२	१५	१५०-१५१		४३३	१	५	३	१७४-१७६ (क)
४१२	७	५५	३९७	१५	१५२		४३६	१	६	१	१८१-१८३
४११	७	५६-६१	४२०	१५	१५३		४५२	१	६	३	१८३
४१२	७	६२-६३	४२०	१५	१५४		४४३	१	६	३	१८९
४१३	७	(६३)	उद्देशक-१७				परि (७४८)				
४०६	७	६४-६५	पु.	उ.	सु.		४३५	१	८	३	२०९ (क)
४१३	७	६६	३७१	१७	१५-२०		४४८	२	११	-	१६९-१८७
परि(७४३) ४१४-१	७	६७-७४	३७०	१७	२१-२६		४५१	२	१२	-	१८९
परि (७४३) ४१४-२	७	७५-७६	३७२	१७	२१-२६		४२९	२	१५	-	७८९-७९१
परि(७४३) ४१४-३	७	७७-७८					परि (७४८)				
परि (७४५) ४१६-४	७	७९					४३२	२	१५	-	७९२
परि (७४४) ४१४-५	७	८०-८१									

सूयगङ्गा-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	उ.	मा.
४५४	१	१	४	२-३
४५९	१	२	२	१-१०
४६६	१	२	२	११
४६६-४७७	१	२	३	२-८
४६७	१	७	-	२१-२६
४६५	१	७	-	२७-२८
४६८	१	९	-	३२
४६८	१	९	-	३५
परि. (७४९)				
४७४	१	९	-	१०
४७३	१	१०	-	५-६
४७४	१	१०	-	८-१०
४७९	१	१०	-	१०-१९
४७३	१	१०	-	२०-२४
४७४	१	१३	-	१८-१९
४७४	२	१	-	६७७-६७८
४७६	२	१	-	६८५
टि. ४२९	२	१	-	६८५

समवायाग

पृ.	सम.	सु.
४३७	५	१
टि. ४२१	२५	१
४६७	२५	१

प्रश्नव्याकरण

पृ.	सु.	अ.	सु.
४३२	२	५	२
४३२	२	५	३-४
४४१	२	५	७
४५५	२	५	१२
४६७	२	५	१२-१६
४३१ टि.	२	५	१३-१६
४७३	२	५	१७

दशवैकालिक-सूत्र

पृष्ठ	अ.	मा.
४४५	२	४
४४०	२	५
४२९	४	१५
४४६	८	३४
४४३	८	५८-५९
४४१	१०	८

उत्तराध्ययन

पृ.	अ.	मा.
४५५	४	२-५
४५३	६	३-४
४३६	६	५
४३९	६	(५)
४४१	६	१५
४४१	८	१६-१७
४३४	१०	२८
४३६	१०	२९-३०
४४७	१३	१६-१७
४२९ टि.	१९	३०

४४०	२३	४५-४८
४४५	२३	४०-४१
४४६	२५	४०-४१
४५५	२९	३१
४५६	२९	३४

निशीथ-सूत्र

पृ.	उ.	सु.
४६३	२	९
४६३	२	२१
४६५	४	१, ७, १३
४६१	४	२, ८, १४
४६५	४	३, ९, १५
४६५	४	४, १०, १६
४६६	४	५, ११, १७
४६६	४	६, १२, १८
परि. (७४९)		
४६६	४	४०-४२
४६६	४	४३, ४४, ४५
परि. (७४९)		
४६६	४	४६-४८
४५९	५	३६, ४७
४६०	५	४८-५९
४६४	७	१०-१३
परि. (७४८)		
४६२	९	८-९
४६१	१२	१६-२८
४६२	१२	२९
४६२	१३	३१-४१
४६३	१७	१-१४
४५९	१७	१३४
४५६	१७	१३५-१३८
४५७	१७	१३९-१५०
४५८	१७	१५१

रात्रि-भोजन

प्रश्नव्याकरण

पृ.	सु.	अ.	सु.
४७६ टि.	२	५	७

दशवैकालिक

पृ.	अ.	सु.
४७५	४	१६-१७
४७६	६	२३-२५
४७६	८	२८

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ.	अ.	मा.
४७५ टि.	१९	३१

बृहत्कल्प-सूत्र

पृ.	उ.	सु.
४७५	१	४४
टि. ४८३	४	१

४७७	५	१-९
४८३ टि.	५	१०
४७६	५	४७
४७६	५	४८
४७७	५	४९
४७७	५	५०

निशीथ-सूत्र

पृ.	उ.	सु.
४७९	१०	३१-३४
४८९	१०	३५
४८१	११	७२-७३
४८०	११	७४-७७
४८१	११	७८-७९
४८१	११	८१
४८१	१२	३२-३५
४८२	१२	३६-३९

अष्टप्रवचन माता

ठाणाग-सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
४८५ टि.	५	३	४५७
४८५	८		६०३
४८५	८		६०३

समवायाग-सूत्र

पृ.	सम.	सु.
४८५ टि.	५	१
४८५	८	१

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ.	अ.	मा.
४८५	२४	१-२
४८५	२४	३
४८५	२४	२६-२७
४८५ टि.	३१	२

आवश्यक-सूत्र

पृ.	अ.	सु.
४८५ टि.	४	२४

(१) ईर्या समिति

आचाराग-सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	सु.
४८६	१	५	४	१६२-१६३
४९३	२	१	१	३२८
४९३	२	१	१	३२९
४९५	२	१	५	३५३
४९५	२	१	५	३५५
४९५	२	३	१	४१९
५०१	२	३	१	४७०
४८९	२	३	१	४७१
४९९	२	३	१	४७२
४९९	२	३	१	४७३

५०२	२	३	१	५०४-५०५
५०४	२	३	२	५०६-५०७
५०४	२	३	२	५०८-५०९
५०९	२	३	२	५१०
५०५	२	३	२	५११-५१२
५१६	२	३	२	५१३-५१४
५००	२	३	२	५१५-५१६
५११	२	३	२	५१७
५१२	२	३	३	५१८
५१२	२	३	३	५१९
५१६	२	३	३	५२०
५१६	२	३	३	५२१
५१७	२	३	३	५२२
५१७	२	३	३	५२३
५२९	२	३	३	५२४
५२०	२	३	३	५२५
५२१	२	३	३	५२६

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृ.	सू.	अ.	उ.	सू.
पटि (७४९)				
४८७	१	२	१	११

ठाणांग-सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सू.
पटि. ४८६	५	३	४६५
५०९	५	२	४१२(१-२)

भगवती-सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सू.
४८८	७	७	१
४८७	१८	८	२
४८७	१८	१०	२३

आताधमकियांग-सूत्र

पृ.	सू.	अ.	सू.
४८७पटि	१	५	४६

दशवैकालिक-सूत्र

पृ.	अ.	उ.	गा.
४९४	५	१	४-६
४८९	५	१	७
४९४	५	१	११-१४
४८९	५	१	१६-१७
४९२ टि	७	-	२६

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ.	अ.	गा.
४९४पटि	१७	८
४८६	२४	४-८

व्यवहार-सूत्र

पृ.	उ.	सू.
४९७	१	२०-२२

बृहत्कल्प-सूत्र

पृ.	उ.	सू.
५००	१	३९
४८९	१	४६
५०१	३	३३
५०१ टि	४	३४
५०२	४	३५

निशीथ-सूत्र

पृ.	उ.	सू.
४९३	२	४०-४१
४९३	२	४२
४९९	९	१८-१९
५००	११	७९
४९१	१२	४०
५०२	१२	४२
४९४	१९	१-३
४९०	१६	२५-२६
५०६	१८	१-२३

(२) भाषा समिति

आचारांग-सूत्र

पृ.	सू.	अ.	उ.	सू.
५२५	२	३	३	५१०-५१४
५२२	२	४	१	५२०
५१८	२	४	१	५२१
५१०	२	४	१	५२२
५२४	२	४	१	५२४
५१८	२	४	१	५२५
५२१	२	४	१	५२६
५१९	२	४	१	५२७
५२७	२	४	१	५२८
५१९	२	४	१	५२९
५२३	२	४	१	५३०
५१९	२	४	१	५३१
५२७	२	४	२	५३३
५१९	२	४	२	५३४
५२८	२	४	२	५३५
५२०	२	४	२	५३६
५२८	२	४	२	५३७
५२०	२	४	२	५३८
५२८	२	४	२	५३९
५२०	२	४	२	५४०
५२९	२	४	२	५४१
५२१	२	४	२	५४२
५२९	२	४	२	५४३
५२१	२	४	२	५४४
५२९	२	४	२	५४५
५२१	२	४	२	५४६
५३०	२	४	२	५४७
५२१	२	४	२	५४८
५३०	२	४	२	५४९
५२२	२	४	२	५५०
५२९	२	४	२	५५१

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृ.	सू.	अ.	गा.
५२४	१	९	२५-२६
५२६ टि	१	९	२७

५१०	१	११	१७-२१

ठाणांग-सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सू.
५१०पटि	४	२	२३८
५११पटि	१०	-	७४१(१)
५११पटि	१०	-	७४१(२)
५११पटि	१०	-	७४१(३)

पन्नवणा-सूत्र

पृ.	अ.	सू.
५१४	११	८३०-८३१
५१५	११	५३२-८३८
५१७	११	८३९-८४८
५१२	११	८४९
५१३	११	८५०
५१३	११	८५१
५१३	११	८५२
५१३	११	८५३
५१३	११	८५४-८५७
५१३	११	८६०-८६६
५१०पटि.	११	८७०
५१८	११	८९६-८९७
५१०पटि	११	८९८
५११	११	८९९

दशवैकालिक-सूत्र

पृ.	अ.	गा.
५३०	७	१-२
५१८पटि	७	३
५२५	७	४-५
५२३	७	६-१०
५२४	७	११
५२८	७	१२-१३
५२७	७	१४
५२७पटि.	७	१५
५२७	७	१६
५१९	७	१७
५२७	७	१८
५२७पटि.	७	१९
५१९पटि.	७	२०
५१८ टि.	७	२१-२२
५२९पटि.	७	२३
५२०	७	२४
५२९पटि	७	२५
५२९पटि.	७	२६-२९
५२१	७	३०-३१
५२९पटि.	७	३२
५२१	७	३३
५३०पटि.	७	३४
५२१	७	३५
५३१	७	३६-३७
५३२	७	३८-३९
५२५	७	४०
५२८पटि	७	४१
५२०	७	४२
५३२	७	४३-४६
५२५	७	४७
५३१	७	४८-४९
५२३	७	५०

५२३	७	५१-५२
५२४	७	५३
५२५	७	५४
५२६	७	५५-५७
५२७	७	५५
५२८	८	५६-५८
५२९	८	५७-५९
५३०	९	उ. ३ गा. ९

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ.	अ.	भा.
५२४	१	२४-२५
५२४	२४	९-१०

बृहत्कल्प-सूत्र

पृ.	उ.	सु.
५२४	६	१

निशीथ-सूत्र

पृ.	उ.	सु.
५३२	२	१८
५३२	१५	१-३

(३) एषणा-समिति

आचाराग-सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	सु.
५३४	१	२	४	८६
५३९	१	२	५	८७-८८
ति. ५३४	१	२	५	८७
ति. ५३९	१	२	५	८८(४)
ति. ५४१	१	२	५	८८(५)
५४१	१	२	५	८९-९०
६०२	१	२	५	८९-९०
५९७	१	८	२	२०४-२०५
ति. ५५६	१	८	-	२०४-२०५
५४१	१	८	३	२१०
५४०	१	८	५	२१८
६०२	१	८	६	२२३
५७४	२	१	१	३२४
५७९	२	१	१	३२५
५७९	२	१	१	३२६
५९६	२	१	१	३३१
ति. ५५८	२	१	१	३३१
५९६	२	१	१	३३२
५८९	२	१	१	३३३
६१६	२	१	१	३३५
५४८	२	१	२	३३६
६१६	२	१	२	३३७
६१४	२	१	२	३३८-क
६१४	२	१	२	३३८-ख
६१५	२	१	३	३४०
६१८	२	१	३	३४१
६२५	२	१	३	३४२
५६८	२	१	३	३४३
५४९	२	१	३	३४६
६१७	२	१	४	३४८
५४७	२	१	४	३४९
५५०	२	२	४	३५०

५८८	२	१	५	३५२
५४८	२	१	५	३५४
५४८	२	१	५	३५५
५५०	२	१	५	३५६
६०४	२	१	५	३५७-क
५४५	२	१	५	३५७-ख
५४७	२	१	६	३५९
५४६	२	१	६	३६०-क
५७२	२	१	६	३६०-ख
५८५	२	१	५	३६०-ग
५७२	२	१	६	३६१
५७१	२	१	६	३६२
५६९	२	१	६	३६३
५६१	२	१	७	३६५
५६२	२	१	७	३६६
५६१	२	१	७	३६७
५६८	२	१	७	३६८-क
५६८	२	१	७	३६८-ख
५६९	२	१	७	३६८-ग
५७३	२	१	७	३६८-घ
५७०	२	१	७	३६८-ङ
५७१	२	१	७	३६८-झ
५७४	२	१	८	३७४
५७५	२	१	८	३७५
५७५	२	१	८	३७६
५७६	२	१	८	३७७
५७६	२	१	८	३७८
५७६	२	१	८	३७९
५७८	२	१	८	३८०
५७८	२	१	८	३८१
५७६	२	१	८	३८२
५७७	२	१	८	३८३
५७७	२	१	८	३८४
५७७	२	१	८	३८५
५७७	२	१	८	३८६
५७८	२	१	८	३८७
५७८	२	१	८	३८८
५५५	२	१	९	३९०
५४३	२	१	९	३९१
५५५	२	१	९	३९२
६०७	२	१	९	३९४
६०६	२	१	९	३९६
५६३	२	१	९	३९७(१)
५५८	२	१	१०	३९७(२)
६०४	२	१	१०	३९९
६०६	२	१	१०	४००
ति. ६०७	२	१	१०	४०१
५८८	२	१	१०	४०२
६०७	२	१	१०	४०५
६१९	२	१	१	४०६
५४६	२	६	२	६०२
६०२	२	७	१	६०८-६०९
५८०	२	७	२	६२३-६२८
५८२	२	७	२	६२९-६३१
५८३	२	७	२	६३२

सूत्रकुलाग-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	उ.	गा.
५५९	१	१	१	१-४
५४०	१	१	४	४
५६५	१	७	-	२४-२६
ति. ५९६	१	९	-	१४

५५४	१	१०	-	११
५४०	१	११	-	१३
५५८	१	११	-	१४
५५९	१	१२	-	१५
५६५	१	१३	-	१०
५६५	१	१३	-	१२
५४०	१	१३	-	१७
५९९	१	१	-	६८७
५३४	२	१	सु.	६८८
ति. ५५८	२	१	सु.	६८७-६८८
ति. ५४४	२	१	सु.	६८८
५५५	२	५	गा.	८-९
ति. ५५६	२	५	गा.	८-९
५५६	२	५	गा.	८-९

ठाणाग-सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
५३७	३	३	१८८
ति. ५३७	३	३	१८८
ति. ५३३	३	४	१९८
५३५	४	१	२४१
५३८	४	१	२४४
५३७	४	२	२९५
ति. ५३७	४	४	३४०
५३६	४	४	३५०
५३६	४	४	३५२
६१२	६	-	५००(१)
६१२	६	-	५००(२)
५३९	६	-	५१४ (२०)
५३९	९	-	६८१
ति. ५३३	९	-	६८१
५३८	९	-	६७४
ति. ५९६	९	-	६९३

भगवतीसूत्र (विवाह प्रज्ञप्ति)

पृ.	सु.	अ.	उ.	सु.
५५७	१	९	-	२६
५९९	१	९	-	२७
६१०	७	१	-	१७
६१०	७	१	-	१८
ति. ५३३	७	१	-	१८
६११	७	१	-	१९
५३३	७	१	-	२०
६०५	८	६	-	४
ति. ५५७	७	८	-	९
ति. ५९६	९	३३	-	४३
६१२	२५	७	-	२०६

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृ.	सु.	अ.	उ.	सु.
५६६	१	१	-	५ (ग)
ति. ५३३	२	१	-	५ (ख)
ति. ५४९	२	१	-	५ (क)
ति. ५६५	२	५	-	५
५६८	२	५	-	५
५३३	२	५	-	६
५६५	२	५	-	२९

औपपातिक-सूत्र

पृ. ६१२	उप. सु. १०

दशवैकालिक-सूत्र				बृहत्कल्प-सूत्र			
पृ.	अ.	उ.	गा.	पृ.	उ.	सु.	
५३४	१		२-५	५३४	१	१	
टि.५३५	३		२	५३५	१	१-५	
टि. ५३६	४		२२	५३६	१	४७	
५३७	५	१	१-३	५३७	१	१३	
५३८	५	१	४,६	५३८	२	१४-१६	
५३९	५	१	९-११	५३९	२	१७-१८	
५४०	५	१	१२	५४०	२	१९-२०	
५४१	५	१	१५	५४१	२	२१-२२	
५४२	५	१	१६	५४२	२	२३-२४	
५४३	५	१	१७	५४३	२	२५-२८	
५४४	५	१	१८	५४४	४	१५	
५४५	५	१	१९	५४५	४	१७	
५४६	५	१	२०	५४६	४	१८	
५४७	५	१	२१	५४७	४	१९	
५४८	५	१	२२	५४८	५	११	
५४९	५	२	२३-२७	५४९	५	१२	
टि.५४९	५	२	२५	५५०	५	५२	
५५०	५	२	२८				
५५१	५	१	२९-३१				
टि. ५५३	५	१	३२				
टि.५५५	५	१	३३-५१				
टि.५५८	५	१	५०				
५५३	५	१	५२-५५				
५५७	५	१	५४				
५५१	५	१	५५-५६				
५५१	५	१	५७-५८				
टि. ५६८	५	१	५९				
५६१	५	१	६०-६१				
५५८	५	१	६२-६३				
५५८	५	१	६४-६५				
५५८	५	१	६६-६७				
टि.५५६	५	१	६६-६७				
५५८	५	१	६८-६९				
टि.५५६	५	१	६८-६९				
टि. ५५३	५	१	७०				
५५२	५	१	७१				
टि.५७४	५	१	७२-७३				
टि. ५६८	५	१	७४-७५				
५७०	५	१	७६-९५				
टि. ५६२	५	१	९८-१००				
टि.५७५	५	१	१०१				
५८७	५	१	१०२-१०३				
५८८	५	१	१०४-१०५				
६००	५	१	११३				
६०२	५	१	११८-१२०				
६००	५	१	१३१				
६०२	५	२	१				
६०३	५	२	२-३				
५४४	५	२	४-६				
टि. ५४८	५	२	७				
टि. ५४६	५	२	९				
टि. ५४५	५	२	१०-१२				
टि. ५४६	५	२	१३				
५७४	५	२	१४-१७				
५७५	५	२	१८				
टि.५७६	५	२	१९				
टि. ५७९	५	२	२०				
टि.५७८	५	२	२१ (२)				
टि.५७८	५	२	२१ (२)				
टि. ५७८	५	२	२२				

उत्तराष्ट्रपथन-सूत्र

पृ.	अ.	गा.
५४०	१	३२
टि.५४५	१	३३
५६२	१	३४
६००	१	३५
६००	६	१४
५४०	६	१६
५४०	८	११-१२
५४८	८	२३
टि.५६४	१५	११
६०९	१७	१५
५१५	१९	३४
५१५	१९	८४
५३८	२४	११-१२
टि.५४४	२६	३२
टि.६१२	२६	३३-३४
५४७	२६	३५
टि.५४०	३०	२५
५१९	३५	१०-११
५६०	३५	१४-१५
५४१	३५	१६
६०२	३५	१७

दशाश्रुतस्कन्ध

पृ.	दशा.	सु.
५५४ टि	२	२
५६० टि	२	२
५६३ टि	२	२
५६६ टि.	२	२
५९८ टि.	२	२
५४०	७	६
५४३	६	२८
६१३	८	१०-११
५४३ टि	८	४१-४३

अवहार-सूत्र

पृ.	उ.	सु.
५५१	४	१९
५५१	४	२०-२१
५५१	४	२२-२३
५४२	६	१-३
६१९	७	४-६
टि.६१२	८	२२-२३
६२२	९	१७
६२२	९	१-४
६२२	९	५-८
६२२	९	९-१६
६२३	९	१७-२०
६२५	९	११-१४

अवहार

पृ.	अ.	सु.
५७९	९	३३-३४
६२५	९	३५-३६
टि.५३८	९	४५
५३८	९	४६

निशीथ-सूत्र

पृ.	उ.	सु.
५५९	१	५८
५८९	२	३२-३६
५६५	२	३८
५४३	२	३९
६०७	२	४४
६०६	२	४५
६२५	२	४६
६२५	२	४७
६२५	२	४८
६२५	२	४९
५४९	३	१३
६१८	३	१४
५६०	३	१५
५७९	४	१९

६०९	४	२०
६०३	४	२१
५५९	४	२२
५८६	४	३८-३९
६०९	५	१४
५५२	५	३४
५५२	५	३५
५९५	८	१४-१७
५९१	८	१८
५९०	९	१-२
५९०	९	३-५
५९१	९	६
५९१	९	७
परि. (७५०)	५९२	९ १०
५९२	९	१२-१७
५९२	९	२०-२८
५७५	१०	५
५५८	१०	६
६१८	११	८०
५९०	११	८१
५७५	१२	४
६०९	१२	१०

निशीथ-सूत्र

पु.	उ.	सु.
५७३	१२	१४
५८६	१२	१५
६१३	१२	३०
६१३	१५	३१
५६६	१३	६४-७८
५८१	१५	५-१२
५८३	१६	४-११
५९०	१६	१२-१३
५४९	१६	२७
६०९	१६	३४-३६
५६२	१७	१२३
५६२	१७	१२४
५६१	१७	१२५
५७१	१७	१२६-१२९
५७३	१७	१३०
५९०	१७	१३१
परि. (७५०)		
५६०	१९	१-७

आवश्यक-सूत्र

पु.	अ.	सु.
टि. ५९५	४	१८

(३) एषणा समिति
पाण्डिषणा

आचारांग-सूत्र

पु.	अ.	उ.
टि. ६३१	१	७
६२७	१	७
६२९	१	७

६२९	२	१	८
६३०	२	१	९
६२९	२	६	२
६०३-६०४			

ठाणांग-सूत्र

पु.	अ.	उ.	सु.
६२८	३	३	१८०
टि. ६३१	३	३	१८२
टि. ६३१	३	३	१८२
टि. ६२८	३	३	१८८
टि. ६२८	३	३	१८८
टि. ६३१	३	३	१८८

दशवैकालिकसूत्र

पु.	अ.	उ.	गा.
६३०	८		६
६३०	५	१	१०६-११२
टि. ६३१	५	१	१०६

दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र

पु.	उ.	सु.
टि. ६३१	८	३०
टि. ६३१	८	३०
टि. ६३१	८	३०
टि. ६२८	८	३१
टि. ६२८	८	३२

निशीथ-सूत्र

पु.	उ.	सु.
६३२	२	४३
६३१	१७	१३२
टि. ६३२	१७	१३२

शाय्येषणा

आचारांग-सूत्र

पु.	अ.	उ.	सु.
६४८	२	१	४१२
६३७	२	१	४१३
६३८	२	१	४१४
६४८	२	१	४१४
६४८	२	१	४१५
६४८	२	१	४१६
६४९	२	१	४१७
टि. ६५२	२	१	४१२-४१७
६४९	२	१	४१८
६४७	२	१	४१९
६३८	२	१	४२०
६३८	२	१	४२१
६३९	२	१	४२२
६४०	२	१	४२३
६४०	२	१	४२४
६४०	२	१	४२५
६४१	२	२	४२७
६४१	२	२	४२८

६३९	२	२	२	४२९
६४३	२	२	२	४३०
६४९	२	२	२	४३१
६४४	२	२	२	४३२
६४४	२	२	२	४३३
६४४	२	२	२	४३४
६४५	२	२	२	४३५
६४४	२	२	२	४३६
६४५	२	२	२	४३७
६४५	२	२	२	४३८
६४५	२	२	२	४३९
६४५	२	२	२	४४०
६४५	२	२	२	४४१
६४५	२	२	२	४४२
६४५	२	२	२	४४३
६४५	२	२	२	४४४
६४५	२	२	२	४४५
६४५	२	२	२	४४६
६४५	२	२	२	४४७
६४५	२	२	२	४४८
६४५	२	२	२	४४९
६४५	२	२	२	४५०
६४५	२	२	२	४५१
६४५	२	२	२	४५२

पु.	अ.	उ.	सु.
६४२	२	३	४५३
६४२	२	३	४५४
६६०	२	३	४५५ (५)
६६०	२	३	४५८
६५७	२	३	४६० (१)
६५८	२	३	४६०-४६१
६५९	२	३	४६२
६५९	२	३	४६५-४६६
टि. ६५४	२	७	६०८
६५८	२	७	६१०
६५५	२	७	६१२
६५५	२	७	६१३-६१५
६५५	२	७	६१६
६५५	२	७	६१७
६५५	२	७	६१७
६५५	२	७	६१८
६५५	२	७	६१९
६५४	२	७	६२१-६२२
६५२	२	७	६३५
६५२	२	८	६३७
६५२	२	९	६४१-६४२
६४७	२	९	६४३

सूत्रकृतांग-सूत्र

पु.	सु.	अ.	गा.
६३६	१	११	१६

मगवती-सूत्र

पु.	सु.	उ.	सु.
टि. ६५३	१६	२	१०

दशवैकालिक सूत्र

पु.	अ.	गा.
६४४	२	११

उत्तराध्ययन सूत्र

पु.	अ.	गा.
६५९	१७	१४

६३२	३५	६-७	६६१	८	६८	६६७	१	४०-४१		
६३६	३५	८-९	६५७	८	७, ९	६६८	१	४२-४३		
			६६०	८	१०-१२	६७१	१	४५		
बृहत्कल्प सूत्र			निषीध सूत्र			ति.६७५	२	२९		
पृ.	ज.	सु.	पृ.	ज.	सु.	६८१	३	३-४		
६३४	१	६-७	६६४	२	३७	६८१	३	५-६		
६३४	१	८-९	६६२	२	५०-५८	६७९	३	७-८		
६४६	१	१०	६६५	४	२३	६७९	३	९-१०		
६३५	१	११	६६५	४	२४	६७९	३	११-१२		
६३७	१	१२	६६२	५	२३	६६८	३	१३		
६३४	१	१३	६६२	५	२३	६७२	३	१६		
६५०	१	१४-१५	६६४	५	६०-६२	६६७	३	१७		
६३४	१	१६	६६५	८	१२-१३	६६७	३	१८		
६४६	१	२०	६६१	९	११	६७९	५	३४-३६		
६३७	१	२१	६६५	१६	२९	निषीध सूत्र				
६३५	१	२२	६६५	१७	१२१	पृ.	ज.	सु.		
६३७	१	२३	६६५	१७	१२२	६८९	१	४७-५६		
६३५	१	२४	वस्त्रेषणा			६८७	१	१४		
६३४	१	२५	आचारांग-सूत्र			६८७	२	१३		
६३७	१	२६	पृ.	सु.	अ.	ज.	सु.	२२		
६३५	१	२७	६६६	१	२	५	८९ (क)	२३		
६३७	१	२८	६७७	१	८	४	२१३-२१४	२४		
६३४	१	२९	६७६	१	८	५	२१६-२१७	२४		
६३७	१	३०	६७६	१	८	६	२२०-२२१	२४		
६३५	१	३१	६७४	२	५	१	५५३ (क)	६५		
६३७	१	३२	६७७	२	५	१	५५३ (ख)	८७-९०		
६३५	१	३३	६६९	२	५	१	५५४	५		
६३७	१	३४	६६९	२	५	१	५५४ (क)	७		
६३५	१	३५	६६९	२	५	१	५५४ (ख)	११		
६५०	२	१-३	६७३	२	५	१	५५४ (ग)	८७		
६६३	२	४	६७३	२	५	१	५५६	९९		
६६३	२	५	६७३	२	५	१	५५७	२८		
६६३	२	६	६७३	२	५	१	५५८	२४-२७		
६६३	२	७	६७३	२	५	१	५५८	२८-३०		
६५१	२	८-१०	६७३	२	५	१	५५९-५६२	३१-३२		
६३७	२	११	६७३	२	५	१	५६३	३३-३४		
६३४	२	१२	६७३	२	५	१	५६४	३६-३७		
६४६	३	१	६७३	२	५	१	५६५	३९-४०		
६४७	३	२	६७३	२	५	१	५६५-५६७	४२-४३		
ति.६५७	३	१९	६७३	२	५	१	५६८	४५-४६		
६५३	३	२१	६७३	२	५	१	५६९-५७१	४८-४९		
६५१	३	२४-३५	६७३	२	५	१	५७२-५७४	५१-५२		
६५८	३	२६	६७३	२	५	१	५७५-५७८	५३-६३		
६५८	३	२७	६७३	२	५	१	५७९	७१-७२		
६५६	३	२८	६७३	२	५	२	५८१	७३-७४		
६५४	३	२९-३२	६७३	२	५	२	५८१			
६५४	३	३४	६७३	२	५	२	५८१			
६४९	४	३६-३८	६७३	२	५	२	५८१			
बृहत्कल्प-सूत्र			ठाणारंग-सूत्र			आचारांग सूत्र				
पृ.	ज.	सु.	पृ.	अ.	ज.	सु.	पृ.	अ.	ज.	सु.
६६१	५	३५-३८	ति.६७५	३	३	१७८	६९०	२	१	५८८
६५७	५	३७-३९	६७४	३	३	१७९	६९२	२	१	५८९
व्यवहार सूत्र			६७७	४	१	२४३	६९२	२	१	५९० (क)
पृ.	ज.	सु.	ति.६७५	५	३	४४३	६९७	२	१	५९० (ख)
६६४	६	१२-१३	बृहत्कल्प-सूत्र			६९७	२	१	५९१ (क)	
६५२	६	१४-१५	पृ.	ज.	सु.	६९२	२	१	५९२-५९३	
६५३	७	२४-२५	६८६	१	१९	६९४	२	१	५९६ (क-ख)	
६५६	८	१				६९४	२	१	५९६ (ग)	
६५७	८	२-४				६९५	२	१	५९७ (क)	
						६९५	२	१	५९७ (ख)	
						६९६	२	१	५९७ (ग)	

६९६	२	६	१	५९८
६९७	२	६	१	५९९
६९८	२	६	१	६०० (क)
७०३	२	६	१	६०० (ख)
७००	२	६	१	६०० (ग)
७००	२	६	१	६०० (घ)
७०१	२	६	१	६०५ (ग)
७०२	२	६	२	६०५ (घ)
७०३	२	६	२	६०५ (ङ)
७०३	२	६	२	६०५ (च)

ठाणाग सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
दि.६९०	३	१	१७८

भगवती सूत्र

पृ.	स.	उ.	सु.
६९०	८	६	५०६

व्यवहार सूत्र

पृ.	उ.	सु.
६९९	८	१६

बृहत्कल्प सूत्र

पृ.	उ.	सु.
६९५	१	१७
६९९	१	१८
६९९	५	३०
६९९	५	४०-४२
६९९	५	४१-४३

निशीथ सूत्र

पृ.	उ.	सु.
७०५	१	१९
७०६	१	४१-४६
७०५	२	२५
७०७	२	२७-३१
६०८	५	६४
६९३	११	१-२, ४-५
६९२	११	७-८
६९७	१४	१-४
६९१	१४	५-७
६९८	१४	८-९
७०२	१४	१०-११
७०४	१४	१२-२३
७००	१४	२४-३४
७०६	१४	३५-४०
७०५	१४	४१
७०७	१४	४२-४३
७०७	१४	४४-४५

पायपुष्पण एषणा

बृहत्कल्प-सूत्र

पृ.	उ.	सु.
७०८	५	४४-४५

निशीथ सूत्र

पृ.	उ.	सु.
७०९	२	१-८
७०९	५	१५-१८
दि.७०८	५	१५-१८

रजोहरण एषणा

ठाणाग सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
७१०	५	४	४०६

भगवती सूत्र

पृ.	स.	उ.	सु.
७११	८	६	५
७११	८	६	६

दशवैकालिक सूत्र

पृ.	अ.	सु.
७१०	४	५४

बृहत्कल्प

पृ.	उ.	सु.
७१०	२	३०

निशीथ सूत्र

पृ.	उ.	सु.
७१०	५	६७-७७

आदान-निक्षेपणा-समिति

आचारांग सूत्र

पृ.	सु.	अ.	उ.	सु.
७१२	२	१	३	३४४-३४५
दि.७१३	२	५	२	५८२
दि.७१३	२	६	२	६०५ (क-ख)
७१३	२	७	१	६०७ (ग)
७१७	२	७	१	६११

ठाणाग सूत्र

पृ.	अ.	सु.
७१५	६	५०३

प्रश्नव्याकरण सूत्र

पृ.	सु.	अ.	सु.
७१२	२	५	८

दशवैकालिक सूत्र

पृ.	अ.	उ.	गा.
दि.७१३	५	१	८
७१२	६	-	१९
७१५	८	-	१७

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ.	अ.	गा.
७१६	१७	७
७१६	१७	९-१०
७१५	२४	१३-१४
७१६ दि.	२६	२५-२६
७१८	२९	३६

व्यवहार सूत्र

पृ.	उ.	सु.
७१४	८	५
७१८	८	१३-१५

निशीथ-सूत्र

पृ.	उ.	सु.
७१७	१	३५-३८
७१४	१	४०
७१६	२	५५
७१७	५	१९-२३
७१४	५	६६
७१४	१६	३९

परिष्ठापनिका समिति

आचारांग सूत्र

पृ.	सु.	अ.	उ.	सु.
७२१	२	२	३	४५९
७२१	२	१०	-	१४५
७२५	२	१०	-	६४६-६४७
७२२	२	१०	-	६४८
७२५	२	१०	-	६४९
७२२	२	१०	-	६५०-(क)
७२३	२	१०	-	६५१-६६६
७२१	२	१०	-	६६७

दशवैकालिक सूत्र

पृ.	अ.	गा.
७२०	८	१८

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ.	अ.	गा.
७२०	२४	१५
७२०	२४	१६
७२०	२४	१७-१८

बृहत्कल्प सूत्र

पृ.	उ.	सु.
७२१	४	२९

व्यवहार सूत्र

पृ.	अ.	सु.
७२२	७	२१

निशीथ सूत्र

पृ.	अ.	सु.
७२८	२	४१
७२६	३	७१-७९
७२८	३	८०
७२७	४	१०४
७२९	४	१०२-१०३
७२९	४	१०५
७२९	४	१०६-१११
७२७	१५	६६-७४
७२७	१६	४०-५०

गुप्ति

आचारांग सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
७३२	१	३	२
७३५	१	४	४
७३७	१	५	२

७३४	१	८	१	२०१
७३८	१	८	१	२०३

सूत्रकृतांग सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
७३४	१	१०	१५

ठाणग सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
७३०	२	१	११४
दि. ७३१	१०	-	७५५
७३३	१०	-	७११ (क)
७३३	१०	-	७११ (ख)

समवायांग सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
७२२ दि	१०		१

वशवैकालिक सूत्र

पृ.	अ.	उ.	सु.
७३०	१०		१५

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ.	अ.	गा.
७३८	१७	१३
७३९	२३	५५-५८
७३०	२४	१९
७३१	२४	२०
७३०	२४	२१
७३४	२४	२२
७३४	२४	२३
७३४ दि	२४	२३
७३५	२४	२४
७३५	२४	२५
७३०	२४	२६(२)
७३४	२९	२७
७३३	२९	५५
७३४	२९	५६
७३६	२९	५७
७३४	२९	५८
७३५	२९	५९
७३६	२९	६०
७३७	२९	६४-६८

दशाश्रुतस्कन्ध

पृ.	अ.	सु.
७३१	५	१-२
७३१	५	६

आवश्यक सूत्र

पृ.	अ.	सु.
७३० दि.	४	२२

चरणानुयोग : भाग २

दीक्षा

आचारांग सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	सू.
२/३	१	५	३	१५८
२/३	१	८	१ दि.	२०२(क)
२/३	१	८	१ दि.	२०२(ख)

ठाणगसूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	सूत्र
२/३	२	१	५४-५५
२/४	२	१	६६(क)
२/३	३	२	१६३(२)
२/६	३	२ दि.	१६५(१-४)
२/८	३	२ दि.	१६७ (१)
२/५	३	४	२०४
२/२	४	३	१२९
२/६	४	४	१५५(१-५)
२/७	४	४	१५५(६-७)
२/७	४	४	१५५(८)
२/७	५	३	४४३(२,३)
२/७	१०		७१२

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	सू.
२/१	९	३१		४
२/१	९	३१		१३
२/१	९	३१		३२

दशवैकालिक सूत्र

पृष्ठ	अ.	गा.
२/१०	४	१-६
२/९	४	७-१२

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ	उ.	सू.
२/८	३५	१-२

व्यवहार सूत्र

पृष्ठ	उ.	सू.
२/८	४	१५-१७
२/४	७	६-९
२/८	१०	१९
२/४	१०	२०-२१

बृहत्कल्प सूत्र

पृष्ठ	उ.	सू.
२/५	३	१४-१५
२/५	४ दि.	४-९

पृष्ठ	उ.	सू.
२/५	११	८४
२/१०	११	८५

संयमी जीवन

आचारांग सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	सू.
२/२६	१	१	१	४-५
२/२०	१	१	३	१९-२१
२/१९	१	१	५	४०
२/१९	१	२	२	७०-७१
२/२८	१	२	६	१००-१०१
२/२७	१	३	१	१०६
२/२७	१	३	१	१०७
२/५४	१	३	१	१०७(ख)
२/२७	१	३	३	१२२
२/२६	१	४	३	१८४-१८९
२/३८	१	६	२	१८५(ग)
२/२६	१	६	५	१९७(ख)-१९८
२/१९	१	८	३	२०९(ग)

सूत्रकृतांग सूत्र

पृष्ठ	अ.	अ.	उ.	गा.
२/४१	१	१	४	११-१३
२/२६	१	२	१	१२

२/४१	१	२	२	४-८
२/२६	१	२	२	२०
२/२६टि.	१	२	२	२०
२/५४	१	२	३	१
२/१७	१	२	१	१
२/४०	१	२	३	१४-१५
२/४०	१	२	३	२०-२२
२/५३	१	३	४	१४-१५
२/५२	१	३	४	१८-२०
२/३७	१	२	१	१
२/३७	१	२	१	३
२/३७	१	२	१	१०
२/३७	१	१		२-७
२/३९	१	१०		१
२/४६	१	१०		२
२/४०	१	१०		३
२/३९	१	१०		४
२/४२	१	१०		७
२/४५	१	१०		१३
२/४२	१	१०		१४
२/४०	१	१०		१५
२/५५	१	१३		२-११
२/३९	१	१३		२३
२/३८	१	१५		६-११
२/३९	१	१५		१०-१५
२/२१	१	१६		सु. ६३२-६३७
२/३१टि.	२	२		सु. ७१४
२/४५	२	५		गा. ३२

ठाणाग सूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	सु.
२/१७	२	१	५४-५५
२/१३	२	१	६२
२/५३	३	१	१४४
२/१७	३	२	१६३
२/१७	३	२	१६३
२/११टि.	३	४	१०६
२/४४	३	४	२१०
२/१३	४	२	३१० (१-३)
२/१५	४	३	३२५
२/३६	४	३	३२५
२/१५	४	४	३६८
२/२८	५	२	४२२
२/१४	५	२	४२८
२/१४	५	२	४२९
३/१६	५	२	४३०
२/२८	६.		४९६
२/१५		६	५२१
२/११ टि.		६	५३०
२/१५		८	६१५
२/१३		८	६४७

समवायाग सूत्र

पृष्ठ	सम.	सु.
२/१४	१७	१(१)
२/१४	१७	१(२)
२/४५	१८	१
२/२९	२७	१
२/४५	३२	१

मगवती सूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	सु.
२/३०	१	९	१७-१९
२/३०	२	१	८-९
२/१७	९	३१	६
२/१८ टि.९		३१	१३
२/१८	९	३१	३२
२/५३	१४	९	१७

प्रश्नव्याकरण -सूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	सु.
२/२२	२	५	१
२/२१	२	५	९
२/३२	२	५	१०
२/२२	२	५	११

औपपातिक सूत्र

पृष्ठ	सु.
२/३२	टि. २७
२/३२	टि. १२६

दशवैकालिक सूत्र

पृष्ठ नं.	अ.	उ.	गा.
२/२१	२		२-३
२/१८	३		११
२/२०	३		१२
२/२६	३		१३
२/५२	३		१४-१५
२/५६	४		२६
२/५०	५	२	८
२/४२	५	२	२९-३०
२/५७	५	२	३६-४५
२/४५	६		७
२/४५टि.	६		७
२/४५	६		८-१०
२/४६	६		११-१२
२/४६	६		१३-१४
२/४६	६		१५-१६
२/४७	६		१७-२१
२/४७	६		२२-२५
२/४७	६		२६-२८
२/४७	६		२९-३१
२/४७	६		३२-३५
२/४८	६		३६-३९
२/४८	६		४०-४२
२/४८	६		४३-४५
२/४९	६		४६-४९
२/४९	६		५०-५२
२/४९	६		५३-५५
२/५०	६		५६-५८
२/५८ टि.६			५९
२/५१	६		६०-६३
२/५१	६		६४-६६
२/५२	६		६७-६८
२/३८	८		४१-४२
२/३८	८		४४-४५
२/४०	८		६०
२/३८	९	३	३
२/३८	९	३	१०-१२

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ	अ.	गा.
२/५६	५	२१-२२
२/३९	६	१३
२/३८	८	१-४
२/५५	८	५
२/५५	८	६
२/५५	८	७
२/५५	८	८
२/५५	८	९
२/५६	८	१०
२/११	९	४४
२/३४	११	४४
२/२५	१५	१-१६
२/४२	१७	१२
२/५६	१७	२०
२/५६	१७	२१
२/३४	२०	६०
२/४१	२१	११-१४
२/४३	२१	१५-१६
२/४३	२१	२०-२२
२/३४	२१	१७
२/४३	२१	१८
२/३४	२१	१९
२/३४	२१	२३
२/३४	२७	२
२/११	२८	३२-३३
२/५२	२९	सु. १०
२/५१	२९	सु. ४६
२/११	३१	२
२/३९	३२	४
२/२५	३५	१३
२/४२	३५	१८
२/४१	३५	१९

बृहत्कल्प सूत्र

पृष्ठ	अ.	सु.
२/५०	३	११-२३
२/११	६	२०

निशीथ सूत्र

२/४९	१२	१०
२/५०	१२	१२

समाचारी

आचारांग सूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	सु.
२/६३	२	३	१
			४६४

२/६३	२	३	१	४६५
२/६४	२	३	१	४६६
२/६४	२	३	१	४६७
२/६४	२	३	१	४६८

ठाणांग सूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	सू.
२/६८ टि.	४	१	२७४
२/६५	५	२	४१३(१-२)
२/६५ टि.	५	२	४१३
२/५९	६		५२४(क)
२/५९	६		५२४(ख)
२/६८ टि.	९		६७४
२/५७ टि.	१०		७४५

भगवती सूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	सू.
२/५७ टि.	२५	७	१९४

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ	अ.	गा.
२/६२	१७	३
२/६८ टि.	१७	१५
२/५७	२६	१
२/५७	२६	२-४
२/५८	२६	५-७
२/५९	२६	८-१२
२/५९	२६	१३-१४
२/५९ टि.	२६	१५
२/५९	२६	१६
२/६२	२६	१७-१८
२/६२	२६	१९-२०
२/६०	२६	२१-२२
२/६०	२६	२३-२५
२/६०	२६	२६-२७
२/६१	२६	२८
२/६१	२६	२९-३०
२/६१	२६	(३०)
२/६१	२६	३१
२/६१	२६	३६-३८
२/६१	२६	३९-४२
२/६२ टि.	२६	४३
२/६२	२६	४४-४६
२/६२	२६	४७-५१
२/६३	२६	५२

दशाश्रुतस्कन्ध

२/६४	८	८
२/६६	८	९
२/६८	८	१२-१५
२/६८	८	१६
२/६९	८	१७
२/६७	८	१८
२/६७	८	१९-२४
२/६७	८	२९
२/७१	८	३०
२/७१	८	३१
२/७२	८	३२

२/७२	८	३३
२/७२	८	३४
२/७२	८	३५
२/६९ टि.	८	४०
२/६९	८	४४
२/७०	८	४५-४७
२/६८	८	४८
२/७१	८	४९
२/७७	८	५०
२/६६	८	५१-६१
२/६८	८	६२
२/७६	८	६३
२/७१	८	६४
२/७३	८	६५
२/७५	८	६६
२/७५	८	६७
२/७४	८	६८
२/७४	८	६९
२/७६	८	७०
२/७६	८	७१
२/७७	८	७२
२/७३	८	७३
२/६६	८	७४
२/६५	८	७५
२/७८	८	७६

बृहत्कल्प सूत्र

पृष्ठ	अ.	सू.
२/६५ टि.	१	३५
२/६३ टि.	१	३७

निशीथ सूत्र

उ.	सू.
२/६८ टि.	४ २१
२/६५	१० ४०-४१
२/७७	१० ४२, ४३, ४६
२/७६	१० ४४
२/७२	१० ४५
२/७५	१० ४७

प्रतिक्रमण

ठाणांग सूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	सू.
२/९९ टि.	२	१	५२(१-२)
२/८८ टि.	३	१	१३४(१)
२/८८ टि.	३	१	१३४(५)
२/९९	३	१	१३६
२/८८ टि.	३	३	१८८(१०)
२/८४	३	४	१९८(१४-१७)
२/८४	३	४	१९८(१८-२१)
२/८८ टि.	३	४	२१५
२/८९ टि.	४	१	२४७(१)
२/८८ टि.	४	१	२४७(१)
२/८९ टि.	४	२	२८२(१)
२/१०२	४	३	३२७(१०-१२)
२/८९ टि.	५	१	३८९(१)
२/८९ टि.	५	१	३९०(१)
२/८९ टि.	५	३	४५७
२/९९	५	३	४६६(१)

२/८३	५	३	४६६(२)
२/८९ टि.	६		४८०
२/९० टि.	६		५०४(१)
२/८३	६		५३८
२/९० टि.	७		५४९
२/९० टि.	८		६०६
२/९० टि.	९		६६३(१)
२/९० टि.	१०		७१३(२)
२/१०० टि.	१०		७४८
२/९० टि.	१०		७५५(६-१)
२/९१ टि.	१०		७५५(६-२)
२/९० टि.	१०		७५५(६-३)
२/९० टि.	१०		७५५(६-६)
२/९० टि.	१०		७५५(६-७)
२/९१ टि.	१०		७५५(६-९)

समवायांग सूत्र

पृष्ठ	सम	सू.
२/८८ टि.	२	१ (१)
२/८८ टि.	३	१ (१)
२/८८ टि.	३	१ (२)
२/८८ टि.	३	१ (३)
२/८८ टि.	३	१ (४)
२/८८ टि.	३	१ (५)
२/८८ टि.	४	१ (१)
२/८९ टि.	४	१ (२)
२/८९ टि.	४	१ (३)
२/८९ टि.	४	१ (४)
२/८९ टि.	५	१ (१)
२/८९ टि.	५	१ (२)
२/८९ टि.	५	१ (३)
२/८९ टि.	५	१ (४)
२/९० टि.	६	१ (१)
२/८९ टि.	६	१ (२)
२/९० टि.	७	१ (१)
२/९० टि.	८	१ (१)
२/९० टि.	९	१ (१)
२/९० टि.	१०	१ (१)
२/९० टि.	११	१ (१)
२/९० टि.	१२	१ (१)
२/८६ टि.	१२	१ (गा.७)
२/९० टि.	१३	१ (१)
२/९० टि.	१४	१ (१)
२/९० टि.	१५	१ (१)
२/९० टि.	१६	१ (१)
२/९० टि.	१७	१ (१)
२/९० टि.	१८	१ (१)
२/९० टि.	१९	१ (१)
२/९१ टि.	२०	१ (१)
२/९१ टि.	२१	१ (१)
२/९१ टि.	२२	१ (१)
२/९१ टि.	२३	१ (१)
२/९१ टि.	२४	१ (१)
२/९१ टि.	२५	१ (१)
२/९१ टि.	२६	१ (१)
२/९१ टि.	२७	१ (१)
२/९१ टि.	२८	१ (१)
२/९१ टि.	२९	१ (१)
२/९१ टि.	३०	१ (१)
२/९१ टि.	३१	१ (१)
२/९१ टि.	३२	१ (१)
२/९१ टि.	३३	१ (१)

भगवती सूत्र											
पृष्ठ	अ.	उ.	सू.	२/९४	५	३६-३७		२/१०९	टि.	१	४६
२/१०१	७	२	१	२/९४	६	९६		२/१०९	टि.	१	४७
२/१०१	७	२	२-८	२/९४	६	९७		२/११०	टि.	१	४८
उपासकदशा सूत्र				२/९५	६	९८		२/११०	टि.	१	४९
पृष्ठ	अ.	सू.		२/९५	६	९९		२/११०	टि.	१	५०
२/९२	१	५७		२/९५	६	१००		२/१११	टि.	१	५१
उत्तराध्ययन सूत्र				२/९५	६	१०१		२/१११	टि.	१	५२
पृष्ठ न.	अ.	सू.		२/९६	६	१०२		२/११२	टि.	१	५३
२/९९	टि.	२	मा. १-४४	२/९६	६	१०३(१)		२/११४	टि.	१	५४
२/१०२	-५	११		२/९६	६	१०३(२)		२/११४	टि.	१	५५
२/१०३	२९	१५		२/९७	६	१०४		२/११४	टि.	१	५६
२/१०३	२९	१५		२/९७	६	१०५		२/११५	टि.	१	५६
२/१०४	२९	१६		२/९८	सुता. ६	०००					
२/१०३	२९	१७		गृह्यार्थ उर्म				औष्यातिक सूत्र			
२/१०३	२९	१८		सूत्रकृतांग सूत्र				पृष्ठ न.	टि.	सू.	
२/१०४	२९	१९		पृष्ठ न.	अ.	उ.	सू.	२/१०८		५७	
२/१०४	२९	४०		२/१२६	१	२	मा. १३	उत्तराध्ययन			
२/१०४	२९	४१		ठाणांग सूत्र				पृष्ठ न.	अ.	सू.	
२/१०४	२९	४२		पृष्ठ न.	अ.	उ.	सू.	२/१२५	५	मा. २३-२४	
२/१०४	२९	४३		दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र				दशाश्रुतस्कन्ध			
अनुयोगद्वार सूत्र				२/१०६	३	१	१३३(१)	पृष्ठ न.	दशा.	सू.	
पृष्ठ न.	सू.			२/१०६	३	१	१३३ (२)	२/११६	टि.	द. ६	१-२
२/८२	९-२९			२/१०७	३	१	१३३ (३)	२/१२०	टि.	द. ६	१७-३०
२/८२	७३			२/१०७	३	१	१३३ (४)	आवश्यक सूत्र			
२/८२	७४			२/१२१	३	२	१९४	पृष्ठ न.	अ.	सू.	
निशीथ सूत्र				२/१०५	४	३	२१०	२/१०६	४	०००	
पृष्ठ न.	उ.	सू.		२/१०५	४	३	२२२	२/१०७	६	६४-६५	
२/१०५	१२	३		२/१०६	४	३	२१४	२/१०८	१	६६-६७	
दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र				२/१०८ टि ५	१	१	३८९	२/१०९	६	६८-६९	
पृष्ठ न.	दशा.	सू.		समवायांग सूत्र				२/१०८	६	९३	
२/९० टि.	द. १	१-३०		पृष्ठ न.	सम.	सू.		२/१०७	६	९४	
२/९० टि.	द. ७	१-३९		२/११७	११	३		२/१०९	६	७०-७१	
२/८९ टि.	द. ३	३ (१)		भगवती सूत्र				२/११०	६	७२-७३	
आवश्यक सूत्र				पृष्ठ न.	अ.	उ.	सू.	२/११०	६	७४-७५	
पृष्ठ	अ.	सू.		२/१२६	१	१	१२	२/११०	६	७६-७७	
२/८४	सुता. १	१		२/१०७	५	६	१-४	२/१११	६	७८-७९(१)	
२/८५	१	२		२/११२	७	१	६	२/१११	६	७९ (२)	
२/८५	३	१०		२/१११	७	१	७-८	२/१११	६	८०-८१	
२/८५	४	१		२/११५	७	१	९-१०	२/११२	६	८२-८३	
२/८५	टि. ४	११		२/११३	८	५	२-३	२/११४	६	८७-८८	
२/८६	४	१५		२/११३	८	५	४-५	२/११४	६	८९-९०	
२/८६	४	१६		२/१२५	८	५	६-८	२/११५	६	९१-९२	
२/८६	४	१७		२/१२७	८	५	९-१४	आराधना-विराधना			
२/८६	४	१८		२/११५	८	६	१-२	आचार्यंग सूत्र			
२/८८	४	१९		२/११६	८	१	१	पृ. न.	अ.	उ.	सू.
२/९१	४	२०-२६(१)		उपासकदशा सूत्र				२/१२७ टि.	१	५	१६८
२/९३	सुता. ४	३२		पृष्ठ न.	अ.	सू.		२/१२८	१	४	१९२
२/९३	४	३३		२/१०८	१	११		२/१०३	१	८	२१५
				२/१०७	टि. १	४४		२/१५९	२	१	११८
				२/१०८	टि. १	४५					

सुयगाडांग सूत्र					अनाचार					
पृ. न.	श्रु.	अ.	उ.	सू.	आचारांग सूत्र					
२/१२७	१	२		१२९ गा.	पृ. न. <th>श्रु.</th> <th>अ.</th> <th>उ.</th> <th>सू.</th>	श्रु.	अ.	उ.	सू.	
२/१७२ टि.	१	३	३	९-१०	२/१७८	१	२	१	६५-६६	
२/१६८	२	१		६८२	२/१७८	१	३	४	१२९(वि)	
२/१५७ टि.	२	२		५८-६१	२/१७७	१	५	१	१५०	
				(अंगसुत्ताणि)	२/१७७	१	५	१	१५१(ख)	
२/१६२ टि.	२	२		४९	सूत्रकृतांग सूत्र					
				(अंगसुत्ताणि)	पृ. न.	श्रु.	अ.	उ.	सू.	
स्थानांग सूत्र					२/१७९	१	२	१	२	
पृ. न.	अ.	उ.	सू.	२/१७९	१	२	१	५-६		
२/१७०	२	४	११३	२/१९२	१	२	२	७-९		
२/१३५	२	४	११८	२/१९२	१	२	२	१-२		
२/१७०	३	४	२२२ (१)	२/१९२	१	२	२	३		
२/१३४	४	३	३२१ (१-४)	२/१९०	१	९		११		
२/१५४	४	४	३४४	२/१७६	१	९		१२-२३		
२/१२७ टि.	८		५९७	२/१७६	१	९		२९		
२/१५६ टि.	८		५९७	२/१९२	१	९		३६		
२/१५६ टि.	८		५९७	२/१९३	१	१३		१२-१४		
समवायांग					२/१९३	१	१३	१५-१६		
पृ. न.	सम.	सू.	२/१८२ टि.	२	१		६८१			
२/१३५	३	१(४)	२/१७४	२	१		६८३			
२/१६९	१७	१(९)	२/१९३	२	१		१८६			
भगवती सूत्र					२/१८९ टि.	२	२	६९४		
पृ. न.	अ.	उ.	सू.	२/१७४	२	५		१		
२/१२८	१	३	६	उत्तराध्ययन सूत्र						
२/१६९ टि.	२	१	२६	पृ. न.	अ.	सू.	प्रज्ञापना			
२/१६४ टि.	२	५	११	२/१७०	५	१-३				
२/१६५ टि.	२	५	११	२/१७२	५	४-१६	उत्तराध्ययन सूत्र			
२/१६५ टि.	२	५	११	२/१७२	५	१७-२०				
२/१६५ टि.	२	१	२६	२/१७२ टि.	१७	१२-२१	उत्तराध्ययन सूत्र			
२/१३०	२	४	१९ (१)	२/१७२	३६	२५६-२६०				
२/१३४	५	१	१५-१८	२/१७१	३६	२६१	उत्तराध्ययन सूत्र			
२/१३०	८	६	७-१२	२/१५४	३६	२६३-२६७				
२/१३३	८	१०	१-२	दशाश्रुत स्कंध						
२/१३५	८	१०	१-६	पृ. न.	अ.	सू.	दशाश्रुत स्कंध			
२/१३६	८	१०	७-९	२/१६७	५	६				
२/१३०	१०	२	७-९	२/१२७ टि.	७	१-२५	दशाश्रुत स्कंध			
२/१६९	१६	७	४१	२/१२८ टि.	१०					
ज्ञाताधर्मकथा					२/१५७	१०			२२-२५	
पृ. न.	अ.	सू.	२/१५८	१०	२६-२९	दशाश्रुत स्कंध				
२/१५५ टि.	१	४७	२/१५९	१०	३०-३२	दशाश्रुत स्कंध				
२/१३२	११	२-१३	२/१६७	१०	३३	दशाश्रुत स्कंध				
उपासकदशा सूत्र					२/१६८	१०			३३-३४	
पृ. न.	अ.	सू.	२/१६९	१०	३४-३७	दशाश्रुत स्कंध				
२/१३९	१	११	२/१६३	१०	३८	दशाश्रुत स्कंध				
उपवाह सूत्र					२/१६४	१०	३९-४१			
पृ. न.	अ.	सू.	२/१६७	१०	४२-४६	दशाश्रुत स्कंध				
२/१४०	१	११	२/१६८	१०	४७-४९	दशाश्रुत स्कंध				
२/१४०	१	११	२/१६९	१०	५०-५३	दशाश्रुत स्कंध				
उपवाह सूत्र					महत्कल्प सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१७०	१०	पृ. न.	अ.	सू.	महत्कल्प सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१७१	१०	२/१२७ टि.	१	१६			
उपवाह सूत्र					निशीथ सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१७२	१०	पृ. न.	अ.	सू.	निशीथ सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१७३	१०	२/१७४	११	९२			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१७४	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१७५	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१७६	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१७७	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१७८	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१७९	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१७९	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१८०	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१८१	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१८२	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१८३	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१८४	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१८५	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१८६	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१८७	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१८८	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१८९	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१९०	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१९१	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१९२	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१९३	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१९४	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१९५	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१९६	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१९७	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/१९८	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/१९९	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२००	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२०१	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२०२	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२०३	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२०४	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२०५	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२०६	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२०७	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२०८	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२०९	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२१०	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२११	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२१२	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२१३	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२१४	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२१५	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२१६	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२१७	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२१८	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२१९	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२२०	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२२१	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२२२	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२२३	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२२४	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२२५	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२२६	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२२७	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२२८	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२२९	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२३०	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२३१	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२३२	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२३३	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२३४	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.	२/२३५	१०	पृ. न.	अ.	सू.	आवश्यक सूत्र		
२/१४०	१	११	२/२३६	१०	२/१८१ टि.	४	२४(४)			
उपवाह सूत्र					आवश्यक सूत्र					
पृ. न.	अ.	सू.								

दशवैकालिक सूत्र

पु. न.	अ.	मा.
२/१८३	३	१-१०
२/१९२	८	३०
२/१७४	८	३१-३२
२/१९१	८	५०
२/१९२	१०	१९

उत्तराध्ययन सूत्र

पु. न.	अ.	मा.
२/१७७	४	१
२/१७९	४	६-१०
२/१९२	६	११-१२
२/१९०	८	१३
२/१७७	१०	१-३
२/१७८	१०	२१-२६
२/१७९	१०	२७
२/१७८	१०	३५-३७
२/१९०	१५	७
२/१७६	१७	१
२/१७७	१७	२
२/१७६	१७	१०
२/१७७	१७	११
२/१७७	१७	१६
२/१९०	१७	१८
२/१७६	१७	१९
२/१९०	२०	४५
२/१९३	२३	५०-५३
२/१९३	२९	सू. ६९
२/१९३	२९	सू. ७०
२/१९३	२९	सू. ७१
२/१९४	२९	सू. ७२

दशाश्रुतस्कन्ध

पु. न.	दशा	सू.
२/१८५	१	३-४
२/१८४	२	२
२/१८९	९	१-३९

बृहत्कल्प सूत्र

पु. न.	उ.	सू.
२/१८०	६	१९

निशीथ सूत्र

पु. न.	उ.	सू.
२/१९५	१	१०
२/१९४	४	२७
२/१९७	१०	७-८
२/१९७	११	६४-६५
२/१९७	११	६६-६७
२/१९७	११	६८-६९
२/१९८	११	७०
२/१९८	११	८२-८३
२/१९४	१३	१२
२/१९४	१३	१३-१५
२/१९४	१३	१६

२/१९५	१३	१७
२/१९५	१३	१८
२/१९७	१३	१९-२०
२/१९७	१३	२१
२/१९६	१३	२२-२४
२/१९६	१३	२४-२७
२/१९६	१३	२८
२/१९६	१३	२९-३०
२/१९६	१७	१३३

संघ व्यवस्था

आचारांग सूत्र

पु. न.	श्रु.	अ.	उ.	सू.
२/२४६	१	५	१	१५१
२/२४५	१	५	५	१६२ (क)
२/२०२	१	५	४	१६६
२/२४५	१	६	२	१८६
२/२३३	१	८	१	१९९
२/२३३	१	८	२	२०७-२०८
२/२३४	२	१	१	१२७
२/२३४	५	१	१	३३०

सूयगडांग सूत्र

पु. न.	श्रु.	अ.	उ.	सू.
२/२४६	१	२	२	१२२-१२८
				(१२-१८)
२/२४६	१	१०		१२
२/२७१	२	२		७१४
२/२००टि.	२	७		८७५

समवायांग सूत्र

पु. न.	सम.	सू.
२/२३१	१२	१ (२)

स्थानांग सूत्र

पु. न.	अ.	उ.	सू.
२/१९९	३	१	१२७ (२)
२/१९९	३	१	१३७ (४)
२/२०१	३	३	१८० (१)
२/२३१	३	३	१८० (३)
२/२०१	३	३	१८० (४)
२/२०२	३	३	१८० (५)
२/२०२	३	३	१८० (६)
२/२०२	३	३	१८० (७)
२/२५३	३	३	१८८ (८)
२/२५३	३	३	१८८ (९)
२/२५३ टि.	३	४	१९८ (१९)
२/२५३ टि.	३	४	१९८ (२०)
२/२०६	३	४	२१४ (६-७)
२/१९९	३	४	२२० (१)
२/१९९	३	४	२२० (२)
२/१९९	३	४	२२० (३)
२/२२७	४	२	२९०
२/२०३ टि.	४	३	३२० (१-२)
२/२०३ टि.	४	३	३२० (३-४)
२/१९८ टि.	४	४	३९३

२/२००	५	१	३९६ (२)
२/२३१	५	१	३९८ (१)
२/२५३	५	१	३९९ (१)
२/२५४	५	१	३९९ (२)
२/२२७	५	२	४१४
२/२२८	५	२	४१७ (१)
२/२२९	५	२	४१७ (२)
२/२०१ टि.	५	२	४२१
२/२२९	५	२	४३७
२/२०५ टि.	५	२	४३८
२/२३७	५	२	४३९
२/२१६	६		४७५
२/२२९ टि.	६		४७६
२/२२९	६		४७७
२/२३७	७		५४१
२/२०९	७		५४४
२/२०५	७		५७०
२/२४४	८		५९४
२/२०६	८		६०१
२/२३२	९		६६१
२/२५२	१०		७३९ (१)
२/२५३	१०		७३९ (२)
२/२००	१०		७६१

मगवती सूत्र

पु. न.	अ.	उ.	सू.
२/२०१	८	८	८-९
२/१९८टि.	१६	६	२१ (५)
२/२००	२०	८	६
२/१९९	२०	८	१२-१३
२/१९८	२०	८	१४

उत्तराध्ययन सूत्र

पु. न.	उ.	सू.
२/२५५	२९	१९
२/२३४	२९	३५
२/२४५	३२	मा. ५

दशवैकालिक सूत्र

पु. न.	अ.	उ.	मा.
२/२४४टि.	१०	२	१०

दशाश्रुतस्कन्ध

पु. न.	दशा.	सू.
२/२०६ टि.	४	१-२
२/२०६	४	३
२/२०६	४	४
२/२०६	४	५
२/२०७	४	६
२/२०७	४	७
२/२०८	४	८-१२
२/२०८	४	१३
२/२०८	४	१४

बृहत्कल्प सूत्र

पु. न.	उ.	सू.
२/२५४	१	३६

२/२२६	१	३७-२८
२/२२६	१	४८-५१
२/२२६	१	५२
२/२२१	३	२०
२/२२९	४	२०-२२
२/२४०	४	२३-२५
२/२४२	४	२६-२८
२/२५६	४	३०
२/२५५	५	५
२/२२५	५	१६-१८
२/२३०	५	४६
२/२३०	६	१-६
२/२२५टि.	६	७-१८
व्यवहार सूत्र		
पृ. नं.	उ.	सू.
२/२२५	१	२३-२५
२/२२१	१	२६
२/२५१	१	२७
२/२५१	१	२८
२/२५१	१	२९
२/२५२	१	३०
२/२१६	२	३१
२/२११	२	१८-२२
२/२१७	३	२६
२/२१६	३	१-२
२/२१०	३	३-४
२/२११	३	५, ७, ९,
२/२१६	३	६, ८, १०
२/२२०	३	११
२/२१४	३	१२
२/२१०	३	१३-१७
२/२१०	३	१८-२२
२/२२७	४	२३-२९
२/२१८	४	१-१०
२/२११	४	११-१२
२/२१२	४	१३
२/२३९	४	१४
२/२११	४	१८
२/२२१	४	२४-२५
२/२२२	४	२६-३२
२/२२५	५	१-१०
२/२२१	५	११-१२
२/२१८	५	१३
२/२१९	५	१४
२/२१३	५	१५
२/२२०	५	१६
२/२१४	५	१७-१८
२/२३०	५	१९
२/२३०	५	२०
२/२३४	५	२१
२/२०५टि.	६	१०
२/२०५	६	११
२/२४४	६	१४-१५
२/२४३	६	१८-२१
२/२४४	७	१-३
२/२३२	७	४-५
२/२२६	७	१०-११
२/२१४	७	१२-१३
२/२१९	७	१९-२०
२/२०१टि.	१०	५
२/२०४	१०	६-१०

२/२०३	१०	१४-१५
२/२०३	१०	१६-१७
२/१९९	१०	१८
२/२२४	१०	२२-२३
२/२२३	१०	२४-२८

निशीथ सूत्र

पृ. नं.	उ.	सू.
२/२३४	२	४०
२/२३६	३	१-१२
२/२५५	४	२५-२६
२/२४७	४	२८-२९
२/२४८	४	३०-३१
२/२४८	४	३२-३३
२/२४९	४	३४-३५
२/२४९	४	३६-३७
२/२४७	४	३८
२/२२७	८	११
२/२५५	१०	१३
२/२५५	१०	१४
२/२३६	१२	४०-४१
२/२३६	१५	७५
२/२४७	१५	७७-७८
२/२४८	१५	७९-८०
२/२४८	१५	८१-८२
२/२४९	१५	८३-८४
२/२४९	१५	८५-८६
२/२४७	१५	८९-९०
२/२४८	१५	९१-९२
२/२४८	१५	९३-९४
२/२५०	१५	९५-९६
२/२४९	१५	९७-९८
२/२४१	१६	१६
२/२५६	१६	१७-२५
२/२३६	१६	२६-३७
२/२३३	१७	१२१-१२२

तपाचार (बाह्यतप)

आचारांग

पृ. नं.	अ.	अ.	उ.	सू.
२/२६४	१	८	६	२२४
२/२६४	१	८	७	२२८
२/२६०	१	८	८	१ (१६)
२/२६१	१	८	८	२-११
२/२६३	१	८	८	१२-१८
२/२६५	१	८	८	१९-२५
२/२६५टि.	२	१	६	३६०
२/२६५टि.	२	१	११	४०९
२/२९०	२	१	११	४०९
२/२९०	२	१	११	४०९
२/२९०	२	१	११	४१०
२/२९०	२	२	३	४५६-४५७
२/२९४	२	५	१	५५९-५६०
२/२९४	२	६	१	५६४-५६५
२/२९४	२	७	२	६१३-६१४
२/२९५	२	८	१	६३८-६३९

सूयगडांग सूत्र				
पृ. नं.	अ.	अ.	उ.	गा.
२/२५७	१	२	१	१४-१५
२/२५७	१	८		२४
२/२५७	१	१०		११(ख)
२/२७१ टि.	२	२		७१४
स्थानांग सूत्र				
पृ. नं.	अ.	उ.	सू.	
२/२६५	२	१	६१ (ख)	
२/२७१ टि.	२	३	७७ (१-२)	
२/२७१ टि.	२	३	७७ (३-४)	
२/२७१ टि.	२	३	७७ (५-६)	
२/२७१ टि.	२	३	७७ (६)	
२/२६१	२	४	११३	
२/२१८	३	३	१७६	
२/२६०	३	३	११८ (१-३)	
२/२६६ टि.	३	३	१८८ (क) (७)	
२/२६६ टि.	३	३	१८८ (६)	
२/२८५ टि.	३	३	१८८ (१२)	
२/२८८ टि.	३	३	१८८ (१३-१४)	
२/२८२ टि.	३	४	१९६ (१)	
२/२८२ टि.	३	४	१९६ (२)	
२/२८२ टि.	४	१	२३७	
२/२७९ टि.	४	१	२५१ (१)	
२/२७९	४	१	२५१ (२-३)	
२/२७७ टि.	४	२	२७८ (१-२)	
२/२७७	४	२	२७८ (३-४)	
२/२५८	४	२	३०९	
२/२९२ टि.	४	३	३३१ (६)	
२/२९१ टि.	४	३	३३१ (७)	
२/२९४ टि.	४	३	३३१ (८)	
२/२९४ टि.	४	३	३३१ (९)	
२/२७५	५	१	३९२	
२/२७२	५	१	३९६ (५-८)	
२/२७३	५	१	३९६ (९-१०)	
२/२७३ टि.	५	१	३९६ (११)	
२/२७३ टि.	५	१	३९६ (१२)	
२/२७४	५	१	४००	
२/२८५ टि.	५	२	४२४	
२/२७६ टि.	५	२	४२७ (१)	
२/२७९	५	२	४२७ (२)	
२/२५८ टि.	६		५११ (१)	
२/२६७ टि.	६		५१४	
२/२८२ टि.	६		५३४	
२/२८८ टि.	७		५४५ (१)	
२/२९० टि.	७		५४५ (२)	
२/२९५ टि.	७		५४५ (३)	
२/२९६	७		५४५ (६)	
२/२७४ टि.	७		५५४	
२/२९७	८		६४५	
२/२९७	९		६८७	
२/२९७	१०		७७०	
२/३१८	१०		७३२	
समवायांग				
पृ. नं.	सम.	सू.		
२/२५८ टि.	६	१७		
२/८०	१२	१		

२/२९४ टि.	४९	१
२/२९७ टि.	६४	१
२/२९७ टि.	८१	१
२/३०८	९१	१
२/३०७ टि.	९२	१
२/२९७ टि.	१००	१

भगवती सूत्र

पृ. नं.	अ.	उ.	सू.
२/२६१	२	१	२७-२९
२/२६७	७	१	१९
२/२८०	१०	२	६
२/२६१ टि.	१३	७	४२-४४
२/२६३	१४	७	११
२/२५८	२५	७	१५६
२/२५८	२५	७	१५७
२/२५८	२५	७	१५८
२/२५९ टि.	२५	७	१५९
२/२६१ टि.	२५	७	२००
२/२०२ टि.	२५	७	२०१-२०२
२/२६६	२५	७	२०३
२/२६७	२५	७	२०४-२०६
२/२६८	२५	७	२०७
२/२७१	२५	७	२०८
२/२७२	२५	७	२०९
२/२७४	२५	७	२१०
२/२७६	२५	७	२११
२/२१२	२५	७	२१२
२/२७७	२५	७	२१३
२/२७७	२५	७	२१४-२१५
२/२७८	२५	७	२१६

उवचार्ह सूत्र

पृ. नं.	अ.	उ.	सू.
२/२५८ टि.			३० (१)
२/२५८ टि.			३० (२)
२/२५८ टि.			३० (३)
२/२५९			३० (४)
२/२६१ टि.			३० (५)
२/२६२			३० (६)
२/६१ टि.			३० (८-९)
२/२६७ टि.			३० (१०-११)
२/२६८ टि.			३० (१२)
२/२७१ टि.			३० (१३)
२/२७२ टि.			३० (१४)
२/२७४ टि.			३० (१५)
२/२७६ टि.			३० (१६)
२/२७७ टि.			३० (१७-१९ क)
२/२७८ टि.			३० (२०क)
२/२७८ टि.			३० (२०)

वशावैकालिक सूत्र

पृ. नं.	अ.	उ.	सू.
२/२०९ टि.	५	१	१२

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ. नं.	अ.	उ.	सू.
२/२६१	५		११-१२
२/२५८ टि.	२८		३४

२/२५७	३९	३३
२/२५८ टि.	३०	१-६
२/२५८ टि.	३०	७
२/२५८ टि.	३०	८
२/२५८	३०	९
२/२५९	३०	१०-११
२/२६०	३०	१२-१३
२/२६६	३०	१४
२/२६६	३०	१५
२/२६७	३०	१६-१९
२/२६८ टि.	३०	१९
२/२६८	३०	२०-२१
२/२६८	३०	२२-२३
२/२६८	३०	२४
२/२७२	३०	२५
२/२७३	३०	२६
२/२७८	३०	२७
२/२८८	३१	२८
२/२८८	३१	२९
२/२८८	३१	३०
२/२६५	३५	२५०-२५५
२/२६०	३६	

वशाश्रुतस्कंध

पृ. नं.	अ.	उ.	सू.
२/२८० टि.	७		१-२
२/२५१	७		३
२/२५१	७		४
२/२८१	७		५
२/२८२	७		६
२/२६६ टि.	७		६
२/२६८ टि.	७		६
२/२८२	७		७
२/२८२	७		८
२/२८२	७		९-११
२/२८२	७		१२-१४
२/२८१	७		१५
२/२८१	७		१६
२/२८१	७		१७
२/२८२	७		१८
२/२८१	७		१९
२/२८४	७		२०
२/२८४	७		२०
२/२८४	७		२१
२/२८४	७		२२
२/२८५	७		२३
२/२८५	७		२४
२/२८५	७		२५
२/२८५	७		२६
२/२८५	७		२७
२/२८५	७		२८
२/२८५	७		२९
२/२८६	७		३०
२/२८६	७		३१
२/२८६	७		३२
२/२८६	७		३४
२/२८७	७		३५
२/२८८	७		३६-३९

कल्पसूत्र

पृ. नं.	अ.	उ.	सू.
२/२७५	५		१९-२१
२/२७५	५		२२

२/२७५	५	३३ ३३

व्यवहार सूत्र

पृ. नं.	अ.	उ.	सू.
२/२१९		१	३३
२/२६७ टि.		८	१७
२/२९४ टि.		९	१७
२/२९७ टि.		९	३८
२/२९७ टि.		९	३९
२/२९७ टि.		९	४०
२/३०६		९	४१-४२
२/३०५		९	४३-४४
२/२९७		१०	१
२/३०१		१०	१-२
२/३०५		१०	३-४

तपाचार (आभ्यंतरतप)

आचारांग सूत्र

पृ. नं.	अ.	उ.	सू.
२/३४९	१	२	६
२/३४९	१	४	२
२/३५०	१	६	१
२/३४९	१	६	५१९६ (क)-१९७
(क)			
२/३४०	१	८	५
२/३४०	१	८	७
२/३४९	२	१	११

सूयगाडांग सूत्र

पृ. नं.	अ.	उ.	सू.
२/३३८	१	३	३
२/३३८	१	३	४
२/३५०	१	११	
२/३५०	१	१३	
२/३५०	२	१	
२/३४८	२	१	
२/३५०	२	१	

ठाणांग सूत्र

पृ. नं.	अ.	उ.	सू.
२/३३४	३	१	१३५ (१-२)
	३	३	१७६ (१-३)
२/३३२	३	३	१७६ (४)
२/३३८	३	३	१७६ (४-६)
२/३४६	३	३	१९४ (१)
२/३३८	३	३	१९४ (४)
२/३४६	३	३	१९४ (९)
	३	४	टि. १९८ (२२)
२/३३०	३	४	टि. २०३ (२)
२/३३१	३	४	टि. २०३
२/३३१	३	४	२०३ (३)
२/३४२	३	४	२०३ (४)
२/३४३	३	४	टि. २०४ (८)
२/३४४	३	४	टि. २०४ (७)
२/३५१	४	१	टि. २४७ (१-१३)
-३५४			
२/३३१	४	१	२६३

४३६ चरणानुयोग : परिशिष्ट-२ : संकलन में प्रयुक्त आगमों के संदर्भ स्थल

४३६

२/३१०	४	१	२७२	२/३०९	२५	७	२१७	२/३४६	२९	२२
२/३४८	४	२	२८२	२/३१०	२५	७	२१८	२/३४६	२९	२३
२/३४४	४	२	२८८	२/३१८	२५	७	२३५	२/३४६	२९	२४
२/३१०	५	२	२९२ (१)	२/३३८	२५	७	२३५	२/३४६	२९	२५
२/३३७	४	३	३१९	२/३४२	२५	७	२३५	२/३४६	२९	२५
२/३४३	४	३	३२६	२/३५१	२५	७	२३७	२/३४६	२९	२५
२/३४४	४	३	३२६	२/३५२	२५	७	२३८	२/३४६	२९	२५
२/३०९	४	४	३६०	२/३५२	२५	७	२३९	२/३४६	२९	२५
२/३३८	५	१	टि. ३९७ (१)	२/३५२	२५	७	२४०	२/३४६	२९	२५
२/३४१	५	१	३९७ (२)	२/३५२	२५	७	२४१	२/३४६	२९	२५
२/३३१	५	१	३९८ (२)	२/३५३	२५	७	२४२	२/३४६	२९	२५
२/३३०	५	२	४१४	२/३५३	२५	७	२४३	२/३४६	२९	२५
२/३११	५	२	४३३ (१)	२/३५३	२५	७	२४४	२/३४६	२९	२५
२/३१२	५	२	४३३ (२)	२/३५३	२५	७	२४५	२/३४६	२९	२५
२/३४२	५	३	टि. ४६५	२/३५४	२५	७	२४५	२/३४६	२९	२५
२/३४३	५	३	४६७ (१)	२/३५४	२५	७	२४६	२/३४६	२९	२५
२/३४२	५	३	४६७ (२)	२/३५४	२५	७	२४७	२/३४६	२९	२५
२/३०९	६	२	टि. ४८९	२/३५४	२५	७	२४८	२/३४६	२९	२५
टि. ५११	६			२/३५५	२५	७	२४९	२/३४६	२९	२५
२/३३०	६			२/३५५	२५	७	२५०-२५५	२/३४६	२९	२५
टि. ५२८	६							२/३४६	२९	२५
२/३१७	६		टि. ६८८					२/३४६	२९	२५
२/३२२	८		टि. ५९७ (२)					२/३४६	२९	२५
२/३१०	८		५९७ (२-को)					२/३४६	२९	२५
२/३२२	८		५९७ (२-ख)					२/३४६	२९	२५
२/३२१	८		५९७ (२-ग)					२/३४६	२९	२५
२/३२३	८		५९७ (२-घ)					२/३४६	२९	२५
२/३२४	८		५९७ (२-ङ)					२/३४६	२९	२५
२/३१८	८		टि. ५९७					२/३४६	२९	२५
(१-ख)	८							२/३४६	२९	२५
२/३२०	८		टि. ६०४ (१)					२/३४६	२९	२५
२/३१०	८		टि. ६०४ (२)					२/३४६	२९	२५
२/३१०	८		६०५					२/३४६	२९	२५
२/३१०	९		६८८					२/३४६	२९	२५
२/३३८	१०		टि. ७१२ (३)					२/३४६	२९	२५
२/३१८	१०		७३२ (१)					२/३४६	२९	२५
२/३२०	१०		७३२ (२)					२/३४६	२९	२५
२/३१०	१०		७३२ (३)					२/३४६	२९	२५
२/३१०	१०		७३२ (४)					२/३४६	२९	२५
२/३१०	१०		७३२					२/३४६	२९	२५
समवायांग सूत्र								२/३४६	२९	२५
पृष्ठ	मम.	सु.						२/३४६	२९	२५
२/३५१	४	१(२)						२/३४६	२९	२५
२/३०९	६	टि. १						२/३४६	२९	२५
२/३१२	२८	१(१)						२/३४६	२९	२५
२/३३८	९१	१(१)						२/३४६	२९	२५
भगवती सूत्र								२/३४६	२९	२५
पृष्ठ	म.	उ.	सु.					२/३४६	२९	२५
२/३६०	१६	४	२-७					२/३४६	२९	२५
२/३४८	२०	८	१५					२/३४६	२९	२५
२/३६२	२०	९	-					२/३४६	२९	२५
२/३१०	२५	७	१९०					२/३४६	२९	२५
	२५	७	१९१					२/३४६	२९	२५
	२५	७	टि. १९२					२/३४६	२९	२५
	२५	७	१९३					२/३४६	२९	२५
२/३१०	२५	७	१९५					२/३४६	२९	२५
प्रश्नव्याकरण								२/३४६	२९	२५
पृष्ठ	सु.	म.	सु.					२/३४६	२९	२५
३४८	२	१	६					२/३४६	२९	२५
उपवाह सूत्र								२/३४६	२९	२५
पृष्ठ	सु.							२/३४६	२९	२५
२/३०९	टि. ३० (२१)							२/३४६	२९	२५
२/३०९	टि. ३० (२२)							२/३४६	२९	२५
२/३३८	टि. ३० (३५)							२/३४६	२९	२५
२/३५२	टि. ३० (३६)							२/३४६	२९	२५
२/३५४	टि. ३० (३७-४९)							२/३४६	२९	२५
२/३५४	टि. ३० (३७-४९)							२/३४६	२९	२५
२/३५४	टि. ३० (३७-४९)							२/३४६	२९	२५
२/३५४	टि. ३० (३७-४९)							२/३४६	२९	२५
२/३५६	टि. ३० (५०-५५)							२/३४६	२९	२५
दशैवकालिक सूत्र								२/३४६	२९	२५
पृष्ठ	म.	उ.	मा.					२/३४६	२९	२५
२/३५७	४	२	२७					२/३४६	२९	२५
२/३५८	५	२	४६-४९					२/३४६	२९	२५
२/३५३	८	४	६१-६३					२/३४६	२९	२५
२/३५७	९	४	६३-६४					२/३४६	२९	२५
२/३५७	९	४	९-१०					२/३४६	२९	२५
उत्तराध्ययन सूत्र								२/३४६	२९	२५
पृष्ठ	म.	मा.						२/३४६	२९	२५
२/३३८	१	४४						२/३४६	२९	२५
२/३५८	४	२५-२८						२/३४६	२९	२५
२/३५८	२८	३६						२/३४६	२९	२५
२/३२४	२९	७						२/३४६	२९	२५
२/३३३	२९	८						२/३४६	२९	२५
२/३३४	२९	९						२/३४६	२९	२५
२/३५७	२९	१४						२/३४६	२९	२५
२/३३३	२९	१८						२/३४६	२९	२५
२/३४२	२९	२०						२/३४६	२९	२५
२/३४४	२९	२१						२/३४६	२९	२५
कल्पसूत्र								२/३४६	२९	२५
पृष्ठ	म.	सु.						२/३४६	२९	२५
२/३३०	४	टि. १						२/३४६	२९	२५
२/३३१	४	टि. २						२/३४६	२९	२५
२/३३१	४	३						२/३४६	२९	२५
२/३४४	४	१०						२/३४६	२९	२५
२/३४३	४	११						२/३४६	२९	२५
२/३३७	४	३१-३२						२/३४६	२९	२५
२/३३६	५	५१						२/३४६	२९	२५
२/३३०	६	२						२/३४६	२९	२५
व्यवहारसूत्र								२/३४६	२९	२५
पृष्ठ	उ.	सु.						२/३४६	२९	२५
२/३२७	१	१-१४						२/३४६	२९	२५
२/३३०	१	१५-१८						२/३४६	२९	२५
२/३३५	१	१९						२/३४६	२९	२५
२/३३१	१	३२						२/३४६	२९	२५
२/३२१	२	३३						२/३४६	२९	२५
२/३३६	२	१-४						२/३४६	२९	२५
२/३३१	२	५-६						२/३४६	२९	२५
२/३३२	२	७						२/३४६	२९	२५
२/३३३	२	८						२/३४६	२९	२५
२/३३३	२	९-१७						२/३४६	२९	२५
२/३३६	२	२७-३०						२/३४६	२९	२५
२/३३८	१०	टि. ३९						२/३४६	२९	२५
२/३४१	१०	टि. ४०-४१						२/३४६	२९	२५
निशीथ सूत्र								२/३४६	२९	२५
२/३४३	२	४१						२/३४६	२९	२५
२/३५१	८	१०						२/३४६	२९	२५
२/३४१	१०	३६-३९						२/३४६	२९	२५
२/३४१	११	८६						२/३४६	२९	२५
२/३४३	१६	३०						२/३४६	२९	२५
२/३४४	१६	३१-३२						२/३४६	२९	२५
२/३४५	१९	३७-३८						२/३४६	२९	२५
२/३४६	१९	३९-४०						२/३४६	२९	२५
२/३२७	२०	टि. १-१६						२/३४६	२९	२५
२/३३०	२०	टि. १७-२०						२/३४६	२९	२५
	२०	२१-२६						२/३४६	२९	२५
	२०	२७-३१						२/३४६	२९	२५
	२०	३२-३७						२/३४६	२९	२५
	२०	३८-४६						२/३४६	२९	२५
	२०	४७-५३						२/३४६	२९	२५

वीर्याचार

आचारांग सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	सु.
२/४०४	१	१	३	२२
२/४०४	१	१	४	टि. ३२(क)
२/३९७	१	२	१	६-८
२/३६४	१	२	३	८०
२/३९७	१	२	६	९९(ख)(ग)
२/३९७	१	२	६	१०३
२/३९९	१	३	१	१०९
२/४०२	१	३	१	११०-१११
२/३९७	१	३	२	११२
२/३६४	१	३	२	११३-११४
२/३९६	१	३	२	११४-११६(क,ख)
२/४०१	१	३	२	११६ (ग)-११७
२/३९५	१	३	२	१२०-१२१
२/३९४	१	३	३	१२३ (क)
२/४०२	१	३	३	१२४ (क)
२/३९७	१	३	३	१२४ (ख)
२/३९६	१	३	३	१२५(क)
२/३९७	१	३	३	१२५(ख)
२/४००	१	३	३	१२६
२/४०४	१	३	३	१२७ (क)
२/४०१	१	३	४	१२७ (ख)
२/४०२	१	३	४	१२८
२/३९९	१	३	४	१२९ (घ)
२/४०१	१	३	४	१२९-१३१
२/४०३	१	४	३	१४१-१४२
२/३९८	१	४	४	१४३
२/३९८	१	४	४	१४६
२/४०२	१	५	२	१५५-१५६
२/३९२	१	५	३	१५७ (घ)
२/४००	१	५	३	१५९ (घ)
२/३९३	१	५	३	१५५ (क, ग)
२/४००	१	५	३	१५९ (ङ)-१६०
२/३९३	१	५	३	१६१
२/४०४	१	५	५	१७१
२/३९४	१	५	६	१७२ (क)
२/४०१	१	५	६	१७२-१७३
२/३९५	१	६	२	१८४ (क)-१८५
२/३७१	१	६	३	१८७ (क, ख, ग)
२/३९७	१	६	३	१८७ (घ)-१८८
२/३६८	१	६	४	१९३-१९५
२/३७५	१	६	५	१९६ (क)
२/४००	१	८	१	२०२ (क-ख)
२/४०३	१	८	१	२०२ (च)
२/३९९	१	८	२	२०६
२/३९५	१	८	३	२१० (क) (ख)
२/३९५	१	८	६	२२२
२/३७१	१	८	७	२२५-२२६

सूयगाडांग सूत्र

पृष्ठ	सु.	अ.	उ.	गा.
२/४०३	१	१	१	१-१
२/३६८	१	२	१	१३
२/३७८	१	२	१	१६-१८
२/३७९	१	२	१	१९-२०
२/३९८	१	२	१	२१-२२
२/३६८	१	२	२	२१-२२

२/३९६	१	२	३	१६-१७
२/३८१	१	३	१	१-३
२/३६९	१	३	१	४
२/३७०	१	३	१	५
२/३७६	१	३	१	६
२/३७५	१	३	१	७
२/३७६	१	३	१	८
२/३७५	१	३	१	९-११
२/३७०	१	३	१	१२
२/३७९	१	३	१	१३
२/३७६	१	३	१	१४-१६
२/३८०	१	३	१	१७
२/३८१	१	३	२	१
२/३८२	१	३	२	२-१४
२/३८३	१	३	२	१५-२२
२/३८३	१	३	३	१-७
२/३७५	१	३	३	८-१०
२/३८५	१	३	३	
२/३८४	१	३	४	१-५
२/३८४	१	३	४	६-८
२/३८५	१	३	४	९-१३
२/३७२	१	३	४	१६-१७
२/३८५	१	३	४	२२
२/३७३	१	४	१	१-९
२/३७३	१	४	१	२३-३१
२/३७४	१	४	२	१९-२२
२/३९९	१	७		२९-३०
२/३९३	१	८		१-३
२/३९४	१	८		४-९
२/३६५	१	८		१०-२१
२/३६३	१	८		२२
२/३६५	१	८		२३
२/३६६	१	८		२५-२६
२/४२१	१	९		२४
२/३८०	१	९		३०
२/३७६	१	९		३१
२/३९९	१	९		३१-३४
२/४०६	१	१४		२१-२५

ठाणांग सूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	सु.
२/३८०	४	४	३६१ (१)
२/३८०	४	४	३६१ (२)
२/३८०	४	४	३६१ (३)
२/३८१	४	४	३६१ (४)
२/३८१	४	४	३६१ (५)
२/३७२	५	३	४४४
२/३९३	८		६४९

समवायांग सूत्र

पृष्ठ	सम.	सु.
२/३६९	२२	१ (१)

भगवती सूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	सु.
२/३९४	१२	१	२४
२/३६३	१७	२	१०

दशवैकालिक सूत्र

पृष्ठ	अ.	उ.	गाथा
२/३९५	२		४
२/४०५	४		२७
२/३८०	८		२७
२/४०८	८		३४
२/३७६	९	३	६-८
२/३७९	१०		११-१४

दशाश्रुतस्कंध

पृष्ठ २/३६७	दसा. ४, सु. ६,	गा. १-१७

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ	अ.	भा.
२/४००	१	१५-१६
२/३६९	२	टि. २
२/३६९	२	३
२/३६९	२	४-५
२/३६९	२	६-७
२/३६९	२	८-९
२/३७०	२	१०-११
२/३७०	२	१२-१३
२/३७०	२	१४-१५
२/३७१	२	१६-१७
२/३७२	२	१८-१९
२/३७४	२	२०-२१
२/३७४	२	२२-२३
२/३७४	२	२४-२५
२/३७५	२	२६-२७
२/३७६	२	२८-२९
२/३७६	२	३०-३१
२/३७७	२	३२-३३
२/३७७	२	३४-३५
२/३७७	२	३६-३७
२/३७७	२	३८-३९
२/३७७	२	४०-४१
२/३७८	२	४२-४३
२/३७८	२	४४-४५
२/३७८	२	४६-४७
२/३७८	२	४८
२/३९२	३	१
२/३९२	३	११
२/३९२	४	११-१३
२/३९६	६	१-२
२/४०७	७	१-१०
२/४०७	७	११-१३
२/४०८	७	१४-२२
२/४०८	७	२३-२७
२/४०८	७	२८-३०
२/४११	२९	३०
२/४११	२९	४७
२/३८५	३१	५
२/४०५	३२	६-९
२/४०५	३२	२१
२/८८	३२	२२-३४
२/३८६	३२	३५-४७
२/३८९	३२	४८-६०
२/३९०	३२	६१-७३
२/३९२	३२	७४-८९
२/४१०	३२	८७-९९
२/४११	३२	१००-१०६
२/४०५	३२	१०७-१११
२/४०५	३५	२१

परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

अहङ्कान्त २/१००	अगडसुयाणं वसण १/६६४	अच्छिपत्त परिकम्म १/३५६, ३९०, ३९७, ४०४
अहङ्कम २/८३, ८४	अगणि १/२२६, २४६	अच्छिपत्त परिकम्मकारावण १/३६८, ३७६, ३८३
अहङ्कमण विसोही २/८४	अगणिकम्मसमारभ १/२३४, २३५, २३६	अच्छिपत्त परिकम्म १/३९६, ४११
अहभार २/१०८	अगणिकाय १/२३६	अच्छिपत्त परिकम्मकारायण १/३६८, ३७५, ३८२
अहभूमि १/५४५	अगणिसत्थ १/२३४, २३५	अच्छिपत्त १/३४०, ३५२, ३५८, ३६४, ३७१, ३७८, ३८५, ३९२, ३९९, ४०६
अहमाय पाण-भोयण १/३२४	अगार १/१३२, २/१, २, ३, ७०, १२१, १२५	अच्छेज्ज १/५०७, ६१४
अहयार १/१३७, १३८; २/८३, ८४, ९३, १०७, १०९, ११०, १११, ११२, ११४	अगारधम्म २/१०८	अजय १/२४७
अहरेग-गहिय १/६८९	अगारव २/२५७	अजयणा १/२४७
अहलोलुप १/८२	अगारवास २/३७६	अजहण्णउक्कोसिया २/१३५
अहहास १/१९४	अगारसामादय धम्म २/१०८	अजाणू १/१२३
अकण्ठ २/४५	अगारि २/४०८	अजाय(१) २/११३
अकण्ठद्वियाण १/५५६	अगारिकम्म २/५५	अजिय १/३
अकण्ठणिज्ज १/४३२	अगारिण १/१०५	अजीव १/५९, १२५, १२६, १४१, १६०, १८९
अकण्ठि आहाराइ २/४८, ४९	अगुणप्पेही २/५६	अजीवकादय आरभ १/२८२
अकम्म १/१४७, २१०; २/३६३, ४०१	अगुत्ती १/७३०	अजीवभिस्सिया १/५१२
अकम्मदीरिय २/३६४	अग्ग २/३९६	अजुत्त परिणय १/११९
अकम्मस १/१७९	अग्गपिड १/५८८, ५८९	अजुत्तरूव १/११८
अकरणिज्ज किच्चाइ १/३०२	अग्गवीयाइ १/५७७	अजुत्तसोभ १/११८
अकसाइ १/१०७	अग्गहे २/३९७	अजुत्त १/११७, ११८
अकसिण चरम १/६८६	अग्गिभूइ (गणधर) १/७	अजुत्ता १/११८
अकसिण वत्थ १/६७९	अग्गी उवमा २/१९१	अजोगत्त २/१०४
अकसिणा २/३११	अग्गी उवसग्ग २/२८३	अज्ज १/२०१
अकाममरण २/१७०, १७२	अंगचूलिया २/२२३	अज्जदिट्ठी १/२०१
अकाल १/५४४	आगति १/१९९	अज्जपण्णा १/११९
अकिच्चट्ठाण २/३१९, ३२०, ३२१	आगाढादवयण १/५३२	अज्जव १/१३३
अकिच्चाणसेवण १/४२३	अज्जवसुदंसणगुणप्पमाण १/२३	अज्जव (धम्म) १/३१, ३२
अकिरिय १/१६७, १९८; २/४११	अजवले १/८२	अज्जा १/११९
अकिरियआया १/७४१	अचित्त १/५१०	अज्जणाणावरणिज्जा १/२०५, २०६
अकिरिया १/१०३, १३४, १५२, १६४, १७०, १८९	अचित्तकम्म १/६३५	अज्जत्थ जागरणा २/४३
अकिरियाफल १/१०३	अचित्त परिगह २/११०	अज्जत्थवयण १/५१८
अकिरियावाई १/१७०, १७२, १७३, १७८	अचित्ता २/२०६	अज्जत्थिय १/३३७
अकिचण १/३००, २/४१	अचित्तादत्तादाण २/१०९	अज्जप्पजोगसाहणजुत्त १/७३४
अकिचणता २/१३	अचियत्तकुल १/५४९	अज्जप्पजोगसुद्धादाण २/२१
अकुऊहल १/८	अचियत्तविसोही २/१८१	अज्जयण छक्कवग्ग २/८२
अकुसल १/१८३	अचियत्तवघात २/१८१	अज्जुसिर १/७२०
अकोउहल २/२७	अचिरकालैक्य १/७२०	अज्जोववज्जणा १/१२३
अकोविया १/१८०, २/३८१	अचेल १/६७६, ६७७, ६८८; २/३७०, ३७१, ३९५	अज्जोववण्ण १/४७३
अकोहण १/८२	अचेलग २/३७७	अज्जसपत्त २/५४
अकंडूयए २/२७४	अचेल परीसह २/३६८, ३७०, ३७१	अट्टाण २/३५१
अकंपिय (गणधर) १/७	अचेलस्स पसत्थ परिणाम २/३७१	अट्टाण लक्खण २/३५२
अक्कोस परीसह २/३६८, ३७५-३७६	अवेलिया २/२७५	अट्ट १/७४७
अक्खादयाणिस्सिया १/५११	अच्चक्खर १/९७	अट्टालय १/७४७
अक्खात पवज्जा २/६	अच्चासायणया १/९९, २/१९४	अट्ट अट्टमिया भिक्खु पडिमा २/२९७
अक्खीणमहाणसिय १/२२३	अच्ची १/७४९	अट्टकर २/२०३
अक्खेवकराण पायच्छित्त २/३३०	अच्चुयकम्म २/१४०	अट्टजाय २/३३३
अक्खेवणी २/३४७	अच्चंतसुही २/४०५	
अक्खण्ड चम्म १/६८६	अच्चबिल १/६३०	
अक्खेय(त)ण १/१८३, १८४, १८५	अच्छ १/५४८	

नोट : प्रथम अंक चरणानुयोग भाग का सूचक है, तथा द्वितीय अंक पृष्ठ का जैसे प्रथम शब्द अहङ्कान्त- २/१००- अर्थात् भाग २ के पृष्ठ १०० में यह शब्द आया है ।

अट्टणाणाया १/११२
 अट्टवसी १/१०८
 अट्टभतिय २/७२
 अट्टमी पोसह १/६१६
 अट्टलोलुप १/४४०
 अट्टविहकम्मगठि १/३२५
 अट्टासठाणा २/४५
 अट्टारस पावट्टाण २/१८१
 अट्टालोभी १/४५३
 अट्टि १/६५
 अट्टोवमा १/२२१-२२२
 अट्टुरत्त १/६३, ६८
 अट्टोमोयरिया ६११
 अणग २/३८२
 अणगार १/६०, ६१, १५३, २०५, २१०,
 २१५, २२८, २२९, २३१, ३२७, ३३४,
 ३३७, ४८७, ४८८; २/१, २, ३, १९,
 २०, १२१, १३६, १३७, १६५, १६७,
 २१६, २६२, २६३, २८०, २८१, २८२,
 २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २९७,
 २९८, ३०१, ३०५, ३०६, ३२०, ३७३,
 ३७६, ३९४, ४०२
 अणगारगुणा २/२९
 अणगारधम्म १/३०
 अणगार सामाहय १/७३९
 अणगारिय १/१३२
 अणज्जसायणसील १/१०३
 अणज्जावित १/७१५
 अणज्जासायणाविणय १/७५, ७६
 अणज्ज १/२०१
 अणज्जदिट्ठी १/२०१
 अणज्जधम्म १/२४०
 अणज्जपण्णा १/११९
 अणज्जा १/११९
 अणज्जोववण्ण २/२६२, २६३
 अणट्ठा १/५०६
 अणण्णदसी २/२८
 अणण्णाराम २/२८
 अणत्तपण्ण १/१३५
 अणत्तवओ २/२८
 अणत्तवओ अत्तवओयणा २/२८
 अणत्तदंडवेरमण २/१००, १०८, १११
 अणत्तधाइ पज्जव २/३३४
 अणपन्नियदेवत्तण २/१३०
 अणभिहन्त किरिया १/६६४
 अणभिग्गहिय(१) १/५१२, २/७४
 अणभिग्गहिय कुट्ठी १/१२६
 अणभिग्गहिय भिच्छादसण १/१६४
 अणवज्ज (अनवद्य) १/१४६, १६८
 अणसट्ठप्प २/२१६, ३३०, ३३१
 अणवट्ठप्प पायच्छित्तारिह २/३३०
 अणवट्ठप्पारिह २/३१०
 अणवदग्ग २/५३

अणसण २/२५८-२६५
 अणण्हय १/१०३
 अणण्हयफल १/१०३
 अणण्हव १/४३२
 अणाइल १/१०७
 अणागत १/१७२; २/१००
 अणागमण धम्मिणो २/३९५
 अणागयवयण १/५१८
 अणागार २/१००
 अणाढिता २/८
 अणाढिय (देव) १/११०
 अणाणुबधि १/७१५
 अणाणुवादी १/१७२
 अणाताविय २/७४
 अणादीय २/५३
 अणाभोग २/३०९
 अणाया १/१८७, १८८, ५५६; २/८४,
 १७४-१९८
 अणाया-भट्ट-सेवी २/१५४
 अणारिय १/१५९, १७९, १६३, १९५,
 ४८९; २/६५
 अणारियवयण १/२४५
 अणारंभ १/२८२, ४५४
 अणारंभजीवी १/७३७
 अणालोयण २/३२१
 अणाविल २/४१
 अणासत्त १/४३४, ४३५
 अणासव १/१०४, २०७, २२०;
 २/२५७, ४०५
 अणासायमाण १/५०५, ५०६
 अणाहपिण्ड १/५११
 अणियाठाण १/५००
 अणिएय २/३७४
 अणिएयवास २/४१
 अणिच्च भावणा २/३९५
 अणिट्ठहए २/२७४
 अणिदाण १/४०३
 अणिदाणया १/५३
 अणियट्ठगामी १/३९८
 अणियाण १/१६८
 अणियाणभूत १/३९
 अणिरय १/१५९
 अणिसिद्ध १/५०७, ५६३, ६१४
 अणिस्सर १/१४२
 अणिस्सा १/२१६
 अणिण्हुवायार १/१११
 अणुकप १/८९
 अणुक्कस १/४५४
 अणुग्घाय पायच्छित्तारिहा २/३३०
 अणुच्चकुइय २/७४
 अणुट्ठाणबधिय २/७४
 अणुणवण्णी २/२८२
 अणुणविय पाणभोयण भोई १/३०१

अणुण्णापगारा २/२०१
 अणुत्तर १/५, ६, ५१, ६०, १००, १२७,
 १३४, १४५, १४७
 अणुत्तरणाण-दसण १/१९७
 अणुत्तरणाणदसणघर २/४०
 अणुत्तरदसी २/४०
 अणुत्तर धम्म १/३६
 अणुत्तरनाणी २/४०
 अणुत्तरोववातिय (देव) २/५३
 अणुदिसा २/४७
 अणुपालणासुद्ध २/९९
 अणुप्पेह (१) १/१३३, ६१७, ६१८;
 २/३४२
 अणुप्पेहा फल २/३४६
 अणुभासणासुद्ध २/९९
 अणुमाण १/१८
 अणुमाणवत्ता २/३१८
 अणुवसु १/४५२
 अणुवीति १/१०८
 अणुवीति भासणया १/२९६
 अणुवीय मित्तोर्गहज्जई १/३०१, ३०२
 अणुवीय वाय १/११२
 अणुवीयि भासी १/२९०
 अणुव्वय २/१०७, १०८
 अणुसासण १/८४, ८५, ८६
 अणुसोय १/१४२
 अणुसोयचारी १/५३६
 अणुस्सयुत्त १/४५५
 अणुणाइरित्त पडिलेहणा २/६१
 अणुगच्छित्त १/७३२
 अणुगच्छन्दा २/४३
 अणुमदसी १/४३५
 अणुवसंस १/१८१
 अणुहत्तर १/४३८
 अणुकीडा २/११०
 अणत्त १/३
 अणत्तकायसंजुत्त आहार १/५७५
 अणत्तघात १/११२
 अणत्तचक्खू १/६
 अणत्तनाणदसी २/४११
 अणत्तनाणोवगय १/१०२
 अणत्तमिस्सिया १/५१२
 अणत्तमोह १/४५५
 अणत्तरसमुदाणकिरिआ १/१६४
 अणत्तरहिया पुढवी १/७४२
 अणत्तरागम १/२३
 अणत्तानुबन्धिकोह-माण-माया-लोभ
 १/१३४
 अणविल १/६३१, ६३२
 अणजत्थिणी २/२३५
 अणजत्थिय १/१६७, ३१०, ३११, ३१२,
 ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८,
 ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४,

३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०,
३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६,
३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ४९३,
५८६, ६७७, ६८७, ७९४, ७९८;
२/१३१, १३२, १९४, १९५, १९६,
२३४, २३५, २३६, ३४३, ३४५, ३६३
अण्णउत्थियाण दंसणपणवणा १/७४१
अण्णगणाओ आगयाणगणपवेसस्सविहि
णिसेह २/२४२
अण्णगिलायचरण २/२७१
अण्णगिलायए २/२७०
अण्णतित्थिय १/१९२
अण्णतित्थिय पसंसाकरण २/१९७
अण्णपरिगहाए १/७३३
अण्णपरियावए १/७३३
अण्ण-पाण १/५३०
अण्णमण्ण ववहार २/२३१
अण्णमण्णपित्थिगहा २/२१०
अण्णमण्ण वेयावच्चकरण विहाण
२/२२९-२३०
अण्णमण्ण अच्छी परिकम्म १/३११
अण्णमण्ण अच्छीपत्त परिकम्म
१/३६२, ४१२
अण्णमण्णस्स उत्तरोट्ट परिकम्म
१/३६१, ४१०
अण्णमण्णस्स ओट्ट परिकम्म
१/३६०, ४०९
अण्णमण्णस्स कायपरिकम्म
१/३५७, ४०५
अण्णमण्णकिरिया १/३४०
अण्णमण्णस्स केसपरिकम्म
१/३६३, ४१३
अण्णमण्णस्स चक्खुपरिकम्म १/३६१
अण्णमण्णस्स जंघाहरोमाण परिकम्म
१/३५९, ४०८
अण्णमण्णस्स णहसिहापरिकम्म
१/३५९, ४०८
अण्णमण्णस्स दंतपरिकम्म
१/३६१, ४१०
अण्णमण्णस्स पायपरिकम्म
१/३५८, ४०७
अण्णमण्णस्स भुमगरोम परिकम्म
१/३६२, ४१२
अण्णमण्णस्स मलणीहरण १/३५८
अण्णमण्ण सीसदुवारिय करण १/४१३
अण्णवहाए १/७३३
अण्णाण १/१६७, १८०
अण्णाणमोहदंसिण २/५२
अण्णाणवीय १/१७८
अण्णाणिया १/१८०
अण्णाणियाण १/१७९, १८०
अण्णाणी समणस्स गई २/५५
अण्णायज्ज २/४१

अण्णायचरण २/२७०, २७१
अण्णाण पमायदोस २/२४६
अतारिमा २/३८२
अतिसिमा २/३८६, ३८७, ३८८,
३९०, ३९१
अतिरत्ता २/५९
अतिरत्तल १/५१७
अतिहिसविमाग २/१०१, १०८, ११४
अतीरगम १/४३९
अतुट्ठिदोस २/३८६, ३८७, ३८८,
३९०, ३९१, ४०९
अतुरियभासी १/५१९
अतेण २/४०
अतेण ठाण २/४६
अत्त २/४०४
अत्तगरहा फल २/३३४
अत्तघाण २/३२१
अत्तणिज्जाफल २/३३३
अत्तदंसण १/४६२
अत्तवतो २/३८
अत्तविण्णु २/४०४
अत्ता १/१७०
अत्तागम १/२३
अत्तुट्ठोस २/१५४
अत्थ १/८४
अत्थकहा २/३४६
अत्थ (ज्ञानाचार) १/५५, ११२
अत्थघर १/१०९, १२२
अत्थपडिणीय १/८९
अत्थसुयधम्म १/३०
अत्थागम १/२३
अत्थिकाय १/३५४
अत्थिकाय धम्म १/३१, १२७, २/३४६
अत्थिय १/५७८
अत्थी १/७४९
अधिरप्पा १/१४२
अधिरासण १/७३८
अदत्त २/२५७
अवत्तहारी २/३८६, ३८७, ३८८, ३९०,
३९१, ४०९
अदत्तादोणाक्खेव १/३१०
अदिट्ठजायणा २/६७
अदिट्ठठाण १/५८७
अदिट्ठधम्म १/९१
अदिट्ठलाभिए २/२७०
अदिण्णा(त्रा)दाण १/१७३, २१२, २३२;
२/५२, ३८४
अदिण्णा(त्रा)दाणाओवेरमण १/३००, ३०१,
३०२, ७३३; २/२९
अदित्रा(ण्णा)दाण महब्बय १/३०७
अदित्रादाण-वय-नियम-वेरमण १/३०८
अदीण १/२०१
अदीणदिट्ठी १/२०१

अदीणविती १/५३५
अदीणपण्णा १/११९
अदीणा(ना) १/११९
अदुगुच्छियकुल १/५४८
अदुट्ठ १/१३०
अद्दागसमाणे २/१०५
अद्दजोयणमेरा १/६११, ६१३,
६१४, ६९२
अद्दामिस्सिया १/५१२
अद्दपलियंका २/२७४
अद्दपेडा १/५३९; २/२६७, २८१
अद्दमागहा भासा १/१५
अद्दहार १/४२०, ६४०
अद्दा पच्चक्खाण २/१००
अद्दामिस्सिया १/५१२
अधम्म १/१८९
अधम्मठिय १/४६, ४७, ४८
अधम्मपएस १/२७, २८, २९
अधम्मपसंसा पायच्छित्त १/५०
अधम्मिय उवज्जम १/४६
अधम्मियकरण १/४५
अधम्मिय ववसाय १/४६
अद्या १/१२३, १२९
अधिगम २/१०७
अन्तत्थअण्णाभोगेण २/९४, ९५, ९६, ९७
अन्नमन्नकरेमाणे पारचिय २/३३१
अन्नाण १/५९, १२६, १६४, १९५
अन्नाणकिरिया १/१६४
अन्नाण परीसह २/३६९, ३७८
अन्नायभासी २/५४
अनिन्हवण (ज्ञानाचार) १/५५,
१११-११२
अभियट्ठि २/१०४
अनियाण २/३७९
अनियाणया २/१८०
अनिरय १/१५२, १५४, १५५, १५७
अनीहारिम २/२६०, २६१
अपकारकारगा १/१२१
अपच्छाणुतावी २/३२०
अपच्छिम-मारणत्थिय-संलेहणा-सूसणा
२/७३
अपच्छिम मारणत्थिय-संलेहणा-सूसणा
सूचित २/१२१
अपच्छिममारणत्थिय-संलेहणा-सूसणा
आराहणया २/१०१, १०७, १०८
अपज्जत्तिया (भासा) १/५११, ५१२
अपज्जवसित १/१६४
अपडिच्छगा १/१२०
अपडिलेहण १/७२९
अपडिलेहणासील २/७४
अपडिवारि १/२४, १२७
अपडिसेवी १/४२३, ४२४
अपडिसंलीण २/२७८

अपत्त २/३४४
 अपमज्जणासील २/७४
 अपमत्तभावेण करणिज्ज किञ्चाहं
 २/३९३
 अपरिकम्प २/२६०
 अपरिगह १/४३९, ४५४; २/४०
 अपरिगह आराहणा फल १/४५५
 अपरिगह ठाण २/४६
 अपरिगहस १/२१०
 अपरिगह महावय १/४२९-४७४
 अपरिगहियागमण २/११०
 अपरिगही १/४३४
 अपरिणय १/५७५, ५७९, ५८०, ५८२,
 ५८३, ६३१, ६३२
 अपरिपुय २/७२
 अपरिमिष २/७२
 अपरिस्मृ १/२०७
 अपरिस्मृ २/३०९, ३२०
 अपरिहारिय २/२४७
 अपरिधिष्ठ २/२१६, २२१
 अपरिधिष्ठिय २/३२७, ३२५, ३२६, ३२७,
 ३२८, ३२९
 अपरिधिय २/२०३
 अपसत्त कायविणय १/७८, ७९
 अपसत्त मणविणय १/७७
 अपसत्त वडविणय १/७८
 अपसु १/३००
 अपाहयाए २/२७५
 अपाहिहारय १/६२१, ६२२, ६८६
 अपाराम १/१०४
 अपाहिहारिय २/३३४, ३३५, ३३६
 अपाणम १/४३९
 अपाण्य १/१६१
 अपुट्टलाभिण २/२७०
 अपुणरावसि २/५१
 अपुण्णकवा १/१२१
 अपुण्ण १/१२१
 अपुण्णावभासा १/१२१
 अपुत्त १/३००
 अपुरकार २/३३४
 अपुरिसतरक १/६४८, ६४९, ६६९,
 ६९१, ६९२, ६९७, ७२५
 अपठित १/१८३
 अप्पमविण्णादाण १/३०६
 अप्पजलिओसहिअकलणया २/११०
 अप्पडिक्कया १/१३३, १३४
 अप्पडिक्क २/६
 अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियउज्जार-
 पासवण भूमि २/११४
 अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सिज्जा
 संधारे २/११४
 अप्पडिविरय १/१७३
 अप्पडिहारिय १/६६०

अप्पणो आयरियलक्खण वागरण
 २/१९६
 अप्पत्तिय १/१७९
 अप्पधिगरणे २/२४४
 अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जियउज्जार-
 पासवणभूमि २/११४
 अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय सिज्जा-संधारे
 २/११४
 अप्पफरुसवयण १/५३२
 अप्पमत्त १/२८३, ५४०; २/१७८, १७९,
 ३९९, ४०२
 अप्पमत्त अज्जवसाण १/७३७
 अप्पमाणभोई १/३०४
 अप्पमाय पडिलेहणा १/७१५
 अप्पमाओ १/२२१
 अप्पमुसाकाय १/२९४
 अप्पयरा १/१३८
 अप्पलीण १/४५४
 अप्पसमदिट्ठी १/२२४
 अप्पसागरिय १/६३५
 अप्पसावज्ज किरिया १/६३६
 अप्पा १/१६०; २/४३, ४००
 अप्पाउज्जस कारण २/१०६
 अप्पाणरक्खी २/१७९
 अप्पाधिकरण २/२१६
 अप्पाहार १/६११
 अप्पियकारिणी १/५२५
 अप्पापिज्ज(यर) १/४८
 अफलराहयो १/४१
 अफासुय १/५४९, ५६०, ५६१, ५६३,
 ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३,
 ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०,
 ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८८,
 ५९६, ५९७, ५९८, ६०७, ६१६, ६२९,
 ६३१, ६५२, ६६०, ६७८, ६९४, ६९५,
 ६९६, ६९८, ७२५; २/११५
 अवहिमणे २/४०१
 अवहुसंपन्न २/७२
 अवहुस्तुय १/११०
 अवल १/१८२, १८३, १८४, १८५;
 २/४०८
 अवुद्ध जागरिया २/३९४
 अवुहे १/११६
 अवभच्चरिय १/३३३
 अवभच्चेरविरमण १/३२१
 अवभसेवी २/२१४
 अवभक्काण १/१७३, २१२
 अवभुट्ठाण २/५७, ५८
 अवभत्तदु पञ्चक्काण सुत्त २/९६
 अवओ १/२२१
 अवयदाण १/३१८
 अभिओग भावणा २/१५३
 अभिहन्त किरिया १/६३५

अभिहन्त कूर कम्मा १/५०४
 अभिक्खलाभिण २/२७०
 अभिगमकुसल १/८४
 अभिगमदसण १/१२७
 अभिगम(रुई) १/१२६
 अभिगहियमिच्छादसण १/१६४
 अभिगह २/२६८
 अभिगह पञ्चक्काण सुत्त २/९६
 अभिगहम्मि १/५१२
 अभिचारिय १/५००
 अभिनन्दण (तीर्थकर) १/३
 अभिनिचारिका १/५५०, ५५१
 अभिन्नक्ख १/६७९
 अभिसेयट्ठाण १/४६१
 अभिसेय रायहाणी १/५००
 अभिह १/५६०, ६१४
 अभुतौवभातिय १/५१९, ५२०, ५२१,
 ५२२, ५२४
 अमणुत्त योगल १/७४४
 अमर भवण २/३५७
 अमाई १/८२; २/३२०
 अमितपाणभोयण गिसेह १/३२९
 अमित २/२५
 अमियासणिय २/७४
 अमिल १/७४६
 अमिलकपास १/४२३, ६८९
 अमिलक्ख १/१७९
 अमिलाणि १/६७०
 अमुच्छिय २/१७४
 अमुणी २/२७
 अमुणी-मुणी सकव २/२८
 अमुसा २/२४६
 अमुत्त १/१०५, १३०
 अमुत्तदिट्ठी १/१२६
 अमेहावी १/१८३
 अमोसलि १/७१५
 अम्मापिडसमाणे २/१०५
 अयपाय १/६९३
 अयसभाया (गजघर) १/७
 अयलोह १/४२२
 अयसिस्थि १/७४४
 अयहारी १/३८४
 अयक १/१४६
 अर (तीर्थकर) १/३, ४, १९८
 अरह २/३७२, ३९७
 अरह गिसेह १/४४३
 अरहय १/२५६, २६५
 अरह-रह १/१७३; २/४१०
 अरति १/४४४
 अरत्तजीवी २/२७३
 अरत्ताहार २/२७२
 अरहा १/७, १२, ३९, ४०; २/१९८, १९९,
 ३४८

४४२ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

अराय १/४९९	अविणयकरण १/९९	असमाहिणा २/३८२
अरि(र)हंत १/१,२,३,२३,१२९,१६७, १७१,२१५,५१०; २/२००,३९४	अविणयफल १/७१	असमिय २/७४
अरिहन्ता आताः १/९५	अवणीय (त) १/८६,८७,८९,९१,९२, ९३,११०	असरण भावणा २/३९५-३९६
अरिहंतपणत्तधम्म १/१२९	अविणीयप्पा १/९१	असायणा १/९३,९४,९५,९६,९८,९९
अरिहताण २/३१९	अविद्धत्य १/५०१,६३१,६३२	असातायावेत्त(य)णिज्ज १/२१४,५५७, ५९९
अरुणोववाय २/२२३	अविभूसा ठाण २/५१	असारंभ १/२८३
अलाभ परीसह २/३६८,३७७	अवियत्त १/१८३	असावज्ज १/५१८,५१९,५२०,५२१, ५२२,५२४
अलित १/५०३,५०७	अवियार २/२६०	असासत(य) १/१६०,१७०
अलिधनयण १/२९९,५२४	अधिरह(ति) १/४३७; २/१७४	असाहुणो २/५४
अलूसय १/१०८	अविरोह घम्म १/३०	असाहुया २/५६
अलोग(य) १/६०,६१,१८८	अविवेगुब्भुया उवसग्गा २/३८१	असाहू १/१५२,१५४,१७१,१८१,१८९,५ ३१; २/२८
अल्लीणगुत्त २/३९७,४०१	अवुग्गाहित १/१३०	असिक्खाठाण १/९३
अल्लीणता १/५८	अवंगुयदुवारिय १/६५०	असिणाण ठाण २/५१
अवककरभोई २/४०६	अव्वत्त २/३१८,३४५	असिणाती, विअइभोइ, मोलिकडे दिआ वि राओ बभयारी २/११६,११८
अवगगह पडिभा २/२९५,२९६	अज्जावारपोसह २/११४	असित्थ २/७२
अवज्झाणचरिय २/१११	अव्वुक्कत्त १/६३१,६३२	असिद्धि १/१५२,१५४,१८९
अवज्झाणता २/२५३	अव्वोयहा १/५१२	असिपत्त १/५०७
अवइढमोयरिया १/६११	अव्वज्जणजाय २/२२४	असिप्पजीवी २/२५
अवणीत-उवणीतवयण १/५१८	असइय १/२६५	असिय १/२५६
अवणीय चरण २/२६९	असईजणपोसण्या २/१११	असिकिलेस २/२५२
अवणीय-उवणीयचरण २/२६९	असच्च १/८४,१८९	असील १/१४४
अवणीयवयण १/५१८	असच्चदिट्ठी १/२००	असीलपण्णा १/११९
अवण्ण १/५०,१२९,६१३; २/१५४, १७६	असच्चपण्णा १/११९	असुइ १/२००
अवण्णवाय १/५२५	असच्चमोसा १/७३१,७३४	असुइदिट्ठी १/२००
अवण्णवाई २/१५३	असच्चा १/११९,२००	असुइसामंत १/६५
अवतारवाय १/१६१	असच्चा मोसा १/५१०,५११,५१२, ५१५,५१८,५२४	असुइदंसणा १/२००
अवत्तच्चा (भासा) १/५३०	असज्जमाण २/२४५	असुइपत्रा १/११९
अवत्तच्च सच्च १/२९३	असज्जाइय १/६९	असुद्धा १/११९,२००
अवदले १/१२१	असज्जाय १/६६,६७	असुर १/१,४८
अवद्धंस २/१५४	असज्जायकाल १/६३	असुरिन्द २/५२
अवनयदंसणा १/२०१	असज्जायकाल विहाण १/६३	असुरिय भावण २/१५४
अवनया १/२०१	असङ्गासु १/१३१	असुहदीहाउवधकारण २/१०६,१०७
अवमारिय १/१६५	असण १/९४,९५,१५२,४४१,४७७, ४७८,४७९,४८०,४८१,५०८,५०९, ५२०,५२२,५२८,५३७,५४३,५४७, ५४९,५५१,५५५,५५८,५६०,५६१, ५६३,५६८,५६९,५७०,५७१,५७३, ५७४,५८५,५८६,५९०,५९५,५९६, ५९७,५९९,६०२,६०३,६०४,६०५, ६०६,६०९,६१०,६११,६१३,६१६, ६१७,६१९,६४१; २/७३,११५	असुहुम जीव १/२८३
अवमारिय १/५२७	असणाइ णिक्खवण १/६०९	असंजम १/१४३,२८६; २/११,१६,४९
अवयणाइण १/२९८	असणाइण संगह निसेह १/४४१	असंजमपण्णारा २/१४
अवरणह १/६३,६८	असत्थ १/२३४; २/४००	असंजय १/४६,४७,१४४
अवलित १/७१५	असत्थपरिणत्त(य) १/५७५,५७६, ५७७,५७८	असंजयस्स आहारदाण फल २/११५
अवलेहणिय १/७१४	असबलचरित्त २/१०२	असंजयस्स गई २/१२६
अवल्लय १/५०३	असम्भमाहु २/४१	असंयडिय १/४७८,४७९,४८०
अवरविदेह १/२६	असमणपालग्गा १/७४७,७४८; २/२२६	असंवर १/२१२
अववाए एगगी विहार विहाण २/२४५	असम(हि)ही(धी) १/२१३,७३३; २/५४	असविभागी १/८७,९१; २/१७७
अवस्सकरणिज्ज २/८२	असमाहिठाण २/१८५	असंबुद्धी १/१६२; २/३७,५६
अवहेलस २/३६६		असंबुद्ध अणगार १/२१४
अवजण २/६७		असंसदुचरण २/२६९
अवाउडए २/२७४		अस्साओ १/२२१
अवागरा १/१२०		अहक्खाय २/११
अवायदंसी २/३२०		अहक्खायचरित्त १/७३६
अवायविजय २/३५३		अहक्खायचरित्तगुणपमाण १/२४
अविज्जपुरिभा २/३९६		अहक्खायचरित्त संजय २/१४
अविणय १/१६४,१८७		

अहस्तिर १/८२
 अहाक १/५५४
 अहाछन्द १/१४४; २/१५८
 अहाछन्दविहारपधिम २/२५१
 अहालहसग १/६५७
 अहालद १/५५१, ६०२, ६३३, ६५१, ६५४
 अहिगरण २/४२, ७६, २४४, २५५, २५६
 अहिगरिणी २/११२
 अहितकारगा ठाणा २/२५३
 अहियगारिणी १/५३१
 अहियगगी १/१०२
 अहियप्पा १/१७९
 अहिंस २/४०
 अहिंसा १/२१०, २१६, २१९, २२१, २२२
 अहिंसा ठाण २/४५
 अहिंसा महाजत १/२१५-२८८
 (१६म महव्वय १/२१५-२८८)
 अहिंसा सख्खवगा पालगा १/२२२
 अहिंसाए सट्ठी नामाई १/२१९
 अहुणाधोय १/६३१, ६३२
 अहोदिसिपमाणाइकम २/११०
 अहोदिसिबय २/११०
 अहोराइयाभिक्खुपडिया २/२८०, २८७
 अहोलीय १/२५
 अकेसाइणी २/३७३
 अंग-मगह २/२२५
 अंठ २/४०४
 अंडसुहुम २/७७
 अंतकुल २/१६६
 अंतचरए २/२७१
 अंतजीवी २/२७३
 अंतरगिहे णिसेज्जाओ अपवाओ २/५०
 अंतराय २/४०५
 अंताहार २/२७२
 अंतेउरपवेसकारण २/२२७
 अंतेवासिस्सप्पगारा २/२०३
 अंतोसल्लमरण २/१६९, १७३
 अंब २/४०७
 अबुखुज्ज २/२८६
 अबुखुज्जियाए २/२७५
 आइक्कम १/४२६
 आइक्खितए २/५०
 आइण १/७४५
 आइणसंलडी १/६१५
 आइणगाणि १/६७०
 आजकम्मसमारंभ १/२३१, २३२, २३३
 आजकाइयआरंभ १/२८२
 आजकाइय जीव २/९, १०
 आजकाइय संजम २/१४
 आजकाइया १/२२५
 आजकाय अपारंभ ठाणा २/४७
 आजकाय १/४४, २३१
 आजजीवा १/२२६

आजट्टि १/४८७
 आजठठाण १/७२८
 आजत्त १/४८८
 आजय १/१४७; २/१०४, ३४६, ३६७
 आजयकम्म १/२१४, ५५७, ५९९
 आजर २/३०९
 आजटण पसारण २/९५
 आज १/१६२, २२६, २४६
 आज महाभूत १/१५४
 आएसण १/६४४, ६४५, ६४६
 आकारकरण १/७४५
 आकंपइत्ता २/३१८
 आकुण पट्टग १/६७८
 आगइ १/१७०
 आगम १/१८, २२, २३; २/२००, २०१
 आगमणएहु २/५३४
 आगमतो(ओ)दब्बावस्सय २/७८, ७९
 आगमतो(ओ) भावावस्सय २/८१
 आगाढ फरुसवयण २/१९४
 आगारधम्म १/३०
 आगारसामाइय १/७३९
 आगासगामिणो १/१६६
 आगासपएस १/२७, २८, २९
 आगास महाभूत १/१५४
 आगंतार १/६३२, ७४३, ७४७
 आजीविओवासग २/१२६, १२७
 आजीविय २/११२, १२६
 आजीवियतवप्पगारा २/२५८
 आजीवियपिण्ड १/५६६
 आणमणी १/५१४, ५१६
 आणय-पाणय-आरण-अञ्चुय(देव)
 २/५३
 आणवणप्पओग २/११४
 आणा २/२००, २०१, ३९३, ४००, ४०१
 आणाधम्म १/३०
 आणापाणुनिरोह १/१४७
 आणारुइ १/१२६
 आणावायमसंलोय १/७२०
 आणाविजय २/३५२
 आणापुसरण जवएसो २/३९३-३९४
 आणद २/३९७
 आतव २/३७
 आत(य)वेयावच्च २/३३७, ३३८
 आतसरीरसवेगणी २/३४७
 आता(यो) १/१५०, १५१
 आतावए २/२७४
 आत(या)वण १/७००
 आतक १/६१२, ७३७
 आत(य)कदसी १/२२४; २/३९६
 आदाणगुत्त १/१७०
 आदीणभोई १/४७३
 आघाकम्मिय १/६४५
 आपुच्छणा २/५७, ५८

आम्भितर तप २/२५८, ३०९-३५१
 आभरणचित्ताणि १/७४६
 आभरणविचित्ताणि १/६७०, ७४६
 आभरणाणि १/६७०
 आभिओग २/१५४
 आभिओगता २/१५४
 आभिणिबोहियणाण १/५५, ५६, ५७, ५८
 आभिणिबोहियणाणविणय १/७५
 आभिणिबोहियणाणवरणिज्ज कम्म
 १/५६
 आमगंघ १/५४२
 आमलग १/१०१
 आमलगपाणग १/६२९
 आमिस भोगगिद्ध २/३८९
 आमोद(यो)रिय(ग) १/३३१; २/२५८, २
 ६६-२६८
 आमोसग १/४९०, ४९१, ६८५, ७०३
 आमोसहिपत्त १/२२२
 आमतणि १/५१२
 आयगवेसय २/२४
 आयगुत्त १/१९२
 आयगुत्त भिक्खुस्स परक्कम २/३९९
 आयछट्ठवाय १/१६१
 आयजोईण १/७३२
 आयट्ठीण १/७३२
 आयदण्ड २/३७६
 आयणा १/१६८
 आयत्तक्खू १/४४७
 आयत्तण १/२२१, ४४२
 आयपरिक्कमाण १/७३२
 आयमइ १/७२९
 आयरक्खा २/२०२
 आयरिय १/१, ८५, ८६, ९२, ९९, १००,
 १०१, १०२, १२९, १३८, १५३, ४९६,
 ४९७, ६०३, ६०४, ६०९, ६६८; २/८,
 ९, ६६, ६७, ६८, ७१, ७३, ७६, २०५,
 २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३,
 २१४, २१५, २१६, २१८, २१९, २२०,
 २२२, २२४, २३२, २३६, २३७, २३८,
 २४०, २४१, २४२, २४६, २५३, २५४,
 ३१९, ३३६, ३३७
 आयरिय आसायणा १/९६
 आयरियत्ताए २/२०१, २०२
 आयरिसपडिणीय १/८८; २/२३१
 आयरियप्पगार २/२०२-२०३
 आयरियवयण १/२४५, २४६
 आयरिय-वेयावच्च २/३३८
 आयरियाइ अइसया २/२०५
 लायवए २/२७४
 आयस(चे)धेयणिज्जा २/३८०, ३८१
 आयहियाण १/७३२
 आया १/१६१; २/४०४
 आयाणनिकखेव १/१४३

४४४ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

आया(दा)णभट्टनिकलेवणासमिति
१/२१८, २७९, २८१, २८२, ४८५,
७१२-७१९, ७२२, ७२३
आयणमद्वी १/१०६
आयणसोत्तगदित १/७३५
आयाणि १/६७०, ७४५
आयाम १/६२८, ६३२
आयामय २/२६०
आयामसित्पभोई २/२७२
आयार १/२३, ८५, १५७, ३०४
आयारअक्खेवणी २/३४७
आयारकप्प २/३११
आयारकप्पपरिभट्ट २/२१३
आयारगोयर १/७४०, ७४१
आयारधम्मपणिही १/५१
आयारपकप्प २/२१३, २१४, २१७,
२२३, २२४
आयार-पकप्पघर १/६६४
आयार-पण्णति १/५१-५४
आयारपण्णतिघर १/५३१
आयारभावादेसत्तु १/५२८
आयार-विणय १/७२
आयारव २/३२०
आयारसमाही १/५३, ५४, ८५
आयारसंपया २/२०६
आयावणा २/२७५
आयतियमरण २/१६९
आयविल २/२७२
आयविल पच्चक्खण सुत्त २/९५
आयविलिए २/२७२
आरभडा १/७१६
आरभगार १/६३२, ७४३, ७४७
आरामगिह २/२८२
आराहग(य) १/३०४, ५१०, ५११, २/६१,
१२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२,
१३३, १३६, १४१
आराहगा अणारंभा अणगार
२/१३६-१३८
आराहगा अप्पारम्भा समणोवसगा
२/१३८-१४०
आराहगा सण्णपच्चिदिय
तिरिक्खजोणिया २/१४०
आराहणविराहणी १/५१५
आराहणा १/५९, २/७७, ८२, १३४, १३५,
२५४, ३६१, ३६२
आराहणापगारा २/१३५
आराहणाफल १/५२
आराहणी १/५१५
आराहणी भासा १/५१३, ५१४
आरियखेत्त २/२२६
आरिय मग्ग २/३८४
आरोवणा २/३११, ३१२, ३२७
आरोवणा पायच्छित्त २/३११

आरंभ १/३७, १३१, १७४, १७९, २०८,
२०९, २८२, ४३९, ४४८; २/३, १७,
१०८, ११९
आरंभजीवी २/१७७, ३६४
आरंभपरिष्वाय १/१३५
आरम्भ परिणाय २/११६
आरंभसत्ता १/७४१
आलओ धीणजणाङ्गण १/३२४
आलस्स १/९३
आलाव सत्ताव कारण २/२२७
आलिसदग १/१७५
आलोहय २/३२७, ३२८, ३२९
आलोहयपाणभोयणभोई १/२१८
आलोयग २/३२४
आलोयण पाणभोयण १/२७९
आलोयणया १/१३३, १३४
आलोयणा २/३१८, ३१९, ३२०, ३२१,
३२२, ३२३, ३२४
आलोयणा अकरण कारण २/३२२
आलोयणा अकरण फल २/३२३
आलोयणा करण २/३३०
आलोयणा करण जोग्गा २/३२०
आलोयणाकरण कारण २/३२१-३२२
आलोयणा कारणा २/३१८
आलोयणा करण फल २/३२३-३२४
आलोयणा दोसा २/३१८
आलोयणारिह २/३१०
आलोयणा सब्ब जोग्गा २/३२०
आलंघण १/४८६; २/१०३
आलुप १/४५३
आवजडि १/४१६
आवकहिय १/२४
आवकहिय अणसण २/२५८, २६०
आवकहिय पडिक्कमण २/८३
आवट्टसोय २/२७
आवतीति २/३०९
आवायमसलोय १/७२०
आवस्सय २/७८-८२
आवस्सिया २/५७, ५८
आवीहमरण २/१६९
आस १/५४८
आस-करणाणि १/४६१
आसगसि १/५३८
आसजुद्धाणि १/४६१
आसण १/६५७, ६६१
आसत्त १/४३४
आसत्ति १/४३९
आसत्थपत्त १/५०८
आसव १/१२५, १२६, १४२, १७०, १८९,
२०५, २०६, २०७, ४४३
आसवदार १/४३७; २/१०३
आसवदार पडिक्कमण २/८३
आसादी पाडिवा १/६३, ६९

आसायणा फल १/९८
आसासा २/१०५
आसिल २/३८४
आसीविस १/९८, ९९
आसीविसभावणा २/२२३
आसुर १/१६२; २/१५४
आसुरकाय १/१३०
आसुपण्ण १/१०४
आसुरत्ता २/१५४
आसुरय दिस २/४०७
आसोत्थ पवाल १/५७६
आसोय पडिवा १/६९
आसदिय १/३३६; २/४९
आहाकड १/४३४
आहा(दा) कम्म १/५५१, ५५४, ५५७,
५५८; २/१३४, १७१
आहाकम्मिय १/६१४
आहार १/१८८, ५३४, ५३५, ५३७, ५६८,
५६९, ६१०, ६११, ६१२, ७२० ;
२/२६३, २६४
आहारएसणा १/२८०
आहारकरण २/७२
आहारजुत्तजयस्सय १/६५१
आहारपच्चक्खण १/१३३; २/१०३
आहारपाण गिसेह १/५३९
आहारपोसह २/११४
आहारव २/३२०
आहारहेज २/३८१
आहारसमिति १/२८१
आहारसक्ख १/५३३
आहारेसण पडिमा २/२८८
आहियविट्ठी १/१६७
आहियपण्ण १/१६७
आहियवाई १/१६७
आहेण १/६१७, ६१८, ६१९
आहोहिय १/३९
इड्ड २/२९२
इक्खलागकुल १/५४९
इच्छाकारो २/५७, ५८
इच्छाणुलोमा १/५१२
इच्छापरिमाण २/१०८, ११०
इच्छालोम २/२६५
इड्डी २/२०५, ३७८, ४०८
इड्डीगारव १/९०
इड्डीसद्धारसम्माण २/४२
इत्तरिय १/२४; २/२५८-२५९
इत्तरिय पडिक्कमण २/८३
इत्तरियपरिगगहियागमण २/१०९
इत्तरिए अणेगविहे २/२५९
इत्थिकह १/११४, ११५
इत्थिकामभोग १/१५३, १७६
इत्थित्तु निदानकरण २/१५८
इत्थिभोग २/१५९

इत्थियअवल्लोयण १/७४८
 इत्थियलिंगसहा १/५१३
 इत्थियवयण १/५१८
 इत्थियवयू १/५१३, ५१४, ५१५, ५१६
 इत्थियविग्गह १/६१५
 इत्थियवेदसेत्तण १/३३५
 इत्थिसागारिय १/६३५, ६३७
 इत्थी इत्थियाण आलोयण णिसेह
 १/३२७
 इत्थीकहविवज्जणया १/४२४, ४२५
 इत्थीनिलय १/३२५
 इत्थी परीसह २/३६८, ३७२-३७४
 इत्थी-पसु-पङ्कगसंसत्त
 समयोसणवज्जणया १/४२४
 इत्थीपुरिस उवसाग २/२८३
 इत्थीरामणिसेह १/३३४
 इत्थीवस २/३८४
 इत्थीविसयगिह २/४०६
 इत्थीवेय २/३२४, ३७३
 इत्थीण इत्थियाणमालोयणवज्जणया
 १/४२४, ४२५
 इत्थीण कह १/३१५
 इत्थीण कूटयाह सहसवणणिसेह
 १/३२८
 इत्थीहि सद्धि निसेज्जा णिसेह
 १/३२६
 इत्थियट्ठा १/६१२
 इत्थिया १/१४३
 इत्थियावहिया १/१४७, ४८७, ४८८
 इत्थियावहिया किरिया २/११२
 इत्थियावहिया पडिक्कमण सुत्त २/८६
 (ब) इत्थियासमिह १/२७९, ४८५-
 ५०९, ७३३
 इत्थियासमिय १/२१०, २१७, ७३२,
 २/३९४
 इत्थि २/४१
 इत्थिज्जय १/१४४
 इत्थिरियमय २/१९१
 इत्थलोहय ववसाय १/४६
 इत्थलोहयसह १/४५८
 इत्थलोहयावसुवेसु आसति १/४६२
 इत्थलोग आसायणा १/९७
 इत्थलोगपडिणीय १/८८
 इत्थलोग पडिक्क २/६
 इत्थलोग सवेगणी २/१४७
 इत्थलोगाससम्पभोग २/९३
 इत्थाल १/४८९, ६१०
 इत्थालकम्म २/१११
 इत्थिणीमरण २/१६९, २६३
 इत्थ १/१४३; २/१९९
 इत्थभू १/७
 इत्थमह १/६८
 इत्थमहापाडिया १/६३

इत्थिय अपडिसलीण २/२७८
 इत्थियगी १/३२९
 इत्थियचोर वस्से २/४१०
 इत्थियणिग्गह फल १/७३६
 इत्थियत्थ १/४८६
 इत्थियदरणि १/३२४
 इत्थिय पञ्चवत्त १/१८
 इत्थिय पडिसलीण २/२७५, २७६
 ईसर १/१६०
 ईसरकारणिय १/१५५, १५७
 ईसरकारणियवाह १/१५५
 ईहापोहमरण गवेसण १/५८
 उक्कलिय १/२८५
 उक्कस २/४१
 उक्कसावेह १/५०७
 उक्कावात १/६७
 उक्कित्तण २/८२
 उक्कय २/२८६, २९२, २९३
 उक्कय्यासणि २/२७३, २७४, २७५
 उक्कोसिया २/१३५, १३६
 उक्कित्तचरण २/२६ ९, २७१
 उक्कित्त-निक्कित्तचरण २/२६९
 उक्कित्तविवेगेण २/९५, ९७
 उग्गकुल १/५४८
 उग्गतव २/२५८
 उग्गमविसोही २/१८१
 उग्गमोववात २/१८०
 उग्गमविसी १/४७८, ४७९
 उग्गाह १/६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६६०,
 ६६१, ६६७, ६६८, ७४९
 उग्गाहमण्णुवणया १/३०७
 उग्गाह समिति १/३०८
 उग्गाहसीमजाणणया १/३०७
 उग्गाहणसीलय १/३०२
 उग्गाहाणतग १/६७९
 उग्गालगिलण १/४८३
 उग्गोसजायणा १/६८८
 उज्जामोय १/१०, ४४५
 उज्जार १/५४९, ६४६, ७२०, ७२१, ७२३,
 ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९,
 ७४७; २/७३
 उज्जार पडिक्कमण २/८३
 उज्जार-पासवण २/२८६, २८७
 उज्जार-पासवण-वेल-सिंभाण-जल्ल
 परिद्धा-वणासमिह(ति) १/४८५,
 ७३२, ७३३
 उज्जार पासवण भूमि पडिलेहण
 १/७२१; २/७५
 उज्जारमत्तय २/७४
 उज्ज १/५८२, ५८३
 उज्जुवडिय १/५८२, ५८३, ५८८
 उज्जुचोयण १/५८२, ५८३, ५८८
 उज्जुवगल १/५८२, ५८३, ५८८

उज्जुमेरग १/५७६, ५८२, ५८३, ५८८
 उज्जुसालग १/५८२, ५८३, ५८८
 उज्जुलण २/५६
 उज्जाण १/५२१, ५२९, ७४७
 उज्जाणगिह १/७४७
 उज्जाणसाल १/७४७
 उज्जाणलिय १/५७०
 उज्जुण १/३८५
 उज्जुविही १/२०१
 उज्जुवसणा १/२०१
 उज्जुपत्ता १/११८
 उज्जुमग २/१९३, ३२४
 उज्जुमह १/२२२
 उज्जुसुय (नय) १/२५, २६, २७
 उज्जुसुय २/७९
 उज्जुहिमाठाण १/४६१
 उज्जु १/११८
 उहु १/१९१
 उट्ठिय १/७१०
 उट्ठिण्ण १/५२८
 उट्ठिणीय १/४५९, ४६०
 उट्ठाण सुय २/२२३
 उट्ठकिसिक्कय २/११०
 उट्ठिसिपमाणाहम्म २/११०
 उट्ठलोय १/२५
 उट्ठा १/१२३, १२९
 उण्णकथास १/४२३, ६८९
 उड १/६३३
 उत्तरकुरु १/२६
 उत्तरगुण पञ्चवत्तण २/९९, १००
 उत्तरण १/५०२
 उत्तरत्तिय १/५०२
 उत्तरविही १/१०६
 उत्तरा १/१८४
 उत्तरोट्ठरोम १/३७४
 उत्तरोट्ठरोम परिकम्म १/३५४, ३८८,
 ३९५, ४०२
 उत्तरोट्ठ रोम परिकम्मकारावण
 १/३६७, ३७४, ३८१
 उत्सार १/१४२
 उत्तासणियाए २/२७५
 उत्तिग १/२८३
 उत्तिगलेण १/२८५
 उदजल्ल १/५०५, ५०६
 उदजल्ल काय २/७०
 उदगपसुय १/६५३
 उदगपोक्कल १/१५६
 उदगकुम्भुय १/१५६
 उदरि १/१६६, ५२७
 उदय(ग) १/१६६, ४९९, ५०१
 उदयचर १/१६६
 उदयसत्त १/२३१, २३२, २३३
 उट्ठि भत्त २/११९, १२०

४४६ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

उद्दिष्टभक्तपरिणाम २/११६
उदीण १/१३८, १४८, ५५५; २/४, २६५
उदीणा १/१२३, १२९
उद्दसंड १/२८५
उद्दाणि १/६७०, ७४६
उद्दायण १/१९९
उद्देसिय १/१४४, ५५८, ६६९, ७२२
उद्देसियाइ आहार १/५९६
उद्दय १/२०१
उद्दयदिष्टी १/२०१
उद्दयदमणा १/२०१
उपकारकारगा १/१२१
उप्पणमिस्सिया १/५१२
उप्पणविगायमिस्सिया १/५१२
उप्पलाइ १/५७७
उप्पाइय १/१७२
उप्पायणा दोस १/५६६
उप्पायणविसोही २/१८१
उप्पायणोवघात २/१८०
उब्बिय १/५०७
उब्भिय १/२२६
उब्भिय आहार १/५६१
उब्भिय(दोस) १/५६०, ५६१
उब्भियलोण १/४८१
उब्भिया १/२४१, २४२
उम्मग १/१९५, १९६, ६८५
उम्मग गमण १/४८९, ४९०
उम्मगदेसण २/१५४
उम्माय १/३२४, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०; २/२८७
उम्माय ठाणाई २/१७६
उम्मायपत्त २/३३२
उम्मिस्स दोस १/५७४
उम्मुग २/३९८
उरब्भ २/४०६
उराल १/१८८
उरालग १/१४१
उवइ वहावण १/४९१
उवएस (कूट) १/१२६
उवकरण असवर १/२१२
उवक्कम १/४५
उवक्कसंपन्न १/५३७
उवक्कसिय १/५२०
उवक्कर १/४३९
उवक्कर संपन्न १/५३७
उवगरण १/४२०, ७१२, ७२१, ७२२
उवगरण-उप्पायणया १/७३, ७४
उवगरण चियाए २/१३
उवगरण दब्बोमोयरिया २/२६६
उवगरणपरुवणा २/५
उवगरणसंजम २/१३
उवग्गहट्टयाए २/३४३
उवघात २/१८०

उवघायणिस्सिया १/५११
उवचितकाय १/५२०
उवज्झाय १/१, ८६, ९९, १०२, १२९, ४९६, ४९७, ६०३, ६०४, ६६८; २/८, ९, ६६, २०५, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१८, २१९, २२०, २२२, २२४, २३२, २३६, २३७, २३८, २४०, २४१, २४२, २४६, २५३, २५४, ३१९, ३३७
उवज्झाय आसायणा १/९६
उवज्झायत्ताए २/२०१, २०२
उवज्झायपडिणीय १/८८; २/२३२
उवज्झाय पददाण २/२१५
उवज्झाय वेयावच्च २/३३८
उवट्ठाण किरिया १/६४४
उवट्ठावण २/४
उवट्ठावण अजोगा २/१०
उवट्ठावण कालमाण २/८
उवट्ठावण जोगा २/९
उवट्ठावण विहाण २/८
उवणिहिए २/२७१
उवणीय-अवणीयचरण २/२६९
उवणीयचरण २/२६९
उवणीत-अवणीत वयण १/५१८
उवणीयवयण १/५१८
उवभोगपरिभोगपरिमाण २/१००, १०८, ११०
उवभोग-परिभोगादरित २/१११
उववज्झा १/९१
उववाइय १/१४९
उववात्तिया १/१४१, २४२
उववूह १/१२६
उवसग्ग १/६१२; २/२४५, २६५, ३८०, ३८६, ३८७, ३७४, ३८०, ३८५
उवसग्ग अणाहओ मुणी २/३८३
उवसम १/१३१
उवसमिय (भाण) १/१६
उवसत्त १/८७, १८६; २/२५
उवसपज्जित २/२२१, २२२
उवसपदहया) २/५७, ५८, २०१
उवससय १/६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५५, ६५६, ६६३, ६६५; २/७३, २७५
उवससय असकिलेस २/२५२
उवससयपरिणाम २/११८
उवस्सिया १/२०५
उवहट्ट १/५३७
उवहाण १/७, ५५, १११
उवहाण पडिमा २/२७९
उवहाणव १/१०९
उवहाणवीरिय १/३५, १९५; २/४०, २४५

उवहाणायार १/१११
उवहि १/७१४, ७१५, ७१६, ७१८, ७२०; २/३९८
उवहिपच्चक्खाण १/१३३, १३४; २/१०३
उवहि वहावण २/२३६
उवहि विओसग्ग २/३५५
उवहिसकिलेस २/२५२
उवाणह १/४३३
उवादीतसेस १/४५४
उवादीयमाणा १/२२६
उवासगपडिमा २/११६, ११७, ११८, ११९, १२०, २८८
उवासिया १/५६, ५७, ५८, १२७, १२८, १२९, २०६, ३२२; २/१, २, १७, १८
उवाही २/४०१
उसभ १/३; २/१९९
उसिण परीसह २/३६८, ३७०
उसिणवियड २/७२
उसिणोवग गहण २/७२
उस्सओ १/२२१
उस्सक्रिय १/५६९
उस्सट्ठपिड १/५९१
उस्सव १/६१६
उस्सा १/२८५
उस्सिचिय १/५७०
उस्सेइम १/६३१, ६३२; २/२५९
उच्छ १/५४१; २/२३, ४०
एकल विहारिस्स गणे पुणरागमण २/२४६
एकादसमा उवासग पडिमा २/१२०
एगट्ठाण पच्चक्खाण सुत्त २/९५
एगत्त अणत्त भावणा १/३९४-३९५
एगत्त भावणया णिव्वेय १/१४०
एगत्तवियड अवियारी २/३५४
एगत्त आवासकारण २/२२७
एगपासियाए २/२७५
एगप्पवाई १/१६०
एगराहया भिक्खुपडिमा २/२८०, २८७
एगल्लविहार पडिमा २/२४४, २४६
एगवयण १/५१८
एगवयणविवक्खा १/५१२
एगवयू १/५१२
एगग्गमणसन्निवेशणया १/१३३, ७३३
एगल्ल विहार सामायारी १/७२
एगत्त अण्णावाय १/१८०
एगत्त किरियावाय १/१६८
एगत्त किरियावाई १/१६८
एगत्तकूट २/५५
एगत्तणवाइ १/१७८
एगत्तदिष्टी १/१८७; २/५४
एगत्तपडिय १/४३४

एगंतवाल १/३१०,३११,३१२,३१३;
 २/२६३
 एगंत विणयवाई १/१८१
 एगागिस्स समाही २/२४६
 एगावली १/४२१,६४०
 एगासण पच्चक्खण सुत्त २/९५
 एगित्थिसद्धि १/७४७
 एगागी भिक्खुस्स अपसत्था विहार
 चरिया २/२४६
 एगागी भिक्खुस्स पसत्था विहार
 चरिया २/२४५
 एगीभाव २/१०४
 एगे पाये २/२६६
 एगे वत्थे २/२६६
 एरण्ड १/१००,१०१
 एरण्डपरियाय १/१००
 एरण्डपरिवार १/१००,१०१
 एरण्वय १/२६
 एरवय १/२६; २/२००
 एरावण १/६,३१८
 एरावती(ई) १/५०१,५०२
 एवभूत (नय) १/२९
 एलमूयग २/३५८
 एलय २/४०६
 एसणा १/१४३,५३८,५३९,५४०;
 २/२६८
 एसणाखेत्तपमाण १/५४७
 एसणाविसोही २/१८१
 एसणासमिई(ति) १/४८५,५३३,७३३
 एसणासमिय १/५४०,७३२
 एणिज्ज २/११५
 एसणोवघात २/१८०
 एसिय १/५३३,५३४
 एसियकुल १/५४५
 ओगाहिथोहार १/५३८
 ओगिण्ह १/५३८
 ओघाड्यार पडिक्कभण सुत्त २/८६
 ओघाड्यार विसोहीकरण २/१०६
 ओट्टकम्मकारावण १/३६६
 ओट्टपरिकम्म १/३५४,३८८,३९४,४०१
 ओट्टपरिकम्म कारावण १/३७३,३८०
 ओण्णिय १/७१०
 ओदइय (भाव) १/१६
 ओदेसिय अणायार १/१८१-१८३
 ओभासिय १/७०७
 ओम २/२६६
 ओमचरओ २/२६८
 ओमचेल १/६७६,६७७
 ओमजण पुरक्कार १/१४६
 ओमरत्ता २/५९
 ओमरातिणिय २/१३३,१३४
 ओमथियाए २/२७५
 ओमाणभीरु १/९०

ओयण १/५५०
 ओयारिय १/५७०
 ओरालिय २/३६७
 ओरालियकम्माई १/१४७
 ओरालिय कामभोग १/३३२
 ओरालिय परदारगमण २/१०९
 ओरालियसरीरग १/६६
 ओरालिय असज्जाय १/६५
 ओवत्तिय १/५७०
 ओवम्म १/१८,२१,२२
 ओवम्मसत्थ १/५११
 ओवायकारी २/५४
 ओवाय पव्वजा २/६
 ओवणिहिए २/२७०
 ओवीलय २/३२०
 ओसक्रिय १/५६९
 ओसण्ण १/१९०; २/२४७,२४८,३४५
 ओसन्नविहार पडिमा २/२५१
 ओसप्पिणी २/१९८
 ओसह(हि) १/४४१,५२१,५३०,
 ५७९,६२५,७५०
 ओसहिजुत्त उवस्सय १/६५०
 ओहायमाण आयरियाइणा
 पद-दान-निहेस २/२१२
 ओहारिणी भासा १/५१४,५१५,
 ५२२,५२३, ५२४,५२५
 ओहाविय २/२१५
 ओहिजिण १/२२२
 ओहिणाण १/७३२; २/२८७
 ओहिणाण अरहा २/१९९
 ओहिणाण केवली २/१९९
 ओहिणा(ना)णस्स सोभगा १/११६
 ओहिणाणजिण २/१९९
 ओहिणाण पच्चक्ख १/१८
 ओहिणाणविणय १/७५
 ओहिदंसण १/११६,७३२
 ओहिदंसणगुणप्पमाण १/२३
 ओहिमरण २/१६९
 ओहोवहोवग्गहिय १/७१५
 अंककरेलुय १/५७६
 अंक पलियंक १/७४३
 अंग १/१२६
 अंग संचालण १/७४५
 अंगादाण १/४१६,४१७,४१८
 अंगादाण परिकम्म १/४१६,४१७
 अंड १/२८३
 अंडकड १/१६०
 अंडया(ी) १/२२६,२४१,२४२,२४६
 अंडसुहुम १/२८५
 अंत १/१२३
 अंतकड १/१६९
 अंतकिरिय १/१०
 अंतकिरिया १/२०७,२१०

अंतचारी १/५३६
 अंतघाणपिण्ड १/५६७
 अंतराय १/१४७
 अंतरूच्छुय १/५८२,५८३,५८८
 अंतलिक्ख १/६७,५१९,६४७
 अंतलिक्खजाय १/६५५,७००,७०१
 अंतहुण्ठी (देवी) १/९
 अंतोगिह्ठाण १/६५३
 अंतुय बंधण १/१७५
 अंधत्त १/४४५
 अंधा १/१५६
 अंब १/५८०,५८१,५८२
 अंबकजिय १/६३२
 अंबडगल १/५८१
 अंबचोयग १/५८१,५८२
 अंबपाणग १/६२९
 अंबपेसिय १/५८१
 अंबभित्तग १/५८१
 अंबसरहुय १/५७६
 अंबसालग १/५८१
 अंबाडगपलव १/५७६
 अंबाडगपाणग १/६२९
 असिया ओमोयरिया १/६११
 असुय १/७४६
 असुयाणि १/६७०
 करणता २/२५३
 कक्काईण उवहुण १/४७७
 कक्खडफास १/१७७
 कक्खरोम १/३५३,३६५,३७२,३८०,
 ३८७,३९४,४०१,४०८
 कक्खवीणिय १/४५९,४६०
 कच्छ १/४६०
 कच्छाड अवलोमण १/४९२
 कज्जलमाण १/५०८
 कज्जलावेमाण १/५०७
 कट्टकम्म १/४६१
 कट्टक्खाय १/५३५,५३६
 कट्टमालिय १/४२१
 कट्टसिल २/२८२
 कड १/४१
 कडग १/४२१,६४०
 कडिबंधण २/३७०
 कडिण २/२९२
 कण १/५७८
 कणकुण्डग १/५७८
 कणग १/१३९
 कणगकंताणि १/६७०
 कणगखडयाणि १/६७०
 कणगखच्चियाणि १/७४६
 कणगपट्टाणि १/६७०,७४६
 कणपूयलि १/५७८
 कणगफुसियाणि १/६७०,७४६
 कणगंताणि १/७४६

कणगाणि १/६७०,७४६
 कणगावली १/४२१,६४०
 कणसगावधि १/७१०
 कणविक्षण १/५२८
 कणमल १/३५२,३५८,३६४,३७१,
 ३७८,३८५,३९२,३९९,४०६
 कणसोहणय १/७१७
 कणहपक्षिय १/१७८;
 २/१५७,१५८,१६१
 कणहसेस १/१३०
 कणहसोहग १/२७६,२७७,२७८
 कति १/१८६
 कतियमहापादिका १/६३
 कन्दप्य २/१११,१५३
 कन्दपियाह विराहगा समणा २/१५३
 कजालीय २/१०९
 कपिट्टाणग १/६२९
 कपिजल १/१७५
 कपोत १/१७५
 कपट्टिती २/११
 कपट्टियाण १/५५६
 कपणिज्जभासा २/२८२
 कपणीय उवस्सय २/२८२
 कपणीय संधारग २/२८२
 कप्पातीत १/५२
 कप्पिय २/४८
 कप्पोवय १/५२
 कम्भीय १/१०९
 कम्मधर (यत्त) १/९
 कम्म १/६१,१४७,१८७; २/११०,
 ३६३,३९९
 कम्मकरी १/५५०,५५५,५७२,६३९,
 ६४१,६४२,६४५
 कम्मकोविय २/१७७
 कम्मग १/१८८
 कम्मगण्ठ १/१४७; २/२७८
 कम्मणिज्जराफल २/४११
 कम्मपर(य)डी १/५५७,५९९,६००
 कम्मवीय २/३६७,४०४
 कम्म भेयणे परत्तम २/४०२
 कम्ममकुल्लय २/३८
 कम्मरय १/६०,४३६
 कम्मविओसग २/३५५,३५६
 कम्मविवाग २/३७८
 कम्मवेयणकाल १/४५५
 कम्मसज्जा २/४०७
 कम्मसमारंभ १/१५२,१५७,१५९,५४१;
 २/२६
 कम्मसरीरग १/१३५; २/३९७
 कम्मसंपया १/८६
 कम्माऽणाणफला २/३७७
 कम्मा णाणफला २/३७८
 कम्मादाण २/१११,१२६,१२७

कम्मस १/१४७
 कयवयकम्म २/११६
 कय-विहय १/५३२
 करकण्ण १/१९८
 करणगुणसेहि २/३३३
 करणसज्ज १/३२,१३३,१३४; २/२९
 करय १/२८५
 करीरपाणग १/६२९
 करङ्ग १/१०१
 कलम १/१७५
 कलह १/१७३,२१२
 कलह उवसमण विहिणिसेही २/२५४
 कलहकरण १/४२२
 कलहकारग २/४२
 कलहकमरवज्जय १/८२
 कलि १/४१
 कलिग १/१९८
 कल्लाण १/५९,१५२,१५४,१७१,१७८,
 १९०,२२०; २/५७
 कल्लाणभागी १/१०२
 कविट्टसरइय १/५७६
 कसाय १/४३७,५१९
 कसाय असकिलेस २/२५२
 कसायकलुसिय १/४५२
 कसायणिसेह २/१९०
 कसायपञ्चकल्लाण १/१३३,१३४;
 २/१०३
 कसायपडिक्कमण २/८३
 कसाय पडिसलीणया
 २/२७५,२७६,२७७
 कसायपमाय २/१८०
 कसायपमणुकरण परत्तम २/४०३
 कसायपरिणा १/११८
 कसायविओसग २/३५५
 कसायसकिलेस २/२५२
 कसिण ओसही १/५७९
 कसिण चम्म १/६८६
 कसिण वत्थ १/६७९
 कसिणा २/३११
 कसिणाकसिण वत्थ १/६७९
 कसेरुग १/५७६
 कहग १/४२६
 कहा २/३४६,३४७
 काउस्सग १/१३३,६५२,६५३; २/६१,
 ६२,८४,३५६,३५७
 काउसगकारी २/४२
 काउसगपडिमा २/११८,२९५
 काउसगफल २/३५६
 काउसग विहि सुत्त २/९३
 काउहल्ल पडिमा १/४६३,४६४
 कागिणी २/४०७
 काण १/५२८
 काणस १/४४५

काणिय १/१६५,५२७
 काम १/४४७,४४८
 कामकहा २/३४६
 कामकामी १/४४७
 कामसंध १/३४
 कामगिद्ध २/१७१
 कामगुण १/३३१,४४७,४४८; २/४०५,
 ४०९,४१०
 कामजल १/७००,७०१
 कामभोग १/१३५,१३९,१४०,१४६,
 १५२,१५३,१५४,१५५,१५७,१५९,
 १८७,१९९,३२४,३३१,४३५,४४६,
 ४४७,४४८,४७४; २/१७१,४१०
 कामभोगतिष्ठाभिलास २/११०
 कामभोगसंसप्यओग २/९३
 कामकवी १/४४६
 कामलालसा १/४४६
 कामसंसप्यओग २/१५४
 कामेसणविट्ठ १/४४७
 काय २/३९०
 कायभगुत्ती २/७३०
 कायभपडिसलीण २/२७८
 काय असकिलेस २/२५३
 कायभसंवर १/२१२
 कायकिलेस २/२५८,२७३-२७५
 कायगुत्तया १/१३३
 कायगुत्तयाए फल १/७३६
 कायगुत्ती १/४८५,७३०,७३५
 कायगुत्तीण १/७३२
 कायगुत्ती महत्त १/७३५
 कायधियाए २/१३
 कायच्छङ्ग २/४५
 कायओग १/१४७
 कायओगपडिसलीणया २/२७७
 कायदुप्पणिहाण २/१११
 कायवडिणिसेह १/७३८
 कायपओगकिरिया १/१६४
 कायपरिकम्म १/३३८,३५१,३८४,३९१,
 ३९८
 कायपरिकम्म कारावण १/३६३,३७०,
 ३७७
 कायपाय १/६९३
 कायबलिय १/२२३
 कायविणय १/७५,७८,७९
 कायसमाध(हा)रणया
 १/१३३,१३४,७३६; २/२९
 कायसमिति १/४८५
 कायसमिया १/७३२
 कायसकिलेस २/२५२
 कायसजम २/१३
 कायाणि १/६७०,७४५
 काल १/४८६
 काल (ज्ञानाधार) १/५५,६२-६९

काल आसायणा १/९७
कालओमोयरिय २/२६७
कालकूड १/१४४
कालधम्म २/२६५
कालपडिलेहणा १/६२, १३३
कालपडिलेहणाफल १/६२
कालपरियाय २/३३९
कालभकासि २/४१
कालमेरा १/६४४
कालादकम २/११५
कालाकालसमुदायी १/४५३
कालातिकत १/६११, ६१२
कालातिक्कत निरेया १/५४४
कालाभिग्गहचरण २/२६९
कालियसुय १/६८
कालीपवग संकास २/३६९
कावोयावित्ति १/५३५
कासवणालिय १/५७८
कासीराया १/१९९
काहिय १/१९०
किणह १/५०६
किण्हमिगाईणगाणि १/६७०, ७४६
किती १/२१९
किब्बिसिय भावण २/१५३
किमिणिहर १/२७४
किमिणीहरण १/२६०, ३४३, ३४७, ३५०
किमिणीहरावण १/२६४, २६७, २७०
किरिय १/१५८, १५९, १६७, १७२, १९८
किरियवाद १/१७०, २०७
किरिया १/१५२, १५४, १५५, १५७, १८९
किरिया(रुह) १/१२६
किरियाठाण २/१८९
किरियावाई(दी) १/१६७, १६८
किरियावाईदरिसण १/१६८
किरियासंपन्ना १/११६
किलिन्नगाय २/३७७
किलंत २/५०
किवणकुल २/१६६
किविण १/६४४, ६६९, ६९२, ६९७, ७२२, ७२५
किविणपिड १/५९१
किव्विय ठाण २/१६२
किब्बिसिय १/१६२
किंसी उवमा २/७
किंचूणोमोयरिया १/६१२
किपागफल १/३३१
कीडापदोस १/१६१
कीयगड १/१४४, ६१४
कीय दोस १/५५९
कीव १/९३; २/५
कुइय रुइय पीय १/३२४
कुइय २/१११
कुइई १/७३८

कुइइपोय १/३२६
कुइइ-अंडग-प्पमाणमेत १/६११, ६१२
कुच्चग २/२९२
कुच्चि-किमिय १/२६०, २६४, २६७, २७०, २७४, ३४३, ३४७, ३५०
कुट्टण १/१७४
कुट्टत १/४४५
कुट्टी १/५२७
कुट्टबुद्धि १/२२२
कुणाला १/५०२
कुणालाविसय २/२२६
कुणित १/१६५
कुणिय १/५२७
कुलित्थिनिसेवय १/४५
कुदंसणा १/२००
कुप्पावणिय दव्वावस्सय २/८०, ८१
कुप्पावणिय भावावस्सय २/८१, ८२
कुम्भ २/३०९
कुम्भपक्क १/५७८
कुमारेण १/१७५
कुम्म १/१३६, १७५, १९१; २/३६५
कुररी १/१४४
कुराह १/५४९
कुरुवा १/१२२
कुलत्थ १/१७५
कुलथेर २/२००
कुलधम्म १/३१
कुलपडिणीय १/८८; २/२३२
कुलमय २/१९१, १९२
कुसय १/७००
कुल १/१९२, ३२६
कुलवेयावच्च २/३३८
कुलसंपण्णा १/१२२; २/३२०
कुलहीणा १/१२२
कुवियगित् १/७४८
कुविय-पमाणाक्कम २/११०
कुवियमाल १/७४८
कुविंद १/५०४
कुस १/२९२
कुसग्गमेता २/४०८
कुसपत्त १/५०४, ५०७, ५०८
कुसमण २/५४, ५६
कुसमय (कुसिद्धान्त) १/७
कुसल १/१८२, १८३, १८४, १८५
कुसील १/१३८, १४२, १९०, ३३४, ३३५, ४५२; २/५६, २४८, ३४५
कुसीलधम्म १/२३६
कुसील पडिसेवणया २/३८०
कुसीलवड्डण २/५०
कुसीलयिहार पडिमा २/२५१
कुसीललिग १/१४४
कुहेउविज्जासवदारजीवी १/१४४
कूअणता २/२५३

कूडकहावण १/१४४
कूडतुल्ल १/१७४
कूडतुल्ल-कूडमाण २/१०९
कूडमाण १/१७४
कूडलेहकरण २/१०९
कूडसखिज्ज २/१०९
कूडागार १/७४७
केउर १/४२१
केयण १/७३२
केवलणाण १/५५, ५६, ५७, ५८, ७३२; २/२८७
केवलणाण अरहा २/१९९
केवलणाण केवली २/१९९
केवलणाण जिण २/१९९
केवलणाण-दंसण १/११६
केवलदंसण १/७३२
केवलदंसणगुणप्पमाण १/२३
केवलणाण पच्चक्ख १/१८
केवलणाणविणय १/७५
केवलणा(ना)णावरणिज्जाण कम्म १/५६
केवलबोहि १/१२७, १२८, १२९, १३१
केवलमरण १/७३२
केवलमाभिणिबोहियणाण १/७४०
केवलवरनाणदंसण १/१४७
केवलि २/१, २, १७, १८
केवलिआराहणा २/१३५
केवलिकम्मस १/७३६; २/१०४
केवलपण्णत्त धम्म १/३७, ३८, ३९, ४०, ४८, ४९, १२८; २/१५६, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६
केवलि(ली)पवत्त धम्म-आसायणा १/९७
केवलजवासय १/३७
केवलि उवासिया १/३७, ३८
केवलिसावग १/३७, ३८, ३९
केवलिसाविया १/३७, ३८, ३९
केवलि(ली) १/३, १२, २४, ३७, ३८, ३९, ४०, ५१, ५६, ५७, ५८, ६०, ६१, १०६, १२७, २०५
केवलमरण २/१६९
केवलीआसायणा १/९७
केवलीणठाण १/२२०
केवलीपगारा २/१९९
केसपरिकम्म १/३५६, ३९१, ३९७, ४०५
केसपरिकम्मकारावण १/३६९, ३७६, ३८४
केसरक्खण २/७६
केसलोय १/५३५; २/३७९
केसवाणिज्ज २/१११
केसी १/१९६, ४४०, ४४५
केसी (अमण) १/७३१
कोउयकम्म २/१९५
कोउयकरण २/१५४

कोउहल १/१४४	स्त्रिय १/७४८, ७४९	खंघ १/२३९
कोकतिय १/५४८	स्त्रिय कुल १/५४९	खंघपणस १/२७, २८, २९
कोक्कडय २/१५३	समा १/१३४; २/२९	गह १/५९
कोट्टागकुल १/५४९	समावणया १/१३३, १३४; २/५५	गडमुत्तमा १/११०
कोट्टागार १/७४७	खय १/१३१	गज्जदेव १/५२३
कोट्टियाउत्त १/५६२	खरकटयसमाणे २/१०५	गज्जल १/६७०, ७४६
कोडीसहिय २/१००	खलियनिन्दणा २/८२	गज्जित १/६७
कोडी १/१६५	खलुक १/९०, ९१	गण १/४५; २/२४६, २५१, २५२, २५५, २५६
कोयपिड(दोष) १/५६४	खाइम १/९४, ९५, १५२, ४४१, ५३७, ५५८, ५६४, ५६९, ५७०; २/११५	गण अवगह कारणा २/२५३-२५४
कोयध(वाणि) १/६७०, ७४६	खाणुयाइणिहरण १/२५४	गणट्टकर २/२०४
कोलपाणग १/६२९	खाणुयाइ भिसरण णिसेह १/२८३	गणघेर २/२००
कोलवास १/७४३	खाणुसमाणे १/१०५	गणघम्म १/३१
कोलसुणय १/५४८	खामणा सुत्त १/९३	गणघारण २/२१६
कोलुण १/२४९	खारवत्तिय १/१७५	गणघारण अरिहा २/२१६
कोवसीलता २/१५४	खिसियवयण १/२९९, ५२४	गणपडिणीय १/८८; २/२३२
कोधिय १/१०५	खीर १/१०१, ४२३, ४२७, ५५०, ५९५; २/२७२	गणपमुह २/२१७
कोसंबी १/५००	खीरासविय १/२२३	गणपमुहा २/२२०
कोह १/७, ७१, ९३, १७३, १८९, १९५, २१२, २९९; २/१९१, ४१०	खुज्जत्त १/४४५	गणपरिज्जाय २/२३७
कोहअपडिसलीण २/२७८	खुज्जित(य) १/१६५, ५२७	गणत्रिओसग्ग २/३५५
कोहणिस्मिया १/५९१	खुड्डग(य) २/४, ६७	गणवुग्गह कारणा २/२५३
कोहवन्ती २/४००	खुट्टिय २/७०	गणवेयावच्च २/३३८
कोहपिण्ड १/५६७	खुट्टिय मीय पडिमं पडिवन्न २/३०५	गणवेयावच्चकरा २/२०३
कोहमुण्डे २/७	खुट्टिया २/४	गणसमायारी १/७२
कोहविओसग्ग २/३५५	खुट्टिया मीय पडिमा २/२७९, ३०५, ३०६	गणसोहकर २/२०४
कोहविजय १/१३४; २/१९३	खुट्टिया विमाण पविभत्ती २/२२३	गणसोहिकर २/२०४
कोहविवेग १/१३४, २९६; २/२९	खुरप्पसंठाण १/१७७	गणसंकमण २/२४१
कोहवेयणिज्ज कम्म २/१९३	खुरमुडय २/११९, १२०	गणसंगहकर २/२०४
कक १/१९२	खुहा परीसह २/३६९, ३८०	गणसंठिइ १/४९
कखा १/१३७; २/१०७	खेत १/४३२	गणह(घ)र १/७, २३, ६०४; २/६६, २३८
कखा-पदोस २/३०, ३१	खेत ओमोयरिया २/२६७	गणहरसीस १/२३
कखामोहणिज्ज १/१३७	खेत(य)ण १/५, १८२, १८३, १८४, १८५, १९९, ७४८; २/३९, ३९९	गणावच्छेदणी २/२२५
कखामोहणिज्ज कम्म २/३४६	खेतपमाण २/६४	गणावच्छेदय १/९, ६६, ६७, ६८, ७१, ७३, ७६, २०५, २१०, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २२२, २२४, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४६, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ६०४, ६०६, ६६८
कटक १/१४९	खेतवत्थु-पमाणाइडम २/११०	गणिका आवागमणणिसेह १/३३३
कंती १/२१९	खेतवुड्डी २/११०	गणिड्डी २/२०५, २०६
कथय १/१०९	खेताइकन्तदोस १/६११, ६१२	गणित्ताए २/२०१, २०२
कंद १/२३९	खेताभिग्गहचरण २/२६९	गणपिडग १/९, २३, १५६
कपिल्ल १/५००	खेत १/६४६, ७२०	गणिसपया १/७५; २/२०६
कबल १/४५२, ६९१, ७११, ७१२, ७४६; २/४६	खेलगोल १/३३६	गणिमागमसंपन्न १/७३९
कबलगाणि १/६७०	खेलोसहिपत्त १/२२२	गणी १/६०४, ६६८, ६९१; २/६६, २३८
कस १/१३९	खोमिय १/६७०, ६७५; २/२९३	गतभूषणभिड्ड १/३२४
कसपाय १/६९३; २/४९	खंड १/१०१, ४२३, ४२७	गति १/१९९
कुडमोय २/४९	खंत १/१८६	गति-परिक्कमणू १/१८२, १८३, १८४, १८५
कुडल १/४२१, ६४०	खति (घम्म) १/३१, ३२	गम्भदसी २/४०१
कुडिया १/४३३	खंती १/१३३, २१९; २/१९३	गय १/४३३
कुण्ड १/३, ४, १९८	खतिक्लम २/४१	गरहणया १/१३३, १३४
कुथुरासिभूत १/११६	खते २/३२०	गरहा २/३३३-३३४
खइय(भाव) १/१६	खंदए २/३९४	गरुयत्त १/२१२
खओवसम १/३८, ३९, ५६, ५७, ५८, १२८, १२९, २०६, ३२२, ३२३	खंदमह १/६८	
खओवसमिय(भाव) १/१६		
खज्जूरपाणग १/६२९		

गरुलोववाय २/२२३
 गलिगद्दा १/९१
 गलियस्स १/८९
 गवेलग १/४३३
 गवेसण १/५३८
 गवेसणाकाले गमणविही १/५४४
 गवेसणाविही १/५४१
 गह १/१७७
 गहजुहियाठाण १/४६१
 गहासवा २/३८२
 गहणे(सणा) १/५३८
 गाढमालव १/५२०
 गाम १/४०, १९५, ४६०
 गामकटय २/३७९
 गामथेर २/१९९
 गामदहाणि १/४६१
 गामधम्म १/३१, ३६, १९५, २३६, ३३१
 गामधम्मनियत्तिय १/६१५
 गाम-पहाणि १/४६१
 गामपिडोलग १/५४५, ६०४
 गाम भहाणि १/४६१
 गामरक्खकुल १/५४९
 गामरक्खगवसीकरण १/७४९
 गामवेहाणि १/४६१
 गायणाइकरण १/४५९
 गारत्थ १/४७४; २/१७२
 गारत्थिणी २/२३५
 गारत्थिय १/३६३, ३६४, ३६५, ३६६,
 ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२,
 ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८,
 ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४,
 ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०,
 ३९१, ४९३, ६७७, ६८७, ७१४, ७२८;
 २/१९४, १९५, १९६, २३४, २३५,
 २३६, ३४५
 गारत्थियवयण १/२९९, ५२४
 गारबधण २/३८३
 गारमावस १/४४८
 गारव २/१९२, १९३
 गाह १/१७५
 गाहावह(ति, ती) १/४९१, ५०४, ५५०,
 ५५५, ५७२, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२,
 ६४५
 गाहावह(र)ति) जगह १/६५३
 गाहावह करडग १/१०१
 गाहावह (ई, ति, ती) कुल १/४९३, ४९४,
 ५४६, ५४७, ५४८, ५५०, ५६०, ५६१,
 ५६२, ५६३, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१,
 ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७,
 ५७८, ५७९, ५८२, ५८६, ५८७, ६०३,
 ६०४, ६०५, ६०७, ६०८, ६१६, ६१७,
 ६१८, ६२९, ६३०, ६३२, ६३५, ६३७,
 ६३८, ६४२, ६४४, ६५६, ६६७, ६६८,

७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१८, ७४३,
 ७४७; २/६६, ६७, ६९, ७०, ७५, १२०,
 १२८, २२५, २३४, २३५, २५६, २८४,
 ३०५
 गिद्धपुट्टमरण २/१६९, १७०, १७३
 गिम्ह १/६३४, ६४९, ६५०; २/७५,
 २२४, २२५, २२६
 गिरिपक्खदण २/१७३
 गिरि पढण २/१६९, १७०, १७३
 गिलाण १/१९४; २/६८, ६९, ३३८,
 ३३९, ३७५
 गिलाण आयरियाइणा पद-दाणनिहेस
 २/२११
 गिलाण्णु चेलगमण पमां २/५५
 गिलाणणियठ १/६२८
 गिलाणनीसाए २/६९
 गिलाण पडिणीय १/८९
 गिलाणपेसिय २/३३८
 गिलाणवेयावच्च २/३३८
 गिलाणस्स अट्टा १/७५०
 गिलासिण १/१६६
 गिलासिणी १/५२८
 गिल्लि १/१७४
 गिहकम्म १/६३६
 गिहत्थ २/४२, ५६, ५७, १३१, ३५८
 गिहत्थसङ्कार १/५२५
 गिहत्थसंसङ्केण २/९५, ९७
 गिहत्थाण १/५८६
 गिहवई १/४५
 गिहारम्भ १/६३६
 गिहि-गिसेज्जा-वज्जण ठाण २/५०
 गिहितिगिच्छ १/२६०
 गिहिधूम १/२७८
 गिहि-भायण-अभुज्जण ठाण २/४९
 गिहिमत १/६०९
 गिहिवत्थ १/६८८
 गिहिवत्थोवओमकरण १/६८८
 गिहिसुब्बवा २/४०७
 गीय १/४४७
 गुज्जाग १/९१
 गुज्जाणुचरित १/५१९
 गुण १/४५३, ६४०
 गुणधारणा २/८२
 गुणप्पमाण १/१८, २४
 गुणप्पेही २/५७
 गुणवय पडिवत्ती २/८२
 गुणव्वय १/३०३; २/१०७, १०८, १०९,
 ११३
 गुणसमित १/४८७
 गुणसीलय चेटय १/३१०
 गुणासाय १/४४८
 गुत्त १/१८६; २/४०
 गुत्तबभयारि १/२१०, ७३२

गुत्ति(त्ती) १/१०४, १२६, २२१, ४८५,
 ७३०-७३८
 गुत्तिविद्याण १/७३२
 गुरु १/८४, ९८, १०३
 गुरु अळमुट्टाणेण २/९५
 गुरुकुलवास १/१०३
 गुरुवदणसुत्त २/८४
 गुरुसाहम्मिय सुस्सुसणया १/१३३, १३४
 गुल १/४२३, ४२७, ५५०
 गुब्बिणी १/५८७
 गोवेज्जग (देव) २/५३
 गो १/५२१, ५२९
 गोच्छग(य) १/६९१, ७११, ७१२; २/५,
 ६०
 गोण १/४८९, ५४८
 गोणगिह १/७४८
 गोणसाल १/७४८
 गोतावादी १/४४५
 गोत्त १/१०७, १४७
 गोदोहिया २/२७४, २८६
 गोपुर १/७४७
 गोमय १/४८१, ४८२
 गोमयरासि १/६८२
 गोमुत्तिया १/५३९; २/२६७, २८२
 गोय २/१०४, ३६७
 गोयम १/७, १५, १६, ३६, ३८, ३९, ४०,
 ४५, ४६, ४७, ४८, ५२, ५३, ५६, ८८, ८९,
 १०२, १२५, १२७, १२८, १२९, १३५,
 १९४, १९६, २०५, २०६, २१२, २१४,
 २१५, ३२२, ३२३, ४३४, ४३६, ४४०,
 ४४५, ४८८, ५११, ५१२, ५१३, ५१४,
 ५१५, ५१६, ५१७, ५३३, ५५७, ५९९,
 ६००, ६१०, ६११, ७३१, ७४२; २/१,
 २, १७, १८, २९, ३०, ३१, ९९, १००,
 १०१, ११२, ११३, ११५, १२२, १२६,
 १२७, १२८, १२९, १३०, १३२, १३५,
 १३६, १३८, १४०, १४१, १७७, १७८,
 १७९, १९१, १९८, १९९, २००, २६३,
 ३०९, ३४८, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१,
 ३६२, ३६३, ३९४
 गोयर २/३९९
 गोयरकाल २/२८१
 गोयरग २/५०, २६८
 गोयरगपविट्ट २/३७६
 गोयर चरिया २/२८१
 गोयरचरिया अइयार विसोही सुत्त
 २/८७
 गोयरिधा १/५३९
 गोरमिगाइगाणि १/६७०, ७४६
 गोरसविगती(ई) १/५३८
 गोलाखग १/४४६
 गोलियसाला १/६२४
 गोसोमप्पमाणमित २/७६

४५२ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

गोवालीय २/१०९
गोह १/१७५
गंगा (नदी) १/६, ५०१, ५०२
गंठीगा १/१८८
गङ्ग १/१५६, २५३, २५४, २५६, २५७,
२५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३,
२६४, २६५, २६६, २६७, २६९, २७०,
२७२, २७३, ३४२, ३४३, ३४५, ३४६,
३४८, ३४९, ३५०; २/३८४
गङ्गा तिगिच्छा १/२५८, २७२, ३४२
गङ्गाइतिगिच्छाकारावण १/२६५
गङ्गाइपरिकम्म १/२५३, २५६
गङ्गागकुल १/५४९
गङ्गी १/१६५, ५२७
गङ्गु पञ्चागत(य) १/५४०; २/२८२
गङ्ग १/१०३; २/३८, ३९८
गङ्गिम १/४६९
गङ्ग १/१३९; २/२८, ३८८
गङ्ग जिघण १/४६३
गङ्गमत १/५१०
गङ्गव १/८६, १६९
गङ्गार १/१९८
गङ्गासत्तिणिमेह १/५३४; २/३८८
गङ्गियसाला १/६२४, ६२५
घट्टणता २/३८१
घडवासिय १/१०५
घडिग १/३३६
घडिमत्त १/६९९
घण (तप) २/२५९
घाण २/३८८
घाणपण्णाण १/४५३
घाणबल २/१७८
घाणिदिय १/४७०
घाणिन्दिय अपडिसलीण २/२७८
घाणिन्दिय असंवर १/२१२
घाणिन्दियनिगह १/१३३, ७३६; २/२९
घाणिन्दिय मुण्डे २/७
घाणिदियरागोवरई १/४६७
घाणिदियसंजम १/४३०
घासिय १/१७५
घुणोवमा १/५३५
घोरतव २/२५८
घोलिय १/१७५
घोसहीण १/९८
चउत्थभत्तिय २/७१
चउदसरयण १/११०
चउप्पडोयार २/३५२, ३५३
चउ-मासिया भिक्खु पडिमा २/२७९,
२८५
चउरिन्दियकाय १/४४
चउरिन्दिया १/४८
चउवीसत्थव १/१३३; २/८२

चउनीसत्थव १/१०
चउसरण १/२
चउवट्टी १/११०, १६७, १७१
चक्रियासाला १/६२३, ६२४
चक्खिन्दिय १/४६८, ४७०
चक्खिन्दिय अपडिसलीण २/२७८
चक्खिन्दिय असंवर १/२१२
चक्खिन्दियनिगह १/१३३, ७३६; २/२९
चक्खिन्दिय मुण्डे २/७
चक्खिन्दियरागोवरई १/४६७
चक्खिन्दियसंजम १/४३०
चक्खु २/३८६
चक्खुदंसणगुणप्पमाण १/२३
चक्खुपण्णाण १/४५३
चक्खुपरिकम्म १/३५५, ३८९, ४०३
चक्खुबल २/१७८
चक्खुरोम १/३६६, ३७३, ३८०, ३८७, ३९४,
४०१, ४०९
चम्म(य) १/६३३, ६८५, ७१३, ७१४
चम्मकोस(य) १/६३३, ७१३, ७१४
चम्मल्लेदणग(य) १/५०४, ६३३, ७१३, ७१४
चम्मपलिच्छेयणय १/७१४
चम्मपाय १/६९३
चयोव(इ)य १/५१०, ७३७
चरण १/६१, २०५, ४८५
चरणकरणपारविदू १/१८६
चरणगुण १/१९४
चरणविहिमहत्त १/२०५
चरमसरीरघर १/२१२
चरित १/१६, ५१, १२६, १४७, १९४;
२/११, ३०९
चरित अङ्कम २/८३, ८४
चरित-अङ्गार २/८३, ८४
चरित अणायार २/८४
चरित असंकिसे २/२५३
चरितगुणप्पमाण १/१८, २३, २४
चरितगुति १/३२५; २/२७८
चरितट्टया २/६५, ३१८
चरितधम्म १/३०, ३१, १२७; २/३४६
चरितधम्माराहणा २/१३५, १३६
चरितपज्जव १/७३६
चरितपडिणीय १/८९; २/२३२
चरित पण्णवणा १/७३९
चरित पायच्छित्त २/३११
चरितपुरिस २/१९९
चरितपगारा २/१४
चरितबलिय १/२२३
चरितबुद्धा १/५३
चरितबोधी १/५३
चरितमूढा १/५३
चरितमोह १/५३
चरितमोहणिज्ज कम्म १/४५५

चरित्तलोग(अ) १/१५
चरित्त बहङ्गम २/८३, ८४
चरित्तविणय १/७५, ७७
चरित्तविराहणा २/१३६
चरित्तविसोही २/१८१
चरित्तसम्म १/७३९
चरित्तसंकिसे २/२५२
चरित्तसंपण्णा(त्रे)या १/१३३, १३४, २१५;
२/२९, ३२०
चरित्तायार १/५१
चरित्ताराहणा १/५१, ५२, ५३; २/१३५,
१३८
चरित्तावरणिज्जाण कम्मण १/३२२,
३२३
चरित्तिट्टी २/२०५
चरित्तिदि २/१९९
चरित्तोवघात २/१८१
चरित्तित्त्यगर २/१९८, १९९
चरिय १/७४७
चरियानियट्ट १/५५१
चरिया परीसह २/३६८, ३७४
चरियापविट्ट १/५५१
चलाचल १/४८९
चवेडा १/९३
चाई-अचाई लक्खण १/२१
चाउज्जाम धम्म १/२००
चाउम्मासिय अणुग्घातिय २/३११
चाउम्मासिय उग्घातिय २/३११
चाउल १/५७२, ५७८
चाउलघोवण १/२५९
चाउल पलङ्ग १/५७२, ५८०;
२/२८९
चाउलपिट्ट १/५७८
चाउलोदग १/६३०, ६३१, ६३२
चाउलोदण १/५४२
चाउवण्ण संघ १/१२९
चार २/३७६
चारगबंघण १/१७५
चारण १/२२३; २/३६०
चारण भावणा २/२२३
चारणलद्धि २/३६०
चित्तकम्म १/४६१
चित्त(ि)वेत्तल्लय १/४८९, ५४८
चित्तनिरोह १/७३४
चित्तमंससोणित १/५२०
चित्तसमाहि १/७३२
चित्तसमाहिट्टाण १/७३१, ७३२
चित्ता १/१७८
चित्तालकारवत्थग २/३७३
चित्तोवकरण साङ्गज्जणया २/२६६
चिया (धम्म) १/३१
चिराघोय १/६३१

चिलिमिलि(ली) १/२७४,६३३,६८६,
६८७,७१३,७१४
चिन्तापाणग १/६२९
चीणसुय १/६७०,७४६
चीवरधारी १/५०४
चुण्णयपिण्ड १/५६७
चेल १/५०७,६३३,७१३,७१४
चेलचिलिमिलिय १/६८६
चेलपाय १/६९३
चोक्ख १/२२१
चोयण १/८५
चोसपट्टग १/६९१,७११,७१२
चड १/८९,९१
चद १/११०,१७७
चदपडिमा २/२९७
चदपडिम पडिक्खण २/२९७
चदप्पह (ससि) १/३
चदासग १/३३६
चदिम १/१९४
चदिमसूरियण २/५३
चंदोवराय १/६५
चपा १/५००
छजम २/३७८
छउमत्थ १/२४,३९,४०; २/११
छउमत्थमरण २/१६९
छक्काए १/४५
छज्जीवणि(नि)काय(१) १/२२५,२२६,
२२७,७४२
छज्जीवणिकायवह १/२४८
छज्जीवणिया १/२२५,२२६
छट्ठभत्तिय २/७१
छट्ठियदोस १/५८७
छण १/४३५
छणपद २/३९७
छण्ण २/३१८
छत्त १/६३३
छत्तक(ण)(य) १/४३३,५०४,७१३,७१४
छत्त १/५२५
छप्पुदिमा-नवसोडा १/७१५
छमासिया भिक्खुपडिमा २/२७९,२८५
छस्सिक्खाय १/५३५,५३६
छविसायाण १/७४९
छविच्छेय २/१०८
छिण्णकहकहे २/२६४
छिण्णसिणेह १/५०५,५०६; २/७१
छिन्नमालव १/५२०
छिन्नल १/९०
छेओवट्ठावण(१) २/११,३३१
छेओवट्ठावणा पायच्छित्तरिहा २/३३१
छेदारिह २/३१०
छेदोवट्ठावण-सजय-कप्पट्ठिई १/५४
छेदोवट्ठावणियचरित्तगुणप्पमाण १/२४
छेदोवट्ठावणियसजम २/१४

छेय १/४९८; २/८,९,३११,३३६
छेयपरिहार १/५५१
छेद १/४३६,७३७; २/१७९
छेदणा २/५७,५८
छेदा २/७
छेदोवणीया १/२२६
जउणा १/५०१,५०२
जउज्जेय १/४६
जक्ख १/९१; २/३५७
जक्खमह १/६८
जक्खावट्ठ २/३३२
जक्खालित्त १/६८
जक्खावेस २/१७६
जगनिस्सिय २/४६
जज्जरिय २/३०९
जणवज्ज(य) १/१४८,४९९
जणवयपरिगहाए १/७३३
जणवय परियावाए १/७३३
जणवयपहाए १/७३३
जणवयसच्चा १/५११
जत १/१८६
जत्तुकुम्म १/३२७; २/३७३
जत्तो १/२२१
जमलोइय १/१६९
जम्मदसी २/४०१
जय १/१९८,२४८
जयण १/२२१
जयणा १/४८६
जयणावरिणज्ज कम्म सओवसम
२/१७,१८
जयय १/७४९
जरा २/४०८
जराज्ज(क) १/२२६,२४६
जराउया १/२४१,२४२
जराजुण्ण २/५०
जलगय १/५०८
जलण २/४१
जलणप्पवेस २/१६९,१७०,१७३
जलपक्खदण २/१७३
जलप्पवेस २/१६९,१७०,१७३
जल्ल १/३४०,३५२,३७१,३७८,३८५,
३९२,३९९,४०७,४२६,७२०; २/३७७
जल्ल परीसह २/३६८,३७७
जल्लोसहिपत्त १/२२२
जल्लजवा १/१७५
जवमज्ज चदपडिमा २/२९७,३०१
जवमज्ज चन्द पडिम पडिक्ख २/२९८
जवमज्जा २/२७९,२९७
जवोदग(य) १/६२८,६३२; २/२५९
जहुण्णा २/१३५,१३६
जहुण्णुकोसिया २/१३५,१३६
जहासुय १/८४
जाह घेर २/१९९,२००

जाइपह २/४३
जाइसरण २/१४०,४०४
जाइसप(ण्ण)वा १/१२२; २/३२०
जाइहीणा १/१२२
जागरा २/२८
जागरिया २/३९४
जाण १/१७४,४३३
जाणगसरीर दब्बावस्सय २/७९,८०
जाणगसरीर भवियसरीर वहरित्त
दब्बावस्सय २/८०
जाणगिह १/७४७
जाणसाल १/७४७
जाणू १/१२३
जादिमघ १/१६३
जातिमय २/१९१,१९२
जाम १/४०,५५,५६,१२९,२०५,२७९,
३२२; २/३,१७
जाय(१) २/११३
जायणा २/३७६
जायणा परीसह २/३६८,३७६
जायणि(णी) १/५१२; २/२८२
जायपक्खा १/९१
जायक्ख २/२५
जिह्मदिय १/८४,८५; २/४३
जिण्ण(जिणवरो) १/३,४,१२,३९,४०,१३०,
१९४,२२२; २/११,३७८
जिण्णकप्पट्ठिई १/५४
जिण्णकप्पिय २/२३४
जिण्णगारा २/१९९
जिण्णवयण १/१४५
जिण्णवयनिउण १/८४
जिण्णसासण १/१९९
जिण्णसंघव २/६२
जिण्णवस २/१७८
जिण्णभा २/३८९
जिण्णिभदिय १/४७०,४७१
जिण्णिभदिय अपडिसलीण २/२७९
जिण्णिभदिय भसवर १/२१२
जिण्णिभदिय निग्गह १/१३३,७३६,
७३७; २/२९
जिण्णिभदियपडिसलीणता २/२५८
जिण्णिभदिय मुण्डे २/७
जिण्णिभदियरागीवरई १/४६७
जिण्णिभदिय सजम १/४३१
जीय(त्त) २/२००,२०१
जीव १/५९,१२५,१२६,१२९,१४२,
१४७,१५०,१५२,१६०,१६७,१८९,
२०७,२०८,२१२; २/२९,३०
जीवकाय १/१५४,२२६
जीवगुणप्पमाण १/१८,२४
जीवणिकाय १/१३२,२४४
जीवपहट्ठिय १/२५०
जीवपएस १/२७,२८,२९

४५४ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

जीवमिस्त्रिया १/५१२
जीवाजीवमिस्त्रिया १/५१२
जीवितभावणा १/१९७
जीवियाससम्पन्नो २/९३, १०३
जुग १/१७४
जुगमाय १/४८७, ४९५, ५४४
जुग १/४३३
जुतपरिणय १/११७, ११९
जुतरुख १/११८
जुतसोभ १/११८
जुसे १/११७, ११८
जुवरीय १/४९९
जुतपमाय २/१८०
जूय १/२५४
जूय १/६८
जोइवले १/११७
जोइसिय १/४८
जोई १/११४
जोईबलपलज्जण १/११७
जोग १/४३७
जोगनिरोह १/१४७
जोगपञ्चक्खाण १/१३३, १३४, २/१०४
जोगपडिक्कमण २/८३
जोगपडिसलीणया २/२७६, २७७
जोगपरिणया १/११८
जोगपिण्ड १/५६७
जोगय १/१११
जोगवाहिया २/५३
जोगसम्भ १/३२, १३३, १३४, ५११;
२/२९
जोगसंगह २/४४-४५
जोगहीण १/९७
जोणी १/४३३, ४४५; २/२६
जोतिसियाण(देव) २/५३
जोयणमेरा १/५०२
जोयणवेलागामी १/५०७
जकिचिमिच्छा पडिक्कमण २/८३
जंगम १/४३९
जगिय १/६७४; २/२९३
जघाचारण २/३६०, ३६१, ३६२
जघाचारण लङ्गी २/३६१
जघारोम १/३७२, ३८०
जघारोम परिकम्म १/३५३, ३८७, ३९३,
४००
जघारोम परिकम्म कारावण १/३६५,
३७२, ३८०
जघासंतरिम १/५०६
जघासंतरिम उदगपार १/५०५
जतपीलणकम्म २/१११
जतुय २/२९२
जमुहीव १/२५, २६; २/१९८,
३६०, ३६२
जम्बू १/३१६; २/१२

जम्बू (हुम) १/११०
जम्बूसुदसण(वृक्ष) १/३१९
ज वाइड १/९७
झाण १/६२, १९२, ४३२; २/३०९,
३१३, ३५४
झाणजोग २/३६६
झाणसमाहिजुत्त २/४०५
झामथडिल्ल १/४९५, ६८२, ७२१
झिज्झिरपल्ल १/५७६
झिमिय १/१६५, ५२७
झुसिर १/४८९
झंझा २/४०४
ठवणा (दोस) १/५५९
ठवणाकुल १/५५९
णवणासज्जा १/५११
ठविया २/३११
ठविया आरोवणा २/३१२, ३१३, ३१४
ठाणाद्विदए २/२७३
ठाण-समवाय २/२२३
ठाण-समवायधर २/२१०
ठाण-समवायागधर २/१९९
ठाणाइयाए २/२७५
ठाणाइण निसेह १/२९९
ठिती १/२२०
ठहर १/९८, १०४, १०५
ठडग (दण्डय) १/७१३, ७१४
ठिबर १/४६१
ठक १/१९२
ण(न)क्खत्त १/६२, १००, ११०, १२३,
१७७, १९४
णगरयेर २/१९९
णगिणा २/३९५
णगोहपवाल १/५७६
णइखइया २/६
णपुसगलिंगसद्दा १/५१३
णपुसगवयण १/५१८
णपुसगवयू १/५१३, ५१४, ५१५, ५१६
णभदेव १/५२३
णमी वेदेही २/३८४
ण(न)यप्पमाण १/१८, २४, २९
ण(न)रग १/१७७, ४४२
णव अगुत्ति १/४२८
णवगुत्ति १/४२८
णवणीय १/४२३, ४२७, ५५०
णवसयवेर २/३४४
णहृद्येदणय १/२७६, २७७, २७८
णह परिकम्म १/३८७, ४०८
ण(न)हमल १/३५२, ३५८, ३६४, ३७१,
३७८, ३८५, ३९२, ३९९, ४०६
ण(न)हवीणिय १/४५९, ४६०
ण(न)हसिहा १/३७२, ३८७, ३९३, ४००,
४०८
णहसिहापरिकम्म १/३५३, ४००

णहसीहाए परिकम्म कारावण १/३६५,
३७२, ३७९
णागइ १/१७०
णा(न)ण १/१५, ४६, ५१, ५८, ५९, ६०,
१०३, १२६, १२७, १४७, १७९, १९४,
१९५, ४३२
णाण-अइक्कम २/८३, ८४
णाण-अइयार २/८३, ८४
णाणअणायार २/८४
णाण असकिलेस २/२५३
णाण आसायणा १/९७
णाणगुणप्पमाण १/१८, २३
णाणजुत्त १/११७, ११८
णाणहुया २/६५, ३१८
णाणपडिणीय २/२३२
णाणपणवणा १/७३९
णाण पायच्छित्त २/३११
णाण परिणिता १/११७
णाणपुरिस २/१९९
णाणपुव्वगपञ्चक्खाणकारी २/१०२
णाणफल १/१०२
णाणबलिय १/२२३
णाणबुद्धा १/५३
णाणबन्धी १/५३
णाणमट्टा १/११२
णाणमूढा १/५३
णाणमोह १/५३
णाणलोग(अ) १/१५
णाणव २/२७
णाणवइक्कम २/८३, ८४
णाणविणय १/७५
णाणविराहणा २/१३६
णाणविसोही २/१८९
णाणसम्म १/७३९
णामसम्भ १/५११
णाणसंका १/११२
णाणसकिलेस २/२५२
णाणसंपण्ण(या) २/२९, ३२०
णाणसंपन्नया १/१३४
णाणायार १/५५-१२४
णाणाराहणा १/५१, ५२, ५३; २/१३५,
१३६
णाणावरण २/३६६
णाणिही २/२०५
णाणिद २/१९९
णाणी १/२०७
णाणुप्पण्णाणाणुकूल वय १/५५
णाणोववात २/१८१
णातिमत्तपाण भोयणभोई
१/३१५, ३१६
णातिवेल १/१०८
ण(न)तिसंयोग १/१४१
णायगाईण १/६६५

णासिमा १/६३३, ७१३
 णालिएरपाणग १/६२९
 णावपरिणाम १/५०२
 णावा १/५०२, ५०३
 णावागय १/५०८, ५०९
 णावापुराण १/७२९
 णावाविहार १/५०२, ५०६
 णावासंहरिम १/५०४
 णासारोम १/३५५, ३७४, ३८१, ३९५,
 ४०२, ४१०
 णिक्कम्मवत्ती १/७३५; २/३९६
 णिक्खारग १/५७६
 णिक्खित्त चरण २/२७१
 णिक्खित्त दोस १/५६८, ५७१
 ठवणावस्सय २/७८
 णि(नि)ग्गय १/११४, ११५, १५६, १८६,
 २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६,
 २६७, २८३, २८४, २८५, २९०, ३०१,
 ३१५, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८,
 ३२९, ३३०, ३३३, ३३४, ३७०, ३७१,
 ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७,
 ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३,
 ३८४, ४१३, ४१४, ४१९, ४३०, ४३१,
 ४७५, ४७६, ४८९, ५०१, ५२४, ५३३;
 २/२०, २१, ५२, ५३, १२८, १३३, १५८,
 २१९, २२१, २२४, २२५, २२६, २२७,
 २२८, २२९, २३०, २३२, २३३, २४२,
 २४३, २५३, २५४, २६५, २७१, २७२,
 २७३, २७४, ३३१, ३४०
 णिग्गन्ध घम्माइयार विसोहि सुत्त
 २/९१
 णिग्गन्धमुत्ति २/५४
 णिग्गन्धस्स माणुसग्ग भोगट्ठा निदान
 करण २/१५५
 णिग्गन्धि अवलम्बणे कारणा २/२२९
 णि(नि)ग्गन्धी १/११४, ११५, १८६, २६१,
 २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७,
 २८३, २८४, २८५, ३७०, ३७१, ३७२,
 ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८,
 ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४,
 ४१३, ४१४, ४७५, ४७६, ४८९, ५०१,
 ५२४, ५३३; २/१२८, १३३, १३४,
 १५९, २१८, २१९, २२०, २२४, २२५,
 २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३२,
 २४२, २४३, २४४, २५३, २५४, २६५,
 २७४, २७५
 णिग्गन्धीए माणुसग्ग भोगट्ठा
 निदानकरण २/१५७
 णिग्घात १/६८
 णिच्चदाणपिट्ठ १/५८९
 णिच्चियकड काल १/७१७
 णिज्जरट्ठयाए २/३४३
 णिज्जरापेही २/२६२

णिज्जाण १/७४७
 णिज्जाणसाल १/७४७
 णिट्ठभासी १/५१९
 णितिय २/३४५
 णितियवाई १/१७०
 णिहासील २/६२
 णिपूरपवाल १/५७६
 णिमिलपिण्ड १/५६६
 णिमित्ताजीविया २/१५४
 णियग १/४५३, ४५४
 णियग-गवेषिय १/७०७
 णियति(व)वाति(व)य १/१५७
 णियम १/४५२
 णिययवाई १/१५७
 णियठ १/४३५
 णियाणमरण २/१६९
 णियाणरहियस्स मुत्ति २/१६७
 णियठिय २/१००
 णिरय १/१५९
 णिरयवाई १/१७१
 णिरयदसी २/४०१
 णिरया १/१७१
 णिरामगघ १/५४२
 णिवत्तिता १/५३६, ५३७
 णिवुट्ठदेव १/४२३
 णिवेयणापिट्ठ १/५९०
 णिव्याण १/१९४, १९५, ४७३
 णिव्विहए २/२७२
 णिव्विद्धकायिय १/२४
 णिव्विण्णधारी २/४००
 णिव्वित्तिगिम्भासमावण्णेण १/४७९
 णिव्विन्द १/४३५
 णिव्वुड २/४०३, ४०५
 णिसग्गसम्मदसण १/१२७
 णिसिद्धठाण १/५२४
 णिसिद्धवयण १/५२४
 णिसील २/१२५
 णिसीहिया १/६४७, ६४८, ६४९, ६५२,
 ६५३
 णिस्सरणणन्दी २/३१०
 णिदिता २/७
 णीयागोय १/४४५
 णूम १/१७९; २/४१
 णेगम २/७९
 णेरइय १/१७१
 णेरइय संसार विओसग्ग २/३५६
 णेसिज्ज २/२९२, २९३
 तउपाय १/६९३
 तउयलोह १/४२२
 तक्क १/१८०
 तक्करण्यओग २/१०९
 तच्चा सत्त राइन्दिया भिक्खु पडिमा
 २/२८०, २८६

तज्जण १/१७४
 तज्जाय संसट्ठचरण २/२७०
 तज्जीवतच्छरीरवाई १/१४९
 तज्जीवतस्सरीरिए १/१५३
 तण १/२२६, २४६; २/२९२
 तणगिह १/७४७
 तणपुंज २/६४९, ६५०
 तणफास २/३७०, ३७१
 तणफास परीसह २/३६८, ३७७
 तणमालिय १/४२१
 तणसाल १/७४७
 तणहा १/४४०; २/४०४
 तण्हाणुबध्धण २/४११
 तण्हाभिभूय २/३८६, ३८७, ३८८, ३९०,
 ३९१, ४०९
 ततियमहव्वय १/३००-३१३
 तदुभय १/८४
 तदुभयणागयार १/५५, ११२
 तदुभयघर १/१०९, १२२
 तदुभय पडिणीय १/८९
 तदुभयवेयावच्च २/३३८
 तदुभयसमुदाणकिरिया १/१६४
 तदुभयागम १/२३
 तदुभयारिह २/३१०
 तप्पडिक्कवगवहार २/१०९
 तम्भवमरण २/१६९, १७०, १७३
 तम १/११४, ११७
 तमवलपलज्जण १/११७
 तमवले १/११७
 तयक्खाय १/५३५, ५३६
 तयप्पमाण १/४७६, ४८१
 तय(त्वक्) १/२३९
 तरच्च १/५४८
 तरु पक्खदण २/१७३
 तरुपडण २/१६९, १७०, १७३
 तव १/१५, ३१, ३३, ५१, ७१, ८५,
 १०३, १२६, १२९, १३३, १४३, ४५२;
 २/२८, २५८-३६२, ४००
 तव-चरणफल २/३५७
 तवतेण १/३०४
 तवफल १/१०३
 तवमय २/१९१, १९२
 तव-समायारी १/७२, ८६
 तवसमाही १/८५; २/३५७
 तव सख २/२५७
 तवस्स फल कखा णिसेह २/१६८
 तवस्सिण णेरइयाण कम्मणिज्जरणाए
 तुलणा २/३५८, ३५९
 तवस्सिपडिणीय १/८९
 तवस्सी २/५०, २४६, ३९२
 तवस्सी वेयवच्च २/३३८
 तवाइ तेणाण दुग्गइ २/३५८
 तवाचरण उइस २/३५७

४५६ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

तवायार १/५१
तवारिह २/३१०
तबोकम्म २/७१, ८४, १२८, ३१८, ३१९
तबोगुणपहाण २/४०५
तबोवहाणादाय २/३७८
तस १/१४२, १५८, १६१, १९७, २१७,
२२७, २४६, ४१७
तसकाइय(१) १/२२५, २४४
तसकाइय आरंभ १/२८२
तसकाइय जीव २/९, १०
तसकाइय अणारंभ ठाण २/७८
तसकाय १/२४२, २४३
तसकायसत्थ १/२४३, २४४
तसकायसमारंभ १/२४३
तसकायसकव १/२४१
तस-धावर १/२१६, २१९, २४६, ५३०
तस-धावरा पाणा १/४७४
तसपाणसमारंभ २/१२१
तसा पाणा १/२२६, २४१, २४२, २४३,
७२०
तस्सेवी २/३१८
तहमारो २/५७, ५८
तार्ह १/११२
ताण १/४५४, ४५५
तालउड १/३३१
तालण १/१७४
तालपलङ्ग १/५७६, ५८०
तालमूलय १/२८५
तालायर १/४२६
तालियटक १/४३३
तारागण १/१००
तिक्खसिग १/१०९
तिगिच्छ-मत्त-मूल १/५६६
तिगिच्छा १/२५४, ३४४
तिगिच्छापिण्ड १/५६७
तिगिच्छा विहाण २/७६
तित्तर १/१७५
तित्तिक्ख २/२६५, ३६६
तित्तिक्खण १/६१२
तिसी १/२१९
तित्थ २/१९८
तित्थधम्म २/३४४
तित्थपवत्तणकाल २/१९८
तित्थय(क, ग)र १/३, ४, ११, २३, २२२,
२७९, २९१, ३१९; २/१९८
ति-भासिया भिक्खु पडिसा २/२७९,
२८५
तिरट्टी १/१८६
तिरिक्खजोणिय १/१०३, ३१४; २/३५८
३८०
तिरिक्खजोणिया उवसग्गा २/३८१
तिरिक्खसंपाति(इ)म १/५०३, ७१३
तिरिक्खा २/४३

तिरिच्छि १/३२०
तिरियगई १/१७१
तिरियदिसिवय २/११०
तिरियदिसिपमाणाइकम २/११०
तिरियदंसी २/४०१
तिरियसोय १/२५
तिरियसंसार विओसग्गा २/३५६
तिरीडपट्ट १/७४६
तिल १/१७५, ५७८
तिलपप्पडग १/५७८
तिलपिट्ठ १/५७८
तिलोगदंसी १/१०६
तिलोदग(य) १/६२८, ६३२; २/२५९
तिसरग १/६४०
तीय १/४१
तीयवयण १/५१८
तुच्छ १/१२१
तुच्छकुस २/१६६
तुच्छरूवा १/१२१
तुच्छोभासी १/१२१
तुच्छोसहिन्मक्खणया २/१११
तुडिय १/४२१, ६४०
तुयावहत्ता २/६
तुलकड २/२९३
तुसगिह १/७४७
तुससाल १/७४७
तुसिणीय १/४९०, ४९१
तुसोदग(य) १/६२८, ६३२; २/२५९
तुण्डल्ल १/४२६
तुलकड १/६७५
तेहन्दियकाय १/४४
तेउकाइय(१) १/२२५, २३३
तेउकाइय आरंभ १/२८२
तेउकाइय जीव २/९, १०
तेउकाइय संजम २/१४, १५
तेउकाय अणारंभ ठाण २/४७, ४८
तेउकाय अमोहसत्थ १/२३४
तेउकाय १/४४
तेउच्छ १/७४५
तेउफास २/३७०, ३७१
तेउ महाभूत १/१५४
तेऊ १/१६२
तेण १/५२८
तेणाहड २/१०९
तेत्तीसविह ठाणाइ पडिक्कमण
सुत्त २/८८
तेयणिसग्गा २/२२३
तेयलेस्स २/५२, ५३
तेयाणुबन्धी २/३५२
तेस्स १/५५०
तेस्सबिन्दु १/१२६
तेस्सावण अड्ढम १/४७७
तेन्दुग १/५७८

तोत्तगवेसय १/८३
तोयबिन्दुप्पमाण १/४७६,
तंबपाय १/६९३
तंबलोह १/४२२
तंबोल १/३३६
तुंबवीणिय १/४२६
थणियकुमार १/४८
थलगय १/५०८, ५०९
थवधुइमंगल १/१३३
थवधुइमंगल फल १/१०
थविरप्पगारा २/१९९
थावर १/१४२, १५८, १६१, १९७,
२१७, २२७, ४३९, ४७६
थिरसंघयण १/५२०, ६७५
थिरीकरण १/१२६
थिल्लि १/१७४
थीकह १/३२६
थीकहा भिसेह १/३२६
थीकहा मणोरमा १/३२४
थुइ मंगल २/६१
थूणाविसय २/२२५
थूलमैहणविरमण २/१०९
थूलाइ पाणाइवाय २/१२१
थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमण
२/१०८, १०९
थूलाओ परिगहाओ वेरमण २/१००
थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमण
२/१००, १०८
थूलाओ मुसावायाओ वेरमण
२/१०८, १०९
थेर(भरावन्त) १/९३, ३१०, ३११, ३१२,
३२३, ३२४, ४२४, ४९७, ४९८, ५४२,
५५०, ५५१, ६०४, ६०५, ६०६, ६६८,
६७४, ६९०, ६९१, ७११, ७१४; २/६६,
१२८, २१०, २१३, २१४, २१७, २३८,
३३४, ३३६
थेर कप्प २/७७
थेरकप्पट्टिई १/५४
थेरहु १/६९०
थेरपडिणीय १/८८; २/२३२
थेरवेयावच्च २/३३८
थिल्लि १/७१८, ७१९, ७२०, ७२२, ७२३,
७२४, ७२५, ७२६, ७२७; २/२६२, २६३
थिल्लि समायारी १/७२९
थंभ १/७१, ९३
थंमणत्ता २/३८१
थओयसि २/६५
थक्खिण १/१८२
थग १/२२६
थगठाण १/७४७
थगणालिय १/२७४
थगतीर १/६४६, ७४७
थगमग्गा १/७४७

दगपह १/७४७
 दगरकवस १/१९१
 दगवीणिय १/२७४, २७५
 दगसत्तघाती १/१९१
 दढधम्म १/५०; २/३२०
 दत्तमणुणाय १/२१०, ३०३
 दत्ति परिमाण २/३०५
 दत्ति सखा विहाण २/७२
 दत्ती २/२८१, २८५, २८६, २९६, २९८,
 २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४,
 ३०५
 दत्ती पडिमा २/२९६
 दप्प २/३०९
 दग्धवत्तिय १/१७५
 दग्ध १/४५२
 दया १/५८, १०२, २१९
 दयाणुकम्पी २/४१
 दरिदुकुल २/१६६
 दरिसणावरणिज्ज १/१२७, १२८, १२९
 दरसणिज्ज १/५२०
 दवगिगदङ्गय १/१७५
 दवगिगदावणया २/१११
 दवग्गी १/३२९
 दव्व १/१२६
 दव्व विओ(उ)सग्ग २/३५५
 दव्वाभिग्गहवरण २/२६९
 दव्वावस्सय २/७८
 दव्वोभोयरिया २/२६६
 दसण्णभट्ट १/१९८
 दसदसमिया भिक्खुपडिमा २/२९७
 दसविहा समायाही २/५७
 दसा-कप्प-ववहार २/२२३
 दसा-कप्प-ववहारधर २/२१०
 दस्सु १/४८९
 दस्सुगा(या)यतण १/४८९, ४९०
 दहि १/४२३, ४२७, ४५०; २/२७२
 दाण १/५३१
 दाणद्वया १/५३०
 दाणविसप्प १/५३०
 दायगदोस १/५७१, ५७२
 दार १/७४७
 दारग १/५०४
 दारिग १/५०४
 दारुडङ्ग(दण्डय)पायपुच्छण १/७०८
 दारुण २/४२
 दारुदंढ १/२७५, २७६
 दारुपाय १/६९०, ६९८; २/२९४
 दालिमपाणग १/६२९
 दालिमसरद्वय १/५७६
 दावह्व २/१३१, १३२
 दावर १/४१
 दास १/३३६, ३३७, ४३३
 दासी १/४३३

दाहिण १/१४८, ४७४
 दाहिणगामी २/१५७, १५८, १६१
 दाहिणा १/१२३, १२९
 दिगिच्छा परीसह २/३६८, ३६९, ३८०
 दिट्ठसाभिण २/२७०, २७१
 दिट्ठसाहम्मव (अनुमान) १/१८, २०, २१
 दिट्ठिवाय १/२३, ६८, १५७; २/२२३
 दिट्ठिवाय मक्खेवणी २/३४७
 दिट्ठिवायमहिज्जग १/५३१
 दिट्ठिविसभावणा १/२२३
 दिट्ठिसंपन्न १/१९८; २/५३
 दिट्ठ २/३१८
 दित्तचित्त २/३३२
 दिवस चरिम पण्डित्ताय सुत्त २/५३
 दिव(या)वभयाही, रत्ति परिमाणक
 २/११६
 दिवाभोयणस्स अवण १/४८१
 दिव्व १/५९, ६०, ३१४
 दिव्व कामभोग १/३३३
 दिव्वमाया २/२६५
 दिव्व २/३८०
 दिव्वा उवसग्ग २/३८०
 दिसा १/१२३, १२९; २/४
 दिसामोहेण २/९४, ९५
 दिसिदाध १/६७
 दिसिज्जय २/१००, १०२, ११०, १११
 दिसकहता भिक्खुगमण २/६६
 दीण १/२०१
 दीणदिट्ठी १/२०१
 दीनपण्णा १/११९
 दीना १/११९
 दीव १/१२५
 दीवायण २/३८४
 दीविय १/५४८
 दीओवमा १/३७
 दीहकालिय रोगायक २/२८७
 दीहमद्ध २/५३
 दीहराय २/४०२
 दीहलोगसत्थ १/२४४
 दीहाउबंझकारण २/१०६
 दीहसुत्त १/६८८, ६८९
 दीहसुत्तकरण १/६८८
 दुआदक्क २/२००
 दुक्कड १/१५२, १५४
 दुक्क १/१३९, १४०, १४१
 दुक्कदसी २/४०१
 दुग्गुल्ल १/६७०, ७४६
 दुग्गुधा २/४१०
 दुग्गुन्धावत्तिय १/६७४
 दुग्गुन्धियकुल १/६६५, ६८७; २/३४०
 दुग्ग १/४६०
 दुग्गइनिरीह २/३७
 दुग्गई २/१७२

दुग्गम-सुग्गम ठाणाई २/२००
 दुग्गय १/११४
 दुक्खिण्णा कम्मा १/१६७, १७१
 दुट्ठ १/१२९
 दुट्ठ पारचिय २/३३१
 दुट्ठपडिच्छिय १/९८
 दुत्तित्तक्क २/२००
 दुपच्चक्खाणी २/१०१
 दुपच्चक्खाय २/१०१
 दुपय-चउपय-पमाणाइक्कम २/११०
 दुपयण १/५१८
 दुपस्स २/२००
 दुप्पजलिओसहिभक्खणया २/१११
 दुप्पजियार १/४८, ४८
 दुप्पजियुणाई ठाणाई करण पायव्धिक्क
 १/२५१
 दुप्पल २/५०
 दुप्पिभक्क २/६५
 दुप्पुह १/१९८
 दुरणुचर २/२००
 दुस्सभोहिय १/१७८
 दुस्सहोही १/१२९, १३०
 दुस्सहोसम्म १/४२
 दुवालसावत्तण २/८५
 दुवालसंग १/१५६, ४८५
 दुवालसंग गणिपिडग २/३४८
 दुव्वाई १/८९
 दुव्विभज्ज २/२००
 दुस्समा १/१४६
 दुस्सील १/८९, ११९, १७१, २००; २/५६
 दुस्सीसा १/९०
 दुहओ पडिबद्धा २/६
 दुहओलोगपडिणीय १/८८
 दुहओलोग पडिबद्धा २/६
 दुहसेज्जा २/३५
 दूरपिण्ड १/५६६
 दूस १/१३९
 देव १/४४, ८६, ९१, १०३, १२९,
 १४३, १६७, १८९, ३२०
 देवआसायणा १/९७
 देवजत्त १/१५९
 देवकामा २/४०७, ४०८
 देवकिब्बिस २/१५४, ३५८
 देवकुल १/२६
 देवगई १/१७१; २/४०७
 देवदसण १/७३२
 देवसण्णती २/८
 देवसिय पडिक्कमण समायाही २/६१
 देवसिय समायाही २/५८
 देवसी पडिक्कमण २/८४
 देवसंसार विओसग्ग २/३५६
 देविल २/३८४
 देविन्दपरियावणिया २/२२३

देविदोग्गह १/६५३
 देवी १/१८९
 देवी आसायणा १/९७
 देसकह १/११४, ११५
 देसच्चाई १/८७
 देसऽण्णाण १/१६४
 देसपएस १/२७
 देसमूलगुण पच्चक्खाण २/९९, १००
 देसराग १/६७०, ७४६
 देसविराहय २/१३१
 देसाराहय २/१३२
 देसावगासिय २/१००, १०८, ११३, ११४, ११७, ११८
 देसुत्तरगुणपच्चक्खाण २/१००
 देह १/१७२
 दोग्गइ १/१०३
 दोच्चा सत्तराह्णिया भिक्षु पडिमा २/२८०, २८६
 दो-मासिया भिक्षुपडिमा २/२७९, २८५
 दोरज्ज १/४९९
 दोस १/१२६, १४७, १७३, १८९, २१२; २/४०४, ४०५
 दोसणिम्मिया १/५११
 दोसदसी २/४०१
 दोसनिग्घायणाविणय १/७२, ७३
 दोससकिणो १/३३५
 दोसियसाला १/६२४
 दंढ १/७४८
 दंढपह २/५४
 दंढसमादाण १/४४०
 दंढाइ(णि) १/२७५, २७६
 दंढाइय २/२८६
 दंढायातिए २/२७४
 दंढासणियाए २/२७५
 दंत १/८२, १८६; २/३२
 दंतकम्म १/४६१
 दंतपरिकम्म १/३५५, ३८९, ३९५, ४०३
 दंतपरिकम्म कारावण १/३६७, ३७४, ३८२
 दंतपाय १/६९३
 दंतमल १/३५२, ३५८, ३६४, ३७१, ३७८, ३८५, ३९२, ३९९, ४०६
 दंतमालिय १/४२१
 दंतवाणिज्ज २/१११
 दंतवीणिय १/४५९, ४६०
 दंसण १/१५, ४६, ५१, ६०, १२६, १२७, १९४
 दंसण अहङ्कम २/८३, ८४
 दंसण अदयार २/८३, ८४
 दंसण अणायार २/८४
 दंसणअसच्चा १/२००
 दंसणपुण्यमाण १/१८, २३

दंसणद्वया २/६५, ३१८
 दंसणपडिणीय १/८९; २/२३२
 दंसणपण्णवणा १/७३९
 दंसण परीसह २/३६९, ३७८
 दंसण भायिच्छित्त २/३११
 दंसणपुरिस २/१९९
 दंसणबलिय १/२२३
 दंसणबुद्धा १/५३
 दंसणबोधी १/५३
 दंसणमावरण २/४०५
 दंसणमूढा १/५३
 दंसणमोह १/५३
 दंसण-लक्षण १/१२५
 दंसणलोग(अ) १/१५
 दंसणवहङ्कम २/८३, ८४
 दंसणविणय १/७५
 दंसणविराहणा २/१३६
 दंसणविसोहि १/१०; २/१८१
 दंसणसच्चा १/२००
 दंसणसम्म १/७३९
 दंसणसरूय १/१२५
 दंसणसावय २/११६, १६४
 दंसणसकिलेस २/२५२, २५३
 दंसणसंपन्नय(ए) १/१२७, १३३, १३४; २/२९, ३२०
 दंसणायार १/५१, १२५-२०४
 दंसणाराहणा १/५१, ५२, ५३; २/१३५, १३६
 दंसणावरण २/३६६
 दंसणावरणिज्ज १/१४७
 दंसणिद्धी २/२०५
 दंसणिद २/१९९
 दंसणोवघात २/१८१
 दंसमसगफास २/३७०, ३७१
 दंसमसय परीसह २/३६८, ३७०
 धण १/१३९, ४३९
 धण-धन-पमाणाइङ्कम २/११०
 धण्ण १/१३९, ४३९
 धण्णपुजितसमाणा २/७
 धण्णविकित्तसमाणा २/७
 धण्णविरलित्त समाणा २/७
 धण्ण संकटित्त समाणा २/७
 धण्णोवमा २/७
 धम्म १/१, २, ३, ३०-५०, ६०, ७२, ८८, १०५, १०६, १०९, १११, १४३, १४९, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५८, १८७, १८९, १९७, १९८, २१६, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३९, ४४२, ४४४, ४५२, ४७३; २/३९२, ४०८
 धम्मकहा १/४२, १३३, १८७; २/३४२, ३४६, ३५०
 धम्मकहाफल २/३५१
 धम्मघायग २/१८०

धम्मचिन्ता १/६१२, ७३२
 धम्मजागरणा २/३९४
 धम्मजागरिय १/११४, ११५; २/७३
 धम्मजाण १/९०
 धम्मजिज्ज ववहार १/४९
 धम्मज्ञाण २/३५१, ३५२, ३५३
 धम्मज्ञाण भणुप्पेहा २/३५३
 धम्मज्ञाण आलंबण २/३५३
 धम्मज्ञाण लक्षण २/३५३
 धम्मट्ठी १/१८५
 धम्मठिय १/४६, ४७, ४८
 धम्मतित्थ १/१८७
 धम्मनिदापायच्छित्त १/५०
 धम्मपएस १/२७, २८, २९
 धम्मपण्णवणा १/११
 धम्मपण्णा १/१७९
 धम्मपत्तत्ती १/२२५
 धम्मपय १/१०२
 धम्म परङ्कम काल २/४०८
 धम्म परङ्कमट्ठा उवएस २/४०८
 धम्मपरिणाम १/३०
 धम्म पाहेय १/४१
 धम्ममणुत्तर २/३८२
 धम्मरुह १/१२६, १२७
 धम्मव २/२७
 धम्मविणय २/२३९, २४०
 धम्मविऊ(दु) १/१६२, १६३, १८५; २/२७
 धम्मविसोहि २/१८१
 धम्मसद्धा १/३०, १३३, १३४
 धम्मसासण १/१४५
 धम्मसाहण १/४५
 धम्मसिक्खा १/७३१
 धम्माणुदोगचिन्ता १/६१७, ६१८
 धम्माधम्मठिय १/४६, ४७, ४८
 धम्माधम्मिय उवङ्कम १/४६
 धम्माधम्मियकरण १/४५
 धम्माधम्मिय ववसाय १/४६
 धम्मराम १/३२३
 धम्मायरिय १/४८, ४९
 धम्माराहणा परिणाम २/५३
 धम्मियउवङ्कम १/४६
 धम्मियकरण १/४५
 धम्मियववसाय १/४६
 धम्मिया अधम्मिया पुरिसा १/४९
 धम्मियाराहणा २/१३५
 धम्मंतराहय कम्म २/१, २
 धम्मंतराय कम्मखओवसम २/१
 धरण (इन्द्र) १/६, ३१८
 धरणोववाय २/२२३
 धादपिण्ड १/५६६
 धाउकम्मकरण १/४२२
 धाउणिहिपवेयण २/१९६

धारणा २/२००, २०१
 धिर् १/२२०
 धितिमं २/२४४
 ध्रुव १/१४५
 ध्रुवणिग्गह २/८२
 ध्रुवमोह १/३३७
 ध्रुतमोह २/३७३
 ध्रुतरय २/३७३
 ध्रुतवाद १/४३६
 धूमदोस १/६१०
 धूमिया १/६८
 नई १/५३१
 नक्रस्त्रिण १/५२८
 नगिण २/५१
 नगार् १/१९८
 नट्ट १/४४७
 नट्टक १/४२६
 नड १/४२६
 नपुंसगद्वय २/३२४, ४१०
 नमि(मी, राया) १/३, ४, १९८
 नभोकार सहिय पञ्चक्खाण सुत्त
 २/५४, ९८
 नयरधम्म १/३१
 नरगतिरिक्ख १/४४२
 नरग-तिरिक्खजोणि १/१४४
 नरगतिरिक्खत्तण २/४०७
 नरय १/३२०, ४४५; २/३५८, ४०६,
 ४०८
 नरय वेयणा १/१७७
 नरिद १/३२०
 नवकोटीपरिसुद्ध १/५३३
 नव नवमिया भिक्खु पडिमा २/२९७
 नवविहा सुद्धभिक्खा १/५३९
 नाभ २/८२
 नागपरियावणिया २/२२३
 नाण-दसण १/११४, ११५
 नाणदसणुप्पत्ति १/११४
 नाण-दसणसंपन्न १/७३९
 नाणपज्जव १/७३४
 नाण पडिणीय १/८९
 नाण संपन्नया १/५९, १३३
 नाणावरण २/४०५
 नाणावरणिज्ज १/१४७
 नाणावरणिज्ज कम्म १/३८, ३९, ६२;
 २/३४२
 नाणासीला २/१७२
 नाम १/१४७; २/१०४, ३६७
 नामावस्सय २/७८
 नायपुत्तवयण २/२३
 नालिय १/८४
 नासावहार २/१०९
 नासावीणिय १/४५९, ४६०
 नाहियदिट्ठी १/१७०

नाहियपण्ण १/१७०
 नाहियवाई १/१७०
 निक्कसिय १/१२६
 निक्कित्तचरण २/२६९
 निक्कित्त-चवित्तचरण २/२६९
 निगामसाई २/५६
 निगय पावयण १/१३२; २/१५५,
 १५७, १६०, १६४
 निच्चभतिय २/६७
 निच्चरीसी १/३०४
 निज्जर १/१७०, २०७
 निज्जरण्या १/४५६
 निज्जरा १/१२५, १८९; २/११५, ११६
 निज्जरापेही २/३७७
 निज्जावय २/३२०
 निज्जुहियच्च २/७६
 निणय १/१२३
 निणहव २/१७४
 नितिय १/१९०; २/२४९
 नितिविधि १/५८९
 नितियवास १/६६४
 निदा(या)ण २/१५६, १५७, १५८, १५९,
 १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६६,
 १६७
 निद १/१०४
 निदपमाय २/१८०
 निन्दण्या १/१३३, १३४
 निष्काव १/१७५
 निष्कलासय १/३३१
 निमित्त १/१४४, १७२
 निमित्त जाभरण २/१९७
 निमित्तमि २/१५४
 निम्मलयर १/२२१
 नियमपडिक्ख १/१८५
 नियडी १/८९
 नियतीभाव १/१६१
 नियम १/१४३
 नियल-बंधण १/१७५
 नियग १/१४४
 नियणक्षिन्न १/४७३
 नियावट्ठी १/१८०
 नियावाई १/१६७
 निरवज्जजोगपडिसेवण २/१११
 निरतियार १/२४
 निरय १/१५२, १५४
 निरवसेस २/१००
 निरालवणता १/८७
 निरासव १/१४५; २/२५७
 निरुद्धपण्णा १/१७२
 निरुद्ध परिथाय २/२१०
 निरुद्धासवे २/१०२
 निरुद्धाणकम्म २/१११
 निरुद्धकादय कप्पट्ठि १/५४

निव्वाघादम २/२६१, २६२
 निव्वाण १/८७, १८७, १९४, २१९
 निव्वाण मग्ग १/१९७
 निव्वाविय १/५७०
 निव्विगइ २/४२
 निव्विगइया पञ्चक्खाण सुत्त २/९७
 निव्वित्तिगिच्छा १/१२६
 निव्वियार १/७३४
 निव्विसमाण-कप्पट्ठि १/५४
 निव्विसमाणय १/२४
 निव्वीइय २/२७२
 निव्वुई १/२१९
 निव्वेगणी २/३४७
 निव्वेय १/१३३, १३४, १३५
 निव्वेयदसा १/१३८
 निसग्ग २/१०७
 निसाग (रुह) १/१२६
 निसज्ज-कहा १/५६६
 निसम्मभासी १/५१९
 निसक्ख २/६१, ६२, २५७
 निसह (निधध पर्वत) १/६
 निसिज्जा २/४५
 निसिज्जाकरण १/७४२, ७४३
 निसिज्जियाए २/२७५
 निसिद्धसय्या १/४९३
 निसीहिया २/५७, ५८
 निसीहिया परीसह २/३६८, ३७४
 निस्सकिय १/१२६
 निस्सिचिय १/५७०
 नीयागोया १/१०
 नीलमिगाइयाणि १/६७०, ७४६
 नीलवन्तपवहा १/११०
 नीहारिम २/२६०, २६१
 नेगम्(नय) १/२४, २५, २६, २७
 नेमि १/३, ४
 नेरइय १/४४, ४८, १०३, १७७, १७८;
 २/३५८, ३५९, ३६०
 नेसज्जिए २/२७४
 नेहपास १/४४५
 नेहाणुबंधण २/४११
 नोआगतो(ओ) दव्वावस्सय २/७८, ७९,
 ८०
 नोआगतो(ओ) भावावस्सय २/८१
 नोइन्दिय पञ्चक्ख १/१८
 नंदण (नन्दन वन) १/६
 नंदणवण २/३६१
 नंदा १/२२०
 नंदीचुण्णग १/३३६
 नंदीसर दीव २/३६१
 पइण्ण तव २/२५९
 पजमप्पह(सुप्पम) १/३
 पजमवरपोडरीय १/१८१, १८२, १८३,
 १८४, १८५, १८७

४६० परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

पडमोवमा १/४३४
 पणसदिद्वन्त १/२४, २६, २९
 पओगकाल २/३८६, ३८७, ३८९, ३९०,
 ३९१, ४१०
 पओगकिरिया १/१६४
 पओस (काल) १/६२, ६३
 पओ(दो)सा २/३८०, ३८१
 पओगसंपया २/२०६, २०८
 पकामभोई १/६१२
 पकुब्धय २/३२०
 पकमालव १/५२०
 पकलपिड १/८३
 पगउवसंतया १/५८
 पगतिभदया १/५८
 पगतियणुकोह-माण-माया-लोभ १/५८
 पच्चकल १/१८
 पच्चकलवयण १/५१८
 पच्चकलाण १/१०३, १३३; २/८२, ९४,
 ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४,
 १०५
 पच्चकलाण-पालण-रहस २/१२१
 पच्चकलाणपगारा २/९९
 पच्चकलाणफल १/१०२; २/१०२,
 १०३
 पच्चकलाणी १/५१२
 पच्चत्थिम १/१८३
 पच्चवाय २/७१, ७३
 पच्चूस १/६३
 पच्चण्णपडिसेवी २/३१०
 पच्चण्णभासी १/१०८, ११२
 पच्चद्रकालेण २/९४, ९५
 पच्छाद १/७१२
 पच्छाकम्म २/४९
 पच्छाणुताव २/३३३
 पच्छा संसा १/६८
 पच्छिमा १/६३
 पज्जसिया (भासा) १/५११
 पज्जव ओमोयरिया २/२६८
 पज्जवचरओ २/२६८
 पज्जवजायसत्थ २/३९९
 पज्जालिय १/५७०
 पज्जुवासणा १/१०२
 पज्जोसवणा २/७७
 पट्ट १/४२१, ६७०
 पट्टविय २/३११, ३३१, ३३२, ३३३, ३३६
 पट्टविया आरोवणा २/३१३, ३१४,
 ३१५, ३१६
 पडण १/६६
 पडण्णणदी २/३१०
 पडलाइ १/७१२
 पडागसमाणे २/१०५
 पडिकुडकुल १/५४९
 पडिकुलोवसंगा २/३८१

पडिक्कम २/१२२, १२३, १२४
 पडिक्कमण १/१३३; २/८२, ८३
 पडिक्कमणारिह २/३१०
 पडिग्गह १/७१२
 पडिक्कगा १/१२०
 पडिग्गहमाया २/५
 पडिणीय १/८८, ८९
 पडिपुक्कण(या) १/१३३; २/५७,
 ५८, ३४२
 पडिपुक्कणफल २/३४६
 पडिक्कसेज्जा १/६३७
 पडिक्कजीवी २/४३, १७९
 पडिमट्टादयाए २/२७५
 पडिमट्टाई २/२७३
 पडिमा २/१०७, २७९-३०८,
 ३६७, ३७९
 पडिमापडिक्कण २/१२०, २८०, २८१,
 २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७
 पडिमा संगह २/३०७
 पडिमोयय २/३९७
 पडिमाणिय १/६८९
 पडिक्कय(र) १/३२, १३३
 पडिलेहणा १/७१५, ७१६
 पडिलेहणा दोस २/६०
 पडिलेहणापमाय २/१८०
 पडिलेहणा विही २/६०
 पडिवाई १/२४, १२७
 पडिसुता २/७
 पडिसेवण २/३०९
 पडिसेवणा पायच्छित्त २/३११
 पडिसेविय २/३२७, ३२८, ३२९
 पडिसेवी १/४२३, ४२४
 पडिसोय १/१४२
 पडिसोयचारी १/५३६
 पडिसलीपता २/२५८, २७५-२७९
 पडिहारिय १/६५७, ६५८, ७०९
 पडीण(र) १/१२३, १२९, १४८
 पडुक्कसक्का १/५११
 पडुप्पण्णवण १/५१८
 पडुप्पवाइयट्टाण १/४६१
 पडोल पलासय १/६०९
 पडमपोरिती समाधारी २/६०
 पडम तमोसरण २/७५
 पडमा १/६३
 पडमा-मासिया राइदिया भिकवु
 पडिमा २/२८०, २८६
 पणएदिदी १/२०१
 पणग(य) १/२०१, २८३, ४९९
 पणगसुद्धम १/२८४; २/७७
 पणगिह १/७४७
 पणियट्ट १/५३१
 पणियसाल १/७४८

पणीताहारविवज्जणया १/४२४, ४२७
 पणीय आहार १/४२३, ४२७
 पणीय आहारणिसेह १/३२९
 पणीय पाण भोयण १/३२९; २/२७२
 पणीय भत्त पाण १/३२४
 पणीय रस परिक्काय २/२७२
 पणीय रस भोयण १/३३१
 पण्ण १/६१७, ६१८
 पण्णसि अक्खेवणी २/३४७
 पण्णवणा १/७३९
 पण्णवणी १/५१२, ५१४, ५१५, ५१६
 पण्णवतार्ण परक्कम २/३९६
 पण्णा संपत्ता १/११८
 पण्ह कत्ता १/१२०
 पण्हकरणविही १/१०६
 पण्हाय १/४१९
 पत्त १/२३९; २/३४४
 पत्त जीवर २/७५
 पत्तसेज्ज १/४६१
 पत्तपडिलेहणाकाल २/५९
 पत्तपदाण १/४२२
 पत्तमालिय १/४२१
 पत्तवीणिय १/४५९, ४६०
 पत्तुण्ण १/६७०, ७४६
 पत्तेसण पडिमा २/२९४
 पतगविहिंसा १/५३९; २/२८२
 पत्थगविद्वन्त १/२४, २५
 पत्थारा २/३१०
 पवोस २/३१०
 पत्ता परीसह २/३६८, ३७७-३७८
 पप्फिक्कय १/५०७
 पप्फोड्डणा १/७१६
 पभावणा १/१२६
 पभासा १/२२१
 पमस १/२३४; २/१७८, ४०२
 पमस पारचिय २/३३१
 पमाणपत्त १/६१२
 पमाणतिकत्त १/६११, ६१२
 पमा(व)य १/७१, ९१, १०४, १४३,
 १९४, ४३७; २/१७७, १७८, १७९,
 १८०, २१३, ३०९, ३६३, ३९४
 पमायचरिय २/१११
 पमायणिसेह २/१७७
 पमाय पडिलेहणा १/७१६
 पमाय परिक्काण उवएसो २/३९४
 पमायवहुल १/४५
 पमायसंग १/१०६
 पमायी १/४३५
 पमोओ १/२२०
 पमोक्क १/१६८; २/४६
 पमोक्कमगा २/४०५
 पयणुय २/२६४
 पयत्तधिर १/५२०

पयसपत्र १/५२०
पयमग्न १/२७४
पयसव २/२५९
पयहीण १/९७
पयाणुसारी १/२२२
पयगवीहिया २/२६७
परकिरिय १/३३७
पर-गवेसिय १/७०७
परग २/२९२
परचक्र १/५००
परदत्तभोई १/३००; २/५५
परदव्वहरणवेरमण १/३०५, ३०७
परदारगमण २/१०९
परदेवी परिचारणा निदान करण २/१६०
परपरिवाया(ओं) १/१७३, २१२, ३०४; २/१५४
परपासंडपडिमा २/२५२
परपासंडपसंसा १/१३७; २/१०७
परपासंडसेवी १/१३८
परपासंडसंघव १/१३७; २/१०७
परणवाह २/३९२
परमकेवल १/३१९
परमचक्र १/४३९; २/४०२
परमत्थसंघव १/१३६
परमदंसी २/३९६
परमसुद्धमाण १/३१९
परमाराम १/३३१
परमाहोहि १/३९
परलोग आसायणा १/९७
परलोग पडिणीय १/८८
परलोग पडिक्का २/६
परलोगवादी(ई) १/१६७, १७०
परलोगसंवेगणी २/३४७
परलोगसंसम्पज्जोग २/९३
परलोय १/१५२
परववएस १/३०५; २/११५
परविवाहकरण २/११०
परवेयावज्ज २/३३७, ३३८
परसभय १/५९
परसरीर संवेगणी २/३४७
परिकम्म १/३३९, ७२२
परिकम्मकय १/६९४
परिकम्म कारावण १/२६१
परिकम्मविसोही २/१८१
परिकम्माणुमोयणा १/३३९
परिकम्मावधात २/१८०
परिकम्माभासी १/५१०
परिगह १/३७, ३३१, १७३, २१२, ४२९, ४३९; २/३, १७, २५७, ३८४
परिगहपरिमाण २/११०
परिगहपासक १/४४५
परिगहविरय १/४४५, ४४६

परिगह-वेरमण १/४५५, ७३३; २/२९
परिगहसकव १/४३८
परिजुण्णा २/७
परिजुसित संपन्न १/५३७
परिद्ववण १/६२९, ६३२, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९
परिद्ववणविही १/६०८
परिद्ववणियागारेण २/९५, ९६, ९७
परिद्ववणिया समिह १/७२०, ७२९
परिणय १/५७९, ५८०, ५८२, ५८३
परिणातकम्म १/१८६, ४७४
परिणातगिहियास १/१८६
परिणात सज्ज १/१८६
परिणिज्जण १/२५९
परिण्णा १/११८
परिण्णाय कम्मे २/१०२
परिण्णाय गिहावासे २/१०२
परिण्णाय सण्णे २/१०२
परिणिदिता २/७
परिताप १/७३५
परितकायसंयुत आहार १/५७५
परितभिसिमा १/५१२
परित संसादी २/१७३
परिदाह पडियाय १/५०६
परिनिज्जुड २/५२
परिपुए २/७२
परिभोगेसणा १/५३८
परिभोगण-परिद्ववणविही १/६०८
परिमाणकड २/१००
परिमिय २/७२
परिमिय पिण्डवाहए २/२७०, २७२
परियट्ट १/५०७
परियट्टण १/६१७, ६१८
परियट्टणा १/१३३; २/३४२
परियाय १/१४६; २/२८, २२३
परियाययेर २/१९९, २००
परियाय धम्म २/४०
परियाल २/२८
परियावज्जणा १/१२३
परियावसह १/६३२, ७४३, ७४७
परिया(वा)विता २/७
परिया(वा)सिय १/४७६, ४७७
परिबहता १/५३७
परिवाय १/३०५
परिबुद्धकाय १/५२०, ५२८
परिसर १/५४८
परिता १/१४९
परिस्तव १/२०७
परिस्तह १/१३२
परिस्ताई २/३०९
परिहार १/४४८; २/३३१, ३३६

परिहार कम्पाडिय १/४९८; २/३३६, ३३७
परिहारद्वान १/६९, ९५, २/५, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३३०
परिहारपारिह १/७२२
परिहारणविसोही २/१८१
परिहारणोवधात २/१८०
परिहारपत्त १/४२१, ४२४
परिहारविसुद्धि २/११
परिहारविसुद्धिय चरितगुणज्जमाण १/२४
परिहारविसुद्धिय सज्ज २/१४
परिहारिय २/८, ९, २४७
परीसह १/४५२; २/४०, ३६५, ३६८, ३८०, ३९५
परीसह अपराजिजी मुनी २/३७८
परीसहजय २/४२
परीसहजयफल २/३८०
परीसह पराजिजी मुनी, २/३७९
परीसहवसिय १/६७४
परीसह विजय १/१३१
परीसहसहगो भिक्षु २/३७९
परीसहोवसाग २/२१, २६४
परोक्कवयण १/५१८
परपरगय २/३०
परपरागम १/२३
परपरसमुदाणकिरिया १/१६४
पल १/५०७
पलालय २/२९२
पलालपुज १/६४९, ६५०
पलिउण्णा पायज्जित २/३११
पलिउण्णिय २/३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९
पलिजोवम १/१४५; २/२४७
पलिज्जित २/२१७, २२१
पलिमयू २/१८०
पलिमयू २/४५, ४९, २७४
पलिमयू अनिसेज्ज ठाण २/४९
पलव १/५७६
पलवसुत्त १/४२१
पल्लविय १/८३
पल्लवणमाव २/२५५
पवग १/४२६
पवडणता २/३८१
पवडेज्ज २/५०
पवत्तय २/६६, २३८
पवत्तिणी १/६६८; २/२२०, २२५
पवयण २/३४८
पवयणदेवी १/९
पवयणमाया १/४८५-७३८; २/१०२
पवयणसकप २/३४८
पवरपीठरीय १/१८५

४६२ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

पवहेज्ज २/६५
 पवोल १/१३९, २३९
 पविता १/२२१
 पवित्थरविहि १/१७४
 पवुट्टदेव १/५२३
 पवज्जा २/१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८
 पव्वज्जा अजोग्गा २/५
 पव्वज्जापरियाय १/६६७
 पव्वय १/४६०
 पव्वयमाण २/५
 पव्वावण २/४
 पसत्थकायविणय १/७८, ७९
 पसत्थयेर २/२००
 पसत्थ मणविणय १/७७
 पसत्थ वडविणय १/७८
 पसत्थसम्मसमोहणीय २/१०७
 पसायपेही १/८३
 पसिणाइ कहण २/१९५
 पसिणायतण २/३३१
 पसुपक्खीण अंगसंचालणाई १/७४४
 पहास (गणधर) १/७
 पहीणसंयव २/४३
 पहेण १/६१७
 पा(डोहीण) १/१३३, १२०, १३८, १४८, १५७, १५८, ४७८, ५५५; २/४, २६५
 पाअसमि विहार करण २/६५
 पाओवगमण २/२६१
 पाओवगमण अणसण २/२६४, २६५
 पाओवगमणकरण विहाण २/७३
 पाओवगमण मरण २/१६९
 पागार १/७४७
 पाडलिपुत्त १/२६
 पाडिपाहिय १/४९१, ५२५, ५२६
 पाडिहारिय १/६२२, ६६०, ६६१, ६६२, ६८४, ७०१, ७०२, ७१७
 पाण १/९४, ९५, १५२, २८३, ४४१, ४९९, ५०१; २/११५
 पाण(ग) १/५३७, ५४५, ५५८, ५६९, ५७०
 पाणग १/६२७, ६२९, ६३०, ६३२, २/६७, २४९, २६०, २८१, २८५, २८६, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५
 पाणगजाय १/६२८, ६२९, ६३०, ६३१
 पाणगहण २/७१, ७२
 पाणभूय २/२४७, ४९४
 पाणवत्तिय १/६१२
 पाणवह २/४५, २५७
 पाणसुहम १/२८३; २/७७
 पाणा १/१७८, १७९, १८८, १९१, २१५, २४२, २४६, ५३०

पाणाइ(ति)(या)वा(त)या(ओ) १/१७३, २१२, २१६, २१७, ४७३; २/१२५, ३८४
 पाणाइवाय(ताओ)वेरमण १/२१२, २१६, २१७, २१८, ७३३; २/२९
 पाणिदया १/६१२
 पाणीआइ णिसरण णिसेह २/२८३
 पाणीपाणविसोहणी १/७१६
 पाणेसण पडिमा २/२९०
 पाणेसणा २/२९०, २९१
 पाताल २/३८२
 पादकेसरिया १/७१२
 पादच्छिण्ण १/५२८
 पादठवण १/७१२
 पाद(यो)पुसण १/४२०, ४५२, ६६६, ६६७, ७०८, ७०९, ७१२, ७२१, ७४४; २/४६
 पादपीवमा १/४३२
 पादबंधण १/७१२
 पामिच्च १/५०६, ६१४
 पाय १/५३३, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७; २/४६
 पायकम्बल १/७१६
 पायकेसरिय १/६९९
 पायकोरण १/७०५
 पायच्छित्त २/३०९-३३७
 पायच्छित्तकरण १/१३३
 पायच्छित्त जोग्ग चरित २/३०९
 पायच्छित्त फल २/३३३
 पायच्छित्त सुत्त २/३४०
 पायपडिलेहण २/५४५
 पायपरिकम्म १/३३८, ३४०, ३५२, ३८६, ३९२, ३९९, ७०३, ७०४, ७०५
 पायपरिकम्मकारावण १/३६४, ३७१, ३७८
 पायस १/३३४
 पायसजय १/७३०
 पारगय २/३०
 पारासर २/३८४
 पारिणामिय(आव) २/१६
 पारिहारिय १/६१९, ६२१; २/३३८, ३३५, ३३६
 पारिचिय(त) २/२१६, ३३१, ३३२
 पारिचिय पायच्छित्तारिहा २/३३१
 पारिचियारिह २/३१०
 पालु-किमिय १/२६०, २६४, २६७, २७०, २७४, ३४३, ३४७, ३५०
 पालव १/६४०
 पाव १/५९, १२५, १२६, १४६, १५३, १६०, १६९, १८९, १९०; २/४००
 पाव(ए) १/१७१, १७८

पावकम्म १/१७८, ४५५; २/३८, ११६, २५७, ३९९
 पावकम्मविरय १/४४६
 पावकम्मोवएस २/१११
 पावकारी १/४५५
 पावग(य) १/५९, ८९, १५२, १५३, १५४, १६८
 पावजीवी २/२१३
 पावठाण १/२१२
 पावधम्म १/१०४
 पावपरिक्षेव १/८२
 पावपरिक्षेदी १/८७
 पावधणी २/३४८
 पावसमण १/८६, १३८, २८७, ६०३, ६५९, ७१६, ७३८; २/४२, ६२, १७६, १७७, १९०
 पावाज(द्वय) १/१६२, ३६७
 पावाराणि १/६७०, ७४६
 पावासवनिरोह १/७३६
 पावसि १/११३
 पास १/३, ४, ४४५; २/३७२
 पासग २/४०१, ४०२
 पासणिय १/१९०
 पासत्थ १/१९०; २/२४७, ३४५, ३८४, ३८५
 पासत्थय १/४३७
 पासत्थविहारपडिमा २/२५१
 पासबद्ध १/४४५
 पासरोम १/३७६, ३८४, ३९०, ३९७, ४०४, ४१२
 पासवण १/५४९, ६४६, ७२०, ७२१, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७४७; २/७३
 पासवण मत्तय २/७४
 पासवधम्म १/३१
 पासंडी १/१९६
 पाहुइसीलता २/१५४
 पिउमंद पलासय १/६०९
 पिच्छमालिय १/४२१
 पिज्जदोसाणुगया २/७९२
 पिट्ठ १/५०३
 पिट्ठण १/१७४
 पिट्ठिमस १/८४, ५३१
 पिट्ठित १/४१४, ४१५
 पिण्णा १/१५१
 पिपीलिअइ १/२८५
 पिप्पलग(य) १/२७७, २७८, ७१७; २/२९२
 पिप्पलि १/४८१, ५७५
 पिप्पलिचुण्ण १/४८१, ५७५
 पियट्ठे १/१२१
 पियधम्म १/५०; २/३२०
 पिलग(य) १/२६५

पिलाग २/३८४
 पिलखुपवाल १/५७६
 पिवासा परीसह २/३६८, ३६९
 पिसुण १/९१, १७३, २१२
 पिहियासव २/२४८
 पिह्य १/५७२, ५७९, ५८०
 पीढ १/६५८, ७१६
 पीढसप्पि १/१६६, ५२८
 पु(पो)क्खरिणी १/१८१, १८२, १८३,
 १८४, १८५, १८६
 पुच्छण १/६१७, ६१८
 पुच्छणि(णी) १/५१२; २/२८२
 पुट्टलाभिण २/२७०, २७२
 पुट्टवागरणी २/२८२
 पुट्टी १/२२०
 पुढविकम्मसमारभ १/२२८, २२९
 पुढवीकाइय जीवा २/९, १०
 पुढवीकाइया १/४८, २२५
 पुढविकाइयाह निहरण २/२५१
 पुढविकाइयाण वेयणा २/२२८
 पुढविकाय १/४४, २२७, २५०
 पुढविकाय आरभ १/२८२
 पुढविकाइय १/२४४
 पुढविकाइयसजम २/१४
 पुढविसत्थ १/२२८, २२९, २३०
 पुढविसमारम्म २/१२१
 पुढविसिल २/२८२
 पुढवी १/१६२, २२६, २४६
 पुढवीजीवा १/२२६
 पुढवीपूभ १/१६०
 पुढवी महाभूत १/१५४
 पुढवीहिंसा विवाद २८७-२८८
 पुढोवेमाया २/३८०
 पुणभव २/१९१
 पुण १/५९, १२१, १२५, १२६,
 १४६, १८९, ५३०
 पुणरूवा १/१२१
 पुणावभासा १/१२१
 पुत्तदोहलद्वाय १/३३६
 पुफ १/२३९, ५८८, ६३०, ६३२
 पुफमालिय १/४२१
 पुफवीणिय १/४५९, ४६०
 पुफसुद्धम १/२८३, २८४; २/७७
 पुमत्तद्वा नियण करण २/१५९
 पुमवयू १/५१३, ५१४, ५१५, ५१६
 पुमित्थिवेय २/४१०
 पुयाकहत्ता २/६
 पुरओपडिबद्धा २/६
 पुरन्दर १/११०
 पुराकम्म १/५७१, ५७२, ५७३
 पुरित्थ १/१८२
 पुरिम १/४६२
 पुरिमद्वा पञ्चक्खाण सुत्त २/९४

पुरिमदिदण २/२७२
 पुरिम-पच्चिमगा २/२००
 पुरिस १/१८२, १८३, १८४, १८५
 पुरिसजा(तो)या १/११३, ११४, ११६,
 ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२,
 १८२, १८३, १८४, १८७, २००, २०१,
 ७४०; २/२, १०२, १३२, १३३, १५६,
 २०३, २०४, ३१०
 पुरिसवयण १/५१८
 पुरिसादाणिया २/३९९
 पुरिसत्तरक १/६४८, ६४९, ६६९,
 ६९१, ६९२, ६९७, ७२५
 पुरेकम्म २/४९
 पुलागभत्त १/६०३
 पुल्लिंगसद्वा १/५१३
 पुव्वकम्म २/५२
 पुव्वणह १/६३
 पुव्वघर १/२२२
 पुव्व-पच्छा-संघव दोस १/५६५
 पुव्वपुरिसत्तिट्ठेण सन्दो मुणी
 २/३८४-३८५
 पुव्वरयपुव्वकीलिमाण अणणुसरणया
 १/४२४, ४२६
 पुव्वविदेह १/२६
 पुव्वोवदिदु १/७२१
 पुव्ववं (अनुमान) १/१८, १९
 पुहत्तवियह सवियारी २/३५३
 पूर(ति)क १/५५९
 पूर(ति)कम्म १/५५९
 पूजा १/२२१
 पूतिआलुग १/५७६
 पूय १/२५४, २५५, २५६, २५७,
 २५८, २५९, २६३, २६६, २६७,
 २६९, २७०, २७२, २७३, ३४२,
 ३४३, ३४५, ३४६, ३४९, ३५०, ५५०
 पूयण १/१६५
 पूयणपत्थय २/२४५
 पूयफल १/३३६
 पूयाभत्त १/६२१
 पूयासक्कार २/२८
 पूव्वा संसा १/६८
 पेज्ज १/१४७, १७३, १८९, २१२
 पेज्जणिस्सिया १/५११
 पेज्जदोस १/८७
 पेज्जदोसमिच्छादसणविजय १/१३४
 पेज्जदंसी २/४०१
 पेज्जबधण २/११३, १२०
 पेडा १/५३९; २/२६७, २८१
 पेस १/३३६, ३३७, ४३३
 पेस परिणाय २/११६
 पेसल १/३३४
 पेसलेसाणि १/६७०, ७४६
 पेसाणि १/६७०, ७४६

पेसवणप्पओग २/११४
 पेसारभ २/११९
 पेहण १/४३३
 पोक्खरिणीपलास २/३८६, ३८७, ३८९,
 ३९०, ३९२, ४१०
 पोगलठिताए दिट्ठी २/२८७
 पोगलाणपरिणाम १/४४३
 पोतया १/२४१, २४२
 पोत्तग १/६७५; २/२९३
 पोत्तग २/२९३
 पोत्थकम्म १/४६१
 पोय १/२२६
 पोराण आहार १/५७८
 पोरिसी १/६२, ६९, ६११, ६१२, ६१३;
 २/६१, २६७, २६८
 पोरिसी पञ्चक्खाण सुत्त २/९४
 पोरिसी विण्णण २/५९, ६२
 पोसवत्थ २/३७२
 पोसहोववास १/१७१; २/१००, १०८,
 ११२, ११३, ११४, ११७, ११८, १२५,
 १६४, १६५, १६७
 पोसहोववासणिरत्त २/११६
 पोसहोववासस्स सम्म अणणुपालणया
 २/११४
 पोसत्त १/४१४, ४१५
 पंक १/३५२, ३७१, ३७८, ३८५,
 ३९२, ३९९, ४०७
 पंकगय १/५०८, ५०९
 पञ्चसंघवाय १/१६१
 पञ्चनिग्गहणा २/१९
 पञ्चमहव्वय १/४७३
 पञ्चमहाभूयवाइ १/१५३
 पञ्चमहव्वय सपडिक्कमण धम्म
 २/२००
 पञ्च-मासिया भिक्खुपडिया २/२७९,
 २८५
 पञ्चवय १/८६
 पञ्चाणुव्वय २/१४०
 पञ्चासव २/१९
 पचिन्दिय अघायका १/२८६
 पचिन्दियकाय १/४४
 पचिन्दियघायका १/२८६
 पचिन्दियतिरिक्खजोणिया १/४८
 पङ्गा(य) १/९३, ५२८
 पङ्गावण २/३६२
 पङ्गय २/५
 पङ्गि(त)य १/१८२, १८३, १८४, १८५;
 २/३६३, ३९६, ३९७, ३९८, ४०७, ४०८
 पडिय पराक्कम २/३९७
 पडिय(त)मरण २/१६९, १७०, १७२, २६१
 पडियमरण सक्क २/२६०
 पडियमाणिण १/१७८
 पडियवीरिय २/३६५

४६४ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

पतकुल २/१६६
पतचरण २/२७१
पतजीवी २/२७३
पताहार २/२७३
पाचाल १/१९८
पिग २/३८४
पिङ्ग १/५३३
पिङ्गय १/२५६
पिङ्गवाय(त) १/५४३, ५४६, ५४७,
५४८, ५४९, ५५०, ५६०, ५६१,
५६२, ५६३, ५६८, ५६९, ५७०,
५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५,
५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८२,
५९६, ५९७, ६०३, ६०४, ६०५,
६०७, ६०८, ६१६, ६१७, ६१८,
६२९, ६३०, ६६७, ६६८, ७११,
७१२, ७१३, ७१४, ७१८; २/३७५
पिङ्गसणा २/२८८, २८९, २९०
पिङ्गोर्गह पडिमा २/२८७
पिङ्गोलग २/३७५
पौडकप्पास १/६८९
पौडरीय १/१८१, १८२
पौडरीय रुमग १/१८१-१८७
फरिसासति गिसेहो २/३९०
फरुस १/१०५; २/४२
फरुसवयण १/२९९
फलग १/७१६
फलभालिय १/४२१
फलवीणिय १/४५९, ४६०
फलओवहह १/५३८
फलियाणि १/६७०
फलह १/७४६
फाणित १/५५०
फालिय-गठिय १/६८९
फास १/१३९, ४४४, ४४५, ४४८;
२/२८, ३९०, ३९१, ३९२
फासपण्णाण १/४५३
फासबल २/१७८
फासभल १/५१०
फासिन्धिय १/४७१, ४७२
फासिन्धिय अपडिसलीण २/२७९
फासिन्धिय असवर १/२१२
फासिन्धिय निग्गह १/१३३, ७३७;
२/२९
फासिन्धिय पण्णवत्त १/१८
फासिन्धियमुण्डे २/७
फासिन्धियरागोवरई १/४६७
फासिन्धिय संजम १/४३१
फासिन्धिय संवर १/१३४
फासुएसणिज्ज १/६१०, ६११
फासुम १/५६२, ५६३, ५८१, ५८२,
५८३, ५८४, ५८५, ५९७, ६१७,
६२८, ६३१, ६५२, ६७८, ६९८,

७२०, ७२५; २/११५, २८८, २८९,
२९०, २९३, २९४
फासुयविहार १/४८७
फोडीकम्म २/१११
वलगवेसिय १/७०७
वलदेव १/१६७, १७९
वलमय २/१९१, १९२
वलसंपण्णा १/१२२
वलहीणा १/१२२
वलाबल २/४१
वलावा २/४०४
वह्निह १/७४९; २/२०
वह्नियागाम २/२७४
वह्नियापोरगलपक्खेय २/११४
वह्निरत्त १/४४५
वह्निरग २/३०९
वहुजज्झिय घम्म १/५८८
वहुजण २/३१८
वहुदेवसिय १/६८०, ६८१
वहुपडिपुण्णवदिय १/५२०
वहुपडिविरया २/१६२
वहुफासुय १/७१८, ७१९, ७२२
वहुमाण (जानाधार) १/५५, १००-१११
वहुरय १/५७२
वहुवयण १/५१८
वहुवयणविक्खला १/५१३
वहुवयू १/५१३
वहुसाहारणा १/१४६
वहुस्सुते पुरिसजात २/२१६, २४४
वहुस्सुय १/८३, १०९, ११०
वहुसंजया २/१६२
वहुसंपन्न २/७२
वावरत्तपरायसरगसंजम २/१२
वायर १/२१६, २१७; २/३१८
वाल १/८५, ८६, ८५८, ८६१, ८६९,
१७८, १८३, ३३५, ४३४, ४३८,
४४२, ४५१, ४५४, ४७३, ४९०,
४९९, ५००, ५०४; २/३६४, ३७५,
३९५, ४०३, ४०७, ४०९
वालजण १/१९५
वालजीव १/२४६
वालपडितमरण २/१६९, १७०
वालपडिय १/१७८; २/३६३
वालभाष १/१३१; २/४०८
वालमरण २/१७०, १७१, १७२, १७३
वालमरण पसंसा २/१७३
वालवीरिय २/३६३
वालभिराम १/४४७
वाहिय २/५०
वाहिरय २/२५८, २७८
विन्दुप्पमाण १/४८१
विम्भभूत २/५४
विल १/४८१

विल्ल बलासय १/६०९
विल्लसरहुय १/५७६
वीअसुहम २/७७
वीओदग २/३८४
वीजमालिय १/४२१
वीभावण २/१९७
वीय १/२३९, २४०, २४६, २८३,
५०१, ५०८; २/३८४
वीयण १/४३३
वीयबुद्धी १/२२२
वीयरुह १/१२६
वीयवीणिय १/४५९, ४६०
वीयसुहम १/२८४
बुआवहत्ता २/६
बुद्ध १/१६६
बुद्धजागरिया २/३९४
बुद्धी १/२२०
बुद्धोवधाय १/८३
बुद्धियये १/११६
बुहे १/११६
बेहन्दियकाय १/४४
बेलवग १/४२६
बोधियसाला १/६२४
बोही १/२२०
बध १/५९, १२५, १७४, १८९, ७३५;
२/१०८
बधण २/४०३
बधणविमुत्तिए परक्कम २/४०३
बधणमुक्का २/५१
बधमोक्क १/१७८
बभ २/४०
बभउत्त १/१५९
बभवरिय ठाण २/४६
बभवेर(अणुपुत्ति) १/६, १०२, १०३,
१२९, १६२, २१०, ३१६, ३१९, ३२०,
४२८, ४३९, ४५२, ४७४; २/५०, १४४,
३९८, ४०२
बभवेर अट्टारत्त पगारा १/३३२
बभवेर अणुकूला वय १/३२२
बभवेर अणुकूला याम्मा १/३२२
बभवेर आराहणा फल १/३२१
बभवेर आराहिय १/३१९
बभवेर उप्पत्ति अणुप्पत्ति १/३२२
बभवेर गुप्ती १/६१२
बभवेरपराजिया २/३७९
बभवेरपोसह २/११४
बभवेरभग्ग १/३१९
बभवेर महब्बय १/३१४-४२८
बभवेर महिमा १/३१६-३१७
बभवेर रक्खणोवधाय १/३३१
बभवेरसास (घम्म) १/३१, ३९, ३२२,
३२३, ७४२
बभवेर विजातका १/३२०

बभवेर सत्ततीस खवमाओ १/३१७-
३१९
बभवेर समाहिठाणा १/३२३-३२४
बभवेरसमाहिय १/३२३
बभवेर सहायगा १/३२१
बभवेराणुकुलाजणा १/७४२
बभयारी १/३२३, ३२७, ३३२; २/११९
बभलोग-लतगाण (देव) २/५३
बभलोय १/३१८; २/१५१
बभव २/२७
बभवय १/३२७, ५३५
बभसंति (देवी) १/९
बभी (लिपि) १/९
बोडियसाला १/६२४
भगवय(ी) (भगवत) १/२१०, २१५, ४४५
भगवता २/३९४
भगदल १/२५३, २५४, २५६, २५७,
२५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३,
२६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०,
२७२, २७३, ३४२, ३४३, ३४५, ३४६,
३४८, ३४९, ३५०
भट्टि (भर्ता-स्वामी) १/४८, ४९
भट्टिदारय १/५१७, ५१८
भडखड्या २/६
भत्तकह १/११४, ११५
भत्तपच्चवखाण १/१३३, १३४; २/१०४,
२६१, २६२, २६३
भत्तपच्चक्खाणमरण २/१६९
भत्तपडियाइक्खिय २/७२
भत्तपाण १/९१, ५३९; २/४२
भत्तपाण असकिलेस २/२५२
भत्तपाण दब्बोमोयरिया २/२६६-२६७
भत्तपाण परिण्णा १/११८
भत्तपाणवीच्छेय २/१०८
भत्तपाणसकिलेस २/२५२
भदा १/२२०; २/२७९
भट्टतर पडिमा २/२७९
भय १/२९९; २/३१०, ३८१, ४१०
भयक १/४३३
भयट्टाण २/२८८
भयणिसिया १/५११
भयणिसेह २/२८४
भयविवेग १/२९६
भयसि २/६५
भरह १/२६, १९८
भरहवास १/१९८
भस्त्रायय १/४१४, ४१५
भवकोडीसच्चियकम्म २/२५७
भवचरिम पच्चवखाण सुत्त २/९६
भवणमिह १/६४४, ६४५, ६४६
भवणवासी(देव) २/५२
भवतण्हा १/४४०
भवमिच्छत्त १/१२७

भवियसरीर दब्बावस्सय २/७९, ८०
भाइसमाणे २/१०५
भाडी कम्म २/१११
भायण-भदोवगहि उवगरण १/७१२
भारण-पक्खी २/१७९
भारपच्चोसहणया १/७३, ७४, ७५
भारवहा १/३३७
भारहवास २/१९८
भाव १/१६, ८९; २/४०९
भावउण्णाण १/१६४
भावणा १/२१७, २१८, २७९, २८०,
२८१, २८९, २९०, २९६, ३०१,
३०२, ३०७, ३१५, ३१६, ४२४,
४२५, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२,
४६७, ४६८, ४७०, ४७२, ७४८; २/४४
भावतेण १/३०४
भावपडिक्कमण २/८३
भावप्पमाण १/१७
भावलोअ १/१५
भाववि(ओ)(उ)सग्ग २/३५५, ३५६
भावविसोहि २/२५५
भावसच्च १/३२, १३३, १३४, ५११;
२/२९
भावसुद्ध २/९९
भावसंघय १/५४
भावावस्सय २/७८, ८१
भावाविग्गहचरण २/२६९
भावोमोयरिया २/२६६, २६८
भासा १/१४३, ५१०, ५११, ५१२, ५१३,
५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९,
५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५,
५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१;
२/११९
भासाज्जात(या) १/५१०, ५११
भासादुग १/१०८
भासाबोह १/५१७
भासाविही १/५१९, ५३०, ५२१, ५२२
भासासमिद्धि(ति) १/४८५, ५१०, ७३३
भासासमिया १/७३२
भिउडिमुह १/९०
भिक्षुट्टा १/४९४
भिक्षुवित्ती १/५३६
भिक्षुलाभिए २/२७०
भिक्षुलागकुल २/१६६
भिक्षुवाय(च)रिया(ी) १/६२, १३८, १३९,
१४२, २८०, ५०१; २/२५८, २६८-
२७२, ३८१
भिक्षुवायरिया गमण जोग्ग खेत
२/६६
भिक्षुवातसिय १/९०
भिक्षुअणायरणीय ठाणाइ २/१७५-
१७६
भिक्षुचरिया २/३८३

भिक्षु पडिमा २/२७९-२८८
भिक्षु परक्कम २/३९९
भिक्षु लक्खण २/२२-२६
भिक्षु १/९९, १००, १०४, १०६, १०७,
१०८, १०९, १३८, १४२, १६७, १७८,
१८५, १८६, १८७, १९०, १९१, १९२,
१९४, १९५, १९६, २१६, २२७, २३१,
२३३, २३५, २३६, २३८, २४२, २४८,
२४९, २५०, २५१, २५२, २५५, २५६,
२५७, २५८, २५९, २६०, २६८, २६९,
२७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५,
२७६, २७७, २७८, २९४, २९५, २९६,
३२०, ३२३, ३२६, ३३४, ३३५, ३३६,
३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५;
३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१,
३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७,
३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३,
३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९,
३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९,
३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५,
३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१,
४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७,
४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३,
४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९,
४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५,
४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१,
४३५, ४४१, ४४३, ४४४, ४४५, ४४८,
४४९, ४५०, ४५१, ४५४, ४५७, ४५८,
४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४,
४६५, ४६६, ४७३, ४७४, ४७७, ४७८,
४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८९,
४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५,
४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१,
५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७,
५०८, ५०९, ५१०, ५१८, ५१९, ५२०,
५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६,
५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३२, ५३४,
५३५, ५३६, ५३७, ५४०, ५४१, ५४२,
५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ७३०;
२/२०, २१, १३०, १७२, २३६, २३७, २३९,
२४१, २४४, २४५, २४६, २४९,
२५४, २५५, २५६, २५७, २५९, २६३,
२६४, २६८, २८७, २८८, २८९, २९२,
२९३, २९४, २९५, २९६, २९७, ३१९,
३२४, ३२५, ३३१, ३३२, ३३३, ३३५,
३३८, ३३९, ३४०, ३४४, ३४५, ३४८,
३५०, ३५१, ३५७, ३६९, ३७०, ३७१,
३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७८,
३७९, ३८१, ३८२, ३८५, ३९२, ३९४,
३९९, ४०८
भिक्षु(सु)णी १/२२७, २३१, २३३, २३६,
२३८, २४२, ३४०, ४४८, ४४९, ४५०,
४५१, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३,
४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९,

४६६ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

५००,५०१,५०२,५०३,५०४,५०५, ५०६,५०७,५०८,५०९,५१०,५११,५१२, ५१३,५१४,५१५,५१६,५१७,५१८, ५१९,५२०,५२१,५२२,५२३,५२४,५२५, २/२९२,२९३,२९४,२९५	भङ्गभारिय १/५०४ भङ्गय १/७१४ भङ्गोवगरण १/७१४ भङ्गसंपयः २/१८६,२०७,२८८ भङ्ग १/४२१ भङ्ग १/१०५,१४५,१९३,१९४, १९५,१९६,४८६; २/८२,३३३ भङ्गत्य १/१८२,१८३,१८४,१८५ भङ्गफल २/३३३ भङ्गविद् १/१८२,१८३,१८४,१८५ भङ्गो पठिवद्धा २/६ भङ्गाइ पवेयण २/१९६ भङ्गातिकत १/६११,६१२,६१३ भङ्गुक १/१९२ भङ्गू १/१९१ भङ्गंतराय २/१५४ भङ्गवा १/१९८ भङ्ग १/१९१; २/३८९ भङ्गलायाण १/७४९ भङ्गचम्माई वत्य १/६७० भङ्गरिया २/११५ भङ्गद्विय १/४२३,४२७,५९५ भङ्ग १/१९१ भङ्गई १/८२ भङ्गपमाय २/१८० भङ्गपमायविरय २/५६ भङ्गसेवण विवज्जण २/५६ भङ्गाइसेवणनिसेह २/५७ भङ्गचारी १/५३६ भङ्गणह १/६३ भङ्गत्य २/४१ भङ्गिमा २/१३५,१३६ भङ्गियापाय २/२९४ भङ्गाइ णियठ २/२९,३० भङ्ग १/७३१; २/४०९ भङ्गगुत्ती १/७३० भङ्ग अपडिसलीण २/२७८ भङ्ग असंकिलेस २/२५२ भङ्ग असंवर १/२१२ भङ्गगुत्तया १/१३३,७३३ भङ्गगुत्तयाए फल १/७३३ भङ्गगुत्ती १/२७९,२८०,४८५,७३०, ७३२ भङ्गचियाए २/१३ भङ्गजोग १/१४७ भङ्गजोग पडिसलीणया २/२७७ भङ्गदुण्णिहाण २/११२ भङ्गपओगकिरिया १/१६४ भङ्गपज्जवणा(नो)ण १/७३२; २/२८७ भङ्गपज्जवणा अरहा २/१९९ भङ्गपज्जवणाण केवली २/१९९ भङ्गपज्जवणाणजिण २/१९९ भङ्गपज्जवणाण पच्चक्ख १/१८	भङ्गपज्जवणाणविणय १/७५ भङ्गवलय १/२२३ भङ्गविणय १/७५,७७ भङ्गनाद(हो)रगया १/१३३,१३४, ७३३,७३४; २/२९ भङ्गसमिया १/७३२ भङ्गसमिह(ति) १/२८०,४८५ भङ्गसंकिलेस २/२५२ भङ्गसंजम २/१३ भङ्गि १/१३९,६४० भङ्गिकम्म १/४६१ भङ्गिपाय १/६९३ भङ्गुण पोरगल १/७४४ भङ्गुय २/४१० भङ्गुयसंसार विओसग्ग २/३५६ भङ्गुयाणजीविय २/१७७ भङ्गुस्स १/४८,८६ भङ्गुस्सगई १/१७१ भङ्गीविबभमो १/४२५ भङ्गिय १/५०१ भङ्गियापाय १/६९०,६९८ भङ्ग १/६३३ भङ्ग गहण विहाण २/७४ भङ्गय १/७१३,७१४ भङ्गिअन्नाणकिरिया १/१६४ भङ्गिसेह २/१९२ भङ्ग १/१३३; २/१९३ भङ्ग घम्म १/३१,३२ भङ्गमेह १/१६६ भङ्गभाव २/४२,११३ भङ्गाय १/१९० भङ्गय १/८४ भङ्गुदाहर १/८२ भङ्ग (माया) १/७१ भङ्गमालिय १/४२१ भङ्गपगारा २/१९१ भङ्गविही १/१२६ भङ्ग २/१६९-१७४ भङ्गाससम्पओग २/९३ भङ्ग पक्खदण २/१७३ भङ्गपण २/१७३ भङ्ग १/३५२,३७१,३७८,३८५ भङ्गणीहरण १/३५२,३८५,३९२,३९९, ४०६ भङ्गणीहरणस्स अणुमोयणा णिसेह १/३४० भङ्गणीहरावण १/३६४,३७१,३७८ भङ्गयाणि १/६७०,७४६ भङ्गावरोहण णिसेह २/२८४ भङ्ग १/३९२,३९९,४०७,४२६ भङ्गि १/३,४ भङ्गूर १/१७५ भङ्गुई १/८६

महतलाय २/२५७
 महत्तरागारेण २/९५, ९६, ९७
 महत्तममोक्त १/६७०, ६९२, ६९३
 महत्तमय १/४३९, ४४३
 महत्तमूता १/१५४, १६१
 महत्तिलय(१) मोय पडिमा २/२७९, ३०५, ३०६
 महत्तिलय मोयपडिमं पडिवत्त २/३०६
 महत्तिलया-विमाण-पविभत्ती २/२२३
 महत्तव्य १/१३२, १४३, २११, २१६, २१७, २७९, २८२, ३००, ३०२, ३१६, ३१७, ४२९, ४३१, ४३२, ४४६, ४७५, ७४८; २/४०, ५१
 महत्तव्यधम्म पडुवगा २/१००
 महाकुले १/७४८
 महागिह १/७४८
 महाजण्ण १/२१३
 महाजाण २/३९९
 महाणई(टी) १/५०१, ५०२
 महाणई पारगमण १/५०१
 महाणिज्जरी(१) २/१२१, ३४०, ३४१, ३५९
 महानिमित्त २/१९०
 महापउम १/१९८
 महापज्जवसाण २/१२१, ३४०, ३४१, ३५९
 महापाडिवा १/५२, ६९
 महाभल(राजा) १/१९९
 महाभट्टा २/२७९
 महाभूतिय १/१५४, १५५
 महामह १/६८, ६९६
 महामुणी १/४४०; २/४११
 महामोहणिज्ज ठाण २/१८५-१८९
 महारम्भगरेगह २/४०६
 महावज्जकिरिया १/५४५
 महाविगती १/५३८
 महाविदेह १/३१९; २/२००
 महावीर (वद्धमाण, कासव, नायपुत्त, नायसुय, नायमुणि, समण भगव
 महावीरे, वीर, वीरवर) १/३, ४, ५, ६, ७, ११, ३५, १०५, १३२, २६०, २८५, १९४, १९५, १९७, २२५, २९८, ३१०, ४३२, ४७३, ४७६, ७३१, ७३७, ७३९, ७४२; २/४०, ५१, ४५, ४६, १६९, १७७, २५३, २७१, २७२, २७३, २७४, ३५०, ३५८, ३६९, ३७८, ३८२, ३९४, ४०५, ४११
 महासद्धी १/४५२
 महासावज्जकिरिया १/६४५
 महासुक्क-सहस्साराण (देव) २/५३
 महिन्द(महेन्द्र) १/५
 महिया १/६८, २८५, ७१३
 महिस १/१७५, ५४८
 मही १/५०१, ५०२

महुआसविय १/२२३
 महुमेहणी १/५२८
 महुरा १/५००
 महेसिण लक्खण २/२६
 महोरगसरीर १/११६
 महती १/२२०
 माइ(ति)ट्टाण १/४९६, ५२४, ५५०, ५५५, ६०५, ६०६, ६०७, ६१८, ६८४, ७०२,
 माइवहुला १/१४६
 माज्जमस १/१७४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६
 माज्जलिगपाणय १/६२९
 माण १/७, १०६, १०७, १७३, १८९, १९५, २१२, २९९; २/१९१, ३९२, ४१०
 माण अपडिस्सलीण २/२७८
 माणकर २/२०३, २०४
 माणणट्ठ २/५५
 माणणिस्सिया १/५११
 माणदंसी २/४००
 माणपिण्ड १/५६७
 माणमुण्डे २/७
 माणविओसग्ग २/३५५
 माणविजय १/१३४; २/१९३
 माणविवेग २/२९
 माणवेयणिज्ज कम्म २/१९३
 माणावादी १/४४५
 माणुस १/५९, ६०, ३१४
 माणुस्सम कामभोग २/१५६, १५७, १६०, १६४, १६६
 माणुसग्गा कामा २/४०८
 माणुसत्त २/३९२, ४०७
 माणुसा २/३८०
 माणुसा जवसग्गा २/३८०
 मानपिड (दोस) १/५६५
 माय (माया) १/७, १८९, १९५, २१२; २/४७, २९१
 मायण १/६०२
 मायाअपडिस्सलीण २/२७८
 मायाणिस्सिया १/५११
 मायादंसी २/४००
 मायानियाण २/३२४
 मायापिण्ड १/५६७
 मायामुण्डे २/७
 मायामुस २/३८६, ३८७, ३८९, ३९०, ३९१, ४०९
 मायामोस(ओ) १/१७३, २१२, ५३१; २/५६, ३५८

मायाविओसग्ग २/३५५
 मायाविजय १/१३४; २/१९३
 मायाविवेग २/२९०
 मायावेयणिज्ज कम्म २/१९३
 मायासल्ल १/६०७
 मायी १/४३५; २/३१८, ३२१
 माय २/३९२
 मार १/१६०, ४४२
 मारणतिय अहियासणया १/१३४, १३५; २/२९
 मारणतिय संलेहणा भुत्त २/९२
 मारदसी २/४०१
 मालाकरण १/४२१
 मालोहड आहार १/५६२
 मालोहड (दोस) १/५६१, ५६२
 मास १/१७५
 मासिय अणुग्धातिय २/३११
 मासिय उग्धातिय २/३११
 मासिया भिक्षु पडिमा २/२७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४
 माहण १/४, १०२, १४९, १५२, १५३, १५५, १५८, १६०, १६८, १७९, १८५, १९६, २४५, ४३५, ४७४, ५४५, ५५८, ६४४, ६४५, ६६९, ६९२, ६९७, ७२२, ७२५; २/२०, ११५
 माहणाह भक्खण २/२०
 माहुकरी वित्ति १/५३४
 मिउमद्वससन्नय १/५८
 मिगन्नरियावित्ति १/५३५
 मिच्छत्त १/४३७
 मिच्छत्त (दराविट) १/१६५
 मिच्छत्त (भेदप्यभेदा) १/१६४
 मिच्छत्तनिसेवय १/४५
 मिच्छत्तपज्जउ १/५८
 मिच्छत्तपडिक्कमण २/८३
 मिच्छत्तविमोदि १/१३४
 मिच्छाकार २/५७, ५८
 मिच्छ(१)दिही १/१२३, १२५; १२२, १२५, १२६
 मिच्छादस १/१७३
 मिच्छादसज्जमण १/१७३
 मिच्छादसण १/१७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००
 मिच्छादसणसल्लवेगण १/२११
 मिच्छा संठिय भावणा २/२०२
 मिज्जाणिधानकरण २/१५४
 मित २/३९६
 मितसमाणे २/१०५
 मितीभाव २/२५५
 मिय १/१७५
 मिरिय १/५७५

४६८ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

मिरियचुण्ण १/५७५
मिलक्खु १/१७९, ४८९
मिहिला १/५००
मीसजाय १/६१४
मीसवणस्सइ १/५७८
मीसिया २/२०६
मुइ १/१६६
मुए १/५२७
मुझपास १/४४५
मुच्छा २/४६, १७४
मुच्छेज्ज २/५०
मुट्टिक १/४२६
मुणिसुव्वय १/३, ४
मुणी १/१३५, १६१, १६६, १८६, १९४,
१९९, २२७, ४३४, ४३७, ४३९, ४५४,
४८५, ५१०, ५३१, ५३४; २/२७, ३८५,
३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९१, ३९३,
३९७, ३९९, ४०८, ४०९
मुणीण लक्खण २/२६-२७
मुड १/६०, १३२; २/५१
मुडा २/७
मुडे २/३९५
मुत्त १/१८६
मुत्त सक्ख २/३९७
मुत्तावली १/४२१, ६४०
मुत्ति (धम्म) १/३१, ३२, ४३९; २/४३
मुत्तिमगा १/४३२
मुत्ती १/१३३
मुद्दिय १/१०१, ५००, ७४८
मुद्दियाण १/७४९
मुद्दियापाणग १/६२९
मुद्दाभिसित्त (राया) १/५००, ५९१,
५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ७४८, ७४९
मु(मो)सा १/४७३, ५३०; २/२४६
मुसावाती (ई) २/१०१
मुसावाय १/२१२, ७४९; २/४६, १२५,
२५७, ३८४
मुसावाय विरमण महक्खय १/२९६
मुसावाया(ओ) वेरमण १/२८९, २९१,
७३३; २/२५
मुसावायाओ १/१७३
मुहणतक १/७१२
मुहपोत्तिय २/६०
मुहमगल १/४३७
मुहवण्ण २/१९७
मुहवीणिय १/४५९, ४६०
मुहाइणावीणियकरण १/४५९
मुहाजीवी १/५९९, ६००, ६०१
मुहादाई १/६००
मुक्क १/४२६
मुजप्पिय १/७१०
मुजमात्तिय १/४२१
मुक्क १/४४५

मूढ १/१०५, १२९
मूढभाव १/४५३
मूल १/२३९; २/३९६
मूलगुण पच्चक्खण २/९९
मूलट्टाण १/४५३
मूलारिह २/३१०
मूंग १/१७५
मेत्ति २/३९६
मेत्तिज्जमाण १/८२
मेत्ति भावणा १/१९७; २/३९६
मेयज्ज (गणधर) १/७
मेह(घो)नी १/१७८, १८२, १८३, १८४,
१८५, २३०; २/४०१, ४०२
मेहावी पुरिसजात २/२१६
मेहावी मुणिस पराहम २/४००-४०२
मेहुण १/१७३, २१२, ३१४, ३३३;
२/२५७, ३८४
मेहुणधम्म १/६४०, ६४१, ६४२, ६४५;
२/२१४
मेहुणधम्मपरियारण १/६१५
मेहुणपद्धिसेवी १/४२३
मेहुण पत्थणाय १/४१६
मेहुणवडिया १/३४४, ३४५, ३४६, ३४७,
३४८, ३४९, ३५०, ३९८, ३९९, ४००,
४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६,
४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२,
४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८,
४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ७४२,
७४३, ७४४, ७४५, ७४६
मेहुणवडिया तिगिच्छाकरण १/४१४
मेहुणविरमणस्स पंच भावणाओ
१/३१५-३१६
मेहुणवेरमण १/३१४, ३१६, ७३३;
२/२९
मेहुण सेवण संकप्प १/४१३, ४१४
मेहुणसंसग्ग २/४६
मोक्ख २/५९, ७२, ९८, ९९, १०६, १२५,
१३६, १४६, १६५, १८९, १९१, १९२,
१९४, १९५, २१५; २/२४६
मोक्खभाव २/२७८
मोक्खमग्ग १/१९४, १९६, ३१७
मोक्खाभिककी १/३२५
मोण १/१३५, १४४, ३३२; २/२४,
३९२, ३९३, ३९७, ४०२
मोणचरण २/२७०, २७१
मोणपद २/४१, ५५
मोणेण कम्मण्ण २/३९२
मोत्तिय १/१३९, ६४०
मोय २/३०६
मोयगहण २/२३०
मोय पडिमा २/१०५, ३०६
मोयसमायार १/६४१
मोरण २/२९२

मोरियपुत्त (गणधर) १/७
मोस २/४६, ३८६, ३८७, ३८९, ३९०,
३९१, ४१०
मोसली १/७१६
मोसा १/५१०, ५११, ५१४, ५१५, ५१६,
५२४, ५२५, ७३१, ७३४
मोसाणुबधी २/३५२
मोसोवण २/१०५
मोह १/१२६, ४४२; २/४०४, ४१०
मोहगुण २/३९२
मोहजासंगा उवसग्गा २/३८१-३८३
मोहणिज्ज १/१४७, १६५; २/३६७
मोहणिज्ज कम्म २/३३३
मोहणिज्जकम्मउदय २/१७६
मोहदसी २/४०१
मोहपाउड १/४३६
मोहमहण्णव २/४११
मोहमूढ १/१६५
मोहरिय १/२९९; २/१११
मंगल १/१, २२०
मंचमासालय २/४९
मंडलिक पव्वय १/३१८
मडिय (गणधर) १/७
मडियपुत्त १/२०७, २०८, २०९, २१०
मंताजोग २/१५३
मंत पिण्ड १/५६७
मंथु १/५७२
मंथुजात १/५७८
मंदकुमार १/५१७
मंदकुमारि १/५१७
मन्दर १/११०
मंदरगिरिसिहरचूलिका १/४३२
मंदरवर (पर्वत) १/३१९
मंदा २/३७५, ३८४
मंस १/६५, १९१
मंसखायाण १/७४९
मंसुरोम १/३६६, ३७२, ३८०, ३८७,
३९४, ४०१, ४०८
याऽऽणमणि १/५१२
रहअरह १/२१२, ४४४
रहणिसेह १/४४३
रक्खस १/१६९
रक्खसी १/३३४
रक्खा १/२२०
रज्जपरियट्टिए ओगगह विहि १/३०६
रट्ट २/४१
रट्टघेर २/२००
रट्टधम्म १/३१
रण १/४०, ५००, ७४८, ७४९
रण्णा रक्खिय १/७४९
रत्ती १/२१९
रत्तयण १/१३९
रम्मगवस्स १/२६

रयण १/१३९
रयणावली १/४२१, ६४०
रयणाहिय १/४२७
रयणी १/४१, ६६४
रयताण १/७१२
रयमल १/८४
रयहरण १/६९१, ७१०, ७११, ७१२;
२/१
रयुन्धाल १/६८
रस १/१३४, २२६, २/२८, २/९, ३९०
रसय १/१६६
रसणिज्जुहणतः २/२५८
रसपण्णाण १/४५३
रसपरिचयः १/२५८, २७२-२७३
रसमल १/५१०
रसय १/२४६
रसया १/२४१, २४२
रसवाणिज्ज २/१११
रसविवज्जण २/२७२
रसासि निसेहो २/३८९
रह १/१७४
रहसाभक्कण २/२७५
राइ १/४१
राइममण १/४८९
राइणिय २/२२१, २२७
राइणकुल १/५४९
राइभोयण १/४७५, ४७५
राइभोयणपडिसेवणपत्त १/४७८, ४७९
राइभोयण वण्ण १/४८१
राइभोयणविरमण ठाण २/४७
राइभोयणविरस २/२५७
राइभोयणाओवेरमण १/४७५
राइयपडिक्कमण समावारी २/६२
राइय समावारी २/६२
राओग्गह १/६५३
राग १/१२६; २/४०४, ४०५
रागउत्त २/३८४
रागणिग्गहोवाय १/४४५
रातिणिय १/१०४, २/१३३
रातिणिया २/१३३
राय करण १/१०१
रायकह १/११४, ११५
रायसत्तिय १/६६६
रायणिह १/८८, ३१०, ५००, २/२२३
रायणिय १/७०, ९३, ९४, ९५, ९६
रायणिह, रिसवण्ण २/१९७
रायणिहन्त यवाता २/९९७
रायणिह १/५९०, ५९१
रायसिणिय १/५४९
रायसिणीकरण १/४६३
रायसिणीह १/४७२
रायसिणी १/६५
रायसिणी १/५०१

राया १/४५, १४३, १४९, १५३
रायतेपुर १/५९०, ५९१
रायसी १/१६५, ५२७
रिउब्बेद १/४६
रिद्धी १/२२०
रीरियपाय १/६९३
रक्क १/२२५, २४६
रक्कमूल १/६३४, २/३७४
रक्कमूलमिह २/२८०
रु(रो)ह्वाण २/३५१, ३५२
रुहसाण लक्खण २/३५२
रुप्पलोह १/४२२
रुयमधर (दीव) १/३१८, २/३५२
रुयय (रुक्क पर्वत) १/६
रुव १/१३९, ४४८, ५१९, ५२०; २/२०,
३८७
रुवतेण १/३०४
रुवपडिमा १/४४९, ४५१
रुवमय २/१९१, १९२
रुवसप्प १/५९१
रुवसप्प १/१२२
रुवाणुरत्त २/३८५
रुवाणुवाय २/११७
रुवावलीयणासि १/४५१
रुवासि निसेह २/३८६
रुवधर २/५६
रोग १/९३
रोग परीसह २/३६८, ३७७
रोगाव(दीव) १/१३९, १४०, ३२५, ३२६,
३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ४४१, ४४६,
४७७, ६३८
रोगिणिया २/८
रोमपरिकम्म १/३४०
रोसा २/७
लक्खण १/१४४, १७२
लक्खण-वज्जण-सुमिणफल २/१९५
लक्खवाणिज्ज २/१११
लक्खणुपाय १/५६६
लगहसाह २/२८६
लगहसाह २/२७४, २७५
लेज्जा १/१०२
लद्धी १/२२०
लद्धिय १/६३३
लद्धि १/६९१, ७११, ७१३, ७१४
लयणसुहम १/२८५
लण १/४४०
लणोवाह १/४४०
ललिन्दिया १/९२
लण गदेसिय १/५७८
लवणसम १/५, १४४
लवणसमी १/१७२
लवेज्जीयवाह १/१७२
लसुण १/१९१, ५७७, ५८२, ५८३

लहयत्त १/२१२
लाजय १/६९९
लाजयपाय १/६९०, ६९८, २/२९४
लाघव धम्म १/३१
लाभ २/२८
लाममय २/१९१, १९२
लावग १/१७५
लासग १/४२६
लिक्ख १/२५४
लिक्खताह पिहरण १/२५४
लित्थीस १/५८५-५८६
लुचसिय २/१२०
लुह १/१८५, १८६, २/३७७
लुहचरण २/२७३
लुहणीवी २/२७३
लुहवित्ती १/५६४
लुहाहार २/२७३
लेणसुहम १/२८५; २/७७
लेलु १/७००, ७०१
लेव कम्म १/४६१
लेवणप्यभोग १/४७५, ४८२
लेवालेव २/९५, ९७, २८४
लेसणता २/३८१
लोहय आगम १/२२
लोहयदव्वावस्सय २/८०, ८१
लोहय भावावस्सय २/८१
लोहयववसाय १/४६
लोग १/६०, ६१, १४२, १५९, १६०,
१६१, १६६, १६९, १७०, १७२, २०७,
२४६, ४४७, ४४८, ४५२; २/४०४,
४०५
लोगन्त १/१३३
लोगरयण १/१५९
लोगाहीवाय १/१६१
लोगविण्णु २/४०४
लोगसण्ण १/२२७, ४४४
लोगसण्णा २/४०२
लोगुत्तरिय आगम १/२२, २३
लोगुत्तरिय दव्वावस्सय २/८०, ८१
लोगुत्तरिय भावावस्सय २/८१, ८२
लोमोवयारविणय १/७५, ७९, ८०
लोण १/४८१, ५७१, ५७२, ६०७
लोह १/३३६
लोहकुरुम १/३३६
लोभ १/५, १७३, १८२, २१२, २१९,
४४१, ४५२; २/१९१
लोभअपडिस्सीण २/२७८
लोभणिमिया १/५११
लोभदीस २/३८६, ३८९, ३९०, ३९१,
४०९
लोभदीसी २/४००, ४०१
लोभपिण्ड (दीस) १/१६५, ५६७
लोभमुण्डे २/७

४७० परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

लोभविजय २/१९३, १९४
लोभविवेग १/२९६; २/२९
लोभवेयणिज्ज कम्म २/१९४
लोय १/८६, १६६, १७१, १७६, १८६,
१८८, १९६, ४४५, ४५३, ४५५;
२/४००
लीयय १/६५१
लोह २/४०४, ४१०
लोहणिज्ज २/३९२
लोहविभोसगा २/३५५
लोहविजय १/१३४
लोहिययाणी १/१७१
लख १/४२६
लइ अगुत्ती १/७३०
लइअपडिसंलीण २/२७८
लइ असकिलेस २/२५२
लइकम्म २/८३, ८४
लइकिट्टिय खेत २/२२६
लइगुत्तयाए फल १/७३४
लइ(ति)त्ती १/४८५, ७३०, ७३४;
२/३९९
लइ चियाए २/१३
लइजोग १/१४७
लइवेही १/१९८
लइपओगकिरिया १/१६४
लइरमज्झ चंद पडिमा २/३०१, ३०५
लइरमज्झ चंदपडिम पडिवन्न २/३०१
लइरमज्झा २/२७९, २९७
लइरोधणिदं (वेरोचन इन्द्र) १/५
लइविणय १/७५, ७८
लइसमाहारणता २/२९
लइसमिति १/२८०, ४८५
लइसकिलेस २/२५२
लइसंजम २/१३
लइसुद्धि १/५१०
लग्गचुलिया २/२२३
लग्ग (तव) २/२५९
लग्गुफल १/३३६
लग्ग (णि) १/५४८, ६७०, ७४६
लच्चमुत्त १/५४९
लच्चाचिप्पय १/७१०
लच्चाभेलिय १/९७
लच्छल्ल १/१२६
लच्छाणुभंधिया २/८
लज्जकिरिया १/६४५
लज्जपाणी १/११०
लज्जरिसभ १/३१८
लज्ज १/१७८
लट्ट १/१७७
लट्टग १/१७५
लट्टमगा १/१९९
लट्टिज्जमाणचरण २/२६९
लडभत्त १/४४५

वण १/२५५, २६२, २६५, २६८, २७१,
३४१, ३४४, ३४५, ३४७, ४८१, ४८२
वणकम्म २/१११
वणतिगिच्छा १/२५५, ३४१; २/८२
वणतिगिच्छाकारावण १/२६१, २६४,
२६८
वणपरिक्कम १/२५३, २५५
वणफल १/५२१, ५२९
वणस्सइ (ति) कम्म समारभ १/२३९,
२४०
वणस्सइकाइय आरम्भ १/२८२
वणस्सइकाइय जीव २/९, १०
वणस्सइकाइय संजम २/१४, १५
वणस्सइकाय समारभ ठाणं २/४८
वणस्सइकाइया १/२२५
वणस्सइकाय १/४४, २३८, २५०
वणस्सतिसमारम्भ २/१२१
वणस्सइ य मणुयजीवणस्स थ तुलत्तं
१/२४०-२४१
वणस्सइ(ति)सत्थ १/२३९, २४०
वणिग २/४०७
वणीमग (य) १/५५८, ६१७, ६१८,
६३८, ६४४, ६४८, ६५१, ६५२, ६६९,
६९२, ६९७, ७२२, ७२५; २/५०
वणीमगपिण्ड १/५६७
वण्ण (प्रशसा) १/५०, १२९, ६१३
वण्णमत्त १/५१०
वण्णसंजलणया १/७३, ७४
वस २/३४५
वत्तव्वा (भासा) १/५३०
वत्तव्वं सच्चं १/२९३
वत्थ १/४५२, ५३३, ६७८, ६७९, ६८०,
६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८७,
६८८, ६८९, ७१२, ७४४; २/५, ४६
वत्थ आ(त्ता)यावण १/६८२; २/७५
वत्थकरण १/७४५
वत्थ गंधिकरण घोवण १/६८०
वत्थधारण १/४१९, ४२०
वत्थधारण कारण १/६७४
वत्थधारी भिक्षू १/६७६, ६७७
वत्थ परिकम्म १/६८९
वत्थिरोम १/३५३, ३६६, ३७३, ३८०,
४०१, ४०९
वत्थु १/१३९, ४३२
वत्थेसण पडिमा २/२९३
वत्थेसणा १/६६६, ६६७, ६६८, ६६९
वप्प १/५२०, ५२८
वप्पाइ अवलोयण १/४६०, ४९२
वमणाइपरिकम्म १/२६०
वम्मिय १/१५६
वय १/१२९, ३२२, ७४१; २/३, १७
वय असवर १/२१२
वयगुत्तया १/१३३

वयगुत्ती १/२७९
वयगुत्तीण १/७३२
वयछक्क २/४५
वयच्छिइ २/१०२
वयजोगपडिसंलीणया २/२७७
वयणविवेग १/५१८
वयण संपया २/२०६, २०७
वयतेण १/३०४
वयदुप्पणिहाणे २/११२
वयबलिय १/२२३
वयसमाहा(घा)रणया १/१३३, ७२५
वय(इ)समाहरणा १/१३३, १३४
वयसमिया १/७३२
वयाण पीला १/३३२
वर-गवेसिय १/७०७
वरुणोववाय २/२२३
वलय १/५०३
वलयमरण २/१६९, १७२, १७३
वलयधिमुक्क २/३९
ववसाय १/४६, २२१
ववहार(ी) २/७९, २००, ३३२, ३३३,
३३६, ४०१
ववहार अक्खेवणी २/३४७
ववहार (नय) १/२५, २६, २७
ववहारव २/३२०
ववहारसच्चा १/५११
वसइ वसणकाल २/२८२
वसट्टमरण २/१६९, १७३
वसहि १/६३५, ६३६, ६४४, ६५२;
२/२५६
वसहिदिट्ठन्त १/२४, २५, २६
वसीकरण १/४६५, ४६६
वसीकरण सुत्तकरण १/४२३
वसु १/४५२
वसुराइय अवसुराइय १/२९४
वह १/१७४, ७३५; २/१०८
वह परीसह २/३६८, ३७६
वाइत्तवज्जा १/४५१
वाइय १/९३
वाउकम्मसमारभ १/२३७, २३८
वाउकाइय(ी) १/२२५, २३७
वाउकाइय आरंभ १/२८२
वाउकाइय जीव २/९, १०
वाउकाइय संजम २/१४, १५
वाउकाय अणारंभ ठाणं २/४८
वाउकाय १/४४
वाउजीवा १/२२६
वाउभूइ १/७
वाउ महाभूत १/१५४
वाउसत्थ १/२३७, २३८
वाऊ १/१६२, २२६, २४६
वागरी १/१२०
वाघाइम २/२६१, २६२

वाणमत १/४८; २/५२, १२६, १४५
 व(ि)णिया २/४०७
 वातय २/५
 वादी १/१६८, १७१
 वाय (वाद) १/१६७; २/२५
 वायण(ी) १/६६, १२०, ६१७, ६१८, ६४५
 वायणया १/१३३
 वायणा २/३४२, ३४५
 वायणारिय आसायणा १/९७
 वायणा सगथा २/२०६, २०७
 वायसजय १/७३०
 वायावि(वी)रिय १/१७८, ३३५
 वारद्योयण १/६३०
 वाराणसी १/५००
 वाराह १/१७५
 वारोदय १/६६२
 वावती १/१२३
 वाञ्छकुदंसणवज्जणा १/१३६
 वावित्ता २/७
 वाविथा २/७
 वासग १/१६६
 वासमेरा १/६३४
 वासा २/७५
 वासावास १/६५१, ६५२, ६७२, ७०७;
 २/६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०,
 ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८,
 २२०, २२४, २२५, २२६
 वासावास अजोग्ग खेत २/६३
 वासावास जोग्ग खेत २/६४
 वासावास समायारी २/६३-७८
 वासावासिय १/६६२
 वासुदेव १/१०९, १६७, १७१
 वासुपुज्ज १/३
 वाहण १/१७४
 वाहणगिह १/७४७
 वाहणसाल १/७४७
 वाही २/४०८
 विइकिट्ट २/२५४
 विइगट्टिकाल १/६२, ६३
 विइ(ति)गिच्छा १/१२३, १३८, ४७७;
 २/१०७
 विइ(ति)गिच्छासमावण्ण १/४७९, ४८०
 विइय महल्लय १/२८९-२९९
 विउल्लस १/१७९
 विउलमई १/२२२
 विउलुत्तम १/१४५
 विउसग २/३०९, ३५५-३५७
 विउसग पडिमा २/२७९
 विउसगगारिह २/३१०
 विओसविय १/५२४
 विओसविय पुणो उदीरित्तए १/२९९,
 विकहा २/१५३
 विक्खित्ता १/७१६

विक्खेवणा विणय १/७२, ७३
 विक्खेवणी २/३४७
 विग १/५४८
 विगइ १/५३८; २/६८, ६९
 विगइभोई १/६०३
 विगतोदय १/५०५, ५०६
 विगयमिस्सिया १/५१२
 विगलिनिया १/४५
 विगलित्तिय्या १/९१
 विगहगइ पव्वज्जा २/७
 विगही १/२९९
 विगिट्टभत्तिथ २/७२
 विगई निज्जुहण २/२६०
 विगघकरा ठाणा २/१८०
 विजहणा २/२०२
 विज्जा १/६१, २०५; २/२४
 विज्जाइ पउजण २/१९६
 विज्जावरण १/१६८; २/५५, २६०,
 ३६१
 विज्जाचारणलही २/३६०
 विज्जापिण्ड १/५६७
 विज्जाहर १/२२३
 विज्जुत १/६७
 विज्जुदेव १/५२३
 विजय (राजा) १/१९९
 विह १/५७२
 विणओवएस २/३८
 विणय २/३०९
 विणय (जानाचार) १/५५, ७०-९९,
 १०३, १२६, १६७, ३०९, ४३२
 विणय पडिवण्ण पुरिस १/८०-८१
 विणयपडिवत्ती १/७२, ७३, १०३
 विणय वेयावच्च पडिमा २/३०८
 विणयसमाही १/८५, ८६
 विणयसुद्ध २/९९
 विणयसंपण्ण २/३२०
 विणयहीण १/९७
 विणवणित्थी २/३८४
 विण्णाण १/१०३
 विण्णाणफल १/१०२
 विण्णाता २/४०४
 विण्णू २/२९, ३०
 विणियट्टणाफल ४५६
 विणियट्टणया १/१३३, १३४, ४५६
 विणिधिट्टित्त १/४५३
 विणीत(य) १/५८, ९१, ९२
 विणीय लक्खण १/८१-८२
 वित्तिगिच्छा १/१३७
 वित्थार (रुह) १/१२६
 विट्ठ १/१८६
 विदेह १/१९८
 विट्ठी १/२२०
 विट्ठसणघम्म १/७३७

विपरिणामघम्म १/५१०
 विप्पमाद १/१०३
 विप्परियसण २/१९७
 विप्पोसहिपत्त १/२२२
 विभज्जवाद १/१०७
 विभजितए २/५०
 विभूसावत्तिथ २/५१
 विभूती १/२२०
 विभूसाणिगंह १/३३०
 विभूसाणुवाई १/३३०
 विभूसाणुवाइया १/३४१, ३४३, ३९१, ३९२,
 ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ४२०
 विभंग अत्राणाकरिया १/१६४
 विभंगणा(ना)ण १/५८
 विभंगणाणोपपत्ति १/५८
 विमल १/२, २२१
 विभुत्ती १/२१९
 विम्हावण २/१९७
 विथ १/७५०
 विथइगिह १/६३४; २/२८२
 विथइदत्ती १/६२८
 विथइभाव २/१७४
 विथताकिन्न पायच्छित्त २/३११
 विथत्त (व्यक्त गणधर) १/७
 विथत्त १/१८२, १८३, १८४, १८५
 विथत्तकारय १/४७४
 विथागरत्त १/१०४
 विथारभूमि १/६५१, ६५२, ६६७, ६६८,
 ७१२, ७१३, ७१८, ७२८; २/६३, ६४,
 ६६, ७५, १२९, २२५, २२६, २५६
 विथाल १/४७५
 विथाह (भगवती) २/२२३
 विथाहचूलिया २/२२३
 विरइठाण १/२१२
 विरयगामघम्म १/४२५, ४२६, ४२७
 विरत्ती १/२१९
 विरसजीवी २/२७३
 विरसाहार २/२७२
 विराग(ता)या १/१३४; २/२९
 विराल १/५४८
 विरालिय १/५७५
 विराहग(य) १/५१०, ५११; २/१२८,
 १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १४०,
 १४१, १४३, १४५
 विराहगा अकाम परिकिलेसगा
 २/१४१-१४३
 विराहगा अत्तुक्कोसिया समणा
 २/१५१-१५२
 विराहगा आजीविया २/१५१
 विराहगा कन्दप्पिया समणा २/१४७
 विराहगा णिण्णगा २/१५२
 विराहगा पडिणीय समणा २/१५१
 विराहगा परिज्वायगा २/१४७-१५१

४७२ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

विराहगा बाल तवस्सी २/१४५
 विराहगा भद्र पगङ्ग जणा
 २/१४३-१४५
 विराहगा बाणपत्न्या २/१४५-१४७
 विराहगाणं संजमस्स अपढसो २/१५४
 विराहणी १/५१५
 विराह्य(ग) २/६१
 विराहिय २/१७२
 विरुद्धरज्ज १/४९९
 विरुद्ध-रज्जावद्धमण २/१०९
 विरेयण १/२६०
 विवग्घाणि १/६७०, ७४६
 विवण्ण १/७०२
 विवण्णकरण १/६८४, ६८५
 विवरीय पायच्छित्त १/२९४
 विवाग विजय २/३५३
 विवाद १/१६६; २/४२
 विवित्तलयण २/४३
 विवित्तवास-वसहिसमिति १/३०७
 विवित्तसयणासणसेवणया १/१३३,
 १३४, ३२४, ३२५, ४२४; २/२७६,
 २७८
 विवित्तहार १/३२५
 विविहविहा पल्लज्जा २/६
 विवेगपट्टिमा २/२७९
 विवेगभासी १/५१९
 विवेगारिह २/३१०
 विवेकम्म १/४७४
 विसण्णमेसी १/४३४
 विसमक्खण २/१६२, १७०, १७३
 विसममग्ग १/४९४
 विसमसीला २/१७२
 विसय २/४०५
 विषयपमाय २/१८०
 विसवाणिज्ज २/१११
 विसासो १/२२१
 विसाही २/८२
 विसिद्धिद्वि १/२२०
 विसील १/८२
 विसुज्जसाणय १/२४
 विसुद्धी १/२२०
 विसोहिठाण २/१०२
 विसंभोदय २/२३१, २३२
 विसंभोगकरण २/२३२
 विसंभोगकरण कारण २/२३१
 विह्वधूया १/६५३
 विहार अजोग्ग काल २/६४
 विहारकरण विहि निसेह २/६४
 विहारचरिया २/४१
 विहारजोग्ग काल २/६४
 विहारभूमि १/६५१, ६५२, ६६७, ६६८,
 ७१२, ७१३, ७१८, ७२८; २/६३,
 ६४, ६६, ७५, १२५, २२६, २५६

वीमसा २/३१०, ३८०
 वीयडा १/५१२
 वीयरग २/३८५, ३८६, ३८८, ३८९,
 ३९०, ४०५, ४०९, ४१०
 वीयरगभाव २/१०३, ४०९-४११
 वीयरगया १/१३३; २/४११
 वीयरगया फल २/४११
 वीयरग संजम २/१२
 वीरत्तुह १/४
 वीर्याचार २/३६३-४११
 वीरस्स परद्धम २/३९७-३९८
 वीरासण २/२७३, २८६
 वीरासणियाए २/२७४
 वीरिय २/३६३, ३९२
 वीरियायार १/५१
 वीरियसंपण्ण २/२४४
 वीसुभेज्जा २/६५
 वुग्गह बल्लत २/२५६
 वुग्गाहित १/१३०
 वुट्टिकाय २/६९
 वेआवच्च करणया २/६५
 वेहयववसाय १/४६
 वेहया १/७१६
 वेज्जिह १/२२२
 वेज्जिय परदारगमण २/१०९
 वेह्मि १/४६१
 वेणइया १/१८९
 वेणुदेव (गरुड) १/६, ३१८
 वेणुदड १/२७५, २७६
 वेणुफल १/३३६
 वेणुसुह १/७१४, ७१८
 वेतालिय मग्ग २/३९८
 वेसदड १/२७५, २७६
 वेद २/२९, ३०
 वेदण अहियासणया १/१३४
 वेदवी १/४४३
 वेमाणिय १/४८
 वेयकाल १/४५५
 वेयण १/६१२
 वेयणअहियासणया २/२९
 वेयणा १/१८९
 वेयणिज्ज १/१४७; २/१०४, ३६७
 वेयन्त १/१२३
 वेयभाराहय १/८५
 वेयरणी २/३७२
 वेयव २/२७
 वेयावच्च १/१३३, २५४, ३०५, ६१२;
 २/६७, ३०९, ३३७-३४०
 वेयावच्च फल २/३४०
 वेयावच्चिय २/४२
 वेरज्ज १/४९९
 वेरोह्वा (वेवी) १/९
 वेसधरोववाय २/२२३

वेवइ १/१६६, ५२८
 वेसमणोववाय २/२२३
 वेससामंत १/३३२
 वेसासी २/४०
 वेसिय १/५३३, ५३४
 वेसियकुल १/५४९
 वेसिया करङ्ग १/१०१
 वेसियायण १/४२५
 वेहाणस बालमरण २/१७३
 वेहाणसमरण २/१६९, १७०, १७३
 वेहिम १/४६१
 वोह्मसालियकुल १/५४९
 वोदाण १/३३, १०३, १०६, १३३;
 २/४११
 वोदाणफल १/१०३
 वोसहुकाइयाए २/२७५
 वोसहुकाय २/४१
 वक १/२०१
 वकं विट्ठी १/२०१
 वकंदसणा १/२०१
 वकपण्णा १/१९८
 वकसमायार १/४४८
 वका १/१९८
 वज्जणजाय २/२२४
 वज्जण (ज्ञानाचार) १/५५, ११२
 वज्जणजाणायार १/११२
 ववच्च २/८२
 वदणया १/१३३
 वदणा फल १/१०
 वदणाविहाण १/२०१
 वस १/५७३, ५७७
 वसीमूल १/६३४
 सहअतरह्वा २/११०
 सजण १/५०२
 सजणी २/२५७
 सकम्मवीरिय २/३६४
 सकाम मरण २/१७०, १७२, २६१
 सकुलि १/५५०
 सक्क १/१९८
 सक्कर १/४२३, ४७७
 सक्कार-गुरक्कार परीसह २/३६८, ३७७
 सगड १/१७४
 सगदेवी परिवारानिदान करण
 २/१६१
 सगर १/१९८
 सचक्क १/५००
 सचित्तकम्म १/६३७
 सचित्तगन्धजिघण २/१९५
 सचित्तनिक्खेवणया २/११४
 सचित्तपडिक्कहाहार २/११०
 सचित्तपरिग्गह २/११०
 सचित्तपरिणाय २/११६
 सचित्तपहणया २/११५

सचित्त पुढवी समीवे निहाइ णिसेह
२/२८३
सचित्तसकल दुरुहण १/२४९
सचित्तसकलमूल १/२४८, २४९
सचित्ता २/२०६
सचित्तादत्तादाण २/१०९
सचित्ताहार २/११०, ११८, ११९
सचेत १/६८८; २/३७०, ३७१
सचेतिया सह अवैसस्स संवसण
कारण २/२२८
सच्च १/११६, १८१; २/४०
सच्च(धम्म) १/३१
सच्चदिट्ठी १/२००
सच्चपञ्चा ववहारा १/४२४
सच्चपण्णा १/११९
सच्चरय १/८२; २/३४६
सच्चवयण १/२१०, २९१
सच्चवयण (उवमा) १/२९२
सच्चवयण (महम्म) १/२९१-२९२
सच्चवयण फल १/२९३
सच्चा १/११९, १२६, १८१, २००, ५१०,
५११, ५१५, ५१८, ५२४, ५३०, ७३१,
७३४
सच्चाभोसा १/५१०, ५११, ५१२, ५१५,
५२४, ५२५, ५३०, ७३१, ७३४;
२/१६२
सच्चे पुरिसजात २/२१६, २४४
सच्च ठाण २/४६
सच्चदिविहारी २/१७६
सच्चण गिह १/५४२
सजण-परिजण गिह १/५४३
सजोगी १/१४७
सज्जाय १/६२, ६३, ६६, ६८, ६९, १३३,
४८६, ७४५; २/२५६, ३०९, ३४२,
३५१
सज्जायअकरण १/६८
सज्जायजोग २/४२, ३४२
सज्जाय-पडिलेहणा कियोहि सुत
२/८७
सज्जायफल २/३४२
सज्जाय भूमि २/३४३
सज्जाय विहाण १/६२
सङ्गालु १/१३१
सङ्गी कुल २/६७
सङ्गी गिही २/५७
सङ्गी पुरिसजात २/२१६, २४४
सङ्ग १/८९, ९०
सणकुमार १/१९८
सणकुमार माहिदाण (देव) २/५३
सण्ण १/२०५
सण्णकपास १/४२३, ६८९
सण्ण १/५१७
सण्ण-जाइ-सरण १/७३२

सण्ण(त्रि)वेस १/१३६, ४६०, ५४४, ६५२
सण्ण(त्रि)वेस दहाणि १/४६१
सण्ण(त्रि)वेस पहाणि १/४६१
सण्ण(त्रि)वेस महाणि १/४६१
सण्ण(त्रि)वेसवहाणि १/४६१
सत्त २/२९, ३०
सत्तकम्मपगढी २/३४६
सत्त मासिया भिक्खु पडिमा
२/२८०, २८६
सत्तसत्तमिया भिक्खु पडिमा २/२९६
सत्ता १/२१५
सत्तिय २/२१६, २४४
सत्ती १/२१९
सत्थ २/४००
सत्थजाय १/५०४
सत्थपरिणामित १/५३३, ५३४
सत्थातीत १/५३३, ५३४
सत्थादाण १/७४९
सत्थारभत्त १/१०८
सत्थारभत्ती १/११२
सत्थोपाङ्गण २/१६९, १७०, १७३
सदारमतभेय २/१०९
सदारमतोस २/१०८, १०९
सदोस तैगिच्छा १/२५२
सद् १/१३९, ४४४, ४४८, ५३०;
२/२८, ३८५, ३८६
सद्दण १/२५, २६, २८; २/७९
सद्दपडिमा १/४५१
सद्दफरिसरसकवमघ २/४११
सद्द-कव-गघ-रस-मास १/५२२
सद्दसवणासति १/४४८, ४५६, ४५७
सद्दहणसुद्ध २/९९
सद्दहणा १/१३६, १४८
सद्दाइसु मुच्छाणिसेह १/३३०
सद्दाउलग २/३१८
सद्दाणुरत्त २/३८६
सद्दाणुवाय २/११४
सद्दासति णिसेह २/३८५, ३८६
सद्दा २/३९२
सद्धि आहार करण २/२३६
सन्धि १/४४७
सन्धिमूह १/४५५
सन्निवाइय (भाव) १/१६
सन्निहिकरण १/५९९
सन्निहिकाम १/४५
सपज्जवसित १/१६४
सपरिकम्म १/६६४; २/२६०
सपरिगहा १/४५४
सप्पदस तिगिच्छाए विहि णिसेह
२/२३४
सप्पि १/४२३, ४२७; २/२७२
सप्पियासविय १/२२३
सफला राइओ १/४१

सबलत्त १/४४५
सबलदोस २/१८३-१८४
सवीयग १/२२६
सम्भावपच्चक्खाण १/१३३; २/१०४
सम्भावण १/७४२; २/५१
सम्भावसंपन्न १/५३७
सम्भ २/११२, ११३
समचउरस १/३१८
समण १/४, १०२, १३७, १४९, १५२,
१५३, १५५, १५८, १६०, १६३, १६८,
१७८, १७९, १८६, १९५, २३६, २४५,
३००, ३२६, ३२७, ३३५, ४१९, ४३६,
४३७, ४४१, ४७४, ४९०, ४९७, ५००,
५०३, ५०४, ५२५, ५२६, ५३५, ५५५,
५९१, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६१७,
६१८, ६२८, ६३३, ६४०, ६४४, ६४५,
६४८, ६५१, ६५२, ६६९, ६७१, ६८४,
६९२, ६९४, ६९७, ७०२, ७०३, ७२२,
७२५; २/२०, ४४, ५२, ५३, ५६, ५७,
११५, १३३, १९८, २३१, २४४, २५५,
२७१, २७२, २७३, २७४, ३३१, ३६३,
३७३, ३७६, ३७८, ३८३, ४०५
समणधम्म १/५८; २/३८
समण-णिगन्ध २/२०९, २१०, २१५,
२२३, २३१, ३५८, ३५९, ३६०
समण-माहण २/४०३
समणभवन णिदाण करण २/१६६
समणभूय २/११६
समणज्ज १/२३६
समणसरीर परिह्वण १/११६
समणसध २/१९८
समणस्स सुद्ध आहार णण फल
२/११५
समणी २/१३३, १३४, १९८
समणुण्णा २/२०१
समणुण्ण-असमणुण्णाणववहारा २/२३३
समणुहेसिय १/६७२, ६५५, ६५७
समणोवगरण ओगगहविहि १/३०६
समणोवसथ २/११२, ११३
समणोवमा २/३१-३४
समणोवासग(य) २/१०५, १०७, १०८,
१०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४,
११५, १२०, १२१, १२४, १२७, १३०,
१३३, १६४, १६५, ३१९, ३९३, ३९४
समणोवासगधम्म २/१०७, १०८
समणोवासगधम्मारा २/१०५
समणोवासग भवन णिदाणकरण
२/१६४
समणोवासगणं तिविहा भावणा
२/१२१
समणोवासिया २/१३४
समत्तदसी १/१३५
समपायपुत्ता २/२७४

४७४ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

समभावसाहस १/४३४	सयण १/४५३	सव्वसमाहिवत्तियागारेण
समभिरुद्ध (नय) १/२८, २९	सयणकुल १/५४३	२/९४, ९५, ९६, ९७
समय १/२१६	सयणासण २/४२	सव्व सुयाणवाई २/२२३
समयन्त १/१२३	सयमेव उग्गहं अणुगिम्हणया १/३०७	सव्वस्स अमाघाओ १/२२१
समायारी २/५७, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६-७८	सयभू (समुद्र) १/६, १६०, ३१८	सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमण २/१००
समायारीए पवत्तण २/५८	सरत्त १/५०१	सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण २/१००
समारंभ १/१७४, २०८, २०९, २८२	सरहुय १/५७६	सव्वाओ पाणाइ वायाओ वेरमण २/१००
समाहि(ही)धी १/८६, १०८, १०९, २१३, २१९, २२३; २/५४	सरण १/४५४	सव्वाओ मुसावायाओ वेरमण २/१००
समाहि(ही)कामी २/४०४, ४०५	सर-दह-तलावयपरिसोसणया २/१११	सव्वाओ मेहुणाओ वेरमण २/१००
समाहिजुत्त २/३६६	सरल १/२०१	सव्वाराहय २/१३२
समाहिजोग १/१००, १३०, ३२६, ३३५	सराइभत्त १/६	सव्वाहार १/४७६
समाहिद्वान १/८५	सराइभोयण १/४४६	सव्विन्दिय समाहित १/२८३
समाहितिविद्य १/३५	सराग सजम २/१२	सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणं २/१००
समाहि पडिमा २/२७९	सरिसगस्स संवास आदान २/२३३	सवेटय पात्त १/६९९
समाहिपत्त २/३९, ४०	सरिसणिग्गन्ध १/६६५	सव्वोसहिपत्त १/२२२
समाहिमाहिय १/४४६	सरिसणिग्गधी १/६६५	तराण १/५२
समाहिबिहाण १/१०८	सरीर १/४५, १५०, १५१, १५२, १५६, ७२२	ससिणिद्ध १/५०५, ५०६
समिद्ध(ती) १/१०४, १२६, २२०, ४८५, ७३०	सरीरपच्चक्खाण १/१३३, १३४; २/१०४	ससिणिद्धा पुट्ठी १/७४२
समिद्ध(ति)जोग १/४२५, ४२६, ४२७	सरीरपरिमण्डण १/३३०	ससित्थ २/७२
समित १/१८६; २/५२, ५५, ३९६, ३९८	सरीर विओसग्ग २/३५५	ससीलोवरिय १/५०३, ५०६
समत्ताराहणा १/२१९	सरीरवुच्चेयणद्वाय १/६१२	ससधिय १/६८४, ७०२
समिद्धी १/२२०	सरीरसङ्गारपोसह २/११४	सहजदिव्वभोगणिदानं करण २/१६३
समियदंसण १/४५३	सरीरसंपन्ना १/११८	सहसङ्कार १/४५३; २/३१०
समियपावा १/२२४	सरीर संपया २/२०६	सहसागारेण २/९४, ९५, ९६, ९७
समियाद् धम्म १/७३९	सरीसिव १/१७५	सहसाब्भक्खाण २/१०९
समियाचार १/१७८	सलोमचम्म १/६८५, ६८६	सहस्सार कथ २/१४०
समुक्कस २/२३, ४२	सल्ल १/४३६	सहाय पच्चक्खाण १/१३३; २/१०४
समुद्वान सुय २/२२३	सल्लपलंब १/५७६	सहायलिच्छू २/४१०
समुदाणकिरिया १/१६४	सल्लपवाल १/५७६	सहिण १/७४५
समुयाणचरिया १/४१	सल्लतिगिच्छा १/२५४	सहिण कल्लाण १/६७०, ७४५
समोच्छिन्न किरिए अपडिवाइ १/३५४	सवण १/१०३	सहिणाणि १/६७०
समोसरण १/१६७	सवणफल १/१०२	साइम १/९४, ९५, १५२, ४४१, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ५०८, ५०९, ५२०, ५२२, ५२८, ५३७, ५४३, ५४७, ५४९, ५५१, ५५५, ५५८, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७३, ५७४, ५८५, ५८६, ५९०, ५९५, ५९६, ५९७, ५९९, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०९, ६१०, ६११, ६१३, ६१६, ६१७, ६१९, ६४१; २/७३, ११५
सम्म १/७३९	सवणाणुकूल वय १/४०	साएय १/५००
सम्म किरियावाय १/१६८, १७०	सवत्ति समणे २/१०५	साकेय २/१००
सम्मत्त १/५८, १२५, १३७, १९४, ७३४; २/१०७	सवियार २/२६०	सागरोवम १/१४५; २/१५१
सम्मत्त अइयारा २/१०७	सव्वगाय-परिकम्म-विभूसा विण्णमुक्के २/२७४	सागार २/१००
सम्मत्तदंसिण १/२२६; २/३९३, ३९७	सव्वगुणसंपन्नया २/५१	सागारकड १/७२२
सम्मत्तदसी २/३९७	सव्वउण्णाण १/१६४	सागारिय १/६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६५७, ६५८
सम्मत्तधिया वीरियपाउरण २/३९२	सव्वकज्जकरण १/४६३	सागारिय उग्गह १/६५३
सम्मत्त परक्कम १/१३२	सव्वगुणसंपन्नया १/१३३	सागारियकुल १/६२५
सम्मत्त सच्चा १/५११	सव्वतोभदा २/२७९	
सम्मत्तसक्ख २/१०७	सव्वदंसी २/२५	
सम्मदिद्धी १/२२६	सव्व पच्चक्खाण पारण सुत्त २/९८	
सम्मदंसण १/१२७, १३६, १३७, १३८, १४४	सव्वपमाण १/१२६	
सम्मदंसणपज्जव १/५८	सव्वपरिण्णाचारी २/३९७	
सम्मत्तसरहणा १/१३६	सव्व पावकम्म २/२०	
सम्माभिच्छदंसण १/१२७	सव्वपण १/१७९	
सम्मावाई १/१६७, १७०	सव्वबल २/१७८	
	सव्वमूलगुण पच्चक्खाण २/९९, १००	
	सव्वविराहय २/१३२	

सागारियागारेण २/५५, ५६, ५७
 सागारियणिस्सा १/६२५, ६३४, ६३५
 सागारियपिण्ड १/६२०
 सागारियसतिय १/६६०, ६६१, ६६२,
 ७०९, ७१७, ७२२
 सागारियस्सणाय १/६२३
 सागारियोपजीवी १/६२२
 सागारोवउत्त १/१४७
 साडीकम्म २/१११
 साणय १/६७४, ७१०; २/२९३
 साता(या)गारव १/९०, १६३
 सातियार १/२४
 साधम्मिणी २/३७३
 साधय ववभाय १/४६
 सामण १/१४९, १४२, १४३, २२६, ४३७;
 २/२६०
 सामत्त १/४४५
 सामली (वृक्ष) १/६
 सामवेद १/४६
 सामाहय १/१३३, ७३२; २/११, ८२,
 १००, १०८, १११, ११७, ११८, २४६
 सामाहयकड २/११२, ११२, ११६
 सामाहयकडस्स किरिया २/११२
 सामाहयकडस्स पेज्जवधण २/११३
 सामाहयकडस्स ममतभाव २/११२
 सामाहयगाई २/१२५
 सामाहययरित्त गुणम्ममाण १/२४
 सामाहय फल २/५२
 सामाहय सुत्त २/८४
 सामाहयसज्जम २/१४
 सामाहय-सज्जम-कण्ठट्ठिई १/५४
 सामाहयत्त अणवट्ठियस्स करणया
 २/११२
 सामाहयस्स सह अकरणया २/११२
 सामुदाणिय गवेसणा २/१७६
 सायपडियाय १/५०६
 सायाउलग २/५६
 सायाणुगा १/४४६
 सारक्खणविसोही २/१८१
 सारक्खणानुबंघी २/३५२
 सारक्खणोवघात्त २/१८१
 सारक्खाय १/५३५, ५३६
 सारणिया २/७
 सारंभ १/२०८, २०९, ४५४
 साल १/१००, १०१, २३९
 सालपरियाय १/१००
 सालपरिवार १/१००, १०१
 सालि १/५५०
 सालिसय १/११३, ११४
 सालुय १/५७५
 सावज्ज १/८४, १४६, १६८, २१७, ५२५,
 ५२६, ५२८, ५२९, ५३०
 सावज्ज(१)किरिया १/२१८, ६४५

सावज्जजोग २/४१
 सावज्जजोगपरिवज्जण २/१११
 सावज्जजोगविरह(ति) २/५२, ५३
 सावज्जबहुल २/४८, ५१
 सावज्जभासा १/५२४, ५२६, ५२७, ५२८,
 ५२९
 सावज्जवयण १/५२५
 सावज्ज संजुत्त आहार १/५५८
 सावज्जाणुमोयणी १/५२३
 सावत्थी १/५००
 सावय २/१९८
 सावय आसायणा १/९६
 साविया २/१९८
 साविया आसायणा १/९६
 सासय(त) १/१६१, १७०
 सासवणालिय १/५७५
 साहम्मिणी १/६९२, ७२२
 साहम्मिय १/६५८, ६६९, ६९१, ६९२,
 ७१९, ७२१, ७२२; २/२१२, २१७,
 २१९, २३१, २३९, ३१९, ३२०, ३२१,
 ३३१
 साहम्मिय अंतकिज्वाई २/२२५
 साहम्मिय उग्गह १/६५३
 साहम्मिय उग्गह अणुणविय
 परिभुजणया १/३०७
 साहम्मिय देयावच्च २/३३८
 साहरह १/५३८
 साहरिज्जमाणचरण २/२६९
 साहारणपिंडपात्त(य) १/३०८, ३०९
 साहारणभत्तपाणं अणुणविय
 परिभुजणिया १/३०७
 साहिरण २/२५५, ३३२
 साहिल्लया १/७३, ७४
 साहधम्म १/१९५
 साहुवयणेण २/९४, ९५
 साह १/१, २, १०८, १२५, १४२, १५२,
 १५४, १८१, १८९, ५३१; २/२८
 साह असायणा १/९६
 साहणी आसायणा १/९६
 सिद्धिग १/२७४, २७५
 सिक्खावय २/१०८
 सिक्खासील १/८२
 सिज्जंस १/३
 सिणण २/४५
 सिणेह १/२८३
 सिणेह विगती १/५३८
 सिणेहसुद्धम १/२८५; २/७७
 सिणेहाययण २/७०
 सिद्ध १/१, २, ६१, ८६
 सिद्ध आसायणा १/९६
 सिद्धाण सरूव १/१९९-२००
 सिद्धा १/१६२
 सिद्धावसयगुणसंपन्न २/१०४

सिद्धाण संभव २/६३
 सिद्धाण २/३१२
 सिद्धावास १/२२०
 सिद्धि १/६१, १००, १०२, ११०, १३५,
 १५२, १५४, १६२, १६७, १७१, १८९,
 १९१, १९२, ७४१
 सिद्धिपह २/३९८
 सिद्धिमग १/१३५, ४४६
 सिद्धिविमाण १/३२०
 सिप्प सिक्खावण २/१९४
 सियालखइया २/६
 सियावाद १/१०७
 सिरमुण्डे २/७
 सिरिजुत्त १/११८
 सिरीसिव १/१९१; २/२४५
 सिलावुद्ध १/६३०
 सिलिवय १/१६६, ५२८
 सिलोग १/१६५; २/२५७
 सिलोयकामी १/४७३, ५६५; २/४२
 सिव १/२२०
 सिसुणाग २/१७१
 सिहरिणि १/५५०
 सिहाधारण २/११५
 सिही १/१९२
 सिंगपाय १/६९३
 सिंगवेर १/४८१, ५७५
 सिंगवेरचुण्ण १/४८१, ५७५
 सिंगमालिय १/४२१
 सिंधाङ्ग १/५७६
 सिंधाण १/६४६, ७२०
 सिंधाल १/५४८
 सिबलि १/५८८
 सिबलिथालग १/५८८
 सीअल १/३
 सीओदय २/३६९
 सीलात्तप सहण णिसेहो २/२८५
 सीतोदा १/३१८
 सीय परीसह २/३६८, ३६९
 सीयपिंड १/५४०
 सीयफास २/३७०, ३७१
 सीया १/११०, १७४
 सील १/८६, ८९, २२०, ४३२; २/१३२
 सीलपण्णा १/११९
 सील परिधरो १/२२०
 सीलमन्ता १/८७
 सीलवन्त २/४०७
 सीलवय-गुणवय २/११७, ११८
 सीलव्वत्त(य) २/११२, ११३
 सीलव्वय गुणव्वयवेरमण २/१६४,
 १६५, १६७
 सीलसंपन्न २/१३२, १३३
 सीसगपाय १/६९३
 सीसगलोह १/४२२

४७८ परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

संवरदार १/२१०, २११, २१३, २८२,
 २९८, ३०९, ४२७, ४७२, ४७३
 संवरनक्षत्र २/१०४
 संवर भावणा २/३९६
 संवरवरपादप १/४३२
 संवरसंबुद्ध २/४१
 सवास करण १/७४७
 सविद्धपह २/४००
 सविभागसील १/३०५
 संबुद्ध १/१६१, ४८८, ५४०; २/३१,
 ४०, ५४
 संबुद्ध अणगार १/२१४
 संबुद्धकम्म २/५४
 संबुद्धचारिण १/१६८
 संवेग १/१३३, १३४
 संवेगणी १/३४७
 संसद्धचरण २/२६९, २७१
 संसद्धपिंड १/५९१
 संसद्धोवह १/५३८
 संसत्त २/२४८, २४९, ३४५
 संसत्त तवोकम्म २/१५४
 संसप्पगा पाणा २/२६२
 संसयकारिणी १/५१२
 संसार १/१६३, १८०, १८९, २१२, २४१
 संसारकातार १/४५६
 संसारचक्रवाल १/१६३
 संसारभीरु १/३२५
 संसारमग्ग १/१३५
 संसारमावन्न १/४५५
 संसारविओसग २/३५५, ३५६
 संसेहर्मा १/२४१, २४२, ६३१, ६३२;
 २/२५९
 संसेय १/२३६
 संसेयया १/२२६, २४६
 हत्यकम्म १/४१८, ४१९
 हत्यकम्मकरण १/४१९
 हत्यच्छिण्ण १/५२८
 हत्यवीणिय १/४५९, ४६०
 हत्यसजय १/७३०
 हत्याइपघोवण १/४६३
 हत्याइ पघोवण निसेह २/२८४
 हत्यि १/५४८
 हत्यिणापुर १/५००
 हत्तिबंधण १/१७५
 हट्टमामिलय १/४२१
 हम्मियतल १/६४७, ६८२, ६८३, ७००,
 ७०१
 हय १/४३३
 हरत्तणुय १/२८५
 हरदसमो २/२०२
 हरिणमिग २/३८५
 हरिमय १/१७५

हरिय(त) १/२४०, २८३, ४९९, ५०१;
 २/३०४
 हरियमालिय १/४२१
 हरियदो, तिग १/४५९, ४६०
 हरियसुहम १/२८४; २/७७
 हलिअठ १/२८५
 हस्लोहसिअठ १/२८५
 हरिवस्स १/२६
 हरिवंसकुल १/५४९
 हरिसेण १/१९८
 हाडहडा २/३१२
 हार १/४२०, ४२१, ६४०
 हारपुडपाय १/६९३
 हास १/२९९; २/४१०
 हासणिसिया १/५११
 हासविवेग १/२९६
 हासा २/३८०
 हितकारगा ठाणा २/२५३
 हिमय १/२८५
 हिमवन्त १/३१८
 हियमाणुलोमिय १/५१०
 हिरण १/१३९, ४३२, ६४०; २/२५
 हिरणपाय १/६९३
 हिरण-सुवण-पमाणाइकम २/११०
 हिरिम १/८२
 हिरिवत्तिय १/६७४
 हिगोल १/६१७
 हिंसप्पयाण २/१११
 हिंसाणुबधी २/३५२
 हिंसाणुमोयण २/५५
 हीरमाण १/६१७, ६१८, ६१९
 हीलियवयण १/२९९, ५२४
 हुत १/१९१
 हेमन्त १/६३४, ६४९, ६५०, ६६७;
 २/६४, ७५, २२४, २२५, २२६
 हेमवय १/२६

चरणानुयोग के सकलन में प्रयुक्त सहायक ग्रन्थ सूची

1. प्रकाशक-श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई—

आचारांग सूत्र	मूल (संपादक : मुनि श्री जम्बूविजय जी)
सूयगडांग सूत्र	" "
ठाणांग सूत्र	" "
समवायांग सूत्र	" "
व्याख्याप्रज्ञप्ति	" (संपादक : पं. बेचरदास जीवराजदोशी)
(भगवती सूत्र)	" "
उत्तराध्ययनसूत्र	" (संपादक : मुनि श्री पुण्य विजयजी)
दशवैकालिक सूत्र	" "
नदी सूत्र	" "
अनुयोगद्वार सूत्र	" "
प्रज्ञापना सूत्र	" "

2. प्रकाशक- जैन विश्व भारती, लाहन्—

अंगसुताणि भाग 1-2-3	(संपादक : मुनि श्रीनथमल जी)
उवंगसुताणि भाग 1-2	" "
नव सुताणि	" "
आयारो (सानुवाद)	" "
सूयगडांग सूत्र भाग 1-2	" टिप्पण युक्त अनुवाद
ठाणांग सूत्र	" " "
समवायांग सूत्र	" " "
उत्तराध्ययन सूत्र	" " "
दशवैकालिक सूत्र	" " "

3. प्रकाशक- आगम प्रकाशन समिति, व्यावर—

आचारांग सूत्र भाग 1-2	
प्रधान संपादक : युवाचार्य मधुकर मुनि जी	
ठाणांग सूत्र	"
समवायांग सूत्र	"
भगवती सूत्र भाग 1-2-3	"
ज्ञाता सूत्र	"
उपासकदशा सूत्र	"
अलगद दशा सूत्र	"
प्रश्नव्याकरण सूत्र	"
विपाक सूत्र	"

प्रधान संपादक : युवाचार्य मधुकर मुनि जी

औपपातिक सूत्र	"
प्रज्ञापनासूत्र भाग 1, 2	"
उत्तराध्ययन सूत्र	"
दशवैकालिक सूत्र	"
नदी सूत्र	"
अनुयोगद्वार सूत्र	"
आवश्यक सूत्र	"
छेद सूत्र (प्रिस कापी-मुद्रणाधीन)	"

4. प्रकाशक-आत्म ज्ञान पीठ, मानसामंडी—

सूयगडांग सूत्र	संपादक : श्री अमर मुनि जी
प्रश्नव्याकरण सूत्र भाग 1-2	"

5. प्रकाशक-आगमोदय समिति, सूरत, बम्बई, इत्यादि—

आचारांग सूत्र टीका	
सूयगडांग सूत्र टीका	
ठाणांग सूत्र टीका	
समवायांग सूत्र टीका	
भगवती सूत्र टीका	
ज्ञाता सूत्र टीका	
उपासकदशा सूत्र टीका	
प्रश्नव्याकरण सूत्र टीका	
औपपातिक सूत्र टीका	
दशवैकालिक सूत्र	
अनुयोगद्वार सूत्र	

6. प्रकाशक-अखिल भारतीय संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना—

सूयगडांग सूत्र	संपादक : मोतीलाल जी माडोल
भगवती सूत्र भाग 1 से 7	पं. श्री घेवरचन्दजी "वीरपुत्र"
प्रश्नव्याकरण सूत्र	" श्री रतनलालजी डोसी
उपासकदशा सूत्र	" श्री धीरुलाल जी पीतलिया
औपपातिक सूत्र	" मुनि श्री जमेशमुनि जी "अणु"
उत्तराध्ययन सूत्र	" पं. श्री घेवरचन्दजी "वीरपुत्र"
दशवैकालिक सूत्र	" " "
अंगपविट्ट सुताणि	" श्री रतनलाल जी डोसी
अनंगपविट्ट सुताणि	" "

7. सुयोगडांग सूत्र भाग 1 से 4

संपादक : पूज्य आचार्य जवाहरलालजी म.सा.

8. प्रकाशक-आगम अनुयोग प्रकाशन समिति, सादिराव-

स्थानांग सूत्र संपादक-मुनि श्री कन्हैयालाल जी "कमल"

समवायारा सूत्र " "

9. प्रकाशक-आचार्य आत्माराम प्रकाशन समिति, सुधियाना-

उत्तराध्ययन सूत्र भाग 1 से 3

संपादक : पूज्य आचार्य श्री आत्मारामजी म.सा.

दशवैकालिक सूत्र " "

आचाराग सूत्र भाग 1-2 " "

उपागम सूत्र भाग 1-2 " "

10. प्रकाशक-लाला ज्वालाप्रसाद सुषदेव सहाय, सिकन्दराबाद-

कतिपय प्रति : संपादक-पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी म.सा.

11. प्रकाशक-जैन शास्त्रीद्वार समिति, राजकोट-

कतिपय सूत्र : संपादक-पूज्य श्री चासीलालजी म.सा.

12. प्रकाशक-सूत्रागम प्रकाशन समिति, गुडगांव-

सुतागमे भाग 1-2 संपादक-पुष्क भिक्खू

13. प्रकाशक-श्री अभिधान राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम-

अभिधान राजेन्द्र कोश : भाग 1 से 7

संपादक-आचार्य श्री राजेन्द्र सूरि

14. प्रकाशक-प्राकृत जैन विद्याविकास फण्ड, अहमदाबाद-

प्राकृत हिन्दी कोश : संपादक- डा. के. आर. चन्द्र

15. न्यू इम्पीरियल बुक डिपो, देहली-

नालदा अध्ययन कोश : संपादक-पुरुषोत्तम नारायण अग्रवाल

16. प्रकाशक-भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, सम्प्रतिज्ञान पीठ, आगरा,

निशीथसूत्र (भाष्य चूर्णित युक्त) भाग 1 से 4

संपादक-उपाध्याय कवि अमर मुनिजी महाराज तथा

मुनि श्री कन्हैयालालजी म.सा. "कमल"

17. प्रकाशक-श्री जैन आत्मानंद समा, भावनगर-

बृहत्कल्प सूत्र (भाष्य टीका युक्त) भाग 1 से 6

संपादक-मुनि चतुरविजय पुण्यविजय जी म.सा.

नोट :

चरणानुयोग के मूलपाठ एवं सूत्रांक के लिए महावीर जैन विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित आगम ग्रन्थों का, तथा जो आगम वहाँ से उपलब्ध नहीं हुए उनके लिए आगम समिति ब्यावर द्वारा प्रकाशित आगमों का मूल पाठ, सूत्रांक, व अनुवाद के लिए उपयोग किया है। अन्य विविध संस्थाओं के प्रकाशनों का भी सहायक ग्रन्थ के रूप में उपयोग किया है। अतः हम उन सभी संस्थाओं के प्रति कृतज्ञ हैं।

— संपादक गण

